बौद्धदर्शन

तथा

अन्य भारतीय दर्शन

(ऐतिहासिक शोधपूर्ण, पक्षपातरहित, तुलनात्मक विवेचन)

प्रथम भाग

लेखक

भरतसिंह उपाध्याय, एम० ए०

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, जैन कालेज, बड़ौत

प्रकाशक

बंगाल हिन्दी मंडल

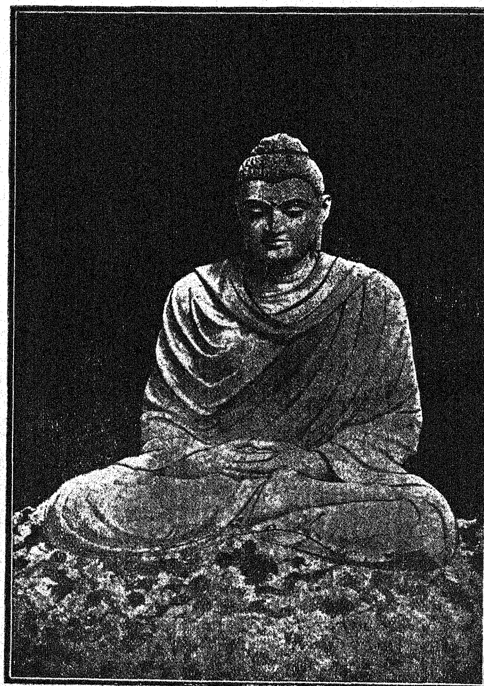
८, रॉयल एक्सचेंज प्लेस, कलकत्ता-१

वितरक
भारती-भण्डार
लीडर प्रेस,
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण
सं० २०११ वि०
मूल्य ९)

मुद्रक—
बी० पी० ठाकुर
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

अयं सो भगवा अरहं सम्मा सम्बुद्धो विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू
अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति



यह हैं वे भगवान्, मुक्त पुरुष, पूर्ण ज्ञानी, विद्या और आचरण से युक्त, सुन्दर गति वाले, लोकविद्, पुरुषों को संयमी बनाने के लिये अद्वितीय सारथी-स्वरूप, देवताओं और मनुष्यों के शास्ता—भगवान् बुद्ध

जिनके चले जाने के बाद शास्ता को भी चारों दिशाएं
शून्य-सी जान पड़ने लगीं, जिनका उपदेश तथागत
के समान ही गंभीर होता था, और जो ही सम्यक्
सम्बुद्ध के द्वारा प्रवर्तित धर्म-चक्र को अनुप्रवर्तित
करने का सामर्थ्य रखते थे, उन तथागत
के अग्र श्रावक, अल्पेच्छ, शान्त,
निर्वाणप्राप्त सारिपुत्र की
अनुस्मृति में

"एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि ।"

चूलवियूह-सुत्त (सुत्त-निपात)

"मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ।"

कठ० २।१।११

दो शब्द

भारत की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक अखंडता को अक्षुण्ण रखने और साहित्य के माध्यम से उसे एक व्यापक रूप देने के उद्देश्य से 'बंगाल हिन्दी मंडल' ने सन् १९४२ में साहित्य-निर्माण की एक रूप-रेखा तैयार की थी। हिन्दी के विभिन्न लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों के परामर्श पर यह निश्चय किया गया कि भारतीय दर्शन, संस्कृति, इतिहास, भौतिक विज्ञान आदि उच्च मानवीय ज्ञानशाखाओं पर अपने विषय के निष्णात लेखकों से सुन्दर मौलिक साहित्य तैयार कराया जाय और उन्हें पारितोषिक भेंट कर सम्मानित किया जाय। हमारी इस योजना को श्रद्धेय डा० भगवानदास, राजर्षि बा० पुरुषोत्तम दास टंडन, आचार्य क्षिति-मोहन सेन, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार आदि सर्वमान्य विद्वानों द्वारा खासा प्रोत्साहन मिला। तभी से पूज्य श्री वियोगी हरि के आदेशानुसार मंडल की दिल्ली शाखा के अन्तर्गत यह कार्य सम्पादन होता रहा। हमें हर्ष है कि मंडल-द्वारा पुरस्कृत एवं प्रकाशित विभिन्न विषयों को हिन्दी साहित्य में उचित सम्मान प्राप्त हुआ है।

सन् १९४५ की दर्शन-पुरस्कार-योजना के अन्तर्गत श्री भरतसिंह जी उपाध्याय द्वारा लिखित "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन" पर बंगाल हिन्दी मंडल द्वारा १५००) रु० का पारितोषिक भेंट किया गया था। लेखक ने दर्शन-सम्बन्धी विषय पर जैसा गवेषणापूर्ण अध्ययन किया है, वह तो इस कृति से स्वतः ही स्पष्ट हो जायगा। आधुनिक ऐतिहासिक शोध के प्रकाश में लेखक द्वारा किया गया निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन इस ग्रन्थ की अपनी निजी विशेषता है। बौद्ध धर्म और दर्शन का जितना परिपूर्ण अध्ययन इस पुस्तक में है, उतना हिन्दी के अब तक प्रकाशित किसी ग्रन्थ में तो है ही नहीं, किसी विदेशी भाषा में भी इतना सर्वांगीण विवेचन करनेवाली कोई एक पुस्तक नहीं है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की श्रीवृद्धि में यह सेवा करने का जो अवसर प्राप्त हुआ है, उसे मंडल अपना सौभाग्य मानता है।

बौद्ध धर्म के प्रणेता को जन्म देने का तो भारत को अभिमान है ही, परन्तु उससे भी अधिक गौरव की बात यह है कि इस धर्म ने भारत के बाहर कोटिशः

लोगों को भारतीय राष्ट्र की एकात्मता की अनुभूति से स्पन्दित कर रक्खा है। वह अभी भी उनका जीवित धर्म है—वह उनके जीवन की आशा और मृत्यु का आश्वासन है। आज के युग में जब संसार के अधिकांश राष्ट्र अपने-अपने प्रभुत्व और बल-प्रदर्शन में मानवता को भूलते जा रहे हैं, भारतीय दर्शन के आधारभूत तत्व ही कल्याणकर हो सकते हैं।

हिन्दी-संसार में यदि इस विचारपूर्ण ग्रन्थ का समुचित समादर हुआ, तो बंगाल-हिन्दी-मंडल अपने इस विनम्र प्रयत्न को सफल समझेगा।

कैलाशनाथ
मंत्री
बंगाल-हिन्दी-मंडल

दीपावली सं० २०११ वि०
८, रॉयल एक्सचेंज प्लेस
कलकत्ता

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक ऐतिहासिक पद्धति पर बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन के रूप में लिखी गई है। प्रथम अध्याय में भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियों और उसकी चिन्ता के मुख्य विषयों का उल्लेख है। द्वितीय अध्याय में भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास का विवरण है। तृतीय अध्याय में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि 'आस्तिक' और 'नास्तिक' मतों के रूप में भारतीय दर्शन का द्विविध वर्गीकरण अनुपयुक्त है और विशेषतः बौद्ध धर्म को किसी अर्थ में 'नास्तिक' मत नहीं कहा जा सकता। चतुर्थ अध्याय में बौद्ध दर्शन का विवरण है। इस अध्याय के पूर्वार्द्ध में स्थविरवादी तत्त्वदर्शन का विवेचन है और उत्तरार्द्ध में बौद्ध दर्शन के उत्तरकालीन विकास का। पांचवें अध्याय में वैदिक दर्शन से लेकर आधुनिक भारतीय विचार तक भिन्न-भिन्न विचार-पद्धतियों का बौद्ध दर्शन के साथ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, तुलनात्मक तात्विक विवेचन किया गया है। छठे अध्याय में, जो उपसंहार के रूप में है, समग्र भारतीय दर्शन-साधना में बौद्ध दर्शन के स्थान और महत्त्व का अनुमापन किया गया है एवं प्रस्तुत अध्ययन-सम्बन्धी निष्कर्षों को व्यक्त किया गया है। आकार की सुविधा के लिये पुस्तक को दो भागों में प्रकाशित किया गया है। प्रथम भाग में पहले चार अध्याय हैं और द्वितीय भाग में अध्याय पांच और छह।

जिस विशाल विषय-वस्तु को इस ग्रन्थ में उपन्यस्त किया गया है या जिन सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा की गई है, उनके सम्बन्ध में यहां कुछ कहना तो पुनरुक्ति मात्र ही होगा। लेखक के इस प्रयत्न में कुछ सृजनात्मक विचार भी है या केवल पिष्टपेषण मात्र, इसका निर्णय तो अध्यात्मविद् विचारक ही कर सकेंगे। मुझे यही जानकर सन्तोष है कि अपनी अत्यन्त अल्प सीमाओं में

मैंने तथागत की उपासना की है, परमर्षियों की आराधना की है, और जब मैं यह लिख रहा हूँ तो मेरे कानों में कोई बार-बार गूंज रहा है—न हि कल्याण-कृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति। इतना आश्वासन किसी भी उपेक्षाविहारी के लिये काफी है।

पूज्यपाद डा० भीखनलाल जी आत्रेय और पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप जी का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक की पाण्डुलिपि के सम्बन्ध में अत्यन्त उदार सम्मतियां प्रकट कीं। पूज्य आचार्य श्री वियोगी हरि जी से मुझे जो सतत प्रेरणा मिलती रही है, विशेषतः उनके व्यक्तित्व में बौद्ध और वैष्णव साधनाओं के संगम से मुझे जो आश्वासन मिला है, उसे शब्दों में व्यक्त करना कठिन है। पूज्य भदन्त आनन्द कौसल्यायन जी और हिन्दी में बौद्ध साहित्य के पिता श्री राहुल जी की कृतज्ञता किन शब्दों में प्रकट करूँ ? यदि पूज्यपाद गुरुदेव प्रो० जगन्नाथ तिवारी जी और बौद्ध और न्याय दर्शनों के मनीषी चिन्तक आचार्य श्री धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री से समय-समय पर प्रेरणा और शक्ति नहीं मिलती रहती तो इस एक हजार से अधिक पृष्ठ वाली पुस्तक के लिखने की कथा मुझसे दूर थी! बन्धुवर श्री तुलसीराम जी वर्मा के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करना तो भेद-दृष्टि का प्रख्यापन करना ही होगा। निर्वाण-प्राप्त पूज्य भदन्त बोधानन्द जी महास्थविर की स्मृति किये बिना मैं यहां नहीं रह सकता। चार वर्ष पूर्व उन्होंने अपने एक पत्र में यह इच्छा प्रकट की थी कि मरने से पूर्व वे मेरी इस रचना को प्रकाशित देखना चाहते हैं। आज जब कि यह निकल रही है, पूज्य महास्थविर जी इस लोक में नहीं हैं। संस्कारों की अनित्यता!

बंगाल हिन्दी मण्डल के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करना मेरे लिये एक पवित्र कर्तव्य है। इस पुस्तक की रचना सन् '४५ में बंगाल हिन्दी मण्डल की विज्ञप्ति से प्रेरणा प्राप्त कर हुई थी। उसी वर्ष 'मण्डल' ने १५००) के 'दर्शन-पारितोषिक' से इसे सम्मानित भी किया था। और आज नौ वर्ष बाद इसके प्रकाशन की अत्यन्त व्ययसाध्य व्यवस्था भी उक्त संस्था ने ही की है। इस अवसर पर मैं बंगाल हिन्दी मंडल के प्रधान श्री लक्ष्मीनिवास जी बिड़ला के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूं। श्री बिड़ला जी के हिन्दी के प्रति अनन्य प्रेम के कारण ही यह संस्था अभी तक बराबर अपने उद्देश्यों की पूर्ति में संलग्न रही है और मुझे विश्वास है कि आगे भी रहेगी।

जिन प्राचीन और अर्वाचीन तत्त्वचिन्तकों और साधकों की रचनाओं से मैंने लाभ उठाया है, उन सब को मैं अपनी श्रद्धा का अर्घ्य समर्पित करता हूँ। शत-कल्प में भी बुद्ध जैसे सत्यदर्शी पुरुष का आविर्भाव सम्भव नहीं है। अतः सब उन पुरुषोत्तम के मार्ग को जानकर अपने कल्याण को खोजें, यही कामना है।

बड़ौत (मेरठ) भरतसिंह उपाध्याय
२०-५-१९५४

विषय-सूची

पहला प्रकरण

भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियाँ और उसकी चिन्ता के मुख्य विषय

दूसरा प्रकरण

भारतीय दर्शन-परंपरा : संक्षिप्त ऐतिहासिक विकास और विवेचन

तीसरा प्रकरण

भारतीय दर्शन का द्विविध विभाग अर्थात् आस्तिक बनाम नास्तिक मत

भारतीय दर्शन को नास्तिक नाम से अभिहित करना एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उससे भी निकृष्ट एक ग्रन्थ-सम्प्रदाय की स्वतः प्रमाणता से अपने को सम्बद्ध कर लेना है एवं वैज्ञानिक मार्ग से बिछुड़ जाना है—सर्वांश में वैज्ञानिक मार्ग का ही अवलम्बन लेने वाले 'विभज्यवादी' बुद्ध के प्रति वेद-निन्दा का आरोप कर उनको अथवा उनकी विचार-प्रणाली को 'नास्तिक' नाम देना परम्परागत धार्मिक भावना के परिणाम-स्वरूप भले ही हो, वह निष्पक्ष तात्त्विक समीक्षा का लक्षण नहीं है—अतः बौद्ध दर्शन के विषय में इस परम्परागत निन्दा-बुद्धि का निरसन अत्यन्त आवश्यक और यही प्रारम्भिक रूप से उसके स्वरूप को समझने की पहली आवश्यक शर्त भी—आधुनिक विचार का प्रकाश इस दृष्टि के अनुकूल—बौद्ध दर्शन (साथ में जैन दर्शन भी) सभी अर्थों में स्वकीय ही है, परकीय या 'बाह्य' कभी नहीं—विद्वानों से इसे इसी रूप में देखने की प्रार्थना।

पृष्ठ १७७—१९५

चौथा प्रकरण

बौद्ध धर्म का भारत में उद्भव और विकास

अ—'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन अथवा स्थविरवादी तत्वदर्शन

१—उपोद्घात: बुद्ध और बौद्ध दर्शन पर सामान्य विचार

बुद्ध और बुद्ध-धर्म की महिमा की कुछ कथा—बौद्ध दर्शन के उद्भव और विकास का प्राथमिक परिचय—एक स्पष्टीकरण अर्थात् बौद्ध दर्शन के विकास की दो क्रमिक अवस्थाओं अर्थात् मूल बुद्ध-दर्शन या स्थविरवादी तत्त्व-दर्शन और विकसित बौद्ध दर्शन को यहां क्रमशः 'मौलिक्य' और 'उत्तर' संज्ञा देने की संगति एवं अन्य प्रयुक्त नाम—उपर्युक्त द्विविध विभाग की कुछ विशेषताएँ और मूल बुद्ध-दर्शन की दृष्टि।

२—प्राग्बौद्धकालीन भारतीय दर्शन की अवस्था और सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव

प्रारम्भ—बुद्ध-पूर्व वैदिक प्रज्ञान और बुद्ध-शासन के लिये सामान्य रूप से उसकी देन—बुद्ध-पूर्व और बुद्ध के समकालिक कुछ विचारक—बुद्ध के आविर्भाव-काल में और उसके कुछ पूर्व भारतीय विचार की अत्यन्त विप्लवमयी और विचिकित्सापूर्ण अवस्था—बासठ मिथ्या दृष्टियों का निदर्शन—

तथागत की इन दृष्टियों के प्रति प्रतिक्रिया—तथागत-प्रवेदित धर्म के स्वरूप एवं उसकी कतिपय मान्यताओं और मौनों की संगति और व्याख्या तथागत की इन दृष्टियों के प्रति प्रतिक्रिया के आधार पर ही सम्भव और आवश्यक भी।

३—बुद्ध-धर्म-संघ

बुद्ध-दर्शन की प्रस्तावना-स्वरूप बुद्ध, धर्म और संघ की अनुस्मृति अत्यन्त आवश्यक—बुद्ध-जीवनी के उपादान और उनकी आपेक्षिक महत्ता—मूल पिटक और अनुपिटक साहित्य के आधार पर अत्यन्त संक्षिप्त बुद्ध-जीवनी देने का प्रयत्न—जन्म, यौवन और महाभिनिष्क्रमण—तपस्या, मार-विजय और अभिसम्बोधि-प्राप्ति—ब्रह्म-याचना के परिणामस्वरूप धर्म-प्रचार—अन्तिम दिवस और तथागत का महापरिनिर्वाण—'धम्म' की अनुस्मृति—तथागत-प्रवेदित धर्म के मूल उपादान चार आर्य सत्य हैं—इनका विवरण और विवेचन—संघ-स्थापना और मातृग्राम (स्त्रियों) को संघ में प्रवेश की आज्ञा—संघ-सम्बन्धी कुछ नियम और शास्ता के परिनिर्वाण के समय बौद्ध धर्म और संघ की साधारण अवस्था—उपसंहार।

४—साहित्य और परम्परा

मूल बुद्ध-दर्शन को जानने का पालि त्रिपिटक ही एकायन मार्ग और इस रूप में उसकी प्रामाणिकता—'तेपिटक संगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवादं', अर्थात् अर्थकथाओं के सहित तीनों पिटकों में सन्निहित सब 'स्थविरवाद' है, इस कथन के प्रकाश में प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के, स्थविरवाद-परम्परा के रूप में, ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विकास पर एक विहंगम दृष्टि—'तेपिटक बुद्धवचन' अर्थात् त्रिपिटक-ग्रन्थराशि की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन और साथ ही उसके प्रसिद्ध ग्रन्थों के काल-क्रम एवं उनकी आपेक्षिक प्रमाणवत्ता और महत्ता पर भी संक्षिप्त विचार—अट्ठकथा-साहित्य और दार्शनिक दृष्टि से उसका महत्त्व—अन्य अनुपालि अथवा अनुपिटक साहित्य और उसमें दार्शनिक अंश की अल्पता।

५—बोधिपक्षीय धर्म : बुद्ध-शासन और आचारतत्व की प्रतिष्ठा

सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म (सत्ततिंस बोधिपक्खिया धम्मा) भगवान् बुद्ध के अविवाद और अविरुद्ध मन्तव्य हैं—बोधिपक्षीय धर्म सम्पूर्ण बौद्ध साधना की प्रतिष्ठा भूमि हैं—बोधिपक्षीय धर्मों का संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन—चार स्मृति-प्रस्थान—चार सम्यक् प्रधान—चार ऋद्धिपाद—पांच इन्द्रियां या

आध्यात्मिक विकास की पांच मुख्य शक्तियां—पांच बल—सात बोध्यंग—आर्य अष्टांगिक मार्ग—इन्हीं की समष्टि का नाम बौद्ध जीवन-पद्धति है—नैतिक आदर्शवाद ही बुद्ध का वास्तविक मन्तव्य—आर्य अष्टांगिक मार्ग के अलावा मध्यमा प्रतिपदा का एक गम्भीरतर रूप प्रतीत्य समुत्पाद ।

६–प्रतीत्यसमुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का का नियम

प्रतीत्यसमुत्पाद का संक्षिप्त अर्थ, महत्त्व और उद्देश्य—प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण और विवेचन—भारतीय दर्शन में कारणवाद-सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों के साथ उसकी कुछ तुलना—समीक्षा और उपसंहार ।

७–अनात्मवाद : बुद्ध-मंतव्य का तात्त्विक आधार

अनात्मवाद क्रान्तिकारी दर्शन ! अनात्मवाद को ठीक प्रकार से न समझने के कारण भय और मोह की प्राप्ति—अनात्मवाद की विपुल व्याख्याएँ और उस पर विशाल साहित्य—बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद—अनत्तलक्खण-सुत्त के आधार पर—बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद का प्रकार और उसकी सीमा—अनात्मवाद के उपदेश में भगवान् का प्रयोजन—बुद्ध-सम्मत अनात्मवाद का कुछ विस्तृत विवरण और विवेचन—पञ्चस्कन्ध और अनात्मवाद—क्या अनात्मवाद उपनिषद्-विपरीत सिद्धान्त है ?—साधन-पक्ष में औपनिषद मन्तव्य के साथ अनात्मवाद की एकता किन्तु अतीत सत्य के सम्बन्ध में 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' की कठिनाई और वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य को खोज निकालने में सभी प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का विमोह—भदन्त नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या—अव्याकृत वस्तुएँ—अनात्मवाद के सम्बन्ध में ठीक दृष्टि ।

८–मनोवैज्ञानिक आचारतत्व अथवा समग्र आंतरिक और बाह्य जगत् के मूल उपादान-स्वरूप 'चित्त', चेतसिक' और 'रूप' की 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्ममयी व्याख्या

बौद्ध धर्म का मनोवैज्ञानिक रूप—बौद्ध मनोविज्ञान मानवीय है—एक अत्यन्त गूढ़ और विस्तृत विषय—कर्म का चेतनामय स्वरूप —'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चित्त—बावन चेतसिक धर्म—उनका विश्लेषण और नैतिक व्याख्यान—'रूप' और उसकी व्याख्या—उपसंहार ।

९–कर्म और पुनर्जन्मवाद

बुद्ध-शासन में कर्म का स्वरूप और महत्त्व—जीवन में विषमता का

कारण कर्म ही है—पुनर्जन्म की समस्या और संगति—निर्वाण में कर्म और पुनर्जन्म का निःशेष।

१०—निब्बाण

निब्बाण अनुभव की एक अवस्था है, बुद्धिगत चिन्तन का परिणाम नहीं—निब्बाण—जैसा भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों ने अनुभव किया—अत्यन्त सुख—परम शान्ति—निब्बाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक विवेचन—निर्वाण बुद्ध-शासन का सार है—वह चित्त की विमुक्ति है एवं ब्रह्मचर्यवास का अन्तिम उद्देश्य भी—निर्वाण अमृत-पद है—निर्वाण राग, द्वेष और मोह का क्षय है—भव का निरोध है—वह परम कृतकृत्यता है—निर्वाण का साक्षात्कार इसी जीवन में होता है—निर्वाण अद्वितीय योगक्षेम है—निर्वाण अच्युत पद है—निर्वाण 'शिव पद' है—निर्वाण जन्म, जरा, मरण और शोक से विमुक्ति है—निर्वाण भव-बाढ़ के बीच सुरक्षित द्वीप है—वह भव-बाढ़ का निस्तरण भी है—निर्वाण अविवाद भूमि है—संक्षेप में निर्वाण दुःखों का अन्त है—सर्वतः आदीप्त भव में एकमात्र शीतलता है—दीपक के बुझ जाने के समान वेदनाओं का ठंडा पड़ जाना ही निर्वाण है—निर्वाण वह आयतन है जहां न 'आना' है, न 'जाना', जहां 'स्थिति' और 'च्युति' नहीं है—जहां लोक, परलोक, सूर्य-चन्द्रमा नहीं हैं—निर्वाण है, इसीलिये इस जगत् की अनुभूति होती है—असीम की सत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण ससीम का होना है—यदि अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत न होता तो जात, भूत, कृत और संस्कृत से निःसरण कैसे होता? —निर्वाण अनिरुक्त अवस्था है—निर्वाण वह परम अतीत सत्य है जिसका कोई अधिष्ठान नहीं—निर्वाण असंस्कृत, सत्य, पार, अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत, शिव, क्षेम, अद्भुत, विशुद्धि, द्वीप और त्राण है—अत्थि धम्म है अभूत, अजात, असंस्कृत निब्बाण—निब्बाण के सम्बन्ध में 'मिलिन्द प्रश्न' और 'विशुद्धि-मार्ग' के विचार।

११—क्या सम्यक सम्बुद्ध दुःखवादी, अनीश्वरवादी और उच्छेदवादी हैं?

बुद्ध के समय में ही उन पर अनेक प्रकार के आक्षेप और तथागत के द्वारा उनका स्पष्टीकरण—उत्तरकालीन प्रायः निषेधात्मक व्याख्याकारों के कारण स्थिति और अधिक गम्भीर—दुःख-समुदय के द्वारा दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-मार्ग को दिखाने वाले सुख विहारी शाक्यमुनि दुःखवादी कैसे? एक दुर्धर्ष विश्वव्यापी नियम को मानने वाले, नैतिक आदर्शवाद की अनुपम स्थापना करने वाले, मैत्री भावना का सर्वत्र प्रसार करने वाले, परम तत्त्व के विषय

में औपनिषद परम्परा के अनुसार ही मौन साधने वाले, उन सम्यक् सम्बुद्ध, शान्त, निर्वाण-प्राप्त मुनि को अनीश्वरवादी कैसे कहा जाय ?---उन महाश्रमण को उच्छेदवादी कहना तो अपने ही शुभ का उच्छेद करना है ।

आ-'उत्तर बौद्ध दर्शन अथवा उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक विकास

१-भारत में बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास का संक्षिप्त इतिहास

पूर्व निर्दिष्ट स्थविरवाद के अतिरिक्त बौद्ध विचार के विकास की अन्य परम्पराएँ---बुद्ध के परिनिर्वाण-काल तक का बौद्ध धर्म स्थविरवाद---साथ ही द्वितीय संगीति के बाद से ही महासांघिकों का उदय---अष्टादश निकाय---अशोक-युग में अथवा उसके कुछ पहले से ही महायान-प्रवृत्तियों का उदय और विकास---हीनयान और महायान---भदन्त नागार्जुन के द्वारा महायान धर्म और दर्शन को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करना---विदेश में भी बौद्ध धर्म और दर्शन के गमन की संक्षिप्त कथा ।

२-महायान का धार्मिक स्वरूप और हीनयान और महायान का ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक सम्बन्ध

महायान के विकास का संक्षिप्त सिंहावलोकन---महायान के विकास में कारणभूत परिस्थितियां---दो सत्यों की कल्पना---बुद्ध की तीन कायाएँ अथवा महायान का त्रिकाय-सिद्धान्त---बुद्ध-भक्ति का समावेश---बोधिसत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्त और स्थविरवादी अर्हत् आदर्श से उसकी तुलना---क्या महायान ने भिक्षु-धर्म के ऊपर गृहस्थ की प्रतिष्ठा की ? बोधिसत्त्व आदर्श के विकास की अवस्थाएँ---पारमिताएँ---बोधिचित्तोत्पाद और आध्यात्मिक विकास की दस भूमियां---धर्मशून्यता, धर्मसमता या तथता का विचार---महायान का साहित्य ।

३-हीनयान : सम्प्रदाय, साहित्य और सिद्धान्त

सर्वास्तिवादी साहित्य---सौत्रान्तिक और वैभाषिक आचार्य और उनके ग्रन्थ---सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त---सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत तत्त्व-मीमांसा और प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र में---हीनयानी आचार-तत्त्व ।

४-महायान : साहित्य और सिद्धान्त

विज्ञानवाद : आचार्य और साहित्य---शून्यवाद : आचार्य और साहित्य---विज्ञानवाद का सामान्य विवेचन---आलयविज्ञान---विज्ञप्तिमात्रता---भूत-तथता---अलग-अलग विवेचन---शून्यता का उपदेश---धर्मनैरात्म्य---संवृति

पहला प्रकरण

भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियाँ और उसकी चिन्ता के मुख्य विषय

भारत की अध्यात्म-विद्या-आराधना

भारतवर्ष सदा से तपस्या का क्षेत्र और अध्यात्मचिन्तन का आयतन रहा है। तपस्या वह जो आत्मनिर्यातन के द्वारा सौन्दर्य का उपघात नहीं, शरीर की मात्र यन्त्रणा नहीं, दूसरों के उत्सादन अथवा अपने ऐहिक तथा पारलौकिक सुखों की कामना से प्रेरित शरीरस्थ आत्मा का कर्षण नहीं, मूढग्राह से विजृम्भित महाभूतों का निकृष्ट पीड़न नहीं; और अध्यात्मचिन्तन वह जो बुद्धिवाद से विरहित मात्र भावुकता का आवेश नहीं, व्यावहारिकता से दूर मात्र कल्पना की उड़ान नहीं, जीवन का निषेध नहीं, विज्ञान का तिरस्कार नहीं, आलस्य का समर्थन नहीं, पुरुषार्थ का उच्छेदन नहीं। सत्य का वह निम्नतर रूप, अथवा उसको देखने का वह निम्नतर ढंग, जो मनुष्य को बाह्य प्रकृति के विश्लेषण, उसके सामान्य नियमों और रूपों के अनुसन्धान, उसपर विजय और इन सबके परिणामस्वरूप उसे अपनी दासी बनाकर उससे अपने भौतिक और ऐन्द्रिय सुख-विधान की अधिक-से-अधिक सामग्री खींचने की ओर प्रवृत्त करता है, भारत को आरम्भ से ही आकृष्ट न कर सका, उसकी चिन्ता का मुख्य विषय न हो सका। बाह्य जगत् और उसकी सफलता को जीवन के अन्तिम लक्ष्य के रूप में उसने कभी स्वीकार नहीं किया, फिर तत्सम्बन्धिनी विद्या को, अधिदेव और अधिभूत विज्ञान को, सगुण, ऐन्द्रिय अथवा अपर ज्ञान को, संक्षेप में समग्र व्यावहारिक विज्ञान को, जिसे उसने 'अपरा विद्या', 'अविद्या' अथवा केवल 'नाम एव' की संज्ञाओं से अभिहित किया 'व्यावहारिक', 'आपेक्षिक' अथवा 'संवृति सत्य' का विषय बताया, अनन्त ज्ञान-

राशि के विशाल पर्वत-पुञ्ज में से एक मुट्ठी भर टुकड़ों का भर लेना ठहराया[१], वह किस प्रकार अपनी जीवन-व्यापिनी साधना की इष्टदेवी बना सकता था। वेद-वेदांग और अन्य महनीय विद्या-स्थानों में निहित समग्र ज्ञान उसके द्वारा ज्ञान की अपर कोटि में ही रक्खा गया, त्रैगुण्य का ही विषय ठहराया गया[२]। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और उनके अंग-रूप शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, सबको उसने अपरा विद्या कहा[३], जिसका क्षेत्र दुःख-रूप संसार ही है[४]। जो क्षर है, वह अविद्या ही तो है[५]। अमृत तो केवल विद्या है[६]। समग्र भौतिक विज्ञान को जानना अन्ततः केवल शब्दों को ही तो जानना है, नामों और निरुक्तियों का ही तो व्यवहार करना है। अतः चारों वेदों में निहित विद्या और भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, नक्षत्र-विद्या आदि सब विद्याएँ, केवल शब्द-ज्ञान ही तो हैं, केवल नाम-मात्र ही तो हैं। इस अपरा विद्या के विषय में उपनिषद् ने ठीक ही कहा है 'नाम एव एतद्' अर्थात् यह सब नाम ही है[७]। व्यवहार पर आश्रित भेदज्ञान का अन्त में

(१) इन्द्र ने तीन पर्वतों में से एक मुट्ठी भर पत्थर के टुकड़ों को भरकर कहा, "भरद्वाज ! अब तक वेदों को पढ़ कर जो कुछ ज्ञान तुमने प्राप्त किया है और दूसरे जन्मों में भी जो कुछ ज्ञान प्राप्त करोगे वह सब इन पर्वतों की तुलना में इस मुट्ठी के समान है।" तैत्तिरीय ब्राह्मण (कृष्ण यजुर्वेद)

(२) त्रैगुण्यविषया वेदाः। गीता २। ४५.

(३) तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। मुण्डक० १। १। ५.

(४) तत्रापरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽनादिरनन्तो दुःखस्वरूपत्वाद्धातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः। मुण्डक० १। २ पर शांकर-भाष्य की भूमिका, मिलाइये आपस्तम्ब० २। ४। ८; याज्ञवल्क्य १। १। ८

(५) क्षरं त्वविद्या। श्वेताश्वतर ५। १

(६) ह्यमृतं तु विद्या। श्वेताश्वतर . ५। १

(७) स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं ...... भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि। ....तं होवाच यद्वै किञ्चैतदध्यगीष्ठा नाम एव एतत्। छान्दोग्य. ७। १। २-३; मिलाइये वहीं ६। ७। २; ऋ० १। १६४। ३९;

सम्यक् ज्ञान में पर्यवसान होना ही ठहरा[1]। कार्य-कारणमय विकारों की स्वयं-सत्यता यदि बुद्धि और इन्द्रियों की अपेक्षा से ही है तो क्या परमार्थ दृष्टि में उनकी भी सापेक्षता सिद्ध नहीं हुई[2] ? क्या वे भी परमार्थ रूप सत्य के केवल उपलब्धि-द्वार मात्र ही नहीं हुए[3] ? बाह्य और स्थूल प्रयोजनों को लभ्य बनाकर भी, जो विज्ञान का लक्ष्य है, क्या उसने वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को माया के आवरण में ढँककर ही नहीं रक्खा ? क्या सच्चे अर्थों में वह 'सांवृतिक' नहीं हुआ[4] ? क्या अज्ञान की संज्ञा उसने नहीं पाई ? सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेय-सम्बन्धी व्यवहार और ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी शास्त्र-विवेचन, जिसपर सम्पूर्ण लौकिक ज्ञान प्रतिष्ठित है, क्या अन्त में 'अविद्यावद्विषय' नहीं हुआ[5] ? क्या केवल अध्यास-रूप अज्ञान का ही वह खिलखिलाकर हँसना नहीं हुआ ? जिसे ज्ञान कहा जाता है वह अस्मत् (मैं-ज्ञाता) और युष्मत् (तू-ज्ञेय) की प्रतिसन्धि के सिवा और क्या है ? और यह अस्मत् और युष्मत् का संयोग किसने किया ? क्या इस बुद्धि-निर्माण को सम्यक् ज्ञान

१०।६।७१; बृहदारण्यक; ३।५; ४।४।२१; कठ० १।२। २३; विवेक चूडामणि, श्लोक ५८—६७

(१) विशेषतः शाङ्कर मत के अनुसार—भेदज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य २।१।२२; मिलाइये गीता १८।२०

(२) यह भी विशेषतः शांकर मत के अनुसार ही—सत्यमुक्तं सत्यत्वं विकाराणां तत्तु न परमार्थापेक्षया। किं तर्हि ? इन्द्रियविषयापेक्षया उक्तं। छान्दोग्य. ७।१७ पर शांकर-भाष्य।

(३) सत्यस्य परमार्थस्य उपलब्धिद्वारं भवति। छान्दोग्य ७।१७ पर शांकर भाष्य।

(४) संव्रियते आव्रियते यथाभूतं परिज्ञानं स्वभावावरणादावृतप्रकाशनाच्चानयेति संवृतिः। मिलाइये, "सम्यक् मृषादर्शन लब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः। सम्यक् दृशां यो विषयः स तत्वं मृषा दृशां संवृतिसत्यमुक्तम्"। बोधिचर्यावतार।

(५) तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य.......अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का उपोद्घात, मिलाइये कठ० १।२।४-५; बृहदारण्यक ४।४।८-११; तैत्तिरीय-शांकर भाष्य २।८;....जब लगि एक न पेखा। वेद कतेब कुरान पुराननि तब लगि भ्रम ही देखा। रैदास।

कहना ठीक होगा ? क्या यह 'अविद्यावद्विषय' ज्ञान कभी मनुष्य के चरम पुरुषार्थ की सिद्धि कर सकेगा, उसे परम निःश्रेयस के समीप ले जा सकेगा ? भारतीय दर्शन की मान्यता है कि यह नहीं हो सकता ।

परन्तु जिस एक के जान लेने पर, जो सभी गतिशीलों में स्थिर और अध्रुवों में ध्रुव है, प्रवाहशील संस्कारों में जो अचल, असंस्कृता धातु है, तथा जिसके विषय में प्रायः सभी प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक कल्पों का स्पष्ट-रूप से अथवा प्रकारान्तर से 'अस्ति'-'अस्ति' ऐसा आश्वासनकारी निर्घोष है,[१] उस 'अजात' 'अभूत', तत्त्व[२] के यहीं साक्षात्कार कर लेने पर, जब सभी कुछ ज्ञातव्य जान लिया जाय[३], सभी कुछ करणीय कर लिया जाय[४], विश्व

(१) चार्वाक मत के विषय में तो ऐसा नहीं कहा जा सकता। कुछ के अनुसार बौद्ध दर्शन के विषय में भी जो किसी 'एक कारण' को नहीं मानता कदाचित् ऐसा न कहा जा सके, किन्तु जहाँ तक बुद्ध के मूल दर्शन से सम्बन्ध है, एक अत्यन्त प्रभावशाली विभिन्न दृष्टिकोण के लिए देखिए आगे चौथे प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद', 'अनात्मवाद', और निर्वाण का विवेचन ।

(२) 'अत्थि भिक्खवे अजातं अभूतं' । इतिवुत्तक, अञ्ञात सुत्त २।२।६; उदान, पाटलिगामिय वग्गो ।

(३) यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते । गीता ७।२; मिलाइये वहीं ३।१७-१८; ६।२२; आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन इदं सर्वं विदितं भवति । बृहदारण्यक० २।४।५; येनाश्रुतं श्रुतं भवति अमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति । छान्दोग्य० ६ । १ । ३; न हि आत्मनोऽन्यत् तत् प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मव्यवहितं भूतं भविष्यद्वा वस्तु विद्यते । तैत्तिरीय—शांकरभाष्य ६ । २; मिलाइये मुण्डक० १।१।३; प्रश्न० ४।१; ६ । ३; ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् । योगसूत्र ४ । ३१; खीणा जाति वुसितं ब्रह्मचरियं कतं करणीयं नापरं इत्थत्तायाति । विनयपिटक, महावग्ग १ । १ । ७; १ । १ । १६; कस्सपसीहनाद सुत्त (दीघ० १।८), पोट्ठपादसुत्त (दीघ १।९), सुभ सुत्त (दीघ १ । १०), आदित्तपरियाय सुत्त (संयुत्त० ४३।३।६) अंगुत्तर० ८।१।२।१ एवं त्रिपिटक में अन्य अनेक स्थलों में क्षीणास्रव अर्हतों के ये उद्गार दर्शनीय हैं ।

(४) न चैवमात्मानमनुभवतः किञ्चिदन्यत् कृत्यमवशिष्यते । ब्रह्मसूत्र—शांकर-

जब अपने रहस्यों को खोलकर सदा के लिये विलीन हो जाय, प्रकृति-नटी अपने स्वरूप को देख लिये जाने से लज्जित होकर अपने खेल को समाप्त कर दे और फिर कभी लौटे ही नहीं[1], उस अविनाशी (अजर) परमार्थ धर्म (परमत्थ धम्म) की अधिगति अवश्य मनुष्य के उपशम के लिये होगी। उपशम ही मोक्ष का लक्षण है और वही परा विद्या का विषय है[2]। अक्षर के अधिगम के लिये ही परा विद्या का प्रवर्तन हुआ है, जो उच्चतम ज्ञान है[3]। भारत ने अनन्य निष्ठा के साथ इस परा विद्या की, जिसका दूसरा नाम अध्यात्म-विद्या है, आराधना की है और उसकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति इसके रूप में ही हुई है।

अध्यात्म-ज्ञान के अभ्यास, दर्शन और भावना का क्रम इस देश में सदा अक्षुण्ण रूप से चलता रहा। चलता भी क्यों नहीं, देवराज इन्द्र, वैवस्वत मनु, वैन्य पृथु, इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता और दिलीप जैसे राजर्षियों की भारत प्रिय भूमि जो है[4], जनक, शुक और वामदेव जैसे ब्रह्मज्ञानियों की साधना-भूमि जो है, महावीर, शंकर और याज्ञवल्क्य जैसे तत्त्वदर्शियों की तपस्या-भूमि जो है। यही वह जम्बुद्वीप है जहाँ मानव-रूप में जन्म लेने का भगवान् बुद्ध संकल्प करते हैं[5]। अपवर्ग की प्राप्ति में यहाँ के

भाष्य ४।१।२; नत्थि तथागतस्स उत्तरिं करणीयं कतस्स वा पटिचयो। मिलिन्दपञ्हो, मेण्डकपञ्हो, पृष्ठ १४१; मिलाइये छान्दोग्य ६।२-३; ७।१४।१; मुण्डक० ३।२।८

(१) सांख्य कारिका, कारिका ५९।

(२) तदुपशमलक्षणो मोक्षः परविद्याविषयोऽनाद्यनन्तोऽजरोऽमरोऽभयः शुद्धः प्रसन्नः स्वात्मप्रतिष्ठालक्षणः परमानन्दोऽद्वय इति। मुण्डक० पर शांकर भाष्य १।२ की भूमिका, मिलाइये आपस्तम्ब० २।४।८, याज्ञवल्क्य० १।१।८

(३) अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक० १।१।५

(४) अथ ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्। प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ॥ पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः। ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ॥ तथैव मुचुकुन्दस्य शिवेरौशीनरस्य च ॥ ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ॥ कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः। सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ॥ महाभारत, भीष्मपर्व।

(५) जम्बुद्वीपे पुमानेव संमुखबुद्धचेतनः। चिन्तामयं कल्पशते शेषे तदाक्षि-

आदर्श सदा कारणभूत रहे हैं और इसीलिये देवताओं की भी इस भूमि पर आकर जन्म लेने की सदा स्पृहा रही है[1]। यहीं पर वह मध्य-देश है जहाँ अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि की ज्योति चमकी थी। यहीं दृषद्वती और सरस्वती के बीच का वह ब्रह्मावर्त प्रदेश है जहाँ का परम्परागत आचार विश्व के सदाचार का पैमाना माना जाता था[2]। यहीं उत्तर कुरु का वह साधना-प्रधान देश है जहाँ के मनुष्यों को शील नैसर्गिक देन के रूप में मिला था[3]। चेदि देश भी यहीं था जहाँ के धर्मशील जनपद थे और जहाँ स्वेच्छाचार में भी कहीं मिथ्या प्रलाप सुनाई नहीं पड़ता था और जहाँ सभी वर्ण अपने-अपने धर्म में स्थित थे[4]। भारतीय इतिहास ने एक ऐसा युग अवश्य देखा है जो सम्भवतः भगवान् बुद्ध के लिये भी 'पुराण' था और जब मनुष्यों को केवल तीन ही दुःख थे—क्षुधा, इच्छा और जरा[5]। इसी युग के सम्बन्ध में सम्भवतः कहा जा सकता था कि इस देश में कोई चोर नहीं है, कोई दुराचारी नहीं है, कोई बाह्य शासन नहीं है, केवल आन्तरिक धर्म ही शासन कर रहा है। इस पावन भूमि ने एक युग

पत्यसौ। अभिधर्मकोश ४।१०९; "असौ बोधिसत्वः अवशिष्टे कल्पशते जम्बुद्वीप एव चिन्तामयं तत्कर्म आक्षिपति, तत्र च संमुखबुद्धचेतनः पुमांश्च भूत्वा जायते।" उपर्युक्त पर 'नालन्दिका' टीका; मिलाइये "बुद्ध जम्बुद्वीप में ही जन्म लेते हैं" जातक-अट्ठकथा, बुद्धचर्या, पृष्ठ १ में उद्धृत।

(१) गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे। स्वर्गापवर्गास्पद-हेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्। विष्णु-पुराण २।३।२४

(२) सरस्वतीदृशद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः। वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥ मनु० २।१७-१८

(३) उत्तर-कुरु प्रदेश के मनुष्य स्वभावतः ही सदाचारी होते थे। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं "उत्तर कुरुकानं मनुस्सानं अवीतिक्कमो पकतिशीलं" विसुद्धिमग्ग १।४१

(४) धर्मशीला जनपदाः सुसन्तोषाश्च साधवः। न च मिथ्याप्रलापोऽत्र स्वैरेष्वपि कुतोऽन्यथा॥ न च पित्रा विभज्यन्ते पुत्रा गुरु हिते रताः। युञ्जते धुरि नो गाश्च......सर्वे वर्णाः स्वधर्मस्थाः...." महाभारत, आदि-पर्व, अध्याय ६३, श्लोक १०-१२ (चित्रशाला प्रेस, पूना)

(५) ब्राह्मण-धम्मिय-सुत्त (सुत्त निपात २।७)

ऐसा अवश्य देखा है जब काश्मीर से कन्याकुमारी तक और काठियावाड़ से कामरूप तक फैले इस विस्तृत महादेश के विषय में आचार्य बुद्धघोष की यह उक्ति सर्वथा चरितार्थ हो सकती थी, जिसे उन्होंने विशेषतः कुरु-देश के विषय में कहा है "इस देश में दास और कर्मकर, नौकर-चाकर भी स्मृति-प्रस्थान (ध्यान-योग) सम्बन्धी कथा ही को कहते हैं। पनघट और सूत कातने के स्थान आदि में भी व्यर्थ की बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री—"अम्म ! तू किस स्मृति-प्रस्थान की भावना करती है ?" पूछने पर 'कोई नहीं', बोलती है, तो उसको धिक्कारती हैं—"धिक्कार है तेरी जिन्दगी को, तू जीती भी मुर्दे के समान है[1]।" आध्यात्मिक आदर्शवाद की यह गहरी अभिव्याप्ति भारतीय जीवन से सर्वथा लुप्त कभी नहीं हुई है। इसीलिये भारत ज्ञानियों का देश है। निस्सन्देह जब कि अन्य देशों की संस्कृति का मूल मन्त्र भौतिक राष्ट्रीयता है, भारतीय राष्ट्र-भावना का मूल स्वरूप अपने विस्तृततम अर्थों में सदा आध्यात्मिक ही रहा है।

पुरुष तो यहाँ साधक हुए ही स्त्रियों और बच्चों तक ने यहाँ ज्ञान-मार्ग का अभ्यास और विकास किया। स्त्रियों ने अपने बच्चों को स्तन्यपान कराते समय ही 'शाक्वरी' जैसे वीर्यवान् व्रतों का उपदेश दिया[2], मदालसा के समान अपने बालकों को पालनों में झुलाते हुए ही उन्होंने उन्हें अपने 'शुद्ध', 'बुद्ध' रूप का स्मरण कराया और बुद्ध-काल में कुछ ने अपने गर्भस्थ बच्चों को ही बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में अर्पित कर दिया[3]। मैत्रेयी जैसी स्त्रियाँ यहीं सर्वप्रथम अमृतत्व के लिये सब कुछ छोड़ती देखी गईं[4] और मानवता की सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना भी यहाँ सर्वप्रथम एक स्त्री के मुख से ही

(१) महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९) की अट्ठकथा (सुमंगल-विलासिनी) में। देखिये राहुल सांकृत्यायन : बुद्ध-चर्या, पृष्ठ ११८; दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ४४३

(२) कुमारान् ह स्म मातरः पाययमाना आहुः शाक्वरीणां पुत्रका व्रता पारयिष्णवो भवतेति। गोभिल गृह्यसूत्र ३।२।७९

(३) बोधि राजकुमार जिस समय गर्भ में था, उसकी माता ने भगवान् बुद्ध से कहा था "भन्ते ! यह जो मेरी कोख में है चाहे कुमार हो या कुमारी, यह भी भगवान् की, धर्म की और भिक्षु-संघ की शरण में जाता है। आज से भगवान् इसे सांजलि शरणागत उपासक के रूप में स्वीकार करें।" बोधि-राजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५)

(४) मैत्रेयी ने अपने पति के द्वारा दी हुई सारी सम्पत्ति को "किमहं तेन

निकली[1]। आत्मतत्त्व की गवेषक होकर आत्रेयी के समान अरण्यों में प्रवेश भी उन्होंने किया[2] और कुछ ने तो न केवल वेद की ऋचाओं की रचना ही की, बल्कि ब्रह्मवादिनी वाक्देवी के समान परमतत्त्व के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव करते हुए स्त्रीत्व की महिमा का यह उदात्त साक्षात्कार भी किया : 'जिसे-जिसे मैं चाहूँ उसे मैं परम ब्रह्मा, ऋषि और मेधावी बना सकती हूँ[3]।" उपनिषदों में गार्गी और याज्ञवल्क्य का संवाद प्रसिद्ध है[4]। इसी परम्परा का प्रवर्तन बुद्ध-काल में धम्मदिन्ना[5] और भद्रा कुण्डलकेशा[6] जैसी भिक्षुणियों ने सत्य की अधिगति के लिये पुरुषों के साथ शास्त्रार्थ करके किया। भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में शुक्ला, शैला, सोमा, धम्मदिन्ना, नन्दा, उत्तरा, भद्रा कुण्डल-केशा, पटाचारा, महाप्रजापती गोतमी, पूर्णिका, रोहिणी, सुन्दरी, शुभा और सुमेधा नामक उनकी शिष्य भिक्षुणियाँ धर्म-प्रचारिकाओं के रूप में प्रसिद्ध थीं, जो समाज के नैतिक स्तर को ऊँचा करती हुई लोक-कल्याणार्थ बुद्ध-सन्देश को सुनाती हुई विचरती थीं[7]। अन्य अनेक महिलाएँ (मातृ ग्राम) जो भगवान् बुद्ध का शिष्यत्व पाकर स्वयं शास्ता के द्वारा परम प्रज्ञावतियों, ऋद्धि-मतियों, ध्यानियों और आरब्धवीर्याओं के रूप में प्रशंसित हुई[8], साधना के इतिहास में अपनी एक विशेष छाप छोड़ गई हैं। उन्हें यह कभी नहीं सिखाया

कुर्यां येनाहं नामृता स्याम्" कह कर छोड़ दिया और ब्रह्मचर्य-वास में प्रवेश किया। देखिये बृहदारण्यक० २।४।३

(१) भगवती मैत्रेयी के ही मुख से "असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय"। बृहदारण्यक० १।३।२७

(२) देखिये विन्ध्याटवी में घूमती हुई आत्रेयी की राम के प्रति यह उक्ति—तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि। उत्तर-रामचरित० २।३

(३) यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। ऋ० १०।१२५।५

(४) बृहदारण्यक० ३।६।१

(५) देखिये थेरी-गाथाएँ (लेखक द्वारा थेरीगाथा का हिन्दी-अनुवाद) में इन भिक्षुणियों की जीवन-गाथाएँ।

(६) " " "

(७) " " "

(८) एतदग्गवग्ग (अंगुत्तर १।२।१-७)

गया था कि उनका स्त्रीत्व उन्हें जीवन के उच्चतम पुरुषार्थ—परम निःश्रेयस—का साक्षात्कार करने से रोक सकता है। एक तो निर्भीकतापूर्वक कह भी गई है "जब चित्त समाधि में स्थित है, ज्ञान विद्यमान है, धर्म का सम्यक् दर्शन कर लिया गया है, तो स्त्रीत्व इसमें हमारा क्या करेगा[१] ?" बुद्ध की इन दुहिताओं—बुद्ध के मन और हृदय से उत्पन्न इन कन्याओं (ओरसा धीता बुद्धस्स—जैसा कि वे अपने आप को गौरवान्वित कर पुकारती थीं)—ने अपने साधनोल्लास में 'सीतिभूतम्हि निब्बुता' (निर्वाण प्राप्त कर मैंने उसकी शीतलता का अनुभव किया है) आदि महनीय शब्दों में अपनी निर्वाण-प्राप्ति के साक्ष्य-स्वरूप जिन उद्‌गारों को हमारे लिये छोड़ा है वे भारतीय जीवन-साधना की सदा स्थायी निधि रहेंगे। अशोक-पुत्री संघमित्रा और हर्ष की भगिनी राज्यश्री के निष्कलुष जीवन तो युग-युगों तक मानव-हृदय को निर्मल और निर्विकार बनाते ही रहेंगे, मध्य-युग की मीरा और मुक्ति का द्वार खोलने वाली महाराष्ट्र-सन्त मुक्ता-बाई के वचनों में भी जो उदात्त पवित्रता समाई हुई है, उसकी आश्वासन-कारी शक्ति मानव-हृदय को सदा प्रेरित करती रहेगी। जिस प्रकार स्त्रियाँ, उसी प्रकार बालक भी यहाँ अध्यात्म परायण देखे गये। वामदेव जैसे बालक यहीं गर्भावस्था में 'मैं मनु था, मैं सूर्य था'[२], इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार करते देखे गये, ध्रुव और नामदेव जैसे अल्पवयस्क बालकों की अथवा जन्म के कुछ काल बाद ही जामुन के पेड़ के नीचे आसन लगा कर प्रथम ध्यान में स्थित होने वाले[३] उस 'अच्छरिय मनुस्स' (अद्‌भुत मनुष्य—बुद्ध) की तो बात ही क्या?

तथाकथित प्रकृति-विजय अथवा मनुष्य पर मनुष्य की विजय, जिसके लिये आज संसार प्रमत्त हो उठा है, भारतीय शक्ति और विचार को कभी प्रभावित नहीं कर सके। प्रकृति ने इस भूमि के निवासियों को जब योग-क्षेम की सभी आवश्यक वस्तुएँ स्वयं उपस्थित कर दी थीं, तो उन्हें इनके लिये श्रान्त होने का अथवा प्राकृतिक भूतों का कर्षण कर और निर्बलतर प्राणियों को जीवन-संग्राम के नाम पर समाप्त कर इस प्रकार उनपर मिथ्या विजय प्राप्त करने एवं उनकी स्वामिता को अपने में अध्यस्त कर, वृथा अनर्थ-हेतु को

(१) भिक्षुणी सोमा ने यह कहा है "इत्थिभावो नो किं कयिरा चित्तम्हि सुसमाहिते। ञाणम्हि वत्तमानम्हि सम्मा धम्मं विपस्सतो॥ थेरीगाथा, ६१।
(२) 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं', ऋ० ४।३।२६
(३) जातकट्ठकथा, बुद्धचर्या पृष्ठ ५-६ में उद्‌धृत; देखिये बोधिराजकुमार-सुत्त (मज्झिम. २।४।५) भी।

और भी अधिक प्रश्रय देने का कारण ही क्या था ? यह सब तो उनकी दृष्टि में मिथ्या ज्ञान के कारण भूत ही, सत्य को असत्य की गड़बड़ी में डालकर ही, विषयी और विषय के, चैतन्य और जड़ के, आत्मा और अनात्मा के, अविवेक से ही सम्भव था। इसमें हमारे विवेकी मुनि फँसते कैसे ? संसार में भय देखने वाले[1] 'भिक्षु' यहाँ आते कैसे ? इन रास्तों को तो पार करने की ही इच्छा करने वाले फिर इनमें भटकते कैसे[2] ? अतः यहाँ तो वही सर्वोत्तम विजय माना गया, जो कि धर्म-विजय, आत्म-विजय[3]। विशाल साम्राज्य के युवराजों तक के लिये यहाँ युवराज-पद से प्रव्रज्या पद ही श्रेष्ठतर समझा गया[4]। आज भी भारतीय इतिहास में जिनकी स्मृतियां बच पाई हैं वे उन जगद्विजयी सम्राटों या सेनानियों की नहीं हैं जो अपनी अभिलाषाओं और महत्त्वाकांक्षाओं पर भी विजय प्राप्त नहीं कर सके। बल्कि वे उन तपोनिष्ठ महात्माओं की हैं, जिन्होंने मानवीय अनुभव के अज्ञात और गम्भीर क्षेत्रों में साहसिक यात्राएँ की॰ और जो वहाँ से कुछ लाए। ऐसे ही पुरुषों को भारत में महापुरुष-पद प्राप्त हुआ है। यह सब इसीलिये हो सका क्योंकि भारतीय विचार की दिशा ही विशेष थी। प्रकृति और पुरुष की, आत्मा और अनात्मा की, 'अहम्' और

(१) संसारे भयं इक्खतीति भिक्खु। विसुद्धि-मग्ग १।७

(२) 'अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः' कठ० १।३।११ पर शांकरभाष्य में उद्धृत, मिलाइये 'मिगा विय असंगचारिनो अनिकेता विहरन्ति भिक्खवो' संयुत्त-निकाय, विसुद्धि-मग्ग २।६२ में उद्धृत।

(३) तमेव चा विजयं मनतु ये धम्म विजये (तमेव विजयं मन्यन्तां यो धर्मविजयः)। अशोक का तेरहवाँ शिलालेख; यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने। एकं च जेय्यमत्तानं व वे संगामजुत्तमो। महा-वस्तु; मिलाइये धम्मपद १२।३-४; १३।१२; तथा देखिये "दस्यून् पुरा षण्ण विजित्य लुम्पतो मन्यन्त एके स्वजिता दिशो दश। जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे। भागवत ७।८।११.

(४) देखिये अशोक की अपने पुत्र महेन्द्र के प्रति यह उक्ति "यद्यपि मैं तिष्य-कुमार के प्रव्रजित हो जाने के बाद तुम्हें ही युवराज-पद पर प्रति-ष्ठित करना चाहता हूँ, परन्तु युवराज-पद से प्रव्रज्या ही अच्छी है। तात ! क्या प्रव्रजित होना चाहते हो ?" समन्तपासादिका (विनय-पिटक की अट्ठकथा); देखिये राहुल सांकृत्यायन : बुद्ध-चर्या, पृष्ठ ५७१—५७२

'इदम्' की, अन्यता की ख्याति ही, ज्ञान ही, यहाँ के निवासियों के लिये एक मात्र सम्यक् दर्शन था, एक मात्र सम्यक् ज्ञान था[१]। भारतीय चिन्ता का एक मात्र लक्ष्य ही कभी 'अहमिदम्' और 'ममेदम्' न होकर सदा 'नास्मि', 'न मे' "नाहं[२]' ही रहा, 'अहम् एतत् न' ही रहा। इससे इतर आदेश यहाँ सदा 'असुरों की उपनिषद्' की संज्ञा पाता रहा[३]। द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही, अस्मिता ही, यहाँ सदा हेय-हेतु माना गया, क्लेश-रूप समझा गया[४], और जिस किसी प्रकार उसकी उच्छित्ति को ही समझा गया परम पुरुषार्थ[५]। 'विशेष' दर्शी के लिए यहाँ 'आत्मभाव-भावना' का विधान कभी नहीं देखा गया[६] और आत्मदर्शी मुनियों के हृदय में यहाँ सदा ही जागती रही 'मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, अहंकार नहीं, प्राण-समूह नहीं, बुद्धि नहीं' यह भावना। इसी का उपदेश 'अनत्ता' (अनात्मवाद) के रूप में देते हुए भगवान् तथागत ने कहा, "न यह मेरा है, न यह मैं हूँ, न यह मेरा आत्मा है[७]।" वेदान्त के अनुसार भी 'यह मैं' 'यह मेरा' कहने वाला नैसर्गिक लोक-व्यवहार मिथ्या ज्ञान के कारण सत्य को असत्य के साथ मिला देने के कारण ही हुआ है[८]। सत्य और असत्य, चित् और अचित् के इस विवेक के जीवन में साक्षात्कार करने की कठिनता पर विचार करते हुये भक्त चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास ने भी, सांख्य-निरुक्ति

(१) एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' भगवान् पञ्चशिख का वचन, व्यास-भाष्य १.४ में उद्धृत।

(२) सांख्य-कारिका, कारिका ६४

(३) देखिये छान्दोग्य० ८.८.५

(४) द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। योगसूत्र २.१७; दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। वहीं २.६; मिलाइये वहीं २.३

(५) यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः। सांख्यसूत्र ६.७०; विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्। वहीं ३.८४; विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। योगसूत्र २.२६

(६) विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः। योगसूत्र ४.२५ :

(७) "नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता" चूल-सच्चक-सुत्तन्त (मज्झिम० १.४.५)

(८) ....मिथ्याज्ञाननिमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ब्रह्मसूत्र—शांकरभाष्य का उपोद्घात; अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः। सांख्यसूत्र ६.६८

का आश्रय लेकर विवशतापूर्वक गाया है "जड़ चेतनहिं ग्रन्थि पड़ि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।" सारांश यह कि जीवन के क्षेत्र में भौतिक उपलब्धियों के बजाय, वस्तुओं के प्रापण और रक्षण रूप योगक्षेम के बजाय, भारत ने सदा श्रेय का ही, ज्ञान की पराकाष्ठा और कैवल्य के 'नान्तरीयक' स्वरूप वैराग्य का ही[1], वरण किया, जिसके विषय में उसके उपनिषत्कालीन ऋषियों ने भी गाया—

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते[2]।

श्रेय और प्रेय, इन दोनों में से जो श्रेय को ग्रहण करता है, उसका शुभ होता है। जो प्रेय को ग्रहण करता है, वह पुरुषार्थ से पतित हो जाता है। प्रेय को ग्रहण कर शत-सहस्र राष्ट्रों को उसने पतित होते देखा है। श्रेय को ग्रहण कर वह आज भी खड़ा है। यही श्रेय की गवेषणा अध्यात्म-विद्या के रूप में भारत के हृदय और मस्तिष्क की सबसे बड़ी आराध्य देवी रही है और आज भी है। इसी की उसने ज्ञान द्वारा गवेषणा की है, कर्म द्वारा समाज और जीवन में प्रतिष्ठा की है और भक्ति द्वारा आराधना की है। इसी कारण भारत को संसार के राष्ट्र-समूह, चन्द्रमा को नक्षत्र-पथ के समान, नमस्कार करते हैं!

सत्यानुप्राप्ति अपने विस्तृततम अर्थ में भारतीय अध्यात्म-विद्या का अभीष्ट लक्ष्य

समस्त भूत-संघात में, हेतुओं और प्रत्ययों के क्रम से चलने वाले इस समग्र भव-प्रवाह में, 'मैं' और 'यह' इन प्रत्ययों से वेद्य इस समग्र द्रष्ट्र दृश्यात्मक जगत् में, प्रत्येक क्षण परिवर्तनशील इस समग्र भौतिक और चेतसिक व्यापार में, गूढ़-रूप से सन्निहित उसी एक अपरिवर्तनशील तार को भारत ने सदा से पकड़ा जिस एक के पकड़ लेने पर समग्र कार्यकारण शक्ति अपने आप मनुष्य के वश में हो जाती है किन्तु स्वयं जो अन्य किसी प्रकार पकड़ी या विजित नहीं की जा सकती[3]। भारत की एकटक आँखें सदा ज्ञान के उस

---

(१) ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति। योगसूत्र १।१६ पर व्यासभाष्य; मिलाइये, 'निब्बिन्दं विरज्जति, विरागा विमुच्चतीति' (निर्वेद से विराग को प्राप्त होता है, विराग प्राप्त होने पर विमुक्त हो जाता है) अलगद्दूपम सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२); मिलाइये, 'अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया'। धम्मपद २०।५; यम्हि ज्ञानं च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके। वहीं २५।१३

(२) कठ० १।२।१

(३) "स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय

अटल ध्रुव नक्षत्र की ओर लगी रहीं, सदा उस परिनिष्ठित वस्तु विषयक ज्ञान की ही जिज्ञासा करती रहीं, जो सम्पूर्ण व्यावहारिक ज्ञान और प्रयोजनों से अतीत है और स्वसंवेद्यज्ञान ही जिसका अवसान है[1] तथा जिसके जान लेने पर अन्य कुछ ज्ञातव्य अवशेष नहीं रह जाता, अन्य कुछ करणीय बाकी नहीं बचता। सभी कर्तव्यता यहाँ समाप्ति पाती है, सभी प्रदाहकता शान्ति ! सत्य का वह उच्चतम रूप, मानव-हृदय का वह अन्यतम अनुभव, चित्त की शुद्धि जिसका आलम्बन विभाव है और नामरूपात्मक जगत् की सान्तता, अल्पता और अपूर्णता (बौद्ध पारिभाषिक अर्थों में अनित्यता, दुःखमयता और अनात्मता) की अनुभूति है जिसका उद्दीपन-विभाव, मनुष्यत्व की महिमा का साक्षात्कार ही जिसका अनुभाव, आत्मैकत्वविज्ञान जिसका स्थायीभाव और दुःखनिरोध रूप अन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति द्वारा अमृतत्व ही जिसकी रसनिष्पत्ति है—यही ज्ञान का गुह्यतम किन्तु अनुभवगम्य रूप भारतीय विचार का एक मात्र जिज्ञास्यतम विषय हुआ। यही तत्व भारतीय भावना का उपास्यतम देव और उसकी सर्वविध क्रिया-प्रणाली का परम गन्तव्य स्थान हुआ। यही परमार्थ विषयक ज्ञान भारत के लिए सदा ही सत्य का परम निधान[2], अमृतत्व का सेतु[3], ज्ञान, उपशम और निर्वाण का कारण[4] तथा दुःख के आत्यन्तिक निरोध का एकतम साधन है[5]। यही उसके जीवन का जीवन और

दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः। स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय शंखस्य तु ग्रहणेन शंखध्मस्य वा शब्दो गृहीतः" बृहदारण्यक० ४।५।८,९; मिलाइये वहीं ३।७।२-२३; ३।८।१०-११

(१) अनुभवावसानत्वाद्भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। ब्रह्मसूत्र—शांकर-भाष्य १।१।२; इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यवृत्तत्वान्न पुरुषव्यापार-तन्त्रम्। वहीं १।१।२

(२) तत्सत्यस्य परमं निधानम्। मुण्डक० ३।१।६

(३) अमृतस्यैष सेतुः। मुण्डक० २।२।५; य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। बृहदारण्यक० ४।४।१४

(४) चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय संबोधाय निब्बानाय संवत्तति। धम्म चक्कपवत्तन सुत्त (संयुत्त निकाय)

(५) 'भिक्षुओ ! यही परम आर्य प्रज्ञा है, यही जो सभी दुःखों के क्षय का ज्ञान' महासारोपम—सुत्त (मज्झिम० १।३।९) 'इस विद्या-सम्पदा

प्राणों का प्राण है। यही अमृत मार्ग भारत के लिए परम अणु धर्म[१], पुराण, और सत्य से विस्तीर्ण देवयान मार्ग[२] और जिसका दरवाजा सदा स्त्री, शूद्र, ब्राह्मण, आर्य, अनार्य सभी के लिए 'खुला है'[३] (उचित साधन-सम्पत्ति की आवश्यक शर्तपूर्वक !) ऐसा 'उरु पन्थ'[४] है। ज्ञान का पूर्ण कुम्भ है यही, सभी दार्शनिक कल्पों का सध्रीचीन मत है यही। इसी गवेषणीय तत्व को उसने 'सत्य' कहकर पुकारा[५], 'सत्य का

तथा आचरण-सम्पदा से बढ़कर दूसरी विद्या-सम्पदा या आचरण-सम्पदा नहीं है' अम्बट्ठ सुत्त (दीघ० १।३),

(१) अणोरणीयान् महतो महीयान्। कठ० १।२।२०; अणीयान् ह्यतर्क्य-मणुप्रमाणात्। वहीं १।२।८; मिलाइये वहीं १।२।७, २१; १।३।१२; सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति। मुण्डक० ३।१।७

(२) सत्येन पन्थाः विततो देवयानः। मुण्डक० ३।१।६

(३) अथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय। यजु० २६।२; मिलाइये छान्दोग्य० ४।१।२; ४।४।१४; ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य ३।४।३८ (तेषामपि च अनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति, इत्यादि); चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम। शंकर 'मनीषा-पञ्चक' स्तोत्र में; आचार्य रामानुज के विषय में भी "एकैकपुरुषपरम्परया सदर्थान् प्राञ्चो ददुः यतिपतिस्तु दयैकवश्यः। भूमौ मुमुक्षुरखिलोऽप्युपदेश्य एवेत्यादिश्य पूर्वसरणिं व्यलुनाद्धितैषी॥" उपदेश रत्नमाला; भगवान् बुद्ध तो इस विषय में सबसे ही आगे हैं, "अम्बट्ठ ! जातिवाद-बन्धन, गोत्रवाद-बन्धन, मानवाद-बन्धन, और आवाह-विवाह-बन्धन, इन सब बन्धनों को छोड़कर ही अनुपम विद्या और आचरण-सम्पदा प्रत्यक्ष की जाती है।" अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १।३); बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट चातुर्वर्णी शुद्धि के लिये देखिये चुल-अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।१०); मिलाइये गीता ९।३२ भी।

(४) ऋ० १।२४।४

(५) सत्यं ब्रह्म। बृहदारण्यक० ५।५।१; सत्यं ब्रह्मेति सत्यं ह्येव ब्रह्म। बृहदारण्यक ० ५।४।१; तत्सत्यं स आत्मा। छान्दोग्य० ६।८।७; सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। तैत्तिरीय० २।१।१; स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च। महाभारत, आदिपर्व; सत्य तूं सत्य तूं विठ्ठला। तुकाराम; सांचा नाम अल्लाह का सोई सत कर जाणि। दादू

सत्य[1]' कह कर उद्घोषित किया जिसके विषय में उसने कहा कि 'सत्य से परम कोई धर्म नहीं[2]'। इसी की बुनियाद पर उसके सार्वजनीन नैतिक आदर्शवाद की भित्ति स्थापित की गई। इसी सत् के, सत्य के, द्वारा उसने ब्रह्म का, जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण का, सत्-चित्-आनन्द तत्व का, निर्देश किया[3] और इसी के द्वारा उसकी लभ्यता भी दिखाई[4]। इतना ही, नहीं इस सत्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करना भी उसने शक्य जाना और इसी में उसके ज्ञान की स्वाभाविक इतिश्री भी हुई। 'वह आत्मा सत्य है और वही तुम हो' (तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि—छान्दोग्य ६।८।७), यह ज्ञान का चरम अवसान है। बौद्ध धर्म-साधना में तो तथागत का नाम ही 'सच्चनाम' (सत्य है नाम जिसका) है। उन्हें 'ब्रह्मभूत' और 'धर्मभूत' भी कहा गया है, जो सत्य के साथ एकाकार

(१) तत्सत्यस्य सत्यम्। बृहदारण्यक० २।१।२०

(२) सत्यान्नास्ति परो धर्मः। महाभारत; तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्। समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकम्॥ . . . . . यतो धर्मस्ततः सत्यं सर्वं सत्येन वर्धते॥ महाभारत, शान्तिपर्व, १९९।६९-७०; न सत्याद् विद्यते परम्। महाभारत मिलाइये सन्त तुकाराम का वचन भी 'सत्या परता नाहीं धर्म। सत्य तेंचि पर ब्रह्म। सत्यापाशीं पुरुषोत्तम। सर्वकाल तिष्ठत', तथा गोस्वामी तुलसीदास जी 'धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना'। रामचरितमानस।

(३) ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। गीता १७।२३; धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि। भागवत १।१।१; सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। छान्दोग्य० ६।२।१; आदि सचु जुगादि सचु है भी सचु नानक होसी भी सचु। नानक; यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान। ऋ० १०।१२१।९; सत्यमेवेश्वरो लोके। वाल्मीकि० रामायण। देखिये पिछले पृष्ठ पर पद-संकेत ५ भी।

(४) सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। मुण्डक० ३।१।५; तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। ईश० १५; सत्यमेव सोम्य स आदेशो भवतीति। छान्दोग्य० ६।१।६; सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति। श्वेताश्वतर. १।१५; दिल में आवै साँच जो साहिब हाल हुजूर। पलटूदास; हम सत्य नाम कै बैपारी..... निर्भय गैल हमारी। धर्मदास

होने की स्थिति का ही सूचक है। सत्य, बृहत्, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ के द्वारा ही भारत ने पृथ्वी को धारण किया हुआ माना। सत्य के द्वारा ही उसने सनातन राजवृत्त का संचालन किया[1] और सत्य को ही दिखाया उसने सब प्रजाओं के मूल में और उनकी प्रतिष्ठास्वरूप भी[2]। सारांश यह कि अनन्त काल से उसके मनीषी पुत्रों ने इसी सत्य की गवेषणा और आचरण को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। मन्त्रों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में प्रतिष्ठित समग्र वैदिक दर्शन इसी तथ्य की ओर लक्ष्य करता है। ऋत, यज्ञ और ब्रह्म सत्य के ही स्वरूप हैं[3], जिसका ही साक्षात्कार करने के कारण वैदिक ऋषि 'ऋतस्पर्शी'[4] कहे गये हैं। सत्य में ही अमृत रक्खा हुआ है[5] और धर्म भी सत्य में ही समाश्रित है[6]। सत्य ही ज्ञान का अन्तिम आदेश है[7]। महाभारतकार ने सत्य को ही सनातनधर्म कहा है। सत्य ही सनातन ब्रह्म है और वेदों का रहस्य भी सत्य ही है। 'धर्मः सनातनः सत्यं सत्यं ब्रह्म सनातनम्। वेदस्योपनिषत्सत्यं....(शान्ति पर्व)। वस्तुतः सब साधनाओं का सार और समावेश [illegible] सत्य की साधना में ही भारत ने देखा है। यज्ञ, दान, तप, इन्द्रिय-संयम, वेद-वेदांग, ब्रह्मचर्य आदि सभी साधनाओं की जड़ में उसने

---

(१) सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्। तत्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः। वाल्मीकि-रामायण।

(२) सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः। महाभारत, उद्योगपर्व ४३।३७; सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः। सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति। महाभारत, शान्तिपर्व १९०।१

(३) तभी तो सत्य के विषय में यह कहा गया है "......सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः। सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः॥ सत्यं यज्ञस्तपो वेदाः स्तोभा मन्त्राः सरस्वती। सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्॥" महाभारत, शान्तिपर्व १९९।६७-६८

(४) बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः। ऋ० ४।५०।३ (हे बृहस्पते! यह जो सर्वोच्च परम सत्ता है, उसे यहाँ से, इस लोक से, जो 'ऋतस्पृशः,' सत्यस्पर्शी, महात्मा हैं, वे प्राप्त करते हैं और उसमें स्थित हो जाते हैं)।

(५) सत्ये ह्यमृतमाहितम्। महाभारत, उद्योगपर्व ४३।३७

(६) सत्ये धर्मः समाश्रितः। वाल्मीकि-रामायण

(७) सत्यमेव सोम्य स आदेशो भवतीति। छान्दोग्य० ६।१।६

सत्य को ही प्रतिष्ठित पाया है[१]। सम्यक् सम्बुद्ध का अनुत्तर धर्म-चक्र-प्रवर्तन इसी 'सम्यक् दर्शन (सम्मा दस्सनं) की उत्पत्ति और इसी 'मग्ग' (मार्ग) की अधिगति के लिये हुआ, और इसी के लिये प्रवर्तित हुए सभी स्थविर निर्ग्रन्थों के प्रवचन भी। इसी अमृत की तलाश में याज्ञवल्क्य घर से बाहर निकल पड़े[२]; इसी को पाकर औपनिषद ऋषि 'हावु' 'हावु' कह कर चिल्लाने लगे[३]; राजर्षि जनक सभी की कामना छोड़ अशेष चराचर जगत् को अपने वश में करने वाले हो गये[४]; इसी की अधिगति से 'वाक्' सर्वमयी हो गई[५], देवराज इन्द्र तो विक्षिप्त जैसे ही बन गये[६], और वामदेव तो इस सत्यों के सत्य को गर्भावस्था में ही साक्षात्कार कर हो गये सर्वदर्शी भी[७]। उरुविल्व (उरुवेला) में वज्र समाधि लगाकर बैठे हुए, अविद्या के आवरण को फोड़कर सम्यक् सम्बुद्ध बन जाते हुए, तथागत ने इसी अमृत को चक्खा। इसी की तलाश

---

(१) न यज्ञफलदानानि नियमास्तारयन्ति हि। यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ ॥ तपांसि यानि चीर्णानि चरिष्यन्ति यत्तपः। शतैः शतसहस्रैश्च तैः सत्यान्न विशिष्यते ॥ सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः। सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥ सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्। सत्यं वेदास्तथाङ्गानि सत्यं विद्यास्तथा विधिः ॥ व्रतचर्या तथा सत्यमोंकारः सत्यमेव च। प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं सन्ततिरेव च ॥ महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १९९, श्लोक ६२-६६

(२) एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार। बृहदारण्यक० ४।५।१५

(३) 'हावु हावु हावु अहमन्नम् अहमन्नम् अहमन्नम्......अहं विश्वं भुवनम् अभ्यभवां सुवर्णज्योतिः य एवं वेद'। तैत्तिरीय० ३।१०

(४) जिन्होंने गाया "नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान् घ्राणगतानपि। तस्मान्मे निर्जितो वायुर्वशे तिष्ठति नित्यदा।" आदि, महाभारत; अन्यत्र समान भावना के लिये देखिये गौतम धर्म सूत्र ३।३६

(५) जिसने गाया 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः' आदि, ऋ० १०।१२५ में।

(६) जिनके उद्गार 'इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति कुवित्सोमस्यापामिति' आदि (ऋ० १०।११९) आज भी व्याख्याकारों की समस्या बने हुए हैं।

(७) तभी तो उन्होंने गर्भावस्था में गाया "अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवां ऋषिरस्मि विप्रः" आदि ऋ० ४।३।२६ में।

ने घर से बेघर कर प्रव्रजित कर दिया उन राष्ट्रपाल, महाकाश्यप और सारिपुत्र जैसे अनेक बुद्धकालीन कुल-पुत्रों को और अन्य असंख्य भारतीय साधकों को भी। इसी परम सत्य को जानकर 'आज्ञा' कौण्डिन्य चिल्लाने लगे 'जान लिया 'जान लिया[१]', और इसी आलोक की फूट होने पर उद्भूत हुए सभी शंकरादि मनीषियों के आत्मज्ञान की मस्ती से भरे हुए प्रवचन भी। फिर षोडश पदार्थों (न्याय) अथवा पञ्च, षट् या सप्त पदार्थों (वैशेषिक) की गवेषणाएँ इसी के लिये, प्रकृति-पुरुष-विवेचन (सांख्य) इसी के लिये, समाधि-निपण (योग) इसी के लिये, और धर्म (पूर्व मीमांसा) और ब्रह्म (वेदान्त) की जिज्ञासाएँ भी इसी सत्य के लिये प्रवर्तित हुईं। अविद्या को छोड़कर सत्य रूप विद्या के द्वारा परम निःश्रेयस की अधिगति में सभी दर्शनों का समान ही अभिप्राय है। भक्तों ने भी इसी तत्व को गाया, तान्त्रिकों ने भी (अविधिपूर्वक) इसे ही अपनाया। चैतन्य, तुकाराम, तुलसी और कबीर सब इसी पथ के पथिक बने। इसी के व्यावहारिक या प्रायोगिक स्वरूप को गांधी की तपस्विता ने अपना मध्यबिन्दु बनाया और उसे राष्ट्रनीति में प्रतिष्ठापित करने का मौलिक प्रयत्न कर, कुछ काल के लिये ही सही, किन्तु अवश्य ही उसे भारत के राष्ट्रीय धर्म तक कहे जाने की स्थिति तक पहुँचा दिया। यही सत्य की गवेषणा आदर्श में भी और व्यवहार में भी, बौद्धिक रूप में भी और जीवन की सर्वतोमुखी साधना के रूप में भी, भारत की समग्र विचार-परम्परा को पूरी तरह से ढँक लेती है। यही परमार्थ-विषयक गवेषणा और उसे प्राप्त कराने वाली विद्या हमारे लिये ब्रह्मविद्या, सत्य विषयक-विद्या अथवा श्रेष्ठ विद्या (निश्चय ही 'ब्रह्म विद्या' का अर्थ हम बौद्ध निरुक्ति में भी 'श्रेष्ठ विद्या' कर ही सकते हैं, ब्रह्म अर्थात् श्रेष्ठ, फिर चाहे 'ब्रह्मवाद' बौद्ध दर्शन की निगाह में श्रेष्ठतम ज्ञान भले ही न हो। वैसे भी बृहणार्थक धातु से व्युत्पन्न होने के कारण 'ब्रह्म' शब्द अपनी मूल परिभाषा में 'महान्' या बृहद्' का ही अर्थ देता है[२]) है जो हमारी सब विद्याओं की प्रतिष्ठा है[३], उन सब में अग्रणी

(१) देखिये धम्मचक्कपवत्तन सुत्त (संयुत्त० ५५।२।१), तथा विनय पिटक, महावग्ग १ भी।

(२) ब्रह्मशब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्य शुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते बृहतेर्धातोरर्थानुगमात्। ब्रह्मसूत्र-शंकरभाष्य १।१।१

(३) ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्। मुण्डक० १।१।१; अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। गीता० १०।३०

है[1], उनको दीपक के समान प्रकाश दिखाने वाली है[2] और उनको परिपूर्णता देने वाली है। यही हमारे लिये परम धर्म है, अभिधर्म है, पवित्र और गुह्य उपदेश है, ज्ञानों में उत्तम ज्ञान है[3]। यही ब्रह्म विद्या, अध्यात्म विद्या, आत्म दर्शन, दुःख-निरोध-विज्ञान अथवा अपने विशुद्ध पारिभाषिक अर्थों में 'उक्थ[4]', 'आन्वीक्षिकी[5]' सम्मा दिट्ठि[6]' (सम्यक् दृष्टि) राज विद्या[7] अथवा दर्शन इत्यादि अनेक नामरूपों और विवर्तों को धारण करती हुई भारतीय चिन्तन-परम्परा को पूरी तरह से ढँक लेती है। भारत के लिये ज्ञान की पराकाष्ठा है यही, प्रज्ञा की पारमिता है यही, उत्तर-मनुष्य-धर्म है यही, अलमार्य ज्ञान दर्शन है यही[8]।

(१) सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्। तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः। मनु० १२।८५

(२) प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्। आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता। कौटिलीय अर्थशास्त्र १।२; देखिये न्यायभाष्य १।१।१

(३) अयं तु परमो धर्मः यद्योगेनात्मदर्शनम्। याज्ञवल्क्य० १।१।८; आत्मज्ञानं परं ज्ञानम्। महाभारत, शान्तिपर्व।

(४) 'दर्शन' का जन्म भारत में पहले 'उक्थ' से ही हुआ, देखिये आगे दूसरे प्रकरण 'भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक विकास' में 'दर्शन' के स्वरूप पर विचार।

(५) आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात् सुखदुःखयोः। ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति॥ शुक्रनीति १।१५२; आन्वीक्षिकीं आत्मविद्यां। मनु० ७।४३; मिलाइये, न्याय भाष्य १।१।१।

(६) दिट्ठि (दृष्टि) अर्थात् दर्शन। पालि-त्रिपिटक में 'मत-वाद' के अर्थ में यह शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र भी मिलाइये, ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ता महत्यो ज्ञानदृष्टयः। योगवासिष्ठ २।१६; एतां दृष्टिमवष्टभ्य। गीता० १६।९; प्रावादुकानां दृष्टयः। न्यायभाष्य; एवं उच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां दृष्टयो भवन्ति। निरुक्त० ७।१।४; कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः। योगवासिष्ठ १।२७।३१; उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः। सिद्धसेन दिवाकर।

(७) राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। गीता० ९।२; राजविद्या राजगुह्यमध्यात्मज्ञानमुत्तमम्। ज्ञात्वा राघव राजानः परां निर्दुःखतां गताः॥ योगवासिष्ठ २।१८

(८) अलमार्य ज्ञान दर्शन या उत्तर मनुष्य धर्म बौद्धों का है—ध्यान, विमोक्ष,

यही हमारी 'उपनिषद्' है जिसके द्वारा उचित साधनों की अधिगति से हम दुःख-लक्षण भव का अवसादन करते हैं[1], मोक्ष, कैवल्य अथवा निर्वाण का यहीं साक्षात्कार करते हैं। यह तत्वज्ञान हम श्रद्धालुओं के प्रति प्रसन्न हो और हमारे प्रति अपने स्वरूप को प्रकट करे। इसलिये जिन सत्यधर्मा ऋषियों ने इस सत्य को स्वयं साक्षात्कार कर प्रसारित किया उनके लिये हमारी यह प्रणामाञ्जलि। पूर्वज ऋषियों के प्रति हमारी यह प्रणामाञ्जलि, पूर्व मार्ग-निर्माताओं के लिये हमारा यह गम्भीर श्रद्धा से दिया हुआ अर्घ्यदान! इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः[2]।

सार्वभौमिक कल्याण-चेतना भारतीय दर्शन का पोषक तत्त्व

इन अनुभवसम्पन्न महात्माओं और ऋषियों के द्वारा जिस अध्यात्म-विद्या का प्रवर्तन किया गया वह अपने व्यवहार-पक्ष में मैत्री और करुणा के तारों से सदा ही बँधी हुई है। सभी प्राकृतिक भूतों और मानव तथा पशु एवं वनस्पति जगत् के साथ तक भी भारत का सदा शान्ति और समन्वय का ही व्यवहार रहा है, सभी स्थावर और जंगम प्राणि समूह को वह मैत्री भावना से ही आप्लावित करता रहा है और उनकी विजय में नहीं बल्कि उनके साथ सदा पारस्परिक सामञ्जस्य तथा कल्याण की भावना के स्थापन में ही उसने परमार्थ के दर्शन किए हैं। सर्वांश में संघर्ष नहीं, किन्तु समन्वय ही, ग्रहण नहीं किन्तु त्याग ही, ऐश्वर्य नहीं किन्तु वैराग्य ही, अर्थ नहीं किन्तु धर्म ही (अथवा धर्म के द्वारा अर्थ ही) भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र रहा है जिसकी सिद्धि शोषण के द्वारा नहीं बल्कि पोषण के द्वारा की गई है और जिसकी सामाजिक अभिव्यक्ति कभी संकुचित राष्ट्रीयता के रूप में न होकर सदा व्यापक विश्वजनीनता के रूप में ही हुई है, जिसकी सीमा से पशु, पक्षी और वनस्पति जगत् भी अलग नहीं किए गए हैं। भारत की राष्ट्र-

---

समाधि, समापत्ति ज्ञान-दर्शन, मार्ग की भावना, क्लेश का प्रहाण, और चित्त की निर्मलता। पाराजिका (महाविभंग)। उपनिषदों का है—एक शब्द में आत्म-दर्शन, "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यां वाचो विमुञ्चथ"। एतावद्ध्यनुशासनम्। कठ० २।३।१५; नातः परमस्तीति। प्रश्न:० ६।६; मिलाइये, बृहदारण्यक० ४।४।७

(१) देखिये आगे पांचवे प्रकरण में बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान के सम्बन्ध-निरूपण के प्रसंग में शंकर की 'उपनिषद्' शब्द की व्याख्या पर विवेचन।

(२) ऋ० १०।१४।१५

उपासना जिस उदात्त वीरत्व और सार्वजनीन कल्याण बुद्धि को लेकर प्रवर्तित हुई[१] उसे विद्वेष और प्रतियोगिता की भावना पर प्रतिष्ठित आधुनिक राष्ट्रीयता नहीं समझ सकती। आज की सभ्यता का आश्रय घोर भौतिकता है, इसलिये 'विद्या' में रत होकर भी उसका पतन के गड्ढे में गिरना अवश्यम्भावी है। महान् वैयक्तिक और राष्ट्रीय बलिदान करने पर भी उसकी गति तामसी ही रहेगी, क्योंकि मार्ग उसका आसुरी है और दूसरों के उत्सादन के लिए ही उसका उपयोग है। यह ठीक है कि हमने अपने राष्ट्र में शूरों और महारथियों की उत्पत्ति को मनाया और अपनी भौतिक समृद्धि के लिए भी प्रार्थनाएँ कीं किन्तु यहां भी हम ब्रह्मवर्चस ऋषियों और ब्राह्मणों को नहीं भूले। अज्ञानी का भोजन हमने उसका वध ही माना। राष्ट्र के अन्न को स्वार्थ पूर्वक खाने वालों को हमने केवल पाप का खाने वाला ही बताया[२]। केवल अर्हत् या मुक्त पुरुष ज्ञानी को ही हमने अनृणी होकर राष्ट्र-पिण्ड खाने वाला बताया। व्यक्तिपूजा से हमने समाज-सेवा को श्रेष्ठतर समझा और हमारे तथागत भी स्वयं पूजित हुए संघ की पूजा के द्वारा ही[३]। सर्वलोकहित ही सदा भारतीय चिन्ता का गन्तव्य स्थान रहा। 'संगच्छध्वं संवदध्वं' (ऋ० १०-१९-७) की भावना हमारे सामाजिक जीवन को सदा प्रेरणा देती रही। 'परस्पर एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए तुम परम श्रेय को पाओगे[४], ऐसी

---

(१) मिलाइये, आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढा नड्वा नाशुः सप्तिः पुरन्ध्र्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्ये यजमानस्य वीरो जायताम् निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पन्ताम्। यजु० २२।२२; मिलाइये वहीं २६।२; मिलाइये, संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। ऋ० १०।१९।७

(२) मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी। ऋ० १०।११७।६; मिलाइये गीता ३।१३; ४।३१

(३) 'गोतमी! इसे (धुस्से के नए जोड़े को) संघ को देदे। संघ को देने से मैं भी पूजित हूँगा और संघ भी' पजापती पब्बज्जा सुत्त (अंगुत्तर ८।२।१।१); विनय पिटक, चुल्लवग्ग ११ भी (संघे ते दिन्ने अहं चेव पूजितो भविस्सामि संघो चाति); देखिये दक्खिणाविभंग-सुत्त मज्झिम ३।४।१२ भी।

(४) परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। गीता ३।११

सामाजिक अनुभूति सम्भवतः इस देश में ही सबसे पहले की गई जिसकी बुनियाद पर हमारी आध्यात्मिक संस्कृति का शिलारोपण हुआ। बाद में इसी के अव्यवस्थित और विकृत हो जाने पर पहले पहल चातुर्वर्णी शुद्धि के द्वारा सम्यक् सम्बुद्ध ने और फिर भक्तों और सन्तों की परम्परा ने विशुद्धीकरण का प्रयत्न किया। विश्व-इतिहास में भारत में ही सम्भवतः सबसे पहले संसार के न केवल सब मनुष्यों किन्तु पशुओं तक के लिए स्वस्तिवाचन किया गया[1], मित्र और अमित्र सभी को अभय दान दिया गया[2] और सभी दिशाओं को मैत्री भाव की विमल धारा से आप्लावित किया गया[3], मित्र की दृष्टि से ही सब को देखा गया और कभी कोई दुःख न पाए, ऐसी ही प्रार्थनाएँ और ऐसा ही योग किया गया[4]। पशुओं को भी यहां कभी सामाजिक व्यवस्था से अलग नहीं किया गया, उनके लिए औषधालयों की व्यवस्था तो सबसे पहले यहीं की ही गई[5], उनके शुभ के

(१) स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। अथर्व० १।३१।४; शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। यजु० ३६।८; शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः। यजु० ३६।२२; अस्मभ्यं शर्मसप्रथो गवेऽश्वाय यच्छत। ऋ० ८।३०।४; मिलाइये वहीं ६।२८ (गो सूक्त); ८।१०१।१५

(२) अभयं मित्रादभयं अमित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। अथर्व० १९।१५।६; मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। अथर्व० ३।३०।३

(३) देखिए ऊपर 'सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु'; मिलाइये 'मैत्री चित्त से संसार को भर देना चाहिए, यही बुद्धों का उपदेश है' सारिपुत्र-वचन, मिलिन्द प्रश्न में उद्धृत। देखिये भिक्षु जगदीश का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४८४ (ओपम्मवग्ग)

(४) मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु० ३६।१८; अथर्व० १९।६२; सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥ स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः। गो ब्राह्मणेभ्यो शुभमस्तु नित्यं लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु। महाभारत

(५) अशोक के समय में, देखिए विंसेन्ट स्मिथ : 'अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया' पृष्ठ २५९

लिए देवों से प्रार्थनाएँ भी की गईं, उन्हें अभय देकर, आत्मस्वरूप मानकर, नमस्कार भी किया गया[१] और उनके प्रति समदर्शिता ही कसौटी मानी गई वास्तविक आत्मदर्शिता की[२] ! 'तुम अपने पड़ोसी को अपने समान ही प्रेम करो—इससे अधिक बड़ा अन्य कोई आदेश नहीं[३]', शास्ता ख्रीष्ट के इस अनुत्तर उपदेश का व्यावहारिक आचरण और अनुभव तथा व्यापक तात्विक विवेचन उनसे भी पूर्व और पीछे भारत जैसे देश के लिए ही सम्भव हो सका। यहीं के निवासियों के आचरण के सम्बन्ध में 'पड़ोसी' की व्याख्या समग्र प्राणिमात्र के रूप में चरितार्थ हो सकी[४] और यहीं सर्व-प्रथम इसका दार्शनिक आधार भी दिखाया गया[५] । समस्त प्राणिजगत् के साथ, देव और मनुष्यों से लेकर पशु, पक्षी, वनस्पति आदि समस्त भूतवर्ग के साथ, समन्वय और मैत्री का जो अमर सम्बन्ध न केवल भारत की प्रत्येक चिन्तन-प्रणाली में बल्कि उसके समग्र राष्ट्रीय जीवन की नस-नस में जिस गहरी अनुभूति और मार्मिकता के साथ विधा हुआ पड़ा है उसे उसकी अनेकविध प्रार्थनाएँ तथा काव्य एवं कला-निबद्ध भावनाएँ प्रमाणित करने में अलं हैं। हमारे चिन्तकों ने सारे भूत-समूह

---

(१) कुकुभाय स्तेनानां पतये मनः नमो निचेरके परिचराय तस्कराणां पतये नमः। यजु० १६।२०; 'अनुजानामि भिक्खवे चत्तारि अहिराजकुलानि मेत्तेन चित्तेन फरितुं अत्तगुत्तिया अत्तरक्खाय अत्तपरित्ताय। विनय-पिटक

(२) अहमेव इदं सर्वोऽस्मि। तैत्ति० उप०; मिलाइये आगे पांचवे प्रकरण में औपनिषद ज्ञान का विवेचन।

(३) मत्ती की इंजील २२।३७-४०; ५।२३-२५; मिलाइये इसी सम्बन्ध में ऋ० १०।७१।६; अथर्व० १९।१५।६; यजु० ३६।१८

(४) देखिए रोमन रोलाँ : 'महात्मा गांधी', पृष्ठ ३३

(५) मिलाइये डायसन का प्रसिद्ध कथन "The Gospels fix quite correctly as the highest law of morality :—'Love your neighbour as yourself'. But why would I do so, since by the order of nature I feel pain and pleasure only in myself, not in my neighbour ? The answer is not in the Bible (this venerable book being not yet free of semitic realism) but it is in the veda, is in the great formula 'तत्त्वमसि' which gives in three words metaphysics and morals together."

को साथ लेकर प्रार्थना की है कि सूर्य हमारे लिये शान्तिकारी हो, चारों दिशाएँ हमारा मंगल करें, अग्नि और पर्वत हमारे लिये कल्याणकारी हों, नदी, समुद्र मंगलमय हों, जल श्रेयस्कर हों, और हमारे मनुष्यों (द्विपदों) और चौपायों (चतुष्पदों) का कल्याण हो। ऋग्वेदादि की देवस्तुतियों और स्वस्तिवाचनों का स्पष्टतम तत्त्व ही है—देवताओं के, समस्त भूतजात के, हित के साथ मनुष्य के हित की सामञ्जस्य-स्थापना, मनुष्य और मनुष्य के नाना सम्बन्धों के बीच एकात्मता की गहरी अनुभूति की प्रतिष्ठा करना। वायु, सोम, बृहस्पति, आदित्य आदि सभी देवताओं को जो एक ही जगन्नियामक शक्ति के अनन्त भौतिक अथवा आध्यात्मिक स्वरूप हैं, शान्त रहने के लिए और मनुष्य के कल्याण के लिए ही अपने व्यापारों को करने के लिए प्रार्थना कर भारतीय चिन्तकों ने प्रारम्भ से ही चराचर जगत् को शान्त रखकर ही मनुष्य की शान्ति की सम्भावना दिखाई है[1], सब प्राणियों को अभय देकर ही, द्वेष-भाव को त्याग कर सब प्राणियों के प्रति पाप-भावना न करके ही ब्रह्म-प्राप्ति

(१) स्वस्तये वायुमुपब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः। बृहस्पति सर्वगणं स्वस्तये आदित्यासो भवन्तु नः। ऋ० ५।५१।१२; शं नो मित्रः शं वरुण शं नो भवत्वर्यमा। शं नः इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः। ऋ० १।९०।९; स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा स्वस्ति नस्ताक्ष्यर्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु। ऋ० १।१४।८९; यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाति तृण्णं बृहस्पति र्मे तद्दधातु। शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः। यजु० ३६।२; पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसाधियः पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा। यजु० १९।३९; मिलाइये ऋ० ८।१०१।१५-१६; शं वातः शं हिते धृणिः। यजु० ३५।८; शं समुद्रः शं न अपाम् नपात। ऋ० ७।३५।१३; स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव। पुनर्ददताऽध्वता जानता संगमेमहि। ऋ० ५।५१।१५; तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत् द्यौ। ऋ० १।११५।६; मिलाइये ऋ० ४।४५।६; शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिद भुंवन्तरिक्षम्। शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः। अथर्व० १९।९।१; शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्। शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः। अथर्व० १९।९।२; मिलाइये ऋ० ७।३५; यजु० ३६।८; ३६।१७ अथर्व० १९।९।१४, आदि।

की सम्भवता बताई है[१]। लोक को अनुद्विग्न रखकर ही स्वयं अनुद्विग्न रहने की बात कही[२] है। उपनिषदों के आत्मैकत्व-विज्ञान में तो सभी चर और अचर, स्थावर और जंगम प्राणिजगत् एक होता है, आत्मरूप होता है और आत्मा से प्रियतर वस्तु क्या है? एकता को देखने वाले मनीषी का किससे वैर? किससे विरोध? मैत्री विहार तो उसका सदा अपना ही है, क्योंकि अपने से अतिरिक्त किसी दूसरे की सत्ता ही उसकी दृष्टि में नहीं है। 'नेह नानास्ति किञ्चन[३]'। सभी मन्दिरों में उसके लिए एक ही देव का तो अधिवास है, कहीं मनुष्य के रूप में, कहीं स्त्री के रूप में, कहीं बालक की तरह तो कहीं बालिका की तरह[४]। विभिन्नता तो केवल अज्ञान-जनित है, माया के द्वारा कल्पित है। वास्तव में एक ही आत्मा सभी प्राणियों में है और सभी प्राणी आत्मा में हैं। इस तत्व को देखना ही सम्यक् ज्ञान है[५]। उपनिषदों की इस चराचर जगत् को स्पर्श करने वाली एकात्मकता की भावना को महाभारतकार ने अपनाया है[६] और अनेक स्थलों में भिन्न-भिन्न शब्दों में

(१) यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान् न बिभ्यति। ....न द्वेष्टि सर्वभूतानि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकं। कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ महाभारत, शान्तिपर्व, २६२।१५-१६; मिलाइये, योऽभयः सर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम्। महाभारत, शान्तिपर्व, २६२।१७

(२) यस्मान्नोऽद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। गीता १२।१५

(३) कठ० २।१।११; अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। बृहदारण्यक १।४।७; यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्। अथर्व० २।१।२; ईश० ६

(४) मिलाइये अथर्व० १०।८।२७-२८; मैत्रेय० २।१

(५) सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्। गीता० १८।२१; यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। गीता ६।३०; सर्व भूतस्थितं यो मां। गीता ६।३१; येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि। गीता ४।३५; सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि.....ब्रह्म सम्पद्यते तदा। महाभारत; एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च। कठ० उप०

(६) उदाहरण के लिए देखिए महाभारत, शान्ति० २१।४-५; गीता ३।११; ५।१८; ६।२९-३२; १२।४; १२।१५; १३।२७,२८,२९,३१; १४।३०; १६।२; १८।२०।

ऐसे समदर्शी महात्माओं के हमें दर्शन कराए हैं जिन्होंने अपने एकमात्र पुत्रों को भी मारने वाले सर्पों तक की जानें बचाईं[१], मित्र और शत्रु के प्रति जो सदा समान रहे[२], तथा दूसरों के द्वारा अपमानित और भयभीत किए जाने पर भी जिन्होंने सदा क्षमा और करुणा ही दिखाई[३], संक्षेप में वैर को जिन्होंने सदा अवैर से ही शान्त किया[४], और अहिंसा को ही सबसे बड़ा तप, सबसे बड़ा दान और सबसे बड़ा संयम मानते हुए समस्त प्राणिजगत् के साथ माता और पिता के सदृश व्यवहार किया[५]। इन्हीं महात्माओं द्वारा आचरित आत्मैकत्व-विज्ञान के सामाजिक स्वरूप की प्रतिष्ठा पर प्राचीन धर्मसूत्रकारों ने धर्म की बुनियाद खड़ी की और समाज के अंगभूत विविध प्राणियों के लिए अपने अपने कर्तव्य का विधान करते हुए आत्मदर्शन में ही उसकी पर्यवसानता दिखाई[६]। श्रीमद्भागवतकार और योगवासिष्ठकार ने अपने प्रज्ञानों को इन्हीं समन्वय और मैत्री के तारों से बाँधा है, प्राणियों को अभय दान देने की सबसे अधिक प्रशंसा की है और सर्वभूतस्थ भगवान् की पूजा को ही अधिक महत्व दे कर समदर्शिता और सब प्राणियों के लिए दुःख उठाने को ही सर्वोत्तम उपासना के रूप में स्वीकार किया है[७]। आज अपने पतन और हीनता की अवस्था में भी हिन्दू जाति अपने दैनिक कर्मकाण्ड और प्रार्थनाओं में कीट और पतंगों तक के लिए

(१) महाभारत, अनुशासन पर्व, प्रथम अध्याय।
(२) महाभारत, अनुशासन पर्व, १४१।११६
(३) देखिए महाभारत, शान्ति०, २३५।३४; वहीं २६१।५५; ३२१।३६
(४) महाभारत, उद्योग पर्व, ३९।७३
(५) महाभारत, अनुशासन पर्व ११६।३७-४१
(६) मिलाइये मनु० १२।९१
(७) देखिए, तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः। परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः। भागवत० ८।७।४४; विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद् दण्डवत् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥ यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते। तावदेवमुपासीत् वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥ सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् परितो मुक्तसंशयः॥ अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः। वहीं ११।२९।१६-१९; मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः। आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषा-

मैत्री भावना का जो स्मरण करती है[1] वह हमारे सांस्कृतिक जीवन की अन्यतम निधियों में से है। फिर मैत्री और सर्वकल्याणमयी वृत्ति के लिए बुद्ध-शासन में जो महत्त्वपूर्ण स्थान है उसके विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। तथागत संक्षेपतः अहिंसा को ही धर्म कहते हैं[2]। "मैं अपनी इस जीवन-विधि से किसी को भी हानि नहीं पहुँचाऊँ, न चर को और न अचर को

मन्तरं कियत्। वहीं ७।१४।९; अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा। तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्॥ यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः॥ अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्। अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा। वहीं ३।२९।२१,२२,२७; सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ। जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि। वहीं ३।७।४१; देखिए योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण, पूर्वभाग ३८।३९; २९।२७; ३९।४० भी।

(१) देखिए, बलिवैश्वदेव की विधि और भावना, 'ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिभागे शुचौ पुनः। दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः॥ देवा मनुष्याः पशवो वयांसि सिद्धाः स यक्षोरगभूतसंघाः प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्। पिपीलिकाः कीटपतंगकाद्याः बुभुक्षिताः कर्मनिबन्धबद्धाः। प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु॥ भूतानि सर्वाणि तथान्नमेतदहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति। तस्मादहं भूतनिकायभूतमन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम्॥ चतुर्दशो भूतगणो य एष तत्र स्थिता येऽखिलभूतसंघाः। तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं तेषामिदं ते मुदिताः भवन्तु।

तर्पण में भी इसी प्रकार, देवा सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वराक्षसाः। पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः खगाः॥ जलेचरभूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः। प्रीतिमेते प्रयान्त्याशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः। नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः। तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥ तेऽबान्धवा बान्धवा वा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः। ते सर्वे तृप्तिमायान्तु यश्चास्मत्तोयमिच्छति। देखिए पं० मदनमोहन मालवीय जी लिखित पुस्तिका 'ईश्वर' में इनकी व्याख्या भी।

(२) धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः। चतुःशतक। सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः। बुद्धचरित ९।१७

भी "[1] यही भगवान् तथागत की सदा भावना रहती थी और ऐसा ही करने के लिये उन्होंने भिक्षुओं को उपदेश दिया है। भगवान् बुद्ध के समान अनुकम्पक शास्ता इस जगत् ने बहुत कम देखे हैं। जिन करुणामय महर्षि ने अंगुलिमाल डाकू को भी 'आ भिक्षु' कहकर सम्बोधित किया[2] और जिन्होंने अम्बपाली गणिका के यहां भोजन स्वीकार कर उसे कृतार्थ किया[3], निश्चय ही उन समदर्शी महात्मा के विषय में धर्मसेनापति सारिपुत्र की यह उक्ति सर्वथा ठीक थी 'अपनी हत्या करने पर तुले देवदत्त के प्रति, चोर अंगुलिमाल के प्रति, धनपाल हाथी के प्रति और पुत्र राहुल के प्रति, सभी के प्रति, मुनि समान थे[4]। इस विषय में जैसे कि अन्य सब बातों में भगवान् प्राचीन आर्य-विनय के अनुकूल ही गए और उन्होंने उसे परिपूर्णता प्रदान की। मैत्री विहार को चार आर्य विहारों में प्रतिष्ठापित कर[5] भगवान् ने उसके स्वरूप को इतनी व्यापकता दी जो भारतीय दर्शन में एक अभिनव मौलिकता से व्याप्त है। 'भिक्षुओ! यदि चोर-डाकू दोनों ओर दस्ते वाले आरे से तुम्हारे एक एक अंग को काटें, वहां पर भी जो मन को दूषित करे वह मेरे शासन के अनुकूल आचरण करने वाला नहीं है[6]।" मैत्री भावना की कितनी व्यापक भावना है! मैत्री भावना के रहते मनुष्य के मल नष्ट नहीं हो जायँ, यह कभी सम्भव नहीं। "आवुसो! कोई भिक्षु ऐसा कहे—मैंने मैत्री चित्त-विमुक्ति को भावित, बहुलीकृत, वस्तुकृत, अनुष्ठित, परिचित किया है किन्तु व्यापाद (द्रोह) मेरे चित्त को पकड़े हुए है, उसे ऐसा कहना चाहिए—

(१) इमायाहं इरियाय न किञ्चि व्याबाधेमि तसं वा थावरं वा।
वितक्क-सुत्त (इतिवुत्तक)
(२) देखिए अंगुलिमाल सुत्त (मज्झिम० २।४।६)
(३) देखिए महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ-निकाय)
(४) वधके देवदत्तम्हि चोरे अंगुलिमालके। धनपाले राहुले च सब्बत्थ समको मुनि। मिलिन्दपञ्हो, ओपम्म कथा; मिलाइये वहीं, एकं चे बाहं वासिया तच्छेय कुपितमानसा। एकं च बाहं गन्धेन आलिम्पेय्य पमोदिता। अमुस्मिं पटिघो नत्थि रागो अस्मिं न विज्जति। पठवी समचित्ता ते तादिसा समणा ममाति।
(५) यथा मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा; देखिए आगे पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य-योग' पर विवेचन।
(६) महाहत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम० १।३।८)

आयुष्मान् ऐसा मत कहें, भगवान् की निन्दा मत करें, भगवान् की निन्दा करना उचित नहीं है, भगवान् ऐसा नहीं कहते। यह सम्भव नहीं, इसका अवकाश नहीं कि मैत्रीचित्तविमुक्ति सुसमारब्ध की गई हो और तो भी व्यापाद उसके चित्त को पकड़ कर ठहरा रहे। यह सम्भव नहीं। आवुसो! मैत्री चित्त-विमुक्ति व्यापाद का निस्सरण है"[१]। अतः सद्धर्म में प्रतिष्ठित भिक्षु "मित्र भाव युक्त चित्त से एक दिशा को पूर्ण करके विहरता है। दूसरी दिशा, तीसरी दिशा, चौथी दिशा। इसी प्रकार ऊपर, नीचे, दायें, बायें, सम्पूर्ण मन से, सब के लिए, सारे लोक को मित्र भाव युक्त विपुल महान्, अपरिमाण वैररहित, द्रोहरहित चित्त से स्पर्श करता विहरता है। जैसे वाशिष्ठ! बलवान् शंखध्मा (शंख बजाने वाला) थोड़े ही परिश्रम से चारों दिशाओं को गुंजा देता है, वाशिष्ठ! उसी प्रकार मित्र भावना से भावित चित्त की विमुक्ति से जितने परिमाण में काम किया गया है वह, वहीं अवशेष नहीं हो जाता। यह भी वाशिष्ठ! ब्रह्मा की सलोकता का मार्ग है[२]'। इस प्रकार उन करुणा के देव ने (जैसा कि चीन में भगवान् बुद्ध का प्रसिद्ध उपपद है) अवैर से ही वैर की शान्ति का उपदेश देकर[३], भिक्षुओं को प्राणहिंसा से सदा विरत रहने का अनुशासन कर[४], अनेक उपदेशों में मैत्री विहार की ही प्रशंसा कर[५], बहुजनों के हित, सुख और कल्याण के लिए, देव और मनुष्यों पर अनुकम्पा कर भिक्षुओं

---

(१) देखिए बुद्धचर्या पृष्ठ ५०३, मिलाइये, अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः। योगसूत्र २।३५

(२) तेविज्ज सुत्त (दीघ० १।१३)

(३) न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं। अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो। धम्मपद १।६; अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे। ये च तं उपनय्हन्ति वेरं तेसं न सम्मति। वहीं १।३; यतो यतो हिंसमनो निवत्तति ततो ततो सम्मति एव दुक्खं। वहीं २६।८

(४) भिक्खु पाणातिपातं पहाय पाणातिपाता पटिविरतो होति। तेविज्ज सुत्त (दीघ निकाय)। पञ्चशील में से प्रथम शील ही है 'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि (जीवहिंसा से विरत रहूँगा, ऐसा व्रत लेता हूँ)।

(५) देखिए विशेषतः मेत्त सुत्त (सुत्तनिपात); कालाम सुत्त (अंगुत्तर निकाय); तेविज्ज सुत्त (दीघ निकाय) आदि।

को चारों दिशाओं में पर्यटन करने का उपदेश दिया[1] और सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय से लेकर अपने परिनिर्वाण के अन्तिम क्षणों तक धर्म का अजस्र उपदेश करते हुए सदा लोक हित में ही लगे रहे। साथ ही बुद्ध के साक्ष्य पर हम यह भी कह सकते हैं कि पूर्व काल में विशुद्ध ब्राह्मण जन सदा पशुहिंसा से विरत रहते थे[2] यद्यपि भगवान् बुद्धदेव के समय में अथवा उनसे कुछ पूर्व स्थिति यहाँ तक विकृत हो गई थी कि उसके आधार पर 'आनुश्रविक' को भी 'अविशुद्धि' 'क्षय' और 'अतिशय' से युक्त कहा जा सकता था[3], और इस दशा के परिष्कार का विधान ही तथागत की समस्त जीवनचर्या का लक्ष्य था, जिसकी ओर यह प्रसन्नता की बात है कि कुछ बाद के वैष्णव भक्तों और कवियों ने भी सहानुभूति पूर्वक संकेत किया है[4]। फिर बोधिसत्व के रूप में अपने अनेक पूर्वजन्मों में भगवान् बुद्ध की लोक कल्याण के लिए विकलता, स्वयं महान् कष्ट सहकर और पाई हुई मुक्ति को भी छोड़कर अनेक बार दुःखी

---

(१) चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं देसेत्थ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं सात्थं सव्यंजनं केवल परिपुण्णं ब्रह्मचर्यं पकासेथ। विनय पिटक, महावग्ग।

(२) नास्सु गावो हनिंसु ते। ब्राह्मण धम्मिय सुत्त (सुत्तनिपात २।७) देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ३६४-३६६, इस सुत्त के अनुसार पुराने ऋषि 'तण्डुल, शयन, वस्त्र, घी और तेल को माँगकर ही यज्ञ करते थे और यज्ञ के उपस्थित होने पर वे गाय को नहीं मारते थे'। राजा इक्ष्वाकु (ओक्काक) के समय में ब्राह्मणों ने स्वार्थ से यज्ञ में पशुहिंसा शुरू की, देखिए उपर्युक्त सुत्त और उस पर अट्ठकथा, बुद्धचर्या, पृष्ठ ३६५, पदसंकेत २; मिलाइये 'अट्ठक आदि ऋषियों ने.... मंत्रों को परहिंसा शून्य ग्रथित किया था। उसमें दूसरे ब्राह्मणों ने प्राणिहिंसा आदि डालकर तीन वेद बना बुद्ध वचन से विरुद्ध कर दिया' मज्झिम निकाय-अट्ठकथा २।५।५, बुद्धचर्या पृष्ठ २२४, पदसंकेत १

(३) देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य-योग' पर विचार।

(४) उदाहरण के लिए देखिए, निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं सदय हृदय-दर्शित पशुघातम्। केशवधृत बुद्ध शरीर...., गीतगोविन्द; प्रबल

प्राणियों के लिए आत्मोत्सर्ग करना ताकि वे भार से मुक्त हों[१] आदि बातें तो यहां संकेत रूप से भी नहीं दिखाई जा सकतीं। ऐतिहासिक न होने पर भी महायान-धर्म की सर्वकल्याणमयी वृत्ति को दिखाने में तो वे अलं ही हैं, इसमें संदेह नहीं। बुद्ध की एक देव के रूप में उपासना करने वाले इन माहायानिकों के अनुसार भी स्वयं बुद्ध को प्रसन्न करने का इससे अधिक अच्छा कोई ढंग नहीं कि मनुष्य अपने सुखों को छोड़कर लोक-सेवा में प्रवृत्त हो जाय[२]। करुणा के रहस्य को महायानी आचार्यों ने 'स्व' और 'पर' के भेद मिटाने में ही देखा है। फिर भूतदया का जो उदात्त स्वरूप[३], प्राणियों को क्षमा प्रदान करने[४] और उनके वध को वर्जन करके मैत्री के प्रसार का जो उपदेश[५] जैन साधना में सुरक्षित है,

पाखण्ड महि मण्डलाकुल देखि निन्द्यकृत अखिल मखकर्मजालं। सुद्ध बोधैक घन ज्ञान गुनधाम अज बौध अवतार वन्दे कृपालं। विनयपत्रिका, पद ५२

(१) एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्। तेन स्यां सर्वसत्वानां सर्व-दुःखप्रशान्तिकृत्॥ मुच्यमानेषु सत्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः। तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेनारसिकेन किम्। बोधिचर्यावतार, तृतीय परिच्छेद, मिलाइए वहीं ८।१०८; मिलाइये शिक्षासमुच्चय, पृष्ठ २१,३३, १४७,१५६; २८१; ३६० महायान सूत्रालंकार १६।५८; १३।१४; और भी 'येनैवमाह (बुद्धेन) कलिकलुषकृतानि यानि लोके मयि निपतन्तु विमुच्यतां तु लोकः...' इत्यादि, कुमारिल, पूरे उद्धरण के लिए देखिए आगे पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा' पर विचार; मिलाइए महाभारत में भी यथा 'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्। कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'। मिलाइये श्रीमद्भागवत में भी यथा 'न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा। आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥ क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः। सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥ ९।२१।१२-११ तथा, प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामा मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः। नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनु पश्ये। श्री मद्भागवत ७।९।४४

(२) देखिए शिक्षा समुच्चय, पृष्ठ १५६-१५७; बोधिचर्यावतार ६।१

(३,४,५) सब्बे जीवा वि इच्छन्ति जीविउं न मरिज्जिउं। तम्हा पाणिवहं घोरं

उसकी तो संक्षिप्ततम मीमांसा भी यहाँ सम्भव नहीं। वस्तुतः सब प्राणियों के प्रति संयम रूप अहिंसा ही भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट धर्म का प्रथम स्थान कहा गया है[1] और उनके मतानुसार ज्ञानी होने का सार ही यह है कि किसी प्राणी की हिंसा न की जाय। अहिंसा का सिद्धान्त ही सर्वोपरि है—मात्र इतना ही विज्ञान है[2], और षड्दर्शन-परम्परा में अहिंसा आदि के तात्विक विवेचन के द्वारा जिस व्यापक वैरत्याग का उपदेश दिया गया है[3], वह भी हमारा प्रस्तुत विषय नहीं। मध्ययुग में तो मुस्लिम संस्कृति का भारतीय संस्कृति से प्राथमिक संघर्ष और सम्मिलन होने पर कबीर, नानक और दादू आदि समतावादी सन्तों ने राम और रहीम की एकता दिखाकर और दोनों जातियों को अपने अज्ञान के लिए फटकार कर 'मन्दिर मस्जिद एक', 'ब्रह्म बीज का सकल पसारा', 'हिन्दू तुरक का कर्ता एक', 'पीर सबन की एक सी', 'कहु धों छूत कहां ते उपजी' आदि जिन प्रभावशाली शब्दों के द्वारा पारस्परिक समन्वय के पाठ को पढ़ाया उसकी पुनरावृत्ति आज अनुपम 'हरि के जन' गांधी के द्वारा की हुई कितनी सुखद है, इसे भारतीय हृदय अच्छी तरह जानता है। भक्त चूड़ामणि गोस्वामी तुलसी दास जी के 'पर हित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहोंगो', 'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि, बन्दहुँ सब के पद कमल', 'सियाराम मय सब जग जानी', 'बन्दहुँ सन्त असज्जन चरना', महा प्रभु श्री चैतन्य देव के 'जीवे दया नामे रुचि', भक्त नरसी से 'जे तीर पराई जाणे रे' तथा तुकाराम के 'विष्णुमय जग

निग्गन्था वज्जयन्ति णं। (सर्वे जीवा अपि इच्छन्ति जीवितुं न मर्तुम्। तस्मात् प्राणिवधं घोरं निर्ग्रन्था वर्जयन्ति तम्)। निर्ग्रन्थ प्रवचन, पृष्ठ ५६, मिलाइये सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा नेव अज्झगा पियतरमत्तना क्वचि। एवं पियो पुथु अत्ता परेसं तस्मा न हिंसे परमत्तकामो। उदान। खामेमि सब्बे जीवा सब्बे जीवा खमन्तु मे। मित्ति मे सब्ब भूएसु वेरं मज्झं ण केणई। (क्षमयामि सर्वान् जीवान् सर्वे जीवा क्षमन्तु मे। मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनापि)। निर्ग्रन्थ प्रवचन, पृष्ठ ४३

(१) तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं। अहिंसा निपुणा दिट्ठा सब्बभूएसु संजमो। महावीरवाणी, पृष्ठ १४

(२) एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण। अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया॥ महावीरवाणी, पृष्ठ १८

(३) उदाहरणार्थ देखिए, योगसूत्र २।३०; २।३५ आदि।

वैष्णवांचा धर्म', 'असन्त लक्षण भूतांचा मत्सर' आदि सहस्रों पद, भजन, और अभंग इसी सनातन भारतीय सर्वकल्याणमयी वृत्ति की अक्षुण्णता को प्रख्यापित करते हैं। इसी का नवीनतम संस्करण महात्मा गांधी के 'सर्वोदय' मार्ग में निहित है जो पुरातन भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति से ही मूल प्रेरणा लेकर आज के जगत् के कल्याण के लिए प्रवृत्त हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन विश्व-प्रेम और विश्व-शान्ति का प्रचारक रहा है, सर्वात्मवाद की उसने प्रतिष्ठा की है। 'सर्वमेव शमस्तु नः'[१]—हमारा सब कुछ शान्त हो, शमपूर्ण हो—यह भावना भारत की राष्ट्रीय विशेषता कही जा सकती है। भारतीय विचार में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ है उसका जीवन के साथ सम्बन्ध देखने पर सर्वकल्याणमयी वृत्ति ही, मैत्री भावना ही, जो सब को स्पर्श करे, अन्त में समानगामी मार्ग के रूप में शेष रहती है। इसी की दृष्टि से और इसी का अनुमापन कर हम विभिन्न भारतीय दर्शनों का जीवन-दर्शन के रूप में महत्त्वांकन कर सकते हैं और वैसे समग्र भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्ति के रूप में तो इसकी महत्ता पर अधिक जोर देने की जरूरत ही नहीं।

अतः उसकी भौतिक या आर्थिक व्याख्या सम्भव नहीं

चूंकि भारतीय दर्शन अपने विशुद्धतम रूप में आध्यात्मिक है और एक सर्वस्पर्शी जातिधर्मनिर्विशेष देशकालाद्यनवच्छिन्न मैत्री भावना से ओत-प्रोत है, अतः उसकी भौतिक या आर्थिक व्याख्या सम्भव नहीं है। कार्ल मार्क्स की 'इतिहास की भौतिकवादी या आर्थिक व्याख्या' के आधार पर महामति ऐंगिल्स का यह कथन कि पदार्थों के उत्पादन और विनिमय के प्रकारों में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तनों और क्रान्तियों के अन्ततोगत्वा कारण होते हैं[२], भारतीय दार्शनिक विकास

(१) अथर्व० १९।९।१४

(२) मिलाइये, 'The final causes of all social changes and revolutions are to be sought not in man's brains, not in main's better insight into eternal truth and justice, but in changes in the modes of production and exchange'. सोसलिज्म, यूटोपियन एण्ड सायन्टिफिक, पृष्ठ ४५; ओलेफ़ स्टैपल्डन : फ़िलासफी एण्ड लिविंग, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३०७ में उद्धृत; पाश्चात्य विद्वानों द्वारा इस

की समुचित व्याख्या नहीं कर सकता। स्वयं ऋषि कार्ल मार्क्स का यह भ्रम कि सभी ध्येय और आदर्शवाद 'भौतिक जगत् के मानवीय मस्तिष्क में प्रतिबिम्ब मात्र को छोड़ कर और कुछ नहीं होते और सभी विचार, अन्ततोगत्वा आर्थिक प्रभावों की अभिव्यञ्जना मात्र ही होते हैं[1]', भारतीय अध्यात्म-चिन्तन की प्राथमिक मान्यताओं और मन्तव्यों को भी स्पर्श नहीं करता। इस भौतिक दृष्टि से देखने पर सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक विकास सामन्ती परिस्थितियों की अभिव्यक्ति मात्र दिखाई पड़ेगा, जैसा कि वह वास्तव में नहीं है। रोटी के संप्रश्न ने तो भारत के आत्यन्तिक आर्थिक शोषण के परिणामस्वरूप मुख्यतया आधुनिक युग में ही प्रवेश कर उसके भाग्य निर्धारण की दिशा को जितना प्रभावित किया है उतना पहले कभी नहीं। अतः भौतिक जीवन (जो ही लोक अथवा 'लोकायतिक' के लिए एकमात्र सत्य जीवन है) के कठोर सत्यों को आधार मानकर प्रवर्तित हुई कार्ल मार्क्स आदि विचारकों की विचार धारा आधुनिक दृष्टिकोण से, जबकि जीवन की मौलिक समस्याओं ने पूर्णतः आर्थिक स्वरूप धारण कर लिया है, और धर्म और दर्शन जैसी वस्तुओं के नाम मात्र ही अवशेष रह गए हैं अथवा वे भी आर्थिक परिधान धारण कर मनुष्य जाति को निगल जाने के लिए प्रस्तुत हैं, चाहे कितनी ही महत्वपूर्ण, उपयोगी और आकर्षक क्यों न दिखाई पड़े, किन्तु मनुष्य के अशना और पिपासा के सभी सवालों को तो पशुओं के समान ही निश्चित कर उसके अपने वास्तविक अधिकार रूप अभ्युदय और निःश्रेयस में ही उसे लगाने वाली[2], उसकी अल्पता में एक अनुपम

सिद्धान्त के खण्डन के लिए देखिए लास्की : कार्ल मार्क्स, पृष्ठ १३३; सैलिगमैन : दि इकोनोमिक इन्टरप्रिटेशन ऑव हिस्ट्री, पृष्ठ १५३-१५९

(१) 'The ideal is nothing else than the material world reflected by t he human mind and translated into terms of thought' आलैक़ स्टैपलडन : फ़िलॉसफ़ी एण्ड लिविंग, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३०७ में उद्धृत।

(२) मिलाइये, 'पुरुषे त्वेव आविस्तरामात्मा। स हि प्रज्ञानेन सम्पन्नतमः विज्ञानं पश्यति, श्वस्तनं...... मर्तेव अमृतं ईक्षति। इतरेषां पशूनामशनापिपासे एव अभिविज्ञानं। तैत्तिरीय० २।१ पर शांकरभाष्य; 'मनुष्य एव विशेषतोऽभ्युदयनिःश्रेयससाधने अधिकृतः। बृहदारण्यक० शांकर भाष्य १।४।१९; मिलाइये भागवत ३।२९।२८-३२

महत्ता की अनुभूति कराने वाली, अल्प से भूमा और अनात्म से आत्मतत्व की ओर ले जाने वाली, उसे 'सम्यक् प्रधान[१]' में लगाने वाली और इस मृत्युशील क्षेत्र में ही उसके लिए अमृत की फसल उत्पन्न कराने वाली[२], भारतीय विचार-धारा ही अन्त में इस जीव लोक की आश्वासन बनेगी, इसमें सन्देह नहीं। अर्थ और काम पशु-सुलभ धर्म हैं। भूख और प्यास की, जो मानव की भौतिक आवश्यकताओं के प्रतीक हैं, अवश्य सन्तुष्टि होनी चाहिये। 'आहार पर सब प्राणी स्थित है' इसको पहली महत्त्वपूर्ण बात मानने वाले नैतिक आदर्शवादी साधक मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं से अनभिज्ञ नहीं थे। विषमता और दारिद्रय के वे भी पक्षपाती नहीं थे। थोड़े जल में छटपटाती हुई मछलियों की तरह संघर्षशील प्राणियों को देखकर ही उन्होंने सांसारिक जीवन से विराग लिया था। वे भी प्रयत्नशील थे कि जीवन से विषमता हटे, समाज में समत्व की स्थापना हो। इसके लिये उन्होंने अपने युग के अनुरूप प्रयत्न भी किया और आगे के लिये भूमि भी तैयार की। परन्तु उनकी दृष्टि स्थूल तक ही सीमित नहीं थी। उनके लिये मनुष्य-जीवन अत्यन्त दुर्लभ वस्तु थी, जिसका समुचित उपयोग पशु-सुलभ भोगों की प्राप्ति न होकर अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति था। 'मनुष्य-योनि का मिलना कठिन है, मनुष्य का जीवन मिलना दुर्लभ है[३], यह भारतीय दर्शन-साधना की सर्वसम्मत उद्बोधन-वाणी है। उपनिषद् ने बार बार ध्यान दिलाते हुए कहा है 'यदि यहां जान लिया तो ठीक है, अन्यथा बड़ी हानि है'[४]। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने तिष्या नामक भिक्षुणी को सम्बोधित करते हुए कहा था 'तिष्ये! देख तेरा क्षण निकल न जाय। 'खणो तं मा उपच्चगा'[५]। जैसे समुद्र-तल में पड़े हुए किसी काने कछुए का,

(१) अर्थात् निर्वाण सम्बन्धी प्रयत्न (बौद्ध अर्थ)

(२) देखिए कसि भारद्वाज सुत्त (सुत्त निपात)

(३) किच्छो मनुस्सपटिलाभो किच्छं मच्चानं जीवितं। धम्मपद १४।४ देखिए बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव की गम्भीर वाणी भी 'क्षणसंपदियं सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थ साधनी। यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येष समागमः कुतः ॥ नर तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं। यह तनु कर फल विषय न भाई, आदि। गोस्वामी तुलसीदास जी।

(४) केन० २।५

(५) थेरी गाथा, ४

जो सौ वर्ष में एक बार उतराता हो, एक जुए के छेद में अपनी गर्दन को फँसाना अति दुर्लभ है, उसी प्रकार मनुष्य-जीवन की दुर्लभता को तथागत ने बताया था[1]। विमुक्ति के लिये प्रयत्न करने का यहीं, इस मनुष्य-शरीर में, अवसर मिलता है। मनुष्य ज्ञान से सम्पन्नतम प्राणी हैं। उसके अन्दर प्रज्ञान का सम्पूर्ण विकास हुआ है। निःश्रेयस में वास्तविक अधिकार उसी का है। अन्य पशु आदि योनियों में तो भूख-प्यास से ऊपर विज्ञान होता ही नहीं। पारस्परिक मारकाट और एक दूसरे की हिंसा से जीवन-निर्वाह ही पशु-धरातल का धर्म है। मानवीय शरीर लेकर जिसने निःश्रेयस के लिये प्रयत्न नहीं किया, उसका जीवन निरर्थक है[2]। भारतीय मनीषियों की मान्यता थी कि जहाँ तक हम अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस के लिये प्रयत्नशील हैं, उसी हद तक हम मनुष्य हैं,। मनुष्य जीवन में ही यह सौभाग्य सम्भव है। जो भौतिक है वह कृत है, जो कृत है वह विनाश-धर्मा है, जो विनाशधर्मा है वह दुःख है। उसमें मनुष्य जाति अधिक समय तक लगी रहेगी, यह कभी सम्भव नहीं। किन्तु यह भी ठीक है कि आज तो ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। 'कामनाओं के भी काम भाजन' होने का

---

(१) मनुष्य-जीवन की दुर्लभता के लिये एक आंख वाले कछुए की सुन्दर उपमा के पूर्ण वर्णन के लिये देखिये बाल-पंडित-सुत्त (मज्झिम० ३।३।५); देखिये थेरीगाथा, ५००; अभय स्थविर को इस उपमा के श्रवण मात्र से स्रोत आपत्ति फल की प्राप्ति हो गई थी। देखिये थेरगाथा-अट्ठकथा (परमत्थदीपनी) में अभय स्थविर की कथा। आचार्य अश्वघोष ने भी इस उपमा का उद्धरण किया है, देखिए बुद्ध-चरित १८।२७; गोस्वामी तुलसीदास जी ने मनुष्य-जीवन की दुर्लभता के सम्बन्ध में कहा है, "आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी।। फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा।। कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेल सनेही।। रामचरित मानस, उत्तर काण्ड।

(२) मिलाइये तुलसीदास, जो न तरइ भवसागर, नर समाज अस पाइ। सो कृत निन्दक मन्दमति आतम हन गति जाइ। राम चरित मानस, उत्तरकाण्ड। देखिये आचार्य शान्तिदेव (जिन्हें उनकी भक्ति भावना के कारण आसानी से बौद्ध धर्म का तुलसीदास कहा जा सकता है) की गम्भीर उद्बोधनवाणी भी, पृष्ठ ३५, पर संकेत ३ में उद्घृत।

तिरस्कार करने वाले[१], 'वित्त से यह मनुष्य तर्पणीय नहीं[२], जातरूप-रजत किसी भी हालत में स्वादितव्य अथवा पर्येषितव्य नहीं[३], अल्प में सुख नहीं[४]' 'दृष्ट से उसकी सिद्धि नहीं[५], ऐसा मानने वाले, 'संसार से पार होने की इच्छा कर फिर उसके मार्ग में कभी विचरण न करने वाले[६]' 'ध्रुव की अध्रुव पदार्थों में गवेषणा न करने वाले[७]' कामना अथवा तृष्णा (नन्दी) रूप अविद्या ही दुःख का आदि मूल है[८], ऐसा निश्चित कर सभी वासनाओं को त्याग कर ग्रहण और अधिकार की भावनाओं में केवल उत्कृष्टतम बन्धन के ही दर्शन कर, स्वयं सदा पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से दूर रह कर निर्दोष भिक्षा-चर्या का ही आचरण कर[९] किसी प्रकार जीवन-यापन करने वाले, अल्प-सुलभ और निर्दोष भोजन, वस्त्र और शयनासन आदि का उपभोग करने वाले, सर्वथा आप्तकाम, अनागार और अकिञ्चन भारतीय तपस्वियों के विशुद्ध दार्शनिक

---

(१) कामानां त्वा कामभाजं करोमि । कठोपनिषद्, १।१।२४ ।

(२) न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो............। कठ० १।१।२७; मिलाइये, 'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' । बृहदारण्यक उपनिषद् ।

(३) 'गामणी ! किसी भी प्रकार में जातरूप-रजत को स्वादितव्य, पर्येषितव्य नहीं मानता' बुद्ध की उक्ति, देखिए विनयपिटक, चुल्लवग्ग १२; बुद्धचर्या, पृष्ठ ५५८

(४) नाल्पे सुखमस्तीति । उपनिषद्; देखिए पाँचवें प्रकरण में बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान ' पर विचार ।

(५) न दृष्टात्तत्सिद्धिः.......। सांख्यसूत्र १।२; दृष्टे साऽपार्था चेन्न । सांख्यकारिका २, देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य योग' ।

(६) अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः । कठ० शांकर भाष्य १।३।१२ में उद्धृत ।

(७) न ध्रुवमध्रुवेष्विह प्रार्थयन्ते । कठ० २।१।२

(८) 'पूर्ण ! नन्दी (तृष्णा) की उत्पत्ति से दुःख की उत्पत्ति कहता हूँ' । बुद्ध की उक्ति, विशेष विवेचन और उद्धरण के लिए देखिए आगे चौथा प्रकरण ।

(९) बृहदारण्यक० ३।५।१ 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति' । मिलाइये वहीं ४।४।२५; महानारायण-२१।२

और नैतिक आदर्शवाद पर व्यवस्थित, लोक-कल्याण की गहरी भावना से अनुप्राणित प्रज्ञानों का आर्थिक आधार क्या हो सकता है, यह कुछ समझ में नहीं आता। द्वंद्व-तर्क-संचालित उत्पादन और वितरण के संघर्ष को जो उनमें भी देखते हैं, उनकी बुद्धि पर तरस ही करना चाहिये। परन्तु यह अर्थशास्त्र और राजनीति का युग है। भारतीय दर्शन के कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को अर्थवादी या भौतिकवादी व्याख्या देकर उन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रियों द्वारा सामाजिक विषमता को उचित ठहराने का षड्यंत्र माना गया है[1]। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की व्याख्या सत्य से बहुत दूर है। जिनको संसार से कुछ स्वार्थ नहीं था, कुछ लेना-देना नहीं था, अपना ही सब कुछ जिन्होंने छोड़ दिया था, उन्हें समाज और भावी मानव-जीवन को प्रतारणा करने की आवश्यकता न थी। बुद्ध, महावीर, याज्ञवल्क्य और तुलसीदास आधुनिक राजनीतिक नेता नहीं थे। वे आप्त काम महात्मा थे और उन्होंने जो कहा है युग-युग के लिये सत्य रहेगा। उसमें उनका किञ्चित् स्वार्थ न था। राजनीति और अर्थशास्त्र के अभिशाप आधुनिक युग की देन हैं। ज्ञान प्रभुता का साधन भारतीय परम्परा में कभी था ही नहीं, इसलिये सांसारिक स्वार्थों में उसका उपयोग कभी नहीं किया गया है। लाभ की उपनिषद् दूसरी है और निर्वाण-गामी मार्ग की दूसरी[2], इसकी स्वीकृति बौद्ध धर्म के समान सम्पूर्ण भारतीय धर्म-साधना में हुई है। सभी वस्तुओं को आर्थिक दृष्टिकोण से ही देखने को बाध्य, उपनिषद् की भाषा में 'वित्तमयी सृङ्का में मग्न'[3], बुद्ध के स्मरणीय शब्दों में 'मृत्यु के हाथ में फँसा[4]' आज का विश्व-मानव यदि आर्थिक प्रभावों की अभिव्यक्ति भारतीय दर्शन में देखे तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हम यह नहीं मानते कि सामाजिक व्याख्या भारतीय दर्शन की नहीं हो सकती। अवश्य हो सकती है और होनी चाहिये। कोई भी विचार चाहे जितना भी अमूर्त दार्शनिक हो सामाजिक पृष्ठभूमि की अपेक्षा रखता है। समाज और दर्शन का सम्बन्ध दिखाना ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु आधुनिक युग की मान्यताओं का आरोप हमें प्राचीन इतिहास पर नहीं करना

(१) देखिये राहुल सांकृत्यायन : दर्शन दिग्दर्शन : पृष्ठ ५३६-५३७

(२) अञ्ञा लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बान गामिनी। धम्मपद।

(३) सृङ्कामेनां वित्तमयीं..... यस्यां निमज्जन्ति बहवो मनुष्याः। कठ० १।२।३

(४) देखिए चतुर्थ प्रकरण में पूरा उद्धरण।

चाहिये। कुछ विद्वानों का यह कहना है कि इस देश में विशेष भौतिक और भौगोलिक परिस्थितियों को पाकर, प्रकृति द्वारा दिए गए विशेष साधनों को प्राप्त कर, यहां के लोग परविद्या सम्बन्धी कल्पनामय चिन्तनों में लगे रहे, अन्यथा जीवन के अरण्य में घुसे हुए, उसके लिए संघर्ष और संग्राम करने वाले, मनुष्य-समाज के लिए उनका कोई उपयोग ही नहीं हो सकता। इस प्रकार भारतीय अध्यात्म चिन्तन की एक भौगोलिक व्याख्या कर उसे टाल दिया जा सकता है, किन्तु यह विचारणीय है कि यदि गंगा और सप्त सिन्धव के तटों के निवासी धन-धान्य सम्पन्न होकर अध्यात्म-प्रवण हो सकते हैं तो क्या समान भौगोलिक परिस्थितियों में अन्य जगहों के ऐसे नहीं हो सकते ? न्याग्रा के जल-प्रपात में क्या कुछ कम आध्यात्मिकता है ? प्रशान्त और अन्ध महासागरों के तट पर क्या किसी चैतन्य के लिए प्रेमोन्माद में विह्वल होकर समुद्र-पतन[1] का अवसर कम था ? फिर ऐसे दृश्य वहाँ क्यों नहीं उपस्थित हुए ? अमृतत्व की इच्छा से सभी कामनाओं को छोड़कर केवल विशुद्ध भिक्षाचर्या का ही आचरण करना, केवल 'कुम्भीधान' मात्र संग्रही, 'शिलोञ्छ' मात्र उपजीवी[2], अथवा केवल 'पाणिपात्र' दिगम्बर होकर ही विचरना, घर से बेघर हो प्रव्रजित होकर सायं के भोजन की सायं ही और प्रातः के भोजन की प्रातः ही खोज करना, सदा पेट के भोजन और तन के वस्त्र से ही सन्तुष्ट रहना, पुनः भगवद्भक्ति की अनन्यता में अपने सभी 'योग-क्षेत्र' का भार प्रभु पर डालकर स्वयं 'जथा लाभ सन्तोष सदा' होकर प्रभु के स्मरण में ही तन्मय होकर विहरना, आदि बातें यदि भारत की शस्य-श्यामला भूमि में रहने वाले औपनिषद परिव्राजकों, बौद्ध भिक्षुओं और वैष्णव भक्तों के लिए सम्भव थीं तो कम-से-कम इस विषय में भारतीय आदर्शवाद के समान ही ओजस्वी और प्रभावशाली उपदेश यहूदिया की उस सूर्यतप्त मरुभूमि में क्यों सुना गया जहाँ सर्वथा असंग्रही मानव-पुत्र (यीशु) ने अपने शिष्यों को यह कह कर उत्साहित किया 'मत सोचो कि तुम कल क्या खाओगे अथवा क्या पीओगे, पहले तुम स्वर्ग के साम्राज्य को खोजो', 'हे प्रभो हमें आज की रोटी दे' आदि[3]। निश्चय ही

(१) चैतन्य-चरितामृत, अष्टादश परिच्छेद, समुद्र-पतन की ओर यहाँ संकेत है।

(२) देखिए मनु० २।१७-१८

(३) देखिए मत्ती (मैथ्यू) की इंजील ४।४,१०; ६।२६-३४; लूक की इंजील ३।११; ४।४; ४।१८; ९।३-४; ९।६२; १०।३-५; ११।९।१३;

देश अथवा काल किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र की अध्यात्म-प्रियता में कारण नहीं हो सकते और न उसकी वे व्याख्या ही कर सकते हैं। यदि पर्वतराज हिमालय समाधि-भावना को उत्तेजित करता है तो क्या विसूवियस ऐसा करने से इन्कार करता है ? वस्तुतः मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ ही प्रधान हैं । किन्तु प्राकृतिक वातावरण कोई प्रभाव ही नहीं रखता हो, ऐसा भी कहीं कहा जा सकता । पर्वतों की गुफाओं और नदियों के संगमों पर ही समाधि साधन का उपदेश दिया गया है । वृक्षों की मूलों के नीचे अथवा निःशब्द सूने स्थानों में ही ध्यान लगाना सिखाया गया है[1] । उरुविल्व के वन में ही, किसी नेरंजरा के तीर पर ही, रात्रि के अन्तिम याम (ब्रह्म मुहूर्त) में ही, किसी सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव हो सकता है । चूंकि भारत में ऐसे ध्यान-योग्य स्थानों का अभाव नहीं है, इसलिए हम कथन-मार्ग से इनकी पृष्ठभूमि में रखकर भारतीय अध्यात्म-विद्या के स्वरूप निर्णय का प्रस्ताव कर सकते हैं। उनके बन्धनों से तो इसे कदापि बांध नहीं सकते। यह ठीक है कि जैसे रंगमञ्च की विशिष्ट रचना और स्वरूप से अभिनेय वस्तु बहुत कुछ अनुमानित और निर्धारित होती है, उसी प्रकार किसी देश विशेष के भौतिक उपादान जैसे जलवायु, प्राकृतिक स्थिति, नदी, पर्वत आदि उसके निवासियों की बहुविध शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों में अपना प्रतिबिम्ब डालते हैं, क्योंकि वास्तव में वे समष्टि रूप में मनुष्य के अन्तःकरण के ही बाह्य स्थित रूप मात्र होते हैं और इसलिए स्थूल रूप से देखने पर वे मनुष्य की शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों पर अपना

१२।२२-३३; जोह्न ४।११-१५; ६।२७; ६।४८-५६ आदि; मिलाइये, भोजनाच्छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवाः; तथा गीता ९।२२ आदि।

(१) अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । न्यायसूत्रः ४।२।४२; उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनां धिया विप्रो अजायत । ऋ० ८।६।२८; मिलाइये, श्वेताश्वतर, २।१०; गीता ६।११-१२; समान बौद्ध दृष्टिकोण के लिए मिलाइये, 'वन्य जानवरों से सेवित एकान्त निःशंक स्थान में भिक्षु समाधि लगाने के लिए रहे' थेरगाथा, मिलिन्दपञ्ह ओपम्म कथापञ्ह में उद्धृत, देखिए मिलिन्द प्रश्न का हिन्दी अनुवाद (भिक्षुजगदीश काश्यप कृत) पृष्ठ ५४७; मिलाइये वहीं पृष्ठ ४६०; ४६२-६३; ४७३ आदि; जैन दर्शन में समान भावना के लिये देखिये तत्त्वार्थ-सूत्र ७।६

प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते[१]। सभी 'नाम' और 'रूप'[२] (बौद्ध प्रयोग) अर्थात् सभी स्थूल भूत और सभी सूक्ष्म मानसिक धर्म, अन्ततः अन्योन्याश्रित हैं और उनकी पारस्परिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न अनेक विशिष्ट स्वभावों और स्वरूपों में अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा व्याप्तिभाव सदा रहता ही है। जड़ और चेतन में ग्रन्थि पड़े बिना नहीं मानती, फिर चाहे 'रूप' (बौद्ध प्रयोग) कुछ-स्थिर सा दिखाई पड़े और चित्त अथवा विज्ञान (चेतसिकों सहित) दीपक की ज्योति की तरह, अथवा नदी के स्रोत की तरह, सतत परिवर्तन-शील। अन्त में विभेद केवल गतिवत्ता और तीव्रता की श्रेणियों में ही रहता है[३], अन्यथा दोनों एक ही कारणवाद के दो बाह्य और आन्तरिक स्वरूप मात्र हैं। फिर आधुनिक मनोविज्ञान में जिनकी 'परम्परा' और 'प्रतिवेश' के नाम से अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या की गई है वे भी सांख्य-योग में निर्दिष्ट वृत्ति और संस्कार की तरह[४] आपस में अन्योन्याश्रय भाव से मिले हुए, व्यष्टि और समष्टि रूप में, मनुष्य के कार्य-कलाप को निर्धारित करते और उसकी सीमा को बाँधते ही हैं। अतः जब कि भौतिक और भौगोलिक प्रभावों से साधारण रूप से किसी भी देश की और विशेषतः भारत की विचार परम्परा को अस्पृष्ट नहीं माना जा सकता, उनके प्रकाश में उसकी समग्र व्याख्या भी नहीं की जा सकती है। अर्थ और काम सम्बन्धी सभी आवश्यक समस्याएँ, 'परम्परा' और -'प्रतिवेश' सम्बन्धी सभी व्यावहारिक सिद्धान्त, देश और काल सम्बन्धी सभी मर्यादित विचार, द्रव्य के संचय, उपभोग और विभाजन सम्बन्धी सिद्धांत, आवश्य-कताओं की पूर्ति के द्वारा मानव-समाज सुखी बनाने के सब प्रयत्न, किसी भी व्यक्ति अथवा जाति के मानसिक व्यवहारों और प्रवृत्तियों के स्वरूपों, प्रकारों अथवा परि-

(१) यह कुछ बौद्ध विज्ञानवाद की दृष्टि से कथन है; देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में योगवासिष्ठ के भी एतत्सम्बन्धी सिद्धान्त। यहाँ साधारण कथन ही अपेक्षित है, किसी सिद्धान्त का निरूपण नहीं। 'अधिभूत' की 'अध्यात्म' पर प्रतिक्रिया होती ही है, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) 'जितनी स्थूल चीजें हैं सभी रूप हैं और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं सभी नाम हैं' मिलिन्द पञ्हो, लक्खणपञ्हो, दुतियो वग्गो; विशेष विवेचन के लिए देखिए आगे चतुर्थ प्रकरण में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का निरूपण।

(३) फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां को इसी प्रकार का मत अभिप्रेत है।

(४) संस्काराः वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तयः। एवं वृत्ति-संस्कारचक्रमनिशमावर्तते। व्यासभाष्य १।५; मिलाइये, योगसूत्र ४।९

वर्तनों की पूरी व्याख्या नहीं कर सकते, उनके हेतुओं, उपादानों और प्रत्ययों का पूरा पता तो लगाएँगे ही कहाँ से! भारतीय आध्यात्मिकता के विषय में भी ये केवल उसकी प्राथमिक और अत्यन्त व्यावहारिक व्याख्या मात्र करते हैं, उसके गम्भीरतम तल का स्पर्श तो कभी नहीं कर सकते। अतः भारत के राजनैतिक इतिहास के भौतिक या भौगोलिक आधार के विषय में चाहे जो कुछ कहा जाय, उसकी अद्वितीय महिमाशालिनी, जाति और धर्म के बन्धनों से सर्वथा रहित, देश और काल की भावनाओं से अधिकांश में विमुक्त भारतीय दर्शन-परम्परा सामाजिक आन्दोलनों के बजाय व्यक्तिगत साधना और तपस्या से ही अधिकतर उद्भूत हुई है। भौतिक बन्धनों से किन्हीं भी अर्थों में वह सर्वथा बांधी नहीं जा सकती। हाँ, उसकी मूल भावना को समझने के लिए उसके भौतिक स्रोतों को भी स्मरण कर लिया जाय, यह बात दूसरी है, किन्तु प्रधानता तो उन्हें किसी भी प्रकार नहीं दी जा सकती। भारतीय विचार शास्त्र की इस गहरी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को समझे बिना उसके स्वरूप का आकलम नितान्त असम्भव है, उसके किसी भी अंग की उसके दूसरे अंगों से किसी निश्चित मापदण्ड के सहारे तुलना करना तो दूर की बात है। भारत का अध्यात्म-सम्बन्धी ज्ञान ही वह मानदण्ड है जिससे हम उसकी विभिन्न विचार-प्रणालियों का कुछ अनुमापन कर सकते हैं और इस अध्यात्म ज्ञान का सामान्यतः स्वरूप क्या है, यह हम अभी आगे देखेंगे।

उसके विषय में कुछ भ्रान्तियाँ भी स्वतः निराकृत

चूंकि भारतीय दर्शन अपने मूलतम स्वरूप में आध्यात्मिक है और किसी भौतिक बुनियाद को लेकर वह खड़ा नहीं हुआ है, अतः उसके विषय में विभिन्न प्रचलित भ्रान्तियाँ भी स्वतः ही निरवकाश हो जाती हैं। यह स्थान भारतीय दर्शन सम्बन्धी विभिन्न भ्रान्तियों के निदर्शन अथवा उनके निराकरण का नहीं है, किन्तु इनके विषय में थोड़ा भी जो यहां कहा जा रहा है वह केवल इसी कारण कि भारतीय दर्शन के आध्यात्मिक स्वरूप को न समझने के कारण ही उसके विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियां प्रायः पाश्चात्य विद्वानों और उनकी प्रणाली पर विचार करने वाले कतिपय भारतीय विद्वानों को हुई हैं जिनका निराकरण योग्यतम प्रामाणिक विद्वानों के द्वारा कुछ हद तक कर भी दिया गया है[1]। यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित है कि अध्यात्म को ही अपना दृष्टिकोण बनाने के कारण मनीषी भारतीय दर्शनकारों ने

---

(१) देखिए डा० राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलोसफी, जिल्द पहली, भूमिका

दुःख-निवृत्ति को जो दर्शन के प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है और इस प्रकार दर्शन को जीवन की गम्भीरतम समस्या के साथ जोड़कर जिस अभूतपूर्व विचार को उपस्थित करने में वे समर्थ हुए हैं, अपनी इस प्रवृत्ति के कारण दुःखवादी भी बना दिए गए हैं। इसका अधिक निराकरण तो, जहाँ तक बौद्ध दर्शन-से सम्बन्ध है, हम आगे यथास्थान करेंगे, किन्तु यहाँ अन्य दर्शनों के भी स्पष्टीकरण में कुछ कहना हमारे लिए मूल विषय से बहुत अधिक दूर जाना होगा। इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि स्वप्नशीलता, परम्परावाद, मूढ़ग्राहिता, जगत् को मिथ्या कहना एवं निराशावाद का प्रचार करना आदि जो आक्षेप भारतीय दर्शन पर किए गए हैं, वे उसके आध्यात्मिक स्वरूप के अज्ञान अथवा अल्पज्ञान के कारण ही हैं। वस्तुतः भारतीय दर्शन जीवन के विषय में सोचने के लिये हमें बाध्य करता है, जगाने का काम करता है। यदि हम भारतीय मनीषियों के हृदयों को उद्वेलित करने वाली गहरी भावनाओं का कुछ भी पता लगा सकें तो इस प्रकार की अनर्गल बातें कहने का साहस नहीं कर सकते। जीवन की सुगूढ़ समस्याओं के अन्तस्तल की खोज करते हुए उन्होंने उनके समाधान-स्वरूप जिन परिणामों को प्राप्त किया है उनका महत्त्व उस सब ज्ञान से अतीत है जिसे आज तक मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में प्राप्त किया है। सभी भारतीय दर्शन, फिर चाहे वह बौद्ध दर्शन हो या जैन दर्शन, सांख्य दर्शन हो अथवा मीमांसा दर्शन, जीवन की गम्भीरता और परिपूर्णता के पक्षपाती हैं, सभी मनुष्य को उसकी वर्तमान दयनीय अवस्था से उठाकर यहीं जीते जी उसे ऐसी अवस्था में पहुँचाने के इच्छुक हैं जहां भौतिक बन्धनों की दासता नहीं है, मृत्यु के पाशों की जहां गति नहीं है और मनुष्यत्व की महिमा का जहां कहीं अस्त होना नहीं है। भारतीय दर्शन के इस तत्व को जो पहचानता है, वह उसे कभी आलस्य का समर्थक, परम्परावाद का विधायक अथवा मिथ्यावाद का शिक्षक कह नहीं सकता। यहां तो सब प्रकाश ही प्रकाश है और उसका जो अपने में अवतरण करता है उसके लिये आत्ममय ही सबकी सत्ता है जिससे यह समग्र वरिष्ठ विश्व व्याप्त है। यहां सन्देह या भ्रान्ति का अवकाश नहीं है।

भारत का पराविद्या सम्बन्धी प्रेम, अक्षर के अधिगम के प्रति उसका समस्त महान् उद्योग[1], उसके अपराविद्या सम्बन्धी निरादर का सूचक नहीं।

(१) अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक० १।१५; मिलाइये, 'I apply the term transcendental to all knowledge

भारत का पराविद्या सम्बन्धी अभिनिवेश उसके अपराविद्या संबंधी निरादर का सूचक नहीं

पराविद्या को सर्वोच्च ज्ञान मानते हुए भी भारत ने अपने निःश्रेयस रूप परम अभीष्ट के सम्पादन के लिये साधन रूप इस 'प्रेय' विषया अपरा विद्या के प्रभूत माहात्म्य का भी साक्षात्कार न किया हो अथवा उसका उसी प्रकार सर्वथा बहिष्कार कर दिया हो, जिस प्रकार मुर्दा जलाने के बाद श्मशान की घड़िया का लोग कर देते हैं, ऐसा हम नहीं कह सकते। आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों ही विषयों में सदियों तक भारत ने संसार का नेतृत्व किया। यद्यपि यह ठीक है कि विशेषतः तत्वान्वेषी, परमार्थपरायण और जन्ममरण की निरन्तर दुःखपूर्ण यात्रा को अन्त करने के लिए सर्वात्मबोध सम्पन्न, निमीलित-नेत्र, प्रसंख्यानपर ध्यानी के रूप में ही संसार को उसने अपना अधिक परिचय, दिया है[1], किन्तु अभ्युदय और निःश्रेयस, प्रवृत्ति और निवृत्ति[2], पितृयान और देवयान[3], व्यवहार और

---

which is not so much occupied with objects as with the mode of our cognition of these objects, so far as this mode of cognition is possible a priori. A system of such conceptions would be called transcendental Philosophy' काण्ट : क्रिटीक ऑव प्योर रीजन, पृष्ठ ३८

(१) क्योंकि, यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक सूत्र १।२।४; अभ्युदयफलं धर्मज्ञानं तच्चानुष्ठानापेक्षम्। निःश्रेयसफलं तु ब्रह्मविज्ञान' न चानुष्ठानान्तरापेक्षम्। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।१; स्वारथ औ परमारथ हू कीं नहिं कुंजरो नरो; स्वारथ परमारथ साथिन सो भुज उठाइ कहौं टेरे (विनय-पत्रिका पद क्रमशः २२६।२२) एवं; मनुष्य एव विशेषतोऽभ्युदय निःश्रेयस साधनेऽधिकृतः। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।४।१९

(२) द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभावितः। महाभारत, शान्ति, २४१।६, शांकर भाष्य ईश० २ में उद्धृत; मिलाइये गीता ३।३; ३।५; ५।२-४; कर्म प्रवृत्तं च निवृत्तमप्यृतं वेदे विविच्योभयलिंगमाश्रितम्। भागवत ४।४।२०

(३) द्वे स्रुती अश्रणवम् पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ऋ० १०।८८।१५; मिलाइये; वहीं १।७२।७; २।९६।२; त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः

परमार्थ[1] उसके लिए दो सर्वथा भिन्न-भिन्न मार्ग नहीं थे, बल्कि एक ही सत्य तक पहुँचने के लिए दो सीढ़ियाँ मात्र थीं, एक नीचे और एक ऊपर की, जिनके सामञ्जस्य का विधान ही उसकी संस्कृति का प्राण है, उसके जीवन का स्पन्दन है। प्रवृत्ति की पराकाष्ठा में उसने निवृत्ति के दर्शन किए और निवृत्ति भी उसकी प्रवृत्ति से पराङ्मुख करने वाली नहीं थी[2]। 'कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म'[3], देखने का सत्य सबसे पहले उसी को उद्भासित हुआ। न केवल अध्यात्म सम्बन्धी विषय ही जो निश्चय ही भारतीय दर्शन के सर्वस्व और समग्र भारतीय जातीय जीवन, व्यक्तित्व और चैतन्य के सर्वोत्तम प्रतीक हैं, उसकी जिज्ञासा के एक मात्र क्षेत्र रहे बल्कि भौतिक और मानव जगत् के कई महत्त्वपूर्ण पहलुओं का

पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको क्षिया देवलोको, देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति। बृहदारण्यक० १।५।१६; मिलाइये छान्दोग्य० ५।१०।८; अनृणा अस्मिन्ननृणा परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथे अनृणा आक्षियेम। अथर्व ६।११७।३; मिलाइये अथर्व० ३।१५।२

(१) व्यवहारमनुपाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। मूल माध्यमिककारिका, अध्याय २४; भेदज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २।१।२२; असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। वाक्यपदीय

(२) निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी। योगवासिष्ठ ; कर्मोऽपि विदुषोऽकर्म सम्पद्यते। गीता शांकर भाष्य ४।२४; देखिए गीता अध्याय ३; ४।१५ ; १८।४७; १८।४९ आदि।

(३) कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः सः कृत्स्नकर्मकृत्। गीता ४।१८; मिलाइये कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं। गीता ४।१५; नियतं कुरु कर्मैव त्वम्। वहीं ३।८; तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर। वहीं ३।९; कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि। वहीं ३।१५; असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः। वहीं ३।१९; मिलाइये वहीं ३।२०-२१; १८।४७; नैव तस्य कृतेनार्थो" इत्यादि, वहीं ३।१८; कार्यं तस्य न विद्यते। वहीं ३।१७; नैष्कर्म सिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति। वहीं १८।४९; 'पश्यन् श्रण्वन्', आदि वहीं ३।८,९; न मां कर्माणि लिम्पन्ति। गीता ४।१४;

भी उसने वह सूक्ष्मान्वेषी पर्यवेक्षण किया जिसे देखकर मनुष्य की कल्पना आज भी स्थगित रह जाती है। बाह्य जगत् की अविच्छिन्न रूप से प्रवाह-शील सत्ता[1] का दृढ़ अनुभव करने पर भी उसने उसके 'आपेक्षिक', असत्य[2] आधार पर जिस विशाल विज्ञान-प्रासाद को खड़ा किया उसके भग्न अवशेष आज भी मूक स्वर से उद्घोष करते हुए उसकी महत्ता का साक्ष्य दे रहे हैं। जिन प्राचीन युगों में इस पुरातन भारतीय विज्ञान-प्रासाद की नींव पड़ी उनके पुरातत्व और तत्कालीन संसार के अन्य देशों की सभ्यता की अवस्था का थोड़ा-सा भी अनुमान कर लेने पर उसकी विशालता और पूर्णता के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। हमारा केवल दो तीन हजार वर्ष पहले का इतिवृत्तपरक आधुनिक इतिहास तो एक पूरे युग का भी इतिहास नहीं है। ज्ञान की अनन्तता की दृष्टि में, जिसके अनुसार हमारे हजारों युगों पर्यन्त का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने ही सुदीर्घ परिमाण की जिसकी एक लघु रात्रि[3], जिसके अनुसार उस प्रजापति के ऐसे अपने सहस्र युगों पर्यन्त से सृष्टि का प्रवाह अनन्तकाल से अविच्छिन्न रूप से बहता चला आ रहा है, अनन्त काल चक्र की इस दृष्टि में, हमारा आधुनिक विश्व इतिहास तो एक क्षणभर पूर्व उत्पन्न हुए सद्यः जात शिशु के समान भी नहीं है। फिर वह कहाँ से बतावे कि कब इस पुरातन भारतीय विज्ञान-प्रासाद की नींव पड़ी, कब और किन उपादानों को लेकर इसका निर्माण किया गया, कब इस पर ध्वजा फहराई गई और कितने युगों तक वह इस पर फहराती रही। स्पष्ट साक्ष्य तो वह केवल उन्हीं युगों का दे सकता है जिन्होंने इस भव्य प्रासाद को खण्डहर होते और इसकी विमल विभूति को टुकड़े-टुकड़े होकर जमीन पर गिरते देखा है। हाँ, उपपत्तियों और स्थापनाओं के द्वारा और काल की दूरतम और निकटतम कोटियों का अनुमापन कर वह इसके मूल-स्वरूप का किञ्चिन्मात्र निर्देश करने

(१) नदि सोतो विय (नदी के स्रोत की तरह)

(२) पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं, पारमार्थिक रूप से असत्य भी नहीं, 'सत्य-मुक्तं सत्यत्वं विकारणाम् तत्तु न परमार्थापेक्षया। किं तर्हि ? इन्द्रिय-विषयापेक्षया उक्तं। सत्यस्य परमार्थस्य उपलब्धिद्वारं भवति। छान्दोग्य-शांकरभाष्य ७।१७; तथा सत्यञ्च व्यवहारविषयं न परमार्थसत्यं। एकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म। तैत्तिरीय-शांकरभाष्य २।६

(३) मिलाइये, सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः। गीता ८।१७

का प्रयत्न अवश्य करता है। भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़कर एक समग्र चित्र उपस्थित करने का उसका यह प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य है, फिर चाहे उसके द्वारा उपस्थित किया हुआ चित्र कितना ही अपूर्ण क्यों न हो। प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक ज्ञान की हमारी वर्तमान अवस्था में यह अपूर्ण चित्र भी वास्तव में एक अमूल्य वस्तु हो सकती है, यदि इसका उपयोग सही हो। मार्शल, मैके, फ्लीट, कनिंघम, पार्जिटर, जायसवाल, स्टील, वूले, मजूमदार, मैरिग्गी, मुखर्जी, भाण्डारकर, ओझा तथा सांकृत्यायन आदि अनेक विद्वानों द्वारा उपलब्ध महान् पुरातत्व सम्बन्धी ज्ञान-राशि के आधार पर तथा उन भग्न अवशेषों के साक्ष्य पर जिन्हें काल ने भारत के साहित्यिक, कलात्मक तथा अन्य सौन्दर्य-कृतियों और सूक्ष्म शिल्पों के रूप में अभी तक बचा रक्खा है, हम देख सकते हैं कि भौतिक विज्ञान में, कला और स्थापत्य में, गणित और खगोल में, राजनीति और समाज शास्त्र में, व्यापार और शिल्प में, संक्षेप में, मानव-जीवन के क्रिया कलापों और नाना व्यापारों से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः समस्त विद्याओं में प्राचीन भारत ने अभूतपूर्व उन्नति की थी और इन विद्याओं सम्बन्धी एक महान् ऋण अथवा दान उसका संसार के ऊपर है। अतीत की कुछ बची हुई स्मृतियां हमें आज भी याद दिला रही हैं कि परोक्ष प्रिय आर्य जाति ने पहले से ही प्रकृति को मिथ्या करार देकर उसे फूंक मारकर उड़ा नहीं दिया था अपितु उसके द्वारा प्राप्य समस्त विज्ञान और समस्त भोगों को पहले उसने प्राप्त किया था और फिर उनकी अधिगति से भी अपने उच्चतम उद्देश्य की पूर्ति होते न देख उनसे निर्वेद प्राप्त कर उनसे अतीत और उच्चतर वस्तु की खोज में 'जलते हुए सिर वाले'[१] मनुष्य की तरह व्यथित होकर ही उसने प्रकृति की, उसके समस्त विज्ञान और भोग समुदाय की निष्फलता और निस्सारता (मिथ्यात्मता) को प्रमाणित किया था और फिर बाद में अपने उच्चतम वाञ्छित फल के साधन रूप में ही उन्हें स्वीकार किया था, स्वतः साध्यरूप में कभी नहीं। अपने आधिकारिक विषय की वस्तु का निरूपण करते समय हम बौद्ध-दर्शन का सम्बन्ध अन्य सभी भारतीय दर्शनों के साथ दिखाते हुए आध्यात्मिक पक्ष पर ही विशेष बल देंगे क्योंकि वही तत्व उनमें प्रधान है और उसी का जन्म-मरण सम्बन्धी मानव-जिज्ञासा के समाधान से सीधा सम्बन्ध है। अतः इन दर्शनों की भौतिक विज्ञान सम्बन्धी पृष्ठ-भूमि का यदि कुछ निदर्शन न किया जाय तो सम्भवतः ऐसी भ्रान्ति को अवकाश मिल

(१) 'दीप्तशिरा जलराशिमिव'। वेदान्तसार।

सकता है कि भारतीय विचारक सदा व्यावहारिक जगत् से आवृत्त चक्षु ही रहे, प्रत्यगात्मा के दर्शन में ही लगे रहे[1], उस अनुत्पाद्य, अविकार्य, अ-प्राप्य और अ-संस्कार्य निर्वाण[2] या कैवल्य तत्व की गवेषणा में ही लगे रहे जिसका इस जीवन से कुछ सम्बन्ध नहीं और इस सबका अत्यन्त स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि वे उन्नति के पथ से धड़ाम से गिर गए। केवल आत्मा के साम्राज्य के इच्छुक[3] वे अपने घर के साम्राज्य को भी कायम नहीं रख सके, उन्हें जो वस्तुएँ बाइबिल की भाषा में 'सीज़र' को देनी थीं उन्हें भी वे सरल बुद्धि ईश्वर को दे बैठे ! आदर्शवाद की लहर में मृत्यु की सदा भर्त्सना करते हुए और अपने को 'अमृत के पुत्र' कहते हुए[4] तथा अपने यहाँ शूरवीरों के ही

(१) प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् । कठ० २।१।१; यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त । यजु० ३२।१०

(२) देखिए ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।४ तथा आगे पांचवें प्रकरण में मिलाइये बौद्ध और शांकर मत के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों की तुलना ।

(३) कुछ कुछ इस प्रकार, यदजः प्रथमं सम्बभूव सह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् । अथर्व० १०।७।३१; ...ब्रह्म समं पश्यन्नात्मयाजी वै स्वराज्यमधिगच्छति । मनु० १२।९१ (स्वेन राजते प्रकाशत इति स्वराट् ब्रह्म तस्य भावः स्वाराज्यं ब्रह्मत्वम्, उक्त पर कुल्लूक भट्ट); सहस्रं साकमर्चत परिष्टो मत विंशतिः शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम् । ऋ० १।८०।९; या यद्वामीय चक्षुषा मित्र वयं च सूरयः । व्यचिष्ठे बहुपाय्ये पते महि स्वराज्ये । ऋ० ५।६६।६; अस्य हि स्वयशस्तरं सवितुः क्वचन प्रियं न मिनन्ति स्वराज्यम् । ऋ० ५।८८।२; आप्नोति स्वाराज्यम् । तैत्तिरीय० १।६।२; स स्वराड् भवति । छान्दोग्य० ७।२५।२

(४) यथा, परं मृत्यो अनुपरेहि पन्थां यस्ते स्व इतरो देवयानात् । चक्षुष्मते गुणवते ते ब्रवीमि मा नः प्रजारीरिषो मोत वीरान् । ऋ० ३०।२।१८; श्रण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि दिव्यानि तस्थुः ऋ० १०। ११३; इमे जीवेभ्यः परिधद धानि मैषां नु गाद परो अव मतम् । शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तं मृत्युं दधतां पर्वतेन । ऋ० ३०।२।१८; मा वो मृत्युः परिव्यथा । प्रश्न० ६

जन्म की सदा कामना करते हुए[1] वे अपने इतिहास में उस दशा को पहुँचे जब कि मृत्यु भी उन पर तरस खाने लगी। वे मृत्यु के 'वितत' पाश में ग्रसित हो गये। 'ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्'[2]। किन्तु यह सब एक अत्यन्त गलत निष्कर्ष होगा जिसके विवेचन में हम यहाँ प्रवृत्त नहीं हो सकते, क्योंकि हमारा प्रधान विषय भारत के भौतिक विषयों सम्बन्धी ज्ञान का निरूपण नहीं, बल्कि उसकी एक अद्वितीय महिमा-शालिनी विचार-प्रणाली का जो नितान्त रूप में आध्यात्मिक है अन्य उसी के समान स्वरूप वाली विचार-प्रवृत्तियों के साथ सम्बन्ध दिखाना ही है। किन्तु फिर भी यह कहना आवश्यक होगा कि चूंकि इन विचार-प्रणालियों में विशेषतः भौतिक ज्ञान सम्बन्धी विचार उपलब्ध नहीं होता (सांख्य, वैशेषिक आदि के विषय में तो, जैसा कि हम आगे कहेंगे, यह कहना कभी ठीक नहीं) तो हमारे यह समझने का कोई कारण नहीं कि इनकी पृष्ठभूमि में एक महान् भौतिक विचार की परम्परा जरूर न रही होगी जिसकी पीठ पर सवार होकर ही और जिससे अतीत ज्ञान की गवेषणा में ही ये दर्शन प्रवृत्त हुए होंगे। ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि भारत की अध्यात्म विद्या की परम्परा प्रारम्भ से ही एक महान् भौतिक उन्नति की अपेक्षा रखती है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि ऐतिहासिक तौर पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि सर्वविध भौतिक उन्नति करके ही भारतीय अध्यात्म विद्या की गवेषणा में प्रवृत्त हुए थे। जो यहाँ तात्पर्य है वह केवल यही है कि भौतिक पक्ष का महत्व भी भारतीयों को अज्ञात न था और उस पर सामान्य रूप से विचार कर के ही और उसे अपूर्ण और 'अनात्म' पाकर ही वे उससे अतीत वस्तु की गवेषणा में लगे थे। वैसे मानवीय मस्तिष्क के विकास का क्रम भी यह है कि वह अचित्, अनात्म और अनित्य का सम्यक् विवेचन करके ही चित्, आत्मा और नित्य की ओर प्रगमन करता है, असत् और अपूर्ण की जाँच पड़ताल करके ही सत् और पूर्ण की उपलब्धि करता है, सान्त, परिच्छिन्न, निरुक्त और अल्प का पूर्ण अन्वेषण करने के उपरान्त ही अनन्त, अपरिच्छिन्न, अनिरुक्त और भूमा में अपने को मिलाने का प्रयत्न करता है। 'प्रकृति' को जाने बिना कोई सांख्य साधक 'पुरुष' से उसका किस प्रकार विवेक करेगा? 'दृश्य' को समझे बिना कोई योगी (पातंजल) किस प्रकार 'द्रष्टा' से उसके 'हेयहेतु' संयोग की निवृत्ति कर सकेगा,

(१) यथा 'आ ब्रह्मन्.... राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्' यजु० २२।२२

(२) उपनिषद्।

'स्वरूप' में प्रतिष्ठा पा सकेगा ? 'विषय' और उसके धर्मों को समझे बिना कोई अद्वैत-वेदान्ती भी किस प्रकार उसके 'अध्यास' से प्रत्यगात्म रूप 'विषयी' को मुक्त रख सकेगा ? प्रत्येक दशा में प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान तो उसके लिए अपेक्षित है ही[1] । फिर एक ऐतिहासिक तथ्य यह भी है कि सामाजिक स्थिरता और भौतिक समृद्धि तथा सम्पन्नता की एक साधारण अवस्था में ही दार्शनिक चिन्ताएँ पनप सकती हैं और एक असभ्य अथवा अर्धसभ्य एवं अव्यवस्थित समाज में वे सम्भव नहीं[2] । हम जानते हैं कि उपनिषत्काल से बहुत पहले ही भारतीय भौतिक चिन्तन की एक विशेष रूप-रेखा बन चुकी थी और भारतीय समाज संस्थापन एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर चुका था। तब से ठीक अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक, जो यूरोप में व्यावसायिक क्रान्ति के प्रारम्भ का समय है, भारत सभी भौतिक विषयों में संसार का सिरमौर था। किन्तु उसी समय एक महती आत्म-विस्मृति अथवा मूर्च्छा का शिकार उसे बन जाना पड़ा जिससे अभी उसने मुक्ति पाई है। अस्तु, भारतीय ज्ञान भौतिक क्षेत्र में भी महान् है और यदि उसकी आध्यात्मिक दार्शनिक प्रणालियों के एकांगी चित्र को देखकर कोई यह भी कहे कि भारत तो केवल स्वप्न लोक का निवासी, अकिञ्चनता का उपासक और केवल दासता का ही उत्तराधिकारी रहा है तो उसे सिवाय आधुनिक भारत के फुंकार भरते हुए जातीय चैतन्य के दिखाने के और उत्तर ही देने की क्या जरूरत है ? किन्तु फिर भी भारतीय विचार की आत्मा का अधिवास उसके भौतिक चिन्तन या महत्व में नहीं, बल्कि उसके आध्यात्मिक मन्तव्यों में है। भारत ने भौतिक तत्व के महत्व को भी इस संघर्ष-मय जगत् में अच्छी तरह जाना है और आज भी जानता है, किन्तु तरीके उसके सदा दैवी ही रहे हैं, पाशविक कभी नहीं। केवल भौतिक तत्व की अस्थिर भित्ति पर अपने अस्तित्व को कायम रखने की चेष्टा में ग्रीस और रोम, नोसास और काल्दिया, बाबुल और मिश्र, असीरिया और फिनीशिया, अपनी प्राचीन

(१) देखिए इस दृष्टिकोण को लेकर आगे पाँचवें प्रकरण में उपर्युक्त दर्शनों के विवेचन।

(२) मिलाइये, राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २१-२२; वेणी माधव बाडुआ : हिस्ट्री ऑव प्री बुद्धिस्टिक फ़िलॉसफ़ी, पृष्ठ २; मैक्समुलर : हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २९१ (पाणिनि आफ़िस संस्करण)

संस्कृतियों के अस्तित्व को खो बैठे हैं, किन्तु भारत ने किसी भी बाह्य आधार पर अपने अस्तित्व को नहीं लटकाया, उसने स्फिक्स नहीं बनाए, पिरेमिड नहीं खड़े किए। उसने ध्यानस्थ होकर ऋचाएँ रचीं, वेद मन्त्र गाए। स्फिक्स और पिरेमिड आज भग्न हो चुके हैं और जो अवशिष्ट हैं उन पर काल की दृष्टि है। सीज़र और सिकन्दर की विजयें आज कहाँ हैं? ताज क्या सदा रहेगा? किन्तु देश और काल की सीमा से परे भारतीय विचारकों की वह शाश्वत सत्य पर आधारित विचार-परम्परा जो स्वाभाविक विरासत के रूप में हमें मिली है, सदा अमर रहेगी। उसी का पर्यवेक्षण करते हुए आज भारतीय मनीषियों के भौतिक विज्ञान सम्बन्धी विचारों के पर्यालोचन का हमारे पास अवकाश नहीं है। फिर भी कुछ अप्रसंग में पड़ प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों की भारतीय भौतिक उन्नति के किंचित् दिग्दर्शन द्वारा हम यहां यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार एक अत्यन्त पुरातन युग में भौतिक चिन्तन के शिखर पर चढ़कर भी भारतीय मनीषा को शान्ति न मिली और तब उसने अध्यात्म विद्या सम्बन्धी जिज्ञासा की, जिसमें उसे जीवन और जगत् का समाधान मिला।

भारत भूमि मानव-सभ्यता की आदि जननी और मानव-जाति की सामान्य धात्री रही है। कवि-गुरु के शब्दों में—

प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युगों की विभिन्न विषय सम्बन्धी भौतिक उन्नति के कतिपय दिग्दर्शन से उक्त तथ्य (कि भारत ने अपराविद्या का निरादर नहीं किया) की सिद्धि

प्रथम प्रभात उदय तव गगने
प्रथम सामरव तव तपोवने।
प्रथम प्रचारित तव वन भवने
ज्ञान धर्म कत काव्य काहिनी[1]॥

मनुष्य की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध में आधुनिक विज्ञान के आधार पर जो विविध विषयक अध्ययन हुए हैं और वनस्पति विज्ञान, जातिविज्ञान, मानव-वंश-विज्ञान, जीव-विज्ञान, तुलनात्मक भाषा विज्ञान तथा प्राचीन बर्तनों सम्बन्धी जो नवीन गवेषणाएँ हुई हैं, वे सब इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं कि भारत के तपोवनों और आश्रमों में ही मानव-संस्कृति ने प्रथम जन्म पाया और उन्हीं में उसका

(१) रवीन्द्रनाथ ठाकुर: श्री राधाकुमुद मुखोपाध्याय के लेख 'भारतीय सभ्यतार प्राचीनता' प्रवासी आषाढ़ १३४४, पृष्ठ ३४७ में उद्धृत।

पोषण भी हुआ। भूतत्वविद्, नृतत्वविद् और प्राणितत्वविद् आज सब एक स्वर से कह रहे हैं कि न केवल सभ्यता के ही बल्कि जीवन के प्रथम उन्मेष का आदि स्थान भारतभूमि ही है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने प्रागैतिहासिक विश्व-इतिहास को चार भागों में बाँटा है, यथा प्रथम हिम-युग (तीन लाख वर्ष पूर्व), द्वितीय हिम-युग (दो लाख वर्ष पूर्व), तृतीय हिम-युग (एक लाख वर्ष पूर्व) और चतुर्थ हिम-युग (पचास हजार वर्ष पूर्व) । इस वर्गीकरण के अनुसार उत्तर पाषाण युग (३५ से २५ हजार ई० पूर्व) में पर्वत, उपत्यकाओं और समतल भूमि के एक निश्चित स्थिति में आने पर पशु-पालन, कृषि और मिट्टी के बर्तनों आदि का निर्माण सबसे पहले भारत में आरम्भ हुआ। यहीं अनाज पैदा कर और पशुओं को जीवनोपयोगी कलाओं में प्रयुक्त कर मनुष्य ने अपनी संस्कृति का उद्घाटन किया, जिसका आरम्भ कृषि से हुआ। सिन्धुतटस्थ सभ्यता (ई० पूर्व ३२५० से ई० पूर्व २७५० तक) में बैल, भैंस, सुअर, ऊँट आदि जानवरों के पाले जाने के जो चिन्ह मिले हैं उनसे सिद्ध किया गया है कि पशुओं के पालने का प्रारम्भ सिन्धु नदी के तट पर ही हुआ और यहीं पर पहली बार बैल को रथ में जोतकर भारतीय कृषक ने विश्व-संस्कृति के मार्ग को प्रशस्त किया। वनस्पति शास्त्र की नवीनतम खोजों के अनुसार मानव-सभ्यता के उद्भव और विकास की गाथा अन्ततोगत्वा गेहूँ के उद्भव और विकास की गाथा है[1]। अमेरिका और यूरोप के वनस्पति शास्त्रियों द्वारा सिद्ध किया गया है कि खाद्य गेहूँ का उत्पादन सबसे पहले हिन्दुकुश और हिमालय के मध्यवर्ती प्रदेश में ही हुआ और इस प्रकार इसी प्रदेश में मानव-सभ्यता की प्रथम क्रीड़ा हुई। 'येल केम्ब्रिज ऐक्सपिडिशन' के प्रसिद्ध विद्वानों ने जो संग्रह शिवालक के प्रदेश में प्राप्त किए थे उनके आधार पर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि मनुष्य का विकास सम्भवतः हिमालय के अञ्चल में कहीं उत्तर-पश्चिम पंजाब की ओर काश्मीर में हुआ जहाँ पहले 'सिवपिथेकस' नामक जबड़ा मिला था, जो पूर्ववर्ती मनुष्य का चिन्ह है[2]। इन विद्वानों के मत में 'यदि भारत समस्त मानवता का नहीं तो कम से कम प्रागैतिहासिक सभ्यता का तो पालना

---

(१) द्रष्टव्य डा० राधा कुमुद मुखोपाध्याय का लेख 'भारतीय सभ्यतार प्राचीनता' प्रवासी, आषाढ़ १३४४, पृष्ठ ३४७-३५०; मिलाइए मॉडर्न रिव्यू, जनवरी १९३९, पृष्ठ १०७।

(२) उपर्युक्त के समान ही।

अवश्य ही था[१]। डाक्टर इलियट स्मिथ की राय में 'एन्थ्रोपोयिड बन्दरों और मनुष्य के सामान्य पूर्वज सम्भवतः मायोसीन युग में उत्तरी भारत में रहते थे'[२]। प्रोफ़ेसर लल का विचार है कि 'उन मनुष्यों को ढूंढ़ने के लिए, जिनकी मुखाकृति की विशेषताएँ सबसे अच्छी तरह क्रोमेगनन मनुष्यों से मिलती हैं, हमें हिमालय के उत्तर ओर दक्षिण के प्रदेशों में ही जाना पड़ेगा'[३]। प्रसिद्ध भूगर्भ विद्या विशारद प्रोफ़ेसर बैरेल भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'मायोसीन युग के अन्त में मानव और हिमालय साथ ही साथ उत्पन्न हुए'[४]। प्रागैतिहासिक बर्तनों के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत ही सभ्यता के उद्‌गम और विकास का आदिम स्थान है और ईसा के ३००० वर्ष पर्व सिन्धु नदी की घाटी के निवासियों ने अपने विचार और संस्कृति यूफ्रेट नदी की घाटी के सुदूर केन्द्रों तक प्रसारित किए थे। फ़ारिस और मैसोपोटेमिया के प्राचीन प्रागैतिहासिक शहरों में जो बर्तन और मुहरें मिली हैं वे सब उस विषय के विद्वानों के विचार में सिन्धु नदी की घाटी की बनी हुई हैं। तैल अस्मर की प्रसिद्ध मुद्राएँ भी भारतीय कारीगरी के नमूने सिद्ध की जा चुकी हैं और इसी प्रकार मोहनजादरो और हरप्पा की खुदाई में प्राप्त बर्तन भारत की प्रागैतिहासिक कारीगरी को बलोचिस्तान और ईरान में ले जाया जाना सिद्ध करते हैं[५]। तुलनात्मक भाषा विज्ञान का साक्ष्य यद्यपि इस विषय में बहुत कुछ अस्थिर है, किन्तु यदि आचार्य मैक्समुलर का यह सूत्रात्मक कथन कि मनुष्य जाति के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में उन्नीसवीं शताब्दी में जो कुछ भी अत्यन्त महत्वपूर्ण अनुसन्धान हुआ है, उसमें सब से बड़ा आविष्कार क्या है, यदि यह उनसे पूछा जाय तो वे केवल कहेंगे—संस्कृत द्यौः पितर् = ग्रीक ज़ेयस पेटर = लैटिन जूपिटर = प्राचीन नॉर्स टर'[६], ठीक मान लिया जाय तो हम कह सकते हैं कि इसी सूत्रात्मक वाक्य में भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण प्राचीन स्वरूप का भी तत्व निहित है। यद्यपि आर्यों के आदिम निवास स्थान को लेकर कोई निश्चित मत आज तक उपस्थित किया नहीं जा सका है और उत्तरी ध्रुव से लेकर ठीक सिन्धु नदी

(१-४) उपर्युक्त के समान ही।

(५) देखिए 'प्रवासी', आषाढ़ १३४४, पृष्ठ ३४८ तथा मॉडर्न रिव्यू, जनवरी १९३९, पृष्ठ ७७-७९ तथा पृष्ठ ११५ भी।

(६) उद्धरण के लिए देखिए रमेशचन्द्र दत्त : हिस्ट्री ऑव सिविलिज़ेशन इन एन्शियन्ट इण्डिया, प्रस्तावना।

की घाटी तक कोई ऐसा स्थान नहीं बचा है जिसे आर्य संस्कृति का आदिम स्थल दिखाने की चेष्टा न की गई हो[1] तथापि यह तो निश्चित ही है कि भारत-यूरोपीय भाषा का प्राचीनतम लिपिबद्ध नमूना यदि कहीं मिल सकता है तो ऋग्वेद में ही और इस ग्रन्थ का अधिकांश भाग निश्चय ही सिन्धु और गंगा के अन्तर्वेद में रचा गया था, अतः वही आर्य-सभ्यता की आदिम भूमि भी है। आर्कटिक प्रदेश, स्केन्डेनेविया अथवा मध्य एशिया को आज आर्यों का आदिम स्थान मानने को कोई तैयार नहीं है और नवीनतम गवेषणा के आधार पर निश्चय ही ऐसा कहा जा सकता है कि 'आर्य लोग कम से कम पच्चीस हजार वर्ष से भी पूर्व सप्त सिन्धव में बसे हुए थे तथा ऋग्वेद में उस समय की स्मृति और झलक है। सब के सब मन्त्र उसी समय की चर्चा नहीं करते पर ऋग्वेद-काल तभी से प्रारम्भ हुआ और ऋग्वेदीय संस्कृति का विकास सप्त सिन्धव में तब से ही शुरू हुआ'[2]। सैन्धव सभ्यता का काल चाहे हम ऋग्वेद से पूर्व मानें या पीछे, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि भारतीय ईसा के कम-से-कम ३००० वर्ष पूर्व सभ्यता की एक अच्छी सीमा प्राप्त कर चुके थे यदि सभ्यता का मापदण्ड हम समाज की कलात्मक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और सामाजिक चिन्तन की एक ऐसी लोक कल्याण विधायिनी परम्परा मानें जिसमें आर्थिक, नैतिक और राज-नैतिक संघटन के परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन को सुख और शान्ति देने की व्यवस्था की गई हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब आर्य भारत में आत्मा और जीव के, प्रकृति और पुरुष के, उन गहन प्रश्नों पर विचार कर रहे थे, समाज के उन नियमों का निर्माण कर रहे थे जिन पर एक व्यक्ति अथवा वर्ग का कल्याण दूसरे व्यक्ति अथवा वर्ग के कल्याण पर निर्भर है, उन सुन्दर वस्तुओं का सृजन कर रहे थे जो अनन्त काल तक मनुष्य की मनस्तृप्ति करती रहेंगी, उस समय उनके सजातीय भाई पृथ्वी के अन्य भागों में वन्य अवस्था में इधर-उधर घूमा करते थे, और सामाजिक संघटन की बात अभी उनके लिये शताब्दियों तक दूर थी। तत्त्व जिज्ञासा या आत्मा, मृत्यु और जीवन के प्रश्नों के विवेचन की तो बात ही क्या ! अतः हम कह सकते हैं कि मानव सभ्यता का अरुणोदय निश्चय ही भारत में हुआ और इसी भूमि पर

(१) देखिए जहागीरदार : कम्पेरेटिव फिलोलोजी ऑव इण्डो आर्यन लेंग्वेजेज, पृष्ठ ५०-५४।

(२) सम्पूर्णानन्द : आर्यों का आदि देश, पृष्ठ २६६।

मानवीय ज्ञान के सूर्य का सर्वप्रथम रश्मिपात भी हुआ जिसकी झलक हमें प्रथम बार ऋग्वेद की ऋचाओं में उपलब्ध होती है।

जब हम ऐतिहासिक युग में प्रवेश करते हैं तो हमें इस बात के निश्चय ही अनेक प्रमाण मिलते हैं कि भारत ने भौतिक क्षेत्र में विशाल उन्नति की थी। अंकगणित, बीजगणित, ज्यामित, और ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान के अपूर्व भाण्डार का आविष्कार और विकास सब से पहले भारत में ही हुआ। "बीजगणित का आविष्कार करने तथा उसे ज्योतिष और ज्यामित में प्रयोग करने का श्रेय हिन्दुओं को ही है। उन्हीं से अरब लोगों ने न केवल बीजगणित सम्बन्धी विचार ही लिए, बल्कि वे अमूल्य संख्या-चिन्ह और दश-मलव चिन्ह भी जो आज-कल यूरोप में सब जगह प्रचलित हैं और जिन्होंने गणित विज्ञान की उन्नति में अकथनीय सेवा की है, उन्हें भारतीयों से ही मिले[१]" सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गतियों का ठीक-ठीक माप, वर्ष और महीनों का विभाग, सौर और चन्द्रमासों का निरूपण, सौर राशि मण्डल, पृथ्वी की स्थिति, अपने अक्ष पर उसकी दैनिक गति, चन्द्रमा की गति और पृथ्वी से उसका अन्तर, पृथ्वी के व्यास, परिधि और गति आदि का सूक्ष्म विवेचन सर्व-प्रथम आर्यों के द्वारा ही किया गया। ज्योतिष के अतिरिक्त शिक्षा (शीक्षा) अर्थात् वर्णोच्चारण शास्त्र[२], कल्प अर्थात् वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन की व्यवस्था सम्बन्धी शास्त्र, छन्द, और निरुक्त अर्थात् शब्दों की उत्पत्ति सम्बन्धी शास्त्र[३] अत्यन्त प्राचीन काल में ही आर्यों के स्वाध्याय और मनन के विषय बन चुके थे और ज्योतिष के साथ मिलकर वेद के षडंग[४] की संज्ञा प्राप्त कर चुके थे, जिनका अध्ययन और मनन प्रत्येक ब्राह्मण के लिए आवश्यक

(१) मोनियर विलियम्स 'इण्डियन विज़्डम' पृष्ठ १८४, राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २९ में उद्धृत।

(२) अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः। तैत्तिरीय ० १।२; मिलाइये महाभाष्य, प्रथम आह्निक।

(३) वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्। काशिका वृत्ति ६।३।१०९।

(४) षडङ्गो वेदः छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा। आपस्तम्ब २।४।८; शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। मुण्डक० १।१।५

था । ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदः निष्कारणोऽध्येयो ज्ञेयश्च । इन सभी विषयों में, और विशेषकर शिक्षा, व्याकरण, छन्द और निरुक्त में, जिनकी समष्टि में हम आधुनिक भाषा विज्ञान के सम्पूर्ण विषयों को उनके वैज्ञानिक स्वरूप में देख सकते हैं, आर्यों ने अत्यन्त प्राचीन काल में आश्चर्यजनक उन्नति की थी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि भाषातत्त्व के सम्बन्ध में पाणिनि और यास्क आदि ने जो विचार हमें दिये हैं, उन्हों के आधार पर भाषा-विज्ञान नामक आधुनिक शास्त्र का जन्म हुआ है । भाषा की उत्पत्ति एवं उसके रूप और विकास के सम्बन्ध में भारतीय 'चरणों' और 'परिषदों[१]' में जिन सूक्ष्म नियमों का मनन और अनुसन्धान किया गया था वे आज भी यूरोप में एतत्सम्बन्धी महान् गवेषणाएँ होने पर भी पुराने नहीं हो पाए हैं। शिक्षा सम्बन्धी शास्त्र के प्रणेता वाभ्रव्य, अग्निवेश्य, अग्निवेश्यायन, आत्रेय, गौतम, दल्भ्य, अन्यतरेय, उक्ख्य, औपशिवि, काण्व, जातुकर्ण्य तथा माण्डूकेय[२], आदि ऋषियों के विषय में, व्याकरण शास्त्र के प्राचीन आचार्यों यथा गालव, उदीच्य, काश्यप, गार्ग्य, भारद्वाज, स्फोटायन, सेनक, शाकल्य तथा शाकटायन आदि के विषय में[३], निरुक्त शास्त्र में यास्क-पूर्व आचार्यों यथा कौत्स, और्णवाभ, क्रौष्टुकी, चर्म शिरस्, तैटीकि, कार्षायणि तथा स्थौलष्ठीवि आदि के विषय में[४] और इसी प्रकार धर्म शास्त्र में मनु, बोधायन, कात्यायन, हारीत आदि के विषय में, एवं अर्थशास्त्र में पिशुन, उशना और बृहस्पति आदि के विषय में तथा अन्य अनेक विषयों में न जाने कितने आचार्य और विचारकों की विशाल परम्पराएँ भरी पड़ी हैं, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रजातन्त्र की प्रथा भारत में वैदिक युग में थी[५], लिपि का आविष्कार हो चुका था भारत युद्ध से सात पीढ़ी पहले और कारीगरी

(१) 'चरणों' और 'परिषदों' के स्वरूप-विनिश्चय के लिए देखिए, मनु० १२।११०-१३३; याज्ञवल्क्य १।९; बृहदारण्यक ६।२ ।

(२) जिनके विषय में विस्तृत ज्ञान के लिए देखिए मैक्समुलर : एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७२-७३

(३-४) देखिए मैक्समुलर : एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ७२-७३ तथा ७७ ।

(५) देखिए अथर्व० ३।४।२; मिलाइए महापरिनिब्बाण सुत्त (राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ११८; रायज डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया : पृष्ठ २२; एक उत्तरकालीन युग में तो भारतीय इतिहास

के क्षेत्र में बढ़ई के काम, लोहार के काम, चमड़ा रँगने के काम, सिंचाई के काम, कपड़ा बुनने के काम आदि शिल्प वैदिक युग में प्रचलित थे। कपड़े बुनने का काम भी भारत में सब से पहले प्रारम्भ हुआ और विदेशों के साथ यात्रा और व्यापार की कहानी तो भारत की निश्चय ही बहुत पुरानी है। निश्चय ही सोलह-महाजन पद युग (ई० पू० आठवीं शताब्दी से ई० पूर्व छठी शताब्दी तक,) से बहुत पूर्व, वावेरु जातक और सुप्पारक जातक (ई० पूर्व० ५वीं शताब्दी) की परम्पराओं से बहुत पूर्व, ऋग्वेदीय युग में ही भारतवासी विदेशों के साथ व्यापार करते थे। वास्तुकला में देखिए तो वस्तु सामग्री का निरूपण, निर्माण-योजना, स्थल-निर्वाचन, रचनाकार्यों का विधान और उद्योग के वर्गीकरण आदि का निरूपण, शिल्पियों के विभेद, काष्ठोत्पादक वृक्षों की उपयोगिता के अनुसार श्रेणियाँ, पत्थरों और ईंटों के वर्गीकरण आदि[1] का विवेचन, मूर्ति कला में देखिए तो भारतीय मूर्तियों की ध्यानमयता, उनके निर्माणकर्ताओं की शून्यता की अपूर्व अनुभूति, देवत्व के साथ एकात्मता का उनके द्वारा अपूर्व स्थापन; चित्रकला में देखिए तो प्रारम्भ से ही उसके रूप भेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग जैसे सूक्ष्म विभेद[2], संगीत कला में देखिए तो वैदिक युग में ही

में प्रजातंत्रों की परम्परा के विषय में देखिए डा० काशीप्रसाद जायसवाल का यह कथन 'Coins along with inscriptions prove that we had before the foundation of the United States of America, the largest Federal Republican State in the यौधेय federation in the time of Samudra Gupta, comprising the large tract between the Sutlej and the Jumna' न्यूमिसमैटिक सोसायटी के उदयपुर-अधिवेशन (१९३६) पर दिए गए डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल के अभिभाषण का एक अंश। मिलाइये, स विशोऽनुव्यचलत्। तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्। अथर्व० १५।१।१-२;

(१) देखिए मयमत, अध्याय १२; मानसार शिल्पशास्त्र, अध्याय २

(२) 'These six precepts are sufficient in themselves to prove that the art of painting had been extensively

नाना प्रकार के बाजों के वर्णन, ऋचाओं के गाए जाने के अपूर्व और कठिन विधान, आदि बातें हमें वैदिक युग में दिखाई देती हैं। यह सब केवल उपलक्षण मात्र है। इस प्रकार एक अत्यन्त संक्षिप्त और परिमित रूप में हमने देखा है कि मानव-जीवन के विस्तृत कार्यक्षेत्र का कोई ऐसा महत्व-पूर्ण पहलू नहीं है जिस पर भारत ने अत्यन्त प्राचीन काल में अभूतपूर्व विचार न किया हो अथवा जिस सम्बन्धी एक महान् ऋण अथवा दान उसका संसार पर न हो। कलात्मक सृष्टि में जिस प्रकार उसका दान अद्वितीय है, उसी प्रकार व्यापार और शिल्प के ठोस व्यावहारिक क्षेत्र में भी उसने बहुत काल तक संसार का नेतृत्व किया है। भौतिक ज्ञान को ठोस जगत् में उपयोग करके भी उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया है। किन्तु उसकी भौतिक उन्नति की परम्परा में शोषण की प्रवृत्ति कभी नहीं रही। समन्वयात्मिका वृत्ति सदा उसकी संस्कृति की मूल संवेदना रही है। भारत भूमि पर अनेक संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ है और उसने सत्य के सब रूपों का आदर किया है। भौतिक उन्नति के चरम उत्कर्ष के समय में भी उसने न अपनी विचार-धारा को किसी पर लादने का प्रयत्न किया और न किसी का धार्मिक या सांस्कृतिक शोषण किया। भारत ने भौतिक क्षेत्र में एक महान् कार्य अवश्य किया, किन्तु भौतिक क्षेत्र तक ही उसका कार्य-व्यापार समाप्त नहीं हुआ। उसकी मनस्तृप्ति भौतिक उन्नति मात्र से नहीं हुई। मानव के भौतिक विकास के सभी साधनों का उसने अनुशीलन किया, और अन्त में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि 'अल्प' में, जो लौकिक उत्कर्ष का प्रतीक है, सुख नहीं है। तब फिर उसने जिज्ञासा की कि इस भौतिक जीवन से परे भी क्या कोई जीवन है, इस जगत् से परे भी क्या कोई वास्तविक जगत् है? इस जिज्ञासा ने ही भारत को जड़ से चैतन्य की ओर और विज्ञान से अध्यात्म ज्ञान की ओर अग्रसर किया।

---

investigated and deeply studied in India at a very early age' परसी ब्राउन : इण्डियन पेन्टिंग, पृष्ठ २१-२२; पुनश्च 'The 'शिल्पशास्त्र shows that a scientific method of co-ordinating the art traditions of the country in a comprehensive collection of aphorisms was a very early feature in the history of painting in India' वहीं पृष्ठ २४।

अचित् से चित्, भूत से अध्यात्म और स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रगति भारत में औपनिषद युग के प्रथम स्तर में ही

एक अत्यन्त प्राचीन काल में ही भारत को यह चिन्ता सताने लगी कि यदि इस समस्त बाह्य जगत् को जानकर भी मैं अपने को नहीं जानता तो मेरे इस सब जानने से भी क्या लाभ ? "जिससे मैं अमर नहीं होता उस सब को भी मैं लेकर क्या करूँ ?" यही भारत के भौतिक से आध्यात्मिक तत्व की ओर जाने का उपक्रम था, भारतीय दर्शन का आरम्भ था। नारदजी ने समस्त विद्याएँ पढ़ी हैं किन्तु हृदय को शान्ति नहीं मिली। "भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद को जानता हूँ। भगवन्! मैंने इतिहास-पुराण रूप पञ्चम वेद को, वेदों के वेद व्याकरण को, श्राद्ध कल्प, गति और उत्पाद ज्ञान को भी पढ़ा है। विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र को मैं जानता हूँ। देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्र विद्या, नक्षत्र विद्या भी मैं जानता हूँ। सर्प विद्या, देवजन विद्या, नृत्य, संगीत आदि का भी हे भगवन्। मैंने अच्छी तरह अध्ययन किया है[१]। किन्तु यह सब जानकर भी 'हे भगवन्! मैं केवल मन्त्रों को जानने वाला हूँ, आत्मा को जानने वाला नहीं हूँ। मैंने आप जैसों से सुना है कि आत्मा को जानने वाले लोग शोक को पार कर जाते हैं। सो हे भगवन्! मैं शोक करता हूँ। ऐसे मुझको आप शोक से पार कीजिए'[२]। भगवान् नारद और सनत्कुमार के इस आख्यान में भारत के अचित् से चित्, सान्त से अनन्त, और अल्प से भूमा की ओर बढ़ने का सारा तत्व समाया हुआ है। सम्भवतः इसी समय भगवती मैत्रेयी के हृदय से मानवता की यह सर्वश्रेष्ठ प्रार्थना भी निकली 'मुझे असत् से सत् की ओर ले चल, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल, मृत्यु से अमृत

(१) अधीहि भगव इति होपसाद सनत्कुमारं नारदस्तं होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि इति। स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाक्योवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि। छान्दोग्य० ७।१-२

(२) सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति। छान्दोग्य० ७-२

की ओर ले चल[१]। भगवान् नारद और सनत्कुमार का उपर्युक्त उपाख्यान छान्दोग्य उपनिषद् में है और भगवती मैत्रेयी की प्रार्थना बृहदारण्यक उपनिषद् में। उपनिषदों के आपेक्षिक काल-पर्याय-क्रम के विषय में महान् विप्रतिपत्तियों के होने पर भी उपर्युक्त दो उपनिषदें प्रायः सभी प्रामाणिक विद्वानों के द्वारा प्राचीनतम एवं पूर्व-बुद्धकालीन मानी गई हैं[२], जिनका निश्चित ऐतिहासिक काल कम-से-कम सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व माना जा सकता है। भगवान् नारद के द्वारा गिनाई गई विभिन्न विद्याओं के आधुनिक पर्यायवाची नामों की ओर यदि हम कुछ थोड़ा सा भी ध्यान दें[३] तो हम देख सकते हैं कि उस अज्ञात प्राचीन काल में ही जिसका इतिहास के पास कोई स्पष्ट साक्ष्य नहीं है, भारत भौतिक ज्ञान सम्बन्धी कितनी सर्वांगीण उन्नति कर चुका था और उससे अतीत ज्ञान की जिज्ञासा ने उसके हृदय में प्रवेश कर उसे कितना व्यथित बना दिया था! अध्यात्म-ज्ञान की जिस अदम्य तृषा को अनुभव करने और उसे वृद्धि देने के लिए शास्ता यीशु ने अपने शिष्यों को बहुत शताब्दियों बाद एक अन्यत्र भूखण्ड में प्रेरित किया और जिस तृषा के कुछ अस्पष्ट लक्षण जीवन को सर्वथा सुख और आशामय दृष्टिकोण से ही देखने वाले ऋग्वेदीय ऋषियों ने भी 'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्[४]' जैसी विह्वलतापूर्ण उक्तियों में प्रकट किए थे, उसी के स्पष्ट रूप को एक गहन दार्शनिक अभिव्याप्ति के साथ हम भगवान् नारद के इन शब्दों में पाते हैं 'सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु' (सो हे भगवन्! मैं शोक करता हूँ, ऐसे मुझको आप शोक से पार कीजिये)। सन्त तुकाराम के 'जरो तैसो ज्ञानवण्ड', गोस्वामी तुलसीदास जी के 'जान कहावत जानो कहा है' अथवा इंजील के 'जो अपने ज्ञान को बढ़ाता है वह केवल अपने शोक को ही बढ़ाता है[५]', ये शब्द सम्पूर्ण भौतिक विज्ञानों के वेत्ता नारद के बारे में भी कितने

(१) असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्माऽमृतं गमय। बृहदारण्यक १।३।२७

(२) देखिए राधाकृष्णन्: इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ १४२; दासगुप्त: हिस्ट्री ऑव इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३९.

(३) जिसके लिये डा० भगवान्दास का 'दर्शन का प्रयोजन' द्रष्टव्य है।

(४) पूर्ण उद्धरण के लिए देखिए आगे दूसरा प्रकरण: 'भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक विकास'।

(५) द्रष्टव्य 'बुक ऑफ़ ऐक्लैज़ियास्टीज़'।

सही हैं, यह हमारे लिये जानना कुछ कठिन नहीं है। निश्चय ही आज भी हम समग्र भौतिक विज्ञान को जानकर केवल 'नाम' मात्र को जानते हैं, केवल शब्द मात्र ही हमारे आश्रय होते हैं। यदि आत्मज्ञान का प्रकाश हमारे हृदयों में आविर्भूत नहीं होता, यदि आत्म-विद्या आकर हमारे सब भौतिक ज्ञान को प्रकाश और पूर्णता नहीं देती, ताकि अपनी चेतना को शिक्षित कर हम उसे ऊर्ध्व नैतिक धरातल पर ले जा सकें, तो केवल भौतिक वस्तुओं के संचय से हम मानव को सुखी नहीं बना सकते। इस प्रकार तो हम 'विद्या' से भी अन्धन्तम लोक में ही प्रवेश करेंगे। केवल भौतिक ज्ञान हमारा त्राता कभी नहीं बन सकता। भारत भी अपने प्राचीनतम इतिहास में एक ऐसी स्थिति में होकर गुज़रा था। निश्चय ही समस्त दृश्य जगत् को वह उस समय देख चुका था, जितना वह देख सकता था; छान चुका था, जितना वह छान सकता था, कर्म के द्वारा अर्जित लोकों का वह परीक्षण कर चुका था और इस सब प्रपञ्च को ठीक परीक्षण कर वह उसे अमृतत्व के लिए, दुःख के आत्यन्तिक निरोध के लिए, निरर्थक पा चुका था। न जाने किस अज्ञात युग में उसका यह गम्भीर निर्घोष हुआ था 'दृष्ट से उसकी सिद्धि सम्भव नहीं[१] 'भूमा ही सुख है, अल्प में सुख नहीं[२],' 'इतने से वह जाना नहीं जाता[३]' और फिर नामरूपात्मक वस्तुजगत् से ऊपर उठकर उसकी प्रतिष्ठा रूप परमार्थ सत्ता के स्पष्ट दर्शन करते हुए ही सम्भवतः उसने कहा था 'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि'[४] (यह मैं असत्य से सत्य को जाता हूँ)। प्रकृति द्वारा प्राप्य समस्त ज्ञान और भोग को विवेक की तराजू में उसने तौला था और उसे बिलकुल छूंछा पाया था, फिर सत्य की प्रतिकृति को छोड़कर वह उसके प्रकृत स्वरूप की गवेषणा में प्रवृत्त क्यों न होता? निश्चय ही दृश्य जगत् से विषण्ण भारत, अतीत, असीम ज्ञान की गवेषणा में छटपटाता भारत, प्रपञ्चोपशम की साधना में प्रवृत्त हुआ, परिपूर्ण ज्ञान स्वरूप आत्मतत्व के अनुसन्धान में लगा। ब्रह्मविद्या के दरवाज़े को उसने खटखटाया, सभी बाह्य महाभूतों को, परमाणुओं और भौतिक कारणवादों को बुलाकर उसने उनसे प्रश्न किया कि तुम्हारा प्रेरयिता कौन है? इसी प्रकार आन्तरिक देवों से, स्थूल इन्द्रियों से लेकर प्रकृति के प्रथम

(१) न दृष्टात् तत्सिद्धिः। सांख्य प्रवचन सूत्र १.२
(२) भूमा वै सुखं नाल्पे सुखमस्तीति। छान्दोग्य० ७।२४।१
(३) नैतावता विदितं भवति। बृहदारण्यक० २।१
(४) यजु० १।५

परिणाम बुद्धि तक, उसने पूछा कि तुम्हारा अधिपति कौन है ? एक निःस्तब्ध शान्ति थी ! सभी विस्मित और मूक थे ! देश, काल और कार्यकारण-भाव का वहाँ कहीं पता न था ! 'विज्ञाता को अरे किससे जाना जाय' ! यही एक विवशता थी । नाम और रूप वहां नहीं था, 'मैं' या 'मेरे' की उपलब्धि वहां नहीं थी! इन्द्रिय, उनके विषय, विज्ञान, संस्पर्श और वेदनाएँ (बौद्ध अर्थ) तो व्यवहार दशा में ही छूट गई थीं, अतः भेद वहाँ कहाँ से आता ? अनित्यता और दुःख कहाँ से प्रवेश पाते ? मृत्यु का वहाँ कहीं पता न था, क्योंकि अमृत तो भी वहाँ न था[१] । ऐसी अनिरुक्त वह अवस्था थी, ऐसी 'अजात' और 'अभूत' तत्व की वह गहरी अनुभूति थी[२], किन्तु अभाव से व्यतिरिक्त, विनाश से विपरीत । 'जड़ मोहहिं बुध होंइ सुखारे' । सभी ज्ञान की वहाँ सार्थकता थी, सभी थकावट की समाप्ति थी । पारमार्थिक अवस्था के इस प्रकार सर्वथा अनिर्वचनीय और अनिरुक्त होने पर भी औपनिषद ज्ञान ने प्रथम प्रश्न (भौतिक कारणवादों के प्रेरक सम्बन्धी) के उत्तर को 'ब्रह्म' शब्द से तथा द्वितीय प्रश्न (मानसिक कारणवादों के मूल कारण सम्बन्धी) के उत्तर को 'आत्मा' शब्द से प्रकट किया और फिर दोनों की एकात्मता को साक्षात्कार करते हुए, मोक्ष-सद्म में प्रवेश करते हुए, 'अयमात्मा ब्रह्म,' 'तत्त्वमसि' इस प्रकार से आदेश का उसने उपसंहार किया । इसी परम्परा में आने वाले किन्तु एक विपरीत प्रकार से सभी बाह्य और आन्तरिक जगत् के उपादान स्वरूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानों को 'न वह मेरा है, न वह मैं हूँ, न वह मेरा आत्मा है' इस प्रकार अनात्म वस्तु बताते हुए सम्यक् सम्बुद्ध ने प्रकृत, परम ज्ञान का मार्ग दिखाया । इतिहास को दुहराते हुए अपने ज्ञान की वर्तमान अवस्था में फिर हमें यहीं प्रश्नों का प्रश्न करना है 'को नु आत्मा किं ब्रह्म ?' 'कस्मिन्नुखलु विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' ? 'दुक्ख निरोधो कथं होति' ? क्या आत्मा है ? क्या यह ब्रह्म है ? किस एक के जान लेने पर यह सब कुछ जाना जाता है ? एवं जीवन में दुःख-निरोध किस प्रकार होता है ? आदि । ज्ञान के उच्चतम विकास के परिणामस्वरूप उठाए गए इन प्रश्नों के व्यापक समाधान पर ही न केवल सभी भारतीय दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध की, किन्तु साधारणतः मनुष्य के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन के अन्तस्तल में रहने वाली समस्याओं के भी हल निर्भर हैं । फिर जिस अक्षय पद को मनुष्य को

(१) न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि । ऋ० १०।१२९।२

(२) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन ।

खोजना है, जो सभी भौतिक निरुक्तियों से अतीत होने के कारण मानवीय विकास की उच्चतम अवस्था का परिचायक है और सभी मानवीय प्रयत्नों का स्वाभाविक पर्यवसान है (.....ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थ सिद्धेः—शंकर) वह तो 'मैं' और 'तू' के, ज्ञाता और ज्ञेय के, वास्तविक सम्बन्ध के विवेचन के बिना उपलब्ध ही नहीं हो सकता। दुःख, अनित्य और अनात्म को सुख, नित्य और आत्मा से अलग कर देखने के बिना किसी प्रकार दुःख-विमुक्ति की समस्या हल नहीं होती। इसीलिए भारतीय विचार शास्त्र में ब्रह्म-जिज्ञासा का प्रारम्भ होता है, उसकी सभी मननशील विचार-प्रणालियों का उद्भावन होता है।

अतः ज्ञान की अपरोक्ष अनुभूति पर आधारित भारतीय दर्शन में अधिकारी का संप्रश्न सदा ही अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण

जिस भारतीय दर्शन का उद्भावन उपर्युक्त प्रकार से आध्यात्मिक कारणों को लेकर हुआ और जिसमें सत्य के अपरोक्ष दर्शन अथवा दुःख-निरोध के यहीं जीते जी साक्षात्कार कर लेने पर सदा जोर दिया गया है, वह केवल बुद्धि के प्रयोग के द्वारा ज्ञातव्य नहीं। जिस प्रकार वनस्पति-शास्त्र अथवा गणितशास्त्र का विद्यार्थी नैतिक रूप से पतित होता हुआ भी अपने विज्ञान में निपुणता प्राप्त कर सकता है, वैसा अध्यात्म-ज्ञान के सम्बन्ध में कभी नहीं कहा जा सकता। हमारे सभी दर्शनकारों ने जीवन की गम्भीरतम समस्या को लेकर ही दार्शनिक विचार किया है और उनकी मान्यता है कि जब तक जीवन संस्कारी न बने, तब तक बौद्धिक उन्नति भी बन्धन का ही एक कारण बनती है। इसीलिए पहले हम देखें कि दर्शन अथवा अध्यात्म-विद्या या ब्रह्मविद्या अथवा श्रेष्ठज्ञान के अधिकारी के विषय में सभी भारतीय दर्शन क्या कहते हैं? इसे जानकर विभिन्न भारतीय दर्शनों का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण और सम्बन्ध है, तथा जीवन की पवित्रता का वे क्या मूल्य आँकते हैं, इस पर तो प्रकाश पड़ेगा ही, साथ ही हम यह भी देख सकेंगे कि तत्वज्ञान सम्बन्धी बातों में अनेक विभिन्नताएँ रखते हुए भी जहाँ तक मनुष्यता की महिमा के साक्षात्कार से सम्बन्ध है जिसका अरुणोदय चारित्र्य की प्रतिष्ठा होने पर ही जीवन में होता है, सभी भारतीय दर्शन कितनी समानता रखते हैं। अतः अत्यन्त संक्षेप में प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के साक्ष्य से हम देखेंगे कि भारतीय दर्शन में अध्यात्म-ज्ञान का अधिकारी कौन है?

अध्यात्म-ज्ञान का अधिकारी कौन ? विभिन्न भारतीय दर्शन परम्पराओं के सम्मिलित साक्ष्य से इसका निर्णय

श्रौत परम्परा की प्रायः सभी दर्शन-प्रणालियों में अधिकारी की साधन सम्पत्ति पर जोर देते हुए चित्त की शुद्धि के लिए नित्य नैमित्तिक कर्म और वर्णाश्रम धर्म प्रतिपादित कर्तव्यों के विधिवत् पूर्ण करने का प्राथमिक आदेश दिया गया है। इसी सम्बन्ध में तीन ऋणों को चुकाने की भी बात कही गई है[1]। सम्यक् सम्बुद्ध ने यद्यपि गृहविनय का भी अनुत्तर उपदेश दिया किन्तु उनके उद्देश्य के अत्यन्त गम्भीर और प्रायः सर्वातिशयी होने के कारण प्रव्रज्या को ही उन्होंने पूर्ण निर्मल मार्ग माना और इसीलिए उनके उपदेश अधिकांशतः भिक्षुओं को ही सम्बोधित किये गये। जिस प्रकार श्रौत परम्परा के दर्शनों में वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों की अध्यात्म ज्ञान की अधिगति के प्रति महत्व की स्वीकृति है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी प्रव्रज्या से पूर्व आवश्यक पारिवारिक कर्तव्यों और सामाजिक उत्तरदायित्वों की पूर्ति पर जोर दिया है। ऋण-विमुक्ति बुद्ध के धर्म-विनय में प्रव्रज्या पाने की एक आवश्यक शर्त थी। भगवान् बुद्ध ने समग्र मानव-जाति को एक मानकर सर्व-कल्याणकारी उपदेश दिया है। इसलिये वर्ण-भेद के अनुसार वहां कर्तव्य का विधान न होकर सबको विशुद्धि का समान अधिकार और आश्वासन प्राप्त है। वर्ण और आश्रम-कर्तव्य, जो सार्वजनिक दृष्टि से हितकारी हैं, अध्यात्म मार्ग में सहायक वे हो सकते हैं। फिर भी ये पूरा रास्ता तो नहीं ले जा सकते। इस बाह्य और प्राथमिक आचरण की तैयारी के समान मोक्ष-साधक के लिये प्राथमिक बौद्धिक तैयारी के विषय में भी हमें समझना चाहिये।

(१) ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। मनु० ६।३५ तथा अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान्। अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥ मनु० ६।३६-३७; गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। जाबाल० ४; मिलाइये स्वकर्मस्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्। सांख्य सूत्र ३।३५; मिलाइये नरः पितृणामनृणः प्रजाभिर्वेदैर्ऋषीणां क्रतुभिः सुराणाम्। उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः। बुद्धचरित ९।६५ (जोह्नस्टन का संस्करण)

वेद-वेदांग आदि को समझने की योग्यता तो सम्पादन करनी ही होगी, क्योंकि आचार्य कुल से वेद को पढ़कर ही तो[१], उसको जानने के लिए गुरु के पास जाकर ही तो[२], औपनिषद पुरुष सम्बन्धी प्रश्न करके ही तो[३], वेदांत विज्ञान से सुनिश्चित होने के उपरान्त ही तो[४] उस 'शास्त्रयोनि' ब्रह्म को जानना होगा[५]। बिना वेद जाने हुए उस 'बृहत्' स्वरूप को कोई किस प्रकार जानेगा[६] ? जनक जैसे अनुभव-सम्पन्न मनीषियों को भी तो उसके लिए 'अधीतवेद' और 'उक्त उपनिषत्क' होना पड़ा, सम्यक् सम्बुद्ध को भी तो अपने पहले के सहस्राब्दियों के दार्शनिक ज्ञान का पारायण करना पड़ा। फिर चाहे वैदिक ज्ञान हो, या वेदान्त सम्बन्धी ज्ञान, या सौगत मत सम्बन्धी अभिज्ञा, ये अन्ततः हमारी सहायता नहीं कर सकते। 'अनुवृत्ति' तथा 'निवृ'त्ति' सम्बन्धी नियमों को भली प्रकार जानकर भी, समग्र मीमांसा नियमों को छानकर भी, उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल अर्थवाद, और उपपत्ति इन षड्विध लिंगों[७] का भली प्रकार निरीक्षण करके भी, 'नीतार्थ' और 'नेयार्थ' सूत्रों का भली प्रकार पर्यवेक्षण करके भी, सम्पूर्ण 'नेत्तिपकरण' को घोक कर भी, महावाक्यों के अर्थों को समझने के लिए पदों के समानाधिकरण के भाव, पदों और अर्थों के विशेषण-विशेष्य भाव और प्रत्यगात्मा और पदार्थों के लक्ष्य-लक्षण भाव, इन तीन सम्बन्धों[८] को समझने की विडम्बना करके भी और भगवान् नारद के समान सारी विद्याएँ पढ़कर भी[९], मनुष्य को शान्ति अन्त में नहीं मिलती,

(१) आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य । छान्दोग्य० ८।१५।१; 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' बृहदारण्यक० ४।४।२२
(२) तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् । उपनिषद् ।
(३) त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । बृहदारण्यक ३।९।२६
(४) वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः . . . इत्यादि । मुण्डक० ३।२।६
(५) शास्त्रयोनित्वात् । ब्रह्मसूत्र १।१।३; मिलाइये, 'शास्त्रादेव प्रमाणाज्जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्माधिगम्यते,' उक्त पर शांकर भाष्य ।
(६) नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् । तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३।१२।९।७
(७) उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्य-निर्णये ॥ बृहत्संहिता; सर्व-दर्शन-संग्रह (पूर्णप्रज्ञ दर्शन) में उद्धृत ।
(८) यथा, सामान्याधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता । लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् । नैष्कर्म्य सिद्धि ३।३
(९) देखिए छान्दोग्य ० ७।१-२

शब्दों को भले ही वह जान ले, ज्ञान के मार्ग से वह बहुत दूर है[1]। अध्यात्म की अधिगति के लिए वैदिक ज्ञान की तो अपर्याप्तता है ही[2], अन्य सभी प्रकार के ज्ञान के लिए भी हमें ऐसा ही समझना चाहिए। जिस प्रकार पाण्डित्य का निरादर कर पुस्तक-ज्ञान से दूर रह कर आत्मज्ञान का साक्षात्कार करने के लिए उपनिषदें चिल्लाती हैं[3], उसी प्रकार सम्यक् सम्बुद्ध भी विभिन्न संहिताओं को जानने वाले विद्वान् को दूसरों की गायें गिनने वाले एक ग्वाले से कुछ अधिक मानने को तैयार नहीं[4]। यज्ञ-यागात्मक विधान कुछ हालतों में आवश्यक हो सकता है और कुछ हालतों में उपनिषदों या गीता की भावना के अनुसार उसकी अध्यात्म-योग से एकता भी स्थापित की जा सकती है, किन्तु वैसे साधा-

(१) मिलाइये नारद की उक्ति 'मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्' छान्दोग्य० ७।२

(२) देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन का विवरण एवं पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान', 'बौद्ध दर्शन और गीता दर्शन' तथा 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त'।

(३) पाण्डित्यं निर्विद्य, इत्यादि बृहदारण्यक ३।५।१; द्रष्टव्य वहीं ४।४।२१; तैत्तिरीय० २।४; कठ० २।२३; यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति। ऋ० १०।६।७१; स्थाणुरयं भारहारः किला-भूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। निरुक्त।

(४) बहुंपि चे संहितं भासमानो न तक्करो होति नरो पमत्तो। गोपोव गावो गणयं परेसं न भागवा सामञ्ञस्स होति। धम्मपद १।२९; अतः 'कायेनैव पठिष्यामि वाक् पाठेन तु किं भवेत्। चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं भविष्यति' बोधिचर्यावतार; ऐसी ही भावना समग्र वैदिक साहित्य का अभूतपूर्व ज्ञान सम्पादन करने के बाद भदन्त नागसेन के हृदय में भी जागी थी। देखिए "तुच्छा बत भो इमे वेदा, पलापा बत भो इमे वेदा, असारा निस्साराति विप्पटिसारी अनत्तमनो अहोसि।" मिलिन्द-पञ्हो, पृष्ठ ११; इसी प्रकार त्रिपिटक के भी अनुभव विहीन ज्ञान की असारता दिखाते हुए स्थविर धर्मरक्षित ने नागसेन से कहा था, "सेय्यथापि नागसेन गोपालको गावो रक्खति, अञ्ञे गोरसं परि-भुञ्जन्ति एवमेव खो नागसेन पुथुज्जनो तेपिटकं बुद्धवचनं धारेन्तोपि न भागी सामञ्ञस्साति।" मिलिन्द पञ्हो, पृष्ठ १९। ईसाई तत्व चिन्तन में समान भावना के लिए देखिए बुक ऑव ऐक्लेजियास्टीज़ १२।१२; मत्ती की इंजील ७।१४; ७।२१।

रणतः परमार्थ की अधिगति में वे 'अदृढ़ प्लव' के समान ही हैं[१]। सम्यक् सम्बुद्ध का एतत्सम्बन्धी विचार तो निश्चय ही उपनिषदों की भावना से आगे बढ़कर विशुद्ध ज्ञान पर अवलम्बित है जिस पर विशेष विचार करने की यहां आवश्यकता नहीं। स्वयं औपनिषद परम्परा में भी यद्यपि सभी प्रकार का कर्मकाण्ड शुभ उद्देश्य वाला होते हुए अध्यात्म मार्ग में सहायक हो सकता है[२], फिर भी यह एक सत्य है कि नित्य नैमित्तिक आदि कर्मों को विधिवत् करते हुए भी, चान्द्रायण आदि उपवासों को निभाते हुए भी, हम एक बाह्य शुद्ध कर्मकाण्डी हो सकते हैं, अन्तः शुद्ध आत्मज्ञानी कभी नहीं। जिस प्रकार कर्मकाण्ड का, उसी प्रकार जातिवाद, गोत्रवाद और आवाह-विवाह आदि का भी आत्मविद्या के साक्षात्कार के लिए त्याग करना ही होगा। उस प्रवृत्ति का[३] जिसके अनुसार कर्मकाण्ड से भिन्न प्रयोजन वाली श्रुतियों का कोई मूल्य ही नहीं है, परित्याग करना ही होगा। कुछ भी हो, कम-से-कम यहाँ अध्यात्म विद्या के अधिकार में उन आदमियों को, जिनके 'निषेकादि श्मशानान्त' संस्कार नहीं हुए हैं, रोकने वाला कोई धर्मशास्त्रकार नहीं है[४], क्योंकि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इसका दरवाजा स्त्री, पुरुष, आर्य, दास आदि सभी के

(१) देखिए पांचवें प्रकरण में आगे 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' का विवेचन।

(२) यथा मिलाइये शंकर 'काम्य वर्जितं नित्यं कर्मजातं सर्वमात्मज्ञानोत्पत्ति द्वारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतिपद्यते' बृहदारण्यकभाष्य ४।४।२२ में, देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' तथा 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त'

(३) अर्थात् पूर्वमीमांसक की प्रवृत्ति का, मिलाइये मीमांसा सूत्र १।२।१ (आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्) देखिए आगे 'बौद्ध दर्शन और पूर्व मीमांसा' सम्बन्धी विवेचन।

(४) धर्म (अर्थात् कर्मकाण्ड) के क्षेत्र में वे चाहे जो कुछ कहते रहें। "निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः। तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥ मिताक्षरा, उपोद्घात १।३ में उद्धृत। अध्यात्म-साधना में प्रत्येक प्राणी का समान रूप से अधिकार है और उसके अनुसार 'धर्म' में भी होना चाहिए। देखिए चौथे प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन' सम्बन्धी विवेचन।

लिए खुला है[1] जो वास्तव में आवश्यक साधनों की अधिगति के द्वारा सबको समान रूप से उपलब्ध है। कबीर, उपालि और सत्यकाम जाबाल इसी प्रकार इस सद्म में प्रविष्ट हुए थे और भक्त चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास जी के भी क्या बाह्य संस्कार हुए होंगे, यह भी हम भली भांति जान सकते हैं[2]। तो फिर कौन से वे महान् साधन हैं जिनकी दृष्टि में अन्य सभी बातें अल्प हैं और जिन की प्राप्ति से ही समग्र भारतीय दर्शन-परम्परा अध्यात्म की अधिगति को सम्भव मानती चली आई है ? दूसरे शब्दों में, भारतीय दर्शन की आत्मा को समझने के लिए साधन-पक्ष में हम क्या करेंगे, इसे अब हमें देखना चाहिए।

संसार के दुःखों का जिसे पूरा अनुभव नहीं हुआ, जिसने यह देखा नहीं कि जिस प्रकार कर्मों के द्वारा उपार्जित यह लोक क्षीण होता है उसी प्रकार पुण्यों के द्वारा प्राप्त परलोक भी क्षीण होता है[3], जिसने भगवान् शंकर के साथ यह महनीय अनुभव नहीं किया कि यह संसार वृक्ष, जिसपर ब्रह्मादि पक्षियों ने सत्यनामादि नामों वाले सात लोक रूपी घोंसले बना रक्खे है, जो प्राणियों के सुख, दुःख और उनसे उत्पन्न हर्ष और शोक से उत्पन्न हुए नृत्य गान, वाद्य, क्रीड़ा, आस्फोटन, हँसी, आक्रन्दन, रोदन तथा 'हाय, हाय', 'छोड़, छोड़' आदि अनेक प्रकार के शब्दों की तुमुल ध्वनि से निरन्तर गुञ्जायमान हो रहा है और तृष्णा रूप जल के सेचन से जिसका तेज बहुत बढ़ गया है, केवल वेदान्त-विहित ब्रह्मात्मैकत्वदर्शन रूप असंग शास्त्र से ही उच्छेदनीय है, अन्य किसी प्रकार नहीं[4], जिसने सम्यक् सम्बुद्ध के समान लोक को चारों ओर अन्धकार से घिरा देखकर 'किं कुसल गवेसी' होकर रोमहर्षण तप में अपने को प्रवृत्त किया

(१) देखिए पृष्ठ १४ पद संकेत ३

(२) पढ़िवो पर्‌यो न छटी छ मत रिगु जजुर अथर्वन साम को। कदाचित् यह दीनता का ही प्रकाशन हो, भक्ति की महिमा का प्रख्यापन करने के लिए ! परन्तु 'मातु पिता जग जाय तजो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई' और 'मोहि विधि हु सृज्यो अवडेरे' कुछ अधिक विह्वलता दिखाते हैं, जो प्रत्यक्ष जीवन-अनुभव पर ही आधारित हो सकती है। पूर्व के उदाहरण देते हुए भी उन्होंने कहा है बालमीकि अजामिल के कछु हुतो न साधन-सामो'। विनय-पत्रिका।

(३) तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते। छान्दोग्य० ८।१।६

(४) .,.......जन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो

नहीं अथवा यह देखा नहीं कि विभिन्न योनियों में घूमते हुए इतने परिमाण में आँसू बहाए गए हैं जितना जल भी चारों महासमुद्रों में नहीं है या इतने अस्थि-कंकाल छोड़े गए हैं जिनका स्तूप गिरिव्रज-पर्वत से भी विशाल बनेगा। और फिर तथागत की 'पच्छिमा वाचा' का अनुसरण कर जिसने दुःख का आत्यन्तिक निरोध करने के लिए यह देखा नहीं कि सभी उत्पाद्य वस्तुएँ विनाश-शील हैं और अप्रमाद के द्वारा जीवन के लक्ष्य को सम्पादन करना है, ज्ञानी महाकाश्यप के समान जिसने तीनों भवों को जलती हुई फूंस की झोंपड़ी के समान देखा नहीं या नचिकेतस् के समान अनेक प्रकार से लुभाए जाने पर भी जिसकी ऐसी बुद्धि कभी हुई नहीं कि वित्त के द्वारा भी कभी यह मनुष्य तर्पणीय हो सकता है अथवा अध्रुव पदार्थों से कभी ध्रुव पदार्थ की भी उपलब्धि हो सकती है, अर्जुन के समान विषादयुक्त और 'कार्पण्य दोषोपहतस्वभाव' होकर जिसने कृष्णरूप अपने अन्तरात्मदेव से कभी यह प्रार्थना की नहीं कि 'मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ'; ब्रह्मवादिनी भगवती मैत्रेयी के समान जो विलखा नहीं कि 'मैं इस सबको लेकर करूँ जिससे मैं अमरणशील नहीं हो सकता'[1]; व्रजगोपिकाओं[2] अथवा भगवान् चैतन्यदेव के समान कृष्ण-प्रेम में विभोर होकर जो अपने तन-मन

तृष्णाजलावसेकोद्भूतदर्पो सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीत वादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताक्रुष्टरुदित हाहा मुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृत तुमुलीभूत महारवो वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासंगशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षः । कठ शांकरभाष्य, २।३।१; मिलाइये गीता १५।१-३ पर शांकरभाष्य ।

(१) सा होवाच मैत्रेयी किमहं तेन कुर्यां येनाहं नामृतास्याम् । बृहदारण्यक० ४।५।४; मिलाइये, ये प्रजामीषिरे ते श्मशानानि भेजिरे । ये प्रजां नेषिरे तेऽमृतत्वं हि भेजिरे । वेदान्तसार की विद्वन्मनोञ्जनी टीका में उद्धृत, पृष्ठ ६९ (जेकब का संस्करण), 'किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे । किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा लोकः । बृहदारण्यक ४।४।२२; मिलाइए बृहदारण्यक ३।५।१; ४।५।१५

(२) जो कि, तन्मस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मकाः । तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मगाराणि सस्मरुः । श्रीमद्भागवत; मिलाइये, युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् । शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे ॥ मिलाइए नारदसूत्र, 'यथा च व्रजगोपिकानाम् ।'

की सुध भूला नहीं[1]; गोस्वामी तुलसीदास के समान 'मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो' ऐसी ग्लानि कर जिसने 'हौं सब विधि राम रावरो चाहत भयो चेरो' ऐसी हृदय से प्रार्थना नहीं की, महात्मा कबीरदास के समान जिसने कायारूपी चदरिया को इस जतन के साथ ओढ़ने का संकल्प किया नहीं कि अन्त समय अपने प्रभु के सामने उसे जैसी की तैसी रख दे, समर्थ रामदास के समान जिसने अपने मन को 'हे मन ! तू यह सत्य जान कि यह मृत्यु-भूमि है' इस प्रकार उद्बोधन कर 'तू भक्ताभिमानी उन राम का स्मरण कर जिनमें उपेक्षा का नाम तक नहीं, जिनको शंकर और पार्वती सदा स्मरण करते हैं और जिनका वर्णन करते-करते वेद वाणी थकती नहीं' इस प्रकार समझाया नहीं[2]; सन्त तुकाराम के समान अपने हृदय में वैराग्य की ज्वाला का सञ्चार कर, संसार की स्थिति को अच्छी तरह से जान कर और सावधान होकर विठोवा के चरण कभी छोड़ने का संकल्प जिसने किया नहीं[3], वह भारतीय दर्शन के मर्म को क्या जानेगा ? जानकर उस पर आचरण भी क्या

(१) यथा, धैर्य करिते नारि हैं लाभ उन्मत्त । हासी कान्दि नाची गाई जैं छै मदमत्त ।। तबे धैर्य करि मने करिल विचार । कृष्ण नामे ज्ञानाच्छन्न करिल आमार ।। पागल हुई लामा आमि धैर्य नहि मने । चैतन्य चरितामृत, सप्तम परिच्छेद; मिलाइए वहीं, कभू प्रेमावेशे करेन गान नर्तन । कभू भावावेशे करेन रासानुकरण ।। कभू भावोन्माद प्रभु इत उत धाय । भूमि पड़ि कभू प्रभु गड़ा गड़ी जाय । अष्टादश परिच्छेद, समुद्र-पतन ।

(२) जयाते स्मरे शैलजा शूलपाणी । नुपेक्षी कदा देव दासाभिमानी ।। मना पाहतां सत्य हे मृत्युभूमी । जितां बोलती सर्व ही जीव मीमी ।। उपेक्षा कदा राम रूपी असेना......जया वर्णिती वेदशास्त्रे पुराणे । जया चेनि योगों समाधानि वाणे । तया लागि हे सर्व चाञ्चल्य दीजे । मना सज्जना राघवी वस्ति कीजे । तुम्हीं सोडवी राम हा अन्त काली' आदि भावनाओं के लिये देखिए उनका 'मनाचे श्लोक' ।

(३) वैराग्याचा अंगी जालासे सञ्चार । अभंग ६७९; न सोडीं न सोडीं विठोवा चरण न सोडीं । भल तें जड़ पडो भारी । जीवावरी अगोज । शतखण्डदेहशस्त्र धारी, करितां परी न मीएँ । तुका म्हणे केली आधी । दृढ़ बुद्धि सावध । अभंग ४०१६; जन्ममरणांची विसरलों चिन्ता...... सखापाण्डुरंग । अभंग ३५०३

कर सकेगा ? ऐसा पुरुष तो ब्रह्मज्ञानी ज्ञानेश्वर जी के शब्दों में केवल विषय रूपी कीचड़ का दादुर और भोग रूपी जल का जलचर ही होगा[1]। विषयों की प्राप्ति के लिये ही वह परिश्रान्त होगा और अपने साढ़े तीन हाथ की कोठरी में बैठकर इन्द्रिय-जन्य विषयों का ही सेवन करेगा और अन्त में अनन्त काल तक अनेक दुःखमय योनियों में चक्कर लगाता हुआ भी अपनी इच्छाओं को पूरी न कर सकेगा। परमार्थ में साधन रूप तपस्या में वह क्यों प्रवृत्त होगा, अप्रमाद से जीवन के लक्ष्य को सम्पादन करने में वह क्यों लगेगा, सत्य कौ प्राप्ति के लिए वह क्यों कठिन-से-कठिन कष्ट सहने को तैयार होगा ? वैराग्य का अंकुश तो उसके पास ही नहीं, तपस्या की अमर शक्ति तो उसके हृदय में विद्यमान ही नहीं। तपस्या मय जीवन समस्त दार्शनिक चिन्तन को समझने के लिए आवश्यक है, भारतीय चिन्तन के लिए तो विशेष रूप से, क्योंकि भारतीय दर्शन की आत्मा ही उसका अध्यात्म है और आध्यात्मिक तत्व तपस्या की ठोस बुनियाद पर ही ठहर सकता है। तपस्या भारत के दर्शन-शास्त्र की ही नहीं, किन्तु उसके समस्त इतिहास की ही प्रस्तावना है। भारत के निखिल ज्ञान और विज्ञान की जननी, उसके जीवन की अमर भूमि एवं उसके समस्त दार्शनिक अनुशासन की प्रतिष्ठा भूमि तपस्या ही है। तपस्या से ही उसकी अद्वितीय महिमा-शालिनी संस्कृति का उदय हुआ है और तपस्या से ही हुआ उसका अप्रतिहत विकास। वास्तव में एक शब्द 'तपस्' में ही भारत के अनन्य-साधारण आध्यात्मिक विकास और उसकी बहुस्पर्शी भौतिक उन्नति की विस्तीर्ण परम्परा छिपी हुई पड़ी है। भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त और महत्त्वपूर्ण तत्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है। तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल और ओज उत्पन्न हुआ है[2]। इतना ही नहीं, उसके सुदीर्घ इतिहास में जब-जब उस पर विपत्तियों के पर्वत टूटे हैं जिन्होंने उसके अस्तित्व की जड़ों को दूर तक हिला दिया है और उसके जीवन को निराशा के घोर अन्धकार ने घेरा है तब तब वैयक्तिक और सामूहिक साधना के अमोघ बल पर ही उसमें नव जीवन, जागरण और आत्म-विश्वास की भावनाएँ सञ्चरित की गई हैं और उसके तेज को समुद्दीप्त कर उसके अस्तित्व को आज तक इस निरन्तर संघर्षमय जगत् में सर्वथा विलुप्त होने से बचाया गया है। "बुद्धकालीन भिक्षुओं की तपश्चर्या के परिणामस्वरूप

(१) ते विषय कर्दमीचे दर्दुर। ते भोगजलीं चे चलचर। सांडिती केवी। ज्ञानेश्वरी ७।२२

(२) ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं। अथर्ववेद।

ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्य संस्कृति का विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का संस्करण हुआ। महावीर स्वामी की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ। सादा और संयमी जीवन व्यतीत करके ही सिख गुरुओं ने पंजाब में जागृति की। त्याग के झण्डे के नीचे ही सीधे-सादे मराठों ने स्वराज्य की स्थापना की। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु मुख शुद्धि के लिए एक हर्र भी न रखते थे, उन्हीं से बंगाल की वैष्णव संस्कृति विकसित हुई"[१]। अतः हम कह सकते हैं कि भारत के समस्त जातीय, राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जीवन का इतिहास ही वास्तव में उसकी तपस्या का इतिहास है, उसके गूढ़ अध्यात्म-चिन्तन का विवेचन है। उसकी प्रत्येक कला, प्रत्येक विद्या, प्रत्येक शिल्प और प्रत्येक चिन्तन प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो चाहे आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है, आत्म-दर्शन की सुगन्ध से सुगन्धित है। उसके वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी विद्या के क्षेत्र जीवन की साधना रूप तपस्या के एकनिष्ठ उपासक हैं;[२] वस्तुतः भारतीय संस्कृति का जन्म और विकास उसके तपोवनों में ही हुआ है जिसकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति उसके मनीषी कवियों ने[३] भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने काव्यों में की है। यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान और स्वाध्याय आदि सभी कर्मों और साधनों का अन्तिम उच्चतम प्रयोजन और स्वाभाविक पर्यवसान योग के द्वारा आत्मा को देखना ही माना गया है। ब्रह्मा आदि पुराण महर्षियों ने विश्व के हित के लिए सहस्रों वर्ष पर्यन्त तपस्या करके अपने तपोमय तेज को ही भारतीय धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा अन्य विद्याओं के प्रभूत भाण्डार के रूप में देखा था[४]। इन सब के मूल में उन ऋषियों की वर्षों की तपस्या छिपी पड़ी है, जिसका बिना स्वयं आचरण किए हम उनके विचारों तक कभी

(१) काका कालेलकर: 'जीवन साहित्य', : द्वितीय भाग, पृष्ठ १९७-१९८

(२) मिलाइए, याज्ञवल्क्य० १।१।८; मनु० १२।८३-८५

(३) देखिए अभिज्ञान शाकुन्तल ४।९,१०,१२,१४; ७।१२ आदि; रघु० ५।६-७; १।४८-५३ १३।३६-५२; स्वप्नवासवदत्ता १।३, ५,६,९,१२ आदि; सौन्दरनन्द, प्रथम सर्ग, श्लोक १८ तक, वाल्मीकि रामायण किष्किन्धा० २७।१८-२३; अरण्य० १।१-९; वहीं ८।१२-१५; ११।३२-५२, ८०-९१ आदि, आदि। देखिए विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का अत्यन्त गम्भीर और मननपूर्ण लेख 'तपोवन' भी।

(४) मिलाइए, ब्रह्मादयो विश्वहिताय तप्त्वा परः सहस्राः शरदस्तपांसि।

पहुँच नहीं सकते। भारतीय चिन्तकों ने तपस्या के ऐसे विस्तृत और गम्भीर स्वरूप को स्वीकृत किया है जिसका उसके ठीक अर्थ में समझना हमारे लिए आज कठिन हो गया है। भारतीय ऋषि तपस्या की साधना से ही, परम पुरुष के हवि रूप में आहुति दिए जाने के फल स्वरूप ही, जगत् की सृष्टि मानते हैं[१], तपस् के द्वारा ही उनके वेद उत्पन्न हुए हैं[२], यज्ञ रूप तपस् से ही वे वर्षा की सम्भावना मानते हैं[३], तपस्या के द्वारा ही वे ब्रह्म को खोजते हैं[४] और ब्रह्मचर्य रूप तपस् से ही उन्होंने मृत्यु पर विजय पाई है[५]। तपस्या से ही उस आदि अद्वितीय तत्व का आविर्भाव हुआ[६] और उद्दीप्त तप से ही ऋत और सत्य भी उत्पन्न हुए[७]। ब्रह्मचर्य रूप तपस् से ही मुमुक्षु जन ईश्वर को पाने की इच्छा करते हैं[८] और इसी से वे ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं[९]। तपस्या से ही तपस्वी जन लोक-कल्याण का विधान करते हैं[१०]। ज्ञानी महात्मा या विचारक का

एतान्यपश्यन् मुनयः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि। उत्तर राम-चरित।

(१) देखिए पुरुष सूक्त ऋ० १०।९०

(२) तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे। मनु० ११।२४३; मिलाइए ; तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्त-स्मादजायत। ऋ० १०।९०

(३) 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यो' गीता०

(४) तपसा चीयते ब्रह्म। मुण्डक० १।१।८

(५) ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। वेद।

(६) तपसस्तन्महिना जायतैकम्। ऋ० १०।१२०।३

(७) ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ऋ० १०।१९०।१; मिलाइए, स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च। तैत्तिरीय २।६

(८) यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। कठ० १।२।१५; मिलाइए गीता ८।११; अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम्। ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये। रघु० १०।२३; 'ब्रह्मचरियं पकासेथ' विनय पिटक—महावग्ग

(९) तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति। छान्दोग्य० ८।४।३; तेषा-मेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो येषां ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठम्। प्रश्नोपनिषद्। तपसा ब्रह्मचर्येण संगत्यागेन मेधया। तत्र गत्वावतिष्ठन्ते यावदाभूत-संप्लवम्। याज्ञवल्क्य० ३।१८८

(१०) भद्रमिच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। अथर्ववेद।

आविर्भाव पर्वतों की गुफाओं या नदियों के संगम पर एकान्त साधना के परिणामस्वरूप ही होता है[1]। तपस्या की प्रशंसा करते हुए मनु ने कहा है कि तपस् से ही मनुष्य पाप को नष्ट करता, वीर्य और प्रज्ञा को प्राप्त करता एवं सब प्रकार की अपेक्षाओं से रहित होता है। तपस्या के द्वारा ही फलमूलों का अशन करने वाले ऋषिगण सचराचर त्रिलोकी को साक्षात् देखते हैं। सभी विद्याओं का साधन तपस्या है और वे उसी के द्वारा सिद्ध की जा सकती हैं। जो कुछ भी दुस्तर और दुर्लभ संसार में है, वह सब तपस्या से साध्य है। तपस्या की शक्ति 'दुरतिक्रम' है। पातकी मनुष्यों का तो कहना क्या, पशु कीड़े और पतंगे भी तपस्या से शुभ गति को प्राप्त कर सकते हैं[2]। तपस् से उद्भूत मन की शुद्धि तथा 'अनन्त' ज्ञान और 'अनन्त दर्शन' के द्वारा ही जैन दर्शन कर्म के बन्धन के विनाश (निर्जरा) का उपदेश करता है, जो मोक्ष का कारण है। भगवान् बुद्ध ने जिसे 'प्रधान' कहा है, वह 'तपस्' रूप ही है। सत्य को मनुष्य इसीलिए पाता है, क्योंकि वह प्रयत्न करता है। सत्य का बहुकारी धर्म 'प्रधान' (प्रयत्न) ही है। भिक्षु संघ के लिए उन तपस्यामय विनय के नियमों का अनुशासन भगवान् ने किया है जो भारतीय संन्यास धर्म के मूल स्तम्भ स्वरूप हैं। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध की तपस्या में मात्र शारीरिक यन्त्रणा का भाव बिलकुल नहीं था किन्तु वह सर्वथा सुख-साध्य भी नहीं थी, ऐसा हमें मानना चाहिए[3]। अस्तु, श्रौत परम्परा के अन्तर्गत ऋग्वेद, उपनिषद् ग्रन्थ और ब्राह्मण ग्रन्थों में और बौद्ध और जैन दर्शनों की साधना-पद्धतियों

(१) उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनां धिया विप्रो अजायत। ऋ० ८।६।२८।

(२) मिलाइए, ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः। तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्। मनु० ११।२३६; यद्दुस्तरं यद्दुरापं यद्दुर्गं यच्च दुष्करम्। सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्। मनु० ११।२३७; देखिए वहीं, महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्य कारिणः। तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्विषात्ततः॥ कीटाश्चादि पतंगाश्च पशवश्च वयांसि च। स्थावराणि च भूतानि दिव्यं यान्ति तपोबलात्॥ यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति...तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः॥ तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसा। इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान् संवर्द्धयन्ति च॥

(३) मिलाइए 'Though the Buddha condemned morbid ascetic practices, it is a surprise to find that the

में अत्यन्त विस्तार के साथ तपस्या की महिमा गाई गई है[1], जिसका विस्तृत विचार हम इस समय नहीं कर सकते। गोस्वामी तुलसीदासजी के मार्मिक शब्दों में तपस्या की पूरी महिमा का उपसंहार इस प्रकार किया जा सकता है :

........................तपु सुख प्रद सब दोष नसावा ॥
तप बल रचइ प्रपंच विधाता। तप बल विष्णु सकल जग त्राता ॥
तप बल संभु करहिं संहारा। तप बल शेष धरहिं महि भारा ॥
तप अधार सब सृष्टि भवानी। करउ जाइ तप अस जिय जानी ॥

चोलराज कुलोत्तुंग प्रथम के द्वारा सताए जाने पर भगवान् रामानुज ने जिस कष्टमय जीवन का धैर्य से निर्वाह किया और इस प्रकार जिस तपस्या की साधना का परिचय दिया वह उनके दर्शन से पृथक् नहीं की जा सकती और 'रामानुजार्यदिव्याज्ञा वर्धतामभिवर्धताम्' की जो गगन भेदी वाणी उनके श्रद्धालु शिष्यों द्वारा की गई उसका कारण भगवान् रामानुज की तपस्या ही थी। यह तथ्य अन्य सब कर्मठ दार्शनिकों के प्रति भी लागू किया जा सकता है। आज हमारे युग के सर्वश्रेष्ठ विचारक, प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान प्रतीक, भगवान् रामानुज के बाद हमारे सब से बड़े विचारक, विश्ववन्द्य महात्मा गाँधी ने जो हमारे राष्ट्रीय, सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में एक गम्भीर पुनर्जीवन का सञ्चार किया है वह अपने और कतिपय अपने मित्रों, सहकारियों और अनुयायियों के तपस् के बल पर ही किया है। प्राचीन काल से लेकर आज तक भारतीय ज्ञानियों ने तपस्या को, जीवन के शोध की उत्कट लगन को, एक अत्यन्त उच्च स्थान दिया है और जिसके पास तपस्या की सनद नहीं है अथवा जिसने चीर्णव्रत होकर अपने सर पर आग नहीं रख ली है[2] उसे भारतीय

---

discipline demanded of the Buddhistic brethren is more severe in some points than any referred to in the Brahmanical texts. Though theoretically Buddha admits the possibility of gaining salvation without austere asceticism, still in practice it seems to be necessary for almost all according to him. राधाकृष्णन् : 'इण्डियन फिलॉसफ़ी', जिल्द पहली, पृष्ठ ४३६।

(१) देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।

(२) तेषामेवैषां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्। मुण्डक० ३।२।१०; नैतदचीर्णव्रतोऽधीते। वहीं ३।२।११; मिलाइए

चिन्तकों के पास जाने से कोई लाभ नहीं होगा। तपस्या के द्वारा भव बन्धन को तोड़ने के प्रयत्न के अभाव में भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में सभी। शास्त्र और साधनाएँ निष्फल हैं, वणिग्वृत्ति मात्र हैं[१]। न वह दार्शनिक दार्शनिक है, न चिन्तक चिन्तक और न ज्ञानी ज्ञानी, जिसके पास संयम रूप तपस्या की अमूल्य निधि नहीं, सदाचार रूपी वित्त का जो अटल स्वामी नहीं और वस्तुओं, व्यक्तियों और अवस्थाओं के आध्यात्मिक मूल्यों के आँकने की जिसमें क्षमता नहीं। लोक कल्याण के लिए जो सर्वस्व का त्यागी नहीं, 'शिलोञ्छवृत्ति'[२] मात्र जो उपजीवी नहीं, 'कुम्भीधान' मात्र जो संग्रही नहीं, अथवा जनक वैदेह की भाँति जो 'मैं अपने लिए अपनी नाक में प्रविष्ट गन्ध की भी इच्छा नहीं करता। रस मेरे मुंह में विद्यमान हो तब भी मैं अपने लिए उसकी इच्छा नहीं करता"[३] कह कर अपने त्याग और बल का साक्ष्य नहीं दे सकता, वह ब्रह्मविद्या के दरवाजों को व्यर्थ ही खटखटाता है, व्यर्थ ही अध्यात्म चिन्तन करने और जीवन की गूढ़तम समस्याओं को हल करने का ढोंग रचता है। सम्भवतः एक दुराचारी और विषयी पुरुष भी एक महान् गणितज्ञ, ज्योतिर्विद्, विज्ञानशास्त्री अथवा विविध-शास्त्रवेत्ता हो सके किन्तु आत्म साक्षात्कार का उम्मेदवार, दुःख-निरोध का प्रयासी, शील, सदाचार, ब्रह्मचर्य और तपस् का मूर्तिमान् प्रतीक न हो, ऐसा कभी नहीं हो सकता। अमृतत्व का इच्छुक विषयों का भिक्षुक कैसे? राम का दास काम का किंकर कैसे? संसार-मार्ग से पार होने की इच्छा करने वाला उसी के मार्गों में भटकने वाला कैसे? आचार्य शंकर ने यह दो टूंक बात कही है कि एक ही पुरुष के लिए बाह्य विषयों की उधेड़-बुन में भी लगे रहना और प्रत्यगात्मा

तेषामेव संस्कृतात्मनां पात्रभूतानामेतां ब्रह्मविद्यां वदेत् ब्रूयात् शिरो व्रत शिरस्यग्नि धारण लक्षणं....वेदव्रतं प्रसिद्धम्—यैस्तु तच्चीर्णम् तेषामेव...चीर्णव्रतस्य हि विद्या फलाय संस्कृता भवन्ति। उपर्युक्त पर शांकर भाष्य।

(१) किं वेदैः स्मृतिभिः पुराण पठनैः शास्त्रैर्महाविस्तरैः। स्वर्गग्राम कुटी निवास फलदैः......मुक्त्वैकं भवबन्ध दुःख रचना विध्वंस कालानलं स्वात्मानन्द पद प्रवेश कलनं शेषा वणिग्वृत्तयः। योगिराज भर्तृहरि।

(२) मिलाइये, शिलोञ्छमप्या ददति विप्रोऽजीवन्यतस्ततः। प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते। मनु० १०।११२.

(३) देखिए पृष्ठ १७, पद संकेत ४

का भी साक्षात्कार करना, ये दोनों बातें साथ-साथ कभी सम्भव नहीं हो सकतीं[१]। बाह्य विषयासक्ति में लगे हुए पुरुष का चित्त कभी परमार्थ चिन्तन में लग ही नहीं सकता[२]। उसका मन तो विषयों में भटकने वाली इन्द्रियों के पीछे ही दौड़ता है और उसकी बुद्धि को जहाँ चाहे खींच ले जाता है, वायु जैसे पानी में नाव को[३]। इसीलिए भगवान् बुद्ध ने सावधान किया है 'भिक्षुओ, ध्यान में लगो, मत प्रमाद करो, मत तुम्हारा चित्त भोगों के चक्कर में पड़े। प्रमत्त होकर मत तुम लोहे के गोले को निगलो, ताकि बाद में 'हाय ! हाय ! यह दुःख है, ऐसा कह कर दग्ध होते हुए करुण क्रन्दन तुम्हें न करना पड़े'। इसीलिए योगिराज कृष्ण के वचनों में श्रद्धा रख, भगवान् सुगत के मार्ग पर चल, बुद्धिमान् जन विषय-सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले और आदि तथा अन्त वाले इन्द्रियजन्य सुखों में रमण नहीं करते और शरीर के छूटने से पहले ही काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को जीतकर परम सुख प्राप्त करते हैं, विमुक्ति सुख का अनुभव करते हैं[४]। मोक्ष की जिसे आकाञ्छा है, उसे अत्यन्त दूर से ही विषयों को विष के समान छोड़ना होगा, इसमें किसी भी भारतीय चिन्तक को विप्रतिपत्ति नहीं है[५]। अस्तु, काम के उपभोग में आसक्त अथवा उनकी प्राप्ति के लिए नाना शारीरिक कष्ट सहने वाले मनुष्यों के द्वारा सत्य प्राप्य नहीं और न उसकी साधना रूप तपस्या ही उनके लिए कभी अपने स्वरूप को प्रकाशित कर सकती है, क्योंकि वे प्रज्ञा से हीन, डँवाडोल बुद्धि वाले, शौच और आचार से हीन तथा 'कामोपभोग ही परम है' ऐसा मानने वाले होते हैं[६]। ज्ञान, यज्ञ, क्रिया, दर्शन, श्रवण आदि सब साधन दुष्ट भाव वाले मनुष्य के विफल होते हैं[७]। आचार-

---

(१) न हि बाह्य विषयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य सम्भवति। कठ० २।१।१ पर शांकर भाष्य।

(२) मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगि। योगवासिष्ठ।

(३) गीता० २।६७

(४) देखिए गीता० ५।२२

(५) मोक्षस्य काङ्क्षा यदि वै तवास्ति त्यजाति दूरात् विषयान् विषं यथा। आचार्य शंकर 'विवेक चूडामणि' में।

(६) 'कामोपभोग परमा एतावदिति निश्चिताः' गीता।

(७) वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च। न विप्र दुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्। मनु० २।९७

हीन को वेद पवित्र नहीं कर सकते[1], जिसमें सत्य नहीं है उसका ऋचाएँ भी क्या करेंगी अथवा ऋचाओं को लेकर भी वह क्या सम्पादन कर सकेगा ? दुश्चरित से अविरत और अकृतात्मा मनुष्यों के द्वारा सत्य के दर्शन सम्भव नहीं[2], कठिन तपश्चरण की साधना वे नहीं कर सकते, हाँ, प्रयत्नशील जन उसे अवश्य प्राप्त करते हैं फिर चाहे वे विशेषाधिकार-सम्पन्न न भी हों। तत्व-दर्शन तो वहीं निर्विघ्न होता है, जहाँ पूर्ण एकाग्रता होती है, योग तो उसी का नाम है जो चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध है और निर्विषय मन की ही तो ध्यान संज्ञा है[3]। फिर चित्त की यह एकाग्रता, वृत्तियों का यह निरोध तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वैराग्य की ज्वाला का हृदय में सञ्चार न हुआ हो, अभ्यास या कठिन प्रयत्न ने प्राणों की जब तक अन्तिम बाजी न लगा दी हो यह कह कर कि 'जब तक पुरुष के प्रयत्न से जो कुछ लभ्य है उसे प्राप्त न कर लूंगा तब तक मेरा अदम्य वीर्य न रुकेगा'। यह सब साधना ही तपस्या है जिसके बिना सत्य के दर्शन नहीं होते। मलिन चित्त में उपदेश के बीज का प्ररोह कभी नहीं देखा गया। अध्यात्म विद्या का पुष्प तो तपोनिष्ठ जीवन में ही खिलता है और उसकी सुगन्ध 'स्वर्ग की दुहिता'[4] उषस् के समान सदाचरण के ज्योतिर्मय प्रभात में ही अन्धकार को हटाती हुई और ज्ञान रूपी सूर्य के द्वारा अनुगमन की जाती हुई, चमकती है। यही अनुपम प्रभा है जो मानव-जीवन को ब्रह्म विचार के संयोग की गाँठ में बांधती है और दोनों की सार्थकता सिद्ध करती है। यही कारण है कि 'जिसका ज्ञानमय तप है'[5] इस प्रकार श्रुति ने और 'तपस् ही स्वाध्याय है'[6] इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर धर्मसूत्रकार

(१) आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः; आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्। मनु० १।१०९

(२) नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्। कठ० १।२।२४; यतन्तोऽप्यकृतात्मानः नैनं पश्यन्त्यचेतसः। गीता १५।११

(३) देखिए पाँचवें प्रकरण में सांख्य-योग दर्शन का विवेचन।

(४) दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी। ऋ० ७।७५।४; तद्वो दिवो दुहितरो विभातीः वहीं ४।५१।११; इन सुन्दर चित्रों की उपमा की ओर संकेत है।

(५) यस्य ज्ञानमयं तपः। मुण्डक० १।१।९

(६) तपः स्वाध्याय इति ब्राह्मणम्। आपस्तम्ब धर्म सूत्र १।१२।१

आपस्तम्ब ने जीवन-शोधन रूपी तपस्या और अध्यात्म-चिन्तन की एकात्मता और अन्योन्याश्रयता दिखाई है। इसीलिए तैत्तिरीयादि उपनिषदों में तपस्या और अध्यास-चिन्तन की साथ-साथ आवृत्ति हुई है[१] और इसीलिए सम्भवतः योगिराज कृष्ण ने भी कुछ स्थलों में उन्हें साथ-साथ स्मरण किया है[२]। महर्षि वाल्मीकि अपनी रामायण के प्रारम्भ में ही उन्हें अपने सामासिक रूप में स्मरण करते हैं[३] और मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृतियों के उपदेष्टा ऋषि भी जो 'एकाग्र आसीन' और 'योगीन्द्र' उपपदों से स्मरण किए गए हैं, वह केवल आकस्मिक घटना नहीं हैं[४]। वेद की स्पष्ट उद्घोषणा है कि 'तपस्या से ही ब्रह्म खोजा जाता है[५]' 'तपस्या से ही ब्रह्म को जानो'[६]। इतना ही नहीं, वह तो साधन और साध्य को कहीं-कहीं मिला भी देता है और कहता है 'तप ही ब्रह्म है'[७]। सप्त-र्षियों का ऋषित्व और इन्द्र का इन्द्रत्व इसी 'तपस्' पर निर्भर है. इसी से सत्य की उत्पत्ति हुई है और इसी एक नियम को देवता भी मानते हैं। इसी तपस्या से शिष्य अपने आचार्य को प्रसन्न करता है और इसी से देवता भी मनुष्य पर प्रसन्न होते हैं[८]। बिना तपस्या के ज्ञान सम्भव नहीं है और ज्ञान के अभाव में तपस्या न केवल निष्फल है बल्कि अत्यन्त भयंकर भी। आधुनिक पाश्चात्य राष्ट्रीयता की चिन्तन-प्रणाली ने एक उच्चकोटि के वैयक्तिक और सामाजिक बलिदान रूपी तपस्या को प्रश्रय देकर भी उसके द्वारा उद्भूत महान्

---

(१) देखिए तैत्तिरीय० १.९ 'स्वाध्यायप्रवचनेन'; इत्यादि; मिलाइए तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते। मनु० १२।१०४

(२) देखिए स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। गीता १६।१; स्वाध्यायाभ्यसनं चैव। गीता० १७।१५; बहवो ज्ञान तपसा पूता। गीता ४।१०; स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाश्च। गीता ४।२८

(३) 'तपः स्वाध्याय निरतं' आदि, प्रथम श्लोक।

(४) देखिए, 'मनुमेकाग्रमासीनं,' इत्यादि मनु० १।१; 'योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं' याज्ञवल्क्य १।१

(५) तपसा चीयते ब्रह्म। मुण्डक० १।१।८

(६) तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तैत्तिरीय० ३।२।३।४

(७) तपो ब्रह्मेति। तैत्तिरीय० ३।२।३।४; तपो ब्रह्म परामृतम्। मुण्डक० २।१।१०

(८) तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति। अथर्व० ११।३।५; मिलाइए वहीं, स आचार्यं तपसा पिपर्ति।

बल को अपने पड़ोसियों को नष्ट करने जैसे गर्हित और निन्दित कृत्य में प्रयुक्त किया है। यह तपस्या परमार्थ ज्ञान से रहित है और तामसी तपस्या का एक विशेष उदाहरण है, क्योंकि यह आत्मा की एकता रूपी परम ज्ञान और समस्त भौतिक भोगों की नश्वरता के अनुभव रूप वैराग्य पर प्रतिष्ठित नहीं है, किन्तु अपने तुच्छ भौतिक हित और अपने से विभिन्न समझे हुए दूसरों को किन्तु वास्तव में अपने ही स्वरूप को नष्ट करने के लिए इसका उपयोग किया गया है। भारतीय ज्ञान की दृष्टि में न यह अर्थ-युक्त है और न धर्म-युक्त; न यह निर्वेद के लिए है और न विराग के लिए; न निरोध के लिए, न उपशम के लिए; न अभिज्ञा के लिए, और न परमार्थ ज्ञान के लिए। इसका तो केवल एकमात्र उपयोग है दूसरों का उत्सादन ही। किन्तु इस प्रकार की निकृष्ट तपस्या का भी जब इतना सम्पूर्ण जगत् को एक बार उत्कम्पित करने वाला बल हो सकता है, तो फिर वास्तविक तपस्या के विषय में तो कहना ही क्या? वह तो सद्यः मोक्षसद्म को खोलने वाली, अमृत को देने वाली और निजानन्द से भेंट कराने वाली है। उसका उपयोग किसी भी सांसारिक स्वार्थ के लिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह तो चित्त की अचल विमुक्ति को पाने के लिए ही है। कोई भी सांसारिक स्वार्थ फिर चाहे वह कितना ही बड़ा और व्यापक क्यों न हो कुछ-न-कुछ तो अपने विषदन्त रखता ही है और उसके लिए तपस्या का उपयोग करना तो गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में कामधेनु को नह कर काँटों की खेती करना जैसा होगा, या बाबा दीनदयालु गिरि की 'अबूझ किरातिनी' के समान गुञ्जों के वन को देखकर मुक्तामणियों के ढेर को फेंक देना जैसा ही है होगा[1]। साम्राज्यों के निर्माण करने वालों अथवा उनका ध्वंस करने वालों का, भौतिक उन्नति की कच्ची बुनियाद पर अपने महत्त्व के प्रासाद खड़े करने वालों का, भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों को, जिन्हें बहुधा 'देशों' की संज्ञा दी जाती है, पाने के लिए मानवता का अथवा अपने ही सच्चे स्वरूप का संहार करने वालों का, और उन्हें पाकर अपने को 'महान्', 'विजयी' अथवा 'सम्राट्' आदि गर्वपूर्ण किन्तु निरर्थक और अत्यन्त अज्ञान-सूचक उपपदों से अपने को विभूषित अथवा कलुषित करने वालों का, भले ही दूसरे देशों में सम्मान

(१) 'गुञ्जन को बन देखि कै मुकुतन दीनी डारि। अरी अबूझ किरातिनी धिक् धिक् तेरी लागि'। मिलाइये, 'ताहि कबहुँ भल, कहहि न कोई। गुञ्जा गहइ परस मनि खोई'। गोस्वामी तुलसीदास जी।

हुआ हो और वे राष्ट्रीय देवों के रूप में पूजित हुए हों, किन्तु भारत का गम्भीर श्रद्धा से प्रेरित मस्तक तो उन्हीं के लिए झुका है जिन्होंने मानव-जीवन के दुःखों का अनुभव कर उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया है, कठिन साधना की है, जो सभी कामनाएँ छोड़कर आप्तकाम, आत्माराम तपस्वी हुए हैं और जिन्होंने सभी प्रकार के स्थूल और सूक्ष्म स्वार्थों से मुक्ति पाई है। ऐसे ही महापुरुषों को भारत ने सदा से अपने जीवन के शास्ता और मार्गप्रदर्शक के रूप में चुना है और उनके अनुगमन में यदि पद-पद पर उसपर विपत्तियाँ भी आई हैं और कभी-कभी ठोकर खाकर गिरना भी पड़ा है तो ये वस्तुएँ भी उसके लिए केवल मंगल और प्रमोद की ही नहीं बल्कि महान् आत्मगौरव और सन्तोष की ही कारण हुई हैं। बाह्य विजय की अपेक्षा आन्तरिक विजय ही उसके लिए हजारगुनी अधिक महत्त्वपूर्ण और कठिन रही है और जिन मनस्वियों ने आत्मविजय करके भारतीय दर्शन का निर्माण किया वे ही उसके राष्ट्रीय भाग्य के भी विधायक रहे हैं और उन्होंने ही उसके इतिहास का भी निर्माण किया है[१]। निष्काम होकर प्राणिमात्र के हित में जीवन को खपा देने वाले सर्वत्यागी तपस्वियों का ताँता भारत में कभी नहीं टूटा, प्रत्येक युग में वे समाज का परिष्कार और नेतृत्व किसी-न-किसी रूप में करते रहे और जीवन सम्बन्धी जो नियम उन्होंने हमारे लिए छोड़े हैं वे भारतीय दर्शन की अमूल्य सम्पत्ति हैं, हमारे लिए अमर सन्देश हैं। याज्ञवल्क्य, व्यास, वशिष्ठ, बुद्ध, गौतम, कपिल, शंकर, रामानुज, चैतन्य और गाँधी आदि तपस्वियों के आविर्भाव से भारत ही नहीं, समस्त जगत् कृतार्थ और पुण्यीकृत है और इन तपोधनों के महनीय विचार जो हमें आज महान् विरासत के रूप में मिले हैं, हमारे और विश्व-मानव के लिए एक अद्वितीय मनन की वस्तु हैं। जीवन के शोध और परिष्कार के लिए अन्त समय तक उत्तरोत्तर अधिक यत्नशील रहने के दृढ़ संकल्प में, काया, वचन, और मन से सारे पापों को न करने, कुशल धर्मों के प्राप्त करने तथा अपने चित्त को परिशुद्ध रखने के जीवन-व्यापी असिधार व्रत के लेने में, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, स्वाध्याय, भाव-

(१) न देवो न च गन्धब्बो न मारो सह ब्रह्मना। जितं अपजितं कयिरा तथा रूपस्स जन्तुनो। धम्मपद ८।६; मिलाइए 'The idea of Plato that Philosophers must be the rulers and dictators of society is practised in India' **राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २५।**

शुद्धि और आत्म-संयम आदि महाव्रतों को जीवन पर्यन्त निभाने में और लोकानुकम्पा से प्रेरित होकर 'बहुत से मनुष्यों के हित के लिए, बहुत से मनुष्यों के सुख के लिए, देवों तथा मनुष्यों के कल्याण, हित तथा उपकार के लिए[१] अपने व्यक्तिगत जीवन को सर्वथा निराकरण करने में भारतीय मनीषियों ने सदा तपस्या के स्वरूप के दर्शन किए है, और इस तपस्या की भावना में निश्चय ही वेद में उपदिष्ट 'शिव संकल्प' की भावना, भगवान् कृष्ण द्वारा उपदिष्ट प्रज्ञा की प्रतिष्ठा, दैवी सम्पद् की अधिगति, भक्ति की प्राप्ति और त्रिगुणातीत अवस्था की कल्पना, बुद्ध तथागत के द्वारा उपदिष्ट सप्त रत्नों की भावना और उनका आचरण, भगवान् पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट यम, नियम, प्रतिपक्ष भावना, मैत्री करुणा, मुदिता, उपेक्षा, वैराग्य, अभ्यास, श्रद्धा, वीर्य और प्रज्ञा आदि की साधनाएँ, भगवान् शंकर के साधन-चतुष्टय, तथा भगवान् जिन के द्वारा उपदिष्ट श्रद्धा, ज्ञान, चरित, संयम, सूनृता, शौच, ब्रह्मचर्य, अकिञ्चनता, तपस्, क्षान्ति, मार्दव, ऋजुता और मुक्ति रूप दश धर्म, स्वभावतः ही सम्मिलित हैं[२]। निषेधात्मक रूप से कहना चाहें तो उपनिषदों के चिन्तकों ने जिसे 'अविद्या' कहा है उसे त्यागने का प्रयत्न तपस्या है, बौद्ध दर्शन के अनुसार तृष्णा, दस संयोजनों, पाँच नीवरणों और चार आस्रवों का छोड़ना तपस्या है और जैन दर्शन में जिन्हें अठारह दोष यथा क्रोध, मान, माया आदि कषायों और अन्य 'अतिचारों' की संज्ञा दी गई है, उन्हें छोड़ना तपस्या है। चाहे जिस प्रकार से देखें, एक बात ही ठहरती है। 'एक गांठि कइ फेरे'। कुछ भी हो, स्वर्ग की कामना से प्रेरित, तुच्छ विषयों के लिये अथवा अन्य निकृष्ट प्रयोजनों को लेकर काया को तपाना तो अत्यन्त गर्हित, हेय, और अनार्य है। तपस्या के स्वरूप का आभास भी उसमें सम्भव नहीं क्योंकि तपस्या तो भौतिक भोग से सर्वथा दूर, विपरीत स्वभाव वाली और भिन्न प्रयोजन वाली है। 'दूरमेते विपरीते विषूची'। ये दोनों आपस में एक दूसरे से दूर, विरुद्ध और भिन्न फल वाली हैं। एक का फल स्वार्थ है, बन्धन है, दूसरे का परमार्थ है, मोक्ष है। एक असुरों की, वाममार्गियों की, उपनिषद् है और दूसरी है प्रज्ञाशील देवों की[३]। स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा से की गई शारीरिक यन्त्रणा की भगवान् बुद्ध ने किस प्रकार निन्दा की यह तो भारतीय दर्शन के किसी भी विद्यार्थी को बतलाने की

(१) देखिए आगे चतुर्थ प्रकरण में बौद्ध आचारतत्व का विवरण।

(२) देखिए आगे चतुर्थ और पञ्चम प्रकरण में इन दर्शनों के विवेचन।

(३) मिलाइए गीता० १७।५-६ इत्यादि

आवश्यकता नहीं, सात्विक, राजसिक और तामसिक दृष्टिकोणों से गीता में किया हुआ तपस्या का त्रिविध वर्गीकरण भी इसी तथ्य की ओर लक्ष्य करता है। बौद्ध दार्शनिक क्षेत्र में तो कस्सप-सीहनाद सुत्त (दीघनिकाय) दीघनख सुत्त (मज्झिम निकाय) आत्म-निर्यातन के विरुद्ध आज तक के सबसे अधिक तीव्र और ओजस्वी प्रवचन हैं[1]। उपनिषत्कालीन ऋषियों ने तो इसके पूर्व ही 'जो कोई भी आत्मा के हनन करने वाले लोग हैं वे उन आसुरी लोकों को प्राप्त करते हैं जो आत्मा के अदर्शन रूप गाढ़ अन्धकार से आच्छादित हैं'[2] इस प्रकार आत्म-निर्यातन की निन्दा की थी जिसका स्मरण 'उत्तर रामचरित' में राजर्षि जनक को शारीरिक कष्ट द्वारा आत्म-हत्या करने से रोकता है[3]। मध्ययुगीन भक्तों और सन्तों की इस विषय सम्बन्धी विचार-पद्धति के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी की ये वाणियाँ ही स्मर्तव्य हैं। 'व्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरे करै तन छाम को', 'सुख सपनेहु न जोग सिधि साधन रोग वियोग धरो सो', 'पाइहै पै जानिबो करम फल भरि भरि वेद परोसो' आदि। प्राचीन काल के शुनः शेप के आख्यान[4], शरभंग ऋषि के अग्निप्रवेश[5] तथा भगवान् बुद्ध के आविर्भाव काल के महान् विचिकित्सामय युग में अथवा उसके कुछ पूर्व 'अत्तकिलमथानुयोगो' के अनार्य और अनर्थकारी अन्त का उपसेवन करने वाले पोट्ठपाद, दीघनख, सकुल उदायि, अचेल कोरभट्टक, अचेल कोरखत्तिय, घोटमुख, पोतलिपुत्त, अग्गहमान, पुष्करसादि, कूटदन्त, लोहिच्च तथा तारुक्ष्य आदि अनेक परिब्राजकों की साधनाएँ, जिनका उल्लेख त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में हुआ है, अपवाद रूप में और विकृत व्यक्तिगत साधना के रूप में ही ग्राह्य हैं, प्राग्बौद्धकालीन ब्राह्मणों अथवा अन्य दार्शनिकों द्वारा निर्दिष्ट साधना के परिचायक के रूप में नहीं। सच बात तो यह है कि 'बौद्ध' धर्म के विरुद्ध 'ब्राह्मण' शब्द की कल्पना ही

(१) देखिए चतुर्थ प्रकरण में बौद्ध आचारतत्व का विवेचन।
(२) द्रष्टव्य ईश० ६; 'आत्महनो जनाः' की आध्यात्मिक व्याख्या के लिए देखिए उक्त पर शांकर भाष्य
(३) देखिए उत्तर रामचरित
(४) देखिए ऐतरेय ब्राह्मण, तथा मिलाइए मैक्समुलर : हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर पृष्ठ, २१०-२१४
(५) शरभंगो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम्। वाल्मीकि; अरण्य० ५।३८; यो मन्त्रपतां तनुमप्यहौषीत्। रघु० १३।४५

पाश्चात्य अध्ययन की एक अत्यन्त गलत देन है[१] और इस प्रकार का कोई विभेद बौद्ध और औपनिषद स्वरूपों में हम कर ही नहीं सकते[२]। भगवान् बुद्धदेव के प्रमुखतम शिष्यों में सारिपुत्र, मौद्गल्यायन तथा महाकाश्यप जैसे ब्राह्मण ही थे और वैसे भी प्राग्बौद्धकालीन ऋषियों तथा स्वयं भगवान् बुद्ध की तपस्या की भावना में कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता, सिवाय इसके कि तथागत ने कुछ निवृत्ति पर अधिक बल दिया है। इस तथ्य को पाश्चात्य विद्वानों ने उसके ठीक दृष्टिकोण में नहीं समझा है, इसीलिए हमारे लिए डाक्टर गफ़[३], तथा जर्मनी के अप्रतिम बौद्ध विद्वान् डाक्टर

(१) मिलाइए "When the Indian Civilization is called a Brahmanical one it only means that its main character and dominating factors are shaped by its philosophical thinkers and religious minds though that are not all of Brahmanical birth' राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २५

(२) 'The code of duties of the upanishads and Early Buddhism are not different in essentials' राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२९; मिलाइये "In the सामञ्ञफल सुत्तन्त Buddha shows the advantages of the life of a recluse not necessarily of a follower of his own. And most of what h e says would apply as much to his strongest opponents as to the members of his order." विमलाचरण लॉ-'हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर', जिल्द पहली, पृष्ठ ८६

(३) जिन्होंने 'तपस्' शब्द का अनुवाद आत्म-निर्यातन (Self torture) करते हुए उपनिषदों के तपस्या सम्बन्धी विचार का इस प्रकार वर्णन किया है, 'The Indian sages as the Upanishads speak of them search for participation in divine life not by pure feeling, high thought and strenuous endeavour, not by unceasing effort to learn the true and do the right, but by the crushing out of every feeling and every thought by vacuity,

छालके[1] के प्राग्बौद्धकालीन भारतीय तपस्या सम्बन्धी विचारों से सहमत होना कठिन हो जाता है, क्योंकि हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षु-संघ के लिए कुछ कुछ उसी प्रकार के नियमों का उपदेश किया था जो उनके काल से बहुत पहले से चले आ रहे थे और उनका साधना मार्ग प्राचीन आर्य मार्ग से सर्वथा असदृश न था। फिर भी भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट तपस्या के स्वरूप को जिस गहराई और सूक्ष्म दर्शिता के साथ इन मनीषी यूरोपीय विद्वानों ने समझा है उसके लिये हम उनके कृतज्ञ ही हो सकते हैं। तपस्या सौन्दर्य-बोध को नष्ट करने के बजाय उसकी गम्भीरता को बढ़ाती है और मंगल की भावना के साथ उसे मिलाती है[2]। खलील जिब्रान के अनुसार यदि सुन्दरता निश्चय ही अतृप्त आकांक्षाओं का समूह नहीं है किन्तु वह परमानन्द है, अथवा वह दर्पण में अपना रूप देखने वाली अमरता है अथवा वह जीवन है जो अपने पवित्र मुख पर से अवगुण्ठन हटा देता है[3], तो हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि तपस्या जीवन-सौष्ठव को नष्ट नहीं करती बल्कि उसके रूप का परिष्कार कर उसे संजीवनी शक्ति देती है। जैसा यूनानी

---

apathy, inertia and ecstasy' फ़िलासफ़ी आव दि उपनिषद्स, पृष्ठ २६६-२६७

(१) जो लिखते हैं "....In some such fashion was asceticism self-imposed pain, understood in Brahmanical India. In it they thought they had found the ladder by which to climb to the divine and so every thing turned upon the practice of penitential expiation as the one means by which to mount to the heights; hence we have that refinement of self-torment at which the westerner can look with an ever-increasing amazement" बुद्धिस्ट ऐसेज पृष्ठ २२४ (शीलाचार का अंग्रेजी अनुवाद)

(२) देखिए दो अत्युत्तम गम्भीर निबन्ध डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा लिखित 'सौन्दर्य' तथा 'सौन्दर्य और साहित्य', 'साहित्य' पृष्ठ क्रमशः २३-४५ एवं ६५-७९

(३) देखिए 'जीवन-साहित्य' (दी प्रोफेट का हिन्दी अनुवाद, सस्ता साहित्य मण्डल) पृष्ठ ८८-८९

विचारक महात्मा ऐपिक्टैटस ने कहा है, सुन्दरता का अधिवास शरीर नहीं, किन्तु शरीरस्थ आत्मा ही है। 'वह रसरूप है, इस रस को पाकर मनुष्य आनन्दित होता है'[१] 'आनन्द रूप अमृत जो प्रकाशित हो रहा है'[२] 'निश्चय ही आनन्द से ये प्राणी पैदा होते हैं, आनन्द से ही उत्पन्न हुए जीवित रहते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रवेश करते हैं,[३]। 'आनन्द ही ब्रह्म है', 'विज्ञान आनन्द, ब्रह्म'[४] 'आनन्द ब्रह्म है, यह जाननेवाला किसी से भय नहीं करता'[५] आदि महासत्यों के द्रष्टाओं को हम सौन्दर्य के उपघाती किस प्रकार कहेंगे? उशस् को 'पुराणी युवतिः'-'दिवो भुवनस्य पत्नी' कहकर पुकारने वाले[६] वैदिक ऋषि सौन्दर्य के प्रति उपेक्षक किस प्रकार कहे जायँ? 'आनन्दलहरी' और 'सौन्दर्य लहरी' जैसे ग्रन्थों को लिखने वाले उत्कट तपस्वी शंकर को हम सौन्दर्य का विरोधी किस मुख को लेकर कहेंगे? यह ठीक है कि 'अनशन से परम कोई तप नहीं'[७] इस प्रकार निर्देश करके श्रुति ने भी कठिन व्रतों के द्वारा कहीं-कहीं शारीरिक यन्त्रणा को प्रश्रय दिया है, भगवान् मनु ने पिपीलिका मध्व, यवमध्य और यतिचान्द्रायण आदि अनेक कठिन व्रतों का निर्देश किया है, बौद्ध साधना में तेरह अवधूत-व्रतों (धुतंग) की बात आई है। जैन दर्शन में केशलुञ्चनादि को ही तप कहा है[८], और पञ्चाग्नि तप और एक बांह को सदा उठाकर तप करने वाले तपस्वियों का भी हमारे साहित्य में अनेक बार वर्णन आया है किन्तु यह सब होने पर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन कठिन व्रतों का विधान विशेष अवस्थाओं के लिए

(१) रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। तैत्तिरीय २।७

(२) आनन्द रूपममृतंयद्विभाति। मुण्डक० २।२।७

(३) आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तैत्तिरीय० ३।६

(४) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदारण्यक० ३।९।२८

(५) आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन। उपनिषद्।

(६) द्रष्टव्य ऋ० ३।६१।१; ऋ० ७।७५।४

(७) तपः नानशनात्परम्। महानारायणोपनिषद् २१।२; मिलाइए 'अनशनं च कामानशनमेव सर्वथा तु नात्र चान्द्रायणादि तपः शब्दार्थस्तस्य समाधिविरोधादिति' वेदान्त सार की विद्वन्मनोरञ्जनी टीका, पृष्ठ १३१ (जेकब का संस्करण)

(८) केशोलुञ्चनादिकं तप उच्यते। सर्व दर्शन संग्रह, 'आर्हत दर्शन' में उद्धृत।

ही किया गया है और साधारण अवस्था में तो भगवान् कृष्ण के द्वारा प्रख्यापित यह सिद्धान्त कि 'न अधिक खानेवाले के लिए योग की साधना सम्भव है और न बिलकुल न खाने वाले के लिए ही। (किन्तु) आहार और विहार में युक्त रहनेवाले का योग ही सरल होता है'[१] ही सर्वथा ठीक है। भगवान् बुद्ध के मध्यम मार्ग का भी यही अर्थ है। अन्य भारतीय मनीषियों के विषय में भी प्रायः ऐसा ही कहा जा सकता है। हाँ विशेषाधिकार सम्पन्न मुमुक्षुओं के लिए उपनिषदों में 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' तथा 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति' इत्यादि रूप से जिस योग का वर्णन किया है[३] और जिसका लक्षण 'स्थिर इन्द्रिय धारण' कहा है,[२] भगवान् पतञ्जलि ने आसन और प्राणायाम आदि का विधान करके सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, आनन्द और अस्मिता इन छः भेद वाली सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधियों का जो वर्णन किया है, भगवान् कृष्ण ने गीता में 'अपाने जुह्वति प्राणं' तथा 'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य' इत्यादि रूप से जिस साधना का निर्देश किया है,[४] भगवान् सुगत ने ध्यान की चार अवस्थाओं एवं अस्पर्शयोग रूप 'संज्ञा वेदयित निरोध' का जो उपदेश दिया है, वे सब तपस्या की अधिगति में अपेक्षित हैं, किन्तु साधारणतः ऐसा कहा जा सकता है कि जीवन की सामान्य पवित्रता ही लोक-धर्म की स्थिति के लिए पर्याप्त है। दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म के वज्रयान, सिद्धयान आदि सम्प्रदायों का इतिहास इस तथ्य को अच्छी तरह प्रमाणित करता है कि प्राणायामादि की साधनाएँ अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में पड़कर हानिकर सिद्ध हो सकती हैं। जब उक्त सम्प्रदायों के वैराग्य से हीन व्यक्ति मन्त्र, तन्त्र और धरणियों में फँसकर भगवान् तथागत के द्वारा उपदिष्ट साधना मार्ग की सरलता और पवित्रता को भूल गए तो भगवान् शंकराचार्य ने 'अपने आश्रम के अनुसार विहित कर्म ही तप है'[५] इस प्रकार की उद्घोषणा कर बौद्ध धर्म में प्रविष्ट दोषों का निष्कासन किया और हिन्दूधर्म को फिर से विशुद्ध और परिष्कृत किया और बताया कि शरीरपीड़ाकारी व्रतों में नहीं किन्तु मन और इन्द्रियों की एकाग्रता सम्पादन करने तथा वर्णाश्रम-प्रतिपादित कर्म करने में ही तपस्या का सच्चा स्वरूप

(१) गीता ६।१६-१७

(२,३) देखिए कठ० २।३।१६; २।२।३; २।३।११

(४) द्रष्टव्य गीता ४।२५-३०; ६।१०-३२

(५) स्वाश्रमविहितं कर्म तपः। मुण्डक १।१।११ पर शांकर भाष्य।

निहित है[१]। बाद में मध्ययुगीन भक्तों ने साधना के लोक-धर्म-व्यापी रूप की प्रतिष्ठा की और मन्त्र तन्त्र आदि के निकृष्ट प्रयोगों की निन्दा की। गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन अनर्थकारी प्रवृत्तियों के विरुद्ध लक्ष्य करते हुए कहा था 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग'। महात्मा कबीरदासजी ने वैयक्तिक रूप से अनेक योग की क्रियाओं के अभ्यासी होते हुए भी तपस्या के दर्शन नित्यप्रति के पवित्र जीवन में ही किए थे। इसी सहज-साधना का उपदेश देते हुए उन्होंने कहा है:—

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन ते उपजी दिन दिन अधिक चली।
जहाँ जहाँ डोलों सो परिकरमा जो कछु करों सो सेवा।
जब सोवों तब करों दण्डवत पूजों और न देवा॥
आँख न मूदों कान न रूँधों तनक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि सुन्दर रूप निहारों॥ इत्यादि।

तथा

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात दिवस ना करइ निद्रा।
मन में आसन मन में रहना। मन का जप तप मन सूं कहना।
मन में खपरा मन में सींगी। अनहद बेन बजावे रंगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तपस्या के आचरण के लिए न तो शारीरिक यातना की जरूरत है और न विषयासक्त प्राणियों के द्वारा ही उसकी साधना शक्य है। भगवान् कृष्ण, सत्यवह भारद्वाज तथा भगवान् बुद्ध ने तपस्या के उसी स्वरूप को स्वीकार किया है जिसके अनुसार मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है[२], जो विषय-वासना में आसक्ति (कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो) और शारीरिक यातना (अत्तकिलमथानुयोगो) इन दोनों हीन, ग्राम्य और अनार्य (हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थ-

(१) किञ्च तपसा हीन्द्रियमनएकाग्रतया तद्धयनुकूलमात्मदर्शनाभिमुखीभावात् परमं साधनं तपो नेतरच्चान्द्रायणादि। मुण्डक० ३।१।५ पर शांकर भाष्य; तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्। केन० ४।४।८ पर शांकर भाष्य।

(२) मनसश्चेन्द्रियाणां ह्यैकाग्र्यं परमं तपः। महाभारत, शान्ति० २५०।४; कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। योगसूत्र २।४३; देखिए पाँचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन एवं योग-दर्शन का विवेचन भी।

संहतो) मार्ग की निन्दा करता हुआ लोकधर्म के परम विशुद्ध रूप को प्राप्त करता है जो आदि में कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अन्त में कल्याणकारी है (आदि-कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं) । इसी के सम्बन्ध में भगवान् मनु ने बहुत पहले ही निर्देश किया कि 'ब्राह्मण का ज्ञान ही तप है, क्षत्रिय का रक्षा करने का कार्य ही तप है, वैश्य के लिए कृषि-वाणिज्य आदि कर्म तप हैं तथा शूद्र के लिए परिचर्यात्मक कर्म ही[१] । दैनिक जीवन में प्रतिष्ठित चारित्र्य ही तपस्या का सर्वोत्तम स्वरूप है और वही सब वर्णों का शाश्वत धर्म भी है[२] । यही चातुर्वर्णी शुद्धि का भी मर्म है । इस मध्यम मार्ग को ग्रहण करने वाली तपस्या के विषय में हमें यह न समझ लेना चाहिए कि यह कोई साधारण लौकिक पुरुषों के लिए सरल किया हुआ मार्ग है । वास्तव में तो इस जीवन-व्यापिनी साधना का आचरण ही अधिक कष्ट-साध्य है । भौतिक शरीर के सुख में ही जीवन की इतिश्री मानने वाले तथा दुःखों और भयों से डरने वाले मनुष्यों के द्वारा ऐसी तपस्या की साधना कभी भी सम्भव नहीं । सन्त ज्ञानेश्वर जी के शब्दों में तपस्या के दुर्ग पर चढ़ना वास्तव में एक निराधार और निरन्तर फिसलाहट युक्त टूटी हुई कगार पर चढ़ना है[३], क्योंकि तितिक्षा की अन्तिम सीमा ही तपस्या है । सम्भव है कि तपस्या की साधना में प्रवृत्त मनुष्य को सरमद के समान सर भी देना पड़े, सुकरात, दयानन्द अथवा मीराबाई के समान जहर का प्याला भी पीना पड़े और महात्मा ईसा की तरह अपमान पूर्वक पीटे जाते हुए और मुंह पर थूके जाते हुए शूली पर भी चढ़ना पड़े,[४] किन्तु यदि यह सब न हो और साधक को जीवन

(१) ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम् । वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम् । मनु० ११।२३५

(२) चतुर्णामपि वर्णानाम् आचारश्चैव शाश्वतः । मनु० १।१०७; मिलाइए, सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् । मनु० १।११०; अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः । दानं तपो दया शान्तिः सर्वेषां धर्म-साधनम् । याज्ञवल्क्य० १।४।१२२; चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्म-पालकः । आचार भ्रष्ट देहानां भवेद्धर्मः परांमुखः ॥ पराशर० १।१।३७

(३) अथवा निलागें निसरडा । तपो दुर्गाचा आडकडा । जों वती तपिये चाड़ा । जया चिया । ज्ञानेश्वरी ६।४६; मिलाइए, उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रे-णैकबिन्दुना । मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ माण्डूक्य कारिका ३।४१

(४) 'Then did they spit in his face and buffeted him;

पर्यन्त प्राण-धारण करके ही क्षण-क्षण आन्तरिक और बाह्य दुष्प्रवृत्तियों से संघर्ष करते हुए जीवन व्यतीत करना पड़े और इतिहास के पृष्ठों के लिए उसका नाम सर्वथा अज्ञात ही रहे और इस प्रकार नदी को उसके प्रवाह के विपरीत दिशा में फेर देने के समान इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर उन्हें अपने प्रत्यगात्म स्वरूप को देखने के प्रयत्न में ही उसका जीवन समाप्त हो जाय[1], तो इस महान् प्रयत्न पर आश्रित यह मौन तपस्या भी कुछ कम कठिन और संसार के लिए कुछ कम कल्याणकारी नहीं होगी। और अमरता के लिए तो यह निश्चय ही पूरा मूल्य चुकाना होगा। न केवल उस सती की साधना ही सच्ची है जो सिंधौरा लेकर क्षण भर में जल कर राख हो जाती है, किन्तु वह सन्त भी कुछ कम व्रती नहीं जो क्षण-क्षण दुष्प्रवृत्तियों से जूझता हुआ राख हो जाता है और अन्त में उन पर विजय प्राप्त करता है[2]। महत्त्वपूर्ण युद्ध न केवल कुरुक्षेत्र, ट्रॉय अथवा फ्लैण्डर्स के युद्धस्थलों में ही लड़े जाते हैं किन्तु मनुष्य की छाती के अन्दर होने वाले युद्ध भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते और उनमें भी जो विजयी होता है वह भी सच्चा योद्धा है, क्योंकि 'अपने को दमन करने वाले पुरुष की विजय को न देवता, न गन्धर्व, न ब्रह्मादि सहित देवता पराजित कर सकते हैं'। आत्म-विजय ही तो ब्रह्म-विजय है। इसी प्रकार की विजय को प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानी कबीर, भगवान् रामकृष्ण परमहंस तथा सत्य और अहिंसा के अनन्य साधक महात्मा गांधी तथा अन्य अनेक अनुभवसम्पन्न महात्मा विस्तृत शास्त्रीय

---

and others smote him with the palms of their hands' मैथ्यू० २६।६७; 'And when they had platted a crown of thorns, they put it upon his head; and a reed in his right hand; and they bowed the knee before him and mocked him, saying, 'Hail, king of the Jews!' मैथ्यू० २७।२९

(१) 'नद्याः प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव'। कठ० २।१।१ पर शांकरभाष्य ॥

(२) साध का खेल तो विकट बेढ़ा मती। सती औ सूर की चाल आगे ॥
सूर घमसान है पलक दो चार का। सती घमसान पलक एक लागै ॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना। देह पर्यन्त का काम भाई ॥
कह कबीर टुक बाग ढीली करै। उलटि मन गगन सों जगीं आई ॥
कबीर।

ज्ञान के अभाव में भी लोक-कल्याण के लिए अध्यात्म क्षेत्र में प्रविष्ट हुए हैं। महात्मा कबीर ने डंके की चोट पर कहा है कि प्रेम अथवा सत्य कोई खेत में उपजने वाली अथवा हाट में बिकने वाली चीज़ नहीं है, किन्तु सिर देकर खरीदने की चीज है जिसे जो कोई भी अपना सिर काटकर पृथ्वी पर रख सके वही ले जा सकता है यह एक महान् सत्य है जिसकी व्यावहारिक अवहेलना ही हमारे सब धार्मिक और दार्शनिक विवादों का मूल कारण है। अथवा जिस धर्म का उपदेश वैदिक ऋषि अपने शिष्यों को विदाई के समय दिया करते थे[१], जो मनु के द्वारा भी सार्वजनिक धर्म के रूप में स्वीकृत हुआ है, जिसको ही सम्राट् अशोक ने भी प्रचारित किया[२], जिसको ही न्यायसूत्र-भाष्यकार ने भी प्रतिपादित किया[३] और जिसका ही विमल उपदेश भगवान् गौतम बुद्ध के द्वारा विलखती हुई महाप्रजापती गौतमी को दिया गया[४], क्या उसकी सर्वातिशयी महत्ता में कोई विभेद है ? क्या उसकी महत्ता के विषय में एक भी दर्शनकार को कोई आपत्ति है ? तपस्या का पुष्प तो काँटों पर ही खिलता है और दरी और गलीचों पर रखते ही वह मुरझा जाता है। तपस्या का मार्ग ज्ञान के मार्ग की तरह ही छुरे की धार के समान तेज और दुरत्यय है। 'दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति'। महात्मा गांधी के शब्दों में तपस्वी को, सत्याग्रही को, इन्द्रियों से, शरीर से और भौतिक सुखों से अन्ततः असहयोग करना ही पड़ता है, और जैसे 'अपना मस्तक काटि के बीर हुआ कबीर' अथवा जैसे अपना सिर देकर महात्मा ईसा संसार के त्राता हुए, तथा अनलहक का दावा करके सिद्ध सरमद आलम के सरदार हुए, इसी प्रकार आज भी जो

(१) यथा, सत्यं वद धर्मं चर स्वाध्यायान्मा प्रमदः...... धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्, इत्यादि। द्रष्टव्य तैत्तिरीय उपनिषद्।

(२) 'धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित वर्ताव किया जाय; माता-पिता की सेवा की जाय; मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण-ब्राह्मणों को दान दिया जाय; और प्राणियों की हिंसा न की जाय।" अशोक-अभिलेख; मिलाइए 'तपो ब्रह्मचरियं च अरियसच्चानदस्सनं। निब्बान सच्छिकिरिया च एतं मंगलमुत्तमं'। मंगल-सुत्त—सुत्त-निपात)।

(३) उद्धरण एवं विस्तृत विवेचन के लिए देखिए पाँचवाँ प्रकरण (बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक)

(४) उद्धरण के लिए देखिए चतुर्थ प्रकरण तथा पाँचवाँ प्रकरण भी।

तपस्या के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है उसके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं और उसे महान् तितिक्षु होना पड़ता है, शरीर को कष्ट भी देना होता है, यद्यपि यह सब होते हुए भी तपस्या अन्ततोगत्वा शरीर की पीड़ा की वस्तु नहीं और शरीर की उचित की रक्षा के वह विरुद्ध नहीं है[1]। तपस्या का चरम उद्देश्य अन्तःशुद्धि है जिसके बिना कोई भी आज तक तत्व के दर्शन नहीं कर सका[2]। चित्त की दुष्प्रवृत्तियों के निरोध से उत्पन्न अन्तःशुद्धि मनुष्य के अन्दर अभ्यास और वैराग्य से ही आती है और अभ्यास और वैराग्य निश्चय ही श्रद्धा पर प्रतिष्ठित हैं। श्रद्धा से ही प्राथमिक सम्प्रसाद मनुष्य के हृदय में आविर्भूत होता है जिससे वह आगे के प्रयत्न में प्रवृत्त होता है[3]। श्रद्धा यदि

(१) 'क्या कभी युद्धस्थल में तुम तीर से विद्ध हुए थे ?'
'हाँ भगवन् !'
'क्या घाव पर मरहम लगाया गया था ? क्या उस पर तेल मला गया था ? क्या वह सुन्दर कपड़े के टुकड़े से बांधा गया था ?'
'हां भगवन्'
'क्या अपने घाव को तुम प्रेम करते थे ?'
'नहीं भगवन्'
'ठीक इसी तरह तपस्वी अपने शरीर से प्रेम नहीं करता, किन्तु उसमें बिना आसक्ति रक्खे वह अपने शरीर का पालन करता है ताकि वह पवित्र जीवन में अग्रसर हो सके।—नागसेन और मिलिन्द राजा का संवाद, मिलिन्द प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ७३

(२) क्योंकि 'सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।' योगसूत्र २।४१ द्रष्टव्य, मुण्डक० ३।१।५; ३।१।८; गीता ५।१७; ५।२५; ७।२८; १४।१७

(३) 'मन में प्रसन्नता और बड़ी आकांक्षा पैदा कर देना ही श्रद्धा की पहचान है'—मिलिन्द प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ४२; मिलाइए 'श्रद्धा प्रसादः अध्यात्म-संप्रसादः। अभिधर्म कोश ८।९; श्रद्धा चेतसः संप्रसादः। साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति स हि श्रद्धधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। व्यासभाष्य १।२०। कितनी भारी समानता ! किन्तु श्रद्धा भी हमें पूरे रास्ते नहीं ले जा सकती, देखिए बुद्ध का भारद्वाज ब्राह्मण को उपदेश, चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)

सत्य से बिलकुल हमारी भेंट नहीं करा देती तो कम-से-कम उसके दरवाजे तक तो हमें पहुँचा ही देती है। निश्चय ही मनुष्य अपने विचारों और संकल्पों का पुतला ही तो है और जैसा वह सोचता है वैसा ही वह हो भी जाता है[१]। श्रद्धा ही वास्तव में मनुष्य को आपत्तियाँ झेलने के लिए उपयुक्त नैतिक बल प्रदान करती है जिसके बिना मनुष्य हतोत्साह हो उठता है। श्रद्धा से ही मनुष्य को वास्तव में ज्ञान मिलता है, श्रद्धा से ही वास्तविक स्वराज्य की कामना की जाती है, श्रद्धा ही ब्रह्मज्ञान के उपदेश के लिए मूर्द्धन्य रूप प्रथम शर्त बनती है[२] यह श्रद्धा हमारे अन्दर उत्पन्न हो, इसीलिए संसार का चक्र भी चलता है[३]। इसीलिए तो श्रद्धा ही तपस्या है[४]। जीवन को विशुद्ध करने वाली यह तपस्या इतनी कठिन है कि एक-एक कण को इकट्ठा करके हिमालय को खड़ा करना होता है और यदि कहीं थोड़ा भी पैर फिसल जाय तो सब कुछ किया हुआ एक क्षण में नष्ट होता है क्योंकि दीर्घ काल के बाद ही योग की दृढ़ भूमि प्राप्त होती है[५]। अतः तपस्वी क्षण-क्षण जागरूक रहता है कि क्रोध रूपी दुष्प्रवृत्तियां कभी उस पर आक्रमण न कर बैठें। उसे स्मृति-संप्रजन्य से युक्त रहना पड़ता है। अन्त समय तक हँसते-हँसते जो प्रभु को अपना लेखा देता है (वैष्णवों की भाषा में) वही वास्तव में सच्चा तपस्वी है और उसी ने तपस्या के मर्म को जाना है। मनुष्य के दैनिक जीवन में प्रतिष्ठित यह तपस्या जब प्रस्फुटित होती है तो सारे शास्त्र

---

(१) अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः। छान्दोग्य० ३।१४।१; श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः। गीता १७।३; मिलाइए तैत्तिरीय० ३।१०; छान्दोग्य० ७।३।१२; बृहदारण्यक० २।१।१३ ; श्रद्धा की प्रशंसा में देखिए पूरी ऋचा ही ऋ० १०।१५१; तथा देखिए ऋ० १।५५।५; १।१३३।५; १।१०४।६ आदि।

(२) तस्मादिह श्रद्धातपोभ्यां विद्यान्तरोपलक्षणं......तस्य श्रद्धैव शिरः। तैत्तिरीय० २।४; श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्। गीता० ४।३९; स तया श्रद्धया युक्तः। वहीं ७।२२; श्रद्धावन्तोऽन सूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः। वहीं ३।३१; अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि। ऋ० १०।१२५।४

(३) अस्मे सूर्याचन्द्रमसाभिचक्षे श्रद्धेकमिन्द्र चरतो वितर्तुरम्। ऋग्वेद

(४) श्रद्धा तपः। छान्दोग्य० ५।१०।१

(५) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः। य

और दर्शन अपने-ही-आप अपने स्वरूप को मनुष्य के लिए प्रकट कर देते हैं। उसके शरीर में एक विकार रहित प्रसन्नता और अमर्त्य एवं अपार्थिव सौन्दर्य की प्रभा छिटकती है जिसकी ओर संकेत करते हुए ही श्वेतकेतु के प्रति उपनिषद् में कहा गया है 'हे सौम्य ! ब्रह्मविद् के समान ही तेरा मुख चमकता है'[१]। गौतम बुद्ध के विषय में भी ऐसा अनेक बार कहा ही गया है[२]। इसी निर्व्याज पवित्रता, प्राकृतिक प्रसन्नता और ब्रह्मवर्चस के कारण महात्मा ईसा भी कह सके थे 'मैं और मेरे पिता एक हैं'। निश्चय ही 'सारी पृथ्वी का एक छत्र राजा होने से, स्वर्ग के गमन से अथवा सभी लोकों के अधिपति होने से पवित्रता के क्षेत्र में प्रथम पदार्पण ही श्रेष्ठ है'[३] और इसी पवित्रता के स्वरूप का चिन्तन, विवेचन और आचरण भारतीय दार्शनिकों का प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यवसाय रहा है। भारतीय दर्शन की यह न भुलाई जाने वाली पुकार है कि यदि मोक्ष-सद्म में प्रवेश करना है तो तपस्या की सनद हासिल करनी ही होगी और इस सनद पर हस्ताक्षर हुए होंगे बाह्य संसार की ख्याति अथवा इतिहास के पन्नों के नहीं किन्तु अपने अन्तस्थ आत्मदेव के ही जिसकी भाषा मौन है। जिसके शब्द अनक्षर हैं। इस सनद के हासिल किए विना यदि हम ब्रह्म-जिज्ञासा के क्षेत्र में प्रवेश करना चाहेंगे तो कड़ी दृष्टि वाला, अद्वैत धर्म का वह गम्भीर तत्वदर्शी परिव्राजक दरवाज़े पर ही हमें रोक देगा और जब तक उक्त सनद को देख न लेगा हमें कभी भीतर

(१) ब्रह्मविदिव सौम्य ते मुखं भाति। छान्दोग्य०; भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद। छान्दोग्य० ३।१८।३; शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद। ता० ब्रा० २०।१६।६;

(२) सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर वाराणसी की ओर जाते हुए बुद्ध के प्रति उपक आजीवक ने कहा था, "आयुष्मन् ! तेरी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, तेरा छवि-वर्ण परिशुद्ध तथा उज्वल है। आयुष्मन् ! तू किसको गुरु मानकर प्रव्रजित हुआ है।" पासरासि-सुत्त (मज्झिम० १।३।६) आयुष्मान् मौद्गल्यायन ने ऐसी ही उक्ति बुद्ध से शिक्षा पाए हुए अपने साथी सारिपुत्र से भी कही। मिलाइए, मैमन्ता मन मारि रे नान्हां करि करि पीस।

तब सुख पावै सुन्दरी ब्रह्म झलक्कै सीस।' कबीर

(३) पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा। सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापत्तिफलं वरं। धम्मपद १३।१२

जाने नहीं देगा[1] चाहे फिर हम अपनी विद्या की कितनी ही डींग क्यों न मारें। सम्भव है कि श्रुति माता यज्ञादि के अनुष्ठान रूप पुष्पिता वाणी से थोड़ी देर के लिए स्वर्गलोक का प्रलोभन देकर हमारे हृदय को सान्त्वना दे दें[2] और हम मानने लगें कि सोम को पीकर हम अमर हो गए[3], अथवा अनित्य द्रव्यों के द्वारा नित्यता को हम पा गए, किन्तु यह तो याद रखना ही होगा कि यह नित्यता और अमरता केवल आपेक्षिक ही होगी[4] और अपने उच्चतम प्रसाद को देने के पूर्व श्रुति माता का जीव के प्रति सबसे पहला यही प्रश्न होगा कि क्या, अपने प्रज्ञान के अतिरिक्त तुम दुश्चरित से विरत भी हो, शान्त और समाहित भी हो, ब्रह्मचर्य से सम्पन्न भी हो, सत्य और तपस् से युक्त क्षीणदोष यति भी हो[5]। सम्भव है कि यदि इसका उत्तर हम 'हाँ' में दे सकें, तब भी हमें कुछ वर्ष और किसी पिप्पलाद के पास तपश्चरण और पवित्र जीवन की शिक्षा लेनी पड़े[6] और तब कहीं सुकेशादि बनकर हमें अध्यात्म चिन्तन में प्रवेश करने का अधिकार मिल सके। सम्भव है कि इन्द्र के समान सौ वर्ष तक भी ठहरना पड़े[7] तब भी कोई आश्चर्य नहीं। प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से ही तत्वदर्शियों से ज्ञान के स्वरूप को जाना जाता है, क्योंकि अध्यात्म विद्या के सिखाने वाले और सीखने वाले दोनों ही इस

---

(१) शंकर ने साधन-चतुष्टय सम्पत्ति के बिना ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकार किसी को नहीं दिया है। देखिए ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का उपोद्घात।

(२) इस प्रकार 'एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभि वदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः। मुण्डक० १।२।६; देखिए गीता २।४२

(३) अपाम सोमममृता अभूम। ऋ० ८।४८।३; देखिए पांचवें प्रकरण म वैदिक दर्शन के साथ बुद्ध दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन।

(४) अनित्यैर्द्रव्यैर्प्राप्तवानस्मि नित्यम्। कठ० १।२।१४; 'नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि' उक्त पर शांकर भाष्य; मिलाइए बृहदारण्यक० ४।४।६; मुण्डक० १।२।७; गीता ९।२१; देखिए, पाइए पै जानिवो करम फल भरि भरि वेद परोसो। गोस्वामी तुलसीदास जी।

(५) द्रष्टव्य कठ० १।२।२४; ऋ० १।४।३

(६) तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति। प्रश्न० २

(७) देखिए पांचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।

लोक में दुर्लभ हैं[1]। अक्षय ब्रह्मलोक तो श्रुतिमाता ने उन्हीं के लिए रख छोड़ा है जिनमें तप और ब्रह्मचर्य हैं तथा जिनमें सत्य प्रतिष्ठित हैं और जिनमें कुटिलता, अनृत और माया नहीं है[2]। उचित साधन-सम्पत्ति के अभाव में किसी भी भारतीय दर्शनकार ने ज्ञान की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं मानी और न किसी ने उपदेश का विधान ही किया है। अतः शुभ आचरण रूप तपस्या की सनद के बिना यदि हम परम कारुणिक भगवान् बुद्ध की भी शरण में जाएँगे तो सबसे पहले हमें यही उत्तर मिलेगा कि 'आत्मशरण होओ' 'आत्मदीप होओ'। यदि हम सब संहिताओं के ज्ञाता और भाषणकर्ता भी होंगे तब भी तपस्या के अभाव में श्रमणपन के अधिकारी नहीं माने जा सकेंगे। भगवान् कृष्ण ने तो पहले ही उद्घोषित कर दिया है कि 'जो तपस्वी नहीं, जो भक्त नहीं, जो सुनना नहीं चाहता और जो मेरा द्वेष करता है, उससे तू यह ज्ञान कभी मत कहना[3], और 'जिन्होंने आत्मशुद्धि नहीं की है वे मूढ़जन यत्न करते हुए भी

---

(१) तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः। गीता ४।३४; आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता। छान्दोग्य० ४।१४।१; आश्चर्यो वक्ता........न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो...आदि। कठ० १।२।७-८

(२) तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठम्। तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति। प्रश्नोपनिषद्; द्रष्टव्य छान्दोग्य० ८।४।३; बृहदारण्यक० ६।२।१५; ४।४।२२; मुण्डक ० ३।१।५; मिलाइए, 'जिनके कपट दम्भ नहिं माया। तिनके हृदय रहउ रघुराया॥ आदि, रामचरित मानस, अयोध्याकाण्ड।

(३) इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन। न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति। गीता १८।६७; मिलाइए, शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति। ब्रहदारण्यक ४।४।२३; प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे। गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे॥ उपदेश साहस्री १६।७२; श्रद्धान्वितायाथ गुणान्विताय परापवादाद्विरताय नित्यं। विशुद्धयोगाय बुधाय नित्यं क्रियावते च क्षमिणे हिताय॥ विविक्त शीलाय विधिप्रियाय विवादहीनाय बहुश्रुताय। विजानते चाहितसमे च............,.. जितेन्द्रियायैतदसंशयं ते भवेत् प्रदेयं परमं नरेन्द्र। महाभारत; समान

इसे नहीं पहचानते[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन अत्यन्त प्रारम्भिक युग से ही अपने समग्र ऐतिहासिक विकास और विभिन्न स्वरूपों और विवर्तों में जीवन की पवित्रता रूप तपस्या पर अत्यन्त जोर देता आया है और जब हम उसकी किन्हीं भी दो विचार प्रणालियों के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं तो इस तपस्या के तत्त्व को हम भुला नहीं सकते, क्योंकि यह न केवल उनका एक संग्राहक सूत्र है, किन्तु समग्र भारतीय दर्शन को केवल शुष्क ज्ञान-मात्र के प्रेम, अथवा बुद्धि के विलास, से ऊपर उठाने वाला भी यही तत्त्व है जो भारतीय दर्शन की एक मुख्य विशेषता है। श्रौत परम्परा के समान बौद्धादि दर्शनों में भी अत्यन्त मार्मिकता और गम्भीरता के साथ इसकी अभिव्यक्ति हुई है।

'दर्शन' के स्वरूप, विषय, प्रयोजन और महत्त्व के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण

बौद्ध-दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों के साथ सम्बन्ध दिखाने के लिए यह भी आवश्यक है कि सामान्यतः 'दर्शन' के स्वरूप, विषय, प्रयोजन और महत्व के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण से कुछ विचार कर लिया जाय। उसी के प्रकाश में और उसी को मापदण्ड मान कर हम अपनी केन्द्रीय समस्या का हल कर सकेंगे। 'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है देखना। यह देखना चक्षुरादि स्थूल इन्द्रियों से भी हो सकता है और अन्तःकरण की सूक्ष्म वृत्तियों से भी। भारतीय चिन्तकों का मत है कि यद्यपि सृष्टि और स्रष्टा दोनों ही अनिर्वचनीय और समझने में कठिन हैं और परम पुरुषार्थ की प्राप्ति अन्यतम कठिन साधनों की अपेक्षा रखती है[२], फिर भी उपयुक्त अधिकारी के द्वारा न दबने वाला वीर्य आरम्भ कर देने पर परम तत्त्व के साक्षात्कार हो सकते हैं। उनकी स्पष्ट उद्घोषणा है कि परम तत्व की अपरोक्ष अनुभूति की जा सकती है और निश्चय ही इसी जीवन में श्वासों के छूटने से पहले ही। अन्यथा 'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति'[३] की उपनिषद्वाणी

औपनिषद दृष्टिकोण के लिए देखिए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' पर विचार।

(१) गीता १५।११

(२) देखिए आगे पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध और वैदिक' दर्शन के अन्तर्गत उपनिषदों के दर्शन पर विचार।

(३) उपनिषद्, उद्धरण और विवेचन के लिए देखिए पांचवें प्रकरण में उपनिषदों के तत्व-दर्शन पर विचार।

सावकाश कैसे होगी ? जीवन्मुक्ति, अपरनिःश्रेयस अथवा अर्हत् की अवस्थाओं के वर्णन इसके साक्षी हैं। भारतीय चिन्तकों का अभिप्राय है कि 'उस विष्णु के परम पद को ऋषि उसी प्रकार देखते हैं, जिस प्रकार खुली आँख दिन में आकाश को'[1] । निश्चय ही 'महर्षि साक्षात्कृतधर्म होते हैं और उन मनीषियों के रजोगुण से परे प्रज्ञान कहीं भी प्रतिहत नहीं होते'[2] । समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त ज्योति का जिन्होंने साक्षात्कार किया है उनसे जगत् में क्या अविदित रह सकता है ? उनके प्रकाश के आवरण का तो क्षय ही हो जाता है, अतः समस्त कार्य-कारण व्यापार उनके लिए हाथ में रक्खे फल के समान ही होता है। सर्वज्ञता, फिर चाहे वह बुद्ध, कपिल और शंकर की ही क्यों न हो, आपेक्षिक होती है, यह ठीक है, किन्तु जीवन की समस्याओं और उनके प्रकृत हलों के तो वे मनीषी पारदर्शी होते ही हैं और इसीलिए वे जगत् के वन्दनीय होते हैं। इसीलिये श्रद्धापूर्वक कहा गया है। 'जिन्होंने परब्रह्म का साक्षात् दर्शन किया है वे ब्रह्मादि परम ऋषि हैं, उन्हें नमस्कार, उन्हें नमस्कार।' भगवान् निरुक्तकार का यह कथन कि ऋषि दर्शन से ही होता है[3], भारतीय दर्शन के स्वरूप और महत्त्व की सीमा को भली प्रकार निश्चित कर देता है। औपनिषद ऋषि बार-बार उद्घोषणा करते हैं 'मैं उस पुरुष को जानता हूँ जो आदित्य के समान वर्ण वाला और तम से व्यतिरिक्त है[4] । भगवान् तथागत ने तो अनेक पुनरुक्तियों के साथ कहा ही है कि जो कुछ भी उपदेश उन्होंने दिया है वह स्वयं जानकर और साक्षात्कार कर (सयं ञत्वा सच्छिकत्वा) ही दिया है और इसीलिए अपने समस्त उपदेश को उन अनुकम्पक शास्ता ने 'एहिपस्सिक धम्म' कहा है, जिसका अर्थ है 'आओ और देखो' ।

(१) तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् । ऋ० १।२२।२१

(२) मिलाइये उत्तर रामचरित 'साक्षात्कृतधर्माणो महर्षयः बभूवुः तेषां परोरजांसि प्रज्ञानानि न क्वचिद् व्याहन्यन्त इत्यनभिशंकनीयानि'; साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन सम्प्रादुः । निरुक्त १।२०

(३) ऋषिर्दर्शनात् । निरुक्त २।११; देखिए वहीं तद्यदेवांस्तपस्यमानान् ब्रह्म-स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते; तस्माद्यदेव किं च नानूचानोऽभ्यूहति आर्षं तद्भवति ।

(४) वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात् । उपनिषद् ।

भगवान् तथागत ने स्वयं परिशुद्ध नेत्रों के द्वारा अनेक प्रकार से निखिल लोक और उसमें अभिव्यक्त अखण्ड नियम को इस प्रकार देखा था जिस प्रकार किसी वस्तु को मनुष्य स्पष्ट दर्पण में देखे और तभी तो 'गृहकारक' को स्पष्ट देखकर उन सम्यक् सम्बुद्ध ने निर्भीक सिंहनाद करते हुए कहा था कि पुनः अब वह गृह को नहीं बना सकेगा[1]। धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हुए भगवान् ने अपने पञ्चवर्गीय शिष्यों को बताया था कि किस प्रकार अनेक तरह से जांच पड़ताल कर उन्होंने परम सत्य को देखा था। उनकी वाणी में अधिकार था और उनके मुख पर था ब्रह्मवर्चस। महात्मा ईसा को भी निश्चय ही इस प्रकार का दर्शन हुआ था जिससे उनकी वाणी में वह अधिकार आ सका था जो हमारे चित्त को आज भी प्रभावित करता है। भारतीय ऋषियों ने मानवीय बुद्धि की उचित सीमा दिखाई है और केवल बुद्धि के आयास के द्वारा नहीं बल्कि अन्तर्ज्ञान और अनुभूति के द्वारा ही परम तत्त्व के दर्शन उन्होंने सम्भव माने हैं और कहीं पर सर्वज्ञ होने का दावा उन्होंने नहीं किया है। हाँ, जहां पर क्षुद्र वैयक्तिक देह सम्बन्धी अहंकार को सर्वथा भुलाने की स्थिति का वर्णन उन्होंने किया है उस भूमिका पर किए गए उनके उद्‌गारों में 'पृथग्जनों' अथवा साधारण बुद्धि के लोगों को भले ही अहंकार जँचे, किन्तु भारतीय चिन्तकों ने सामान्य रूप से अपनी सम्भावनाओं को अच्छी तरह समझा है। उपनिषदों के ऋषि कई स्थलों पर 'यदि हम जानेंगे तो उस ब्रह्म को तुम्हारे प्रति कहेंगे[2]' इस प्रकार कह कर अपनी विनम्रता दिखाते हैं और भगवान् बुद्ध की इस विषय में विनम्रता तो नितान्त ही द्रष्टव्य है, क्योंकि जानते हुए भी 'मैं जानता हूँ' ऐसा संकल्प कभी अपने मन में वे नहीं आने देते[3] और अपनी सर्वज्ञता के विषय में प्रश्न किए जाने पर सदा ही स्पष्ट रूप से उत्तर देते हैं कि जो सर्वांश में उन्हें ऐसा समझते हैं, वे अविद्यमान को विद्यमान कहकर उनकी निन्दा करते हैं[4]। जिस प्रकार कपिल आदि की उसी प्रकार निग्रन्थों (निगण्ठों) की भी सर्वज्ञता आपेक्षिक अर्थ में ही समझनी चाहिए। भारतीय ऋषियों और चिन्तकों के प्रज्ञानों को हम इसलिए आदर की वस्तु नहीं समझते कि उनके उद्‌भावक महात्मा सर्वज्ञ थे, किन्तु

(१) देखिए आगे चतुर्थ प्रकरण में भगवान् तथागत की सम्यक् सम्बोधि प्राप्ति का वर्णन।

(२,३,४) द्रष्टव्य चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन, तथा पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध और जैन दर्शन'।

केवल इसीलिए कि जीवन की गम्भीरतम समस्याओं पर उनकी अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतम थी और उन्होंने जीवन को समग्र रूप में देखा था। इसी के परिणाम-स्वरूप भारतीय दर्शन की विरासत आज हमें मिली है। सत्य के दर्शन जिस शास्त्र में प्रस्फुटित हुए हैं वही हमारा 'दर्शन' है और इसीलिए गम्भीर चिन्तन की संज्ञा हमारे शब्दकोश में 'दर्शन' है। तत्वज्ञान की उपलब्धि भारतीय दर्शन में किस प्रकार मानी गई है और वैज्ञानिक ज्ञान से उसका क्या विभेद है, इस विषय पर कुछ विचार हम आगे 'भारतीय दर्शन में वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तत्व' पर विचार करते समय करेंगे। अभी यही जानना पर्याप्त है कि तत्त्वज्ञान की उपलब्धि भारतीयों के विचार में शक्य है और यही उनके दर्शन की आश्वासनकारी वाणी है।

'दर्शन' शब्द अपने विभिन्न रूपों में तत्व-दर्शन के अर्थ में प्राचीन दार्शनिक साहित्य में अनेक स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। डाक्टर भगवान्दास के अनुसार ईशोपनिषद् के इस मन्त्र में प्रथम बार 'दर्शन' शब्द का प्रयोग अपने पारिभाषिक अर्थ में हुआ है—'सत्य का मुख सोने के पात्र से ढँका हुआ है। हे पूषन्! सब जगत् के पोषक करने वाले परमात्मन्! उस ढकने को हटाओ ताकि सत्य पर प्रतिष्ठित धर्म का दर्शन हमको हो'[१]। डाक्टर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार 'दर्शन' शब्द का व्यवहार अपने पारिभाषिक अर्थ में प्रथम-बार वैशेषिक सूत्र ९।२।१३ में हुआ है जिसे वे प्राग्बौद्धकालीन मानते हैं[२]। उनका कथन है कि विनय पिटक (तथा अन्य पिटक साहित्य) में जो 'दिट्ठि' शब्द विपरीत मत को प्रदर्शित करने के लिए व्यवहृत हुआ है, वह उसी धातु से व्युत्पन्न है जिससे संस्कृत 'दर्शन' शब्द। पाँचवीं शताब्दी में 'षड्दर्शन समुच्चय' के रचयिता हरिभद्र भी 'सर्व दर्शन वाच्योऽर्थः' कह कर दर्शन की एक

(१) हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय 'दृष्टये'। ईशोपनिषद् १५; अन्य बहुत-से उदाहरण औपनिषद साहित्य से 'दृश्' धातु से व्युत्पन्न शब्दों के 'दर्शन' के रूप में दिए गये हैं, यथा 'आत्मा वाऽरे दृष्टव्यः', 'नान्यत् आत्मनोऽपश्यत्' 'आत्मन्येवात्मानं पश्यति' 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते.... आत्मनो वा अरे दर्शनेन', 'ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐतरेय०) 'यत्र नान्यत् पश्यति स भूमा', तमसः पारं दर्शयति (छान्दोग्य०) आदि, आदि।

(२) देखिए उनकी हिस्ट्री ऑव इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६८।

मत विशेष के रूप में ही व्याख्या करते हैं और माधवाचार्य ने अपने ग्रन्थ की "सर्व दर्शन-संग्रह' संज्ञा देकर ज्ञान की एक विशेष शाखा अथवा मत की एक विशेष रेखा के रूप में ही 'दर्शन' शब्द का व्यवहार किया है। डाक्टर वेणी-माधव वाड़ुआ के इस कथन में अधिकांश सत्य है कि वैदिक युग में दर्शन शब्द के लिए 'उक्थ' शब्द का प्रयोग होता था और दार्शनिकों के लिए 'कवि' शब्द का[1]। निश्चय ही हमारे प्रथम दार्शनिक 'कवि' के रूप में ही प्रकट हुए[2]। उस समय चिन्तन के व्यापार का द्योतक 'उद्गीथ' शब्द था। वैदिक ऋषियों में, जैसा कि डाक्टर वेणीमाधव वाड़ुआ ने हमें बताया है, प्रजापति परमेष्ठिन् के अनुसार 'उक्थ' कवियों अर्थात् दार्शनिकों के द्वारा अपने हृदय में किया हुआ वह गवेषण है जिसके प्रकाश में सत् और असत् के बन्धन को वे देखते हैं[3]। ऋषि दीर्घतमस् के अनुसार कारणों के कारण परम तत्व का खोजना ही 'उक्थ' है और ऋषि विश्वकर्मा की सम्मति में 'संप्रश्न' अर्थात् संदेह अथवा जिज्ञासा ही 'उक्थ' की आत्मा है[4]। इसी तथ्य की ओर बाद में चलकर 'न्यायभाष्य' और 'भामती' के मनीषी रचयिताओं ने भी संकेत किया[5]। वैदिक ऋषियों के नैसर्गिक उद्गार जो 'उक्थ' के रूप में प्रथम निःसरित हुए आत्मविद्या के भारत में प्रथम स्वरूप थे। कालान्तर में आत्मविद्या को आन्वीक्षिकी विद्या का आश्रय प्राप्त हुआ और ईसा की कम से कम छठी शताब्दी पूर्व दर्शन का अध्ययन व्यवस्थित रूप से भारत में होने लगा। डाक्टर राधाकृष्णन् का मत है कि ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व तक आते आते 'दर्शन' शब्द का प्रयोग प्रचलित होने लगा[6]। जो-जो प्रवृत्तियाँ भारतीय दर्शन के स्वरूप को समय समय पर निश्चित करती रहीं और जिनके परिणामस्वरूप उसके परिपूर्ण आध्यात्मिक स्वरूप का निर्माण हुआ, उनका

(१) देखिए उनकी प्री बुद्धिस्टिक इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, पृष्ठ ५-६

(२) तभी तो एक जिज्ञासु ऋषि ने कहा है, कवीन् पृच्छामि विदुषो न विद्वान्। ऋग्वेद।

(३) 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्'। ऋ० १०।१२९।४

(४) अचिकित्वां चिकितुषः। ऋ० १।१६४।६,७; द्रष्टव्य वेणीमाधव वाड़ुआः प्री बुद्धिस्टिक इण्डियन फिलॉसफ़ी, पृष्ठ ६

(५) नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तु संदिग्धे। न्यायभाष्य १।१।१; जिज्ञासया प्रयोजनं सूचयति। भामती० १।१।१

(६) इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८

उल्लेख हम आगे भारतीय दर्शन के विकास को दिखाते समय संक्षेप में करेंगे। यहाँ हमें यही समझ लेना है कि अपने समग्र ऐतिहासिक विकास में भारतीय दर्शन एक गहरी आध्यात्मिक भावना से अनुप्राणित रहा है और केवल कुतूहल-वश संसार के रहस्यों को खोलने की व्यग्रता उसने कभी नहीं दिखाई। इस आध्यात्मिक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ही हमें उसके समग्र दर्शन-विभागों को मिलाना चाहिए।

भारतीय दर्शन का प्रकृत विषय है परम तत्त्व के दर्शन करना, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग ढूंढ़ना और उसकी तात्त्विक व्याख्या करना एवं मनुष्यत्व की वास्तविक महिमा का साक्षात्कार करना एवं उसे विस्तारित करना। सम्यक् ज्ञान के बिना यह सब असम्भव है। अतः उसी की गवेषणा भारतीय दर्शन का एकमात्र लक्ष्य है। स्वभावतः ही यह सभी मानवीय विज्ञानों अथवा विद्यास्थानों की इतिश्री है, अतः वे सभी उसमें सम्मिलित हैं। किन्तु भारतीय विचारकों ने वस्तुओं को इतना विश्लेषणात्मक रूप से नहीं देखा जितना संश्लेषणात्मक रूप से, अतः भारतीय अध्यात्मविद्या अन्य अनेक विद्याओं को अपने में सन्निहित करके उनको पचाने वाली हुई, उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्थापित करने वाली नहीं। इस प्रकार प्रमाण शास्त्र, मनोविज्ञान शास्त्र, नीतिशास्त्र, तत्त्व शास्त्र, सृष्टि-चिन्तन शास्त्र, मानववंश-विज्ञान, जाति-विज्ञान आदि अनेक शास्त्र भारतीय दर्शन में अन्तर्हित पड़े हैं, किन्तु अपने नाम-रूप को खोकर। स्वतन्त्र सत्ता के रूप में तो कभी नहीं। केवल वैज्ञानिक अध्ययन की सुविधा के लिए ही हम यहाँ किसी विशेष दर्शन के आचारतत्व, मनोविज्ञान आदि विषयों को लेकर विवेचन करेंगे, किन्तु हमें यह तो कभी नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय मनीषियों ने ज्ञान और जीवन को खण्डशः न देखकर उनके समग्र रूप में ही देखने का प्रयत्न किया था और इसीलिए उनके 'दर्शन' की उत्पत्ति भी हुई थी। शायद संसार के और किसी भी देश में इस अनुत्तर सत्य का कि ज्ञान केवल मानवीय बुद्धि का ही व्यापार नहीं किन्तु समग्र मानवीय व्यक्तित्व की ही ज्ञेय वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया है, साक्षात्कार इतनी गूढ़ और व्यापक दृष्टि से नहीं किया गया जितना भारत में। अतः पश्चिमी दर्शन में दर्शन शास्त्र का विभाग जितने विभिन्न शास्त्रों में होता है वे सब भारतीय दर्शन में स्वभावतः संनिविष्ट तो हैं ही प्रत्युत उन सब से अधिक एक गहरी आध्यात्मिक एकता और गम्भीरता जो उसे जीवन से मिलाती है भारतीय दर्शन में मिलती

हैं। इस विशेषता पर हमें अपने समग्र विवेचन में अपनी दृष्टि विशेष रूप से जमानी पड़ेगी।

इसी प्रसंग में हमें भारतीय दर्शन के प्रयोजन को भी देख लेना चाहिए, जैसा कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने उसे देखा था। फिर उसी दृष्टिकोण से हमें विभिन्न भारतीय दर्शनों (विशेषतः बौद्ध दर्शन) की मीमांसा करनी होगी और उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं महत्त्व का अनुमापन भी। भारतीय दर्शन के प्रयोजन का प्रश्न अत्यन्त गम्भीर है और अत्यन्त विस्तृत भी। श्रद्धेय डाक्टर भगवान् दास जी ने इस विषय को अत्यन्त गम्भीरता और विशदता के साथ तुलनात्मक दृष्टि से अपने ग्रन्थ 'दर्शन का प्रयोजन' में निरूपित किया है। अधिक विजिज्ञासु और अनुसंधित्सु पाठक इसे वहीं देखेंगे। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन का प्रवर्तन दुःख-निवृत्ति के उद्देश्य को लेकर ही हुआ है। न्याय-दर्शन का उच्चतम लक्ष्य यही है कि पदार्थों के सम्यक् ज्ञान से निःश्रेयस की सिद्धि हो जिससे दुःख-त्रय का अन्त हो[1] और जो दार्शनिक परिस्थिति न्याय की है वही वैशेषिक की भी समझनी चाहिए। सांख्य-योग तो निश्चय ही स्पष्टतम शब्दों में दुःख निवृत्ति के ही लक्ष्य को लेकर प्रवृत्त होते हैं। मीमांसकों का मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्त यद्यपि कुछ विभिन्न प्रकार का है किन्तु स्वर्ग में दुःख की निवृत्ति तो वे मानते हैं फिर चाहे वह आत्यन्तिक भले ही क्यों न हो। वेदान्त-दर्शन निश्चय ही ब्रह्मविद्या का लक्ष्य एकमात्र दुःख की निवृत्ति ही मानता है और सभी औपनिषद विज्ञान इसके लिए ही प्रवृत्त हुआ है। आस्रव के क्षय से मोक्ष को मानने वाली आर्हती दृष्टि भी दुःख निवृत्ति की ही उपासना करती है और शाक्यसिंह ने तो दुःख और दुःख निवृत्ति को छोड़ कर और कुछ सिखाने का दावा ही नहीं किया। भक्त और तान्त्रिक सब इसी के पक्षपाती हैं। अतः इस लक्ष्य को हमें सदा ध्यान में रखना चाहिए जब भी हम भारतीय दर्शन-प्रज्ञानों का मूल्यांकन करें।

दर्शन शास्त्र के महत्त्व को सदा ही भारतीयों ने अपने सभी विद्या-स्थानों से उच्च स्थापित किया है। मनु, याज्ञवल्क्य, और कौटिल्य आदि मनीषियों ने उसे समग्र ज्ञान का मूर्धन्य और अग्रणी बताया है। भारतीय चिन्ता सदा अध्यात्म शास्त्र पर ही केन्द्रित रही है, अतः जब हम उसके विवेचन में प्रवृत्त

---

(१) 'प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन.....तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। न्याय-सूत्र १।१।१; मिलाइये 'प्रमाणनयैरधिगमः। तत्त्वार्थ-सूत्र १।६

होते हैं तो भारतीय संस्कृति की सर्वोत्तम देन पर ही हमारी दृष्टि होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध दर्शन का इसमें अपना एक विशेष स्थान है।

भारतीय दर्शन की मुख्य विचार-पद्धतियाँ, उनके सामान्य विवेचित विषय एवं भारतीय दर्शन की आधिकारिक वस्तु

भारतीय दर्शन की विचार-पद्धतियां अनन्त और असंख्य हैं। विश्व के चिन्तन का कोई ऐसा पहलू नहीं है जिसका प्रतिरूप भारतीय दर्शन में मौजूद न हो। किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन की स्पष्टता के लिए इनका कुछ स्थूल वर्गीकरण कर लिया गया है जो इस प्रकार है। पहले भारतीय दर्शन का द्विविध विभाग है। नास्तिक और आस्तिक मत। जिनकी वेद-प्रामाण्य में आस्था नहीं वे 'नास्तिक' हैं और जिनकी प्रामाण्य-बुद्धि वेद में है, वे 'आस्तिक' दर्शन हैं। हम कह सकते हैं कि उपनिषदें इन दोनों से परे हैं और इन दोनों की स्थापना करने वाली भी, यद्यपि परम्परागत दृष्टि से वे 'आस्तिक' दर्शन के ही भाग हैं। वस्तुतः वे गगनचुम्बी हिमालय की उन चोटियों के समान हैं जिनसे निःसृत होकर समग्र भारतीय दर्शन-सरिता बही है। नास्तिक दर्शनों में सम्मिलित हैं, जैसा कि हम आगे विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे भी, बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन। आस्तिक दर्शनों में प्रधानतः छह दर्शन सम्मिलित हैं जो सामूहिक रूप से 'षड् दर्शन' की संज्ञा पाते हैं, और वे हैं न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन[1]। इन दर्शनों का उद्भव और विकास किसी एक विशेष युग की घटना नहीं। विकास की एक बड़ी लम्बी परम्परा का अनुवर्तन कर उन्होंने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया है। चार्वाक दर्शन की इतिहासवत्ता के विषय में अभी कुछ विशेष गवेषणा नहीं हो सकी है, किन्तु यह विचार-पद्धति अत्यन्त प्राचीन है। सम्भवतः महाभारत से पूर्व और उपनिषदों के समकालीन इसकी परम्परा थी। जैन-दर्शन सम्भवतः प्रागैतिहासिक है, ऐसा कुछ ऐतिहासिक विद्वानों का मत है। बौद्ध दर्शन का उदय भगवान् बुद्ध के आविर्भाव से हुआ किन्तु कुछ पूर्व की विचार-पद्धतियाँ कालान्तर में उनके शासन के साथ भी अदृष्ट रूप से मिल न गई हों,

(१) सामान्यतः 'षड्दर्शन' के नाम से यही छह आस्तिक दर्शन अभिहित किए जाते हैं, किन्तु हरिभद्र ने अपने 'षड्दर्शन समुच्चय' में बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय दर्शनों को 'षड्दर्शन' के रूप में विवेचित किया है, जिनमें 'नास्तिक' और 'आस्तिक' सभी सम्मिलित हैं।

ऐसी भी बात नहीं है। षड्दर्शनों के विकास की एक लम्बी और अपने प्रारम्भिक काल में एक अस्पष्ट परम्परा है। किन्तु फिर भी गौतम (अक्षपाद) न्याय के, कणाद (उलूक) वैशेषिक के, कपिल सांख्य के, पतञ्जलि योग के, जैमिनि पूर्वमीमांसा के और कृष्णद्वैपायन (व्यास, बादरायण) उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन के, उद्भावक ऋषि माने गए हैं जो उनके कदाचित् प्रवर्तक भी हो सकते हैं और कदाचित् केवल अनुशासनकर्ता भी। भक्तों और तान्त्रिकों की परम्पराएँ 'आस्तिक' दर्शन के विभाग में ही आती हैं। इन सभी विचार-पद्धतियों के ऐतिहासिक विकास पर और इन के साहित्य पर भी एक अत्यन्त संक्षिप्त विहंगम दृष्टि हम एक अगले प्रकरण में डालेंगे। इनके सैद्धान्तिक पक्ष का भी विवरण कुछ विस्तृत रूप से इन सबके बौद्ध दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय करेंगे। यहाँ केवल सामान्य रूप से सैद्धान्तिक पक्ष को ही लेकर कुछ कहना अपेक्षित है। न्याय और वैशेषिक दर्शन सृष्टि अथवा बाह्य जगत् की गवेषणा को लेकर प्रवृत्त हुए हैं, यद्यपि अन्तिम उद्देश्य अपना वे भी वही रखते हैं जो अन्य दर्शनों का है अर्थात् सम्यक् ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस की अधिगति। सांख्य और योग दर्शन की मूल संवेदना वैज्ञानिक न होकर मनोवैज्ञानिक है और अन्तः प्रकृति के जिस गूढ़ गवेषणा के द्वारा सांख्य अपने तत्त्वज्ञान पर पहुँचता है उसी की भित्ति पर योग अपनी साधना के मार्ग का निर्माण करता है। पूर्व-मीमांसा जबकि वैदिक प्रज्ञान के ठीक अर्थों को जानने के लिए एक विशाल नियम-परम्परा का प्रवर्तन करती है तो वेदान्त ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा अशेष दुःख-निरोध के मार्ग को विकसित करता दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार तथाकथित 'नास्तिक' दर्शनों की भी विचार-परम्पराएँ हैं जिन सब के विवरण हम उक्त दर्शनों के साथ बौद्ध दर्शन की तुलना करते समय ही देंगे। सभी दर्शन प्रायः आत्मा, कर्म और मोक्ष को लेकर विचार उपस्थित करते हैं। प्रमाण-मीमांसा सभी की प्रायः अपनी-अपनी अलग है। प्रमाण और प्रमेय आदि पर विचार सभी दर्शनों को अपेक्षित है। चार्वाक मत को छोड़ कर सभी की तर्क-परम्परा प्रायः अध्यात्म से अभिभूत है। एक विश्वव्यापी नियम में सभी का विश्वास है, हाँ इसको व्यक्त करने के ढंगों में बहुत विभिन्नता है। सभी का साधन तत्त्व उनका एक प्रधान अंग है और उसमें भारतीय दर्शन जितने एक दूसरे के समान हैं उतने अन्य किसी बात में नहीं। अनेक बातों में समान होते हुए भी यह कहना अत्यन्त कठिन है कि समग्र भारतीय दर्शनों की एक

आधिकारिक वस्तु क्या है ? कौन निर्विवादपूर्वक बता सकता है कि ब्रह्म का, बृहद्, विभु तत्त्व का, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमत् 'क' का, जगत् के उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण का, अशेष कारणों से अतीत परम सत्य का, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव का, आनन्द का, जिसके स्वरूप-निर्णय के लिये ही ब्रह्म-जिज्ञासा का आरम्भ है, स्वरूप क्या है ? जिज्ञास्य वस्तु का तद्विषयक जिज्ञासा का निरूपण करनेवाली विद्या से सम्बन्ध क्या है ? मानव-जीवन का, अपनी दृश्य समस्याओं में ही पर्याप्त उलझनों, परेशानियों, शोक, परिदेव, दुःख और दौर्मनस्य पाने वाले मनुष्य के लघु काल का, इस एक और जिज्ञासा की उलझन को बढ़ाने का प्रयोजन क्या है ? मानव-जीवन में इसका उपयोग क्या है ? क्या ब्रह्मात्मचिन्तन ही, ब्रह्मावगति ही, ब्राह्मी स्थिति ही, ब्रह्मविद्या का गवेषित विषय है या श्रेष्ठ विद्या के अर्थ में उसने समान भाव को अन्य प्रज्ञप्तियों से भी, अन्य प्रकारों से भी, व्यक्त किया है ? संक्षेप में, हमें जानना है कि भारतीय ब्रह्मविद्या का, अध्यात्म शास्त्र का, मध्यबिन्दु क्या है। भारतीय दार्शनिक गवेषणा का, सत्यता की उसके द्वारा खोज का, मूल गन्तव्य क्या है ? किस लक्ष्य को लेकर भारतीय अध्यात्म विद्या चली और किन निश्चित परिणामों पर वह पहुँची ? गौण मतवादों को छोड़कर उसकी आधिकारिक वस्तु क्या है ? कौन सी वह मूल संवेदना है जो उसकी समस्त विस्तृत परम्परा को ढँक लेती है और जिसके विषय में कहा जा सकता है कि सभी दार्शनिक प्रवृत्तियाँ उसके प्रति प्रासंगिक वस्तु के रूप में ग्रथित हैं। अन्य शब्दों में, कौन सा वह इन्द्र रूप मूल तत्त्व है जो एक होकर भी अपनी मायाओं के द्वारा 'पुरुरूप' हुआ, बहुरूप हुआ, नाना विवर्तों और नाम-रूपों को धारण करता हुआ, विभिन्न भारतीय दर्शन-प्रणालियों में छिपा हुआ पड़ा है ? कौन-सा वह कूटस्थ, अचल, ध्रुव नक्षत्र है जिसके चतुर्दिक् सभी भारतीय दर्शन-प्रणालियाँ चक्कर लगाती हैं, किन्तु स्वयं जो सदा एकनिष्ठ और निश्चल है। भारतीय दर्शन की गति में वह सर्वनिष्ठ स्थिर तत्व हमें ढूंढ़ना है जिससे उसकी ऊपर से परस्पर विरोधी दिखाई देने वाली प्रणालियों की संगति लग जाय और जिसमें सभी दर्शन-सम्प्रदाय धागे में मोतियों की तरह पिरोये हुए दिखाई दें। यही प्रश्नों का प्रश्न है जिसके उत्तर में अन्य सभी प्रश्नों के उत्तर निहित हैं। इसका उत्तर विना दिए हम सम्भवतः आगे नहीं बढ़ सकते।

किन्तु यह एक अत्यन्त साहसिक प्रयत्न है। इसका कारण यह नहीं कि इस प्रश्न को ही कोई औपनिषद ऋषि 'अति प्रश्न' कह सके या कोई बुद्ध 'असंगत

प्रश्न', बता सके। प्रश्न के सर्वथा समीचीन और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उसका केवल उत्तर देना कठिन है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि यह कठिनता केवल गौण और अमहत्त्वपूर्ण बातों को अधिक महत्त्व देने के कारण ही है, 'नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्' के सिद्धान्त की अनावश्यक अतिरञ्जना के फल-स्वरूप ही है और वास्तव में परमार्थ दृष्टि से देखने पर, साधनपक्ष पर अधिक जोर देने पर और व्यावहारिक जीवन में प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय की उपयोगिता पर दृष्टिपात करने पर, सभी का किसी एक ही सामान्य उद्देश्य में पर्यवसान है। किन्तु सर्वसम्मत परमार्थ का स्वरूप क्या है? भिन्न-भिन्न साध्यों को लेकर प्रवर्तित हुईं साधनाओं का सामान्य तत्त्व क्या है? आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर विचार करते समय कठिनता और भी विकराल स्वरूप धारण कर हमारे सम्मुख आती है, और निश्चय ही इस विकरालता की तीव्रता होती है हमारे विभिन्न दर्शन-सम्प्रदायों सम्बन्धी ज्ञान के अनुपात पर ही। केवल इतना ही कह देने से काम नहीं चल सकता कि 'दर्शन' एक ही है, जो यहाँ है वह वहाँ है, शब्दों में ही केवल विवाद है, 'सब सन्तों का एक मत बिच के बारह बाट' आदि, आदि। समस्या इससे अधिक गम्भीर है। किसी भी भारतीय तत्त्वज्ञान के विद्यार्थी के लिए और विशेषतः उसके तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त गवेषक के लिए, जिसे किसी सम्प्रदाय-विशेष की परिचर्या करना इष्ट नहीं, अपितु सत्य का यथासम्भव विषयगत निरूपण ही जिसके लक्ष्य की प्राप्ति है और वस्तुओं अथवा विचारों के विकास की परम्परा का कार्यकारणभावपूर्वक निदर्शन ही जिसके कर्तव्य की परिसमाप्ति है, निश्चय ही इस प्रश्न के हल में पड़ना अत्यन्त भयावह है। यह ठीक है कि वह तथ्यों या विचारों को निर्मम बुद्धिवाद की प्रहरीशाला में बुलाकर उनके विरोधी साक्ष्यों को सुन सकता है, उनसे सम्भवतः जवाब तलब भी कर सकता है, उनकी निष्पक्ष समालोचना में भी प्रवृत्त हो सकता है और चाहे तो अपना मत भी प्रदर्शित कर सकता है, किन्तु सदा तटस्थ साक्षी के रूप में ही, स्वयं किसी पक्ष का समर्थक होकर नहीं, अनुभूति की प्रतिष्ठा छोड़ कुतर्क का आश्रय लेकर नहीं। उसमें वाचस्पतिमिश्र की सी उदारता चाहिए (हाँ, इन आस्तिक वृद्ध मनीषी की सहिष्णुता भी जिन्हें 'बाह्य' कहे विना नहीं रह सकी, उन्हें भी निश्चय ही स्वकीय समझने की), सायण-माधव की सी उसमें निष्पक्षपता चाहिए। जहाँ शंकर, याज्ञवल्क्य और बुद्ध जैसे विचारकों से जूझना है वहाँ अल्पज्ञों, अल्पसाधनों और अल्पवैराग्यवालों की स्वतंत्र

समालोचना अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। अतः सामान्य अनुभव, तात्विक विवेचन, अपनी अल्पता की अनुभूति से उत्पन्न एक गहरी श्रद्धा और विनम्रता की भावना तथा निष्पक्ष विचार ही सत्य के गवेषक के बौद्धिक पक्ष में अमोघ किन्तु साथ ही निर्बल साधन हैं। उच्चतम विषयगत अध्ययन में भी, विद्वत्ता के अन्तिम परिणाम स्वरूप पाए हुए निष्पक्ष विचार के सद्भाव में भी, मनुष्य की आत्मीयता छिपाई नहीं जा सकती। अन्ततः मनुष्य एक भावना मय प्राणी ही तो है, श्रद्धामय जन्तु ही तो है। वह अपनी भावना को कहाँ ले जा सकता है, अपनी श्रद्धा को कहाँ छिपा सकता है? अपने व्यक्तित्व और विचार को माध्यमिकों की तरह, आत्यन्तिक निःशेष करके भी तो उसे किसी आदर्श विशेष का उपासक बन कर ही रहना पड़ेगा। किन्तु इस प्रकार की आत्मीयता भी यदि विनम्रता और अपनी अल्पज्ञता की उचित अनुभूति से ठीक तरह से बँधी हुई हो तथा उसमें अपनी समझ में न आने वाले तथा अपने को किसी हालत में गलत तथा अपूर्ण दिखाई देने वाले सिद्धान्तों के प्रति भी आदर की भावना का अभाव न हो किन्तु उनके वास्तविक तत्त्व को समझने के लिए सतत जिज्ञासा की विद्यमानता हो तो इस प्रकार की आत्मीयता भी कोई हानिकर वस्तु नहीं होगी बल्कि विषय गत अध्ययन का ही एक आवश्यक अंग होगी। फिर एक गवेषक, विशेषतः दार्शनिक तत्त्वों का गवेषक, जब तक स्वयं अपने विचारों की गर्मी से पसीने की तरह आर्द्र न हो जाय तब तक दूसरों के ही विचारों का पर्यालोचन करता हुआ वह केवल अवमानना का ही तो पात्र होता है[1]। अतः इन सब बातों को सोचकर ही हमें अपने विषय में प्रवृत्त होना है।

आत्मैकत्व विज्ञान अथवा एकात्म दर्शन भारतीय दर्शन का संग्राहक सूत्र— प्रकारान्तर से उसके विभिन्न स्वरूप

भारतीय दर्शन की एक लम्बी परम्परा है और अनेक प्रकार के परस्पर विभिन्न विचारों का प्रकाशन उसमें हुआ है। उसकी समग्र विकास-परम्परा को एक सामान्य नियम के अन्दर बांधना एक कठिन काम है। किन्तु उसके विकास और स्वरूप को समझने के लिए और उसकी एक विशिष्ट धारा (बौद्ध दर्शन) का उसकी अन्य धाराओं के साथ सम्बन्ध ज्ञापन करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम उसकी मूल वस्तु को पकड़ें। महामति डाक्टर राधाकृष्णन् का मत है कि अद्वैतवाद ही भारतीय दर्शन का मूल तत्त्व

(१) देखिए, नीशे की उक्ति दस स्पेक ज़ेरेथुस्ट्रा में 'विद्वानों के प्रति'।

है और इसी में उसके समस्त सम्प्रदायों का स्वाभाविक पर्यवसान है। अपने विभिन्न रूपों में अर्थात् केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत और शुद्धाद्वैत की विचार-प्रणालियों में, यह अद्वैतवाद समस्त भारतीय दर्शन-परम्परा को पूरी तरह ढँक लेता है। "वैदिक विचार का सम्पूर्ण विकास इसी की ओर संकेत करता है, बौद्ध और ब्राह्मण धर्म इसी पर आधारित हैं, यही उच्चतम सत्य है जो भारत को उद्भासित हुआ है"[१]। यद्यपि हम जानते हैं कि अद्वैतवाद भारतीय दर्शन की अनेक चिन्तन प्रणालियों में से एक है और उसको छोड़कर सांख्यादि दर्शनों की अन्य प्रभावशाली परम्पराएँ भी प्रचलित हैं जो द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित हैं और कुछ ऐसी भी विचार-धाराएँ हैं जो इस प्रकार समस्या के हल में प्रवृत्त ही नहीं होतीं। किन्तु यह सब होने पर भी डाक्टर राधाकृष्णन् के उपर्युक्त मत से हम असहमत नहीं हो सकते, क्योंकि भारत की प्रायः सभी दर्शन-प्रणालियों का अन्तिम गन्तव्य स्थान हमें अद्वैतवाद ही दिखाई पड़ता है। श्रीहर्ष ने नैषध-चरित (२१।८८) में भगवान् बुद्ध को 'अद्वयवादी' कहा है। किस अर्थ में उन्हें ऐसा कहा जा सकता है या नहीं इसकी हम आगे चल कर मीमांसा करेंगे। कुछ उत्तरकालीन महायानी आचार्यों ने, जो शंकर और गौडपाद के पूर्ववर्ती थे, अपने को गौरवपूर्वक अद्वयवादी कहा है। उधर रामानुज सम्प्रदाय के विशिष्टाद्वैतवादियों ने शंकर के अद्वैतवाद को बौद्ध विज्ञानवाद का एक रूप माना है। इस सब से बौद्ध-दर्शन और अद्वैतवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध कम-से-कम स्पष्ट है, और इतना ही जानना इस समय हमारे लिये पर्याप्त होगा। इसमें सन्देह नहीं कि विमुक्ति सुख का अनुभव करते हुए[२] भगवान् बुद्ध ज्ञान की चरम सीमा रूपी अद्वय तत्त्व पर पहुँचे थे, परन्तु उसके विवेचन के प्रति उन्होंने उदासीनता दिखाई है। इसका कारण यही है कि तथागत अर्थार्थी थे। ज्ञान के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रयोजनवादी था। जैन अनेकान्तवाद इतना व्यापक सिद्धान्त है कि उसमें अद्वैतवाद को भी प्रश्रय मिल सकता है, यद्यपि वह उसकी मूल भावना नहीं है। द्वैतवाद

(१) "To it (monistic idealism) the whole growth of Vedic thought points; on it are based the Buddhistic and the Brahmanical religions; it is the highest truth revealed to India." इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३१-३२

(२) देखिए उदान, बोधिवग्ग।

को हम अद्वैतवाद रूपी लक्ष्य के बीच का पड़ाव मान सकते हैं। कम-से-कम वह उसका नितान्त विरोधी सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार बुद्ध को जब हम अनात्मवादी कहते हैं तो उसका एक विशिष्ट अर्थ है। सत्य को प्रदर्शित करने के दोनों ही ढंग होते हैं, अर्थात् विधि के द्वारा भी सत्य का निर्देश किया जाता है और निषेध के द्वारा भी। उपनिषदों ने यदि स्वयं 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'[१] कहा है तो 'अथात आदेशो नेति नेति[२]' भी कहा है 'वह विदित से अन्य है और अविदित से भी अन्य है'[३] ऐसा भी कहा है और याज्ञवल्क्य ने तो 'नहीं है'[४] ऐसा भी कहा है। भगवान् बुद्ध का अनात्मवाद वेदान्त के आत्मवाद का विरोधी नहीं है, उसको देखने की दूसरी दृष्टि है, यह सब हम उपयुक्त स्थान पर दिखाने का प्रयत्न करेंगे[५]। यदि ऐसा नहीं होता तो बौद्ध अनात्मवाद भी उस अमृतत्त्व के फल को क्यों फलता जिसकी निष्पत्ति में समस्त वेदान्तों का पर्यवसान है[६]। अनात्मवाद क्यों उस अहंकार का विनाश होता जिसके लिए समस्त वेदान्तों का आरम्भ है, क्यों उस अविद्या का समूल उच्छेद होता जो वेदान्त की दृष्टि में भी सभी अनर्थों का मूल है[७]। जिस प्रकार सर्वाधिक प्रिय, स्थिर, परिनिष्ठित तत्त्व आत्मस्वरूप के ज्ञान, साक्षात्कार और ग्रहण के द्वारा औपनिषद ऋषि परमार्थ की सम्भावना मानते हैं, उसी प्रकार बाह्य भूतों और विज्ञानों आदि के उसके साथ एकात्मीकरण का निराकरण करके भगवान् बुद्ध काम अथवा तृष्णा के मूल उद्गम पर ही कुठाराघात कर उसे निःश्रेयस की अधिगति का मार्ग बतलाते हैं, जो बौद्ध और वेदान्त दोनों दर्शनों का ही समान रूप से गन्तव्य मार्ग है। जिस अभिमान के विस्तार को अत्यन्त सार्वजनीन और विश्वव्यापी रूप प्रदान कर उपनिषदों के ऋषि अहंकार से पल्ला छुड़ाने की चेष्टा करते हैं उसी का व्यक्तिगत जीवन के रूप में निराकरण करके भगवान् बुद्ध समान उद्देश्य पर पहुँचते हैं। आत्मा की एकता का ज्ञान हुए विना अहिंसा के आचरण की क्या संगति है? माहायानिकों ने

---

(१) मुण्डक० ६।१३; अस्ति ब्रह्मेति चेद्वद सन्तमेनं ततो विदुरिति। तैत्तिरीय० २।६।१

(२) बृहदारण्यक० २।३।६

(३) अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। केन० १।३

(४) नेति होवाच याज्ञवल्क्यः। बृहदारण्यक ३।२।११; स एष नेति नेत्यात्मा। बृहदारण्यक ३।९।२६; द्रष्टव्य वहीं ४।२।४; ४।१२

(५,६,७) देखिए आगे चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन।

करुणा का लक्षण 'स्व' और 'पर' के भेद का मिटाना कहा है, उसका क्या आधार है? भूतदया का सिद्धान्त आत्मैकत्व-विज्ञान की दृढ़ बुनियाद के विना कहाँ ठहर सकता है? सारांश यह कि समग्र बौद्ध आचार तत्त्व की कोई संगति ही नहीं लग सकती जब तक कि औपनषद तत्त्वज्ञान जैसी कोई स्थिर भित्ति उसकी प्रतिष्ठा-स्वरूप न मानी जाय[1]। और इससे बौद्ध दर्शन की तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में मौलिक देन के विषय में कोई कमी भी उपस्थित नहीं होती। किन्तु इस विषय में विस्तृत रूप से विवेचन तो हम बाद में ही करेंगे। यहाँ इतना ही कहना अपेक्षित है कि तथागत की समस्त दर्शन-प्रणाली की प्रतिष्ठा ही प्राचीन आर्य-विचार परम्परा है और यद्यपि उनकी वाणी का विशेष बल मानव-जीवन की गूढ़तम समस्या दुःख और दुःख के आत्यन्तिक निरोध की ओर ही रहा है किन्तु दुःख के विनाश की खोज करते-करते वे अन्त में जिस स्थान पर पहुँचे हैं वह अपने व्यावहारिक रूप में आत्मा की एकता के ज्ञान की उन्चतम अवस्था ही है, यद्यपि उसका दार्शनिक विश्लेषण करना भगवान् बुद्ध का व्यवसाय नहीं था। उनकी तो सारी दृष्टि दुःख के दर्शन और चिन्तन पर ही व्यवस्थित थी और मानवता को दुःख के निरोध करने के अन्यतम मार्ग को दिखाना ही उनका प्रधान उद्देश्य था, दार्शनिक सिद्धान्तों का विधान करना नहीं। पञ्चस्कन्ध, प्रतीत्यसमुत्पाद और अनात्मवाद के गम्भीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और विवेचन भी दुःख के उद्भव और विनाश को अच्छी तरह समझाने के लिए ही हुए, विशिष्ट दार्शनिक समस्याओं को सुलझाने के लिए नहीं। इस प्रकार अद्वैतवाद अथवा आत्मैकत्वविज्ञान भारतीय दर्शन की मुख्य संवेदना कहा जा सकता है। इसी को विभिन्न दृष्टियों का आश्रय लेकर यहाँ तीन प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है, अर्थात् आत्मैकत्व विज्ञान के रूप में, दुःख के आत्यन्तिक निरोध के रूप में और मानवत्व की महिमा के साक्षात्कार के रूप में भी। जो दर्शन स्पष्ट रूप से आत्मैकत्त्व विज्ञान की श्रेणी में नहीं आते, वे दुःख के आत्यन्तिक निरोध की श्रेणी में आते हैं और जो इन दोनों श्रेणियों में नहीं आते वे मनुष्यता के तेज को प्रकर्ष देने के समर्थक तो अवश्य ही हैं। सब प्रकार की मानसिक और कार्यकारिणी वृत्तियों के सम्यक् परिमार्जन,

(१) मिलाइये, Buddhistic metaphysics becomes satisfactory and intelligible only if it is complemented by some form of absolute idealism." राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४१७

शोधन और विकास में, सम्पूर्ण स्फूर्ति और अप्रमाद के जीवन-क्रम में और शरीर, मन और आत्मा की यथोचित उन्नति और विशुद्धि में तो सभी दर्शनों को हम प्रायः सम्मत ही पाते हैं। वास्तव में बात तो यह है कि दुःख के आत्यन्तिक निरोध और मानव की महिमा के साक्षात्कार करने में तो विश्व के सभी दर्शनों का पर्यवसान हो जाता है, फिर चाहे वे एकात्मवादी हों या नहीं भी। 'एक गाँठि कइ फेरे'। अनेक मार्गों से हम एक ही समाधान को प्राप्त कर सकते हैं। निश्चय ही ज्ञान की परम काष्ठा तो आत्मैकत्वविज्ञान ही है[1]। 'विभक्तों में अविभक्त' देखना ही सात्त्विकतम ज्ञान है[2], और इस ज्ञान के सदृश पवित्र इस जगत् में कुछ नहीं[3]। इस ज्ञान को जिसने अनुभव किया है, वही 'ब्रह्मभूत' और 'प्रसन्नात्मा' हुआ है[4] और ऐसे सर्वात्मबोध-सम्पन्न महात्मा को भारत ने सदा दुर्लभ ही माना है[5]। 'उस जानने योग्य पुरुष को तुम जानो, जिससे मृत्यु तुम्हें कष्ट न पहुँचा सके[6], 'इससे परम और कुछ नहीं है'[7] 'मरण धर्मा अमर होता है, बस इतना ही अनुशासन है'[8]। इससे आगे आदेश नहीं है, नहीं है। 'अथात आदेशो नेति नेति'[9]। भारत ने अत्यन्त प्राचीन युग में ही अनुभव किया था कि 'भूमा ही, ब्रह्म ही, सुख है और अल्प में, सान्त में, इस भौतिक जगत् में, सुख नहीं है'[10] क्योंकि 'जो अल्प है वह विनाशशील है और जो भूमा है, वह अमृत है'[11]। दृश्य पदार्थों के द्वारा, अनात्मा के द्वारा, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की सिद्धि नहीं हो सकती,[12] अतः उस पद की खोज में लगना है जिसे पाकर फिर से जन्ममरण की दुःखपूर्ण यात्रा में पड़ना नहीं पड़ता[13]। 'उनकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती''[14] 'इस मानवीय आवर्त में वे पुनः नहीं गिरते, वे पुनः

(१) ज्ञानस्य ह्येषा परा काष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम्। शंकर।
(२,३) अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्। गीता। नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता।
(४) ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा। गीता।
(५) वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः। गीता
(६) देखिए पाँचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।
(७) नातः परमस्तीति। उपनिषद्।
(८) अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावद्ध्यनुशासनम्।
(९-११) देखिए पाँचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।
(१२) देखिए पांचवें प्रकरण में सांख्य दर्शन का विवेचन।
(१३-१४) उपनिषदों के विभिन्न वाक्य।

नहीं गिरते'[१], 'ब्रह्म भाव को प्राप्त वह विरज और मृत्युहीन हो गया'[२], 'विमुक्त होकर वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है'[३] 'उन्हीं को शाश्वती शान्ति है, अन्य को नहीं'[४]। भारतीय साधक ने संकल्प किया कि 'जिसने यह सनातन प्रवृत्ति फैलाई है, उसी आदि पुरुष की शरण में जाता हूँ'[५]। फिर कठिन तपश्चर्या और तीव्र प्रयत्नों से उसने सम्पूर्ण प्रकृति को छानकर अन्त में उस सनातन पद को, आश्चर्यों के आश्चर्य को, अपने ही अन्दर स्थित पाया। 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः'[६] और 'वासुदेवः सर्वमिति'[७] आदि की उद्घोषणा तो योगिराज कृष्ण के द्वारा कुरुक्षेत्र की रणस्थली में बहुत आगे चलकर हुई और महामति प्लातो का इस विषय सम्बन्धी अपूर्ण ज्ञान तो निश्चय ही संसार में बहुत पीछे आया जब कि महाभारत-युद्ध से निश्चय ही कई शताब्दियों पूर्व इस ज्ञान का प्रकाश वैदिक युगीन ऋषियों के हृदय में उद्भूत हो चुका था और स्वात्मानन्द के अतिरेक में तन्मय होकर उन्होंने उस प्रसन्न गम्भीर सत्य को उच्चरित किया था जिस तक पहुँचने में पाश्चात्य जातियों का वैज्ञानिक तत्वज्ञान विकास की इतनी सीमा पार कर लेने पर भी अभी तक ठिठकता सा है और जिसके सामने उसके सभी आविष्कार तुच्छ से लगते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी में अपने अपरोक्ष अनुभव के बल पर इसी आत्मैकत्व विज्ञान को ज्ञान की परम काष्ठा कह कर उद्घोषित किया और यह महान् सत्य आज भी उतना ही नवीन है जितना कि पहले कभी था। आधुनिक विज्ञान, जिसका प्रकर्ष आसुरी सम्पद् की प्राप्ति और विकास के द्वारा एक महान् भैरव नरमेध का आयोजन करने के लिए हुआ है और जिसने बौद्धिक विकास के साथ-साथ मनुष्य को आध्यात्मिक पतन के एक निम्नतम गड्ढे में डाल दिया है, यदि इस परम सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मूढ़बुद्धि, मोघकर्मा और मोघ आशय जड़वादी विज्ञान समझता है कि बाह्य प्राकृतिक तत्त्वों का अध्ययन कर वह प्रकृति को जीत लेगा और इस प्रकार मानव जीवन को सुखमय बना देगा। वह नहीं समझता कि आर्य-विनय में प्रकृति-विजय किस प्रकार होता है। किस प्रकार वह समझ सकता है कि प्रकृति के साथ उपादान ही, संसर्ग ही, चिपटना ही, मनुष्य के सारे दुःखों और अनर्थों की जड़

(१-४) उपनिषदों के विभिन्न वाक्य।
(५) गीता वाक्य 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'।
(६-७) गीता-वाक्य।

है और उस उपादान या संसर्ग का उच्छेद ही है दुःख-निरोध का एकमात्र मार्ग। 'तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः' यह भगवान् कपिल का सिंह-नाद किस प्रकार उसके गले उतर सकता है, जब कि हीन भोगवाद और द्वेष के मार्ग में उसका भटकना अभी बहुत कुछ शेष है। 'आत्मा ही सब जगत् है' यह महनीय अनुभव तो उसे अभी होना है और कौन जानता है कि समग्र महाभूत भी अन्त में उसे वही उत्तर न देंगे जो उन्होंने उपनिषदों के महा-मनीषी ऋषियों को दिया था[1] अथवा दिया था रोमनिवासी उस परमर्षि महात्मा मारकस ऑरैलियस को[2]। आत्मैकत्वविज्ञान, जिसकी सर्वप्रथम अनुभूति ऋग्वेदीय युग में ऋषियों को हुई और उपनिषत्काल में जिसका विशद साक्षात्कार और उत्तरकालीन युग में विस्तृत तात्त्विक विवेचन मनीषियों के द्वारा किया गया, न केवल समग्र उपनिषत्साहित्य की ही, अपितु समस्त भारतीय दर्शन-परम्परा की एक केन्द्रीय वस्तु है। हमारे दर्शन का यही एक सर्वोत्तम अनन्य साधारण आविष्कार है जिस पर हम गौरव कर सकते हैं। इसी के व्यावहारिक साक्षात्कार में विश्वजनीन भ्रातृत्व और सार्वभौमिक कल्याण की सम्भावना छिपी हुई पड़ी है। अन्य कोई मार्ग विश्व की मुक्ति का नहीं है। समाज-शास्त्रियों की सभी योजनाएँ और राजनीतिज्ञों की सभी बकवाद भरी बातें निष्फल हो चुकी हैं और सदा निष्फल होंगी जब तक कि समस्या का मूल से हल नहीं किया जाता। संसार को एक सूत्र में बाँधने के लिए कोई भी व्यवस्था तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि मनुष्य की आन्तरिक एकता को वह अपना आश्रय नहीं बनाती। साम्य की निष्ठा पूर्णतम होनी चाहिये। हमारे राजनैतिक और सामाजिक चिन्तक जो बाह्य उपादानों में ही उलझे रहते हैं वास्तविक समस्या के छोर को भी नहीं छू पाते। जितना प्रचार घृणा के भाव का और पारस्परिक अविश्वास का किया जाता है उसका शतांश भी यदि आत्मा की एकता का किया जाता तो कदाचित् विश्व के दुःख की मात्रा कुछ कम होती। किन्तु 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' का पाठ रटने वाले भारत-वासी भी तो अस्पृश्यता जैसी वस्तु के उपासक हुए, चातुर्वर्ण्य के संस्थापक हुए,

(१) अर्थात् अपने एक नियामक चेतना तत्त्व की सूचना, जिसके प्रति वे अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं के लिये ऋणी हैं, द्रष्टव्य बृहदारण्यक० २।५।१५; ३।८।७; ४।२४ आदि

(२) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३८

फिर अपनी ही विचार-प्रणाली के आधार पर वे विश्व को सिखाने का कैसे आडम्बर भी रच सकते हैं ? इसके लिए एकमात्र आश्रय जिस महत्त्वपूर्ण विरासत का हम ले सकते हैं, वह तो बौद्धधर्म ही है जिसने वास्तविक समत्व का व्यवहार सिखाया है, मानव-मानव की आधारभूत एकता का आचरण किया है और आत्मा की एकता के सिद्धान्त को कार्यरूप में परिणत किया है । कुछ भी हो, आत्मैकत्वविज्ञान का सिद्धान्त न केवल विश्व भ्रातृत्व को सिखाता है, बल्कि उसकी तात्त्विक प्रतिष्ठा भी है । जिस आत्मैकत्व-विज्ञान को उपनिषदों ने अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक सिखाया है (जिस पर विस्तृत विचार हम उनके दर्शन का बौद्ध दर्शन के साथ तुलनात्मिक अध्ययन करते समय करेंगे) उसी को छह दर्शनों ने भी अपनाया है, उसी की उपासना प्रकारान्तर से (जैसा कि हम यथास्थान देखेंगे) श्रमण-साधनाओं ने भी की है, उसी का प्रकृत रूप श्रीमद्भागवत, योगवासिष्ठ आदि को भी अपनी-अपनी प्रज्ञप्तियों में मान्य है। भक्तों की परम्परा द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित होते हुए भी अन्ततोगत्वा एकात्मवाद की ओर ही गई है । ज्ञाता और ज्ञेय के समान उपास्य और उपासक की एकात्मकता भक्ति-दर्शन को मान्य है । स्वयं उपनिषदों में यद्यपि भेद परक, अभेद परक और घटक तीनों ही प्रकार की श्रुतियाँ मिलती हैं और उन सभी की आचार्यों के द्वारा अपनी-अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार व्याख्या भी की गई है । अतः जब हम अभेदवाद या एकात्मवाद को भारतीय दर्शन की आत्मा कहते हैं तो उसका एक सामान्य ही अर्थ होता है, पूर्ण अर्थ में तो उसे कभी ग्रहण करना नहीं चाहिए । डाक्टर पॉल डायसन का यह कथन कि 'भविष्य का दर्शन चाहे किन्हीं नवीन और अपूर्व मार्गों का आविष्कार करले, किन्तु एक बात ध्रुव सत्य है कि 'आत्मैकत्व-विज्ञान' का सिद्धान्त अनन्त काल तक अविचल और अभेद्य रहेगा और इससे हटना कभी सम्भव नहीं होगा[१]', भारतीय दर्शन की सर्वोत्तम देन को ठीक तरह से उपस्थित करता है। दुःख निरोध-विज्ञान किस प्रकार भारतीय दर्शन की मूल जिज्ञासा के रूप में प्रतिष्ठित है, यह हम पहले देख चुके हैं। बौद्ध और जैन दर्शन मानवता की दृष्टि से अद्भुत दर्शन हैं। 'मानुसत्तं भवे मूलं'[२] अर्थात् मानुषत्व ही मूल वस्तु है, यह प्रभावशाली वाणी जैन साधकों की है । आचार्य हजारी-

(१) उदाहरण के लिये देखिए पांचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन ।

(२) महावीर वाणी, पृष्ठ १०

प्रसाद द्विवेदी ने एक जगह लिखा है कि मध्यकाल में जिसे अध्यात्मवाद कहते थे वही आज का मनुष्यत्व या मानवतावाद है[1]। परन्तु मध्य-काल से बहुत पूर्व हम प्रकृत मानवतावाद का उदय भगवान् बुद्ध के अविर्भाव के रूप में देखते हैं। देवयजनवाद की दासता से छुड़ाकर सबसे पहले उन्होंने ही मानव-जाति को अपने पैरों पर खड़ा किया। देवताओं से उन्होंने मनुष्य को स्पष्टतम शब्दों में श्रेष्ठ बताया। उन्होंने कहा कि देवता राग, द्वेष और ईर्ष्या से बरी नहीं हैं और निर्वाण की प्राप्ति के लिये, श्रद्धा और विनय के अभ्यास के लिये, उन्हें मनुष्य शरीर ग्रहण करना पड़ता है। भगवान् बुद्ध ने सदा के लिये स्मरणीय शब्दों में कहा है "यह जो मानुषत्व है, यही देवताओं का सुगति प्राप्त करना कहा जाता है। मनुस्सत्तं खो भिक्खवे देवानं सुगति गमन संखातं"[2] 'आत्म-दीप' होने का आदेश[3] करने वाले और निर्वाण की प्राप्ति को केवल मनुष्य के 'प्रधान' (पुरुषार्थ) पर आश्रित बताने वाले शाक्यमुनि निश्चय ही मनुष्य को देवताओं से ऊँचे उठाने वाले हुए । किन्तु बौद्ध-दर्शन की जो विशेषता है उससे अन्य भारतीय दर्शन भी अपरिचित नहीं हैं ।'ऋग्वेद को जो जानता है वह केवल देवताओं को जानता है। यजुर्वेद को जो जानता है वह केवल यज्ञ को ही जानता है। सामवेद को जानने वाला इन सब को जानता है। किन्तु जो मनुष्य को जानता है, वही वास्तव में ब्रह्म को जानता है'[4] आदि वाणियाँ अन्यत्र भी सुनाई देती हैं। 'अत्यन्त रहस्यमय ज्ञान मैं तुम्हें बतलाता हूँ—मनुष्य से श्रेष्ठतर यहाँ कुछ नहीं है'[5] इस वाणी में महाभारतकार ने सम्पूर्ण मानवतावादी दर्शन का सार-संकलन कर दिया है। इस प्रकार भारतीय

---

(१) देखिए विश्वभारती-पत्रिका, अप्रैल-जून १९४५ में उनका 'नई समस्याएँ' शीर्षक लेख ।

(२) चवमान सुत्त (इतिवुत्तक)

(३) चुन्द सुत्त तथा 'अत्तदीप-सुत्त' आदि। विशेष व्याख्या के लिए देखिए आगे चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन ।

(४) 'ऋचो ह यो वेद स वेद देवान् । यजूंषि यो वेद स वेद यज्ञम् ।
सामानि यो वेद स वेद सर्वम् । यो मानुषं वेद स वेद ब्रह्म ॥
मिलाइए, 'ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्'

(५) गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि । न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् । महाभारत, शान्तिपर्व २९९।२०; तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । अथर्ववेद ।

दर्शन में मनुष्यत्व की महिमा भली भांति सुरक्षित है और वह आधारित है आत्मैकत्व विज्ञान की व्यावहारिक अनुभूति पर जिसका उद्‌गम होता है दुःख निरोध की गवेषणा से जो समग्र भारतीय दर्शनों का एकमात्र जिज्ञास्य विषय है।

इस प्रकार भारतीय दर्शन के विषय और अधिकारिक वस्तु को हमने देखा। अब हम संक्षेप में कुछ और बातों पर विचार करेंगे जिनका निरूपण भारतीय दर्शनकारों का एक सामान्य व्यवसाय रहा है और जिनके विवेचन के बिना हम उनके तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त नहीं हो सकते। भारतीय विचार-पद्धति में साधना संपूर्ण व्यक्तित्व का सत्य के प्रति उपनयन ही है, परन्तु विशेषता के विचार से हम कह सकते हैं कि

भारतीय दर्शन में कर्म, उपासना और ज्ञान

कर्म, उपासना और ज्ञान को ही विशिष्ट दर्शन-सम्प्रदायों ने अधिक या कम महत्त्व दिया है। किसी ने तत्त्व को ध्यान मार्ग से देखा है, तो किसी ने सांख्य-योग से और किसी ने कर्मयोग से[1]। मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार साधनों की अनेकता भारतीय दर्शन को मान्य है। उसकी मुख्य तीन वृत्तियों क्रिया, इच्छा और ज्ञान के आधार पर ही उपर्युक्त तीन साधनों का वर्गीकरण किया गया है, जिनकी समन्वय-साधना अत्यन्त आवश्यक मानी गई है। 'कर्म' शब्द के भारतीय दर्शन में अनेक अर्थ हैं जिन पर हम बाद में विचार करेंगे। स्वयं ऋग्वेद में ही उपर्युक्त तीनों साधनों का वर्णन साथ-साथ आया है[2]। उपनिषद् विशेषतः ज्ञान मार्ग की प्रचारक मानी जाती हैं। बौद्ध और जैन दर्शनों का भी यही मार्ग माना जा सकता है। गीता का साधन-पक्ष सम्भवतः अधिक संग्राहक और समन्वयात्मक है। भक्ति दर्शन उपासना को लेकर अधिक प्रवृत्त होता है। इस प्रकार विभिन्न दर्शन अपने साधन पक्ष में इन तीन बातों में से कुछ पर अधिक और कुछ पर कम जोर देते हैं। अपने तुलनात्मक अध्ययन में हम इनका सम्यक् वर्णन उपस्थित करेंगे और विभिन्न दर्शनों का दृष्टिकोण दिखाने का प्रयत्न करेंगे। यहाँ इससे कुछ अधिक कहना तो पुनरुक्ति में जाना होगा।

---

(१) देखिए पांचवें प्रकरण में गीता के दर्शन पर विचार।

(२) देखिए कोकिलेश्वर शास्त्री : इन्ट्रोडक्शन टू अद्वैत फ़िलॉसफ़ी, पृष्ठ २२४

भारतीय दर्शन में मृत्यु, पुनर्जन्म और मोक्ष

महामति प्लातो ने मृत्यु से ही दर्शन का प्रादुर्भाव माना है। निश्चय ही मृत्यु एक अत्यन्त क्रान्तिकारी और भयावह घटना है। विचारों को वह अपूर्व उत्तेजना देती है। बाहरी रूप से मृत्यु समग्र जीवन का उच्छेद ही कर देती है। मानवता के इतिहास में कुछ विचारकों ने मृत्यु के बाद शाश्वत जीवन के स्वप्न देखे हैं और कुछ ने सम्पूर्ण आत्म-विनाश के। किन्तु इसके रहस्य को आज तक पूर्णतः कोई खोल नहीं सका है "इन प्राणियों का आदि अव्यक्त है, अन्त अव्यक्त है, केवल मध्य व्यक्त है" इतना ही कह कर गीता भी चुप हो जाती है[1]। भारतीय दर्शन ने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अनेक विचार हमें दिये हैं, जिन पर हम यथास्थान विचार करेंगे। पुनर्जन्म चार्वाक मत को छोड़ कर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की एक स्वयंसिद्धि है और न्याय ने विशेषतः इसकी सिद्धि पर बहुत कुछ कहा है। दुःख निवृत्ति सभी भारतीय दर्शनों की जिज्ञासा का मूल लक्ष्य होने के कारण मोक्ष-विषयक निरूपण सब का एक आवश्यक अंग है। इक्कीस प्रकार के दुःखों का ध्वंस ही न्याय-वैशेषिक के लिए मोक्ष है, त्रिविध दुःख का ध्वंस सांख्य के लिए और प्रकृति और पुरुष के संयोग के अभाव के कारण अविद्यादि पाँच क्लेशों का अत्यन्त छूट जाना ही योग के लिए मोक्ष है। स्वर्ग-प्राप्ति को मीमांसक और अविद्या के कार्यों के बन्द हो जाने पर परमानन्द की प्राप्ति को वेदान्ती मोक्ष मानते हैं। बौद्ध और जैनों ने क्रमशः निर्वाण और कैवल्य के रूप में मोक्ष के सिद्धान्त को स्वीकार किया है, जिस पर हम बाद में विस्तार पूर्वक विचार करेंगे। विभिन्न भारतीय दर्शनों का कोई भी तुलनात्मक अध्ययन पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक कि उनके मोक्ष सम्बन्धी सिद्धान्तों की मीमांसा न की जाय। प्रायः सभी भारतीय दर्शनों को मोक्ष के दोनों ही स्वरूप मान्य हैं, अर्थात् इसी जीवन में साक्षात्कार करने योग्य जीवन्मुक्ति या सोपाधि शेष निर्वाण का रूप तथा बाद में जन्म-मरण रूप भव से विमुक्ति के रूप में विदेह मुक्ति या अनुपाधि शेष निर्वाण। हाँ, मीमांसकों ने जीवन्मुक्ति नहीं मानी है। हम इसी जीवन की विमुक्ति के स्वरूप पर अपने विवेचनों में कुछ अधिक कहेंगे।

भारतीय वाङ्मय में 'धर्म' शब्द का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में हुआ

(१) अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २।२८

है। व्युत्पत्ति के अनुसार इसके प्रायः दो अर्थ किये जाते हैं, (१) ध्रियते लोकः अनेन इति धर्मः, अर्थात् जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है, और (२) धरति धारयति वा लोकं इति धर्मः, अर्थात् जो लोक को धारण करे, वह धर्म है। मूल भावना यह है कि धर्म के द्वारा ही इस लोक का धारण या संचालन होता है। महाभारत-कार ने इसी अर्थ को लेकर धर्म का लक्षण करते हुए कहा है——

भारतीय दर्शन में धर्म और ईश्वर, जीवन और आचार-तत्त्व

धारणाद्धर्ममित्याहु र्धर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः[1]॥

धर्म वस्तुतः सनातन मानव-धर्म है। 'एस धम्मो सनन्तनो' (एष धर्मः सनातनः) की पुकार देकर भगवान् तथागत ने जिन अवैर, अहिंसा, सत्य आदि शाश्वत सत्यों का उपदेश दिया है, उसमें सत्य के इसी रूप को ग्रहण किया गया है। श्रौत परम्परा के ग्रन्थों में भी इस प्रकार के उपदेश मिलते हैं। गीता (१५।२९) में भगवान् ने अपने को 'शाश्वत धर्म' की प्रतिष्ठा कहा है। जीवन के चार पुरुषार्थों में धर्म का प्रमुख स्थान है। कहीं-कहीं 'धर्म' शब्द का संकुचित अर्थ भी मिलता है। वर्णाश्रम के रूप में 'धर्म' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार का संकुचित अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार ऋक्, यजुः, साम और अथर्व-वेद ही धर्म के मूल हैं। जो वेद में कहा गया है वह 'धर्म' है और उससे विपरीत 'अधर्म'——वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः[2]। यद्यपि बुद्धोक्त वचनों को बौद्धों ने भी 'धम्म' या 'धर्म' कहा है, परन्तु उससे न मिलनेवाले 'धर्म' को 'अधर्म' कहने की प्रवृत्ति तो उन्होंने नहीं दिखाई है। बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार धर्म और सत्य एक हैं। दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। धर्म सत्य के ही मार्ग का नाम है। श्रौत परम्परा के अनेक ग्रन्थों में भी यह व्यापक अर्थ मान्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने स्मरणीय शब्दों में कहा है "यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्।"[3] अर्थात् जो धर्म है वही सत्य है। "जब कोई सत्य बोलता है, तो कहते हैं वह धर्म बोलता है, और जब कोई धर्म बोलता है, तो कहते हैं वह सत्य

(१) कर्ण-पर्व ६९।५८, मिलाइये, ध्रुवा भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् अथर्व० १२।१
(२) मनुस्मृति।
(३) १।४।१४

बोलता है। इसलिये सत्य और धर्म दोनों एक हैं"[१]। धर्म की उत्पत्ति सत्य से ही होती है। 'सत्याद्धर्मः'[२] बड़ी अर्थवती वाणी है। धर्म सत्यात्मक होता है और वही सबका मूल है[३]। "धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते"[४]। जहाँ धर्म है, वहाँ सत्य है[५]। सत्य धर्म, प्रकाश और सुख को एक ही वस्तु बताते हुए महाभारतकार ने कहा है "जो सत्य है वही धर्म है, जो धर्म है वही प्रकाश है, जो प्रकाश है वही सुख है"[६] इस प्रकार सत्य और धर्म की एकता प्रतिष्ठापित कर भारतीय विचारकों ने वस्तुतः धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की एकता प्रतिपादित की है। धर्म का आधार दर्शन है जो सत्य पर प्रतिष्ठित है। इसी अर्थ में सत्य धर्म से बड़ा है। महाभारतकार ने कहा है "तुलामारोपितो धर्मः सत्यं चैवेति नः श्रुतम्। समकक्षां तुलयतो यतः सत्यं ततोऽधिकं ७॥ धर्म में जो महिमावान् तत्त्व है वह सत्य से ही लिया हुआ है। सत्य को धर्म से बड़ा कहने में धर्म के बाह्य, विवादात्मक रूप का निराकरण कर उसके ऊपर सत्य की कसौटी नियत की गई है। बौद्ध साधना को यह अर्थ सर्वाधिक मान्य है, क्योंकि उसने 'धम्म' औ 'सत्य' दोनों को एक रूप में देखा है और बुद्धि द्वारा उनकी परीक्षा की है। बौद्ध धर्म वस्तुतः बोधि-धर्म है, ज्ञान-धर्म है। ज्ञान को ही वहाँ धर्म माना गया है। धर्म के ऊपर ज्ञान की यह स्थापना ही विश्व की धर्म-साधनाओं के पारस्परिक समन्वय के मार्ग को आज भी प्रशस्त कर सकती है और भारतीय विचार-दर्शन की यह एक बड़ी देन मानी जा सकती है। तत्त्वदर्शन के द्वारा धर्म के नियन्त्रण के कारण ही भारत में धर्म और दर्शन का वैसा कभी विरोध दृष्टिगोचर नहीं हुआ जो पाश्चात्य इतिहास की एक साधारण घटना है। सत्य या न्याय के रूप में धर्म को भारतीय साधना में 'सनातन राजवृत्त' कहा गया है, यह हम पहले देख चुके हैं। अशोक के सामने 'धम्मिको धम्मराजा' (धार्मिक धर्मराज) के रूप में यही आदर्श था। अपने शिलालेखों में उसने माता-पिता की सेवा, प्राणि-अहिंसा, सत्य, पवित्रता, करुणा,

(१) सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदति एतद्ध्येवैतदुभयं भवति। बृहदारण्यक० १।४।१४

(२) सत्याद्धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्। महाभारत, शान्ति पर्व।

(३) वाल्मीकि-रामायण १०९।१२

(४) यतो धर्मस्ततः सत्यम्। महाभारत शान्ति पर्व।

(५) यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत्सुखमिति।

(६) महाभारत, शान्तिपर्व।

कृतज्ञता आदि का धर्म के रूप में उपदेश दिया है, जो सार्वभौमिक नीति का रूप लिये हुए है। विश्व-नियम रूपी धम्म-चक्क (धर्म-चक्र) का प्रवर्तन ही भगवान् बुद्ध ने किया था। धम्म को उन्होंने सांसारिक भोगों से विभिन्न बताया था और इसी अर्थ में भिक्षुओं को धम्मदायाद (धर्म के वारिस) होने के लिये उन्होंने उत्साहित किया था। धर्म के विषय में मिथ्या धारणा रखना भगवान् बुद्ध ने साँप को पूंछ से पकड़ने के समान भयानक बताया है[1]। वस्तुतः धर्म का इतना ऊँचा स्थान बौद्ध दर्शन में निश्चित किया गया है कि धन, अंग, जीवन सबको उसके लिये छोड़ देने का आदेश दिया गया है[2]। धर्म जीवन का पूरा शासन है। वह आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अन्त में कल्याण-कारी तत्त्व है। इस प्रकार मानव कल्याण का दूसरा नाम ही धर्म है। 'धर्म' का अर्थ दार्शनिक भाषा में बौद्ध धर्म में प्रायः पदार्थ (सब्बे धम्मा अनिच्चा) और विशेषतः मन के आलम्बन विषयों के रूप में किया गया है। आचार्य बुद्ध-घोष ने विसुद्धिमग्ग में 'धर्म' शब्द के मुख्यतः चार अर्थों का विवेचन किया है (१) परियत्ति या सिद्धान्त (२) हेतु, (३) गुण और (४) निस्सत्त निज्जीवता (निः सत्व निर्जीवता)। 'धर्म' का अर्थ बौद्ध साहित्य में स्वभाव, अवस्था, हेतु, गुण, लक्षण, कर्तव्य, वस्तु, विचार और प्रज्ञा आदि भी किया गया है। 'ये धम्मा हेतुप्पभवा' में 'धर्म' शब्द का प्रयोग सम्भवतः बौद्ध दर्शन का प्रतिनिधि प्रयोग कहा जा सकता है। गुण के अर्थ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग उपनिषद् में भी दृष्टिगोचर होता है, यथा 'य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु'। 'धम्म' वस्तुतः बौद्धधर्म के तीन रत्नों में से द्वितीय रत्न है। भगवान् बुद्ध ने कहीं-कहीं अपने से ऊपर धर्म की स्थापना की है, बुद्ध से अनपेक्ष धर्म को बताया है और कहीं-कहीं धर्म के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते हुए यह भी कहा है "जो धर्म को देखता है, वह मुझे ही देखता है"। "यो धम्मं पस्सति सो मं पस्सति"। महायान बौद्ध धर्म में बुद्ध और धर्म मिलकर बिलकुल एक हो गये हैं। धर्म काय का सिद्धान्त इसका प्रतीक है। जैन दर्शन ने धर्म की अत्यन्त व्यापक और उदार व्याख्या हमें दी है। आचार्य उमास्वाति ने धर्म का लक्षण करते हुए कहा है "उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्य-

---

(१) देखिये अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२)

(२) धनं चजे अंगवरस्स हेतु अंगं चजे जीवितं रक्खमाणो।
अंगं धनं जीवितञ्चापि सब्बं चजे नरो धम्ममनुस्सरन्तो।
जातकट्ठकथा, विसुद्धि मग्ग के सील निद्देस में उद्धृत।

ब्रह्मचर्याणि धर्मः"[१] अर्थात् उत्तम क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचनता और ब्रह्मचर्य ही धर्म हैं। इसे हम धर्म की सार्वभौमिक परिभाषा मान सकते हैं। वस्तुतः धर्म समस्त भारतीय जीवन की आधार-शिला रहा है और सत्य के रूप में वह हमारी संस्कृति का प्राण और पोषक तत्त्व भी है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'धर्म' शब्द भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त व्यापक है और अनेक अर्थों में वह प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद की ऋचाओं में कहीं पर विशेष्य भूत 'संधारक' के अर्थ में और विशेषण भूत 'उत्थापक' के अर्थ में वह प्रयुक्त हुआ है[२]। अधिकतर इसका अर्थ वेद मार्ग प्रतिपादित विशिष्ट कर्तव्यों के रूप में ही होता है। जब तैत्तिरीय उपनिषद् में 'धर्मं चर' भगवद्-गीता में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः। परधर्मो भयावहः' मनुस्मृति में 'वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः' आदि प्रयोग 'धर्म' शब्द के हुए हैं, तो वहाँ यही अर्थ अभि-प्रेत हुआ है। कहीं-कहीं 'जीव' के अर्थ में भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है, यथा माण्डूक्य उपनिषद् पर गौडपादाचार्य की कारिकाओं में 'उपा-सनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते'। फिर जैमिनि महर्षि का 'धर्म' का लक्षण भी अत्यन्त प्रसिद्ध है 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'[३] जिसका अर्थ है कि वेद-विहित स्वर्गादि को प्राप्त कराने वाला जो यज्ञादि रूप पदार्थ है वही धर्म है। वेद की प्रेरणा जिसके लिये हो वह धर्म है। यह अर्थ श्रौतसूत्र के उपयुक्त है, दर्शन के नहीं। माण्डूक्य कारिका में प्रयुक्त 'धर्म' का अर्थ अधिकतर अन्यत्र प्रयुक्त नहीं हुआ है और मनुस्मृति और गीता आदि में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द भारतीय धर्मशास्त्र के अति अनुकूल है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि जिससे हो, वह धर्म है'[४]। ये अर्थ प्रायः भारतीय दर्शन के प्रसंग में अधिक अनुकूल हैं। कुछ भी हो, जिस अर्थ में भारतीय 'धर्म' शब्द

---

(१) तत्त्वार्थ-सूत्र ९।६

(२) यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ऋ० पुरुष सूक्त; देखिए महामहोपाध्याय श्रीधरशास्त्री पाठकः लैक्चरर्स औन धर्मशास्त्र, पृष्ठ १०

(३) मीमांसा-सूत्र १।१।२

(४) यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः। मिलाइये आचार्य शंकर का यह कथन "जगतः स्थिति कारणं प्राणिनां साक्षाद् अभ्युदय निःश्रेयस हेतुः यः स धर्मः"। गीता-भाष्य के उपोद्घात में।

का प्रयोग करते हैं उस अर्थ को हम किसी भी विदेशी भाषा के शब्द से व्यक्त नहीं कर सकते। भारतीय दर्शन सदा उसके धर्म की प्रतिष्ठा रहा है। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि एक भी अध्यात्मविद् पुरुष जिस बात को कहे वह धर्म है[१]। और एक अर्थ में तो धर्म के ही अंक में स्वयं दर्शन का ही यहाँ पोषण हुआ है। यह बात अन्य किसी देश में नहीं देखी जाती। पश्चिम में तो धर्म और दर्शन में सतत ही संघर्ष चलता रहा। इसके प्रतिकूल भारत में प्रायः सभी प्रसिद्ध दार्शनिक धर्म के संस्थापक भी हुए और कोई भी धर्म तब तक यहाँ मान्य नहीं हुआ जब तक उसके 'दर्शन' ने भी यहाँ के लोगों की मनस्तृप्ति नहीं की। यह धर्म और दर्शन का प्रेममय मिलन भारतीय विचार की एक बड़ी विशेषता है। सभी 'आस्तिक' और 'नास्तिक' दर्शन (चार्वाक मत को छोड़कर) एक गहरी धार्मिक भावना से ओतप्रोत हैं। किन्तु यहाँ एक आवश्यक विभेद भी है। तथाकथित 'आस्तिक' दर्शनों में (सांख्य को सम्भवतः छोड़कर) वेदविहित को धर्म और वेद निषिद्ध को अधर्म कहने की प्रवृत्ति है। यह बात इसी से स्पष्टतः ज्ञात होती है कि धर्म के ज्ञापक-हेतुओं में[२] और धर्म के प्रमाणों[३] में वेद का स्थान अत्यन्त उच्च है। पूर्वमीमांसा का दृष्टिकोण तो इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट है। अन्य सभी 'आस्तिक' दर्शनों के साधना पक्ष में वेद-विहित मार्ग पर ही चलने पर बहुत जोर दिया गया है, यहाँ तक कि मनीषी शंकर के द्वारा वेदान्त के उपयुक्त अधिकारी के प्रसंग में चार प्रकार की साधना सम्पत्ति के विषय में भी इस आवश्यक शर्त को भुलाया नहीं गया है[४]। किन्तु 'धर्म' को केवल विशुद्ध आचार तत्त्व के आसन पर बैठाने का, उसे स्वतंत्र सत्ता प्रदान करने तथा उसके महत्त्व को किसी भी

(१) धर्म के निर्णायकों के विषय में भगवान् याज्ञवल्क्य का कहना है :
चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यात् एको वाध्यात्मवित्तमः॥

(२) श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः........वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश। याज्ञवल्क्य स्मृति।

(३) वेदोऽखिलो धर्ममूलं। मनु० २।६; वेदः स्मृति......एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्। मनु० २।१२

(४) यद्यपि उन्होंने यह भी स्वीकार किया है 'न हि अग्निहोत्रादीन्येव कर्माणि। ब्रह्मचर्यं तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसा—इत्येवमादीन्यपि 'कर्माणि' विद्योत्पत्तौ साधकतमानि भवन्ति। तैत्तिरीय भाष्य, शिक्षावल्ली १।११

प्रकार के ग्रन्थ-प्रमाण से वियुक्त कर नैतिक आदर्शवाद की ही स्वतः परिपूर्णता सिद्ध करने का श्रेय शाक्यमुनि को ही है, जिनके दर्शन में 'कर्म' का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड न होकर सम्पूर्ण कायिक-वाचिक और मानसिक क्रियाएँ हैं और जिन्होंने धर्म के एक अत्यन्त विशुद्ध और स्वतः परिपूर्ण रूप के दर्शन विश्व को कराए हैं। बौद्ध दर्शन में 'धर्म' शब्द 'निःसत्व निर्जीव' पदार्थों के अर्थ में भी बहुत प्रयुक्त हुआ है[1], किन्तु उससे इस समय हमें प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार सामान्य रूप से धर्म और दर्शन के मेल को भारतीय विचार में हम देखते हैं। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्म और दर्शन का इतना संयोग भारत में इसी कारण दृढ़ रह सका कि धर्म यहाँ कोई अन्ध-विश्वास की वस्तु न होकर सदा विचार पर ही आश्रित था और दर्शन को कभी पवित्र जीवन से, जिसके लिए ही धर्म का उपयोग है, विरहित नहीं देखा गया था। अब हम ईश्वर की समस्या पर आते हैं। 'ईश्वर' वास्तव में धर्म की समस्या है, दर्शन की नहीं। बौद्ध दर्शन में तो उसे धर्म की समस्या भी कदाचित् स्वीकार नहीं किया गया है और प्राचीन सांख्य को निरीश्वरवादी ही मानना प्रायः अधिक युक्ति युक्त है। फिर 'ईश्वर' की परिभाषाओं के विषय में इतना मतभेद है कि तात्विक रूप से कोई भी निर्णय नहीं कर सकता कि कौन अनीश्वरवादी है और कौन ईश्वरवादी। आस्तिक कही जाने वाली दार्शनिक परम्पराओं ने ईश्वर को अधिकतर सृष्टिकर्ता ही माना है, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का उसे कारण माना है। परन्तु यह सृष्टि रचित हुई भी (यदि वा दधे) या नहीं (यदि वा न) यह अभी तक उतना ही अनिश्चित विषय बना हुआ है जितना कि नासदीय सूक्त के ऋषि के समय में था। फिर ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में नाना दार्शनिकों और उनके सम्प्रदायों के मन की छाप भी पड़ी है। कोई निश्चित सर्वसम्मत स्वरूप ईश्वर का नहीं मिलता। न्याय-वैशेषिक के मतानुसार ईश्वर नित्य इच्छा ज्ञानादि गुणवान् विभु कर्ता विशेष है, ऐसा कहा जा सकता है। इस मत के स्थापन में न्याय-वैशेषिक ने अनेक प्रमाण दिये हैं और उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों के द्वारा इसी विषय को लेकर न्याय-वैशेषिक का अत्यन्त खण्डन भी किया

---

(१) इसके लिए देखिए चतुर्थ प्रकरण में बौद्धदर्शन का विवेचन तथा पांचवें प्रकरण में गौडपाद के दर्शन पर विचार; 'धर्म'को तथागत ने परमार्थ तत्त्व के रूप में भी देखा है, जिसके लिए देखिए चतुर्थ प्रकरण में 'अनात्मवाद' का विवेचन।

गया है, यहाँ तक कि आचार्य धर्मकीर्ति ने तो ईश्वर-कर्तृवाद में विश्वास को मानवीय बुद्धि की जड़ता का अन्तिम लक्षण बतलाया है[१]। सांख्य ने ईश्वर के स्थान में अनेक संख्य (पुरुष) विशेष की कल्पना की है[२] और भगवान् पतञ्जलि ने 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'[३] कहकर ईश्वर को परिभाषित किया है। और 'ईश्वर-प्रणिधान' को समाधि-प्राप्ति का एक गौण साधन मानकर[४] सेश्वर सांख्य रूप योग दर्शन का उद्भावन किया है। जैमिनि ईश्वर का काम 'अपूर्व' से ही निकाल लेते हैं[५] और मायावादी वेदान्ती डाल देते हैं उसे माया विशिष्ट चैतन्य की कोटि में[६]। इस प्रकार यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो व्यक्तित्व सम्पन्न जगत्कर्ता और सृष्टि के अधीश्वर के रूप में 'ईश्वर' का भाग्य भारतीय दर्शन में विशेष उत्साहवर्धक नहीं है। ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। सर्व-मान्य शब्द-प्रमाण भी नहीं मिल सकता। अनुमान से भी हम कहीं नहीं पहुँचते। वस्तुतः तर्क से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि हम ईश्वर को मनुष्य का मानस-

(१) वेद प्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छाजातिवादावलेपः। सन्तापारम्भः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिंगानि जाड्ये। (प्रमाण वार्तिक)

(२) जननमरण करणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च। पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव। सांख्यकारिका १८; देखिए पांचवें प्रकरण में सांख्य-अनीश्वरवाद पर विचार।

(३) योग सूत्र १।२४

(४) देखिये योग सूत्र १।२३

(५) देखिए आगे पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और पूर्वमीमांसा दर्शन' के प्रसंग में वेद के ईश्वर कर्तृत्व के विरुद्ध कुमारिल के तर्क एवं सामान्यतः मीमांसा के अनीश्वरवादी स्वरूप पर विचार; मिलाइए, यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिद्ध्यति। सूक्ष्म शक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते। तंत्रवार्तिक, पृष्ठ ३९५

(६) मायामात्रमेतत् यत् परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनम्। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।१।१; व्यवहारावस्थायां तु उक्तः श्रुतावपि ईश्वरत्वादिव्यवहारः। वहीं २।१।१४; मिलाइये 'अविद्यात्मक-नामरूपोपाध्यनुरोधी ईश्वरो भवति' इत्यादि; सांख्य दर्शन में कुछ कुछ समान भावना के लिए मिलाइए सांख्य प्रवचन सूत्र ३।५७

पुत्र कहने का साहस न कर सकें तो कम-से-कम इतना तो कहना ही पड़ेगा कि वह "उन उपयोगी अलीकों में से ही है जिसकी सृष्टि अपनी सुविधा के लिये मनुष्य ने की है"[१]। नैयायिकों और उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों में जो ईश्वर-सम्बन्धी खण्डन-मण्डन चले हैं उनका विवरण हम आगे चल कर देंगे। इस विषय में जितने बौद्धिक वैराग्य और तटस्थ भाव की आवश्यकता है उतना हम रखने का प्रयत्न करेंगे। जहाँ तक भगवान् बुद्ध का सम्बन्ध है उन्होंने ब्रह्मा (पुल्लिङ्ग) को जगत्कर्ता नहीं माना है और केवल पुरुषार्थ द्वारा उन्होंने दुःख-प्रहाण-मार्ग को सिखाया है। जगत्-कर्ता की गवेषणा को उन्होंने स्पष्टतः ब्रह्मचर्य के लिये अनुपयोगी और वीर्यारम्भ के लिये बाधक माना है। कम-से-कम बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार धर्म, उच्चतम धर्म, बिना ईश्वर के भी हो सकता है और नैतिक प्रयास के लिये उसकी अनिवार्य अपेक्षा नहीं है। जगत् के आदि-अन्त सम्बन्धी दृष्टियाँ बौद्ध साधक के लिये अ-मनसिकरणीय विषय हैं। किन्तु इस सबका यह तात्पर्य नहीं कि किसी परम सत्य के विषय में, जो सब बाह्य और आध्यात्मिक जगत् का संग्राहक और नियामक है, विभिन्न भारतीय दर्शनों की अथवा विशेषतः बौद्ध दर्शन की आस्था नहीं। वस्तुतः स्थिति इसके ठीक विपरीत है[२]। यहां केवल शब्दों का ही हेर-फेर है। यदि ईश्वर की परिभाषा अनिर्वचनीय परम तत्त्व के रूप में की जाय तब तो निरीश्वरवादी कदाचित् किसी भी भारतीय दर्शन को (चार्वाक मत को छोड़कर) कहना उचित न होगा क्योंकि न केवल सभी तथाकथित 'आस्तिक' दर्शन ही किन्ही न किन्ही शब्दों में इस विश्व में व्याप्त अतीत परम तत्त्व में विश्वास करते हैं, किन्तु बौद्ध और जैन दर्शन भी अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसी तत्त्व पर अन्ततोगत्वा निर्भर हैं[३]। 'अजात' और 'अभूत' की सत्ता नित्य सिद्ध है क्योंकि उसके बिना 'जात' और 'भूत' की न तो संगति लग सकती है और न उससे

(१) सम्पूर्णानन्द : चिद्विलास, पृष्ठ ११४

(२) नाम रूप विनिर्मुक्तं यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्। तमाहुः प्रकृतिं केचित् मायामन्ये परे त्वणून्। बृहद्वाशिष्ठ; योगवार्तिक (विज्ञानभिक्षु कृत) में उद्धृत।

(३) तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिदं जगत्।
तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिदं जगत्। मूलमाध्यमिक कारिका २२।१६; विशेष विचार के लिए देखिए पाँचवें प्रकरण में बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन का तुलनात्मक विवेचन।

निःसरणः प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् बुद्ध का मौन सत्य की अनिर्वचनीय गम्भीरता का सूचक है, अज्ञेयतावाद या सन्देहवाद का नहीं। जो विचारक बौद्ध क्षणिकवाद पर ही अधिक दृष्टि जमाकर उपर्युक्त कथन से सहमत नहीं हो सकते उन्हें बुद्धोपदिष्ट 'निब्बाण' के स्वरूप पर विचार करना चाहिये। वस्तुतः पालि त्रिपिटक के आधार पर विशुद्ध बुद्ध-मन्तव्य का यदि गवेषण किया जाय तो हम किसी भी निषेधात्मक निष्कर्ष पर तो कम-से-कम नहीं पहुँच सकते। फिर यह भी स्पष्ट ही है कि उन शास्ता का उद्देश्य ईश्वर की सिद्धि अथवा असिद्धि करने का न था किन्तु मनुष्य की मूल समस्या पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित थी जिसके सम्मुख अन्य सभी बातें गौण और अमहत्त्वपूर्ण हो जाती हैं, अथवा उनकी जिज्ञासा ही सावकाश नहीं रहती[1]। भारतीय दर्शन का मुख्य व्यवसाय तो जीवन है, जिसमें आचारतत्त्व का संनिवेश कर उसे मानवीय महत्त्व की परम सीमा पर पहुँचाना उसका लक्ष्य है। कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं जिसने आचारतत्व का उपदेश न दिया हो। स्वयं न्याय दर्शन, जिसका विषय मुख्यतः तर्क की व्याख्या करना है इस प्रकार के साधन मार्ग को बताने से नहीं चूकता जिससे निःश्रेयस की अधिगति होती है[2]। हम कर्म, उपासना और ज्ञान के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का कुछ दृष्टिकोण निरूपित कर चुके हैं, यहाँ इतना कहना ही इष्ट है कि जीवन में पवित्रता की ज्योति जगाने के लिए और उच्चतम नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिए इतर-भिन्न आत्मज्ञान को गौतम और कणाद, प्रकृति और पुरुष के विवेक को सांख्य, निर्विकल्पक समाधि पूर्वक विवेक को पतञ्जलि, वेद-विहित कर्म को महर्षि जैमिनि, और ब्रह्मात्मैक्यबोध को वेदान्ती आवश्यक मानते हैं। जैन दर्शन में योग को प्रायः वही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जो 'आस्तिक' दर्शनों में और भगवान् सुगत द्वारा उपदिष्ट बोधिपक्षीय धर्मों की भावना तो निश्चय ही साधना के क्षेत्र में आर्य-धर्म का सर्वोत्तम रूप है। आचार तत्त्व भारतीय दर्शन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है। तत्त्व-दर्शन का लक्ष्य यहाँ जीवन-शोधन माना गया है। इसलिये जो सिद्धान्त जीवन से सीधे सम्बन्धित नहीं हैं वे अनुपयोगी हैं। दर्शन-शास्त्र के वे प्रकृत विषय नहीं हैं। दर्शन-शास्त्र को जीवन की शाश्वत और मूलभूत समस्याओं का समाधान करना ही चाहिये,

---

(१) देखिए चतुर्थ प्रकरण में बुद्ध-मौन पर विवेचन।

(२) तदर्थं यमनियमाभ्याम् आत्मसंस्कारः। न्यायसूत्र ४।२।४

यह भावना भारत में सदा रही है। भारतीय विचारक सदा लोकोत्तर नैतिक आचरण और तपस्या के साधक रहे हैं, अतः जीवन के साथ दर्शन का सम्बन्ध यहाँ सदा ही अत्यन्त घनिष्ठ रहा है और जीवन की उपयोगिता से विहीन सिद्धान्तों के खण्डन या मण्डन को यहाँ कभी उच्च स्थान नहीं दिया गया। महाभारतकार ने सत्य का रहस्य इन्द्रिय और मन का दमन बताया है। दमन को ही उसने मोक्ष माना है और इतना ही उसके मतानुसार सम्पूर्ण अनुशासन है[1]। इस दृष्टिकोण को पग-पग पर ध्यान में रखकर ही हम तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत होंगे और यद्यपि तत्त्वविज्ञान, प्रमाण मीमांसा आदि दर्शन के विभागों को भी हम उपयुक्त स्थान देंगे किन्तु आचार तत्त्व को, जो भारतीय दर्शन की आत्मा और बौद्ध दर्शन का सर्वस्व है, हम कुछ विशेषतापूर्वक अपने अध्ययन का विषय बनाएँगे और उसी में देखेंगे उन सब की संगति भी।

भारतीय दर्शन में श्रद्धा और बुद्धि का सन्तुलित रूप हमें मिलता है। ये दोनों क्रमशः नैतिक और बौद्धिक विकास के साधन हैं, अतः एक परिपूर्ण जीवन-दर्शन में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारतीय दर्शन में श्रद्धा और बुद्धिवाद

भारतीय दर्शन सर्वत्र ही एक गम्भीर अध्यात्म तत्त्व से अभिनिविष्ट है और उसमें अन्तर्ज्ञान से उत्पन्न अनुभव को सदा बुद्धि की कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया गया है। 'आन्वीक्षिकी' विद्या, जो दर्शन के लिए (और बाद में न्याय के लिए) प्राचीन प्रयुक्त नाम है, अपने व्युत्पत्ति-अर्थ में इसी रहस्य को प्रकट करती है[2]। हमारा समग्र आध्यात्मिक चिन्तन भौतिक विश्लेषण के मार्ग से आगे बढ़कर आध्यात्मिक संश्लेषण की ओर बढ़ता है और दृश्य की बुद्धि सम्मत व्याख्या करके वह अतीन्द्रिय की अनुभूति की ओर जाता है। उपनिषदों के ऋषियों का समस्त महनीय विचार उनके स्वसंवेद्य ज्ञान पर व्यवस्थित है, किन्तु फिर भी उसमें बुद्धिवाद का अभाव हो, ऐसी बात हम नहीं कह सकते, क्योंकि स्वयं उन मनीषियों ने 'यदि हम जानेंगे तो तुम्हारे लिए कहेंगे ' इस प्रकार सत्य के विनम्र शोधकों की तरह ही अपने को उपस्थित किया है। और फिर ऐतिहासिक

(१) ....सत्यस्योपनिषद्दमः। दमस्योपनिषन्मोक्षः एतत्सर्वानुशासनम्। शान्तिपर्व।

(२) प्रत्यक्षागमाभ्यां आक्षिप्तस्य अन्वीक्षा यस्यां वर्तत इत्यान्वीक्षिकी। न्यायभाष्य १।१।१

दृष्टि से उपनिषत्काल में ही हम अनेक परिषदों के वर्णन पाते हैं जिनमें पारस्परिक विचार विनिमय करके ही ऋषि अपने गम्भीरतम ज्ञान को प्रकाशित कर सके थे और यूरोपीय विद्वानों के अनुसार तो 'उपनिषद्' शब्द का तात्पर्य भी अपने मूल रूप में ब्रह्मविद्या सम्बन्धी विचार के लिए की हुई बैठक है[1]। कहने की आवश्यकता नहीं कि पारस्परिक स्वतन्त्र विचार-विनिमय ही गम्भीर बुद्धिवाद की जड़ है। न्याय दर्शन का अत्यन्त प्राचीन काल में ही प्रवर्तन और विकास इसी बात का द्योतक है और न्याय को भारतीय दर्शन की भूमिका मानने की प्रवृत्ति इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। वैदिक युगीन ऋषि जिस प्रकार सायं, प्रातः दिन के मध्य में और हर समय सर्व शक्तिमान् परमेश्वर से मेधा के लिए प्रार्थना करते थे, उसी प्रकार वे मेधा के साथ ही साथ श्रद्धा को भी नहीं भूलते थे[2]। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सब उपदेश देकर अन्त में 'जैसा तू चाहे वैसा कर'[3] इस प्रकार बुद्धिवाद की ही स्थापना की, किन्तु इस बुद्धिवाद में श्रद्धा न मिली हुई हो, ऐसा हम नहीं कह सकते, क्योंकि ज्ञान-प्राप्ति की प्रथम आवश्यक शर्त भगवान् बुद्ध के समान भगवान् कृष्ण ने भी श्रद्धा को ही बताया है। श्रद्धा की परख और पर्यवसान प्रज्ञा में है। नैतिक मार्ग का आदि श्रद्धा में और अवसान प्रज्ञा में है, ऐसा कहा जा सकता है। षड्दर्शन की परम्परा में न्याय तो विशुद्ध बुद्धिवाद कहा जा सकता है क्योंकि जो कुछ भी बुद्धि से उत्पन्न विचार है वह सभी न्याय का मत है। फिर भी न्याय में अध्यात्म की महिमा सुरक्षित है। उसका प्रथम सूत्र ही पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस की प्राप्ति का उपदेश करता है और उसके द्वारा निरूपित प्रमेयों में एक 'आत्मा' भी है, फिर चाहे उसने इस तत्व का प्रथम भूमिका में ही अनुमापन क्यों न किया हो। वैशेषिक दर्शन की भी प्रायः यही स्थिति है। सांख्य दर्शन बुद्धिवाद का शायद सबसे बड़ा समर्थक दर्शन है और यद्यपि वेद-प्रामाण्य उसको स्वीकृत है, किन्तु फिर भी कई महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में वह वेद के विपरीत भी जाने में नहीं हिचकता। त्रिविध दुःख के आत्यन्तिक विनाश

(१) देखिए पाँचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन पर विचार।

(२) देखिए श्रद्धा सूक्त, ऋ० १०।१५१ 'श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः........श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्ययाऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु.......श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परम्। आदि।

(३) यथेच्छसि तथा कुरु। गीता।

के लिए ही उसके समग्र उपक्रम के होने के कारण आध्यात्मिक तत्व का उसमें सदा प्राचुर्य ही रहा है। योग दर्शन की सब प्रवृत्तियां मूल रूप में वही हैं जो सांख्य दर्शन की और उसने 'ईश्वर प्रणिधान' को अपने विवेचन में एक विशेष स्थान देकर आध्यात्मिक तत्व की अनुभूति को और भी अधिक तीव्र बना दिया है। पूर्व मीमांसा दर्शन में वैदिक ग्रन्थों के अर्थ लगाने के लिए बुद्धि-सम्मत विचार तो बहुत है और कुछ के अनुसार तो मीमांसक आचार्य ही न्याय शास्त्र के पूर्व उद्भावक हुए किन्तु अध्यात्म तत्व का इस दर्शन में कोई बाहुल्य हो, ऐसा तो सम्भवतः कहा नहीं जा सकता। उत्तर-मीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसमें हम आध्यात्मिक तत्व और बौद्धिक तत्व को एक संतुलित रूप में देखते हैं। ब्रह्म सूत्रों में श्रुति को भी प्रमाण माना गया है और बुद्धि के भी स्थान को नहीं गिराया गया है[1]। ब्रह्मसूत्रकार की यह परिस्थिति भारतीय दर्शन की एक अद्भुत वस्तु है। भगवान् बुद्धदेव तो बुद्धिवाद के समस्त विश्व के प्रथम आचार्य ही थे और कालामों के प्रति कहे हुए उनके शब्द जिनमें उन्होंने स्वतन्त्र विचार की प्रशंसा की है कितने स्मरणीय हैं, यह सब हम आगे यथास्थान विस्तारपूर्वक निर्देश करेंगे। बुद्धिवाद की अन्तिम सीमा का निर्धारण भारतीय दर्शन में सम्भवतः शाक्यमुनि ही करते हैं। उनका कहना है, 'जिस प्रकार बुद्धिमान् जन सोने को कसौटी पर कसकर, पिघलाकर और काटकर परीक्षा करते हैं, उसी प्रकार भिक्षुओ! तुम मेरे शब्दों को उनकी परीक्षा करके ही ग्रहण करो, केवल मेरे प्रति आदर की भावना से नहीं[2]।' 'बोधि सत्व सदा युक्ति-शरण होता है, पुद्गलशरण नहीं'। किन्तु इस प्रकार कठोर बुद्धिवाद का भी आदेश करने वाले शाक्यमुनि ने श्रद्धा के तत्व को स्वीकार न किया हो, ऐसी बात नहीं है। 'अमृत का द्वार खुल गया है। जिनके पास कान हैं वे श्रद्धा उपस्थित करें'[3], यह प्रथम वाक्य था जो बोधि प्राप्ति के बाद बुद्ध-मुख से उच्चरित हुआ था। महायान बौद्धधर्म में श्रद्धा का जो तत्त्व प्रविष्ट हुआ उसके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। भदन्त नागसेन जैसे पूर्ण बुद्धिवादी आचार्य भी श्रद्धा तत्त्व को स्वीकार करते हैं और उसका विवेचन करते हैं और 'खण्डनखण्ड-खाद्य' के रचयिता जैसे एक दो मनीषी चिन्तक यद्यपि ऊपर से केवल कठोर बुद्धिवादी ही जान पड़ते हैं किन्तु श्रद्धा के वे भी गम्भीरतम पुजारी हैं। शंकर

(१) देखिए पाँचवें प्रकरण में ब्रह्मसूत्रों के दर्शन पर विचार।

(२) देखिए आगे चतुर्थ प्रकरण में बौद्ध दर्शन का विवेचन।

(३) अरियपरियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६)

और रामानुज से बड़े तार्किक भारतीय दर्शन में दूसरे नहीं मिल सकते किन्तु इन दोनों मनीषी आचार्यों ने स्पष्टतः आध्यात्मिक तत्व का ही श्रेष्ठत्व स्वीकार किया है अथवा यों कहिए कि अन्तर्ज्ञान से उद्भूत विचार को ही बुद्धि-सम्मत भी दिखाने का प्रयत्न किया है। 'सम्पूर्ण भूतों में छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धि से ही देखा जाता है'[1] इस अर्थ के उपनिषद् के मन्त्र पर भाष्य करते हुए भगवान् शंकराचार्य कहते हैं "आत्मा अशुद्ध बुद्धि के लिए अविज्ञेय है, इसीलिए यह कहा गया है कि 'यह प्रकाशित नहीं होता'। वह तो संस्कार युक्त और तीक्ष्ण, जो किसी पैनी नोक के समान सूक्ष्म हो, ऐसी एकाग्रता से युक्त और सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण में लगी हुई तीव्र बुद्धि के द्वारा ही दिखलाई देता है"। परन्तु उस बुद्धि को तीव्र करने का विधान क्या है? क्या यह तर्क से प्राप्य है? नहीं, तर्क तो महाभारतकार के शब्दों में 'अप्रतिष्ठ' है। जीवन की पवित्रता को साधने की उसमें सामर्थ्य नहीं। हम बुद्धि से किसी बात को मान कर भी तो उसके विरुद्ध आचरण करते ही हैं। अतः आत्म-बुद्धि तर्क के द्वारा मिलनी सम्भव नहीं। उपनिषदों के ऋषि स्पष्टतया उद्घोषणा करते हैं 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'[2]। 'तार्किक तो अध्यात्मशास्त्र से अनभिज्ञ होता है, वह अपनी बुद्धि से परिकल्पित चाहे जो कुछ कहता है। अतः हे प्रेष्ठ! यह जो शास्त्रजनित आत्मबुद्धि है वह तो तार्किक से भिन्न किसी शास्त्रज्ञ आचार्य द्वारा उपदेश की जाने पर ही सम्यक् ज्ञान की कारण होती है"[3]। "इस आत्मतत्त्व का निरूपण करने वाला भी आश्चर्य रूप है, इसको प्राप्त करने वाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है तथा कुशल आचार्य के द्वारा उपदेश किया हुआ ज्ञाता भी आश्चर्यरूप है"[4]। इस प्रकार के आचार्य के द्वारा उपदिष्ट होने पर ही अपरोक्षानुभूति द्वारा यह आत्मा सुविज्ञेय होता है। तथागत के मत में तो सायं उपदिष्ट हुआ प्रातः और प्रातः उपदिष्ट हुआ सायं ही सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर सकता है, यदि सिखलाने वाला स्वयं 'सम्यक् सम्बुद्ध' हो[5]। फिर इस सिखलाने

(१) कठ० १।३।१२

(२) कठ० १।२।९

(३) कठोपनिषद् १।२।९ पर शांकरभाष्य।

(४) देखिए कठ० १।२।७ शांकरभाष्य सहित।

(५) देखिए बोधिराजकुमार सुत्त, देखिए चौथे प्रकरण में 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन का विवेचन भी।

वाले के प्रति गीताकार के उपदेश के अनुसार सेवा और श्रद्धा का भाव तो रहना जरूरी ही है और परिप्रश्न भी कुछ कम जरूरी नहीं है[1]। भगवान् बुद्ध ने जैसा कहा है, पुद्गल-शरण तो हमें कभी होना ही नहीं है। युक्ति-शरण होना ही सत्य को ढूंढ़ने का एकमात्र रास्ता है। किन्तु परमार्थ दर्शन में निष्ठा तो आन्तरिक शुद्धि से ही, सद्बुद्धि से ही, श्रद्धा बुद्धि से ही, होती है, शुष्क तर्क से नहीं, क्योंकि श्रद्धा ही वास्तव में तप है और जो कुछ भी मनुष्य श्रद्धा से करता है, विद्या से करता है, वही वीर्यवत्तर भी होता है[2]। श्रद्धा विहीन तर्क मनुष्य को कितने पतन तक ले जा सकता है यह चार्वाकवादियों ने भारतीय दर्शन में बड़ी अच्छी तरह दिखाया है। "अनेक तार्किकों की कुबुद्धि द्वारा जिनका चित्त चञ्चल कर दिया गया है, अतः जिनकी बुद्धि सरल नहीं रही है, उन ब्राह्मणों के चित्त में प्रमाण से युक्तसिद्ध होने पर भी एवं बार बार कहे जाने पर भी आत्मैकत्व विज्ञान स्थिर नहीं होता।" कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली ३, मन्त्र ११, १२, १३ पर भाष्य करते हुए भगवान् शंकर इसी भाव को दिखलाते हुए कहते हैं "यदि ब्रह्म बुद्धि आदि की चेष्टा का विषय होता तो 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार विशेष रूप से गृहीत किया जा सकता था, किन्तु बुद्धि आदि के निवृत्त हो जाने पर तो उसे गृहीत करने के कारण का अभाव हो जाने से उपलब्ध न होने वाला वह ब्रह्म वस्तुतः है ही नहीं। लोक में जो वस्तु गोचर होती है 'वही है' इस प्रकार प्रसिद्ध होती है और इससे विपरीत इन्द्रिय गोचर न होने वाली वस्तु 'असत्' कही जाती है, अतः योग व्यर्थ है। अथवा उपलब्ध होने वाला न होने से ब्रह्म 'नहीं है' इस प्रकार जानना चाहिए—ऐसा प्राप्त होने पर यह कहा जाता है। ठीक है, वह आत्मा न तो वाणी से, न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है। 'वह है' ऐसा कहने वालों से भिन्न पुरुषों को किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है"[3]? इस प्रकार भगवान् शंकर जैसे बुद्धिवादी तार्किक भी आस्तिक बुद्धि से ही तत्त्वज्ञान को मुमुक्ष के सामने अभिमुख हुआ मानते हैं और स्वेच्छाचार से ब्रह्म जिज्ञासा का उपदेश नहीं करते। इसका कारण यही है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में कारणभूत सत्व शुद्धि वास्तव में श्रद्धा की भावना से ही शक्य है, बुद्धि के आयास मात्र से नहीं। महात्मा गांधी के शब्दों में "श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। श्रद्धा

(१) तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। गीता।

(२) यत्श्रद्धया.......तदेव वीर्यवत्तरं भवति। उपनिषद्।

(३) 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते। उपनिषद्।

से अन्तर्ज्ञान, आत्मज्ञान की वृद्धि होती है, इसलिए अन्तःशुद्धि तो होती ही है। बुद्धि से बाह्य ज्ञान की, सृष्टि के ज्ञान की वृद्धि होती है, परन्तु उसका अन्तःशुद्धि के साथ कार्यकारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अत्यन्त बुद्धिशाली लोग अत्यन्त चरित्रभ्रष्ट भी पाए जाते हैं, किन्तु श्रद्धा के साथ चरित्र शून्यता का होना असम्भव है" [१]। वेदान्त ग्रन्थों में प्रायः श्रद्धा का लक्षण 'गुरु और वेदान्त वाक्यों में विश्वास बुद्धि का होना' ही किया गया है और अन्य अनेक मतमतान्तर भी इसी प्रकार इसकी व्याख्या करते हैं किन्तु हमें 'मिलिन्द-प्रश्न' की वह परिभाषा ही अधिक अच्छी जँचती है जिसके अनुसार 'मन में प्रसन्नता और महान् आकांक्षा का पैदा होना ही श्रद्धा की पहचान है" [२]। यही श्रद्धा जब बुद्धि के साथ मिलकर चलती है तो बुद्धि की दृष्टि और अधिक सूक्ष्म और पैनी हो जाती है और जब आध्यात्मिक दृष्टि का उसके साथ संयोग हो जाता है तब तो इसकी गति सर्वथा अप्रतिहत हो जाती है और तब उसके द्वारा परम तत्व के दर्शन किए जा सकते हैं। बुद्धि से आत्मा परे है और उस बुद्धि को आत्मा में लीन करके अध्यात्मयोग के द्वारा मुमुक्षु जन इसी जीवन में ब्रह्मानन्द को अनुभव करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां तक बुद्धि का सहयोग प्राप्त होना सम्भव है और जहाँ तक ठोस व्यावहारिक जगत् का सम्बन्ध है वहाँ तक भारतीय चिन्तक न केवल उसका साथ ही नहीं छोड़ते बल्कि अपने समस्त चिन्तन और कार्य-प्रणाली की लगाम भी बुद्धि को ही सौंपते हैं। न्याय, सांख्य और वैशेषिक दर्शन हमारे इस कथन को प्रमाणित करने में अलम् हैं। किन्तु जहाँ पर बुद्धि का वश नहीं चलता, वाणी की जहाँ गति नहीं चलती, मन जहां जा नहीं सकता, जिसके विषय में हम कुछ सोच नहीं सकते, कुछ जान नहीं सकते, मन और वाणी जहाँ से निराश होकर वापस चले आते हैं, जो न वाणी से, न मन से और न नेत्र से ही प्राप्त किया जा सकता है, आंखें जिसके द्वारा देखती हैं, फिर जिसे वे स्वयं नहीं देख सकतीं, कान जिसके द्वारा सुनते

---

(१) कल्याण—रामचरितमानस-अंक के प्रारम्भ में।

(२) मिलिन्द प्रश्न, अभिधर्मकोश तथा योगसूत्र पर व्यास-भाष्य, इन तीनों ने श्रद्धा की बिलकुल यही व्याख्या की है। मिलाइए 'हे भारद्वाज! यह जो अमृत की खेती है इसका बीज श्रद्धा है, वृष्टि तप है और फल प्रज्ञा है.....।" 'श्रद्धा, अमृत का द्वार उनके लिए खुला, जो श्रद्धा-पूर्वक सुनेंगे'। महापदान सुत्त (दीघ०)

है, फिर स्वयं जिसे वे सुन नहीं सकते, मन जिसके द्वारा मनन करता है किन्तु स्वयं जिसका मनन वह नहीं कर सकता[१], सारांश यह कि जिस महा सत्य से इस विराट् जगत् की प्रतीति ही हमें होती है और जिसकी प्रतीति के लिए सभी उपकरण असफल सिद्ध होते हैं, उसको साक्षात्कार करने के लिए भारतीय चिन्तक जहाँ तक बुद्धि की सहायता पाते हैं उसको वे स्वीकार करते हैं, किन्तु वे वहीं खड़े नहीं रह जाते। श्रद्धा और अन्तः शुद्धि के बल पर वे निश्चयात्मक रूप से उस परम सत्य के दर्शन करते और उस परम आनन्द का आस्वादन करते हैं जो इन्द्रियों से छिपाकर ही भोगने के योग्य है[२]। इसलिए ब्रह्मसूत्र के दूसरे ही सूत्र 'शास्त्र योनित्वात्' से तथाकथित बुद्धिवादियों को नाक भों सिकोड़ने की जरूरत नहीं। श्रुति-प्रामाण्य का अर्थ, जैसा श्री डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने ठीक ही दिखाने की चेष्टा की है, अन्ध श्रद्धा नहीं है, किन्तु वह सत्य की सच्ची गवेषणा का ही परिणाम और साक्षी है और आध्यात्मिक अनुभव को बौद्धिक तर्क से उच्च स्थान देने के आग्रह का ही सूचक है[३]। और फिर श्रुति-प्रामाण्य के विषय में जो बात ठीक है वही बात भारतीय या अभारतीय सभी प्रामाणिक आध्यात्मिक ग्रन्थों के विषय में भी ठीक है, फिर चाहे कुमारिल और दयानन्द सरस्वती जैसे विद्वान् अपनी वेद-भक्ति से कुछ भी सरकना न चाहें। ग्रन्थ प्रमाण के विषय में तो बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति शान्तरक्षित और 'तत्व संग्रह' के मनीषी टीकाकार कमलशील के विचार अधिक मनोरञ्जक और सम्भवतः अधिक ग्राह्य होते, किन्तु उनका विवरण यहाँ देना तो 'शब्द-प्रमाण' की बौद्ध व्याख्या ही करना होगा, अतः उससे हम यहाँ विराम लेते हैं। भारतीय ललित कलाओं के पिछले तीन हजार वर्ष के इतिहास पर विचार करते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने कहा है कि पहली सात शताब्दियों में भारत बुद्धि-प्रधान रहा। ई० पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईस्वी दूसरी शताब्दी तक मिश्रित रहा और उसके बाद से आज तक श्रद्धा-प्रधान है[४]। ललित-कलाओं के विषय में उपर्युक्त कथन सत्य हो सकता है, किन्तु भारतीय दर्शन-प्रणाली किसी भी समय बुद्धि के तत्त्व से विरहित

(१) उपर्युक्त कथन उपनिषदों की विभिन्न वाणियों की छाया मात्र हैं।
(२) देखिए पांचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।
(३) उनके उद्धरण के लिए देखिए आगे दूसरा प्रकरण।
(४) देखिए उनकी 'पुरातत्त्व निबन्धावली' पृष्ठ २७५-२८३

हो गई हो अथवा मात्र भावुकता-प्रधान रह गई हो, ऐसा कोई युग हमारी दृष्टि में नहीं आता । हाँ, मध्ययुग में भक्ति दर्शन का विशेष प्रकर्ष होने पर श्रद्धा तत्त्व को अवश्य प्रधानता मिली, किन्तु बुद्धि का तब भी सर्वथा परिहार नहीं हुआ और भक्ति के तात्विक आधार को दिखाने के लिए उस समय भी अनेक गम्भीर बुद्धिवादी ग्रंथ लिखे गए । कबीर जैसे निर्मम बुद्धिवादी को उत्पन्न करने का श्रेय भक्ति-युग को ही है । श्रद्धेय राहुलजी का यह कथन कि "बुद्धिवाद और भावकता के पिछले तीन हजार वर्षों में व्याप्त प्रवाह का अध्ययन करने से साफ मालूम होता है कि हम उत्कर्षोन्मुख तभी तक रहे जब तक हम बुद्धि का आश्रय लेते रहे", [१] बिलकुल ठीक है और हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतीय दर्शन, जो भारत की सभी विद्याओं और चिन्ताओं का नवनीत है, सदा जांच पड़ताल करके ही सत्य को अंगीकार करने के पक्ष में रहा है और श्रद्धा तत्त्व का उपदेश उसमें बौद्धिक बल को प्रकर्ष देने के लिए ही किया गया है, उसको नष्ट करने के लिए नहीं । यहाँ पर यह भी कह देना अप्रासंगिक न होगा कि श्रद्धा-तत्व की महत्ता भारतीयों ने ईसाइयों से नहीं सीखी, बल्कि उनके प्राचीन ऋषियों ने ही इसकी महत्ता को प्रख्यापित किया और अध्यात्म और बुद्धि तत्व का समन्वय उनकी चिन्तन प्रणाली की सदा ही एक मुख्य विशेषता रही, जो सभी भारतीय दर्शनों की हमारे लिये एक सामान्य देन है । मूल बुद्ध-दर्शन तथा उत्तर-कालीन बौद्ध दर्शन में श्रद्धा और भक्ति के विकास तथा भक्ति-दर्शन के साथ उनकी तुलनात्मक समीक्षा हम विस्तारपूर्वक आगे करेंगे । अतः यहाँ इतना निवेदन करना ही पर्याप्त होगा ।

भारतीय दर्शन एक महान् वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक भावना से अनु-प्राणित है । प्रसिद्ध जापानी विद्वान् यामाकामी सोजन का मत है कि मनोविज्ञान का पुष्प सब से पहले भारतीय दर्शन के उद्यान में

भारतीय दर्शन में वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक तत्त्व

ही खिला[१] । भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास में बाह्य और अन्तःप्रकृति के गूढ़ एवं सूक्ष्म अध्ययन ने सदा एक विशेष स्थान पाया है और सच बात तो यह है कि भारतीय विचार ने बाहर और भीतर के भेद को ही नहीं रक्खा और दोनों में एक ही परमार्थ सत्य के दर्शन किये । 'यश्चायं

(१) पुरातत्त्व निबन्धावली, पृष्ठ २८२

(१) सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २१३

पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' (यह जो आत्मा पुरुष में है और यह जो सूर्य में है, वह एक है) यह उपनिषद् के ऋषि ने कहा है। 'विज्ञान' को ही एक मात्र तत्त्व मानने वाले (विज्ञानवादी बौद्ध) जब चेतना और भौतिक तत्त्व को 'विज्ञान' के ही दो रूप मानते हैं, तो वे भी प्रकारान्तर से बाहरी विषय और भीतरी ज्ञान में कोई अन्तर नहीं देखते। विभिन्नता केवल भ्रम-जनित है। बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद की एकता का प्रतिपादन करते हुए योग-वासिष्ठकार ने स्मरणीय शब्दों में कहा है "बाह्यार्थ-विज्ञानवादयोरैक्यमेव नः" अर्थात् हमें बाह्यार्थवाद और विज्ञानवाद की एकता मान्य है।

"आत्मा को सब भूतों में और सब भूतों को आत्मा में" ब्रह्मदर्शी मुनियों ने देखा है। सात्विक ज्ञान एकात्मता की अनुभूति ही है। "यह आत्मा ब्रह्म है", "मैं ब्रह्म हूँ", "वह तुम हो"—इससे आगे ज्ञान का विधान नहीं है। वही एक आत्मा, प्रज्ञानघन और आनन्दमय; अनन्त, विश्वरूप और अकर्ता; साक्षी, चित्स्वरूप, केवल और निर्गुण; नित्य, विभु, सर्वगत और सुसूक्ष्म, स्वयं-ज्योति और सर्वाधिपति, सम्पूर्ण आधिभौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों में समाया हुआ है। "एष स आत्मा सर्वान्तरः"। पृथिव्यादि महाभूत इसी से अपनी शक्ति ग्रहण करते हैं, किन्तु इसे जानते नहीं, चक्षुरादि स्थूल इन्द्रियों से लेकर सूक्ष्म अन्तःकरण-वृत्तियों तक सब अपने-अपने व्यापारों के लिये इसी अनणु, अ-ह्रस्व और अ-दीर्घ तत्त्व के प्रति, अपूर्व, अनपर, अ-बाह्य और अनन्तर ब्रह्म के प्रति, सर्वानुभूः किन्तु स्वयं सबके लिये अविदित परम सत्य के प्रति, ऋणी हैं और इसी के प्रति वे अपनी हवियां समर्पित करते हैं। इसी तत्त्व में सभी ब्रह्माण्ड, सूत में मणियों की तरह, ओतप्रोत हैं। यही तत्त्व पूर्व में है, यही पीछे, यही उत्तर में और यही दक्षिण में। यही नीचे और यही ऊपर। यही सब का वेत्ता है, इसका वेत्ता कोई नहीं। विदित और अविदित दोनों से वह ऊपर है, धर्म और अधर्म से वह अतीत है, कारण और कार्य से वह अस्पृष्ट है, भूत और भविष्यत् से वह अलिप्त है, सारांश यह कि वह सब से अतीत है और सभी देवता उसको अर्पित हैं, हाँ उसको अतिक्रमण करने वाला कोई नहीं है। इसी प्रकृति के नियामक तत्त्व को जिसमें सभी विश्व-मंडल निहित हैं (यत्र निहितं विश्वं भाति शुभ्रम्) क्षीण-दोष यति और क्षीणास्रव भिक्षु अपने अन्दर स्थित देखते हैं। इसी परम तत्त्व का, जिसमें सभी भेद का अपगमन होता है, निर्भयता और सार्वात्म्य दर्शन का साम्राज्य लगता है, गवेषण और अनुभव भारतीय अध्यात्म-विद्या का प्रधान लक्ष्य रहा है। द्रष्टा और दृश्य की एकात्मता, ज्ञाता

और ज्ञेय का अभेददर्शन, कार्य कारण-भाव के अनुसन्धान के परिणाम स्वरूप क्रमशः बाह्य और आन्तरिक जगत् के 'ब्रह्म' और 'आत्मा' पदों से वाच्य अन्तिम गवेषित तत्त्वों की ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान रूप एक ही प्रकृत मूल तत्त्व में पर्यवसानता, जो सर्वप्रथम अपनी नैसर्गिक उदात्तता में उपनिषदों में उद्भासित हुई और फिर जिसे शंकरादि मनीषियों ने युक्ति और अनुभूति के सहारे एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में विकसित किया, समग्र भौतिक और आध्यात्मिक विज्ञान की स्वाभाविक इतिश्री है, जिसमें वे दोनों संश्लिष्ट होकर एक हो जाते हैं।

भारतीय अध्यात्म-चिन्तन अन्तर्ज्ञान और योग-दर्शन की भाषा में 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' से प्रसूत होने पर भी एक गहरी वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक भावना से अनुप्राणित है। "विज्ञान के सहित ज्ञान को मैं तुझ से कहूँगा" यह उसकी अप्रतिहत प्रतिज्ञा गीता (९ । १)[1] में सुनाई पड़ती है। उपनिषद् ने वेदान्त के साथ 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग किया है, 'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः'। तद्विज्ञानार्थं (मुण्डक० १।२।१२) आदि। आचार्य शंकर ने आत्मा के एकत्व के ज्ञान को विज्ञान कहा है और उसे ज्ञान की चरम सीमा माना है 'ज्ञानस्य ह्येषा पराकाष्ठा यदात्मैकत्व विज्ञानम्'। गोस्वामी तुलसीदास ने भी ज्ञानी के ऊपर विज्ञानी की बात कही है। इससे प्रकट होता है कि विज्ञान से तात्पर्य यहां आत्मा के एकता सम्बन्धी ज्ञान से है। बौद्ध परिभाषा में 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग चित्त, मन या बुद्धि के लिये हुआ है। उपनिषदों में भी 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग इस अर्थ में मिलता है और कहीं कहीं 'प्रज्ञान' शब्द का भी प्रयोग इस अर्थ में किया गया है। साधारणतः आजकल विज्ञान से हमारा तात्पर्य भौतिक विज्ञान से होता है और उसी अर्थ में हम यहां उसका प्रयोग करेंगे। यद्यपि पुरातन ऋषियों ने सत् के बन्धन को असत् में अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से ही देखा था, और यह भी ठीक है कि योगिजन उस श्रेष्ठ तत्व को, हिरण्मय पात्र से ढँके मुख वाले उस सत्य को, गूढ़ आत्मतत्त्व को, अध्यात्म-योगाधिगम से ही, आत्मा के योग के द्वारा ही, देखते हैं, किन्तु फिर भी इससे पहले उन्हें बाहरी और भीतरी जगत् की बौद्धिक उपकरणों द्वारा खोज करनी होती है। जिसे हम भौतिक विज्ञान कहते हैं अथवा जिसे मनोविज्ञान कहते हैं, वे दोनों तत्त्वज्ञान में ही सन्निहित हैं। पदार्थ-विज्ञान तो वस्तुओं के द्रव्य और उनकी क्रियाओं का अध्ययन मात्र करता है। वह हमें सृष्टि का सच्चा स्वरूप नहीं समझा सकता। कारणवाद की समस्या के पल्ले मात्र को वह छूता

(१) मिलाइये वहीं ६।८ भी

है, समग्रता के साथ उसका निर्देश तो तत्वज्ञान ही करता है। मनोविज्ञान मन का अध्ययन करता है और उसके रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है। विज्ञान, फिर चाहे वह बाह्य विज्ञान हो और चाहे आन्तरिक (मनोविज्ञान), एकदेशीय ही होता है, विश्लेषणात्मक ही होता है। वह केवल जीवन के एक पहलू पर विचार करता है। किन्तु दर्शन जीवन को उसकी समग्रता में देखता है। अतः तत्त्वचिन्तन सदा एकीकरण, अभेद और एकत्व का पक्षपाती होता है। सृष्टि-क्रम-चिन्तन, कारणवाद की समस्या, ज्ञान की समस्याएँ और आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त, ये सब भारतीय दर्शन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय हैं, जिन पर हमें यहां संकेत रूप में भी कुछ कहना नहीं है। यह जगत् क्या है और कैसे है? इसका उपादान कारण क्या है? आदि प्रश्नों की मीमांसा भारतीय दर्शन में हुई है। प्रकृति-परिणाम-मय तत्त्वात्मक यह जगत् है, यह महर्षि कपिल का मत है। इनके मतानुसार जड़ चेतनात्मक जगत् के अन्तस्तल में प्रकृति और पुरुष दो सर्वथा विभिन्न स्वरूप के तत्त्व हैं। योग दर्शन इसीका कुछ अल्प संशोधन के साथ समर्थन करता है। न्याय और वैशेषिक असंख्य परमाणुओं के संयोग और वियोग से ही इसके रूप का उत्पादन सम्भव मानते हैं। ये नानातत्त्ववादी दर्शन हैं। जगत् के मूल में ये नाना भिन्नगुण और भिन्न स्वभाव वाले तत्त्वों को मानते हैं। महर्षि जैमिनि स्वरूपतः अनादि-अनन्त-प्रवाह रूप संयोग और वियोग से युक्त जगत् को मानते हैं और अद्वैतवादी इसे देखते हैं नानारूपक्रियात्मक मायापरिणाम चेतनविवर्त के रूप में। जगत् में दिखाई देने वाले अनेक पदार्थ और प्राणी एक शुद्ध ब्रह्म के अनेक रूप अथवा विवर्तमात्र हैं। सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण एक सनातन ब्रह्म ही है। इस जगत् के वीज के रूप में सांख्याचार्य देखते हैं त्रिगुणात्मक प्रकृति को, पतञ्जलि देखते हैं प्रकृति के नियामक के रूप में ईश्वर को, न्याय और वैशेषिक दर्शन देखते हैं ईश्वरादि नव परमाणुओं को और वेदान्ती देखते हैं अभिन्ननिमित्तोपादान ब्रह्म को। बौद्धों के अनुसार स्कन्धादि की अविच्छिन्न परिपाटी का नाम ही संसार है। इसी प्रकार मनोवैज्ञानिक गवेषणा के प्रसंग में जीव के स्वरूप के विषय में सांख्य और योगदर्शन देखते हैं उसे असंग, चेतन, विभु, नाना और भोक्ता के रूप में, न्याय-वैशेषिक देखते हैं कर्ता, भोक्ता, जड़, विभु और नाना के रूप में, मीमांसक देखते हैं जड़चेतनात्मक, विभु, नाना, कर्ता और भोक्ता के रूप में और वेदान्ती देखते हैं उसे अविद्या विशिष्ट चेतन के रूप में। फिर बौद्ध मनोविज्ञान की चित्त और चेतसिक की व्याख्या एक स्वतंत्र विषय ही है। न्याय-

शास्त्र की तरह मनोविज्ञान भी बौद्धों का एक विशेष अलंकार है। तर्क के पारस्परिक खण्डन-मंडन के विषय में तो हम चाहे निश्चिततापूर्वक कुछ न भी कह सकें, किन्तु मनोविज्ञान के क्षेत्र में बौद्ध दर्शन के समान अन्य कोई भारतीय दर्शन ऊँचा नहीं गया है और आधुनिक पश्चिमी मनोविज्ञान तो उसके सामने अभी शिशु है। उपनिषदों का मनोविज्ञान आत्म-ज्ञान की सेवा के लिये है। सांख्य-योग का मनोविज्ञान 'प्रकृति-पुरुष-विवेक' के लिये और बौद्ध मनोविज्ञान चित्त और चित्त-वृत्तियों के अध्ययन के द्वारा, उनकी प्रवृत्ति के निरोध से दुःख को निरुद्ध करने के लिये है। चित्त की अचल विमुक्ति उसका लक्ष्य है। भगवान् बुद्ध ने कहा है "भिक्षुओ ! यह जो च्युत न होने वाली चित्त की विमुक्ति है, इसी के लिये यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही अन्तिम निष्कर्ष है।"[१] इसलिये भारतीय दर्शन में मनोविज्ञान सर्वत्र उच्चतम मानवीय पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। उपनिषदों ने मन को अनन्त माना है[२], कहीं-कहीं उसको 'ब्रह्म' भी कहा है[३], अतः मन सम्बन्धी अध्ययन उनका एक प्रधान विषय है, जिस पर हम पांचवें प्रकरण में आयेंगे। बुद्ध ने भी मन को 'सबसे पूर्वगामी धर्म'[४] बताया है और चित्त से अधिक सूक्ष्म पदार्थ उन्होंने कोई नहीं माना[५]। बौद्ध विचारकों द्वारा भगवान् बुद्ध का सबसे अधिक दुष्कर काम यही माना गया है कि उन्होंने चित्त और चेतसिक धर्मों का सूक्ष्मतम विश्लेषण किया है। इतने से ही हम जान सकते हैं कि बौद्ध दर्शन में मनोविज्ञान को क्या स्थान प्राप्त है। उसके सम्पूर्ण नैतिक दर्शन का मनोवैज्ञानिक आधार है जिसका सूक्ष्मतम निरूपण हमें अभिधम्म पिटक में मिलता है। ऊपर हमने भारतीय दर्शन में विज्ञान सम्बन्धी विचार का उल्लेख किया है। पर हमें इस विषय में यहाँ यह और कह देना चाहिये कि हमारा सभी वैज्ञानिक चिन्तन कालान्तर में 'स्थितिभागीय' (ठहर जाने वाला, आगे उन्नति न करने वाला) ही हो गया। जैसे अन्य अनेक विषयों में (न्याय आदि में) बौद्ध आचार्यों ने पुराने वैदिक-परम्परा के आचार्यों

(१) महासारोपम-सुत्त (मज्झिम० १।३।९)
(२) अनन्तं वै मनो। बृहदारण्यक ३।१।९
(३) मनो ब्रह्मेत्युपासीत। छान्दोग्य० ३।१८।१
(४) मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया, आदि। धम्मपद, यमकवग्गो १
(५) देखिये आगे चौथे प्रकरण में 'बौद्ध मनोविज्ञान' का विवेचन।
(६) देखिये आगे चौथे प्रकरण में 'बौद्ध मनोविज्ञान' सम्बन्धी विवेचन।

को नये विचार दिये, वैसे भौतिक विज्ञान के विषय में वे अधिक न दे सके। अतः विश्व सम्बन्धी ज्ञान के विषय में अभी हम न्याय-वैशेषिक और सांख्य आदि की ही पदावली का व्यवहार करते आते हैं। भौतिक विज्ञान में आधुनिक युग में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। उसने ज्ञान की परिधि काफी हद तक बढ़ाई है और उसने हमें कई नये विचार दिये हैं और हमारी कई प्राचीन मान्यताओं को अपूर्ण और कुछ को तो सचमुच गलत भी साबित कर दिखाया है। उपनिषदों तक में कुछ स्थल ऐसे हैं जो आधुनिक विज्ञानकी कसौटी पर खरे नहीं उतरते[1] और न्याय वैशेषिक की सृष्टि-ज्ञान सम्बन्धी मान्यताएँ काफी हद तक निराकृत हो चुकी हैं। पर इससे हमें लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान विकासशील है और किसी का एकाधिकार उस पर नहीं है। हमें नवीन ज्ञान के प्रकाश में अपनी मान्यताओं का संशोधन करना पड़ेगा अन्यथा ज्ञान की दौड़ में हम पीछे रह जायँगे। वास्तविक ज्ञान-साधकों की जाति से हम बहिष्कृत कर दिये जायँगे।

पर भारतीय विचार-पद्धति में भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान सम्बन्धी उपर्युक्त महनीय परम्परा दिखाकर भी हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि सृष्टि विषयक अथवा मन विषयक ज्ञान भारतीय अध्यात्मज्ञान का अपना विषय नहीं है। और न वह उसका अन्तिम लक्ष्य है। आचार्य शंकर के मतानुसार उपनिषदों के सृष्टि-विषयक सभी विवरण अर्थवाद मात्र हैं, उनके ज्ञान से किसी फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। उनको जानकर हम जीवन का चरम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं कर सकते। अमृतत्त्व हमारा अन्तिम लक्ष्य है और उसे विज्ञान के द्वारा हम प्राप्त नहीं कर सकते। उसकी अधिगति तो उपनिषद् रूपी अध्यात्म विद्या से ही सम्भव है[2]। विज्ञान, चाहे वह भौतिक तत्वों का हो, चाहे मनस्तत्वों का, वह हमें अधिक दूर नहीं ले जा सकता। इस तत्व को बौद्ध दर्शन ने तो और भी अच्छी तरह दिखाया है। ज्ञान की क्रिया के तीन स्वरूप उसने माने हैं, संज्ञा, विज्ञान और प्रज्ञा। 'यह पदार्थ नीला' है, 'यह पीला' है, इस प्रकार जो आलम्बन (विषय) की पहचान मात्र, है, वह संज्ञा है। 'यह आलम्बन (विषय) नीला है' 'यह आलम्बन पीला है,' इसको जानने के उपरान्त जिस साधन से हम लक्षणों (सुख-दुःख आदि) की तह तक भी

(१) देखिए राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ४६३, पद-संकेत २

(२) न हि सृष्ट्याख्यायिकादि परिज्ञानात् किञ्चित्फलमिष्यते अमृतत्व फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्। ब्रह्मसूत्र—शांकर भाष्य, अध्याय२ का उपोद्घात।

पहुँचते हैं, वह विज्ञान है। इससे आगे विज्ञान नहीं जाता। किन्तु जिसे प्रज्ञा कहा जाता है, वह तो ऊपर कहे हुए नियम के अनुसार आलम्बन (विषय) को जानती भी है, उसके लक्षणों की तह तक भी पहुँचती है और इससे आगे चलकर वह मार्ग को भी प्रकट करने में समर्थ होती है। जिसे हम आज भौतिक विज्ञान कहते हैं या प्रयोगात्मक मनोविज्ञान कहते हैं या पश्चिमी अर्थ में दर्शन भी कहते हैं, वे सब अपने समष्टि रूप में उपर्युक्त ज्ञान की द्वितीय क्रिया रूप 'विज्ञान' की अवस्था से आगे नहीं चल पाते। आज हम अपने सब विज्ञानों के द्वारा वस्तुओं के स्वरूप को समझते हैं, जीवन के प्रति उनकी उपयोगिता को भी जानते हैं, पर उनको उद्देश्य में रखकर हमारे जीवन का मार्ग क्या हो, यह हम नहीं जानते। निश्चय ही विज्ञान (जीवन-) मार्ग को प्रकट नहीं कर सकता—मग्गपातुभावं पापेतुं न सक्कोति—[1]यह वाणी आज ज्ञान की उच्चतम अट्टालिका से विश्व को सुनाने योग्य है। विज्ञान विशेष रूप से जानने के सिवाय और कुछ नहीं है। वह एक साधन भर है, शक्ति मात्र है, जिसका उपयोग चेतना पर निर्भर है। विज्ञान के महत्त्व का सब आदि और अन्त यही है कि वह स्वयं ज्ञेय है और ज्ञेय वस्तुओं की जाँच-पड़ताल तक ही उसका क्षेत्र समाप्त है। इससे आगे वह नहीं जा सकता। विज्ञान के द्वारा हम पदार्थों के स्वरूपों को विशेषरूप से अर्थात् लौकिक, प्राकृत जनों से कुछ अधिक विशेष रूप से, जान सकते है। वह जीवन के सम्भार को भी बढ़ाता है। किन्तु विज्ञान हमें मार्ग का दर्शन या प्रकाशन नहीं करा सकता, वह हमारे जीवन को लक्ष्य प्रदान नहीं कर सकता। यह काम तो उस ज्ञान का है जो विज्ञान से ऊपर का ज्ञान है। और वह ज्ञान है, ऐसा हमारे तत्त्वदर्शियों का आश्वासन है। उस ऐसे ज्ञान को ही प्रज्ञा कहा गया है। 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग गीता (२।५४-६८) ने विस्तृत रूप से किया है, परन्तु उसका लक्षण क्या है, यह तो सबसे उत्तम ढंग पर बौद्ध दर्शन ने ही बताया है। कुशल-चित्त से युक्त विदर्शना-ज्ञान ही प्रज्ञा है (कुसल- चित्त-सम्पयुत्तं विपस्सनाञाणं पञ्ञा)[2]। प्रज्ञा विज्ञान से ऊपर का ज्ञान है, क्योंकि प्रज्ञा से मार्ग प्रकट होता है, जीवन को लक्ष्य मिलता है। विज्ञान तो जड़ है, मानव को यन्त्र की सीमा तक लाने वाला है। वह हृदयहीन है, उसमें 'कुशल-चित्त' कहां से हो सकता है ? इसीलिये वहाँ 'मार्ग' या जीवन विधि की

(१) विसुद्धिमग्ग १४।३
(२) विसुद्धिमग्ग १४।२

अधिगति भी नहीं है। वह तो मस्तिष्क का चरम विकास मात्र है। धर्म सेनापति सारिपुत्र ने कहा था "विज्ञान ज्ञेय है और प्रज्ञा भावनीय"[१]। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने मनुष्य के मस्तिष्क का अत्यधिक विकास करके भी उसे आध्यात्मिक और नैतिक पतन के गड्ढे में डाल दिया है। इसका एकमात्र कारण यही है कि आधुनिक विज्ञान में ज्ञेय-ही-ज्ञेय है, भावनीय कुछ नहीं। प्रज्ञा तत्त्व आधुनिक विज्ञान में बिलकुल नहीं है, 'कुशल-चित्त' की उसमें गन्ध तक नहीं है। बौद्धिक उन्नति तो काफी आगे बढ़ चुकी है, परन्तु चेतना उसका साथ देने में असमर्थ रही है। यही कारण है कि भौतिक उन्नति के चरम विकास पर पहुँचकर भी आज मानवता दुःखी है। भौतिक विज्ञान ने अभी तक वस्तु संचय-प्रधान संस्कृति को ही जन्म दिया है, मानव को यन्त्र के पाश में बाँधकर जड़ बनाने का ही उपक्रम किया है और आज तो भयानक विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण से सम्पूर्ण मानवता का अस्तित्व ही आशंका का विषय बन गया है। इस सबका कारण यही है कि विज्ञान का उचित संचालन करने वाली चेतना का अभी आविर्भाव नहीं हुआ है। इस कमी को नैतिक दर्शन ही पूरी कर सकता है, जो भोगवाद पर आश्रित न होकर त्याग पर आश्रित होगा, यन्त्रवाद पर आधारित न होकर मानवतावाद पर आधारित होगा और जिसमें विश्वजनीन भ्रातृत्व की गहरी अभिव्याप्ति होगी, आर्थिक मूल्यों के स्थान पर नैतिक और आध्यात्मिक मूलों की प्रतिष्ठा होगी और सब क्षेत्रों में समता की स्थापना होगी। विज्ञान केवल वस्तुगत सत्य को उपलब्ध करना चाहता है, इसलिये वह अपूर्ण है। अध्यात्मवाद आन्तर सत्य को भी उतना ही महत्त्व देता है, इसलिये वह मनुष्य के हृदय को स्पर्श करता है। विज्ञान का सत्य खण्ड सत्य है, जब कि अध्यात्मशास्त्र अभिन्न सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है। विज्ञान के लिये जीवन-संघर्ष सत्य है, तृष्णा को वह ग्राह्य मानता है, जबकि अध्यात्म ज्ञान मानव की चेतना की उच्च शिक्षा के द्वारा आत्मा के ऊर्ध्व गमन का सन्देश देता है और पारस्परिक हिंसा के मार्ग से ऊपर उठाकर मनुष्य को अहिंसक जीवन की रचना के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार अध्यात्म ज्ञान भौतिक विज्ञान से ऊपर का ज्ञान है, जिसके अनुसरण से ही मानवता का कल्याण हो सकता है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन में भौतिक विज्ञान को स्वतन्त्र महत्त्व नहीं दिया गया है। जगत् का ज्ञान महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि

(१) महावेदल्ल सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।३)

वह आत्मज्ञान का साधक है। उपनिषद् के ऋषियों ने अन्न (भौतिक पदार्थ) प्राण, मन, विज्ञान (बुद्धि) और आनन्द (अध्यात्मतत्त्व) इन पाँच ज्ञान के स्तरों द्वारा परम सत्य का अधिगम किया था। इनमें प्रथम स्तर भौतिक विज्ञान का है। मन अन्नमय है (छान्दोग्य-६।६।१-५) यह भौतिकतावादी भूमिका है। भूत-विज्ञान केवल इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाला ज्ञान है। उससे ऊपर मन और बुद्धि हैं। मन ब्रह्म है (छान्दोग्य ३।१८।१) या विज्ञान (प्रज्ञान) ब्रह्म है, यह विज्ञानवाद की भूमिका है। वेदान्त के अनुसार चित्त को ब्रह्म की मुख्य उपाधि माना गया है। बुद्धि के परे जो सत्य है, वही आत्मा का सत्य है और अध्यात्मज्ञान का प्रकृत विषय भी वही है। अध्यात्मज्ञान के लिये मन का संयम आवश्यक है। श्रौत परम्परा के सम्पूर्ण दर्शनों और श्रमण-दर्शनों का एक मात्र सार है मन का संयम, चित्त का निरोध। सत्व-शुद्धि भारतीय साधना का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। चित्त ही संसार है, मन ही मोक्ष और बन्धन का कारण है। इसलिये मन के स्वरूप को समझना और उसके शान्त करने के योग की पद्धति को विकसित करना भारतीय दर्शन का एक मुख्य उद्देश्य रहा है, जिसकी परम्परा हमें प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय में मिलती है। अध्यात्म विद्या वस्तुतः वासना का शोधन करने वाली विद्या है। चित्त-वृत्तियों के परिष्कार का वह एक साधन है। वह केवल ज्ञान का साधन ही नहीं है। उसके समान आनन्द देने वाली भी कोई दूसरी वस्तु नहीं है। कवि-विचारक अश्वघोष ने कहा है, "यदि तुम्हें आनन्द की इच्छा है तो अपने मन को अध्यात्म में लगाओ। शान्त एवं निर्दोष अध्यात्म आनन्द के समान दूसरा कोई आनन्द नहीं है।"[1] भारतीय दर्शन में मनोविज्ञान के महत्त्वपूर्ण स्थान की यह भूमिका है। जिस प्रकार शारीरिक रोग के लिये चिकित्साशास्त्र है, उसी प्रकार मनुष्य के मानसिक रोगों के लिये अध्यात्म ज्ञान को चिकित्साशास्त्र माना गया है। आचार्य अश्वघोष ने अत्यन्त सारगर्भित शब्दों में इस अर्थ को व्यक्त करते हुए कहा है "रजस् और तमस् से युक्त चित्त के चिकित्सक अध्यात्मविद् दार्शनिक ही होते हैं"—

(१) रिरंसा यदि ते तस्मादध्यात्मे धीयतां मनः। प्रशान्ता चानवद्या च नास्त्यध्यात्मसमा रतिः॥ सौन्दरनन्द ११।३४ ब्रह्मविद्या रूपी स्त्री के साथ रति की बात भर्तृहरि ने भी अपने 'वैराग्य शतक' में कही है। अध्यात्म रति की भावना के लिये देखिये गीता १।५५, ३।१७, ५।२१ भी।

मनसो हि रजस्तमस्विनो भिषजोऽध्यात्मविदः परीक्षकाः[1]। अतः भारतीय अध्यात्मशास्त्र केवल सिद्धान्तों की तात्विक समीक्षा करने वाला ही शास्त्र नहीं है बल्कि मानसिक व्याधियों के लिये वह चिकित्साशास्त्र का काम करने वाला भी है और भौतिक विज्ञान को संचालित करने की चेतना उसमें विद्यमान है, जिससे वह मानव जीवन को लक्ष्य प्रदान कर सकता है और समाज के लिये कल्याणकारी हो सकता है।

ज्ञान की सर्वांगीण निष्ठा भारतीय दर्शन का एक प्रमुख लक्षण है। जीवन की विविधता और एकता की अभिव्यक्ति उसके अन्दर हुई है। उसका सम्पूर्ण विकास सत्य की असीम एकता का पक्षपाती है।

भारतीय दर्शन की समन्वयात्मिका बुद्धि

समन्वय और सन्तुलन के आधार पर भारतीय दर्शन खड़ा है, जिसे हमारी जातीय विशेषता भी कहा जा सकता है। उसकी नाना विचार-धाराएँ परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं। सत्य अनेक और विभिन्न नहीं हैं। जीवन जिस प्रकार एक और अखण्ड है, उसी प्रकार सत्य भी एक और अखण्ड है। सब सम्प्रदायों और विचार-पद्धतियों में वह खण्ड-रूप से व्याप्त है। यह उसका प्रतीयमान रूप है। अनेक सत्यों की कल्पना वस्तुतः अज्ञान पर आश्रित है। नानात्व की बुद्धि मिथ्यादृष्टि है। समत्व ही सम्यक् दर्शन है। भगवान् बुद्ध ने प्रभावशाली शब्दों में कहा है 'एकं हि सच्चं न दुतियमत्थि'। सत्य एक ही है, दो नहीं हैं। जब दूसरा ही सत्य नहीं है, तो अनेक कहां से होंगे ? ज्ञानी अनेक सत्य नहीं सिखलाते। सब ज्ञानियों, सन्तों, अर्हतों का अभिमत सत्य एक है। प्रसिद्ध मध्यकालीन सन्त रज्जब ने भी इसकी गवाही देते हुए कहा है "सब सांच मिलें सो सांच है"। सम्पूर्ण सत्य को अविरोधी होना ही चाहिये। भेद के अन्दर अभेद देखने को गीता ने सात्विक ज्ञान का लक्षण बताया है[2]। ज्ञानी का सबसे बड़ा लक्षण समत्व, समचित्तत्व ही है, जो सत्य के सर्वांगीण रूप को देखने से ही प्राप्त हो सकता है। श्रमण का लक्षण भी समचर्या या समता का आचरण है। 'समचरिया समणोति वुच्चति'[3]। अतः वह किसी एक दृष्टि में आसक्त नहीं होता, किसी एक मतवाद को पकड़ कर नहीं बैठता। दृष्टिवाद-मतवाद भी उसकी दृटि में चित्त का एक बन्धन है, एक संयोजन है। वह

(१) सौन्दरनन्द ८।५
(२) गीता १८।२०
(३) धम्मपद २६।६

तो सत्य के समग्र रूप का ही गवेषी होता है, जिसे सम्पूर्ण अनुभव के आधार पर ही प्राप्त किया जा सकता है। सम्पूर्ण अनुभव ही दर्शन का आधार है। अनुभवों का जब एक व्यवस्थित और संश्लिष्ट रूप प्रज्ञा द्वारा किया जाता है तो उसी का नाम दर्शन है। जीवन और जगत् के सम्बन्ध में जब इस प्रकार की व्यापक और संश्लिष्ट व्याख्या मनुष्य को मिल जाती है तो वह सब विवादों से ऊपर चला जाता है। वह लोक से कलह की बात नहीं कहता। मतवादों के लिये नहीं लड़ता। बल्कि विनम्र और सहिष्णु होता है। सम्पूर्ण बौद्धिक दुराग्रहों को छोड़ता है। भारतीय दर्शन ने हमारे सांस्कृतिक जीवन के लिये सबसे बड़ा गौरववान् कार्य सहिष्णुता और समन्वय की इस भावना को देकर ही किया है, जिससे हम शेष सृष्टि के साथ मैत्री और अविरोध के साथ रह सकते हैं और उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं।

भारत की उदार समन्वयात्मक दृष्टि का ही यह परिणाम है कि यहाँ सत्य-गवेषियों पर कभी वैसे संकट नहीं आये जिनकी ओर संकेत करते हुए महामति नीशे ने अपनी अभिव्यंजनात्मक भाषा में कहा है, "जहां सत्य है वहां आदमी भी जा धमकते हैं। हाय अफसोस! हाय! सत्य-गवेषी के लिये अफसोस! सदा से यही चिल्लाना रहा है"[१]। भारत में सत्य-गवेषी के लिए इस प्रकार अफसोस करने का कोई अवसर नहीं आया है, इसका साक्ष्य उसका इतिहास देता है। धार्मिक मतवादों के लिये यहाँ कभी अत्याचार नहीं हुए। किसी को अपने मत के लिये यहाँ पीड़ित नहीं किया गया। भगवान् बुद्ध ने तो एक शल्य-चिकित्सक की तरह अपने समाज के दोषों को दिखाया था, ब्राह्मणों के मतवादों की निर्मम आलोचना की थी, परन्तु फिर भी ब्राह्मणों ने उन्हें, 'ब्रह्म' 'महर्षि' और 'वेदज्ञ मुनि' कह कर पूजित किया, क्योंकि अपने सम्पूर्ण जातिगत अभिमान को रखते हुए भी वे सत्य को पहचानते थे और उसका आदर करना जानते थे। अशोक ने श्रमणों और ब्राह्मणों में कोई भेद नहीं किया। उनके धर्म प्रचार-कार्य को विदेशों में इतनी सफलता मिली उसका प्रधान कारण यही था कि उनका आदर्श-वाक्य था 'समवायो एव साधु' अर्थात् समन्वय ही श्रेष्ठ है। गुप्त-साम्राज्य के काल में पौराणिक धर्म के साथ-साथ बौद्ध धर्म की भी विशेष उन्नति हुई। एक ओर

---

(१) "For where truth is there are the people; Woe! woe to the seeker! This was ever the cry." दस स्पेक ज़ेरेथुस्ट्रा, पृष्ठ ९३

पुराणकारों ने भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मानकर पूजित किया, दूसरी ओर महायान बौद्ध धर्म ने उनके भक्तिवाद को काफी हद तक ग्रहण कर लिया। नालन्दा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम पर एक सरसरी दृष्टि डालने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान का रूप इस देश में विश्वजनीन माना जाता था। बौद्ध धर्म का एशिया-व्यापी प्रसार उसकी उदारता और गहरी मानवता के कारण ही हो सका। महायान बौद्ध धर्म देशी-विदेशी साधनाओं का महासमन्वयवाद ही था, यह हम आगे चल कर देखेंगे। जाति, धर्म, देश, भूगोल और भाषा के बन्धनों को अतिक्रमण करती हुई उसके विकास की अप्रतिहत गति विश्व-इतिहास में मानवता-धर्म की प्रथम विस्तृत कहानी उपस्थित करती है। उसी से एशिया की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक एकता की आधारशिला का निर्माण हुआ, जो आज तक वैसी ही दृढ़ और विकासशील है। बौद्ध धर्म का यह अभूतपूर्व गौरव है कि एशियाव्यापी प्रसार के इतने लम्बे इतिहास में एक भी व्यक्ति को धर्म के नाम पर दंडित नहीं किया गया, एक भी व्यक्ति पर बौद्ध विचार-धारा बलात् नहीं लादी गई। बौद्ध धर्म अत्यन्त उदार और मैत्री-प्रसारक धर्म है और सम्पूर्ण भारतीय धर्म-साधना की ही यह एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है। महामति नीशे ने ईसाई देशों के धार्मिक अत्याचारों के सम्बन्ध में कहा है, "वे अपने ईश्वर से प्रेम करने का, सिवाय मानव को शूली पर लटकाने के और कोई तरीका ही नहीं जानते"[१]। धार्मिक सहिष्णुता और समभाव की परम्पराओं से पूर्ण इस देश में इस तरीके का प्रयोग उसके विस्तीर्ण इतिहास में कभी नहीं किया गया है। मानवता की बलि देकर यहाँ धर्म की उपासना कभी नहीं की गई है। धर्म कभी मानवता के न्यायालय में अभियुक्त होकर यहाँ नहीं आया है। वैसे तो सम्पूर्ण भारतीय विचार-धाराएँ और धर्म-साधनाएँ सहिष्णु और शान्ति-परायण रही हैं, परन्तु बौद्ध धर्म को तो विशेषतः हमारी समस्त आध्यात्मिक और नैतिक विरासत के पूर्ण समन्वय का प्रतीक माना जा सकता है। आचार्य सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ठीक ही बौद्ध धर्म को 'आदर्श का एक महासागर' कहा है, 'जिसमें पूर्वीय विचार-धारा की भिन्न-भिन्न नदियाँ मिली हैं'[२]। केवल भारतीय साधनाओं का ही समन्वय बौद्ध धर्म के विशाल इतिहास में नहीं है, उसने विदेशी

(१) "They know not how to love their God, save by nailing man to cross." दस स्पेक ज़ेरेथ्रुष्ट्रा, पृष्ठ ८२

(२) ऋतम्भरा, पृष्ठ १८७

जातियों को भी आत्मसात् किया है। बौद्ध धर्म 'केवल पवित्र गंगा जल का द्वीप नहीं है, क्योंकि उसमें सहायक नदियों के रूप में तातार देश भी मिले थे और अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं द्वारा उन्होंने बौद्ध धर्म के भण्डार को नये संगठन, नई शक्ति, पूजा-विधि और नई भक्ति से मालामाल किया है'[१]। उदार समन्वयात्मक दृष्टि से ही यह सम्भव हो सका है।

उपनिषद्[२] में एक आख्यान है जिसमें गार्गी याज्ञवल्क्य से कुछ प्रश्न पूछती है। अनेक प्रश्नों के अन्त में वह पूछती है—'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं। 'कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्च'। इस पर याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, "गार्गि! अतिप्रश्न मत कर। तेरा मस्तक न गिर जाय। जिसके विषय में अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये उस देवता के विषय में तू अतिप्रश्न कर रही है। हे गार्गि! तू अतिप्रश्न मत कर"[३]। यह एक आख्यान है जिसमें ब्रह्मलोक पर्यन्त उत्तरोत्तर अधिष्ठान-तत्त्वों का उल्लेख किया गया है और अन्तिम अधिष्ठान ब्रह्मलोक के आधार के सम्बन्ध में जिज्ञासा को 'अतिप्रश्न' बताया गया है, जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य का मूर्द्धपात हो सकता है, उसका सिर गिर सकता है। इस आख्यायिका को महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने एक नई व्याख्या से युक्त किया है, जिसके साथ सहमत होना कठिन हो जाता है। उनका अनुमान है कि शायद याज्ञवल्क्य किसी षड्यन्त्र के द्वारा गार्गी को मरवा देते यदि वह आगे प्रश्न करने से विरत नहीं होती। याज्ञवल्क्य से संवाद करने के कुछ दिनों बाद उन्होंने गार्गी को लोपामुद्रा से यह पूछते दिखाया है, "तो बूआ! तू समझती है कि यदि मैं आगे प्रश्न करती तो मेरा सिर गिर जाता।" लोपामुद्रा उत्तर देती है "निस्सन्देह! किन्तु याज्ञवल्क्य के ब्रह्मतेज से नहीं बेटी, दुनिया में कितनों के सिर चुपचाप गिरा दिये जाते हैं"[४]। यह 'चुपचाप सिर गिराया जाना' न तो उपनिषद्-युग में भारत की पद्धति थी और न उसके बाद किसी युग में उसने इसका आश्रय लिया है। सिर गिराना या गिरवाना वहाँ होता है जहाँ कामना होती है, शक्ति-लोलुपता होती है, भोगवादी जीवन-दृष्टि होती है, हिंस्र भावना होती है। परन्तु जो अमृतत्व के

(१) ऋतम्भरा, पृष्ठ १८७

(२) बृहदारण्यक ३।६।१

(३) स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति। बृहदारण्यक ३।६।१

(४) बोल्गा से गंगा, पृष्ठ १३४ (द्वितीय संस्करण)

लिये अपना सब कुछ छोड़ चुका, उस ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य को इसका आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं थी। वस्तुतः 'सिर गिरने' से तात्पर्य मानसिक सन्तुलन खोने से है। बौद्ध साहित्य में भी 'अतिप्रश्न' करने से रोका गया है और 'सिर गिरने' की बात कही गई है। मज्झिम-निकाय में उपासक विशाख भिक्षुणी धम्मदिन्ना से अनेक प्रश्न पूछता है और उनके अन्त में वह यह भी पूछे बिना नहीं मानता "आर्ये ! निर्वाण का प्रतिभाग (आश्रय) क्या है ?" इस पर धम्मदिन्ना बिलकुल याज्ञवल्क्य की ही शैली में उत्तर देती है "आवुस विशाख ! तुम प्रश्न को अतिक्रमण कर गये।"[१] उपनिषदों में जो स्थान ब्रह्म या ब्रह्मलोक का है, वही स्थान बौद्ध दर्शन में 'निर्वाण' का है और और दोनों के वर्णन में अनेक समान शब्दों का भी प्रयोग किया गया है, यह हम आगे चलकर देखेंगे। 'सिर गिरने' की बात तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने भी अपने मुख से कही है—"काश्यप ! जो इस प्रकार......न जानकर कहे कि "मैं जानता हूँ", न देखकर कहे कि 'मैं देखता हूँ' उसका सिर गिर जाय[२]"। निश्चयतः यहाँ सिर गिरने से वही तात्पर्य लिया जायगा जो याज्ञवल्क्य के प्रसंग में। वस्तुतः यह एक लाक्षणिक प्रयोग है जिसका अर्थ मानसिक ह्रास या नैतिक पतन है। शाकल्य के सिर गिरने की कथा जो बृहदारण्यक उपनिषद् (३।९।२६) में है, इसी अर्थ में व्याख्यात की जा सकती है। वस्तुतः उपनिषदों में यह प्रयोग आख्यायिकाओं में ही आया है और पूज्य राहुलजी ने भी इसका प्रयोग 'वोल्गा से गंगा' में ही किया है जो एक महान् ऐतिहासिक आख्यान है। हमें भय है कि इसे दार्शनिक विवेचन का विषय बना कर हमने उपनिषदों और पूज्य राहुलजी के प्रति कहीं अन्याय तो नहीं किया है। हमारा विनम्र अभिप्राय यही है कि विचारों के लिये इस देश में मारकाट कभी नहीं हुई है और न उनके स्वतंत्र प्रकाशन पर कोई रोक लगाई गई है। सुकरात, गेलीलियो और चार्ल्स ब्रूनो के दुर्भाग्यपूर्ण उदाहरण भारतीय इतिहास में नहीं मिलेंगे। 'इन्क्वीजीशन' न्यायालयों की यहां आवश्यकता नहीं पड़ी है। यह सब इसीलिये हो सका क्योंकि भारत की प्रवृत्ति समन्वयात्मक थी। भगवान् बुद्ध ने भी अनेक समन्वय किये थे। उनका मध्यम-मार्ग सन्तुलन का एक परिपूर्ण दर्शन ही था। उनका सबसे बड़ा समन्वय तो था पुराने शब्दों को नये अर्थ देना, जिसके

(१) चूलवेदल्ल-सुत्त (मज्झिम० १।५।४), राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद (मज्झिम-निकाय) पृष्ठ १८३

(२) कस्सप-सुत्त (संयुत्त-निकाय); राहुल सांकृत्यायन : बुद्धचर्या, पृष्ठ ४६

विषय में हम आगे चलकर विचार करेंगे। गीता में भी हमें यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यज्ञात्मक धर्म के विरुद्ध मानवतावादी श्रमण-संस्कृति के आन्दोलन के परिणामस्वरूप अनेक संशोधन, परिवर्तन और समन्वय के प्रयत्न हमें ब्राह्मण-ग्रन्थों और गीता में देखने को मिलते हैं। मध्य-युग का सन्त-धर्म बौद्ध समतावाद और वैष्णव भक्तिवाद का समन्वय रूप ही था, जिसमें इस्लाम के कुछ कल्याणकारी तत्त्वों की भी स्वीकृति थी। 'एकै राम रहीमा', 'हिन्दू तुरक का कर्ता एक', 'मन्दिर मस्जिद एक', 'सांचा नाम अल्लाह का सोई सत कर जाणि' की रट लगाने वाले ये सन्त अपने युगानुरूप समन्वय-धर्म के ही प्रचारक थे। गोस्वामी तुलसीदास तो महासमन्वयवादी थे। परम्परागत मर्यादा के अनुयायी होते हुए भी उन्होंने अनेक समन्वय किये जिससे जातीय जीवन को उस युग में महान् नैतिक चेतना मिली और उसमें सांस्कृतिक एक-निष्ठता आई। व्यक्तिगत साधना के लिये उन्होंने विश्व को गुण-दोष और जड़-चेतन-समन्वित मानकर, विवेक पूर्वक शुभ को ग्रहण कर अशुभ को छोड़ देने के लिये कहा है,[१] जो अविवाद सिद्धान्त है और बौद्ध 'विभज्जवाद' की भावना के समीप है। आधुनिक युग में रामकृष्ण परमहंस के जीवन को हम आध्यात्मिक समन्वयवाद का पूर्ण प्रतीक मान सकते हैं। महात्मा गांधी ने तो 'सर्व धर्म समभाव' को एक व्रत का ही रूप दे दिया था। योगी अरविन्द और विश्व-कवि रवीन्द्र के रूप में हमने पूर्व और पश्चिम का समन्वय किया है। युग की परिस्थितियों के अनुसार, अपने मूल लक्ष्य पर दृढ़ रहते हुए, हमने उनके अनुरूप अपने को बनाया है। वस्तुतः समन्वय भारतवर्ष का राष्ट्रीय गुण रहा है जिसकी अभिव्यक्ति उसके दर्शनशास्त्र में भी सम्यक् रूप से हुई है।

इस प्रकार एक संग्राहक रूप में हमने भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियों और उसकी चिन्ता के मुख्य विषयों को देखा। उसके मूल उपादानों और दिशाओं की भी कुछ अवगति हमने प्राप्त की। अब हम भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास का कुछ दिग्दर्शन कर अपनी मूल समस्या पर आयेंगे।

उपसंहार

---

(१) जड़ चेतन गुण दोष मय विस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार॥ रामचरित मानस।

दूसरा प्रकरण

भारतीय दर्शन-परम्परा : संक्षिप्त ऐतिहासिक विकास और विवेचन

भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास को जानने की कठिनता

भारतीय दर्शन अपने साहित्यिक, तात्विक और ऐतिहासिक स्वरूपों में एक अत्यन्त महान् और लम्बी परम्परा का अनुवर्तन करता है। शताब्दियों और सहस्राब्दियों को चीरती हुई, विशाल पर्वत-मालाओं के समान समानान्तर रूप से प्रसारित और अनवगत रूप से सम्पुटित, उसकी दीर्घ काल-वाहिनी विचारधाराओं की गति जानी नहीं जाती, उनको उत्क्रमण करना तो दूर है। विश्व की आज तक की कोई ऐसी विचार-प्रणाली नहीं जो भारतीय दर्शन में प्रतिबिम्बित न हुई हो अथवा जिसका प्रतिरूप उसमें दिखाया न जा सकता हो। किन्तु उसके ऐतिहासिक विकास के गहन कान्तार में से उन सबको सुलझाकर निकालना, उनके स्रोतों को ढूंढ़कर उनके विकास के मार्ग को खोजना, उनके विभिन्न आवर्तों और गमन-मार्गों की संगति लगा कर उनकी व्याख्या करना, हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में किसी भी भारतीय दर्शन के विद्यार्थी के लिये पूर्णतः सम्भव नहीं है। सम्भवतः इसीलिए डा० दासगुप्त ने अपने 'भारतीय दर्शन का इतिहास' के आरम्भ में यह प्रश्न ही उठाया है कि 'क्या भारतीय दर्शन का इतिहास सम्भव है'?[१] निश्चय ही जब कि दर्शनकारों और दार्शनिक पद्धतियों के आदि और अन्त का पता ही नहीं लगता, जब समानान्तर रूप से प्रसरणशील विचार-परम्पराओं के सम्पर्क और संघर्ष का और उनके सामान्य पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्ध का, उनके पौर्वापर्य का और जिन सामाजिक परिस्थितियों और युगों में वे प्रवर्तित हुई, उनका कुछ पता ही नहीं चलता, तो उनके विषय में एक निश्चित इतिहास जैसी वस्तु की उपलब्धि कैसे मानी जा सकती है?

---

(१) देखिए उनकी हिस्ट्री ऑव इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४ (भूमिका)

डा० स्मिथ के इस कथन से हम विशेष असहमत नहीं हो सकते कि जब तक भारतीय इतिहास के निश्चित इतिवृत्तात्मक स्वरूप का हमको पता नहीं लगता तब तक भारतीय विचार के इतिहास को उसकी समग्रता में जानना हमारे लिये शक्य नहीं है[1]। निश्चय ही बहुत कुछ हालतों में हमारे राजनैतिक और सामाजिक इतिहास के इतिवृत्त के कुछ अधिक सुनिश्चित रूप से ज्ञात होने पर विभिन्न भारतीय दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध का भी हम अधिक स्पष्टतापूर्वक निरूपण और परीक्षण कर सकेंगे। अभी तो स्वयं षड्-दर्शन परम्परा के विषय में भी हमारे परिश्रमी विद्वान् यह निर्णय नहीं कर पाये हैं कि किस दर्शन के उद्भव और विकास का किसी अन्य दर्शन के उद्भव और विकास के साथ क्या स्पष्ट ऐतिहासिक सम्बन्ध है, और उनका क्या निश्चित पौर्वापर्य क्रम है। न्याय और वैशेषिक के, न्याय और सांख्य के, पूर्व मीमांसा और न्याय के पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्धों को लेकर जो विप्रतिपत्तियाँ विद्वानों को हुई हैं, और जिन अव्याकृत वस्तुओं में वे जाकर गिर गए हैं[2], वे हमारे सामने प्रत्यक्ष ही हैं। फिर बौद्ध दर्शन के विषय में तो कहना ही क्या, जिसके प्रारम्भिक ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में ही विप्रतिपत्तियों का अन्त नहीं है[3]। अष्टादश निकायों के स्वरूप और विशेषताओं को किस मनीषी विद्वान् ने निश्चिततापूर्वक निरूपित किया है? शून्यवाद और विज्ञानवाद में पौर्वापर्य भाव का ठीक विनिश्चय कौन कर सका है? भागवत धर्म और महायान धर्म का पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्ध क्या है, इसे भी अन्तिम रूप से कौन दिखा सका है? वैदिक युग की दार्शनिक परम्परा का तो कहना क्या, शंकर और नागार्जुन जैसे युग प्रवर्तक दार्शनिकों की तिथियाँ भी इदमित्थं रूप से अभी निर्णीत नहीं हो सकी हैं और जिन पूर्ववर्ती आचार्यों से वे प्रभावित हुए, उनके

(१) देखिए उनकी अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया की भूमिका।

(२) इसीलिए डा० राधाकृष्णन् अपनी 'इण्डियन फ़िलॉसफी' को 'इतिहास' कहने से हिचके हैं। देखिए उनकी 'इन्डियन फिलॉसफी', जिल्द पहली, पृष्ठ ९ (प्रस्तावना)। स्वयं डा० दासगुप्त ने अपने भारतीय दर्शन-शास्त्र के विवेचन को 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफ़ी' कहा है। परन्तु गीता दर्शन (दूसरी जिल्द) को शांकर दर्शन (प्रथम जिल्द) से बाद रख कर उन्होंने कोई इतिहासवता नहीं दिखाई दिया है, यदि कालानुक्रम का इतिहास से कुछ भी सम्बन्ध है!

(३) देखिए आगे चौथे प्रकरण के उत्तरार्द्ध का प्रारम्भिक अंश।

विषय में भी ऐतिहासिक साक्ष्य का अभी प्रायः अभाव है। सत्यकाम जाबाल और याज्ञवल्क्य के स्मृति-चिन्ह हम किन इतिहास के पन्नों पर ढूंढ़ेंगे, मैत्रेय और ऋषभदेव की इतिहासवत्ता हम किससे पूछने जायँगे ? ऐतिहासिक अन्धकार के पटल को हम कहाँ तक हटा सकेंगे, यह ठीक तरह से नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह प्रसन्नता की बात है कि मनीषी पुरातत्त्वविदों और अन्य ज्ञान-गवेषकों के अथक परिश्रम से भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक स्वरूप के सम्बन्ध में हमारी अनेक कठिनाइयाँ और विप्रत्तिपत्तियाँ दूर हुई हैं और आगे उन पर अधिक प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। आज हम बुद्ध और महावीर या बौद्धधर्म और जैन धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध में वैसी बातें नहीं कह सकते जैसी कुछ वर्ष पूर्व उनके विषय में अक्सर कही जाती थीं[1]। आधुनिक गवेषणा ने इन दोनों दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर नया प्रकाश डाला है जिससे हम उन्हें अधिक अच्छी तरह समझ सकते हैं। दोनों के प्राचीन साहित्य के तुलनात्मक अनुशीलन ने हमें नये तथ्य प्रदान किये हैं जिनसे हम उनके पारस्परिक सम्बन्ध को अच्छी प्रकार समझ सकते हैं। इसी प्रकार सांख्य और बौद्ध दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अब हम पहले से कुछ अधिक स्पष्ट जानते हैं[2]। आज हमें मनीषी राधाकृष्णन् की लगभग तीस वर्ष पूर्व लिखी हुई इस बात की पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है कि शून्यवाद और विज्ञानवाद के पारस्परिक ऐतिहासिक सम्बन्ध के विषय में हमारी जानकारी स्पष्ट नहीं है, क्योंकि इन दोनों दार्शनिक सम्प्रदायों के विषय में हमें उस समय से अब बहुत कुछ अधिक अभिज्ञा है और उनके उद्भव और विकास को हम निश्चित इतिहास की भाषा में व्यक्त कर सकते हैं। इसी प्रकार महायान धर्म पर विदेशी प्रभाव की गाथा अथवा भक्ति-दर्शन पर ईसाई-धर्म के प्रभाव का अनुमान अब निश्चित इतिहास के प्रकाश में विवेचित किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास को पूर्ण रूप से दिखाने में यद्यपि अब भी अनेक कठिनाइयाँ हैं और जिस हद तक यह कार्य सम्पादित नहीं हो सकता उसी हद तक बौद्ध दर्शन अथवा किसी अन्य भारतीय दर्शन का अन्य समान दर्शनों के साथ तुलनात्मक अध्ययन भी अपूर्ण ही रहेगा। फिर भी ऐतिहासिक अध्ययन का बहुत कुछ विकास पिछले पचास वर्षों

(१) देखिए पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध और जैन दर्शन' पर विचार।
(२) आपेक्षिक रूप से ऐसा कह सकते हैं, देखिए पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य-योग' का विवेचन।

में हो जाने के कारण (यद्यपि अब भी वह अत्यन्त अल्प है) भारतीय दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य सर्वथा अशक्य नहीं है। फिर भारतीय विचार-शास्त्र की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो इस कार्य में हमारे ऐतिहासिक ज्ञान के अल्प होने पर भी हमें उसे समझने की प्रेरणा देती हैं। इनका निर्देश हम अभी करेंगे।

भारतीय वाङमय जब कि अन्य सब ज्ञान-शाखाओं में अत्यन्त परिपूर्ण है, ऐतिहासिक साहित्य का अभाव उसमें एक खटकने वाली चीज़ है। अनेक प्रसिद्ध विदेशी और भारतीय विद्वानों ने इस विषय में अपने विचार प्रकट किए हैं और अपनी कठिनाइयां दिखाई हैं। भारतीय दर्शन के विषय में यह कठिनता कहां तक और किस प्रकार हमारे वास्तविक अध्ययन की बाधक बनती है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। हमारे प्राचीन वाङमय में आधुनिक अर्थ में ऐतिहासिक साहित्य का अभाव है, यह हमें स्वीकार कर ही लेना चाहिए। यह ठीक है कि हमने इतिहास को 'पञ्चम वेद' के रूप में गिनाकर उसे अपने अध्ययन का विषय बनाया, यह भी ठीक है कि रामायण, महाभारत, पुराण, उपपुराण, राजतरंगिणी, और पालि के वंश-साहित्य के रूप में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक साहित्य हमें प्राप्त है, परन्तु हमारे इतिहास की सुविस्तीर्ण परम्परा को देखते हुए यह प्रायः अकिञ्चित्कर ही है। हमारे पास ऐतिहासिक साहित्य का अभाव है, यह सुनिश्चित है। किन्तु इसके कारण क्या हैं अथवा इसकी सीमाएँ क्या हैं, इस विषय में भारतीय दृष्टिकोण कभी भी विदेशी विद्वानों के समान नहीं हो सकता। आचार्य मैक्समुलर का यह कथन कि भारत ने कोई इतिहास नहीं लिखा क्योंकि उसके पास कोई इतिहास था ही नहीं[1], ठीक नहीं माना जा सकता। भारत की इतिहास विषयक उदासीनता का कारण उसके पास किसी इतिहास का न होना नहीं है। जिस जाति ने प्राचीन काल के मनुष्य की सभ्यता को सभी क्षेत्रों में इतना अधिक दान दिया, उसका इतिहास सम्भव न हो, यह कैसे कहा जा सकता है? आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास तिथियों, युद्धों, विजयों अथवा राजाओं और उनके मन्त्रियों के विवरणों का संग्रह मात्र नहीं है, बल्कि निरन्तर विकासशील मनुष्य की चेतना के

भारतीय विचारक पहले धर्म-चिन्तक थे, बाद में काल-चिन्तक

(१) देखिए उनकी 'हिस्ट्री ऑव ऐन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ १० तथा १५ (पाणिनि ऑफ़िस संस्करण)

परिणामस्वरूप परिवर्तित मानव-समाज का चित्र है। मनुष्य का काल-क्रमानुसार सामाजिक विकास किस प्रकार हुआ, आदि काल से उसने अपनी यात्रा में क्या और किस प्रकार प्रगति की, इसी का लेखा इतिहास में मिलता है। इस दृष्टि से देखने पर भारतीय वाङमय में हम ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव की बात नहीं कह सकते। एक प्रचुर सामग्री इस तरह की हमारे सभी प्रकार के साहित्य में उपलब्ध होती है और वही हमारा सर्वोत्तम इतिहास है। अतः भारतीय वाङमय में ऐतिहासिक साहित्य या भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव की बात कहने और उस पर अनावश्यक बल देने की प्रवृत्ति की हमें निन्दा ही करनी पड़ेगी। फिर अन्य देशों में भी जो इतिहास लिखे गए हैं, वे अपने अपने राष्ट्रों की श्लाघा के मोह को प्रायः नहीं छोड़ सकते। यही कारण है कि आत्यन्तिक सच्चा इतिहास उपलब्ध नहीं होता। नैपोलियन को फ्रांसीसी इतिहास लेखक जिस दृष्टि से देखते हैं उससे क्या अँग्रेज भी देख सकते हैं और यही बात प्रत्येक महान् पुरुष और ऐतिहासिक तथ्य के विषय में भी है। एक ही घटना के वर्णन में महान् विप्रतिपत्तियां पाई जाती हैं जिनमें से सत्य के अंश को निकालने का ऐतिहासिक गवेषक व्यर्थ ही प्रयास करते हैं। भारत की अध्यात्मप्रियता ने भौतिक महत्त्व की घटनाओं को स्मरणीय नहीं माना, उसके लिए मनुष्य के बाह्य कृत्यों और उसकी भौतिक विजयों का अधिक महत्त्व नहीं था। जहां मनुष्य की महिमा के स्वरूप का अंकन ही दूसरा था, जीवन की मूल्यांकन की दृष्टि ही जहां नैतिक और आध्यात्मिक थी, वहां अल्प भौतिक कृत्यों को स्थायी महत्त्व नहीं दिया जा सकता था। भारतीय चिन्तकों के लिये 'करने' से 'होना' ही अधिक महत्त्वपूर्ण था। व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय प्रसिद्धि और प्रख्यापन प्राचीन भारतीय विचारकों के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता था। वे अल्पेच्छता और सन्तुष्टिता के पुजारी थे। यही कारण है कि क्षुद्र वैयक्तिक या राष्ट्रीय अहम्मन्यता की अभिव्यक्ति उनके इतिहासों में नहीं है। उनके इतिहासों का भी रूप अध्यात्मशास्त्र का-सा है। 'महावंश' और 'राजतरंगिणी' के मनीषी रचयिताओं ने अपनी रचनाओं में यह स्पष्ट कर दिया है कि ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण देने से उनका मन्तव्य मनुष्य को अनित्यता की अनुभूति कराकर उसे परमार्थ की ओर उन्मुख करना ही है। राष्ट्रीय या व्यक्तिगत अहंभाव के निरोध का जितना अभ्यास भारतीय विचारकों ने किया है उसकी कोई दूसरी मिसाल विश्व-इतिहास में नहीं है। कालिदास और तुलसीदास अपनी

रचनाओं में समा गये हैं। उपनिषदों ने उच्चतम ज्ञान हमें दिया है, परन्तु उनके रचयिताओं ने एक भी पंक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में हमारे लिये नहीं छोड़ी है। इतिहास-सम्बन्धी उदासीनता हमारी संस्कृति की इस विशेष प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही है, भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव के परिणामस्वरूप नहीं, जैसा भ्रमवश कुछ पश्चिमी विद्वानों ने सोचा है। अनुभव ही जिनके लिए वास्तविक महत्त्वपूर्ण वस्तु था, व्यक्ति या उसके कार्य-कलाप नहीं, वे व्यर्थ की घटनाओं अथवा इतिवृत्त के निरूपण में किस प्रकार प्रवृत्त हो सकते थे, अध्यात्मचिन्तक होकर वे काल-चिन्तक कैसे हो सकते थे ? इसी-लिए तो वे स्वयं विचारकों तक का नाम न लेकर 'तथा चाहुः' 'इत्यपरे' कह कर शान्ति कर लेते हैं और विचारकों के नामों को अमरता देने का भी लोभ उन्हें नहीं होता। अतः जहां तक भारतीय दर्शन का सम्बन्ध है, हम उसके विचार के पूर्ण रूप को तो देख सकते हैं, परन्तु विचारक के विषय में प्रायः अत्यन्त अल्प ही सूचना पाते हैं। व्यक्तित्व के ऊपर सत्य की प्रतिष्ठा का यह सूचक है, जिसके भारतीय सदा उपासक रहे हैं।

भारतीय दर्शन अपने विशुद्ध विचारात्मक रूप में आज भी हमारे लिए स्पष्टतम प्रत्यक्ष है

भारतीय दर्शन अपने विशुद्ध विचारात्मक रूप में आज भी हमारे लिए एक स्पष्टतम प्रत्यक्ष है। अथाह महासागर के समान तरंगें लेता हुआ वह आज भी अपने घोष को हमें सुना रहा है। यद्यपि आज हम यह नहीं जान सकते कि सत्यकाम जाबाल, जैवलि, श्वेतकेतु, उद्दालक, रैक्व, महिदास ऐतरेय और उद्दालक की इतिहासवत्ता क्या थी अथवा उनके जीवन-वृत्त का क्या स्वरूप था, परन्तु उनके प्रज्ञानों और अनुभवों को तो हम फिर भी स्पष्टतम रूप से देख सकते हैं। क्या आवश्यकता है हमें यह जानने की कि किस विहार में बैठकर बुद्धघोष ने अपने 'अट्ठकथाएँ' त्रिपिटक पर लिखीं, जब स्वयं 'अट्ठकथाएँ' ही आज अपने स्वरूप को हमारे सामने प्रकाशित कर रही हैं। 'भामती' के लेखक के विषय में इतिहास हमें क्या बता सकता है ? अन्य अनेक मनीषियों के विषय में भी उसका साक्ष्य क्या प्रामाणिक हो सकता है ? बात यह है कि भोजन, पान, शयन आदि व्यापारों में मनुष्यों में विशेषता नहीं होती। सभी मनुष्य खाते, पीते, जीते और मरते हैं, कोई सौ वर्ष से कम तो कोई उससे कुछ अधिक। फिर इतिहास किसका लिखा जाय ? अमरता किसको प्रदान करने का प्रयत्न किया जाय ? जिनकी सभी ग्रन्थियाँ छूट चुकी हैं, उनके लिए व्यक्ति-

गत जीवन जैसी वस्तु ही क्या शेष रहती है ? किस वस्तु को वे 'अपनी' कहकर पुकार सकते हैं ? अतः भारतीय चिन्तक अपने विचारों में ही अपने को भूल गए हैं और काल-विलुप्त होते-होते (जो संसार का अवश्यम्भावी नियम है) जो कुछ भी शतांश या सहस्रांश भारतीय दार्शनिक वाङमय आज बच गया है वह भारतीय विचार-परम्परा के विशुद्ध विचारात्मक स्वरूप को दिखाने में पर्याप्त रूप से अलं है। भारत की समग्र विचार-धारा विभिन्न स्रोतों में बहती हुई भी, विभिन्न शताब्दियों में अपने बहाव को नदी के समान बदलती हुई, एक सामान्य उद्गम से ही निःसृत हुई है और एक ही जल भिन्न-भिन्न प्रवाहों में उसके अन्दर बह रहा है। इसलिए उसके लम्बे ऐतिहासिक विकास में सदा की तरह आज भी एक गहरी अन्विति और एकता की भावना गूढ़ रूप से अनुविद्ध पड़ी है जिसकी एक कड़ी भी कहीं टूटी हुई नहीं है और जो एक ही सनातन आदर्श और शासन का स्वाभाविक विकास और परिणाम है। इस विचार-पद्धति के मूल उपादानों को हम कुछ निश्चिततापूर्वक जान सकते हैं। और यह बात हमारे लिए, जो स्वयं इस पद्धति के जीवित प्रतिनिधि और स्वाभाविक दायाद हैं, बड़े सन्तोष और उत्साह की है।

भारतीय दर्शन का उद्भव और विकास

भारतीय दर्शन का उद्भव और विकास कोई दो-एक शताब्दियों अथवा सहस्राब्दियों का नहीं, वह लाखों वर्षों की साधना का परिणाम है। न जाने कितनी अज्ञात विचार-प्रणालियाँ इस भूमि पर इकट्ठी हुई हैं और किस प्रकार उन्होंने यहां की विचार-दिशा को प्रभावित किया है, यह सब ठीक रूप से दिखाना अत्यन्त कठिन है। ऋग्वेदीय युग से पूर्व की सभ्यताओं का अनुशीलन आज इतिहास के विद्वान् कर रहे हैं। अतः भारतीय विचार-परम्परा कब से चली आ रही है, इसका ऐतिहासिक रूप से ठीक निरूपण हमारे वर्तमान ज्ञान की अवस्था में नहीं हो सकता। फिर वैदिक युग से अनेक स्रोतों में बहता हुआ इसका जो बहुगामी और अत्यन्त वेगवान् विकास है, वह तो इतिहास के छोटे-छोटे छिद्रों वाले जाल में किसी प्रकार गृहीत किया ही नहीं जा सकता। महाभारत में स्वयं एक स्वतंत्र दार्शनिक परम्परा और विकास ही निहित है, बौद्ध और जैन दर्शन जैसे प्रभावशाली विचार-शास्त्रों की तो बात ही क्या ? इसी प्रकार षड्-दर्शन-परम्परा के उद्भव और विकास और सामान्यतः समग्र भारतीय दर्शन के विकास की बात है, जिस पर ऐतिहासिक दृष्टि से

हम अभी विचार करेंगे। समग्र भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास को दिखाने के लिए पहले हम भारत में दार्शनिक प्रवृत्तियों के प्रारम्भ के महत्त्वपूर्ण प्रश्न को लेंगे और फिर उसके विकास की अप्रतिहत और अविच्छिन्न धारा को।

भारत में दार्शनिक प्रवृत्तियों के आरम्भ की समस्या— उसके विकास की अप्रतिहत और अविच्छिन्न धारा

भारतीय दर्शन के सहस्रों वर्ष पर्यन्त लम्बे ऐतिहासिक विकास में विभिन्न दर्शन-प्रणालियों का होना एक अत्यन्त स्वाभाविक बात है और इस समग्र विकास को एक समन्वयात्मक तत्त्व से अनुविद्ध देखना भी निश्चय ही अत्यन्त ही स्वाभाविक है। किन्तु यह सब जानने से पूर्व हमें यह जानना चाहिए कि 'दर्शन' की उत्पत्ति भारत में किस प्रकार और किन उपादानों को लेकर हुई और किस प्रकार अथवा किन-किन रूपों में उसने विभिन्न भारतीय दर्शनों के रूप में विकास प्राप्त किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का निरूपण निश्चय ही भारतीय दर्शन के स्वरूप, विषय और प्रयोजन पर भी कुछ प्रकाश डालेगा, यद्यपि इसके विषय में हम पहले भी बहुत कुछ कह चुके हैं। 'दर्शन' की उत्पत्ति भारत में किस प्रकार हुई अथवा मूल रूप में किन प्रवृत्तियों को लेकर हुई, यह बताना निश्चय ही आज बड़ा कठिन है और इदमित्थं रूप से न तो इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर अब तक दिया गया है और न आगे दिया ही जा सकता है। आदि पुरुष की तरह आदि विचार भी कब जन्म लेकर प्रथम बार इस जगत् में आया, इसे किसी ने नहीं देखा। 'को ददर्श प्रथमं जायमानं'[1] जैसी विवशता नासदीय सूक्त की वाणी जिस प्रकार आदि पुरुष के लिए दिखाती है, उसी प्रकार वह आदि विचार के लिए भी सुप्रयुक्त है। कौन इसे उस विद्वान् (प्राचीन या अर्वाचीन) से पूछने गया जो इसे जानता था? सम्भवतः मनुष्य भी तो इस संसार में विचार के बाद ही आया[2]। संकल्प का परिणाम ही तो जीव-सृष्टि है। 'उसने कामना की कि मैं बहुत होऊँ।' इस समस्त सृजनके आदि में 'कामना' ही तो थी! 'काम' ही तो था सब से आगे, 'मन का रेतस्' और 'प्रथम' तत्त्व[3]!

(१) को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति। भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्। ऋ० २।३।१४

(२) को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव। ऋ० १०।१२९।६

(३) कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। ऋग्वेद।

यह 'प्रथम', 'मन का रेतस्' अन्ततः काम, संकल्प और विचार को छोड़कर और क्या है ? 'मन' से भी पूर्व जाने वाला क्या कोई और 'धर्म' है ? 'अध्यवसाय' या 'बुद्धि' से भी प्रथम क्या कोई अन्य प्रकृति का परिणाम है ? समग्र चराचर जगत् में, समष्टि और व्यष्टि रूप में, सभी आध्यात्मिक और भौतिक विकारों में, क्या इससे भी अधिक कोई 'महान्' है। सम्पूर्ण सृष्टि एक संकल्प का ही तो परिणाम अथवा विजृम्भण है, 'विज्ञप्ति मात्र' की सिद्धि है। सभी तो मनोमय है, बोध रूप है, बाह्य भौतिक पदार्थ भी तो अन्तःकरणस्थ वृत्तियों के प्रतिबिम्ब ही हैं, तो फिर मनुष्य इस 'विचार' के आदि को क्या जानेगा ? सृष्टि के आदि में शब्दरूप ब्रह्म ही तो प्रथम अवस्थित था और शब्द, अर्थ या विचार के विवर्त को छोड़कर और क्या है ? मनुष्य जो स्वयं विचार की एक प्रतिकृति है, उसके आदि को किस प्रकार जान सकेगा ? ऐसा करते-करते अन्ततः उसे अवश्यम्भावी अनवस्था में ही तो पड़ना पड़ेगा। किन्तु इतनी गहराई में उतरने की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमें तो केवल स्थूल रूप से अथवा ऐतिहासिक रूप से भारतीय दार्शनिक विचार के प्रारम्भ पर ही विचार करना है, ताकि उसके विकास स्वरूप उत्पन्न विभिन्न भारतीय दर्शन-प्रणालियों की संगति हम लगा सकें और उनके पारस्परिक सम्बन्ध को कुछ अधिक सुनिश्चितता के साथ देख सकें। इस विषय में हमें पहले ही यह कह देना चाहिये कि अभी तक प्रायः अन्ध-वेणु-परम्परा ही इस सम्बन्ध में हमारा एक मात्र सहारा रही है। और आज भी आधुनिक गवेषकों के प्रज्ञानों ने इस विषय में हमें किसी विशेष प्रकाश में पहुँचा दिया हो, ऐसा हम उनके अनेक बातों में प्रशंसक होते हुए भी सम्भवतः नहीं कह सकते। प्रत्यत उन्होंने कहीं तो अन्धकार को हटाने के प्रयत्न में हमें और भी अधिक 'अन्धन्तमः' लोक में डाल दिया है। अभी तक प्रायः अनुश्रुति के आधार पर हम वेद को अपने सब भौतिक और आध्यात्मिक विचारों का प्रथम उद्गम-स्थान मानते थे और उसी से सब प्रकार के ज्ञान की सिद्धि भी करते थे, किन्तु आधुनिक ऐतिहासिक अध्ययन ने स्वयं वेद में, प्रधानतया ऋग्वेद में, ज्ञान के विभिन्न स्तरों का अनुमापन कर काल-क्रम से उनका समय भी निश्चित कर दिया है और विकासवाद के सिद्धान्त के आधार पर ज्ञान के विभिन्न स्तरों का निरूपण भी किया है। जिन आधुनिक विद्वानों ने भारतीय दर्शन के आरम्भ के प्रश्न को विकासवाद के सहारे समझने का प्रयत्न किया है अथवा जिन्होंने तुलनात्मक दृष्टि से भारतीय दर्शन के उद्भव और विकास की परम्परा का साम्य यूनानी दर्शन के

साथ दिखाकर उसे सुलझाने और एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयत्न किया है, उन्होंने समस्या को और भी अधिक जटिल और भ्रमपूर्ण बना दिया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि भारतीय विचार-पद्धति विकास की एक शृंखला का अनुगमन नहीं करती अथवा अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यूनान के दर्शन के साथ उसका साम्य नहीं दिखाया जा सकता। वास्तव में किस आदि युग में भारत सर्वप्रथम अध्यात्म-चिन्तन में प्रवृत्त हुआ अथवा किन पुराण महर्षियों ने उसकी दार्शनिक परम्परा का प्रवर्तन किया, ये बातें आज निश्चयपूर्वक बताई ही नहीं जा सकतीं। मानवीय मस्तिष्क की संशयात्मिका अथवा जिज्ञासात्मिका वृत्ति के रूप में दर्शन एक शाश्वतकालीन शास्त्र है और इसलिए आरम्भ की अपेक्षा से रहित है[१], किन्तु ज्ञान की एक विशेष शाखा के रूप में अथवा विचार की एक विशेष पद्धति के रूप में उसका आरम्भ अवश्य दिखाया जा सकता है। अत्यन्त सरल और प्रारम्भिक मनुष्य समाज में भी, मानवीय जाति के उस शुभ्र प्रभात-काल में भी, जब कि समाज-संस्थान बिलकुल सादा था, भूख, इच्छा और जरा की समस्याएँ तो रही ही होंगी, मृत्यु ने, जो निश्चय ही किसी एक मनुष्य, अथवा ग्राम अथवा देश अथवा किसी युग विशेष का ही धर्म नहीं है, अवश्य ही उन्हें सताया ही होगा। वियोग के थपेड़े उन पर पड़े ही होंगे, चिन्ता उन्हें व्यापी ही होगी, काल ने उन्हें खाया होगा, काम ने उन्हें बौराया ही होगा! तो क्या जिस प्रकार उन्होंने अपने बाह्य वातावरण के प्रति सफल प्रतिक्रिया कर उस पर विजय प्राप्त की होगी, उसी प्रकार इन समस्याओं को भी सुलझाने का क्या कोई प्रयत्न उन्होंने नहीं किया होगा? क्या उन्हें किसी आगे आनेवाली विकास की अवस्था के लिए ही छोड़ दिया होगा, अथवा उन्होंने जो प्रारम्भिक काल में एतत्सम्बन्धी विचार किया होगा वह निश्चय रूप से क्या न्यून कोटि का ही रहा होगा और उसके बाद का आवश्यक रूप से उच्च कोटि का ही। यदि

(१) "Philosophy as a doubting process of the human mind is eternal. As a structure of thought it has its beginnings." वेणीमाधव बाड़आ: प्री बुद्धिस्टिक इंडियन फिलासफ़ी, पृष्ठ २; मिलाइये "There are no absolute beginnings for the philosophical possessions". राधाकृष्णन्: इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२

ऐसा ही होता तो एक अज्ञात पूर्वकाल में ही आविर्भूत वैदिक प्रज्ञान को सर्वोच्च ज्ञान मानने का भारतीय परम्परा के पास, जिसमें शंकर जैसे विचारक सम्मिलित हैं, कारण ही क्या है ? निश्चय ही भौतिक विज्ञान के विषय में तो सम्भवतः ऐसा कहा भी जा सकता है, किन्तु अध्यात्म-चिन्तन में और विशेषतः भारतीय अध्यात्म-चिन्तन की परम्परा में तो उसके अस्पष्ट होने के कारण सम्भवतः ऐसा कहना सम्यक् विचार के अनुकूल नहीं होगा। यदि न्यायभाष्यकार और वाचस्पति मिश्र के अनुसार 'संशय' अथवा 'जिज्ञासा' को लेकर ही दार्शनिक गवेषणा चलती है और किसी प्रयोजन की सिद्धि में ही उसका पर्यवसान होता है[1] तो निश्चय ही हम कह सकते हैं कि भारत के सुदीर्घ इतिहास में ऐसा कोई युग नहीं है जिसमें उसके निवासियों के चित्त में प्रकृति, परमेश्वर और जीवन सम्बन्धी समस्याएँ उद्भूत न हुई हों और इनपर उन्होंने विचार न किया हो। "मैं क्या हूँ ?", "यह जगत् क्या है ?", "इस जगत् की उत्पत्ति कहां से होती है ?", "किसमें इसका अधिवास है ?", "किसमें अन्त में यह विलीन होता है ?", "जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ?" 'दुःख का कारण क्या है ?" "दुःख के निरोध का मार्ग क्या है ?" आदि प्रश्न ऐसे हैं जिन पर भारतीय ऋषियों ने अत्यन्त प्राचीन काल में ही विचार करना आरम्भ कर दिया था। इन्द्र के उन ऋग्वेदीय उपासकों ने स्वयं उसके अस्तित्व के विषय में ही सन्देह प्रकट किया था[2]। सृष्टि के विषय में उनका 'यदि वा दधे यदि वा न' ऐसा गम्भीर जिज्ञासात्मक विकल्प था ही और स्वयं जगन्नियन्ता के भी संसार के सभी रहस्यों को जानने के विषय में उन मनीषियों के मस्तिष्क में 'सो अंग वेद यदि वा न वेद' जैसे महनीय साहसिक विचार की सम्भावना भी थी। संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में ही हम ऋषियों को सृष्टि के विषय में जिज्ञासा करते देखते हैं "प्रथम उत्पन्न हुए को किसने देखा है जब अरूपवान् ने रुपवान् को धारण किया ? जगत् का जीवन, रुधिर और आत्मा कहाँ था ? कौन इसे उस विद्वान् से पूछने गया जो इसे जानता था ? पुनः कौन निश्चयपूर्वक जानता है, कौन निश्चयपूर्वक हमें यह बतायेगा कि कहां से हम उत्पन्न हुए हैं और कहां से यह सृष्टि ? देवतागण तो स्वयं इस सृष्टि के सृजन के बाद उत्पन्न हुए

(१) देखिए प्रथम प्रकरण में 'भारतीय दर्शन में बुद्धिवाद और अध्यात्मवाद' पर विचार।

(२) यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।

हैं, फिर वे कैसे जान सकते हैं कि यह सृष्टि कहाँ से आई ?[१] क्योंकि 'न वहां असत् था और न सत्, न पवन था और न आकाश जो ऊपर स्थित है ? क्या यह धारण किए हुए था ? किसकी यह शरण में था ? क्या वहां जल था गहन और गम्भीर" ?[२] "जहां से यह सृष्टि आई है, उसने इसे धारण किया अथवा नहीं ? सम्भवतः जो परम व्योम में है, वही इसका अध्यक्ष है। वही इसे जानता है और कदाचित् वह भी इसे जानता नहीं है !'[३] 'ये तारे ऊँचे पर रक्खे हुए रात में दिखाई पड़ते हैं, दिन में कहां चले गए ? वरुण के कार्य आश्चर्यमय और बुद्धि से परे हैं। रात में चमकता हुआ चन्द्रमा निकलता है"।[४] इतना ही नहीं, हम ऋग्वेद में ऋषियों को जीवन-सत्ता के विषय में भी कभी-कभी ऐसे गम्भीर और महनीय विचार करते देखते हैं जो आज इतने दार्शनिक विकास के बाद भी हमारे लिए सर्वथा नवीन हैं। "कवियों ने अपने हृदय में सत् के बन्धन को असत् में देखा"[५]। "विना वायु के वह अपनी शक्ति से श्वास ले रहा था और उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था"।[६] फिर वरुण की उपासनाओं में जो विशुद्ध भक्ति का नैसर्गिक तत्व, पाप से व्यथित चित्त की आकुलता और प्रायश्चित्त की अद्भुत जलन और पुण्य और पाप की स्पष्ट अनुभूति तथा मनुष्य और देवों के प्रति मैत्री भावना के जो उद्गार भरे पड़े हैं, वे भारतीय दार्शनिक विकास के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आश्चर्य की वस्तु हैं। 'ऋग्दर्शन'

(१) को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव। ऋ० १०।१२९।६

(२) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन् अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्। ऋ० १०।१२९।१

(३) इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अंग वेद यदि वा न वेद। ऋ० १०।१२९।७

(४) अमी च ऋक्षा निहितास उच्चाः नक्तं ददृशे कुहचिद्दिवेयुः। अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशत् चन्द्रमा नक्तमेति। ऋ० १।२२

(५) सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा। ऋ० १०।१२९।४

(६) आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किंचनास। ऋ० १०।१२९।२

का विवेचन ही वास्तव में इनकी व्याख्या का उपयुक्त स्थान हो सकता है, पर यहाँ उनके उद्धरण से हम विरत नहीं हो सकते। "हे भगवन् वरुण ! कौन सा वह महान् अपराध मुझसे बन पड़ा है, जिससे तुम अपने मित्र उपासक मुझको मारना चाहते हो। हे दुर्दम, तेजस्विन् वरुण ! उस पाप को मुझे बताओ जिससे मैं उसका प्रायश्चित्त करके निष्पाप होकर शीघ्र ही स्तुतियों के द्वारा आपकी उपासना करूँ"[१] "हे भगवन् वरुण ! मेरा वह जानकर किया हुआ पाप-प्रवृत्ति में कारण न था ! भगवन् ! वह दैवगति ही थी। वह प्रमादकारिणी सुरा ही थी ! अनर्थ हेतु क्रोध ही था ! वह द्यूत का साधन अक्ष था ! मेरा अज्ञान था[२]।" "हे वरुण ! आपके लिए की हुई यह मेरी स्तुति आपके हृदय में अच्छी तरह से प्रवेश करे। हमारे योग और क्षेम में उपद्रवों का शमन हो और हे देवो ! हमारी सदा शान्ति से रक्षा करो"[३] "हे राजन् वरुण ! मिट्टी से निर्मित गृह में मैं प्रवेश न करूँ ! हे शोभन धन वरुण ! मुझ पर दया करो, मुझ पर कृपा करो। हे आयुधवन् वरुण ! मैं तुम्हारे भय से उसी प्रकार हिल रहा हूँ जिस प्रकार वायु से कम्पित मेघ। हे सुधन ! दया करो, हे वरुण ! दया करो[४]। जल के बीच में स्थित तुम्हारे उपासक मुझको तृषा ने सताया। हे वरुण ! मुझ पर दया करो ! मुझ पर कृपा करो ! हे देव ! हम मनुष्य ही तो हैं, इसलिए यदि कुछ द्रोह भी हम देवों के प्रति करें, तो हे देव ! उस पाप के कारण तुम हमारा विनाश मत करो।'[५] इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद के काल में ही ऋषियों को जीवन की समस्याएँ उद्वेलित करने लगी थीं और यद्यपि बाहरी रूप से देखने पर वे इन्द्र वरुणादि देवों की उपासना में ही विशेषतः संलग्न थे, किन्तु फिर भी अत्यन्त प्राचीन काल में ही वे 'विश्वे देवासः' की कल्पना कर चुके थे, यह देख चुके थे कि जो भी भूत और भविष्यत् है, वह सब पुरुष ही है और वही अमृतत्व

(१) किमाग आस वरुण ज्येष्ठ यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्। प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्। ऋ० ७।८६।४

(२) न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः। ऋ० ७।८६।६

(३) अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु। शं नः क्षेमे... स्वस्तिभिः सदा नः। ऋ० ७।७८६।८

(४) मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृळा सुक्षत्र मृळय..... यदेमि प्रस्फुरन्निव दृति र्न ध्मातो अद्रिवः। मृळा सुक्षत्र मृळया। ऋ० ७।८६

(५) ऋ० ७।८६

का स्वामी भी है। 'एक होते हुए भी अनेक प्रकार से उसकी कल्पना करते हैं', और इतना ही नहीं वे उस हिरण्यगर्भ के विषय में भी गवेषणा कर चुके थे, जो सब का आदि कारण है, समस्त भूतवर्ग का अद्वितीय पति है और जो पृथिवी और आकाश को धारण किए हुए है। वरुण को उस दुर्धर्ष विश्वव्यापी नियम के रक्षक के रूप में उन्होंने उपासना का विषय बनाया था जिसे उन्होंने 'ऋत' की संज्ञा दी थी और जो सभी भौतिक और नैतिक क्षेत्रों में प्रकृति के अपरिवर्तनशील नियम का प्रतीक था। ऋषियों की शुद्ध जिज्ञासात्मिका वृत्ति का यह एक उदाहरण है कि ऋग्वेद में ही हम इन्द्रादि देवों के विषय में कुछ ऋषियों को सन्देह करते पाते हैं और सृष्टि के तत्वों की जिज्ञासा करने की इस भावना का अन्त ऋग्वेद में नहीं हो जाता, अपितु यजुर्वेद और अथर्ववेद में भी इस प्रकार की दार्शनिक जिज्ञासाओं का प्रवर्तन हम पाते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थ किस प्रकार संहिताओं के मन्त्रों की यज्ञात्मक और आध्यात्मिक व्याख्याएं करते हैं, यह हम संक्षेप में आगे देखेंगे। उपनिषदों में तो हम आर्यों की जिज्ञासात्मिका वृत्ति के क्षेत्र को बहुत विस्तृत और व्यापक रूप में देखते हैं और स्थूल प्रकृति के सृजन, रक्षण और प्रलय सम्बन्धी विचारों के क्षेत्र से बहुत आगे बढ़कर वे अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक और अतीत वस्तु विषयक गवेषणा करते दिखाई पड़ते हैं। 'क्या ब्रह्म कारण है? हम कहां से उत्पन्न हुए हैं और किसके द्वारा जीवित रहते हैं? किसमें संप्रतिष्ठित हैं? क्या काल आदि कारण है? अथवा स्वभाव? अथवा नियति? अथवा क्या यह सब यदृच्छा मात्र से ही उत्पन्न हुआ है? अथवा भूत ही कारण हैं, या पुरुष'? एक दूसरा ऋषि पूछता है, 'भगवन्, किसके जान लेने पर यह सब जान लिया जाता है?' 'भगवन्! ये प्रजाएं किससे उत्पन्न होती हैं?' 'यह मन किसके द्वारा प्रेरित होकर अपने विषयों में गिरता है? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम प्राण चलता है? प्राणी किसके द्वारा प्रेरित होकर यह वाणी बोलते हैं? कौन देव चक्षु तथा श्रोत्रों को प्रेरित करता है'? कौन सी वह चैतन्य ज्योति है जो 'वाणी की वाणी है' 'जो भीतर से वाणी का नियमन करती है'। इसी प्रकार एक अन्य ऋषि ने जिज्ञासा की है 'वह यक्ष कौन है जिसके अनुशासन के बिना जातवेदस् अग्नि अपने सारे वेग से एक तृण को भी जलाने में समर्थ नहीं हो सका, मातरिश्वा वायु जिसके बिना इशारे के एक तृण भी ग्रहण कर नहीं सका, जो अनित्य पदार्थों में नित्य स्वरूप है, मृत्यु जिसका उपसेचन है, चेतनाशीलों का जो चेतन है और अकेला ही अनेकों की कामनाओं को जो पूरी करता है,

भूत और भविष्यत् का जो स्वामी है, सबका शासक, सबका स्वामी और अधिपति है, जिसकी विजय में ही देवताओं ने भी गौरव प्राप्त किया, जो गुह्य और सनातन है, जो पुरुषों में गमन करने वाला, देवताओं में जाने वाला, सत्य और आकाश में जाने वाला, जल, पृथिवी, यज्ञ और पर्वतों से उत्पन्न होने वाला तथा सत्यस्वरूप और महान् है। वह कौन-सा तत्त्व है जिसके प्रति सब देव अर्पित हैं और जिसका अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता ? जो अणु से भी अणुतर और महान् से भी महत्तर है। जो अज, नित्य, शाश्वत है। जो बिना नेत्र वाला होकर भी देखता है, बिना कान वाला होकर भी सुनता है। ऐसा वह कौन सा यक्ष है ? आध्यात्मिक जिज्ञासा के उपसंहार को लिये हुए ऋषि ने पूछा है, "मैं आपसे उसके विषय में पूछता हूँ कि वह पुरुष कहां है ?" 'जो जानने वालों का बिना जाना हुआ है और न जानने वालों का जाना हुआ है,' तथा 'जो धर्म से पृथक्, अधर्म से पृथक् तथा इस सम्पूर्ण कार्यकारणरूप प्रपंच से पृथक् है और जो भूत एवं भविष्यत् से भी पृथक् है, ऐसा आप जिसे देखते हैं उसे मुझ से कहिए'। कौन सी वह ब्रह्मविद्या है जिससे उस सत्य और अक्षय पुरुष का ज्ञान होता है ? जिससे 'बिना सुना सुना हुआ, बिना सोचा सोचा हुआ और बिना जाना जाना हुआ होता है"। "भगवन्, इस पुरुष में कौन सोती हैं, कौन इसमें जागती हैं ? कौन देव स्वप्नों को देखता है ? किसे यह स्वप्न अनुभव होता है ? किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं ? 'किसके उत्क्रमण करने पर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा और किसके स्थित रहने पर मैं भी स्थित रहूँगा' ? 'हे भगवन्, इस प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं ? इनमें से कौन इसे प्रकाशित करते हैं ? कौन उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं' ? 'भगवन्, यह प्राण कहां से उत्पन्न होता है ? किस प्रकार इस शरीर में यह आता है ? अपना विभाग करके किस प्रकार यह स्थित होता है ? फिर किस कारण से यह शरीर से उत्क्रमण करता है और किस प्रकार बाह्य एवं आभ्यन्तर शरीर को धारण करता है ?" "भगवन् ! मैंने सुना है कि आत्मज्ञानी पुरुष शोक को पार कर जाता है। सो हे भगवन् ! मैं शोक करता हूँ, ऐसे मुझे आप शोक से पार कीजिए।" इस प्रकार की अनेक महनीय जिज्ञासाएँ उपनिषत्काल में की गईं और उनके प्रभावशाली उत्तर भी सत्य के देखने वालों के द्वारा दिये गए जो औपनिषद दर्शन के रूप में आज हमारे लिये विद्यमान हैं। यह सब विचार-परम्परा भगवान् बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व की है, यह हमें स्मरण रखना चाहिए। उपनिषदों के बाद भी भारतीय दर्शन की परम्परा निरन्तर रूप से चलती रही। बौद्ध

और जैन दर्शनों की पृष्ठभूमि को सहस्रों वर्ष पूर्व के दार्शनिक विकास ने निश्चित किया है, जिसमें वैदिक दर्शन का प्रमुख भाग है। महाभारत-काल की क्रान्तिकारी विचार-पद्धति कुछ-कुछ उन्हीं सन्देहशील प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया को प्रकट करती है जो भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध के आविर्भाव के समय भारतीय वातावरण में उपस्थित थीं। षड्दर्शनों में से प्रायः सभी में बौद्ध दर्शन-विषयक समीक्षा और खण्डन (विशेषतः क्षणिकवाद आदि को लेकर) मिलते हैं, अतः उनको बुद्ध-काल से बाद की रचनाएँ मानने की ओर प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु इन दर्शनों का आविर्भाव सम्भवतः बुद्ध के काल से कुछ पूर्व ही हुआ और उनमें निहित परम्पराएँ सम्भवतः प्राग्बुद्धकालीन हैं। क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद आदि बौद्ध विचार-धाराओं के कुछ-कुछ समान अभिप्राय वाले सिद्धान्तों का षड्दर्शन-परम्परा में उल्लिखित होना बौद्ध आचार्यों के काल से बहुत पहले का भी हो सकता है और चूंकि भारतीय समीक्षकों की दृष्टि कभी व्यक्ति प्रधान न होकर विचार-प्रधान ही थी, अतः इस विषय में निश्चय रूप से कुछ कहा भी नहीं जा सकता। कुछ भी हो, षड्दर्शनों में से प्रत्येक दर्शन एक-न-एक विशेष जिज्ञासा को लेकर ही प्रवृत्त हुआ है और यह प्रवृत्ति भारतीय विचार-मण्डल में कभी लुप्त नहीं हुई है। भारतीय दर्शन की एक अविच्छिन्न धारा हमें मिलती है, उसकी विचार मन्दाकिनी का प्रवाह कभी पूर्णतया समाप्त नहीं होता, मन्द चाहे वह भले ही कितना हो गया हो। बौद्ध आचार्यों की महान् वाद-परम्परा के फलस्वरूप इसका प्रवाह एक समय तो अत्यन्त वेगवान् भी हो गया था और एक बाढ़ की भी आशंका होने लगी थी। किन्तु फिर आर्य सनातन शासन रूपी महासागर में उसका अन्तर्भाव हो गया। यहीं बौद्ध धर्म अपने नाम रूप को छोड़कर आर्य-धर्म-विनय में समा गया जिसका वह एक रूप था। भारत का दार्शनिक विकास तो आगे भी चलता रहा, परन्तु तर्क और न्याय के क्षेत्र में बौद्ध और वैदिक परम्परा के आचार्यों ने जिस महान् वाद-परम्परा का प्रवर्तन किया था उसकी समाप्ति हो गई, जिसके विषय में विशद रूप से आगे हम यथा स्थान कहेंगे। परन्तु तर्क और न्याय का विकास बौद्ध-दर्शन-धारा का प्रकृत रूप नहीं है। इससे भी अधिक गम्भीर और अपनी आश्वासनकारी शक्ति में अद्वितीय बौद्ध धर्म की वह विशाल साधना-सम्पत्ति है जो बुद्ध-वचनों के रूप में हमें मिली है। यही उसकी प्रकृत देन है। भगवान् बुद्ध भारतीय दर्शन के एक अन्यतम ऋषि और शास्ता हैं और उनके दर्शन को समग्र

भारतीय दर्शन की पृष्ठभूमि में समझने के लिए हमें समग्र भारतीय दर्शनों के संक्षिप्त उद्‌गम और विकास पर ऐतिहासिक दृष्टि से एक संक्षिप्त विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। तभी हम वैज्ञानिक पद्धति पर बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध का एक यथासम्भव पूर्ण चित्र उपस्थित कर सकेंगे जो भारतीय साधना को उसकी समग्रता में समझने के लिये अत्यन्त आवश्यक सिद्ध होगा।

भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास के मुख्य युग और उनकी प्रतिनिधि विचार-धाराएँ

भारतीय दर्शन का ऐतिहासिक विकास एक पूर्णतया अज्ञात युग से लेकर आज तक फैला हुआ है। उसमें नाना संस्कृतियों और नाना युगों की साधनाओं और विचार-धाराओं का समावेश हुआ है। उन सब का याथातथ्य रूप से विभागीकरण करना अत्यन्त कठिन काम है। फिर भी सुविधा और सुव्यवस्था के लिए भारतीय दर्शन के आज तक के ऐतिहासिक विकास को हम प्राय: छह क्रमिक युगों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम वैदिक अथवा प्रतिष्ठान युग है, जिसमें मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषदों में निहित दर्शन-परम्पराएँ सम्मिलित हैं। द्वितीय युग पुराणेतिहास अथवा महाकाव्यों का है। इन ग्रन्थों में उत्तर-वैदिक-कालीन दर्शन का का विकास सन्निहित है। चार्वाक, जैन, बौद्ध और गीता-दर्शन इसी युग के अन्तर्गत आते हैं। तृतीय युग सूत्र अथवा षड्‌दर्शन-युग है, जिसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त दर्शनों के मूल सूत्रों का प्रणयन हुआ। चतुर्थ युग वृत्ति अथवा भाष्य और टीकाओं का युग है। इसमें षड्‌दर्शन-परम्परा का वृत्तियों, भाष्यों और टीकाओं के द्वारा विवेचन और विवरण उपस्थित किया गया। पाँचवाँ युग मध्ययुगीन दर्शन अथवा भक्ति-परम्परा का है, जिसमें दक्षिणापथ में वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म, उत्तरी भारत में सन्तमत और सगुण मतवाद एवं बंग देश में प्रेमोल्लासमयी रसनिष्यन्दिनी वैष्णव-धारा (गौडीय वैष्णव धर्म) का प्रसार हुआ। इसके बाद भारतीय विचार में एक विषम परिस्थिति आई और उसके बाद आधुनिक भारतीय विचार की परिस्थिति है, जिसे हम 'परीक्षण युग', 'प्रयोगवादी युग', 'वैज्ञानिक युग', 'सन्देहवादी युग', 'क्रान्तिकारी युग', 'संक्रान्ति-युग', 'मानवतावादी युग', 'अनिश्चिततावादी युग' आदि जिस किसी नाम से पुकार सकते हैं। इस

ऐतिहासिक विकास के विषय में कुछ और निवेदन कर इस प्रकरण को हम समाप्त करेंगे।

वैदिक युग—मंत्र, ब्राह्मण और उपनिषदों में सन्निहित दर्शन

वैदिक अथवा प्रतिष्ठान युग के सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह युग बुद्ध से प्रायः बहुत पूर्व का है और आधुनिक गवेषणा आज भी इसके निश्चित काल के सम्बन्ध में कोई एक मत स्थिर नहीं कर सकी है। फिर भी साधारणतः १५०० ईसवी पूर्व से १००० ईस्वी पूर्व तक वैदिक दर्शन का युग हम मान सकते हैं। वैदिक दर्शन सामान्य रूप से अपनी समग्रता में प्राग्बौद्धकालीन है, यद्यपि उसके कुछ अंश बाद के भी हो सकते हैं। वैदिक दर्शन में विचार के तीन स्तर हमें मिलते हैं, जो क्रमशः संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में प्रकाशित हुए हैं। इस विषय पर हम बाद में विचार करेंगे। स्वयं उपनिषदों में, जो दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, विचार के अनेक स्तर मिलते हैं। अनेक विचारकों की तरह अनेक युगों की देन होने के ये साक्षी हैं। उपनिषत्साहित्य का कालानुक्रम की दृष्टि से अनेक विद्वानों ने वर्गीकरण किया है। उपनिषदों के समग्र साहित्य का कोई एक काल निश्चित नहीं किया जा सकता। उनमें कुछ अत्यन्त प्राचीन हैं और कछ अर्वाचीन भी, अर्थात् कुछ प्राग्बौद्धकालीन और कुछ बुद्ध-काल के बाद की। प्राचीनतम उपनिषदें ही दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। काल-क्रम की दृष्टि से उपनिषदों को प्रायः चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्राचीनतम उपनिषदें, जिनमें ईश, छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदें सम्मिलित हैं। इनका काल ७०० ईसवी पूर्व है, अतः ये निश्चित रूप से प्राग्बुद्धकालीन हैं। (२) द्वितीय काल की उपनिषदें, जिनमें ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदें सम्मिलित हैं। इनका काल ६००-५०० ईसवी पूर्व है, अर्थात् ये उपनिषदें बुद्ध-पूर्व युग की हैं अथवा उनके प्रायः समसामयिक। (३) तृतीय काल की उपनिषदें, जिनका काल ५००-४०० ई० पूर्व है और जिनमें प्रश्न, केन, कठ, मुण्डक और माण्डूक्य उपनिषदें सम्मिलित हैं। (४) चतुर्थ काल की उपनिषदें जिनका काल २००-१०० ईसवी पूर्व है। इनमें कौषीतकि, मैत्री और श्वेताश्वतर, ये तीन उपनिषदें सम्मिलित हैं। कुल मिलाकर ये तेरह उपनिषदें ही प्राचीन मानी गई हैं। बौद्ध दर्शन का इन उपनिषदों के साथ सम्बन्ध-विवेचन भारतीय दर्शन का एक अत्यन्त मनोज्ञ और उपयोगी विषय है।

वैदिक दर्शन के बाद हम विचार के एक ऐसे युग में प्रवेश करते हैं जिसमें वेद की परम्परा के विरुद्ध विद्रोह का स्वर सुनाई देने लगता है और मनुष्यों के विचार में सर्वत्र ही एक क्रान्ति दिखाई पड़ती है। इस युग के समस्त साहित्य और दर्शन में यह प्रवृत्ति भली प्रकार देखी जा सकती है। उपनिषदों में ही हम वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति एक विरोध की ध्वनि सुनते हैं, जो बाद में जैन और बौद्ध दर्शनों में अधिक प्रखर हो उठती है।

पुराणेतिहास अथवा महाकाव्ययुगीन (उत्तर वैदिक-कालीन) दर्शन—चार्वाक जैन, बौद्ध और गीता दर्शन

महाभारत, जिसे हम भारतीय दार्शनिक नय का विश्वकोश कह सकते हैं, इन सब प्रवृत्तियों का प्रतीक माना जा सकता है। वह 'द्वापर' युग की देन है। 'द्वापर' शब्द ही द्विधा का, सन्देहवाद का, प्रतीक है। विभिन्न विचार-पद्धतियों को एक समन्वयात्मक सूत्र में बाँधकर उनमें मानवीय कल्याण की भावना का सञ्चार करने का प्रयत्न करने वाली गीता, जो महाभारत का ही एक अंग है, इसी युग की पृष्ठभूमि पर आधारित है। चार्वाकादि नास्तिकवादी परम्पराएँ भी इस युग में पुष्पित और पल्लवित हुईं और महाभारत के समान आदि बौद्ध दर्शन में भी इनका बड़ा सोपपत्तिक प्रत्याख्यान किया गया है। यह युग अपनी विविधता और क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के कारण भारतीय विचार के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस युग की सीमाएँ डा० राधाकृष्णन् के मतानुसार ६०० ई० पूर्व से २०० ईस्वी तक हैं।[1] हम चाहें तो दो एक शताब्दी इधर-उधर कर सकते हैं। वस्तुतः दर्शन के इतिहास में हम विचार को नापते हैं, देश और काल को नहीं। अतः काल-सम्बन्धी विभेद अकिञ्चित्कर हैं। हाँ, हमें दर्शन की सामाजिक पृष्ठभूमि को अवश्य समझ लेना चाहिये।

पूर्वोक्त वैदिक और महाकाव्ययुगीन साहित्य में दार्शनिक समस्याओं के व्यवस्थित समाधान उपलब्ध नहीं होते। उपनिषदें, गीता और भगवान् बुद्ध सिद्धान्तवादियों की तरह नहीं बल्कि अनुभव-सम्पन्न महात्माओं की तरह अपने उपदेशों का प्रख्यापन करते हैं। किन्तु षड्दर्शनकार अपने विषय का उपन्यास एक विशेष जिज्ञासा को लेकर, एक विशेष साधन सम्पत्ति को अपनी विशेष प्रमाण-परम्परा से सम्पादित कर, अपने

सूत्र अथवा षड्दर्शन-युग (न्याय, वैशेषिक सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त दर्शन)

(१) इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ५७

अनुकूल सिद्धान्तों का एक नितान्त बुद्धिसम्मत रूप से विवेचन करते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि षड्दर्शन-परम्परा की पृष्ठभूमि में एक ऐसा युग अवश्य रहा होगा जब कि छह दर्शनों के सभी सिद्धान्त अपने प्रारम्भिक रूप में ऋषियों के द्वारा सोचे गए होंगे और फिर सामूहिक ज्ञान के विकास स्वरूप ही बाद में उन्हें व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया गया होगा, जो भिन्न-भिन्न ऋषियों के नामों के साथ बाद में सम्बद्ध कर दिया गया। कितनी शताब्दियाँ इस विकास की परम्परा में व्यतीत हुईं अथवा किन-किन मनीषी विचारकों ने इसमें योग दिया, इसके विषय में कोई निश्चित प्रामाणिक सामग्री हमारे पास नहीं है। विभिन्न ग्रन्थों में निर्दिष्ट कुछ पूर्व आचार्यों के नाम मात्र ही हम जानते हैं। प्रामाणिक जीवन स्मृतियाँ तो हमें गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि और बादरायण की भी प्राप्त नहीं हैं, अन्य के विषय में तो कहना ही क्या ? छह दर्शनों के उद्भव और विकास का इतिहास बौद्ध दर्शन के साथ गहरे रूप से सम्बन्धित है। इन दर्शनों के प्रवर्त्तकों के जीवन-वृत्त और तिथियों के सम्बन्ध में हम पूर्णरूप से अन्धकार में है। फिर भी साधारणतः न्याय-सूत्रों के प्रणेता गौतम अक्षपाद का काल हम २५० ईसवी,[१] वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक ऋषि कणाद का समय १५० ई०, आदि सांख्याचार्य ऋषि कपिल का समय ४०० ई० पूर्व, योगसूत्रों के रचयिता पतंजलि का समय २५० ई०[२], पूर्व मीमांसा के आदि ऋषि जैमिनि का काल ३०० ई० और ब्रह्मसूत्रों के रचयिता भगवान् बादरायण का समय ३०० ई० मान सकते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, ये तिथियाँ अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हैं और इन पर अधिक बल देना दुराग्रह मात्र होगा। मोटे तौर पर चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ईसवी तक के काल को हम षड्दर्शन-युग मान सकते हैं। वस्तुतः षड्दर्शनकारों की जीवन-तिथियों का निश्चय सूत्र-ग्रन्थों और अश्वघोष, नागार्जुन आदि बौद्ध दार्शनिकों के विचारों के तुलनात्मक अध्ययन तथा अन्य अनेक बातों के विवेचन की अपेक्षा रखता है, जिसमें हम यहां नहीं पड़ सकते। इस प्रकार के विवेचन में बौद्ध दर्शन और षड्दर्शन के

(१) डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण के मतानुसार ५५० ई० पूर्व। देखिये उनकी 'इण्डियन लॉजिक', पृष्ठ १७

(२) डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के मतानुसार १५० ई० पूर्व। देखिये उनकी हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३८।

पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभाव की पूरी कथा ही जाती है, जिसका विवरण हम आगे ही दे सकेंगे।

षड्दर्शनों का विकास भारतीय दर्शन में एक लम्बी परम्परा का अनुवर्तन करता है। विशेषतः न्याय, मीमांसा और वेदान्त दर्शन की तो परम्परा बहुत ही लम्बी है और ठीक आधुनिक युग तक इसका विकास-क्रम आने के कारण इसको काल की सीमाओं में बाँधना अत्यन्त कठिन है। न्याय की प्राचीन न्याय और नव्य न्याय इन दो परम्पराओं में विचार-धारा बही है। नव्य न्याय का प्रवर्तन गंगेश ने तेरहवीं शताब्दी में किया। न्याय-सूत्रों पर प्रथम भाष्य वात्स्यायन ने ३०० ईसवी में लिखा। उद्योतकर ने इसपर ५५० ई० में 'न्यायवार्तिक' लिखा। इसके बाद वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) और उदयन (९८४ ई०) ने अपनी प्रसिद्ध न्याय-शास्त्र सम्बन्धी रचनाएँ कीं। यहाँ सांकेतिक रूप से यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि अक्षपाद गौतम से लेकर उदयन तक की न्याय-परम्परा वस्तुतः उन आक्षेपों का समाधान ही है जिन्हें बौद्ध आचार्यों ने उस पर किया था। खण्डन-मण्डन की इस लम्बी परम्परा में जिन बौद्ध आचार्यों ने भाग लिया, उनमें नागार्जुन (१७५ ई०) वसुबन्धु (४०० ई०), दिङ्नाग (४२५ ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) मुख्य हैं। इस प्रकार भारतीय न्याय के विकास में बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण योग रहा है, जिसके मनोरंजक इतिहास पर हम आगे काफी प्रकाश डालेंगे। वैशेषिक बाद में न्याय का ही एक अंग बन गया और दोनों की 'न्याय-वैशेषिक' संज्ञा हुई जिसके बीज इन दोनों दर्शनों की बुनियाद में ही विद्यमान थे। वैशेषिक-सूत्रों पर प्रशस्तपाद-भाष्य लिखा गया, जो काफी प्राचीन रचना मानी जाती है। सांख्य का साहित्य यद्यपि इतना विस्तृत नहीं है, किन्तु वह भारत की प्राचीनतम विचार-परम्परा है और मोटे तौर पर 'षड्दर्शन समुच्चय' के वृत्तिकार गुणरत्न के अनुसार दो विकास की परम्पराएँ इस दर्शन में उपलब्ध होती हैं, प्राचीन अथवा 'मौलिक्य' सांख्य और 'उत्तर' सांख्य। सांख्य-दर्शन पर ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्यकारिका' एक महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसका समय ४८९ ईसवी माना जाता है। सांख्यकारिका पर गौडपाद और वाचस्पति मिश्र की टीकाएँ उपलब्ध हैं। योग प्रायः सभी भारतीय दर्शनों का एक सामान्य विवेचित विषय ही

वृत्ति अथवा भाष्य और टीकाओं का युग (षड्दर्शनों की भाष्य और टीकाओं द्वारा व्याख्या और विवेचन)

है। पातञ्जल योग विशेषतः एक साधना-पद्धति है जिसमें अनेक प्रचलित साधनाओं का समन्वय-साधन किया गया है। इस दर्शन की तात्त्विक परिस्थिति बिलकुल सांख्य के सदृश ही होने के कारण स्वतंत्र रूप से सैद्धान्तिक पक्ष में इसके विकास की कोई परम्परा दिखाई नहीं पड़ती। योग-सूत्रों पर व्यास भाष्य (पाँचवीं शताब्दी ईसवी) एक महत्त्वपूर्ण रचना है। मीमांसा दर्शन का इतिहास अत्यन्त विशाल है और इसके भी विकास की दो अवस्थाएँ दिखाई पड़ती हैं, यथा प्राचीन मीमांसा और नवीन 'सेश्वर मीमांसा'। मीमांसा का शबर-भाष्य, भाष्य-साहित्य में सबसे प्राचीन रचना मानी जाती है। मीमांसक आचार्यों की परम्परा में ही आचार्य कुमारिल हुए जिनकी दो रचनाएँ 'श्लोक वार्तिक' और 'तन्त्रवार्तिक' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और जिन्होंने बौद्ध धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ भला-बुरा कहा है। किन्तु सबसे अधिक लम्बी विकास की परम्परा तो वेदान्त-दर्शन की है। इसका पञ्चमुखी विकास तो अत्यन्त स्पष्ट ही है, यथा भगवान् शंकर (आठवीं शताब्दी ईसवी) के द्वारा केवला-द्वैतमयी व्याख्या, भगवान् रामानुज (ग्यारहवीं शताब्दी) के द्वारा विशिष्टाद्वैत-मयी व्याख्या, आचार्य वल्लभ के द्वारा शुद्धाद्वैतमयी व्याख्या, आचार्य निम्बार्क के द्वारा द्वैताद्वैतमयी व्याख्या और मध्वाचार्य के द्वारा द्वैतमयी व्याख्या। फिर इनमें से भी प्रत्येक की और विशेषतः शांकर वेदान्त और रामानुज-वेदान्त की विकास-परम्पराएँ हैं, जिनका साहित्य अत्यन्त विस्तृत और विशाल है। यहां षड्दर्शन के सूत्र ग्रन्थों के प्रधान भाष्यों और भाष्यकारों का नाम से परिगणन करना भी अति कठिन है, उनके इतिहास आदि के विषय में तो कहना ही क्या? वेदान्त दर्शन के भाष्यों की गाथा छेड़ देने से तो प्रसंग अत्यन्त बढ़ जायगा और मूल विषय से हम सम्भवतः अलग जा पड़ेंगे। अतः यहाँ हमें केवल लाक्षणिक दृष्टि से ही यह सब कहना अपेक्षित है। आगे बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध को जब हम इन दर्शनों के साथ दिखाने का प्रयत्न करेंगे तब इस प्रसंग में जिन ऐतिहासिक तथ्यों की आवश्यकता होगी उनका निर्देश हम यथा स्थान करेंगे। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि भाष्य और टीकाओं के इस युग में ऐसा बहुत अल्प है जिसका सम्बन्ध अनुभूति या जीवन की साधना से हो। यहाँ पाण्डित्य की अधिकता है और कहीं-कहीं ग्लानि-जनक पारस्परिक गाली-गलौज भी। अर्थहीन शब्दाडम्बर भी कहीं-कहीं काफी है। फिर भी इस युग को यह गौरव प्राप्त है कि उसने श्रौत परम्परा में शंकर, रामानुज, वाचस्पति मिश्र और श्रीहर्ष जैसे विचारकों तथा बौद्ध परम्परा में नागार्जुन, दिङ्नाग,

धर्मकीर्ति, और कमलशील जैसे विचारकों को जन्म दिया जो व्याख्याकार और भाष्यकार होते हुए भी युग-प्रवर्तक आचार्य और मौलिक चिन्तक भी थे। काल-क्रम की दृष्टि से योग वाशिष्ठ (छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी) यद्यपि इसी युग की रचना है, परन्तु उसकी प्रवृत्ति खण्डन-मण्डन की न होकर साधना की है। अतः वह इस युग की प्रवृत्तियों की अपवाद-स्वरूप मानी जा सकती है।

मध्ययुगीन दर्शन अथवा भक्ति-परंपरा—दक्षिण भारत में वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म, उत्तर भारत में सन्त-मत और सगुण मतवाद और बङ्गदेश में प्रेमोल्लासमयी रसनिष्यन्दिनी वैष्णव धारा (गौड़ीय वैष्णव धर्म)

मध्ययुगीन भारत में, अर्थात् चौदहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक, भारतीय दर्शनाकाश एक ऐसी निर्मल और नैसर्गिक ज्योति से दीप्तिमान् हुआ जो कई शताब्दियों तक यहां के निवासियों को आह्लादित करती रही। इस दीप्ति में 'दर्शन' केवल अन्तर्निहित है, स्पष्टतः व्यक्त नहीं। इसका प्रादुर्भाव दार्शनिकों द्वारा न होकर अनुभूति-सम्पन्न कवियों तथा सन्तों के द्वारा हुआ। इसीलिए साधारण जनता तक उनका सन्देश व्यापकरूप से पहुँचा। एक बार फिर दार्शनिक यहां कवियों के रूप में प्रकट हुए। वैदिक युग का इस दृष्टि से प्रत्यावर्तन हुआ। परन्तु वैदिक युग के इन्द्र और वरुण का स्थान अब राम और कृष्ण जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों ने ले लिया था, जिनका विष्णु के अवतार के रूप में इस युग में दैवीकरण किया गया। जिस परमतत्त्व को अद्वैत वेदान्तियों ने 'निर्विशेष' कह कर पुकारा था, जिसके विषय में सम्यक् सम्बुद्ध ने मौन साधा था, जिसकी सम्यक् गवेषणा जनक और पतञ्जलि जैसे साधक भी नहीं कर सके थे, उसी को इस काल के कवि-दार्शनिकों ने तनपूरे पर गाकर, और चंग पर खटकाकर सर्वसाधारण के लिए सुलभ बना दिया। रामानन्द, कबीर, दादू, मीरा, गौरांग, तुलसी, नरसी मेहता, मीराबाई, मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, रामदास, तुकाराम, पुरन्दर दास, महीपति आदि अनेक महात्माओं का आविर्भाव इस युग में हुआ, जिसके कारण शान्ति और आश्वासन की एक लहर समग्र भारतीय हृदय में प्रवेश कर गई जो उस समय दासता और जातिगत विद्वेष से बुरी तरह व्यथित था। इस युग के विचार का काव्य और दर्शन दोनों ही दृष्टिकोणों से अत्यन्त महत्त्व है। मुख्यतः दो

धाराओं में भक्ति की सरिता इस युग में भारत में बही। एकथी सगुण-भक्ति की धारा जो श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्ग पर अवलम्बित थी। दूसरी धारा निर्गुणवादी सन्तों की थी जो मुख्यत: बौद्ध साधना की वारिस थी। इस विषय का विस्तृत निरूपण हम आगे यथास्थान करेंगे। भौगोलिक दृष्टि से हम मध्ययुगीन वैष्णव आन्दोलन को तीन मुख्य भागों में बाँट सकते हैं, अर्थात् दक्षिण में वेदान्त-भावित वैष्णव धर्म की परम्परा, उत्तरी भारत में सन्त मत और सगुण भक्ति की परम्परा और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु के द्वारा प्रवर्तित प्रेमोल्लासमयी रसनिष्यन्दिनी वैष्णव धारा। भक्ति-दर्शन यद्यपि अपने तात्विक रूप में वैदिक दर्शन का ही अनुगामी है, परन्तु महायान बौद्ध धर्म के प्रभाव की भी उस पर पूरी छाप है, यह हम आगे देखेंगे। इसी प्रकार नारद-सूत्र, शाण्डिल्य-सूत्र, शैव, पाञ्चरात्र सम्प्रदाय तथा भागवतादि पुराणों में निहित भक्ति की परम्परा ने इस युग के भक्ति-साहित्य के विकास में प्रकृत योग दिया जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। इन्हीं सब विकास-धाराओं के परिणामस्वरूप भक्ति का अजस्र प्रवाह लोक-धर्म के रूप में मध्य-युग में बहा। समग्र भारत-व्यापी यह आन्दोलन आज भी भारतीय हृदय में अपना प्रभाव जमाए हुए है और आधुनिक सन्देहवादी युग में रहते हुए भी भारतीय जनता अपनी आध्यात्मिक शान्ति और प्रेरणा मध्ययुगीन इस आन्दोलन से ही ग्रहण करती है और यही यहां की निन्यानवे प्रतिशत जनता के दु:ख के क्षणों में आश्वासन का एकमात्र तत्व है। भक्ति दर्शन भारतीय दर्शन के भावनात्मक स्वरूप का पर्यवसान है और भारतीय विचार साधना की एक अपूर्व देन है।

आधुनिक भारतीय विचार की परिस्थिति

भक्ति दर्शन के बाद हम आधुनिक युग में पदार्पण करते हैं, जो पश्चिमी जातियों के, विशेषत: अंग्रेजों के, भारत में पदार्पण से प्रारम्भ होता है। आध्यात्मिकता और भौतिकता का संघर्ष इस युग की एक विशेषता है। महाभारत-काल की क्रान्तिमयता का एक अद्भुत प्रत्यावर्तन हमारे देश में आधुनिक युग में हुआ है। हमारे पुराने विश्वास इस युग में ढहने लगे हैं और नवीन जीवन-दर्शन का अभी उदय नहीं हुआ है। इसलिये इसे संक्रान्ति का युग कहा जा सकता है। इस युग में अनेक विचारकों ने परिस्थितियों के अनुकूल हमारा पथ-प्रदर्शन किया है। किन्तु अध्यात्म-चिन्तन का स्थान अधिकाधिक सामाजिकता लेती जा रही है। आज का सर्वोत्तम विचार

हमारी सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त है। अठारहवीं शताब्दी भारतीय इतिहास के लिये सबसे अधिक विषम और संकटग्रस्त युग था। उसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जातीय जीवन के पुनरुत्थान के लक्षण हमारे अन्दर उदय हुए। यह समय स्वामी दयानन्द सरस्वती और राजा राममोहन राय के आविर्भाव का था। उसके बाद रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द आये। रवीन्द्रनाथ ठाकुर और योगी अरविन्द ने पूर्व और पश्चिम के मिलन की भूमिका तैयार की। महात्मा गांधी ने अपनी विचार-धारा से विश्व को प्रभावित किया और भारत के नैतिक चैतन्य को जाग्रत कर उसे राजनैतिक स्वतंत्रता के लिये प्रयुक्त किया, एवं यंत्रवादी सभ्यता के स्थान पर मानवता के नये आदर्श विश्व को दिये। विद्वान् विचारकों में डा० भगवान् दास, डा० राधाकृष्णन्, डा० दासगुप्त आदि ने भारतीय ज्ञान को विदेशों में प्रसारित करने का प्रशंसनीय कार्य किया है और अन्य अनेक विद्वान् भी कर रहे हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय विचारक अपने प्रसारगामी विचारों को अधिक उत्साह से व्यक्त करने लगे हैं और भारतीय विचार की, विशेषतः भौतिक और सामाजिक स्तर पर, सन्तोषजनक प्रगति हो रही है।

उपसंहार

इस प्रकार एक अत्यन्त संक्षिप्त रूप में हमने भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास को देखा। अब हम आगे (पञ्चम प्रकरण में) इस विकास में निहित एक के बाद एक दर्शन की परम्परा का बौद्ध दर्शन के साथ मिलान करेंगे और उसी समय इनके विषय में जो कुछ भी विस्तृत विवेचन अपेक्षित होगा, हम करेंगे। यहाँ तो केवल लाक्षणिक दृष्टि से ही यह सब कहा गया है और इसी दृष्टि से, आशा है, पाठक इसे देखेंगे। भारतीय दर्शन को एक समग्र शरीरी मानकर ही हमें उसके अंगों को देखना चाहिए, उसका अंगभंग तो कभी करना नहीं चाहिए। इसीलिए एकात्मता की अनुभूति के लिए यह सब निवेदन किया गया। अब विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग तो आगे करना ही होगा, किन्तु 'एकमेव दर्शनम्' की सम्यक् अनुभूति के साथ ही, भारतीय दर्शन को एक इकाई मान कर ही। बौद्ध दर्शन के साथ अन्य भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की यह लघु भूमिका पर्याप्त होगी।

तीसरा प्रकरण

भारतीय दर्शन का द्विविध विभाग अर्थात् नास्तिक बनाम आस्तिक मत

नास्तिक और आस्तिक दर्शन

आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने अपने 'प्रस्थान भेद' नामक प्रबन्ध में भारतीय दर्शन-परम्परा को दो मुख्य भागों में विभक्त किया है, नास्तिक मत और आस्तिक मत। नास्तिक मत की परम्परा में उन्होंने चार बौद्ध सम्प्रदायों तथा जैन और चार्वाक मतों को लिया है और आस्तिकवादियों में उन्होंने गिनाए हैं छह श्रौत परम्परा के दर्शन यथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा और शारीर (ब्रह्म) मीमांसा। किन्तु यह नास्तिक और आस्तिक मतों का विभेद मधुसूदन सरस्वती का चलाया हुआ नहीं है। अत्यन्त प्राचीनकाल से यह प्रचलित है। मनुस्मृति[१] और महाभारत[२] में 'नास्तिक' मतों का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः भारतीय दार्शनिक इतिहास में कोई ऐसा युग नहीं है जब किसी-न-किसी रूप में 'न' कहने वाले न रहे हों। उपनिषदों तक में उनके उल्लेख हैं, यह हम उस दर्शन के विषय में विचार करते समय देखेंगे[३]। यहाँ यही कहना अपेक्षित होगा कि एक व्यवस्थित दर्शन प्रणाली के रूप में भी नास्तिक शब्द का प्रयोग बहुत प्राचीन है। 'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'[४] की परम्परा निश्चय

(१) मनु० २।११

(२) महाभारत १२।२७०।६७; 'लोकायतिकमुख्यैश्च' आदि रूप से (कण्वाश्रम के वर्णन के प्रकरण में) भी द्रष्टव्य; तथा वहीं १२।२२२।२७ में 'स्वभावभाविनो भावान्' आदि भी।

(३) पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और चार्वाक मत' के प्रसंग में।

(४) कठ० १।२०; मिलाइये बृहदारण्यक ६।५।१३; ४।३।६; तैत्तिरीय २।७; न्यायसूत्र ४।१।२२-२४ आदि। देखिए पांचवें प्रकरण में चार्वाक मत का विवेचन।

ही अत्यन्त प्राचीन है और जिस प्रकार 'अस्ति' कहने वाले उसी प्रकार 'नास्ति' कहने वाले भी स्वभावतः इस संसार में अनादिकाल से होते आए हैं। अतः भारतीय चिन्ता के क्षेत्र का भी वर्गीकरण यदि इन दो कोटियों को लेकर किया गया है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मनु भगवान् की परम्परा अभी तक भारत में चली आ रही है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बौद्ध मत का अन्तर्भाव नास्तिक मत में ही करते हुए उसके अंगभूत रूप में ही उस पर विचार कियाहै[1] और आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन को अपना मार्ग बनाने वाले डा० राधाकृष्णन्, घाटे और दासगुप्त जैसे विद्वानों ने भी कुछ परिष्कार और संशोधन करके और कुछ नई सीमायें स्थापित कर, तथा दोनों की परिभाषाओं में कुछ परिवर्तन कर, इसी परम्परानुभुक्त विभाग को अपने विषय के निरूपण में प्रायः स्वीकार किया है। अतः सम्मानित विद्वानों के द्वारा किसी-न-किसी रूप में स्वीकृत यह भारतीय दर्शन का द्विविध विभाग यहाँ कुछ अधिक विचार की अपेक्षा रखता है। जब कि भारतीय दर्शन के इस द्विविध विभाग को प्रायः सभी विद्वान् कम-से-कम कहने के लिये स्वीकार करते हैं, उसके ठीक परिभाषाबद्ध विभागीकरण के विषय में प्राचीनों में भी एक निश्चित मत नहीं पाया जाता। इस प्रकार जब कि आचार्य कुमारिल सांख्य और योग को भी शाक्य (बौद्ध) और निर्ग्रन्थ (जैन) मतों के साथ रखना पसन्द करते हैं[2] तो शंकर वैशेषिक को भी 'अर्द्ध वैनाशिक' कहे बिना नहीं रहते[3]। यदि इसी प्रकार शंकर पाञ्चरात्र आदि सिद्धान्तों को भी वेद विरुद्ध अतः स्वतः ही 'नास्तिक' कहने का साहस करते हैं[4] तो उनके प्रतिद्वन्द्वी उनकी इस बात का तीव्र

(१) देखिये 'अथ नास्तिकमतान्तर्गतचार्वाकबौद्धजैनमतखण्डनमण्डन विषयान् व्याख्यास्यामः' इस प्रकार से प्रारम्भ होने वाला सत्यार्थ-प्रकाश का द्वादश समुल्लास।

(२) सांख्ययोग पाञ्चरात्र पाशुपत शाक्य निर्ग्रन्थ परिगृहीत धर्माधर्म-निबन्धनानि। तन्त्रवार्तिक १।३।४; देखिए मैक्समुलर : हिस्ट्री ऑव एन्शियन्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४०, पद संकेत १।

(३) 'वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्। सोऽर्ध वैनाशिक इति'। ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य २।२।१८ का प्रारम्भ।

(४) देखिये ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के उत्पत्यसम्भवाधिकरण पर आचार्यपाद के समग्र भाष्य को ही और अन्त में तो 'वेदप्रतिषेधश्च

प्रतिवाद कर स्वयं शंकर को ही 'नास्तिक' बौद्धों की पंक्ति में बिठलाने से भी नहीं चूकते[१]। इस प्रकार 'नास्तिक' और 'आस्तिक' मतों के वर्गीकरण को स्वीकार करके भी कौन 'नास्तिक' है और कौन 'आस्तिक', इसके विषय में एक निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। आधुनिक विद्वानों को तो यह विवाद रुचिकर भी प्रतीत नहीं होता। वे जो षड्-दर्शन-परम्परा को सामान्यतः 'आस्तिक' और बौद्धादि दर्शनों को 'नास्तिक' मानते हैं तो केवल उनका तात्पर्य इतना ही होता है कि परम्परानुक्रम से ऐसा भारतीय विद्वत् समाज मानता आया है और इसी रूप में उन्हें अपने विषय के निरूपण करने में सुगमता भी होती है। वैसे, जैसा कि हम अभी देखेंगे, न्याय, मीमांसादि दर्शनों के पूर्वतम रूप में वेद-विरुद्ध प्रवृत्तियों के निदर्शन को दिखाने में भी ये विद्वान् कोई पक्षपात नहीं करते, क्योंकि वैज्ञानिक ढंग के प्रति उनकी भक्ति सदा अर्पित रहती है। यहाँ जिस दृष्टिकोण को उपस्थित करने का प्रयत्न किया जा रहा है, वह यह है कि 'नास्तिक' और 'आस्तिक' शब्दों का प्रयोग किन्हीं दो भारतीय दर्शन-समूहों के स्वरूप-विनिश्चय के लिए किसी भी अर्थ में किया ही नहीं जा सकता, और कम-से-कम बौद्ध दर्शन के लिये तो वह कभी भी सुप्रयुक्त नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके लिए ऐतिहासिक और तात्विक दोनों ही कारण पर्याप्त रूप से विद्यमान हैं। पहले हम 'नास्तिक' और 'आस्तिक' शब्दों के तात्पर्य का निर्णय करेंगे। फिर इन नामों से सामान्यतः निर्दिष्ट दर्शनों के साथ उस तात्पर्य की कहाँ तक संगति बैठती है अथवा नहीं, इस पर विचार करेंगे।

भवति, चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानि-त्यादिवेदनिन्दा दर्शनात्' इस प्रकार स्पष्ट ही।

(१) 'यश्चैष केषाञ्चिदुद्घोषः .....वेदविरुद्धं तन्त्रमिति, सोऽप्यनाघ्रात-वेदवचसामनाकलिततदुपबृंहणन्यायकलापानां श्रद्धामात्रविजृम्भितः। उपर्युक्त पर श्री भाष्य; मिलाइये 'यूयं च बौद्धाश्च समान संसदः' '.....वेदान्ताः यदि शास्त्राणि बौद्धैः किमपराध्यते' 'यन्माया वादिनो ब्रह्म यच्छून्यं शून्यवादिनः नहि स्वरूप भेदोऽस्ति' आदि वाक्य, जिन पर हम पाँचवें प्रकरण में विचार करेंगे। भीमाचार्य अपने न्याय-कोश में 'नास्तिक' की 'वेदमार्गम् अननुरुन्धानः' ऐसी परिभाषा करते हैं और फिर मायावादी वेदान्ती को उसी में शामिल करते हैं 'मायावादि-वेदान्त्यपि नास्तिक एव पर्यवसाने सम्पद्यते।'

'नास्तिक' और 'आस्तिक' शब्दों के तात्पर्य का निर्णय और इन नामों से निर्दिष्ट दर्शनों की प्रवृत्तियों के साथ उस तात्पर्य की संगति होती है या नहीं, इसका निर्णय

जैसा पहले कहा जा चुका है, सामान्यतः छह श्रौत परम्परा के दर्शन यथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा 'आस्तिक' दर्शन कहलाते हैं और चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन कहलाते हैं 'नास्तिक' दर्शन। अत्यन्त सामान्य विचार यह है कि किसी 'दर्शन' का 'आस्तिक' होना निर्भर करता है या तो उसके ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करने में, या आत्मा की शाश्वतता की सिद्धि में या परलोक की सत्ता के प्रतिपादन करने में और जो दर्शन इन सब का निषेध करते हैं, वे 'नास्तिक' हैं। यह ठीक है कि अनीश्वरवादियों को भारतीय वाङ्मय में कई बार 'नास्तिक' कहा गया है और जन-साधारण में आज भी ऐसा ही शब्द-प्रयोग प्रचलित है; यह भी ठीक है कि मृत्यु के उपरान्त आत्मा की स्थिति न मानने वाले उच्छेदवादियों अथवा अभाववादियों के लिए भी 'नास्तिक' शब्द-का व्यवहार शंकर जैसे महान् दार्शनिकों ने किया है[१] और फिर परलोक की स्थिति को मानने या न मानने पर ही किसी के 'आस्तिक' या 'नास्तिक' होने का निर्णय भगवान् पाणिनि ने किया है, यह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है[२]। किन्तु व्यापक रूप से भारतीय दर्शन का 'आस्तिक' और 'नास्तिक' वर्गीकरण उपर्युक्त दृष्टिकोणों के आधार पर नहीं हुआ है। प्राचीन या 'मौलिक' सांख्य निश्चय रूप से अनीश्वरवादी है[३], न्याय और वैशेषिक के लिए केवल अनुमान के द्वारा ही ईश्वर की स्वीकृति है, पूर्व-मीमांसा की कम-से-कम

(१) देखिए, अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्ववादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधाना-दन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यम-भावान्तं प्रविलीयत इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म तत्वत उपलभ्यते न कथञ्चनोपलभ्यत इत्यर्थः। कठ० २।३।१२ पर शांकर भाष्य।

(२) अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः। पाणिनि० ४।४।६०; भीमाचार्य भी अपने 'न्याय कोश' में आस्तिकवादी को 'परलोकाद्यस्तित्ववादी' ही कह कर पुकारते हैं।

(३) देखिए इस विषय पर पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन तथा सांख्य-योग दर्शन' पर विवेचन।

ईश्वर की सिद्धि में कोई दिलचस्पी नहीं है[1] और उत्तर मीमांसा के पास भी अनुमान और श्रुति के सिवाय उसकी उपलब्धि के लिये अन्य कोई प्रमाण नहीं। 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते'[2]। अद्वैतवादियों के हाथ में तो ईश्वर निश्चय ही माया, अविद्या अथवा अज्ञान का खिलौना मात्र बन कर रह गया है[3]। और ये सब 'आस्तिक वादी' दर्शन हैं। पुनः तथोक्त 'नास्तिकवादियों' के द्वारा ही ईश्वरवाद का अनिवार्य रूप से खण्डन किया गया हो, ऐसी भी बात नहीं है। 'मौलिक्य' बौद्धदर्शन की ऐसीही परिस्थिति है[4]। अतः ईश्वरवाद के मानने या न मानने के आधार पर भारतीय दर्शन का उपर्युक्त द्विविध विभाग नहीं किया गया है। आत्मा के अस्तित्व अथवा अनस्तित्व को लेकर भी यह विभाग नहीं किया गया, यद्यपि हमें यह मानना पड़ेगा कि इस दृष्टिकोण ने इन विभागों के निर्धारण में बहुत कुछ सहायता की है और जब एक बार यह मान लिया गया कि भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अनात्मवाद' उपनिषदों के ठीक विपरीत सिद्धान्त है और चार्वाक सिद्धान्त के समान ही है, तो फिर उसे 'नास्तिकवाद' के नाम से भी अभिहित करने में कोई संकोच नहीं दिखाई देने लगा। शून्यवाद की अभावात्मक व्याख्या ने तो इस विचार में और भी योग दिया और शून्यवादियों के पूर्ण रूप से 'वैनाशिक' कहे जाने के कारण 'नास्तिकवादियों' से भी उन्हें एक सीढ़ी और बढ़ा दिया गया। इसी सम्बन्ध में एक आश्चर्य की बात यह भी है कि वैशेषिक दर्शन तो 'अर्द्ध वैनाशिक' की संज्ञा पाकर भी 'आस्तिक' श्रेणी में ही स्थान पाता रहा और सामान्य रूप से उसे नास्तिकों की पंक्ति में बिठलाने का किसी ने साहस नहीं किया। अतः आत्मा के अस्तित्व को मानने या न मानने के कारण भी भारतीय दर्शन का उपर्युक्त द्विविध विभाग नहीं हुआ है। वस्तुतः यह विभाग केवल वेद में प्रामाण्य बुद्धि को लेकर ही हुआ है। सभी

---

(१) इसके विस्तृत विवेचन के लिए भी देखिये पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और पूर्व-मीमांसा दर्शन'।

(२) कठ० २।३।१२

(३) मायामात्रमेतत् यत् परमात्मनोऽवस्थात्रयात्मनावभासनम्। ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।१।१; व्यवहारावस्थायां तु उक्तः श्रुतावपि ईश्वरत्वादिव्यवहारः। वहीं २।१।१४; देखिये पहले प्रकरण में 'भारतीय दर्शन में ईश्वर' सम्बन्धी विवेचन भी।

(४) देखिए आगे चतुर्थ प्रकरण में 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध अनीश्वरवादी हैं ?' इस पर विचार।

दर्शन जो वेद में विश्वास करते हैं और उसे स्वतः प्रमाण स्वरूप मानते हैं, 'आस्तिक' श्रेणी में गिने गए हैं और उनसे विपरीत 'नास्तिक' श्रेणी में। किन्तु इस वेद-प्रामाण्य का अन्ततः अर्थ और तात्पर्य क्या है, इस विषय में भी कोई निश्चित एक मत उपलब्ध नहीं होता। न्याय और वैशेषिक 'शब्द' को प्रमाण मानते हैं, किन्तु उनके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों का वेद में प्रतिपादित सिद्धान्तों से कितना सामञ्जस्य है ? यदि सर्वांश में वे वैदिक प्रज्ञान के ही व्याख्याता हैं, तो फिर उनके कतिपय सिद्धान्तों का वेद-विरुद्धत्व ही ब्रह्मसूत्रादि में क्यों प्रतिपादित किया गया है ? क्यों कहीं-कहीं न्याय-विद्या से सचेत रहने के लिए मुमुक्षु जनों को उपदेश दिया गया है[1] ? जब बुद्धि-विनिश्चित सब कुछ न्याय के लिये सम्मत है[2] तो फिर 'कुतार्किकों' की निन्दा का ही क्या तात्पर्य है ? क्या 'कुतार्किक' वही विचारक हैं जो वेद के विरुद्ध तर्क करते हैं ? किन्तु वेद का निश्चय ही अमुक अर्थ है, इस विषय में भी तर्क अथवा विचार को छोड़कर और महत्तर 'ऋषि' कौन है[3] ? अतः यदि केवल मात्र यह स्वीकार करने से ही कि वेद स्वतः प्रमाण है, किसी विचार-प्रणाली को 'आस्तिक' गिना जा सकता है तब तो दूसरी बात है, अन्यथा यदि सिद्धान्तों की समंजसता से इसका कुछ भी सम्बन्ध है तो हमें कहना ही पड़ेगा कि गौतम और कणाद वैदिक सिद्धान्तों से नवीन और विभिन्न एवं कहीं-कहीं विपरीत सिद्धान्त भी प्रतिपादित करते हैं, जैसा कि ब्रह्मसूत्रों में उनके खण्डन से स्पष्ट प्रकट है। अतः हम कह सकते हैं कि वेद-भक्ति न्याय और वैशेषिक की भी परिपूर्ण नहीं है और इस अर्थ में वे पूरी तरह 'आस्तिक' दर्शनों में नहीं गिने जा सकते। जो बात न्याय और वैशेषिक के लिए ठीक है, वही बात सांख्य दर्शन के लिए भी उनसे कहीं अधिक ठीक है। केवल वेद के प्रति अपनी प्रामाण्य-बुद्धि दिखाकर भगवान् कपिल ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर गए हैं जिनकी वैदिक प्रज्ञान से हम किसी प्रकार संगति नहीं लगा सकते। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए सांख्या-

(१) देखिए वाल्मीकि-रामायण २।१००।३६; महाभारत शान्तिपर्व १८०। ४७-४९; २४६-८; मनु० २।११

(२) बुद्धया यदुत्पन्नं तत् सर्वं न्यायमतम्। मिलाइये 'यदीदं स्वयमर्थानां रोचते तत्र के वयम्। धर्मकीर्ति-कृत 'प्रमाण वार्तिक' २।२०९

(३) मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति। तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्। निरुक्त परिशिष्ट; मिलाइये न्यायसूत्र वृत्ति १।१।१; देखिये गीता पर शांकर भाष्य २।२१ भी।

चार्य 'दृष्ट' के समान 'आनुश्रविक' को भी अपर्याप्त समझते, हैं, और इतना ही नहीं उसे 'अविशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त' भी बताते हैं और 'उससे विपरीत' को ही श्रेय का मार्ग बताते हैं[1]। इससे अधिक और स्पष्ट शब्दों में वेद-निन्दा क्या हो सकती है ? किन्तु चूंकि अन्यत्र उन्होंने वेद के प्रामाण्य को स्वीकार कर लिया है[2], इसलिए उनके वेद-विरोध की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। किन्तु निष्पक्ष तात्त्विक अनुशीलन सांख्यकार की एक ओर सृष्टि की स्वतन्त्र बुद्धिवादी व्याख्या करना और दूसरी ओर वेद-भक्ति में कठिनता से ही समन्वय स्थापित कर सकता है। वस्तुतः वेद-भक्ति का भारत में इतना परम्परागत आदर रहा है कि जिन्हें वेद के सिद्धान्तों के साथ विशेष सहानुभूति नहीं रही उन्होंने भी उसकी प्रामाण्य-स्वीकृति का दिखावा किया है। आश्चर्य नहीं कि आद्य शंकराचार्य ने सांख्य दर्शन के सम्बन्ध में यह निर्भय समीक्षा करते हुए कि वह कहाँ तक वेद-सम्मत सिद्धान्त है, परमर्षि कपिल के समग्र महत्व को भी चकनाचूर करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। किन्तु केवल वेद-विपरीत होने से कपिल के प्रज्ञान की महत्ता आज के निष्पक्ष विचारक की दृष्टि में कुछ कम नहीं होती, शंकर की धारणा इस सम्बन्ध में चाहे जो कुछ रही हो। सांख्य की अपेक्षा योग-दर्शन कुछ अधिक वेद-प्रामाण्य पर श्रद्धा रखता है[3] और पूर्व मीमांसा का तो उपयोग ही केवल वेद के कर्मकांड सम्बन्धी भाग की व्याख्या से है, यद्यपि उसके ज्ञान काण्ड को 'आनर्थक्य' की श्रेणी में डालने के कारण[4] वेद के समग्र रूप का उपासक वह भी नहीं कहा जा

(१) दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः। तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। सांख्यकारिका २, इस पर विशेष विस्तृत विवेचन के लिए देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य-योग दर्शन' पर विचार।

(२) दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च.... त्रिविधं प्रमाणमिष्टम्। सांख्यकारिका ४; हुआ करे, भीमाचार्य तो उनके सिद्धान्तों को देखकर उन्हें 'नास्तिक' ही कहेंगे (न्यायकोश); कुमारिल ने भी तो उन्हें वेद-विरुद्ध या 'नास्तिक' ही कहा, देखिए तन्त्रवार्तिक १।३।४; देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य-योग', सम्बन्धी विवेचन भी।

(३) विशेषतः 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा (१।२३) कहने के कारण।

(४) आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्। मीमांसासूत्र १।२१। इस

सकता। यही बात प्रकारान्तर से वेदान्त के विषय में भी ठीक है, यद्यपि हम यह भी कह सकते हैं कि पूर्ण रूप से श्रौत दर्शन केवल वही है। 'आगमों' सम्बन्धी विषय को लेकर विवाद की सूचना हम पहले दे ही चुके हैं। फिर यदि हम तथोक्त 'नास्तिक' वादियों की ओर दृष्टि डालें तो उनके विषय में भी उन पर लगाए गए इस आरोप को कि वे वेद-निन्दक हैं, पूर्णतया सिद्ध नहीं किया जा सकता। विशेषतः जहां तक भगवान् बुद्ध के व्यक्तिगत विचारों से सम्बन्ध है उन पर त्रिपिटक के आधार पर वेद-निन्दक का आरोप तो कभी लगाया ही नहीं जा सकता[1]। उन्होंने वैदिक ऋषियों को सर्वज्ञ नहीं माना और स्वयं अपने को या निर्ग्रन्थ ज्ञातृ पुत्र को भी सर्वज्ञ नहीं माना[2]। फिर उन पर वेद-निन्दा का आरोप कैसे? प्रत्युत उन्होंने वेद के वास्तविक महत्त्व को अच्छी प्रकार स्वीकार किया है। भगवान् मानते थे कि वैदिक कर्मकाण्ड के द्वारा अनेक व्यक्तियों ने पूर्वकाल में स्वर्गादि लोक प्राप्त किए हैं, किन्तु निर्वाण तो 'प्रधान' पर ही आश्रित है, वह यज्ञ यागादि के द्वारा उपलब्ध होने वाली वस्तु नहीं है। इसमें वेद-निन्दा की क्या बात हुई? यह तो सत्य का एक स्पष्टतम निरूपण ही था। इसी प्रकार की बात क्या स्वयं श्रुतियों में भी नहीं कही गई है[3]? क्या छान्दोग्य उपनिषद् ने ऐसा ही नहीं कहा है? जहां प्रवचन के द्वारा, वेदों के द्वारा, परम सत्य की लभ्यता नहीं दिखाई गई, वहाँ क्या वेद की निन्दा अभिप्रेत थी अथवा केवल अध्यात्म ज्ञान की प्रशंसा[4]? यही बात बुद्ध के मन्तव्य के विषय में भी क्यों नहीं समझी जाती? तथागत क्या किसी की भी निन्दा करने के योग्य थे, फिर

विषय पर विस्तृत विचार के लिए देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और पूर्व मीमांसा दर्शन' सम्बन्धी विवेचन।

(१) देखिए आगे पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' सम्बन्धी विवेचन, जहाँ इस विषय को उद्धरणों के आधार पर निरूपित किया गया है।

(२) देखिए आगे पाँचवें ही प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वैदिक प्रज्ञान' सम्बन्धी विवेचन तथा 'बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन' सम्बन्धी विवेचन भी।

(३) देखिए पांचवें प्रकरण में उपनिषदों की यज्ञयागादि के प्रति प्रतिक्रिया और बुद्ध की उससे तुलना।

(४) भगवान् रामानुज के द्वारा वहाँ आत्मविद्या की प्रशंसा ही अभिप्रेत थी, वैदिक ज्ञान की निन्दा नहीं। देखिए ब्रह्मसूत्र अध्याय २, पाद २, 'उत्पत्यसम्भवाधिकरण' पर श्रीभाष्य।

चाहे वह वेद की हो या अन्य किसी की ! किसी की निन्दा या प्रशंसा करना तथागत का काम नहीं था । वे तो सत्यदर्शी थे और उनका काम था लोक को एक अनुत्तर प्रकाश-मार्ग दिखाना और इसका साक्ष्य देते थे वे तत्कालीन ब्राह्मणों की तरह 'इति ह' 'इति ह' कह कर नहीं, या वेद की किसी ऋचा का उद्धरण देकर नहीं, बल्कि अपने अनुत्तर अनुभव के द्वारा ही । तात्विक दृष्टि से तथागत का जो एक अनुपम गुण था वही धार्मिक झमेले में पड़कर उनकी निन्दा का एक कारण बन गया, जिसके कारण उनके उपदेशों के सर्वोत्तम तत्व को जानते हुए भी, कुत्ते की खाल में रक्खे गंगाजल के समान अनुपयोगी समझकर, जैसा कि कुमारिल ने भगवान् के सदुपदेशों को कहा[1], वेदोपासक भारतीय ब्राह्मण अंगीकार न कर सके। इसका कारण था उनका मोह ! उनकी पुस्तक-भक्ति ! यदि वैदिक प्रज्ञान अपनी आन्तरिक सचाई के कारण बिना सम्यक् सम्बुद्ध की गवाही के भी ठहर सकता है तो हमें यह कहने में भी संकोच नहीं करना चाहिए कि सम्यक् सम्बुद्ध के शासन को भी वैदिक प्रज्ञान के साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है । वह बिना किसी के साक्ष्य के सूर्य की भाँति भू-मण्डल को प्रकाशित करता है । श्रौत और बौद्ध दोनों ही प्रामाणिक दर्शन हैं और बौद्ध दर्शन के मूल-भूत सिद्धान्त, जैसा कि आज सभी मनीषी विद्वान् स्वीकार करते हैं, वैदिक दर्शन के सर्वोत्तम रूप पर ही आश्रित अथवा उसके समान ही हैं[2]। फिर वेद-निन्दा की उपपत्ति बुद्ध-शासन पर किस प्रकार आती है, यह कुछ समझ में नहीं आता । किन्तु इसके कारण के लिए हमें सैद्धान्तिक पक्ष में इतना न जाकर ऐतिहासिक पक्ष में ही जाना चाहिए । उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों और तार्किकों ने, जिनमें धर्मकीर्ति और दिङ्नाग प्रधान हैं, एक महान् वाद-परम्परा का अवलम्बन कर वेद में या किसी भी ग्रन्थ विशेष में स्वतः प्रामाण्य को मानना मनुष्यों की बुद्धि की जड़ता का एक लक्षण बतलाया है और इस प्रकार वेद की एक ग्रन्थ के रूप में इन मनीषियों ने प्रमाणवत्ता स्वीकार नहीं की । इतना ही नहीं, परमार्थ-तत्त्व की भी क्षणिकवादी व्याख्या कर इन्होंने उसे पूर्ण निषेधार्थक

(१) भगवान् कुमारिल तो बुद्ध के अहिंसादि अच्छे सिद्धान्तों को भी कुत्ते की खाल में पड़ा दूध जैसा कहते हैं । 'सन्मूलमपि अहिंसादि श्वदृतिनिक्षिप्त क्षीरवदनुपयोगि' तन्त्रवार्तिक ।

(२) बौद्ध दर्शन का 'उपनिषत्प्रभवत्व' कुमारिल ने भी स्वीकार किया है । देखिए आगे पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और पूर्व मीमांसा दर्शन' पर विचार ।

रूप दे दिया। अतः स्वभावतः ये सभी बौद्ध दार्शनिक वेद-भक्तों द्वारा नास्तिकों की श्रेणी में रक्खे गए और इसी कारण भगवान् बुद्ध का समग्र दर्शन और धर्म भी 'नास्तिक' वाद की श्रेणी में आ गया। हमारे सम्पूर्ण परम्परागत दार्शनिक वाद-विवादों में मूल बुद्ध-दर्शन और उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों के दर्शनों में किसी भी प्रकार के विभेद की अनुभूति की गई हो, ऐसा हम नहीं कह सकते। सच बात तो यह है कि पालि-त्रिपिटक के आधार पर बुद्ध-मन्तव्य को समझने और विवेचित करने की परिपाटी का प्रादुर्भाव ही आधुनिक युग से पहले नहीं हुआ। बौद्ध सम्प्रदायों के परस्पर-विरुद्धत्व को देखकर मनीषी शंकर का बुद्ध पर यह आरोप कि इतने परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों को सिखाकर बुद्ध ने निश्चय ही लोक का अकल्याण सम्पादित किया है[1], आज दार्शनिक गवेषण के युग में क्या महत्त्व रख सकता है? बौद्ध दर्शन के ऐतिहासिक विकास का प्राथमिक विद्यार्थी भी आचार्य शंकर के इस कथन पर पर स्मित किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि जब कि बुद्ध के मूल मन्तव्य की वैदिक प्रज्ञान से कुछ दशाओं में बिलकुल समानता है, उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन का विकास निश्चय ही वेद के विरोध में शब्द-प्रमाण की समीक्षा को लेकर बहुत कुछ कहता है, किन्तु दोनों अर्थों में ज्ञान के रूप में वेद की निन्दा उपपन्न नहीं होती। जिस प्रकार तथाकथित 'आस्तिक' दर्शनों में से कुछ में हमने वेद-विरुद्ध प्रवृत्तियों को देखा है, उसी प्रकार तथाकथित 'नास्तिक' दर्शनों में परिगणित बौद्ध दर्शन के विषय में हमने देखा कि वह वेद के प्रति अपनी भक्ति न दिखाने पर भी, उसका निन्दक नहीं है। अतः यदि वेद में प्रामाण्य-बुद्धि को ही हम 'आस्तिक' और 'नास्तिक'वादों की कसौटी मानें तो भी हमने देखा है कि ये प्रवृत्तियाँ उन दर्शनों में पूर्णतया नहीं घटतीं जिनके कारण उनको 'आस्तिक' या 'नास्तिक' दर्शन कहा गया है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का यह कथन कि वेद में प्रामाण्य-बुद्धि का होना उसके समस्त सिद्धान्तों के प्रति सहमति का द्योतक नहीं है, बल्कि वह दर्शनकारों की इस विनम्र भावना का ही सूचक है कि वे बौद्धिक विवादों और निष्कर्षों को आध्यात्मिक अनुभूति से निम्नतर स्थान देते हैं[2], आस्तिक दर्शनों

(१) **देखिये आगे पाँचवें प्रकरण में बौद्ध दर्शन और शांकर दर्शन की तुलना।**

(२) 'The acceptance of the Veda is a practical admission that spiritual experience is a greater

के समर्थन में एक सुन्दर प्रशंसा वाक्य है, जिसका विश्लेषण करने पर कुछ अर्थ नहीं निकलता। सत्य के प्रति भक्ति यदि वेद के स्वतः प्रामाण्य को स्वीकार करने पर ही निष्पन्न हो सकती है तो क्या वह अन्य किसी ग्रन्थ के सम्बन्ध में वैसी ही बुद्धि रखने पर नहीं होगी? फिर वेद पर ही आग्रह क्यों? फिर उन स्वतन्त्रचेता महान् बौद्ध आचार्यों के सम्बन्ध में हम क्या कहेंगे जिन्होंने मानव बुद्धि के प्रखरतम तेज का प्रसरण करते हुए अपने शास्ता के मार्ग पर चलकर ही सभी ग्रन्थ-प्रमाणों को स्वतः रूप से प्रमाण मानने से स्पष्ट रूप से इन्कार कर दिया[1]। इसमें उनका क्या दोष था, यदि वेद भी एक ग्रन्थ था! तत्व के पक्षपातियों को सत्य के सामने लौकिक विश्वास का क्या पक्षपात करना था। यही उनका अपराध था और इसीलिए वे दण्डित किये गये। उनको 'नास्तिक' नाम दिया गया। वाल्मीकि-रामायण के किसी अज्ञात

---

light in these matters than intellectual reason.....It means only a serious attempt to solve the ultimate mystery of experience." "इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २० (भूमिका)। किन्तु यदि इस प्रकार उधार-पट्टे पर आध्यात्मिक अनुभव को वेद या अन्य किसी ग्रन्थ से ही न लेकर कोई साधक अपने ही अदम्य वीर्य से उसे प्राप्त करे तो क्या उसके विषय में गीता की यह उक्ति 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः' अथवा योगवासिष्ठ की यह वाणी 'अनुभूतिं विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते। सर्वदा सर्वथासर्व प्रत्यक्षोऽनुभूतितः॥ ....दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया स्वस्थया धिया।' ठीक नहीं होगी? क्या फिर भी उसे वेद-प्रमाण की अपेक्षा होगी? जब वेद के पास अनुभूति के लिए ही जाना होता है तो फिर उसे यदि कोई बाहर से न लेकर भीतर ही खोजे तो क्या उसे फिर भी 'नास्तिक' ही कहा जायगा? क्या वेद स्वानुभूति से भी बढ़कर है? आश्चर्य कि उधार धर्म वाला (आस्तिकवाद) भारतीय दर्शन में नकद धर्म वाले (बुद्ध) को 'नास्तिक' कहता है!

(१) नितान्त ही दार्शनिक पद्धति से यह कहकर 'हन्त ब्रह्मोपदेशोऽयं श्रद्दधानेषु शोभते। वयमश्रद्दधानास्मो ये युक्ति प्रार्थयामहे'। संवित्सिद्धि—इसमें कितना व्यंग्य और कटु सत्य है!

क्षेपककार ने भी बुद्ध को चोर बताते हुए फतवा दे दिया, 'यथा हि चौरस्तथा हि बुद्धः। तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।'[१] क्या इससे भी अधिक और कोई विद्वेष-बुद्धि होगी ?

इस प्रकार हमने देखा कि सिवाय एक पथभ्रष्ट वेद-भक्ति के बौद्ध दर्शन को 'नास्तिक' कहने की और कोई संगति नहीं है। 'नास्तिक' और 'आस्तिक' नामों के प्रयोग के भीतर कोई गम्भीर विचार-धारा नहीं है। वेद ही समग्र भारतीय दर्शन नहीं है, अतः उसके आधार पर भारतीय दर्शन का वर्गीकरण भी नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार भारतीय दर्शन के विदेशी विद्यार्थी एक तटस्थ द्रष्टा की तरह हमारी विचार-परम्पराओं को देखते हैं और उनका अध्ययन करते हैं, वैसा हम सम्भवतः नहीं कर सकते। हमारे हृदय के साथ उनका संयोग है और उनके अध्ययन का महत्त्व हमारे लिये केवल बौद्धिक न होकर रचनात्मक भी है। हमें भारतीय दर्शन को अपने जीवन में उतारना है क्योंकि हम उसके प्रतिनिधि हैं। अतः इस आस्तिक-वाद-नास्तिकवाद की खोखली आधार-भूमि की निर्मम समीक्षा हमें करनी ही पड़ेगी। बौद्ध दर्शन को 'नास्तिक' कहे जाने के अनौचित्य को हम किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते। धार्मिक दृष्टि से जो वेद को ईश्वरीय वाक्य मानते हैं उन्हें क्या अधिकार है कि वे उसे न मानने वालों को 'नास्तिक' कह कर पुकारें ? इस प्रकार यदि सभी अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के कारण अपने से विरुद्ध मत वालों को 'नास्तिक' या अन्य कुछ निन्दनीय नाम देने लग जायँगे तो यह सम्प्रदायवाद, धार्मिक विद्वेष और असहिष्णुता का भयंकरतम रूप ही होगा, और निष्पक्ष वैज्ञानिक अध्ययन की इससे समाप्ति हो जायगी। वेद के मानने वालों ने अपने से विरुद्ध मत वालों को 'नास्तिक' नाम दिया, किन्तु तत्त्वपक्षपातियों का कर्तव्य है कि वे निष्पक्ष विचार उपस्थित करें और सत्य को सत्य और असत्य को असत्य कहने का साहस करें, चाहे वह वेद-सम्मत हो या वेद विपरीत। भगवान् मनु के एक वाक्यांश[२] का सहारा लेकर और उसी के अनुसार अन्तिम निर्णय देने से तो काम नहीं चलेगा।

इन नामों के प्रयोग के भीतर कोई गम्भीर विचार-धारा नहीं दिखाई पड़ती, अतः दार्शनिक दृष्टि से इनकी अनुपयुक्तता स्पष्ट है—इस मत का उपपादन

(१) वाल्मीकि १०९। ३४ (अयोध्याकाण्ड)
(२) नास्तिको वेदनिन्दकः २।११; मिलाइए गौतम १५।१५

स्वर्गीय लोकमान्य तिलक की हिन्दूधर्म की उस परिभाषा को, जिसमें वेद-विषयक प्रामाण्य बुद्धि (प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु) प्रथम स्थान लिये हुए है, हमें बदलना ही होगा, यदि बुद्ध-शासन को हम आर्य-शासन का ही एक रूप मानते हैं। दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। वेद-प्रामाण्य को हिन्दूधर्म का अव्यभिचारी लक्षण भी मानना और बौद्धों (और जैनों) को हिन्दूधर्म की परिधि के अन्दर भी लाने का प्रयत्न करना, ये दोनों काम साथ-साथ नहीं चल सकते। हमें अधिक उदार बनने की आवश्यकता है। धर्म को छोड़कर हमें तात्त्विक धरातल पर आना ही पड़ेगा और इस भूमि पर बैठ कर ही हम देख सकेंगे कि 'नास्तिक' और 'आस्तिक' का विभेद वेद-प्रामाण्य के आधार पर करना बिलकुल अनुपयुक्त है और इसमें आवश्यक संशोधन की आवश्यकता है।

सच बात तो यह है कि केवल जड़वादी चार्वाक मत को छोड़कर और किसी भारतीय दर्शन को 'नास्तिक' कहा ही नहीं जा सकता।

केवल उच्छेदवादी चार्वाक-मत को छोड़ कर, जो आधुनिक अर्थ में व्यवस्थित दर्शनपद्धति नहीं कही जा सकती, किसी भी भारतीय दर्शन को 'नास्तिक' नाम से अभिहित करना एक विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उससे भी निकृष्ट एक ग्रंथ-सम्प्रदाय की स्वतःप्रमाणता से अपने को सम्बद्ध कर लेना है एवं वैज्ञानिक मार्ग से विछुड़ जाना है

फिर चार्वाक-मत तो आधुनिक अर्थ में कोई व्यवस्थित दर्शन-प्रणाली भी नहीं है। कुछ भी हो, बौद्ध दर्शन तो किसी भी अर्थ में 'नास्तिक' कहा ही नहीं जा सकता[1]। केवल एक ग्रन्थ अथवा ग्रन्थ-समूह मात्र में श्रद्धा को लेकर हम समग्र भारतीय दर्शन का वर्गीकरण नहीं कर सकते। क्योंकि उसमें तो अनन्त विचार-प्रणालियों का सम्मिलन हुआ है और उन सब के ही सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन की अपेक्षा है ? उनमें से किसी एक का पक्ष लेकर नहीं, बल्कि उनकी समग्रता में भारतीय दर्शन की आत्मा का दर्शन हमें करना है।

फिर भगवान् बुद्ध तो विभज्यवादी (विभज्जवादी) हैं, सत्य और असत्य का ठीक-ठीक विभाजन कर उपदेश देने वाले हैं। वेद में या अन्य किसी ग्रन्थ में जो सत्य है, वह उन्हें अंगीकार है। उनके नैतिक और

---

(१) मिलाइये हिरियण्ण : आउट लाइन्स ऑव इण्डियन फ़िलासफ़ी, भूमिका, पृष्ठ २०, पद संकेत ३

सर्वांश में वैज्ञानिक मार्ग का ही अवलम्बन लेने वाले 'विभज्यवादी' (विश्लेषणवादी) बुद्ध के प्रति वेद-निन्दा का आरोप कर उनको अथवा उनकी विचार-प्रणाली को 'नास्तिक' नाम देना परम्परा-गत धार्मिक भावना के फल-स्वरूप भले ही हो, निष्पक्ष तात्त्विक समीक्षा का वह लक्षण नहीं है

तात्त्विक विचार औपनिषद मन्तव्यों के कितने समीप हैं, यह यहां बताने की आवश्यकता नहीं। बुद्ध-सम्मत धर्म का औपनिषद ज्ञान के साथ और उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन का उसके समकालीन और प्रतिवादी अन्य भारतीय दर्शनों के साथ मिलान करने पर हम उन दोनों को प्रकारान्तर से समान पथ के ही पथिक दिखाने का प्रयत्न करेंगे। वे दोनों ही समान निष्पक्ष उद्देश्यों के उपासक और समान ही जीवन-सन्देश देने वाले हैं। फिर बौद्ध दर्शन की पूर्ण नास्तिक-वादी चार्वाक मत से कितनी विभिन्नता है, यह भी हम इन दोनों दर्शनों के पारस्परिक सम्बन्ध विवेचन में आगे देखेंगे। यहाँ इतना कहना अपेक्षित है कि कर्म-फल को न मानना और पुनर्जन्म से इन्कार करना नास्तिकता के दो प्रमुख लक्षण हैं। बौद्ध धर्म इनसे कितना ठीक विपरीत है, पायासिराजञ्ञसुत्त (दीघ० २।१०) इसकी सदा घोषणा करता रहेगा। 'नास्ति' होने पर बुद्धोप-दिष्ट प्रव्रज्या एक अर्थहीन वस्तु रह जाती है। प्रतीत्य-समुत्पाद का कोई अर्थ नहीं निकलता। 'कर्म-प्रतिशरण' होने की कोई संगति नहीं लगती! अतः न तो बौद्ध दर्शन को चार्वाकों की पंक्ति में बिठलाना ही उचित है और न श्रौत परम्परा से उसे ठीक विपरीत दर्शन दिखाना ही। फिर वह नास्तिक कैसे? वेद-निन्दा का आरोप उस पर सर्वथा मिथ्या है, जैसा कि हम वैदिक प्रज्ञान के प्रति उसकी दृष्टि के निष्पक्ष समीक्षण से आगे देखेंगे। अतः यदि परम्परागत धार्मिक भावना के परिणाम स्वरूप ही कोई बौद्ध दर्शन को 'नास्तिक' कहने का आग्रह करता रहे तो कोई उपाय उसे रोकने का नहीं है, किन्तु बार, बार 'अस्ति' का उच्च उद्घोष करने वाले, वास्तविक निज स्वरूप (अत्ता) की दुःख, अनित्य और "अनात्म" पदार्थों में गवेषणा करने से आगाह करने वाले और इसीलिए प्रधानतः काम, उपादान और तृष्णा के अशेष निरोध के लिए 'अनात्मवाद' का भी प्रख्यापन करने वाले, कर्म को प्रधान जगन्नियामक तत्व और पुनर्जन्म एवं परलोक को पूर्ण रूप में स्वीकार करने वाले, नैतिक आदर्शवाद के समुपदेष्टा

वे लोक-शास्ता भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध 'नास्तिक' किस प्रकार कहे जा सकते हैं? यदि तथागत ही जिस के विषय में 'नास्ति' कहते हैं तो 'अस्ति' उसके विषय में कहने वाला कौन मनीषी है? पर तथागत तो 'अस्ति' 'नास्ति' कुछ नहीं कहते। वे केवल मौन हैं। क्या औपनिषद ऋषि भी उसके विषय में शान्त और मौन ही नहीं रहे? किन्तु इस सम्बन्ध में तो बाद में। सारांश यही कि तात्विक समीक्षा के द्वारा किसी भी प्रकार और किन्हीं भी स्वीकृत या स्वीकार्य अर्थों में बौद्ध दर्शन का 'नास्तिकत्व' निष्पन्न नहीं होता और उसको 'नास्तिक' नाम से अभिहित करना, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, किसी धार्मिक भावना के फलस्वरूप भले ही हो, किन्तु निष्पक्ष तात्विक समीक्षा का वह चिन्ह नहीं है। इसलिये युग-चिन्तकों को आज बौद्ध दर्शन को 'नास्तिक' नाम देने से विराम लेना चाहिये।

अतः बौद्ध दर्शन के विषय इस परम्परागत निन्दा बुद्धि का निरसन अत्यन्त आवश्यक और यही प्रारम्भिक रूप से उसके स्वरूप को समझने की पहली आवश्यक शर्त भी है।

तात्त्विक समीक्षा के लिये तो यह अत्यन्त आवश्यक शर्त ही है। यदि हम पहले से ही बौद्ध दर्शन के प्रति किसी तिरस्कार बुद्धि को लेकर चलेंगे तो उससे अधिक पाने की आशा हम नहीं कर सकते। उसके प्रति श्रद्धा का प्रारम्भिक मूल्य तो हमें चुकाना ही पड़ेगा और यही उसको समझने की आवश्यक शर्त भी है। इस विषय में अधिक कहना तो पुनरुक्ति ही होगा।

आधुनिक विचार का प्रकाश भी इस दृष्टि के अनुकूल

यहाँ यह कहना और आवश्यक है कि आधुनिक विचार के अनुसार भी बौद्ध दर्शन को 'नास्तिक' कहना उचित नहीं है। आज के भाषा-प्रयोग में 'नास्तिक' से तात्पर्य केवल वेद-निन्दक का नहीं लिया जाता, बल्कि 'नास्तिक' वही माना जाता है जो अनाचार पूर्ण जीवन बिताता हो, नैतिक मूल्यों में जिसकी श्रद्धा न हो, जो 'उच्छेदवादी' हो और जिसके लिये अध्यात्मवाद का कोई अर्थ ही न हो। बौद्ध धर्म या दर्शन का इन सब से क्या सम्बन्ध? अथवा आजकल 'नास्तिक वादी' से तात्पर्य लिया जाता है सृष्टिकर्ता ईश्वर में विश्वास न रखने वाले व्यक्ति से भी और यह कहना क्षम्य माना जायगा कि इस अर्थ में कुछ महान् विचारक

भी अपने को 'नास्तिक' कहने में गौरव अनुभव करते हैं[1]। स्थिति ही कुछ ऐसी है। किन्तु बुद्ध तो ऐसा भी कुछ नहीं कहते। अथवा नास्तिकवादी आजकल ऐसे व्यक्ति भी माने जाते हैं जिनकी जगत् की व्यवस्था में किसी प्रकार आस्था नहीं होती, वे उसे यदृच्छा मात्र उत्पन्न मानते हैं, जीवन का कोई उद्देश्य उनके सामने नहीं होता, वे केवल भोग को पुरुषार्थ मानते हैं। और इस कारण न शौच का कुछ महत्त्व है, न आचार का, न नीति का, उनके लिये। इस प्रकार के घोर नास्तिकवादी इस वैज्ञानिक जड़वाद के युग में अनेक हैं। इस नास्तिकवाद का प्रचण्डतम रूप प्रायः वैसा ही है जैसा कि 'नत्थिकवाद' के रूप में वह त्रिपिटक में अंकित किया गया है और जिसको भगवान् बुद्ध ने 'अनाश्वासनिक ब्रह्मचर्य' कहा था और जिसका निदर्शन गीताकार ने भी निन्दा पूर्वक किया है। इस प्रकार के नास्तिकवाद से तो बौद्ध दर्शन बिलकुल ठीक विपरीत है। उसके समान नैतिक आदर्शवादी विचार-प्रणाली भारत में तो क्या विश्व में भी दूसरी नहीं है। वह विरति और विवेक पर प्रतिष्ठित है और श्रद्धा की पूरी महिमा की उसमें स्वीकृति है। वह सोलहों आने आध्यात्मिक है। उसकी जगत् के नियम में एक अपूर्व निष्ठा है, बल्कि कहना चाहिए कि यह तो उसकी प्रतिष्ठा ही है। नैतिक आदर्शवाद का वह अन्यतम स्थापक जीवन के आध्यात्मिक उद्देश्य का निषेधक कैसे हो सकता था? आजकल आस्तिकवाद (ईश्वरवाद के अर्थ में) की ओर लोगों की श्रद्धा कम होने लगी है। किन्तु इसका प्रधान कारण उस आस्तिकवाद की तात्विक निर्बलता नहीं है, किन्तु उसके अभ्यासियों की आचार-हीनता ही है। सच्चे आस्तिकवाद की कसौटी एक मात्र पवित्र जीवन या नैतिक शुद्धि ही मानी जा सकती है और इस अर्थ में सम्यक् सम्बुद्ध के शासन को छोड़कर अधिक आस्तिकवादी दर्शन और कौन कहा जा सकता है? जर्मन दार्शनिक

---

(१) 'नास्तिकता भी जब वह सोलहो आना सच्ची बलवती प्रवृत्तियों से निकलती है तब वह कमजोरी का नहीं बल्कि ताकत का ही एक मूर्त रूप होती है और वह भी धार्मिक आत्मा की महान् सेना के मार्च में शामिल हो जाती है'। 'इन शर्तों पर तो मैं इस महान् सेना का एक नम्र अनुयायी बनने को तैयार हूँ' प्रथम शब्द रोमां रोलां के हैं जो पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'मेरी कहानी' (पृष्ठ ४५९) में उद्धृत किए हैं। उसी के प्रसंग में श्री नेहरू ने अपने विषय में दूसरे शब्द कहे हैं (पृष्ठ ४५९ ही)

नीशे ने बौद्ध धर्म को इतिहास का सब से बड़ा 'हाँ कहने वाला' धर्म कहा है। उसका कहना है, "जहाँ तक तत्त्वज्ञान का सम्बन्ध है बौद्ध धर्म इतिहास का एक मात्र अस्ति-वादी (पोज़ीटिव) धर्म है। वह यह नहीं कहता 'पाप से लड़ो, बल्कि कहता है 'दुःख से लड़ो'[1]। फिर आज बुद्ध या उनकी विचार पद्धति को 'नास्तिक' हम किस मुँह को लेकर कह सकते हैं? वेद-रूप ग्रन्थ में यदि उनकी प्रामाण्य-बुद्धि को लेकर आज हम उनको 'नास्तिक' उद्घोषित करने लग जायँ, तो दुनिया हमारी बुद्धि पर हँसेगी ही। यदि बौद्धदार्शनिक हमारी श्रद्धा को उचित महत्त्व न देकर हम से केवल युक्ति की प्रार्थना करते हैं तो वे क्या अपराध करते हैं? बल्कि सत्य के सच्चे शोधक और उपासक तो उन्हें ही मानना पड़ेगा। यदि बुद्धिवाद नास्तिकवाद का पर्यायवाची बन जायगा, तब तो समग्र तात्विक और वैज्ञानिक अध्ययन ही 'नास्तिक' वादी हो जायगा, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ विशेष को वह स्वतः प्रमाण कभी मान ही नहीं सकता, फिर चाहे वह वेद हो या त्रिपिटक या अन्य कोई ग्रन्थ। यदि हम वेद को पुस्तक न मानकर ज्ञान का पर्यायवाची मानें तब तो हमें 'अनन्ता वै वेदाः' की अनुभूति करनी ही पड़ेगी और उस हालत में वेद-विरोधी होने का आरोप बुद्ध-शासन पर किसी प्रकार लगाया ही नहीं जा सकता। मनुष्य तो सभी मनुष्य हैं और सब की बुद्धियों और अनुभूतियों की सीमाएँ हैं, किन्तु सर्वांश में परिपूर्ण सत्य का तो उद्बोधक कोई एक नहीं हो सकता और कम-से-कम पहले से ही बिना परीक्षण किये तो इस प्रकार उसे मानने की प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती। अतः किसी भी प्रकार हम देखें बौद्ध दर्शन को 'नास्तिक' दर्शन कहकर किसी भी प्रकार निन्दित नहीं किया जा सकता, प्रत्युत विचार-स्वातंत्र्य और निष्पक्ष तत्वबुद्धि को बढ़ावा देने एवं मानवीय बुद्धि के प्रकृत तेज को बढ़ानेवाली विचार-पद्धति के रूप में उसकी प्रशंसा ही करनी पड़ेगी।

सारांश यह कि भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में बौद्ध दर्शन (और साथ में जैन दर्शन भी) सर्वथा 'अस्ति' कहने वालों की ही श्रेणी में आते हैं। अतः वे स्वकीय ही हैं, परकीय या बाह्य

(१) "Buddhism is the only positive religion of history as regards philosophy. It does not say fight against sin, but fight against suffering." **दि बुद्धिस्ट नवम्बर और दिसम्बर १९४८, पृष्ठ ९३ में उद्धृत।**

अतः बौद्ध दर्शन (साथ में जैन दर्शन भी) सभी अर्थों में स्वकीय ही है, परकीय या 'बाह्य' कभी नहीं—मनीषी विद्वानों से इसे इसी रूप में देखने की प्रार्थना

कभी नहीं। उनके विभिन्न सिद्धान्तों की संगति हमें मिलानी चाहिए और इसके-लिए ऐतिहासिक अध्ययन हमारे लिए अत्यन्त अपेक्षित है, जिसका हमारे दार्शनिक अनु-शीलन में आज तक प्रायः अभाव रहा है। कोई भी दर्शन-प्रणाली चाहे वह कितनी ही विश्वजनीन और देशकालानवच्छिन्न क्यों न हो, सामाजिक परिस्थितियों से उद्भूत अवश्य होती है, जिनकी पृष्ठभूमि में उसके अध्ययन करने से उसके अनेक रहस्य खुल सकते हैं और उसके बहुत से उपर से विरोधी दिखाईदेने वाले तत्वों की संगति भी लग सकती है। भगवान् बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानकर भी हिन्दू जाति उनके दर्शन को सीधे गले नहीं उतार सकी और जगत् को विमोहित करने वाले भगवान् के रूप में उनकी पूजा कर स्वतः शताब्दियों तक विमोहित होती रही। न तो वह उनके सर्वातिशय विशाल व्यक्तित्व के प्रभाव से अपने को बचा सकी और न उनके विचारों को पूर्णतया जीवन में उतार सकी। क्यों उसने तथागत को विष्णु का अवतार मानकर भी उन्हें प्रजाओं को विमोहित करने वाला ठहराया ? इसका उत्तर दर्शन में नहीं है, सामाजिक और धार्मिक इतिहास में है। इसके लिए हमें न्याय की सम्पूर्ण परम्परा देखनी होगी, मीमांसकों के इतिहास को छानना पड़ेगा। आज समय है जब कि हम केवल उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों के संस्कृत भाषा में लिखित प्रज्ञानों के बल पर ही, जो कि उत्तरकालीन वैदिक परम्परा के आचार्यों के लिए बौद्ध दर्शन तक पहुँचने के लिये सम्भवतः एक मात्र साधन थे, वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य की गवेषणा में प्रवृत्त न होकर उस विशाल पालि वाङ्मय का भी सहारा लें जो भगवान् बुद्ध के जीवन और उपदेशों को जानने का प्राचीनतम प्रामाणिक साधन है। उसके आधार पर बुद्ध के 'आर्य-विनय' और 'आर्य-धर्म' को हम अधिक स्पष्ट रूप देख सकेंगे और श्रौत परम्परा से उसकी संगति भी अधिक स्पष्टता के साथ मिला सकेंगे। जहाँ तक उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिकों का सम्बन्ध है उन्होंने बड़ा प्रयत्न यह दिखाने का किया है कि शून्यता नास्तिक्य नहीं है। 'कर्म-फल नहीं है', 'पुन-र्जन्म नहीं है', ऐसा कभी किसी बौद्ध दार्शनिक ने नहीं कहा है। फिर उन्हें 'नास्तिक' की गाली क्यों ? माध्यमिक-वृत्ति के मनीषी रचयिता आचार्य चन्द्रकीर्ति ने प्रभावशाली शब्दों में कहा है 'हम नास्तिक नहीं हैं'। 'न वयं

नास्तिकाः' । गाली खाते-खाते क्षुब्ध बौद्ध दर्शन का वेदवादी परम्परा को यह संक्षिप्त प्रतिनिधि उत्तर है । हमें यह देखना है कि यह कहाँ तक ठीक है । हाँ, उन्होंने तो यह भी कहा है 'हम तो निर्वाणपुरगामी अद्वय-मार्ग को प्रकाशित करते हैं' ।[१] तो क्या बौद्ध दार्शनिक अद्वैतवादी भी हैं ? हाँ, उनका ऐसा दावा है और आधुनिक खोजों ने यदि कोई महत्त्वपूर्ण कार्य किया है तो केवल यही दिखाना कि शंकर और गौडपाद से पूर्व अद्वैतवाद का प्रख्यापन बौद्ध आचार्यों के द्वारा किया गया था। कुछ भी हो, बुद्ध और बौद्ध दार्शनिक 'नास्तिक' नहीं हैं । बुद्ध-रूप विष्णु ने लोक को विमोहित नहीं किया, बल्कि यह लोक स्वयं उन्हें न समझते के कारण विमोहित होता रहा । आज इस मोह को हटाने की आवश्यकता है । मर्मज्ञ विद्वानों से इसे इसी रूप में देखने की प्रार्थना है । तथागत के पास पहुँचने का अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

---

(१) वयं तु निर्वाणपुरगा मिनमद्वयपथं विद्योतयामः । माध्यमिक-वृत्ति, पृष्ठ ३२९।

चौथा प्रकरण

बौद्ध दर्शन का भारत में उद्भव और विकास

अ—'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन अथवा स्थविरवादी तत्त्वदर्शन

१—उपोद्घात : बुद्ध और बौद्ध दर्शन पर सामान्य विचार

बुद्ध और बुद्ध-धर्म की महिमा की कुछ कथा

'बुद्ध' इतिहास का सब से बड़ा नाम है। ज्ञान की अमिट शुभ्र रेखाओं में इस नाम की महिमा विश्व-मस्तक पर अंकित है। अशोक और शोतोकु जैसे सम्राटों की महिमा इसी का एक तुच्छ वरदान है और मानवता के एक बड़े भाग को सभ्य और विनम्र बनाने का रहस्य इस नाम के प्रभाव में छिपा पड़ा है। छठी शताब्दी ईसवी पूर्व एक पुरुष ने इस नाम को धारण किया था और वह बोध के साथ एकाकार हो गया था। उसने जीवन की समस्याओं का समाधान प्राप्त कर लिया था। उसका नाम गोतम था और उसने अपने को 'बुद्ध' कहा था। 'बुद्ध' नाम उसका स्वयं साक्षात्कृत नाम था जो उसे बोधि-वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त करते हुए मिला था। उसे उसकी माता महामाया ने नहीं दिया था और न पिता शुद्धोदन ने। शाक्य-बन्धुओं से भी वह उसे नहीं मिला था। भागवती कृपा के परिणाम स्वरूप भी वह उसे प्राप्त नहीं था। ईश्वर (इस्सर) की ओर से दिया हुआ भी यह नाम नहीं था। बोधि-वृक्ष के नीचे अनुत्तर संग्राम-विजय प्राप्त करते हुए, अद्वितीय 'प्रधान' (पुरुषार्थ) के द्वारा यह नाम अर्जित किया गया था[1], जिसे जो कोई वैसा वीर्य आरम्भ करे, वैसी प्रज्ञा उपस्थित करे, प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्राणी बुद्धत्व की क्षमता से युक्त है, बुद्ध-निर्माण के बीज प्रत्येक में विद्यमान हैं। पर इतिहास का कहना है कि अब तक केवल एक पुरुष ने पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त किया है और वह था शाक्य गोतम, जो अपनी इस ब्राह्मी स्थिति के कारण ही लोक में 'भगवान् बुद्ध' या 'सम्यक् सम्बुद्ध' के नाम से विश्रुत हुआ।

(१) देखिये महानिद्देस, पृष्ठ १४३, विसुद्धिमग्ग ७५५ में उद्धृत।

बुद्ध एक उपपद है, व्यक्तिवाचक नाम नहीं[1]। 'बुद्ध' जगे हुए पुरुष को कहते हैं, अथवा जिसने बोध को प्राप्त कर लिया है। 'प्रतिबुद्ध' पुरुष की कल्पना पूर्ण ज्ञानी के अर्थ में उपनिषदों में भी विद्यमान है[2]। बुद्ध का आविर्भाव बोधि से होता है, माता के गर्भ से नहीं। इसीलिये कहा गया है कि बुद्ध-पुरुष का आविर्भाव लोक में अति दुर्लभ है[3]। 'बुद्ध' नाम सुनना भी लोक में अत्यन्त दुर्लभ है[4]। अन्धकारग्रस्त लोक के लिये बुद्ध-पुरुष दीपक के समान होता है। वह औंधे को सीधा करता और वस्तुओं के यथाभूत दर्शन को प्रकट करता है। वह सूर्य के समान लोक में चमकता है, आदित्य बन्धु होता है। उसका आविर्भूत होना लोक के लिये नये कल्याण और नई आशा की सृष्टि करता है। वह जीवन को नये मूल्य प्रदान करता है, नये लक्ष्य और नई दृष्टियां देता है। वह आदि-कल्याणकारी, मध्य-कल्याणकारी और पर्यवसान-कल्याणकारी धर्म का उपदेश करता है। उसके द्वारा बहुजन हित निष्पन्न होता है। उसका जब जन्म होता है तो स्पर्श-सुख वायु स्वतः बहने लगती है, दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं, आकाश निरभ्र होकर चमकता है, मानव-जाति के रोग अनायास शान्त हो जाते हैं और लोक में नये मंगल की सृष्टि होती है[5]। इसीलिये कहा गया है 'बुद्धों का उत्पन्न होना सुखकारी है'—सुखो बुद्धानं उप्पादो[6]।

ऐसा ही एक पुरुष आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था। उसने मानवता के इतिहास को तब से बदल दिया। कितना लोकोत्तर प्रभावशाली था उसका व्यक्तित्व! कितनी विशाल थी उसकी प्रज्ञा, कितना अन्तर्वेधी था उसका ज्ञान! जीवन और जगत् का कोई कोना उससे अछूता न था। उसने सब कुछ देखा था, सब कुछ जाना था। उसमें अदम्य आत्म विश्वास था और जिस सच्चाई को उसने साक्षात्कार किया था उसका निर्भीकतापूर्वक मानव-कल्याण के लिये उसने उपदेश किया। उसने सत्य को देखा था। वह वास्तविक अर्थों में 'तथागत' था। उसके वचन युग-युग तक सत्य रहेंगे। जो कुछ

---

(१) देखिये सेलसुत्त (मज्झिम० २।५।३) ; सुत्त-निपात ३।७

(२) देखिए शतपथ० १४।७।२-१७

(३) किच्छो बुद्धानं उप्पादो। धम्मपद १४।४;
बुद्धो हवे कप्पसतेहि दुल्लभो। महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ २।३)

(४) देखिये सेल-सुत्त (सुत्त-निपात); विनय-पिटक—चुल्लवग्ग ६।२

(५) मिलाइये बुद्ध-चरित १।२२-२७

(६) धम्मपद १४।१६

उसने कहा है, ठहरेगा। वह दुःख-विमुक्ति का सन्देश लेकर आया था और उसका मार्ग विज्ञान-सम्मत है। यही कारण है कि वह विश्व-मानवता का सबसे बड़ा आश्वासन बन गया है। आज भी विश्व की कम-से-कम पंचमांश जनता उसके नाम से शान्ति प्राप्त करती है और अपनी समस्याओं के समाधान के लिये उसकी ओर जोहती है। अपने व्यक्तित्व की अनन्त कोमलता से वह महा कारुणिक पुरुष दुखियारों का आशा-केन्द्र बन गया है और उसके शान्त-गम्भीर उपदेशों ने असंख्य प्राणियों को जीवन में आश्वस्त किया है। लाखों को उसने दुःख-कान्तार से पार किया है। उसका प्रभाव काल और स्थान की सीमाओं को लाँघता हुआ आज विश्वव्यापी बन रहा है।

उस अद्भुत पुरुष के विषय में जो कुछ कहा जाय, सब थोड़ा है। मनीषी अशोक भी इससे अधिक कुछ न कह सका कि 'भगवान् बुद्ध ने जो कुछ कहा है, सब सुन्दर कहा है।' भाषा उसके ज्ञान की थाह नहीं ले सकती। मानवीय बुद्धि उसके वचनों के मूल्य को नहीं आंक सकती। कोई समीक्षा-पद्धति उसके व्यक्तित्व के प्रभाव को उद्घाटित नहीं कर सकती। उसका ज्ञान अननुमेय है, आकाश कल्प है, 'अनोम' है, उसकी थाह नहीं ली जा सकती। वह सचमुच इस संसार की आँख था, लोक-नेत्र था। जीवन की गहनतम समस्याओं के समाधान को देखने के कारण वह वास्तविक अर्थों में 'चक्षुष्मान्' था। वह ब्रह्मभूत था, धर्मभूत था, मृत्यु-विजयी था, लोक-गुरु था, देव और मनुष्यों का अद्वितीय शास्ता था। मृत्यु के पाश से वह पार हो गया था, लोक के अन्त को वह जानने वाला था, 'लोकन्तगु' था। उसकी आँखें खुली हुई थीं, वह 'विवट चक्खु' था। वह सत्य के साथ एकाकार था। इसलिये उसका नाम ही 'सत्य' था। वह पूर्णतम अर्थ में 'सच्चनाम' था। चार आर्य सत्यों का उसने बोध प्राप्त किया था, स्वयं बोध प्राप्त कर दूसरों को उनका बोध कराया था। इसलिये वह 'बुद्ध' था[१]। स्वयं, अपने परिश्रम से उसने सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया था, इसलिये वह 'सम्यक् सम्बुद्ध' था[२]। उसने जानने योग्य को जान

(१) बुज्झिता सच्चानीति बुद्धो, बोधेता पजायाति बुद्धो। महानिद्देस, पृष्ठ ४५७, विसुद्धिमग्ग ७।५२ में उद्धृत। मिलाइये 'इमेसं खो भिक्खवे चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धत्ता तथागतो अरहं सम्मा सम्बुद्धोति वुच्चतीति। संयुत्त-निकाय, विसुद्धिमग्ग १६।२१ में उद्धृत।

(२) सम्मा सामञ्च सब्बधम्मानं बुद्धत्ता पन सम्मा सम्बुद्धो। विसुद्धिमग्ग० ७।२६

लिया था, सिद्ध करने योग्य को सिद्ध कर लिया था, और छोड़ने योग्य को छोड़ दिया था, इसलिये वह 'बुद्ध' था[१]। जीवन में संयम चाहने वाले पुरुषों के लिये वह अद्वितीय सारथी-स्वरूप था। स्वयं पार होकर वह दूसरों को पार कराने वाला था। महा कारुणिक शास्ता तो वह था ही, सत्य-शोधकों का तो वह कल्याण मित्र भी था, आध्यात्मिक साथी भी था[२]। गहरी मानवता और सहानुभूति से भरे उसके व्यक्तित्व की महत्ता आँकी नहीं जाती।

बुद्ध पुरुषोत्तम थे, मानवता को दिये गये प्रकृति के सर्वोत्तम दान थे। परन्तु भक्ति-निष्ठ वैष्णवों की तरह 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'[३] जैसी कोई बात तो उनके विषय में सम्भवतः नहीं कही जा सकती। बुद्ध के जीवन की पूरी कथा सम्पूर्ण अर्थों में मानवीय है। विश्व के धर्म-शास्ताओं में हमें कोई भेद-बुद्धि नहीं है। उनके सम्बन्ध में हमारी वही उदार भावना है जिसे ऋग्वेद के ऋषियों ने 'विश्वे देवासः' के सम्बन्ध में व्यक्त करते हुए कहा था :

नास्त्यर्भको देवासो न कुमारकः विश्वे सतो महान्त इत्[४]

'हे देवो! आप में न कोई छोटा है और न कोई अल्प। आप सभी समान रूप से महान् हैं।' परन्तु एक दृष्टि से तथागत विश्व के सम्पूर्ण धर्म-संस्थापकों और महापुरुषों में अग्रणी हैं। वे संसार के इतिहास के सर्वप्रथम बुद्धिवादी शास्ता हैं, जिन्होंने एक विश्व-धर्म की स्थापना की है। अधिकतर धर्म-संस्थापकों ने जगत् के त्राता या उद्धारक होने का दावा किया है। तथागत का ऐसा कोई दावा नहीं है। जर्मन दार्शनिक नीशे ने उन धर्मानुयायियों के प्रति जो किसी 'त्राता' में विश्वास करते हैं, लक्ष्य कर कहा है, "निश्चय ही उनके त्राता भी कभी स्वतन्त्रता या स्वतंत्रता के सातवें स्वर्ग से उतर कर नहीं आये थे। निश्चय ही उन्होंने स्वयं भी कभी ज्ञान के पाँवड़ों पर गमन नहीं किया था[५]।" बोधि-धर्म के साक्षात्कर्ता स्वयं बोध-स्वरूप तथागत इसके महत्त्व-

---

(१) अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं भावेतब्बञ्च भावितं। पहातब्बं पहीनं मे तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मणो॥ सेल-सुत्त (सुत्त-निपात)

(२) 'ममं हि आनन्द कल्याणमित्तं आगम्म जातिधम्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्तीति' आदि वचनतो पन सम्मासम्बुद्धो येव सब्बाकार-सम्पन्नो कल्याणमित्तो। विसुद्धिमग्ग० ३।६२

(३) भागवत० १।३।२८

(४) ऋ० ८।३०।१

(५) "Verily, their saviours themselves came never from

पूर्ण अपवाद हैं। उनकी सारी जीवन-चर्या ज्ञान-मार्ग पर विचरण की है, बोधि के पाँवड़ों पर चलने की है। अन्य 'त्राताओं' की तरह उन्होंने सत्य के मार्ग का अवरोधन नहीं किया है, बल्कि उसे विस्तीर्ण बनाया है, उसका विकास किया है। मानव-जाति को उन्होंने बन्धन में नहीं डाला है। विश्वास की शृंखलाओं से उसे नहीं बाँधा है। उनका सन्देश मानव-मुक्ति का सन्देश है, मानवीय बुद्धि की स्वतन्त्रता का सन्देश है। कौन कह सकता है कि स्वतन्त्रता के किस 'तुषित' लोक से उनका आगमन हुआ था? उन्होंने मानवीय विचारों के इतिहास में एक युग का प्रवर्त्तन किया है और वह युग बुद्धिवाद और मानवता का है। ज्ञान की गरिमा में, दार्शनिक विनय में और मानवजीवन की गहनतम समस्याओं के निष्पक्ष, साहसपूर्ण, ऊर्जित और स्पष्ट समाधानों में, जो दर्शन-शास्त्र के प्रकृत विषय हैं, तथागत अपनी तुलना नहीं रखते। यदि अन्य बातों को छोड़ दें तो केवल इसी एक गुण के कारण भगवान् बुद्ध अब तक के मानव जाति के इतिहास के सर्वोत्तम पुरुष माने जा सकते हैं। भारतीय दर्शनाकाश के तो वे प्रकृष्टतम तेज-सम्पन्न सूर्य ही हैं। सत्य प्राप्त तथागत ज्ञान के परिपूर्ण अवतार हैं और उनसे परम कोई शास्ता नहीं[1]। प्रज्ञा उनकी परिपूर्ण और सम्बोधि उनकी महान् है। जीवन का कोई ऐसा पहलू नहीं जो उनकी ज्ञान-चिन्तामणि के सहस्र अंशुओं से अभिव्याप्त न हुआ हो, कोई ऐसी वास्तविक जीवन की समस्या नहीं जो उनकी प्रज्ञा पार-मिता से अछूती रह गई हो। सभी जगह उन समन्तचक्षु ने देखी है, सभी आवश्यक ज्ञान उन सम्यक् सम्बुद्ध ने प्रख्यापित किया है। न केवल भारत के ही दार्शनिक, सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहास में अपितु विश्व-संस्कृति के इतिहास में भी बुद्ध-स्मृति एक अतीव मूल्यवान् वस्तु है। उन जैसे कारुणिक शास्ताओं का इस लोक में आना कभी ही कभी होता है, किन्तु जिस ज्ञान-दीप को वे छोड़ते हैं वह तो अध्वनीय ब्रह्मचर्य (चिरस्थायी धर्म) बन कर अनन्त काल तक इस जीव-लोक के हित, सुख और कल्याण के लिए होता है। फिर तथागत तो सब उपाधियों से परे हो गए हैं। 'अनुपादा विमुत्तो भिक्खवे तथागतो'। केवल धर्म ही उनका प्रतीक है, जिसके नेतृत्व में उन्होंने

---

freedom and freedom's seventh heaven. Verily, they themselves never paced carpets of Knowledge".

दस स्पेक जेरथुष्ट्रा, पृष्ठ ८२ (टिली और बॉजमैन का अंग्रेजी अनुवाद)

(१) नत्थि तथागतस्स अनुत्तरो अनुसासको। मिलिन्द पञ्हो (अनुमान-पञ्हो)

हमें छोड़ा है। धर्म भी जो कि 'सांदृष्टिक,' 'अकालिक', 'एहिपस्सिक' और 'औपनयिक' है, दुःख-निरोध का अनुत्तर मार्ग है, बहुजन-हितार्थ, बहुजन सुखार्थ और लोकानुकम्पार्थ ही जिसका प्रवर्तन हुआ है, जिसमें अप्रमादी साधक की साधना कभी व्यर्थ नहीं होती, जो सम्यक् सम्बुद्ध शास्ता के द्वारा सु-प्रवेदित और सु-आख्यात है और प्रत्यक्ष अनुभूति की डिण्डिम पर जिसमें सर्वत्र ही 'आओ और देख लो' की उद्घोषणा की गई है। वास्तव में तथागत के जन्म, अभि-सम्बोधि-प्राप्ति और महापरिनिर्वाण तीनों ही मनुष्य जीवन के अन्य-तम आश्वासन हैं। सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्मचक्र का जिस दिन भारत-भूमि में आविर्भाव हुआ और जितने दिनों तक मूल तथागत-प्रवेदित धर्म और उनके द्वारा साक्षात्कृत विशुद्धि-मार्ग का प्रकाश यहां के लोगों में रहा उन दिनों की स्मृतियाँ हमारे राष्ट्रीय जीवन की सर्वोत्तम निधि हैं। जिस विचार-परम्परा को उरुवेला में प्रकाश पाकर उस 'वेद के अन्त को जानने वाले' (वेदन्तगू) ने गति प्रदान की उसने शताब्दियों तक समग्र एशिया और यूरोप के विचार को प्रभावित किया एवं हेतु-प्रत्यय पर व्यवस्थित वह विचार-प्रणाली आज के वैज्ञानिक युग में भी विचारशील दार्शनिकों के लिए विशेष आकर्षण का विषय बन गई है। फिर भगवान् बुद्ध केवल दार्शनिक या विचारक ही नहीं हैं, वे भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हैं, विद्या और आचरण से सम्पन्न हैं, सुगत हैं, लोक विद हैं, संयम-योग्य पुरुषों के अद्वितीय सारथी-स्वरूप हैं, देव और मनुष्यों के शास्ता हैं[1]। उनकी स्मृति फ़ाह्यान, यूआन्-चुआङ, इ-चिङ, देवानं पिय तिस्स, निचिरेन्, होनन् जैसे असंख्य विदेशी सत्यगवेषकों की भी आध्यात्मिक भूख की तृप्ति का एकमात्र साधन हुई, तो फिर भारतीयों के विषय में तो कहना ही क्या! चीन उनको ठीक ही 'करुणा के देव' कह कर उनकी उपासना करता है, तिब्बत ने ठीक ही अवलोकितेश्वर के रूप में उन्हें अपनी उपासना का विषय बनाया है, 'मणि पद्मे हुँ' के रूप में उनके धर्म-रूप रत्न की उपासना उसने की है, जापान तो निश्चय ही पश्चिमी सभ्यता के रंग में रँगकर भी 'नामु अमिता बुत्सु' (नमः अमित बुद्धाय) कहना नहीं भूलता, 'नम्यो हो रिंगे क्यो'' (नमः सद्धर्म पुण्डरीकाय) का जप कर सद्धर्म की स्मृति किये बिना नहीं रहता, फिर बर्मा, सिंहल और स्याम जैसे देशों का तो कहना

(१) ....इति पि सो भगवा अरहं सम्मा-सम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्म सारथि सत्था देव मनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति। सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२); महानाम-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)

ही क्या जिन्होंने विशुद्ध बुद्ध-दर्शन की परम्परा को अपने पूर्वतम रूप में आज तक हमारे लिए सुरक्षित रक्खा है। इतना ही नहीं, विश्व की सर्वाधिक वाणियां भी आज सम्यक् सम्बुद्ध के लिए ही अपनी श्रद्धा और भक्ति अर्पित करती हैं, फिर चाहे उनकी आचरण-दिशा भले ही बुद्ध-सम्मत पथ पर न भी चलती हो। फिर स्वयं भारत में भी यद्यपि बुद्ध की विचार-प्रणाली के विषय में भले ही कुछ भ्रान्तियाँ हों, किन्तु सामान्यतः उनका प्रभाव तो जीवन में सम्भवतः यहीं व्यापकतम भी है। भारतीय हृदय की नैसर्गिक दयावृत्ति ही सम्यक् सम्बुद्ध का सर्वोत्तम अधिष्ठान है, उनकी सर्वविध सुरक्षित विरासत है जो किसी बाह्य आधार की अपेक्षा नहीं रखती। भागवतकार तथा अन्य परम वैष्णवों ने भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में उन्हें स्मरण किया ही है, गीतगोविन्दकार ने उनकी 'सदय हृदय' वृत्ति को सराहा ही है, भक्त चूडामणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'सुद्ध बोधैक घनज्ञान गुन धाम' कह कर उन्हें अपनी श्रद्धा अर्पित की ही है और प्रथम अद्वैत वेदान्ताचार्य महा मनीषी गौडपाद ने भी औपनिषद मन्तव्य के साथ संज्ञावेदयित-निरोध रूप 'अस्पर्शयोग' को 'अविवाद और अविरुद्ध' सिद्धान्त मानते हुए उसके शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध के प्रति अपनी प्रणामाञ्जलि अर्पित की ही है। किन्तु सबसे अधिक तो तथागत के व्यक्तित्व को उस छोटे से बालक (राहुल) ने प्रकट किया जिसने उनके सामने खड़े हुए कहा था 'श्रमण! तुम्हारी छाया भी सुखकर है'। निश्चय ही शान्ति और बुद्ध एक ही वस्तु हैं। ज्ञान का चरमतम लक्ष्य ही है परम शान्ति और एक ज्ञानी अथवा 'प्रतिबुद्ध' ही शान्ति का वास्तविक उपदेष्टा हो सकता है। इस तृष्णा-संचालित लोक में, जहाँ सब कुछ जल रहा है (सब्बं आदित्तं), 'यह असन्तप्त है, यह अपीड़ित है'[1] ऐसा अधिकारपूर्वक उन्मुक्त निर्घोष बुद्ध-पुरुष ही कर सकता है। बुद्ध का समग्र व्यक्तित्व ही इस बात का साक्षी है कि बुद्ध और धर्म एकाकार हैं। 'जो मुझ को देखता है, वह धर्म को देखता है।' यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति। यदि परम शान्ति और अपने विस्तृत अर्थ में दुःख-शमन ही भारतीय दार्शनिक चिन्तन के अन्तिम विचारणीय प्रश्न हैं तो भगवान् तथागत के जीवन और उपदेश अपने समग्र रूप में आत्यन्तिक रूप से हमारे सतत मनन और विचार के विषय होने ही चाहिए, इसमें सन्देह नहीं। भगवान् तथागत ने वास्तव में उपनिषदों के ही तत्त्वज्ञान पर व्यवस्थित आचारतत्त्व का सामान्य जनता में जिसे उन्होंने 'बहुजन' कह कर पुकारा अपने अनुपम

(१) विनय पिटक—महावग्ग १।२

अनुभव के साक्ष्य पर प्रचार किया तथा सदा विशुद्ध आर्य-मार्ग को ही अपनाया और आर्य धर्म (अरियो धम्मो) और आर्य विनय (अरियो विनयो) के नाम से सदा अपने मत को प्रख्यापित करते रहे। अतः उनके मार्ग और विचार को 'बहुजन वेदान्त' (जिस नाम के द्वारा भारतीय दर्शन परम्परा के साथ बुद्ध-दर्शन के वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञापन यह लेखक सर्वोत्तम समझता है) कहते हुए सम्भवतः सत्य को आघात नहीं पहुँचाया जाता और न कोई अवमूल्यन ही किया जाता है भारतीय दर्शन के प्रति उनकी अत्यन्त मूल्यवान् और प्रभावशाली देन का ही, जो 'अनात्मवाद' और नैतिक आदर्शवाद के रूप में युग-युग पर्यन्त अटल रहेगी। हां, उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन के विकास और भारतीय दर्शन के प्रति उसकी देन की बात दूसरी है और उसका महत्त्व शास्त्रीय है। तात्त्विक और ऐतिहासिक दृष्टि से यह जानना कि कहाँ तक सम्यक् सम्बुद्ध का मन्तव्य इस लोक में ठीक समझा गया अथवा कहाँ तक भगवान् तथागत की वही आशंका जो उन्हें अभि-सम्बोधि लाभ करने के समय हुई थी, ठीक हुई, बड़ा कठिन है। भगवान् ने बोधि प्राप्त करते हुए कहा था, "मैंने गम्भीर दुर्दर्श, दुर्ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्म को पा लिया। यह जनता काम तृष्णा में रमण करने वाली, काम-रत, काम में प्रसन्न है। काम में रमण करने वाली इस जनता के लिए कार्यकारण रूपी प्रतीत्य समुत्पाद दुर्दर्शनीय है और दुर्दर्शनीय है सभी संस्कारों का शमन भी, सभी मन्त्रों का परित्याग भी, तृष्णा का क्षय भी, विराग, निरोध और निर्वाण भी"।[१] इस प्रकार बुद्ध के मूल दर्शन और जिस रूप में वह भविष्य में आने वाली जनताओं द्वारा अथवा उनके सामने उसे उपस्थित करने वाले मनीषी आचार्यों के द्वारा समझा गया, उन दोनों में काफी भेद है, जो अत्यन्त निष्पक्ष और वैज्ञानिक अध्ययन से ही समझा जा सकता है। वास्तव में प्रश्न यह नहीं है कि क्या उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने बुद्ध के मन्तव्यों को ही अपने तर्कों के सहारे आगे बढ़ाया या नहीं (जिसका उत्तर सम्भवतः 'हाँ' में देना ही अधिक समीचीन जान पड़े)। हमें केवल यह जानना है कि क्या वे अपनी सब वाद-परम्परा के द्वारा अन्तिम बल उन्हीं मूल बातों पर देने में समर्थ हुए या नहीं, जिन पर तथागत के शासन का आधार टिका है, और इसका उत्तर हाँ में देना अत्यन्त कठिन है। कुछ भी हो, बोधि पक्षीय धर्मों की प्रतिष्ठा पर आश्रित और अनात्मवाद रूप धुरी

(१) विनय पिटक—महावग्ग।

पर व्यवस्थित बुद्ध-दर्शन रूपी नैतिक आदर्शवाद क्रमशः किस प्रकार तार्किक तत्त्ववाद का स्वरूप ग्रहण करता गया, यहाँ तक कि अद्भुत और अव्याकृत भूमियों पर भी स्वच्छन्द क्रीड़ा करता हुआ वह अपने मूल स्वरूप और सन्देश को ही अन्त में खो बैठा, यह सब भारतीय विचारशास्त्र के इतिहास में एक अत्यन्त ज्ञेय और मनन-योग्य विषय है। वास्तव में बौद्ध दर्शन के उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों ही भारतीय दर्शन शास्त्र के अत्यन्त विस्मयकारी व्यापार हैं और इनके विषय में ठीक दृष्टि अब भी प्रायः नहीं ली जाती। भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक और तात्त्विक अध्ययन में यह एक खटकने वाला अभाव है। अभी हम यहाँ प्रारम्भिक रूप से बौद्ध दर्शन के उद्भव और विकास पर कुछ विचार करेंगे और यह सब केवल मूल बुद्ध-दर्शन के ही स्वरूप, क्षेत्र और सीमा को ठीक तरह से समझने के लिए, 'महा श्रमण' के ही वाद को, जो इस-परिच्छेद के पूर्वार्द्ध में हमारा प्रस्तुत विषय है, ठीक तरह से जानने के लिए।

बौद्ध दर्शन के उद्भव और विकास का प्राथमिक परिचय

बौद्ध दर्शन के उद्भव का आधार, उसके अस्तित्त्व की प्रतिष्ठा और उसके प्रामाण्य की अन्तिम भूमि है भगवान् बुद्ध की अभि-सम्बोधि, उनकी प्रज्ञा की पारमिता एवं सबसे अधिक उनके लोकोत्तर व्यक्तित्त्व की दीप्ति। सम्यक् सम्बुद्ध से ही, गंगोत्री से गंगा की तरह, बौद्ध दर्शन की विमल धारा का प्रवाह शुरू हुआ है। किन्तु, जैसा विचारों के इतिहास में अक्सर देखा जाता है उनका विकास सदा उनके मूल उद्भावकों के द्वारा निश्चित दिशा में ही नहीं चला करता बल्कि कभी कभी तो उनसे विपरीत दिशा में भी अपने पगों को बढ़ाता है और अज्ञात स्थानों को भी ले पहुँचता है। अनेक धर्म-संस्थापकों ने गुरु, शास्ता अथवा सम्प्रदाय में एकांश निष्ठा और अनन्य श्रद्धा का उपदेश देकर इस प्रवृत्ति को रोकने का प्रयत्न भी ज्ञात या अज्ञात रूप से किया है, किन्तु 'विभज्जवाद' के शास्ता ने तो सभी विधि-निषेधों को न अपना कर, परम तत्त्व के निर्देश में भी महामौन ही धारण कर, अपने ही द्वारा उपदिष्ट क्षुद्रानुक्षुद्र नियमों को भी यथा सम्भव हटा देने का साहस पूर्वक आदेश देकर, और सबसे अधिक परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिए सत्त्व-शुद्धि के अतिरिक्त विशुद्ध बुद्धि को ही एक मात्र प्रति-शरण स्वीकार कर, स्वतन्त्र विचार की परम्परा को एक अदम्य प्रोत्साहन दिया जो उनके द्वारा प्रवर्तित विचार-प्रणाली में सर्वत्र विद्यमान है और जिसके परिणाम स्वरूप ही आगे चल कर विशेषतः ईसवी सन् के प्रारम्भ से लेकर

ईसा की पांचवीं और छठी शताब्दियों तक भारतीय तत्त्वज्ञान को एक अत्यन्त नवीन, स्वतन्त्र और वीर्यवात् विचार की देन मिली। 'क्षुद्रानुक्षुद्र' विनय-सम्बंधी नियमों को लेकर बौद्ध संघ में पहले ही विवाद शुरू हो गया था और परम तत्त्व के सम्बन्ध में जिन दस बातों को तथागत ने 'अकथनीय' कह कर छोड़ दिया था उनकी जिज्ञासा से भी मानवीय बुद्धि को नहीं रोका जा सकता था। इन्हीं सब कारणों ने मिलकर उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक विकास को गति और प्रेरणा प्रदान की। भारत में बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास का कम से कम १५०० या १६०० वर्षों का जीवित इतिहास है। बुद्ध के निर्वाण-काल (पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व) से लेकर ईसा की आठवीं शताब्दी तक अर्थात् भगवान् शंकर के समय तक तो बौद्ध दर्शन ने भारतीय दर्शन के विकास में सक्रिय योग दिया ही है, बौद्ध धर्म किसी न किसी रूप में ठीक ग्यारहवीं-या बारहवीं शताब्दी तक भारतीय जीवन में व्याप्त रहा। उसके नालन्दा और विक्रम शिला के विश्वविद्यालय नौवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के युग की भारतीय सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक माने जा सकते हैं। वस्तुतः उसी समय समग्र भारत में व्याप्त भक्ति-आन्दोलन के प्रारम्भिक स्वरूप पर भी बौद्ध धर्म कई अंशों में अपनी अमिट छाप छोड़ गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण से जब कि आचार्य शंकर के बौद्ध दर्शन के विरुद्ध तर्क एक ऐसे व्यक्ति के मालूम पड़ते हैं जो उसकी जीवित परम्परा के अवाञ्छनीय मार्ग-ग्रहण से उद्वेलित हो उठा है, बाद के आचार्यों और ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों के तद्विषयक तर्क केवल शास्त्रीय ढंग के हैं जिन पर परम्पराभुक्त रूप से ही विचार किया गया है। वैष्णव दर्शन के खण्डन का मुख्य विषय बौद्ध दर्शन न होकर स्वयं शंकर का मायावाद ही हो गया है जिसके कारणरूप ही प्रधानतः उन्हें 'प्रच्छन्न बौद्ध' या बौद्धों की समान पंक्ति में ही बैठने वाला कहा गया है और उनके दर्शन को बौद्ध विज्ञानवाद का ही रूपान्तर दिखाने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय दर्शन की विवेचन-दिशा में यहाँ एक नये युग का प्रवर्तन हो चुका है और बौद्ध दर्शन अब क्रियात्मक रूप से तत्त्व-चिन्तकों का मुख्य विषय नहीं रहा है। इसका कारण यही है कि कुछ शंकर के प्रत्याख्यानों के कारण, कुछ उसकी स्वयं अविशुद्धि के कारण, कुछ भावनामय भक्ति धर्म के उदय के कारण, उसके धार्मिक जीवन की गति अत्यन्त मन्द पड़ गई और उसमें महत्त्वपूर्ण मौलिक तत्त्व कुछ अवशिष्ट नहीं रह गया। अतः भगवान् बुद्ध के काल से लेकर आचार्य शंकर के काल तक तो भारत में बौद्ध दर्शन के विकास का जीवित और अत्यन्त परिपूर्ण इतिहास है और

उसके बाद अपने विकृत तान्त्रिक रूप में वह ठीक ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक जीवित रहता है। फिर बौद्ध धर्म और दर्शन का विकास भारत तक ही सीमित नहीं है। अन्य देशों में भी उसके विकास की परम्परा है और निश्चय ही अत्यन्त विस्तीर्ण और कई अंशों में मनोरञ्जनकारी भी। उदाहरणतः बौद्ध दर्शन के विज्ञानवादी रूप का जापान में आश्चर्यजनक विकास हुआ है और चीन, कोरिया और जापान ने ध्यानी (जैन) बौद्ध धर्म की अद्भुत विरासत छोड़ी है, जो आज भी अपने जीवित रूप में वहां विद्यमान है। तेरहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी तक, जबकि भारत में वैष्णव-साधना पल्लवित हो रही थी और बौद्ध धर्म प्रायः नाम शेष रह गया था, विशेषतः स्याम, हिन्द-चीन, हिन्देशिया और नैपाल में महायान बौद्ध धर्म और वैष्णव भक्ति-धर्म का समन्वय-साधन हो रहा था, जिसके समान नवीन और प्रेरणा-प्रद विषय मध्य युगीन साधना के क्षेत्र में आज भारतीय विद्यार्थी के लिये कोई दूसरा नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में पाँचवीं-छठीं शताब्दी ईसवी पूर्व से लेकर ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी ईसवी तक बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास का विस्तृत इतिहास है। राजनैतिक इतिहास की भाषा में इसे हम व्यक्त करना चाहें तो कह सकते हैं कि बिम्बिसार के काल से लेकर बंगाल के पाल-वंश तक बौद्धधर्म का जीवित इतिहास हमें उपलब्ध है। पन्द्रह-सोलह शताब्दियों के इस विकास की मोटी रूपरेखा इस प्रकार है। सर्व प्रथम भगवान् बुद्ध और उनके शिष्य हैं। ४८३ ई० पूर्व या सिंहली परम्परा के अनुसार ५४३ ईसवी पूर्व भगवान् का परिनिर्वाण हुआ। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद ही भिक्षु-संघ में विनय सम्बन्धी नियमों को लेकर एक विवाद उठ खड़ा हुआ जिसका शमन करने के लिए उनके निर्वाण के तीन मास बाद राजगृह में बौद्ध भिक्षुओं की एक संगीति हुई, जिसने अन्य कार्यों के साथ-साथ विनय और धर्म (सुत्त) का संगायन किया। एक दूसरी बैठक इसके सौ वर्ष बाद विनय सम्बन्धी नियमों में ही स्वच्छन्दता फैलने के कारण वैशाली में राजा शिशुनाग के पुत्र कालाशोक के समय में हुई, जिसके परिणामस्वरूप महासांघिकों का एक नवीन सम्प्रदाय स्थापित हो गया और प्राचीन परम्परा का ही कट्टर रूप से अनुसरण करने वाले भिक्षुओं को संज्ञा मिली 'थेरवाद' (स्थविरवाद) की। 'स्थविर' साधारणतः उस भिक्षु को कहते हैं जो दस साल तक भिक्षु रह लेता है। परन्तु यहाँ 'स्थविर' शब्द का प्रयोग महासांघिकों ने, जो सुधारवादी थे, उन भिक्षुओं के

लिये किया था जो बुद्ध और उनके शिष्यों की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के दृढ़ पक्षपाती थे और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन या संशोधन नहीं करना चाहते थे। प्रथम संगीति में विनिश्चित धम्म और विनय के स्वरूप को ये कट्टर रूप से मानने वाले थे। नये सम्प्रदायों का निर्माण चलता रहा। कालान्तर में अशोक (तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व) के समय तक आते आते बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायों या निकायों में विभक्त हो गया जिनमें अभी तक स्थविरवाद ही सबसे अधिक प्रामाणिक और प्रभावशाली था जिसे अशोक के समय में तृतीय संगीति के अवसर पर जो पाटलिपुत्र में बुद्ध-परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुई थी, 'विभज्जवाद' के साथ एकात्म रूप से दिखाया गया। अन्य १७ सम्प्रदायों का अपना अलग-अलग साहित्य था। इनमें सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी) सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रभावशाली था। उसका साहित्य संस्कृत में था जो वर्तमान युग में अपने मौलिक रूप में और चीनी-तिब्बती अनुवादों में काफी उपलब्ध हुआ है। 'मौलिक' बौद्ध दर्शन अथवा बुद्ध के मूल दर्शन के नाम से जिस दर्शन की व्याख्या हम यहाँ करेंगे वह वास्तव में केवल स्थविरवाद परम्परा का दर्शन है, जिसका मूल आधार उपर्युक्त तीन संगीतियों में निश्चित बुद्ध-वचन स्वरूप पालि त्रिपिटक एवं बाद में उस पर लिखी गई व्याख्याएँ (अट्ठकथाएँ) तथा अन्य कुछ अनुपिटक ग्रन्थ यथा मिलिन्द प्रश्न, (प्रथम शताब्दी ईसवी) 'विसुद्धिमग्ग' (चौथी-पाँचवीं शताब्दी) आदि हैं, जो बुद्धकाल के काफी बाद किन्तु स्थविरवाद परम्परा के अनुकूल ही लिखे गए। आचार्य बुद्धघोष को, जो ईसा की चौथी-पांचवीं शताब्दी में हुए, हम स्थविरवाद बौद्ध धर्म का अन्तिम आचार्य कह सकते हैं, यद्यपि हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उनके बाद भी विशेषतः लंका और बर्मा आदि देशों में स्थविर-वाद परम्परा के अनुकूल ग्रन्थ लिखे गये और आज भी यह परम्परा समाप्त नहीं हुई है। किन्तु महासांघिक आदि १७ निकाय भी उत्तरोत्तर विकसित होते गये और उनके विकास की परम्परा प्रायः कनिष्क के समय (ईसवी सन् के लगभग) तक चलती रही। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्तों को जानने का प्रधान साधन मोग्गलिपुत्त तिस्स कृत 'कथावत्थु' है, जो अशोक-कालीन रचना है, परन्तु गौरवातिशय के कारण जिसकी गणना अभिधम्म पिटक के एक ग्रन्थ के रूप में की गई है। कालान्तर में हीनयान और महायान नामक दो विभाग बौद्धधर्म के हो गए, जिनका प्रारम्भ यद्यपि वैशाली की संगीति से ही हो गया था, किन्तु जिनका सम्पूर्ण रूप अशोक के बाद कई शताब्दियों में ही निष्पन्न हुआ। इनके

उद्गम और विकास को लेकर विद्वानों में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, जिनका वास्तविक समाधान अभी नहीं हो सका है। वास्तव में बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास में शास्ता के चले जाने के बाद निश्चय ही अनेक आवर्त प्रकट होने लगे जिनकी ऐतिहासिक संगति लगाना तथा गवेषणा करना आज भी अशक्य सा जान पड़ता है। किन्तु जहाँ तक समग्र भारतीय दर्शन के साथ बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध का संप्रश्न है अथवा जहाँ तक अ-बौद्ध दर्शन और दार्शनिक उसे समझने में समर्थ हुए हैं, उसे जानना हमारे लिये इतना कठिन नहीं है। किसी भी श्रौत परम्परा या जैन परम्परा के प्राचीन विचारक या समीक्षक ने उपर्युक्त प्राचीन १८ बौद्ध सम्प्रदायों का निदर्शन किया हो अथवा उनके भिन्न-भिन्न मतवादों की समालोचना की हो, ऐसा हम कुछ अल्प अवस्थाओं को छोड़कर प्रायः नहीं कह सकते[१]।

सभी प्राचीन वैदिक या जैन विचारकों ने, जिन्होंने भारतीय दर्शन की समीक्षा की है, प्रायः चार बौद्ध सम्प्रदायों का ही उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवादी (अथवा योगाचार) और माध्यमिक अथवा शून्यवादी। इनमें से प्रथम दो का तो अन्तर्भाव 'सर्वास्तिवाद' (जिसे शंकर ने 'सर्वास्तित्ववाद' कहा है) में हो जाता है, जिसे हम 'हीनयान' कह सकते हैं और शेष दो सम्प्रदाय माहायानिकों के हैं। इन्हीं का समालोचनात्मक विवरण हमें अन्य भारतीय दर्शनों में उपलब्ध होता है और इनके साथ पारस्परिक सम्बन्ध का वर्णन भी हमें उत्तरकालीन दार्शनिक साहित्य में मिलता है। इन चार बौद्ध सम्प्रदायों का विकास कनिष्क के काल से लेकर हर्ष के समय तक हुआ अर्थात् करीब ईसवी सन् के प्रारम्भ से लेकर सातवीं शताब्दी ईसवी तक। यहाँ एक आवश्यक बात हमें यह कह देनी है कि उपर्युक्त सम्प्रदायों में से प्रायः प्रत्येक के ही साहित्य और आचार्यों की अपनी अलग-अलग विस्तीर्ण परम्परा है। उनमें इतनी भिन्नरूपता है और उनके विचार की प्रगति इतनी बहुमुखी है कि किसी भी एक सामान्य नाम के अन्तर्गत उन सब प्रवृत्तियों को रख देना कठिन हो जाता है जो एक विशेष सम्प्रदाय के साथ प्रायः सम्बन्धित कर दी जाती हैं। प्रत्येक ही आचार्य या ग्रन्थ का प्रायः अलग ही एक दर्शन है। कभी-कभी यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है (जैसे अश्वघोष के सम्बन्ध में) कि अमुक आचार्य किस दर्शन-सम्प्रदाय का है और चूंकि मौलिक भेद बौद्ध धर्म

---

(१) यथा 'सम्मितियों' के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन 'आस्तिक' दर्शन की परम्परा के आचार्यों ने भी किया है।

के विभिन्न रूपों में बहुत कम है, इसलिये वसुबन्धु की तरह एक सम्प्रदाय को छोड़कर दूसरे सम्प्रदाय में दीक्षित हो जाना भी प्रायः अक्सर देखा जाता है। जो विचार विकास की परम्परा में एक ग्रन्थ में एक आचार्य के द्वारा प्रख्यापित दिखाई पड़ते हैं वही विचार या तो उसी आचार्य के अन्य ग्रन्थ में अथवा समान सम्प्रदाय के ही अन्य ग्रन्थों में वैसे नहीं दिखाई पड़ते। इसलिए प्रत्येक आचार्य की जीवन की अवस्थाओं और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझे बिना तात्त्विक अध्ययन की कठिनाई बढ़ जाती है। विज्ञानवाद और शून्यवाद के आचार्यों के सम्बन्ध में तो यह सिद्धान्त अत्यधिक लागू होता है। 'आलय विज्ञान', 'भूततथता' अथवा माध्यमिक सम्मत 'अभाव' और 'शून्य' को किसी साधारण सर्वस्पर्शी परिभाषा में बाँधना अत्यन्त कठिन हो जाता है और प्रत्येक आचार्य के मत को देख कर ही कोई निर्णय किया जा सकता है। कनिष्क और हर्ष के बीच के इस युग में, जिसमें उपर्युक्त चार सम्प्रदायों का विकास हुआ, अनेक प्रतिभाशाली बौद्ध आचार्यों का आविर्भाव हुआ, जिनका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे। इस युग को हम बौद्ध दर्शन का 'शास्त्रीय युग' कह सकते हैं। इसके बाद हम बौद्ध दर्शन के उस युग में पहुँचते हैं जिसको 'नैयायिक युग' नाम देना उपयुक्त होगा और जिसकी काल-सीमाएँ गुप्तकाल से लेकर पाल-वंश तक हैं। इस युग में भी अनेक प्रतिभाशाली आचार्य हुए जिन्होंने भारतीय न्याय-परम्परा को अद्भुत रूप से समृद्ध किया है। इनका भी उल्लेख हम यथा स्थान करेंगे। ऐतिहासिक दृष्टि से इसी युग के अन्तर्गत बौद्ध धर्म के तान्त्रिक रूप का विकास हुआ। ईसवी सन् के प्रारम्भ से लेकर छठी-सातवीं शताब्दी ईसवी तक हम विशुद्ध महायान धर्म के दर्शन करते हैं और उसके बाद से लेकर पाल-वंश तक उसके तान्त्रिक रूप के। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के विकास को शास्ता के महापरिनिर्वाण-काल से लेकर उसके आर्य सनातन-धर्म में नाम रूप खोकर अस्त हो जाने के समय तक अर्थात् भारत में ठीक १२ वीं शताब्दी तक (एशिया के अनेक देशों में उसके विकास की अप्रतिहत परम्परा आज तक चल रही है) हम ने अत्यन्त संक्षिप्त रूप में देखा। इसे हम युगों के अनुसार इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं:—

(१) **बुद्ध और उनके शिष्यों का युग** (बिम्बिसार के काल से लेकर कालाशोक के काल तक)

(२) **अष्टादश-निकाय-युग** (कालाशोक के काल से लेकर कनिष्क के

काल तक)। जैसा पहले कहा जा चुका है, इस युग के अन्तर्गत १८ बौद्ध सम्प्रदायों का आविर्भाव और विकास हुआ।

(३) **शास्त्रीय युग** (कनिष्क के काल से लेकर हर्षवर्धन के काल तक) इस युग में उपर्युक्त चार बौद्ध सम्प्रदायों का विकास हुआ।

(४) **नैयायिक-युग** (गुप्तकाल से लेकर पालवंश तक), जिसमें बौद्ध न्याय का विकास हुआ[१]। प्रस्तुत परिच्छेद के पूर्वार्द्ध में हम केवल बुद्ध और उनके शिष्यों के युग के दर्शन का विवेचन करेंगे और बाद के विकास पर इस परिच्छेद के उत्तरार्द्ध में आयँगे।

एक स्पष्टीकरण अर्थात् बौद्ध दर्शन के विकास की दो क्रमिक अवस्थाओं अर्थात् मूल बुद्ध-दर्शन या स्थविरवादी तत्त्व-दर्शन और विकसित बौद्ध दर्शन को यहाँ क्रमशः 'मौलिक्य' और 'उत्तर' संज्ञा देने की संगति एवं अन्य प्रयुक्त नाम

बौद्ध धार्मिक और दार्शनिक विकास के उपर्युक्त चार युगों को मोटे तौर पर दो अवस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है। इनमें से पहली अवस्था तो स्थविरवादी तत्त्वदर्शन या मूल बुद्ध-दर्शन की है जिसका स्वरूप पालि-त्रिपिटक में दृष्टिगोचर होता है और जिसकी व्याख्या पालि अट्ठकथाओं एवं अन्य अनुपिटक ग्रन्थों में मिलती है। इस दार्शनिक विकास का काल हम बुद्ध के समय से लेकर अशोक के समय तक मान सकते हैं, यद्यपि अट्ठकथाओं का, जिनके द्वारा इसकी व्याख्या की गई, काल प्रायः बुद्धघोषाचार्य के समय अर्थात् ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक रहा और वैसे उसके बहुत बाद तक भी तदुपकारी साहित्य का निर्माण होता रहा, यह हम पहले कह चुके हैं। बौद्ध धर्म अथवा दर्शन के इसी स्वरूप को अशोक ने वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य माना था और उसे 'विभज्जवाद' कहा था। इसी की 'स्थविरवाद' संज्ञा हुई, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं। यही स्थविरवाद की परम्परा अशोक के काल से कुछ शताब्दियों बाद उस नाम से पुकारी जाने लगी जिसे 'हीनयान' कहा जाता है। 'हीनयान' अर्थात् 'छोटा-यान' या 'छोटा मार्ग'। ईस्वी शताब्दी के आसपास उसकी यह संज्ञा निश्चित हो गई। सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत इसी नाम के अन्तर्गत आते हैं। बौद्ध दर्शन के विकास की दूसरी धारा उस नाम से व्यवहृत हुई जिसे 'महायान'

---

(१) देखिये वेणीमाधव बाडुआ : प्रोलेगोमेना टू ए हिस्ट्री ऑव बुद्धिस्टिक फिलॉसफी, पृष्ठ ४४-४५

अथवा 'बड़ा यान' या 'बड़ा मार्ग' कहा जाता है और जिसके प्रथम बीज हम वैशाली की संगीति में ही महासांघिकों के रूप में पाते हैं। इसी धारा के आचार्यों ने विशेषतः वैदिक परम्परा के कट्टर अनुयायियों और विचारकों से दार्शनिक क्षेत्र में टक्कर ली और साथ ही बुद्ध-भक्ति या उनकी शरणागति या नामानुस्मृति के द्वारा मोक्ष का विधान कर अपने एक अभाव की पूर्ति की और सब के लिए निर्वाण का मार्ग खोलकर अपने 'महायान' नाम की संगति भी लगाई। भक्तिवाद का बौद्ध धर्म में प्रवेश हुआ और 'अर्हत्' के स्थान पर 'बोधिसत्व' आदर्श की स्थापना की गई। निर्वाण-साधना को सेवा-मार्ग से मिलाया गया और बौद्ध धर्म को पूर्ण लोक-धर्म का रूप प्रदान किया गया। इसी 'महायान' परम्परा में विज्ञानवाद और शून्यवाद जैसे प्रभावशाली दार्शनिक सिद्धान्तों का उद्भावन हुआ और बौद्ध न्याय को अत्यन्त समुन्नत तेज देने वाले मनीषी आचार्य भी इन्हीं दर्शन-संस्थाओं में उत्पन्न हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'हीनयान' शब्द कुछ सीमाओं और मर्यादाओं के सहित बुद्ध के मूल दर्शन अथवा उसके प्राथमिक विकास को सूचित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है, और 'महायान' शब्द उसके उस विकसित स्वरूप को, जो उसे प्रथम शताब्दी ईसवी के बाद प्राप्त हुआ और जिसका विकास भारत और एशिया के अनेक देशों में हुआ। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, तथोक्त महायान बौद्ध धर्म स्थविरवाद के कतिपय सिद्धान्तों का विकास ही है और 'हीनयान' और 'महायान' को दो सर्वथा विभिन्न धर्म-सिद्धान्त मानना बड़ी भारी भूल है। वस्तुतः बौद्ध धर्म के इन दो रूपों को द्योतित करने के लिए 'हीनयान' और 'महायान' शब्दों का उपयोग ही गलत है। महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन का यह कहना ठीक है कि "ये दोनों नाम आपस के कुछ कड़ुएपन को प्रकट करते हैं। इसलिए मैं उचित समझता हूँ कि इनके लिए सब से उचित शब्द 'प्राचीन बौद्ध धर्म' और 'विकसित बौद्ध धर्म' है"[१]। श्री राहुल जी के सुझाए हुए ये दोनों नाम अत्यन्त उपयुक्त हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु 'प्राचीन बौद्ध धर्म' कहने में कुछ 'आदि बुद्धों' की अनैतिहासिक कल्पना स्थान पा सकती है जिसका अनुचित प्रयोग कर बौद्ध दर्शन के पूर्व रूप के विषय में अनेक व्यर्थ की बातें श्रौत परम्परा के पौराणिक विद्वानों द्वारा कही जाती हैं, जिनका ऐतिहासिक अर्थ कुछ नहीं होता। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से 'प्राचीन' नाम कुछ अस्पष्टता लिए हुए है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर मूल बुद्ध-दर्शन को प्रकट

(१) धर्मदूत, फर्वरी, १९३९, पृष्ठ ९४

करने के लिए 'पालि बौद्ध धर्म' या 'पालि धम्म' और माहायानिक धर्म के लिए 'संस्कृत बौद्ध धर्म' शब्द भी प्रायः पश्चिमी विद्वानों के द्वारा अधिक प्रयुक्त किए गए हैं, क्योंकि पहले की साहित्य-सम्पदा विशेषतः पालि में और दूसरे की संस्कृत में सुरक्षित है। उपर्युक्त वर्गीकरण भाषा की दृष्टि से बिलकुल सु-प्रयुक्त है, किन्तु इससे उनकी दार्शनिक प्रवृत्तियों पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता और सब से बड़ा दोष तो यह है कि यह एक ही धर्म के दो सम्प्रदायों को दो भिन्न-भिन्न कोठों में बन्द होने जैसे तथ्यों की सूचना सी देता है, जो ठीक नहीं है। हीनयान और महायान एक ही बुद्ध-मन्तव्य को देखने की दो दृष्टियाँ मात्र हैं और उसी को नाना प्रकार से प्रख्यापित करने के लिए उनका सब उपक्रम है। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे 'हीनयान' और 'महायान' दोनों भगवान् बुद्ध के जीवन और उपदेशों पर आधारित हैं। फिर 'उत्तरी बौद्ध धर्म' (महायान) और 'दक्षिणी बौद्ध धर्म' (हीनयान) के नामों से भी इन सम्प्रदायों को पुकारने का रिवाज पश्चिमी विद्वानों में बहुत दिन चला, परन्तु अब डा० रायस डेविड्स के इस सम्बन्ध में प्रत्याख्यानों के बाद[1] कोई गम्भीर विद्वान् इन शब्दों का प्रयोग नहीं करता। यह ठीक है कि महायान का प्रचार अधिकतर उत्तरी देशों यथा नैपाल, चीन, जापान, कोरिया, आदि में, हुआ है और हीनयान का दक्षिणी देशों यथा लंका, स्याम और बर्मा आदि में किन्तु ये दोनों सम्प्रदाय आपस में बिलकुल विभिन्न नहीं है और इन दोनों के ही साहित्य का प्रादुर्भाव उत्तरी भारत में ही हुआ था, इसलियेइनको 'उत्तरी बौद्ध धर्म' और दक्षिणी बौद्ध धर्म' कहना कभी संगत नहीं[2]। हरिभद्र के 'षड् दर्शन समुच्चय' के मनीषी वृत्तिकार गुणरत्न (चौदहवीं शताब्दी) ने सांख्य दर्शन की मीमांसा करते हुए उसके विकास की दो अवस्थाएँ स्वीकार की हैं और उन्हें क्रमशः 'मौलिक्य' और 'उत्तर' नाम से पुकारा है[3]। सांख्य दर्शन का जैसा मनोरञ्जनकारी और ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ अस्पष्ट विकास है उसकी बुद्ध के दर्शन से अत्यन्त समानता है। जिस प्रकार एक ही शास्ता अर्थात् कपिल मुनि के द्वारा प्रवर्तित सांख्य दर्शन की परम्परा अपने मौलिक रूप में जिस दृष्टिकोण को

(१) देखिए बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १७३; डा० रायस डेविड्स ने इसे 'अप्राकृतिक वर्गीकरण' कहा है।

(२) देखिए राधाकृष्णन् : इण्डियन फ़िलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ५८४

(३) तर्क रहस्य दीपिका, पृष्ठ ९९

उपस्थित करती थी उसी को वह कालान्तर में महाभारत आदि के रचयिताओं के द्वारा रूपान्तरित होने के परिणामस्वरूप ठीक रूप से नहीं कर सकी अपितु उसके विचार का प्रवाह बहुत कुछ बदल गया। इसी प्रकार मूल बुद्ध-दर्शन और उत्तर कालीन विकसित बौद्ध दर्शन के विषय में भी कुछ इसी प्रकार की बात कही जा सकती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि असंग, वसुबन्धु, नागार्जुन, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि परवर्ती बौद्ध आचार्यों ने बुद्ध के असली विचारों को ही भली भांति दिखलाया है, जैसा कि बहुत से विद्वानों का का मत है[१], तो भी इस तथ्य से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन 'धम्म' में उन्होंने कुछ नया जोड़ अवश्य लगाया है और ऐसा निश्चय ही अपने प्रतिद्वन्द्वी महान् वैदिक परम्परा के आचार्यों को परास्त करने के लिए और बुद्ध-मन्तव्य को उनके सामने प्रख्यापित करने के लिए ही। यही कारण है कि हम 'धर्मकीर्ति का दर्शन' अथवा 'नागार्जुन का दर्शन' जैसी बातें आज कह सकते हैं। अतः उसमें उत्तरकालीन विकास की बात जरूर सम्मिलित है, जिसके लिए उसे 'विकसित' अथवा 'उत्तरकालीन' कहा जाना असंगत नहीं है। अस्तु, चाहे 'हीनयान' और 'महायान' कहा जाय, चाहे 'प्राचीन' और 'विकसित', चाहे 'पालि' और 'संस्कृत' बौद्ध धर्म, चाहे 'दक्षिणी' और 'उत्तरी' बौद्ध धर्म और चाहे गुणरत्न की अभिव्यञ्जनात्मक भाषा का प्रयोग कर 'मौलिक्य' और 'उत्तर' बौद्ध दर्शन, मूल अर्थों और सीमाओं को यदि हम याद रक्खें तो किन्हीं भी प्रयोगों में कोई भय नहीं है। हमें केवल यही स्पष्ट कर देना है कि किन विशेष अर्थों में हम उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। अतः यहाँ हम सभी प्रयोगों का ('उत्तरी' और 'दक्षिणी' बौद्ध धर्म को तो छोड़कर) उपयोग यथावसर करेंगे, किन्तु सर्वोत्तम प्रयोग तो हमें गुणरत्न के सार्थक और सरल शब्दों 'मौलिक्य' और 'उत्तर' में ही दिखाई पड़ता है। इसलिये उनके प्रति यहां विशेष अभिनिवेश क्षम्य होगा। वैसे दूसरे शब्दों के प्रयोग के विषय में हमें कोई विवाद नहीं है।

उपर्युक्त दो नामों से जिन दो बौद्ध सम्प्रदायों का कुछ निदर्शन किया गया है, उनमें ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से अनेक विभिन्नताओं का निदर्शन करना हमारे लिये आवश्यक होगा। वस्तुतः तात्विक

(१) जैसे कि महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का, देखिए उनका लेख 'हीनयान और महायान का भेद,' 'धर्मदूत', फर्वरी १९३९, पृष्ठ ९५

उपर्युक्त द्विविध विभाग की कुछ विशेषताएँ और मूल बुद्ध-दर्शन का दृष्टिकोण

दृष्टि से उनमें उतना विभेद नहीं जितना कि ऊपर से दिखाई पड़ता है, यह हम आगे देखेंगे। अभी तो हमें यहां सभी सम्प्रदायों से निरपेक्ष केवल विशुद्ध बुद्ध-मन्तव्य को ही देखना है जिसकी थाह सभी प्राचीन और उत्तरकालीन बौद्ध धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदाय लगाने की कोशिश करते हैं किन्तु उसके तत्त्व का पूर्ण रूप से स्पर्श नहीं कर सकते। दुःख की बात तो यह है कि बुद्ध के मूल दर्शन जैसी बात भी जब हम कहते हैं तो उसे भी तो जानने का सिवाय उसके एक प्राचीनतम सम्प्रदाय (स्थविरवाद) के ग्रन्थ-सम्पत्ति के माध्यम से देखने के और कोई उपाय हमारे पास नहीं है। किन्तु चूंकि उसमें परिवर्तन आदि होने बहुत पहले ही बन्द हो गए थे और आप्तकाम अर्हतों द्वारा ही उसका संकलन हुआ था, ऐसा हम मानते हैं, इसलिए निश्चय ही इसी रूप में उसे स्वीकार करते हुए सत्य और असत्य के विवेक के वैज्ञानिक मार्ग द्वारा बुद्ध के व्यक्तित्व और उनके मन्तव्य के निकटतम पहुँचने का प्रयत्न करते हैं और यही वास्तव में सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण वस्तु भी है। जितना भी निश्चित वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्भव हो सके उतना हमें बुद्ध के 'वाद' जैसी वस्तु के समीपतम पहुँचना है क्योंकि इसके बिना उसके विकास की ठीक दिशा न तो समझी जा सकती है और न उसकी व्याख्या ही की जा सकती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि पारस्परिक तर्कवाद और नैयायिक खण्डन मण्डन विकसित बौद्ध दर्शन की विशेषताएँ हैं तो प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन केवल नैतिक आदर्शवाद की भित्ति पर आश्रित है और उसी की मूल संवेदना पर उसकी प्रत्येक विचार-दिशा अवलम्बित है। भगवान् बुद्ध ने न तो किसी दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन ही किया और न किसी का समर्थन ही, उन्होंने तो केवल सांसारिक वस्तुओं में वास्तविक सत्य के द्वार का उद्घाटन मात्र किया, सभी अनात्म पदार्थों में 'अहं' और 'मम' की धारणा को मिटाने का ही प्रयत्न किया, विशुद्धि के अनुत्तर मार्ग का स्थापन कर उन महात्मा ने दुःख निरोध का मार्ग ही सिखाया। 'क्या हम दुःखी हैं' इस व्यापक प्रश्न को लेकर 'हम सकारण ही दुःखी हैं' और इस प्रकार दुःख से विमुक्त हो सकते हैं, इस प्रकार से हेतु-प्रत्यय पर व्यवस्थित आश्वासन-वाक्य से विश्व मात्र के जीवों को उन महात्मा ने समुत्तेजित किया। भगवान् के इस विमल नैतिक आदर्शवाद पर व्यवस्थित मन्तव्य को पहले देखकर ही किस प्रकार इसके विभिन्न सिद्धान्त (यथा

प्रतीत्य समुत्पाद और अनात्मवाद) अनेक उत्तरकालीन सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों के आधार बनाए गए, ये सब उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन के विकास से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं। अभी तो हम यहां केवल यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि अन्ततः इन सब कठिनाइयों के बीच सम्यक् सम्बुद्ध का स्वयं का तात्पर्य क्या है ? तथागत ही स्वयं किस वाद के मानने वाले हैं ? उनकी जीवन के प्रति क्या दृष्टि है ? उन महाश्रमण का अपना मत क्या है ? यही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है और इसी की गवेषणा में हम इस प्रकरण के प्रथम भाग में प्रवृत्त होंगे।

२—प्राग्बौद्धकालीन भारतीअ दर्शन की अवस्था और सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव

प्रारम्भ

उरुविल्व (उरुवेला) की पवित्र भूमि में, रात्रि के अन्तिम याम में, जब अविद्या के आवरण को फोड़कर सर्वप्रथम सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव हुआ और ज्ञान के आलोक की वह अपूर्व फूट हुई, जिससे समस्त भारतीय दर्शनाकाश आलोकित हो उठा, तो ऋषियों की युग-युगों की साधनाएँ फलीभूत हो उठीं। परन्तु उसके पूर्व भी भारतीय दर्शनाकाश सर्वथा तिमिराच्छन्न नहीं था। ज्ञान की उषस् पहले भी चमकी थी, और दीर्घकाल तक अपने परिधान को खोलकर ! अमृत की दुन्दुभी पहले भी वजी थी ! ज्ञान की धारा उन्मुक्त रूप से पहले भी बही थी ! सत्य का मुख सर्वथा ढँका हुआ ही नहीं था, बल्कि सत्य द्रष्टा ऋषियों ने पहले भी उसका साक्षात्कार किया था, 'जिस प्रकार खुली हुई आंख दिन में आकाश को देखती है'[१]। मन्त्रों, ब्राह्मणों और प्राचीनतम उपनिषदों में सन्निहित वैदिक परम्परा का स्वरूप बहुत कुछ पहले ही सुनिश्चित हो चुका था, और सत्यान्वेषी गोतम शाक्य उससे अपरिचित न थे। गोतम बुद्ध के सामने सहस्रों वर्षों की दार्शनिक साधना थी जिसका उन्होंने परिपूर्ण उपयोग किया था। 'वेदज्ञ' (पालि, 'वेदगू'[२]) और 'ऋषि' (पालि, 'इसि'[३]) के नामों से तो वे त्रिपिटक में अनेक बार पुकारे ही गए हैं और 'त्रैविद्य' (पालि 'तेविज्ज') अथवा तीनों विद्याओं के ज्ञाता होने को उन्होंने अपने वास्तविक स्वरूप का परिचायक माना है और उसे नया अर्थ दिया है। "वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहता है

(१) दिवीव च पुराततम्। ऋग्वेद।
(२-३) देखिए सुत्तनिपात ५।१-१६

'श्रमण गौतम त्रैविद्य है' तो ऐसा कहते हुए वह मेरे बारे में यथार्थवादी ही होगा"[१]। जिन पूर्व ऋषियों ने अथवा जिन असंख्य पूर्व 'बुद्धों' ने (क्योंकि 'बुद्ध' एक उपपद है, नाम नहीं)[२] सत्य के दर्शन किए, उन्हीं के मार्ग से शाक्यमुनि भी गए। उन्होंने भी सत्य के दर्शन वैसे ही किए, जैसे उनके पूर्वगामी अनेक मार्ग-निर्माताओं ने। भगवान् ने स्वयं कहा है। 'राहुल! जिन किन्हीं श्रमणों या ब्राह्मणों ने अतीत काल में काय-कर्म, वचन-कर्म और मन कर्म परिशोधित किए उन सब ने इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म, वचन-कर्म और मनकर्म परिशोधित किए जैसे मैंने। राहुल! जो कोई भी श्रमण या ब्राह्मण इस समय काय कर्म, वचन कर्म और मन-कर्म परिशोधित करते हैं, वे सब इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण कर.......... राहुल! आगे भी जो श्रमण या ब्राह्मण कायकर्म, वचन-कर्म और मन-कर्म परिशोधित करेंगे वे भी सब इसी प्रकार प्रत्यवेक्षण कर काय-कर्म, वचन-कर्म और मन-कर्म परिशोधित करेंगे जिस प्रकार मैंने किये हैं।'[३] अतः तथागत भी इस लोक में वैसे ही आए जैसे और अभिसम्बोधि प्राप्त पूर्व महात्मा गण और उनकी जीवनचर्या का भी प्रायः वही रूप रहा जो उनके पूर्वज तपोधन ऋषियों का था। तभी तो वह कपिलवस्तु में सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के बाद भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए इस कृत्य के लिए अपने पिता के द्वारा लज्जित किए जाने पर उनके सामने सिंहनाद कर सके 'हमारे वंश का यही आचार है[४]। लक्ष्य करने की बात है कि औपनिषद-युगीन तपस्वियों को छोड़ कर जो पुत्र, सम्पत्ति आदि सभी ईषणाओं को छोड़कर केवल आत्म-लोक के इच्छुक और विशुद्ध भिक्षाचर्या से पेट रूप गुहा को भरने वाले थे[५], यह वंश और किसका हो सकता था, जिसके वंशधर होने का शाक्यमुनि गोतम गर्व करते थे? वस्तुतः यह वही 'आर्यवंश' था जिसमें पूर्वगामी ऋषियों ने जन्म लिया था और जिनके उत्तराधिकारी भगवान् बुद्ध थे। वैसे भी अपने सरल-हृदय पिता की इस आशंका को जो उन्होंने शाक्यकुमार के जन्म के अवसर पर ही की

(१) तेविज्ज वच्छगोत-सुत्त (मज्झिम० २।३।१)
(२) देखिए पीछे पृष्ठ, १९८ पद-संकेत १।
(३) अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।१)
(४) जातक निदान ४; देखिए महावग्ग-अट्ठकथा भी।
(५) ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति। बृहदारण्यक० ३।५।१

थी कि 'क्या यह आर्य-मार्ग से तो जायगा'[1] ? भगवान् बुद्ध ने अपने किसी भी कृत्य से सावकाश नहीं बनाया और 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्'[2] का गीता-वचन जितना किसी अन्य भारतीय महापुरुष के लिए सत्य हो सकता है, उससे किसी भी अंश में कम वह 'आर्य-विनय' और 'आर्य-धर्म' के समुपदेष्टा सम्यक् सम्बुद्ध के लिए नहीं है। 'मैं विनाश करने के लिये नहीं बल्कि पूर्ण करने के लिये आया हूँ' यह उक्ति ईसा के समान बुद्ध के लिये भी बिलकुल ठीक है। यह ठीक है कि अपने ही पुरुषार्थ और कठिन वीर्य से प्राप्त किए अभिसम्बोधि-पद और तज्जनित विमुक्ति-सुख के उल्लास में और उसी के अनुत्तर रूप का प्रख्यापन करने के लिए, न कि किसी की निन्दा करने के लिए, भगवान् ने ऐसा उन्मुक्त निर्घोष किया था 'भिक्षुओ! यह मुझे पहले न सुने गए धर्मों में आँख उत्पन्न हुई, ज्ञान उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ......तब मैंने भिक्षुओ! यह दावा किया कि देवों सहित, मार सहित, ब्रह्मा सहित, सभी लोक में, देव-मनुष्यों सहित, श्रमण-ब्राह्मणों सहित सारे प्राणियों में, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को मैंने जान लिया.....मैंने ज्ञान को देखा। मेरी विमुक्ति अचल है'[3]। इतना ही नहीं, शास्ता का यह भी सिंहनाद हुआ 'अविद्या में पड़ी, अविद्या रूपी अण्डे से जकड़ी इस प्रजा में मैं अकेला ही अविद्या रूपी अण्डे के खोल को फोड़कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण! लोक में ज्येष्ठ हूँ, मैं ही श्रेष्ठ हूँ'[4]। पूर्व ब्रह्मवादियों की परम्परा के अनुरूप ही अहंकार का सर्वथा निःशेष करके भगवान् ऐसा भी तो कह सके 'मेरा कोई आचार्य नहीं है, मेरे कोई समान नहीं है'[5]। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पूर्व के साधकों के प्रति अपने ऋण को ही उन्होंने अस्वीकार किया हो। प्रत्युत आलार कालाम के प्रति उन्होंने कहा ही था कि 'वह मेरा आचार्य था, और मैं उसका शिष्य'। वैसे भी अपने महाभिनिष्क्रमण के बाद उस तरुण काले केशों वाले शाक्यकुमार ने उन-उन आश्रमों में जाकर उस सभी पूर्व सञ्चित दार्शनिक सम्पत्ति और साधनातत्व

(१) आर्येण मार्गेण तु यास्यतीति चिन्ताविधेयं हृदयं चकार। बुद्ध चरित १।७९
(२) गीता० ४।१५
(३) धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त (संयुत्त निकाय)
(४) वेरंजक-ब्राह्मण सुत्त (अंगुत्तर-निकाय); विनय-पिटक—पाराजिका १; मिलाइये अच्छरियधम्मसुत्तन्त (मज्झिम० ३।३।३)
(५) अरिय परियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६)

को प्राप्त किया था जो पूर्व विचारकों और साधकों की उनके लिए दी हुई स्वाभाविक विरासत थी। उद्दकरामपुत्त और आलार कालाम से उन्होंने सांख्यादि दर्शनों के सम्बन्ध में और योगादि क्रियाओं के विषय में बहुत कुछ सीखा था यद्यपि उससे उनका अन्तिम शान्ति विधान नहीं हो सका था और इसीलिए उस 'किंकुसलगवेसी' (क्या कुशल है, इसकी गवेषणा करने वाले) ने उन सब को 'अमार्ग' कहकर पुकारा था। उसके लिये वे आश्वासनप्रद ब्रह्मचर्य सिद्ध नहीं हुए थे। भगवान् ने जिस सत्य की खोज की थी, उसका आभास पूर्व के ऋषियों को भी था। पहले के मनीषियों के उठ जाने एवं उनके शासन के लोप हो जाने के परिणामस्वरूप जो मार्ग छिप चुका था, उसी को वास्तव में बुद्ध ने ढूंढ़ निकाला था। ज्ञान, उपशम और सम्बोधि की अधिगति के लिए देव और मनुष्यों पर अनुकम्पा कर जिस 'केवल परिपूर्ण ब्रह्मचर्य' को भगवान् ने प्रकाशित किया, वह वास्तव में वही पुराण, शाश्वत और सनातन धर्म था, वही प्राचीन धर्म-नगर था, जो उस युग में अधर्म और अनाचार के सैकत पटलों की तह में विलुप्त हो चुका था और एक चतुर उत्खननकर्ता की तरह जिसका उद्धार और विशुद्धीकरण बुद्ध भगवान् ने किया था।[१] इस प्रकार प्राग्बौद्धकालीन विचार-प्रणाली पर विचार करते समय हम विचार के क्रमशः ऐसे दो ऐतिहासिक विकास के स्तरों को पाते हैं, जिनमें एक तो अपने विकास और उत्साह की परम्परा को उस समय प्रायः ठण्डा कर चुका था एवं जो उस समय के लिए एक प्राचीन वस्तु थी और जीवन से जिसका सम्बन्ध छूट चुका था। ब्राह्मण धम्मिय-सुत्त में हम इस सुदूर, पुरातनतम ब्राह्मण-युग की सूचना पाते हैं जिसमें ब्राह्मण-संस्कृति का एक सुन्दर, कल्याणकारी चित्र उपस्थित करते हुए एवं उसकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् बुद्ध दिखाये गये हैं। दूसरा स्तर वह था जो स्वयं बुद्ध के समय में अथवा उनके कुछ पहले से नाना श्रमणों, ब्राह्मणों और परिव्राजकों के रूप में प्रचलित था और जिसकी उच्छृङ्खलता और विविधस्वरूपता का कुछ उल्लेख हमें पालि त्रिपिटक में मिलता है। इनमें से द्वितीय के परिशोध के द्वारा भगवान् ने प्रथम का पुनर्निर्माण किया। प्रथम का स्वरूप हमारे लिए अधिकांशतः वेद के मन्त्र और ब्राह्मण भागों में निहित है और दूसरे की उपलब्धि हमें विशेषतः पालि त्रिपिटक से ही होती है, यद्यपि यह भी ठीक है कि प्रथम के स्वरूप की कुछ झलक बौद्ध दृष्टिकोण से त्रिपिटक में भी उपलब्ध है, जिस पर कि यथास्थान

(१) देखिये नगर-सुत्त (संयुत्त-निकाय)।

हम विचार करेंगे । विशेषतः महाभारत में भी उस विप्लवमयी दार्शनिक अवस्था के कुछ आभास हम पाते हैं जिसका विशेष विवरण बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है और जो बुद्ध के समय की एक प्रधान विशेषता थी । हम यहाँ क्रमशः इन दोनों विचार की अवस्थाओं का संक्षिप्त निर्देश करेंगे, विशेषतः तो दूसरी का ही क्योंकि उपनिषदों के साथ बौद्ध दर्शन के अध्ययन को हम अन्यत्र भी अपना विषय बनाएँगे, किन्तु केवल विषय की सम्पूर्णता के लिए बुद्ध-पूर्व वैदिक प्रज्ञान का यहाँ भी कुछ विचार अपेक्षित है, यद्यपि बौद्ध दर्शन के साथ उसके सम्बन्ध को तो हम यहां नहीं ले सकेंगे ।

बुद्ध-पूर्व वैदिक प्रज्ञान और बुद्ध-शासन के लिए सामान्य रूप से उसकी देन

वैदिक दर्शन के विकास की पूर्वतम अवस्था का परिचय हम वेद के संहिता भाग में अथवा ठीक कहें तो ऋग्वेद की ऋचाओं में पाते हैं । यह युग बुद्ध के युग के लिए अत्यन्त प्राचीन था, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु इसकी परम्परा जैसे कि आजकल भी कुछ-न-कुछ चल ही रही है, बुद्ध के समय में भी अपना प्रवाह बनाए हुए थी । वेद के मन्त्रों का स्वाध्याय, प्रवचन और भाषण चलता ही था, जैसा कि विशेषतः द्रोण अम्बट्ठ, वाशिष्ठ और बावरि के शिष्यों आदि के साथ हुए भगवान् के संवादों से स्पष्ट प्रकट होता है । 'द्रोण ! जो तेरे पूर्व के ऋषि मन्त्रों के कर्ता, मन्त्रों के प्रवक्ता, जिनके पुराने मन्त्रपद को इस समय ब्राह्मण गीत के अनुसार गान करते हैं, प्रोक्त के अनुसार प्रवचन करते हैं, भाषित के अनुसार भाषण करते हैं, स्वाध्यायित के अनुसार स्वाध्याय करते हैं, वाचित के अनुसार वाचन करते हैं, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज वशिष्ठ, काश्यप, भृगु'[१] । इस बुद्ध-वचन में ऋग्वेद में की गई देवताओं की उपस्तुतियों और आह्वानों की ओर भी कई बार संकेत किया गया है । 'हम इन्द्र को आह्वान करते हैं, ईशान को आह्वान करते हैं, प्रजापति को आह्वान करते हैं, ब्रह्मा को आह्वान करते हैं, महर्द्धि को आह्वान करते हैं, यम को आह्वान करते हैं'[२] ऐसा कहने वाले ब्राह्मण श्रेष्ठ भी उस समय थे ही । फिर चाहे आचरण की सभ्यता उनमें कदाचित् न भी रही हो वेद की प्रामाणिकता और महत्ता के विषय में बुद्ध के दृष्टिकोण को जानने के लिए जिज्ञासु जन आते ही थे ।

(१) अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १।३); मिलाइये तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १।१३) भी।
(२) तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १।१३)

'हे गौतम ! जो यह ब्राह्मणों का पुराना मन्त्रपद (वेद) है जिसमें ब्राह्मण पूर्णरूप से निष्ठा रखते हैं 'यही सत्य है और सब झूठा' इस विषय में आप गौतम क्या कहते हैं'[१] ? जिस पूर्वतम वैदिक युग अर्थात् ऋग्वेदीय युग की बात हम इस समय कह रहे हैं सम्भवतः उसी की प्रभातकालीन शुभ्रता, नैसर्गिक सौरभता और यज्ञयागादिमय जटिल विधानों से रहित निष्कपट पवित्रता की अनुस्मृति ये बुद्ध-वचन दिला रहे हैं जो बुद्ध ने पुराने ब्राह्मणों और ऋषियों के गुणों को उच्चरित करते हुए कहे थे 'पुराने ऋषि संयमी और तपस्वी होते थे। पाँच कामगुणों को छोड़कर वे अपना अर्थ (ज्ञान-ध्यान) करते थे। उस समय ब्राह्मणों के पास पशु न थे, न हिरण्य, न अनाज। वे स्वाध्याय रूपी धन धान्य वाले थे, वे ब्रह्मनिधि को पालन करते थे। नाना रंग के वस्त्रों, शयन और आवसथों (अतिथिशालाओं) से समृद्ध जानपद उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे। ब्राह्मण अवध्य, अजेय और धर्म से रक्षित थे, कुल-द्वारों पर उन्हें कभी कोई नहीं रोकता था। वे तण्डुल, शयन, वस्त्र, घी तेल को मांगकर धर्म के साथ निकालकर तब यज्ञ करते थे। यज्ञ उपस्थित होने पर वे गाय को नहीं मारते थे। जैसे माता, पिता, भ्राता और दूसरे बन्धु हैं वैसे ही गौएँ हमारी परम मित्र हैं जिनमें औषध उत्पन्न होते हैं। वे अन्नदा, बलदा, वर्णदा और सुखदा हैं, इस बात को जानकर वे गाय को नहीं मारते थे'[२]। इसी प्राचीन विशुद्ध याज्ञिक पद्धति के सम्बन्ध में पूर्वकाल में एक राजा (महाविजित) के द्वारा की गई यज्ञ का वर्णन करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा था, 'ब्राह्मण। उस यज्ञ में गाएँ नहीं मारी गईं, बकरे-भेडें नहीं मारी गईं, मुर्गे सुअर नहीं काटे गए, न नाना प्रकार के प्राणियों का ही हनन हुआ। न यूप के लिए वृक्ष काटे गए, न परहिंसा के लिए दर्भ काटे गए। जो भी उसके दास, प्रेष्य, कर्मकर थे उन्होंने भी दण्डतर्जित, भयतर्जित हो, अश्रुमुख, रोते हुए सेवा नहीं की। जिन्होंने भी चाहा उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा उन्होंने नहीं किया। जो चाहा उसे किया, जो नहीं चाहा उसे नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, और गुड़ से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ[३]'। हम जानते हैं कि ऋग्वेदीय युग से लेकर ब्राह्मण-काल तक याज्ञिक विधान में वह सरलता नहीं रही थी और सच बात तो यह है कि

(१) चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)
(२) ब्राह्मण धम्मिय-सुत्त (सुत्त-निपात)
(३) कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १।५)

द्रव्य-यज्ञ भी ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद के बाद ही प्रचलित हुए, प्रारम्भ में तो कदाचित् उपस्तुतियों के द्वारा ही देवताओं को अपनी श्रद्धा अर्पित की गई थी। ब्राह्मण-युग में जो याज्ञिक प्रथा और उसकी विधानात्मक जटिलता चल पड़ी उसके विषय में अर्थात् परमार्थ की प्राप्ति में उसका क्या उपयोग है, इस प्रश्न को लेकर भगवान् से बहुत कुछ पूछा गया था, और विशेषतः अधिक विचारशील ब्राह्मणों के द्वारा ही यह प्रश्न किया गया । इस प्रकार महान् वेदज्ञ बावरि का शिष्य पुण्णक बार-बार व्यथित होकर जिज्ञासा पूर्वक भगवान् से पूछता है 'किस कारण से ऋषियों, मनुष्यों, क्षत्रियों, और ब्राह्मणों ने यहां लोक में देवताओं के लिए पृथक् पृथक् यज्ञ कल्पित किए, यह मैं पूछता हूँ, भगवान् बतलावें[1]' । पुनः 'जिन किन्हीं ने यज्ञ कल्पित किया भगवान् क्या वे यज्ञ पथ में अप्रमादी थे ? हे मार्ष क्या वे जन्म जरा को पार हुए ? मैं तुम्हें यह पूछता हूँ । मुझे यह बतलाओं[2]' ।' अन्त में तो 'हे मार्ष ! यदि यज्ञ के योग से, यज्ञों के द्वारा जन्म-जरा को पार नहीं हुए, तो हे मार्ष ? फिर लोक में कौन देव-मनुष्य जन्म जरा को पार हुए, तुम्हें पूछता हूँ, हे भगवान् ! इसे मुझे बतलाओ'[3] । पुण्णक के इस प्रश्न में ब्राह्मण-युगीन प्रवृत्तियों से औपनिषद युगीन प्रवृत्तियों की ओर झुकाव का सारा तत्त्व निहित है, किन्तु अभी तो हमें केवल इतना ही कहना है कि ब्राह्मण-युग में सामान्यतः सोम को पीकर ही अमरता प्राप्त करने वाले और ब्रह्मा और पितरों की सलोकता को ही परम-पुरुषार्थ मानने वाले कर्मकाण्डियों की परम्परा बुद्ध के समय में भी चली आ रही थी । तभी तो बार-बार ब्राह्मण आकर उनसे ब्रह्मा की सलोकता का मार्ग पूछते थे और भारद्वाज, काश्यप बन्धु (उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और जटिल काश्यप) आदि ब्राह्मण किस प्रकार अग्नि परिचरण और अग्नि हवन की परिपाटी को उसकी समग्र जटिलता के साथ कायम रक्खे हुए थे, यह सब त्रिपिटक के वर्णनों से स्पष्ट प्रकट है । किन्तु एक ओर तो यह याज्ञिक विधान, बल्कि उसका एक अत्यन्त विकृत रूप और दूसरी ओर 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा:' के रूप में उपनिषदों की विरोध-वाणी जैसे लक्षण वैदिक ज्ञान के विकास में उपस्थित हुए उसी प्रकार इन दोनों की परम्पराएँ त्रिपिटक में भी हमारे लिए सुरक्षित हैं और यह कहना अपेक्षित है कि प्रथम परम्परा का जब कि एक अत्यन्त विकृत और अनर्थकारी रूप ही तत्कालीन सामाजिक जीवन की नस में

(१) पुण्यकमाणव-पुच्छा (सुत्त-निपात)
(२,३) उपर्युक्त के समान।

ओत प्रोत हुआ दीखता है, औपनिषद ज्ञानवाद के विषय में वैसा नहीं कहा जा सकता। उससे बुद्धकालीन सामाजिक जीवन किसी भी प्रकार व्यापक रूप से स्पृष्ट था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। याज्ञिक कर्मकाण्ड सम्बन्धी वर्णन त्रिपिटक में भरे पड़े हैं जो उस समय उसकी जीवित परम्परा को सूचित करते हैं। औपनिषद ज्ञानवाद का प्रतिनिधित्व करते कुछ-कुछ बुद्धकालीन परिव्राजकों को हम अवश्य देखते हैं जिनकी जन्म, मरण और आत्मा सम्बन्धी प्रश्नों के विवेचन में अत्यन्त रुचि थी और जिनके भगवान् के साथ अनेक संवाद हुए थे। वैदिक प्रज्ञान के अन्तिम विकास स्वरूप उपनिषदों की मूल भावना जो आत्मज्ञान पर अर्थात् 'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' की भावना पर आधारित है और जिसके अनुसार आत्मा ही मनुष्य के लिये सबसे अधिक प्रिय और विज्ञेय वस्तु है तथा आत्म साक्षात्कार ही परम पुरुषार्थ है, सामाजिक जीवन में मनुष्यों को प्रभावित नहीं कर रही थी। उसकी जो याज्ञिक विधान की ओर विरोधमयी प्रवृत्ति थी वह भी तत्कालीन साधारण जनता की प्रवृत्ति नहीं थी। सम्यक् सम्बुद्ध वस्तुतः ज्ञानियों की उसी दृढ़ किन्तु अप्रचलित परम्परा को आगे बढ़ाने वाले और अधिक प्रभावशाली बनाने वाले हुए। भगवान् बुद्ध जब याज्ञिक ब्राह्मण भारद्वाजको उसके जातिवाद सम्बन्धी अहंभाव पर फटकारते हुए कहते हैं 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ. . . .नीच कुल का भी पुरुष धृतिमान्, जानकार और पापरहित मुनि होता है। जो सत्य से दान, दमन युक्त, वेद के अन्त को पहुँचा (वेदन्तगू) है और जिसने ब्रह्मचर्य पूरा किया है, उसे यज्ञ में प्राप्त, यज्ञ-उपनीत कहो'[१] तो वे औपनिषद परम्परा का ही प्रवर्तन करते दिखाई पड़ते हैं। सत्यकाम जाबाल के प्रति विद्या-प्राप्ति के सम्बन्ध में ऐसी ही उदारता वहां दिखाई गई थी।[२] परन्तु वर्ण-भेद के विरुद्ध यह प्रवृत्ति श्रौत परम्परा में लोकप्रिय नहीं हुई थी। वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण खंडन कर समाज को मानवतावादी आधार पर रचने का प्रयत्न सर्व-प्रथम सम्यक् सम्बुद्ध ने ही किया। 'वेदन्तगु' शब्द तो निश्चय ही वेद के अन्त को पहुँचने वाले औपनिषद ऋषियों की ओर ही संकेत करता है, ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि स्वयं ब्राह्मणों के द्वारा यह उपपद शाक्यमुनि के लिए कई बार प्रयुक्त किया गया था। फिर 'ब्राह्मण ! लकड़ी जलाकर शुद्धि मत मानो, यह बाहरी चीज़ है। कुशल लोग उससे शुद्धि नहीं बतलाते जो कि बाहर

(१) सुन्दरिक भारद्वाज-सुत्त (सुत्त-निपात)
(२) देखिये छान्दोग्य० ४।३

से भीतर की शुद्धि है। ब्राह्मण ! मैं दारुदाह छोड़कर भीतर ही ज्योति जलाता हूँ। नित्य आग वाला, नित्य एकान्त चित्त वाला हो मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ। ब्राह्मण ! यह तेरा अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुंआ है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण ! शील रूपी तीर्थ (घाट) वाला, जनों सेप्रसन्तशंसित निर्मल धर्म ह्रद है जिसमें कि 'वेदगू' (वेदज्ञ) पुरुष नहाकर बिना भींगे गात्र के पार उतरते हैं। ब्रह्म (श्रेष्ठ) प्राप्ति सत्य, धर्म, संयम, ब्रह्मचर्य पर आश्रित है। सो तू ऐसे हवन कियों को नमस्कार कर, उनको मैं पुरुष दम्य सारथी कहता हूँ[१]'। जो उपनिषदों की प्रवृत्तियों को जानते हैं वे समझ सकते हैं कि ये 'कुशल' जन, उपर्युक्त प्रकार से 'हवन किए' अनुपम पुरुष, 'दम्य सारथी' पुरुष ज्ञान-यज्ञ करने वाले औपनिषद मनीषियों को छोड़कर और कौन हो सकते हैं, जिन्होंने अनेक बार समान भावनाओं का प्रकाशन किया है। इस प्रकार बुद्ध-वचनों में अनेक प्रकार के संकेत हैं जिनमें वे ऐसे मनीषियों की विचार परस्परा का प्रख्यापन करते दृष्टि-गोचर होते हैं जो उपनिषदों के मन्तव्यों से अधिक समता रखती है, यद्यपि उस पर बुद्ध के अनुभव और व्यक्तित्व की भी अपनी अमिट मौलिक छाप है। इस सब समता और इसके पारस्परिक सम्बन्ध को हम अलग अपने अध्ययन का विषय बनाएँगे। अतः यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि बुद्ध के समय में, चाहे अदृष्ट रूप से ही हो, उपनिषदों के ज्ञान की परम्परा भारतीय वातावरण में प्रस्तुत अवश्य थी। कूटदन्त की इस उक्ति में कि 'मैंने सुना है कि श्रमण गोतम सोलह परिष्कारों वाली त्रिविध यज्ञ-सम्पदा को जानता है[२]' यह ध्वनित है कि साधारण जनता उस समय यज्ञों की आध्यात्मिक व्याख्या में रुचि रखती थी जिसका कि प्रथम प्रवर्तन शायद उपनिषदों के युग में हुआ और भगवान् ने जिसे अत्यन्त ही वीर्यवती वाणी में आगे बढ़ाया और गीताकार ने भी काफी बाद चलकर जिसका एक अत्यन्त सौष्ठवपूर्ण ढंग से समन्वय-विधान किया। वैसे शास्त्रीय दृष्टि से कुछ प्राचीनतम उपनिषदें उस समय लोगों को अवश्य ज्ञात थीं, जैसे कि वाशिष्ठ की इस उक्ति में हम देखते हैं 'हे गौतम ! मार्ग अमार्ग के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य

(१) सुन्दरिकभारद्वाज-सुत्त (संयुत्त-निकाय)
(२) कूटदत्त-सुत्त (दीघ० १।५)

ब्राह्मण तथा अन्य-अन्य ब्राह्मण नाना मार्ग बतलाते हैं, किन्तु फिर भी वे (वैसा करने वाले को) ब्रह्मा की सलोकता को पहुँचाते हैं। जैसे हे गौतम ! ग्राम या निगम के अ-दूर में बहुत से नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राम वहीं जाने वाले होते हैं। ऐसे ही हे गौतम ! ब्राह्मण... नाना मार्ग बतलाते हैं.... ब्रह्मा की सलोकता को ही पहुँचाते हैं"[1] । पूर्वकालीन उपनिषदों को छोड़कर जब हम श्रौत परम्परा की व्यवस्थित दर्शन-प्रणालियों पर आते हैं तो प्रथम न्याय की परम्परा का प्रवर्तन तो हम उपनिषदों में निर्दिष्ट परिषदों में ही हुआ पाते हैं, यद्यपि इसको व्यवस्थित स्वरूप तो कदाचित् बहुत बाद मिला, बुद्ध के बाद, फिर भी बुद्धकालीन भारत में अनेक तार्किक (पालि तक्की) और मीमांसक (पालि-वीमंसक) थे, जिनकी वाद-परम्परा अत्यन्त प्रचण्ड थी जैसा कि हम अभी देखेंगे और जो निग्रह-स्थान जैसी न्याय की सूक्ष्मताओं से भली भांति परिचित थे। अनेक श्रमण और ब्राह्मण तो निश्चय ही अत्यन्त 'वादसील' (वादशील) थे। सांख्य और बुद्ध-दर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर विद्वानों में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं और कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने तो इसको एक अतिरञ्जित स्वरूप भी प्रदान कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि उपनिषत्काल में ही उक्त दर्शन का प्रादुर्भाव हो चुका था, यद्यपि व्यवस्थित स्वरूप इसे भी बहुत बाद में मिला। अतः भगवान् बुद्ध भी इसके प्रारम्भिक स्वरूप से अवश्य परिचित थे, यद्यपि उनके सिद्धान्त सांख्य दर्शन से उधार लिये हुए नहीं हैं। शाक्य गोतम के गुरु आलार कालाम जिनके पास उन्होंने काफी समय तक निवास किया था, सांख्याचार्य थे। बुद्ध के समय में प्रचलित विभिन्न दृष्टियों में से एक दृष्टि सांख्यतत्त्व से विचित्र समता रखती है, जिस पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे। विशेष रूप से सांख्य और बौद्ध दर्शनों के पारस्परिक ऐतिहासिक और तात्त्विक सम्बन्धों पर हम अन्यत्र विचार करेंगे, इसलिये यहाँ पुनरुक्ति करना इष्ट न होगा। योग दर्शन का प्रारम्भ तो हम ऋग्वेद में ही हुआ पाते हैं, किन्तु भगवान् बुद्ध के समय में भी अनेक प्रकार की साधनाएँ और यौगिक क्रियायें प्रचलित थीं, जिनका आधार विशेषतः 'अत्तकिलमथानुयोगो' की निकृष्ट और हीन कोटि ही था और जिसमें, जैसा कि स्वयं भगवान पतञ्जलि के समय में भी, दिव्य शक्तियों अथवा विभूतियों के प्रदर्शन पर अधिक जोर दिया जाता था जिसके प्रति सम्यक् सम्बुद्ध की प्रतिक्रिया भी प्रायः वैसी ही थी जैसी भगवान् पतञ्जलि की, यद्यपि वर्तमान योग-सूत्रों का 'विभूति पाद' काफी

(१) तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १।१३)

लम्बा है। इनके भी तात्त्विक या ऐतिहासिक सम्बन्ध के विषय में हम यहां विशेष नहीं कह सकते। सामान्यतः यही षड्दर्शनों के विषय में हम कह सकते हैं कि इनमें से अधिकांश में बौद्ध विचारों का खण्डन उपलब्ध होने के कारण इन दर्शनों का वर्तमान व्यवस्थित स्वरूप प्राग्बौद्धकालीन न होकर बुद्ध के काफी पीछे का है, फिर चाहे उनकी प्रारम्भिक परम्परा उनसे कितने ही पहले की क्यों न हो। कुछ भी हो, जहाँ तक बुद्ध के विचार का अपने पूर्ववर्ती विचार से प्रभावित होने का सवाल है, षड्दर्शनों का अधिक महत्त्व नहीं माना जा सकता। वे अधिकांशतः बुद्ध-काल के परवर्ती हैं। रही भक्ति दर्शन की बात। उसकी प्राचीनता को प्रख्यापित करने के लिए जितने शिलालेखों आदि के प्रमाण हैं वे उसे ईस्वी शताब्दी से तो बहुत पूर्व ले जाते हैं, किन्तु बुद्ध से भी बहुत पूर्व ले जाते हों, ऐसा कहना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं है। हाँ, वरुण की ऋग्वेदीय उपस्तुतियों को देखकर हम चाहे जो कुछ भी निष्कर्ष निकाल सकें और वैसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो मनुष्य की विवशता को प्रख्यापित करते हुए समर्थ रामदास के अनुसार 'गमूं पन्थ आनन्त या राघवाचा' (मैं राघव के अनन्त मार्ग का गमन करता हूँ) कह कर एक कारुणिक सर्वशक्तिमान् शक्ति के प्रति मनुष्य के आत्म-समर्पण रूप भक्ति को अनादि और अनन्त भी कह सकें, किन्तु वैसे किसी प्राग्बौद्धकालीन भक्ति दर्शन का भागवत या वासुदेव मत आदि के रूप में, जिसमें किसी ऐतिहासिक या पौराणिक अवतारी पुरुष की भक्ति की गई हो, भगवान् बुद्ध की विचार-प्रणाली पर कोई विशेष प्रभाव उपलक्षित हो, ऐसा सम्भवतः नहीं कहा जा सकता, यद्यपि यह ठीक है कि 'भक्तिमान्' आदि कुछ शब्दों का त्रिपिटक में प्रयोग होने के कारण कुछ विद्वानों ने यहाँ तक निष्कर्ष निकाल डाला है कि बिना भक्ति दर्शन के पूर्व विकास को माने हम बौद्ध दर्शन के उद्भव की संगति ही नहीं लगा सकते। यह कहना बुद्ध के विचार को सम्मुख रखते हुए सम्भवतः हमारे लिए शक्य नहीं होगा, हाँ उनके प्रति उनके कुछ समीपतम शिष्यों के उद्गार भक्ति की निष्ठा का परिचय हमें दे सकते हैं और उनमें हमें प्रकृत भक्ति-दर्शन के प्रथम बार भारतीय इतिहास में दर्शन होते हैं। किन्तु इस विषय में अधिक कहना यहां अनपेक्षित होगा। यहाँ हमें यही स्मरण रखना चाहिये कि प्राचीनतम उपनिषदों के बाद जब हम किसी भी दर्शन के सम्बन्ध

में उसके बुद्ध के पूर्वकालीन होने की स्थापना करते हैं तो कुछ सीमित हालतों में ही ठीक होते हुए भी यह काल अधिक लम्बा नहीं हो सकता क्योंकि सूत्र ग्रन्थ वैदिक काल की अन्तिम रचनाएँ हैं। अतः जब हम बुद्ध के पूर्ववर्ती विचार-परम्परा की बात कहते हैं तब हमारा ध्यान क्रमशः संहिता, ब्राह्मण और प्राचीन उपनिषदों की ओर ही जाता है और इनके अतिरिक्त जब हम किसी अन्य दर्शन की बात कहते हैं तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से बुद्ध के काल से काफी बाद ही होते हैं, जैसा हम द्वितीय परिच्छेद में भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास के विवरण में स्पष्ट कर चुके हैं।

बुद्ध-पूर्व और बुद्ध के समकालिक कुछ विचारक

यहां हमें भगवान् बुद्ध के पूर्ववर्ती और कुछ बुद्धयुगीन आचार्यों और विचारकों का भी उल्लेख कर देना चाहिये। प्राचीनतम उपनिषदों के विचारक ऋषि बुद्ध के पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं। इस प्रकार प्रवाहण जैवलि, उद्दालक आरुणि, श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य, सत्यकाम जाबाल और जनक वैदेह आदि औपनैषदिक ऋषि पूर्व-बुद्धकालीन माने जा सकते हैं जिन्होंने किसी न-किसी प्रकार, ज्ञात याअज्ञात रूप से, बुद्ध-पुरुष के निर्माण में योग दिया। जनक वैदेह का उल्लेख 'जातक' में बुद्ध-पूर्व ज्ञानी पुरुष के रूप में हुआ है[1]। महर्षि द्वैपायन व्यास भी 'जातक' के आधार पर बुद्ध-पूर्व माने जा सकते हैं[2]। जड़वादी दर्शन के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति भी पूर्व-बुद्धकालीन हैं, परन्तु उनकी इतिहासवत्ता इतनी स्पष्ट नहीं है। वस्तुतः हमें यहाँ मुख्य रूप से उन छह तैर्थिकों (तेत्थिया) या धर्माचार्यों का उल्लेख करना चाहिये जो बुद्ध-काल में जीवित थे और जिनके सम्प्रदायों की परम्परा का उल्लेख हमें 'मिलिन्द-प्रश्न' अर्थात् प्रथम शताब्दी ईसवी के समय तक मिलता है। इन छह विचारकों का बुद्ध-धर्म के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि ये सब भगवान् बुद्ध के समकालिक थे। इन छहों धर्माचार्यों ने एक बार राजगृह में साथ-साथ वर्षावास किया था जब कि बुद्ध भी वहीं ठहरे हुए थे[3]। प्राचीन जैन ग्रन्थों में भी इनमें से कुछ का उल्लेख मिलता है। इन छह विचारकों के नाम हैं (१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप), (२) मक्खलि गोसाल (मस्करी गोशाल), (३) अजित केस कम्बलि (अजित केश कम्बलि), (४) पकुध कच्चायन (प्रकुध कात्यायन) (५)

(१) देखिये महाजनक-जातक।
(२) देखिये काण्हदीपायन-जातक।
(३) देखिये महासकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७)

संजय बेलट्ठिपुत्त (संजय वेलष्ठिपुत्र) और (६) निगण्ठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र)। इनके विचारों का अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख यहाँ आवश्यक होगा। पूर्ण काश्यप का मत अक्रियावाद कहा जा सकता है। वे पाप-पुण्य के फल को नहीं मानते थे। उनका कहना था, "(कर्म) करते-कराते, छेदन करते-कराते,..... प्राणा मारते, चोरी करते, सेंध लगाते, गांव लूटते, चोरी-बटमारी करते, परस्त्री गमन करते, झूठ बोलते, कोई पाप नहीं किया जाता। छुरे जैसे तेज चक्र द्वारा (काटकर) चाहे इस पृथिवी के प्राणियों का कोई मांस का खलियान, मांस का पुंज क्यों न बना दे, तो (भी) इसके कारण उसको पाप नहीं होगा, पाप का आगम नहीं होगा। दान देने-दिलाने, यज्ञ करने-कराने में कोई पुण्य नहीं है। दान, दम, संयम, सत्य-कथन से न पुण्य है, न पुण्य का आगम"[१]। पूर्ण काश्यप के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत कम है। 'सुमंगल विलासिनी' के अनुसार ये एक दास-पुत्र थे और अवसर पाकर अपने स्वामी के घर से भाग खड़े हुए थे। मार्ग में चोरों ने इनसे कपड़े छीन लिये और नग्न अवस्था में ये एक गांव में पहुँचे। लोगों के पूछने पर इन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा, "मेरा नाम पूर्ण काश्यप बुद्ध है। पूर्ण, इसलिये कि मैंने सारी विद्याओं को पढ़ा है, काश्यप इसलिये कि मैं ब्राह्मण हूँ और बुद्ध इसलिये कि मैंने सारी बुरी इच्छाओं का दमन किया है।" एक बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध-परिनिर्वाण के सोलहवें वर्ष में पूर्ण काश्यप ने कोशल की राजधानी श्रावस्ती के निकट जल-समाधि लेकर प्राण विसर्जन कर दिये। यहां यह कह देना आवश्यक होगा कि बुद्ध-शासन सोलह आने कर्म के नियम पर आश्रित है। 'कर्म प्रतिशरण' होने की वहाँ पुकार है। अतः वह पूर्ण काश्यप के मत से पूर्ण विभिन्न है। मक्खलि गोसाल का नाम जैन साहित्य में भी प्रसिद्ध है। उवासग-दसाओ और भगवतीसूत्र के अनुसार वे पहले भगवान् महावीर के शिष्य थे परन्तु बाद में 'आजीवक' सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो गये। डा० वेणी माधव वाडुआ ने मक्खलि गोसाल के भगवान् महावीर के शिष्य होने में सन्देह प्रकट किया है[२], जो युक्ति युक्त नहीं जान पड़ता। 'सुमंगल विलासिनी' के वर्णनानुसार मक्खलि गोसाल भी एक दास-पुत्र थे और 'गोशाला' में रहने के कारण इनका नाम 'गोशाल' पड़ा था। मक्खलि गोसाल नियतिवादी या दैववादी थे और कर्म करने में विश्वास नहीं रखते थे। वे अकर्मण्यतावादी थे। उनका कहना

(१) सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२)
(२) ए हिस्ट्री ऑव प्री बुद्धिस्टिक फिलॉसफी, अध्याय २१

था, "प्राणी के क्लेश का और उसकी शुद्धि का कोई कारण नहीं है। बिना कारण ही प्राणी क्लेश पाते हैं और बिना कारण ही शुद्ध होते हैं। प्राणी स्वयं अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नहीं कर सकता। उसमें बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पराक्रम नहीं है। सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, परवश हैं, निर्बल, निर्वीर्य, भाग्य और संयोग के फेर में उत्पन्न हो सुख-दु ख: भोगते हैं।......... जैसे सूत की गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पड़ती है, वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़कर, आवागमन में पड़कर, दुःख का अन्त करेंगे।'[१] मक्खलि गोसाल के मत को हम आसानी से अहेतुकवाद भी कह सकते हैं। बुद्ध-धर्म इसके ठीक विपरीत है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' दुःख और दुःख से विमुक्ति की सहेतुक व्याख्या करता है। बुद्ध-धर्म यदृच्छावादी नहीं है। उसके अनुसार मनुष्य अपने कर्म के प्रति उत्तरदायी है, जिसके लिये नियतिवाद अवकाश नहीं देता। बुद्ध-धर्म के अनुसार नियतिवादी कभी दुःख से विमुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अजित केसकम्बलि घोर भौतिकतावादी थे। अजित उनका नाम था और केसकम्बलि उपाधि, जो उन्हें (मनुष्य के) बालों का कम्बल पहनने के कारण मिली थी। उनका कहना था, "न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पुण्य और पाप का अच्छा-बुरा फल है। न माता है, न पिता है, न देवता हैं। लोक में सत्य तक पहुँचे, सत्यारूढ़ श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं। आदमी चार भूतों का बना है। जब वह मरता है तो शरीर की पृथिवी पृथिवी में, पानी-पानी में, आग आग में, वायु वायु में मिल जाते हैं। इन्द्रियाँ आकाश में चली जाती हैं। मृत पुरुष को खाट पर ले जाते हैं। जलाने तक चिन्ह जान पड़ते हैं। फिर हड्डियाँ कबूतर के रंग की सी हो जाती हैं। आहुतियाँ राख रह जाती हैं। 'दान करो' यह मूर्खों का उपदेश है। जो कोई आस्तिकवाद की बात करते हैं, वह उनका कहना तुच्छ है, झूठ है। मूर्ख हों चाहे पंडित, शरीर छोड़ने पर सभी उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं, मरने के बाद कुछ नहीं रहता।"[२] प्रक्रुध कात्यायन भी बुद्ध-काल के एक प्रसिद्ध उपदेष्टा थे। वे अकृततावादी थे। उनके मतानुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख, दुःख और जीवन ये सात वस्तुएँ, अकृत जैसे हैं, अनिर्मित जैसे हैं, वे अबध्य, कूटस्थ और अचल हैं।.......यहाँ न कोई हन्ता है न घातयिता, न सुनने वाला,

---

(१) सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२)

(२) सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२), देखिये अपण्णक-सुत्त (मज्झिम० २।१।१०) तथा सन्दक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।६) भी।

न सुनानेवाला। यदि तीक्ष्ण शस्त्र से भी काट दे तो भी कोई किसी को नहीं मारता। कहने की आवश्यकता नहीं कि अजित केसकम्बलि और पकुध कच्चायन के मत आध्यात्मिक जीवन की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते। भगवान् बुद्ध ने शील, समाधि और प्रज्ञा का उपदेश देकर इन समाज-विरोधी और नीति-विरोधी विचार-धाराओं का समाधान किया। संजय वेलट्ठिपुत्त अनिश्चिततावादी थे। वे किसी बात को निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते थे। "यदि आप पूछें, 'क्या परलोक है?' और यदि मैं जानूं कि परलोक है, तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता और वैसा भी नहीं कहता, मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है'। मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं नहीं है'। परलोक नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।......मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता।" इस प्रकार संजय वेलट्ठिपुत्त पूरे सन्देहवादी थे। भगवान् बुद्ध के समकालिक निगण्ठ नाटपुत्त (निग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) जैन तीर्थंकर भगवान् महावीर ही थे। उनके चातुर्याम संवर का वर्णन पालि त्रिपिटक में मिलता है। चूंकि बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करते समय हम आगे पाँचवें परिच्छेद में भगवान् महावीर की जीवनी और उपदेशों का विवरण देंगे अतः पुनरुक्ति-भय से ऐसा करना यहां उचित न होगा। यहाँ यह स्मरण रखना चाखिये कि उपर्युक्त छहों आचार्य भगवान् बुद्ध से प्रायः आयु में बड़े थे। संयुत्त-निकाय (३।१।१) में उनकी अपेक्षा भगवान् बुद्ध को 'आयु में कम' कहा गया है[१]। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उपर्युक्त आचार्यों के मतों को जिस प्रकार पालि-त्रिपिटक में उद्धृत किया गया है उसमें कहीं कोई पक्षपात भी हो सकता है और यह भी सम्भव है कि कहीं-कहीं उन्हें गलत ढंग से भी उपस्थित किया गया हो, क्योंकि ये विरोधी सिद्धान्त थे। बावेरु-जातक में कहा गया है "सूर्योदय होने पर जिस प्रकार जुगनू लुप्त हो जाते हैं वैसे ही बुद्ध के उत्पन्न होने पर धर्माचार्यों (तैर्थिकों) का लाभ-सत्कार नष्ट हो गया।"

---

(१) अट्ठकथा-साहित्य के आधार पर इन छह तैर्थिक आचार्यों के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अधिक विवरण के लिये देखिये डा० विमलाचरण लाहा द्वारा सम्पादित "बुद्धिस्टिक स्टडीज" में उनका लेख 'सिक्स हैरैटिकल टीचर्स', पृष्ठ ७३-८८

बुद्ध के आविर्भाव काल में और उसके कुछ पूर्व भारतीय विचार की अत्यन्त विप्लवमयी और विचिकित्सापूर्ण अवस्था

महान् विचिकित्सामय युग था विश्व के इतिहास में ईसा के पूर्व छठी शताब्दी ! सर्वत्र ही उस समय मनुष्यों के विचारों में एक दार्शनिक अशान्ति उपलक्षित थी। महान् पुरुषों का भी वह अद्वितीय युग था। जैसे भारत में बुद्ध और महावीर का, वैसे ही यूनान में पाइथागोरस का, ईरान में ज़रथुस्त्र का और चीन में कनफ्यूशस और लाओ-ज़े का इसी युग में आविर्भाव हुआ। महापुरुष जितने एक नवीन परवर्ती युग के निर्माता होते हैं उतने ही एक पूर्ववर्ती युग के वे किसी-न-किसी न रूप में स्वयं निर्माण भी होते हैं। काल और देश की अपेक्षा से रहित जितना एक विश्व-जनीन तत्त्व उनके उपदेशों और कार्यप्रणालियों में रहता है उतना ही देश और काल की सीमा से निबद्ध एक युग-धर्म का तत्त्व भी प्रतिष्ठा भूमि के रूप में उनकी समस्त विचार और कार्यप्रणाली में समाया हुआ रहता है। उन परम कारुणिक शास्ता के द्वारा दिए हुए शील, समाधि और प्रज्ञा सम्बन्धी, कर्म, निर्वाण और आर्य-अष्टांगिक मार्ग सम्बन्धी, 'यह दुःख है, यह दुःख का समुदय है, यह दुःख का निरोध है और यह दुःख-निरोध की ओर ले जाने वाली मध्यमा प्रतिपद् है', इस प्रकार चतुरार्य सम्बन्धी तथा इनमें से ही समुदय और निरोध को वैज्ञानिक रूप से प्रख्यापित करने के लए 'अविद्या के कारण संस्कार, संस्कार के कारण विज्ञान' आदि रूप से प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी तथा इन सबके ऊपर चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पांच इन्द्रिय, पांच बल और सात बोध्यंग[१] आदि सम्बन्धी उपदेश सभी, देश, सभी काल और सभी अवस्थाओं के लिए अमोघ हैं और उन पर आचरण करते हुए सब काल में मनुष्य अपने दुःख-बन्ध को काट सकेंगे। 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा' की वाणी उनके सम्बन्ध में भी भक्ति-साधना की तरह सर्वथा चरितार्थ है। इनका सम्यक् ज्ञान अथवा आचरण हमारे यह जानने की अपेक्षा नहीं रखता कि इनके उपदेष्टा कैसी सामाजिक अथवा दार्शनिक परि-स्थितियों में पैदा हुए थे, किस जाति अथवा गोत्र के वे थे अथवा उनकी चिन्तन-पद्धति अपने पूर्व की चिन्तन-पद्धतियों से कैसे और कहाँ तक प्रभावित हुई थी, क्योंकि जब तक संसार में जन्म, मृत्यु, जरा, रोग, हैरानी, परेशानी आदि रहेंगे

(१) ये ही सब मिलकर 'बोधि पक्षीय धर्म' कहे जाते हैं, जिनका विस्तृत विवरण और विवेचन हम आगे करेंगे।

(और ये कब न रहेंगी ?) तब तक शाक्यमुनि के उपर्युक्त विषय सम्बन्धी विचार विश्व-मानव को मार्ग-दर्शक का काम करते रहेंगे और इस प्रकार उनकी बाणी के 'बहुजनहिताय बहुजन सुखाय' रूप को सत्य प्रमाणित करते रहेंगे। जब तक मनुष्य बाह्य और आन्तरिक पदार्थों में 'मैं' और 'मेरा' की बुद्धि से अन्तिम सन्तुष्टि न पाकर अपनी वास्तविक महिमा के साक्षात्कार की गवेषणा के लिए छटपटाता रहेगा (और यह छटपटाना क्या उसका कभी बन्द होगा ?) तब तक तथागत की वाणी इस धरातल पर सदा सुनी जायगी और उसे समझने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक न होगा कि हम उनके समकालीन व्यक्तियों अथवा सामाजिक या दार्शनिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि को देखते फिरें क्योंकि इनके बिना भी बुद्ध-मार्ग का आचरण किया जा सकता है। शास्ता ने स्वयं धर्म के अभ्यास पर ज़ोर देकर अपनी शरीर पूजा से भिक्षुओं को विरत ही किया है तो फिर अपनी समकालीन परिस्थितियों और पारिपार्श्विक अ-महत्वपूर्ण तथ्यों को ही अत्यधिक पूजा की वे हमें अनुज्ञा किस प्रकार दे सकते हैं ? हमें अथवा भविष्य में आने वाली जनताओं को जिस बात की आवश्यकता है वह तो है धर्मसेनापति सारिपुत्र के समान यह अनुभव करने की 'अल्प या बहुत कहो, अर्थ ही को मुझे बतलाओ। अर्थ से मुझे प्रयोजन है, क्या करोगे बहुत सा व्यंजन लेकर',[१] अथवा महाप्रजापती गोतमी की तरह तथागत के चरणों में पड़कर विलखते हुए यह प्रार्थना करने की 'भन्ते ! अच्छा हो यदि भगवान् संक्षेप से मुझे धर्म का उपदेश करें जिसे भगवान् से सुनकर प्रमाद रहित हो मैं आत्म-संयम कर विहार करूँ[२]।" वास्तव में जो वस्तु मनुष्य चाहता है और जो वस्तु उसे तथागत या अन्य कोई महापुरुष देते हैं वह देश और काल की सीमा से परिच्छिन्न नहीं हो सकती, क्योंकि भौतिक तत्त्व उसमें कम-से-कम रहता है। किन्तु फिर भी ये सब कथन आंशिक रूप से ही सत्य हैं, परमार्थ रूप से नहीं। माना कि मनुष्य की आधारभूत समस्याएँ अपने मूल रूप में शाश्वत हैं किन्तु उनके प्रयोगात्मक समाधान तो सदा एक से नहीं रह सकते। औषध के एक रहते भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में उसके अनुपान की विधि तो बदलनी ही ठहरी। मनुष्य का वातावरण तो सदा परिवर्तित होता रहता है, उसकी पारिपार्श्विक अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, इसीलिए आवश्यकतानुसार बुद्ध ने क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों को समयानुसार बदलने की आज्ञा दी, मिलिन्द-

(१) विनय-पिटक—महावग्ग।
(२) देखिए पजापती पब्बज्जा सुत्त (अंगुत्तर० ८।२।१।२)

प्रश्न कार की इस दलील में सत्य अवश्य है[१]। अस्तु, इस ऐतिहासिक तत्त्व को स्वीकार कर देने से जब हम इन्कार कर देते हैं तभी या तो हम अपनी-अपनी रुचि के धर्मोपदेष्टाओं के उपदेशों को सभी काल और सभी स्थानों के लिए उपयोगी मान बैठते हैं या फिर जिनके मतों से हम सहमत नहीं होते उनके विषय में कभी यह विचार करने का भी कष्ट न करके कि किस परिस्थिति में, किस काल अथवा देश में उनके उपदेशों का विधान हुआ था, हम उनके सभी विचारों को अनुपयुक्त और अपूर्ण मान बैठते हैं। किन्तु यदि ऐतिहासिक तथ्य को हम ठीक तरह से समझ सकें तो बिना किसी कठिनता के हम किसी भी महापुरुष के विचारों के विषय में जान सकते हैं कि कहाँ तक वे सार्वजनीन, सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं और कहां तक देश और काल की सीमा से बँधे हुए, कहाँ तक वे सत्य के पारमार्थिक रूप को प्रदर्शित करते हैं और कहाँ तक समकालीन विचार-परम्परा के प्रति प्रतिक्रिया स्वरूप सत्य के एक अंश मात्र को ! आर्य मार्ग और आर्य विनय एवं आर्य धर्म का ही प्रख्यापन करने वाले उन 'महर्षि' ने यज्ञविधि का निरूपण करने वाले सभी मंत्रवादों की उपेक्षा क्यों की, शील और सदाचार को ही समस्त कर्मकाण्ड से उत्तम क्यों माना, अपने को दस तथागत-बलों तथा चार वैशारद्यों से युक्त उद्घोषित करके भी उन ब्रह्मचक्र चलाने वाले सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध ने कुछ आध्यात्मिक प्रश्नों को व्याख्यात करके कुछ को अव्याख्यात (अव्याकत) रखना ही क्यों उत्तम समझा ? 'सारिपुत्र ! अशन, पान, खादन, शयन के समय को छोड़, मलमूत्र त्याग के समय को छोड़, निद्रा थकावट के समय को छोड़ तथागत की धर्म-देशना सदा अखण्ड ही रहेगी। सारिपुत्र ! तथागत का धर्म-पद-व्याख्यान सदा अखण्ड ही रहेगा[२]' इस प्रकार की धर्मोपदेश में व्यग्रता और दुःखी जनों के लिए अनुकम्पा दिखाकर भी भगवान् ने परमार्थोपदेश में महामौन क्यों साधा ? श्रद्धा तत्त्व के उचित स्वरूप को स्वीकार करके भी

(१) मिलाइए 'तं पन महाराज तथागतो भिक्खू वीमंसमानो आह—उक्कलिस्सन्ति नु खो मम सावका मया विस्सज्जापियमाना समच्चयेन खुद्दानुखुद्दकानि सिक्खापदानि उदाहु आदियिस्सन्तीति.....एवमेव खो महाराज तथागतो भिक्खू वीमंसयानो एवमाह—आकङ्खमानो संघो ममच्चयेन खुद्दानुखुद्दकानि सिक्खापदानि समूहनतूति। मिलिन्द पञ्हो, मेण्डक पञ्हो।

(२) महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।२)

विशुद्ध बुद्धिवाद को ही उन्होंने प्रधान रूप से क्यों अपनाया ? और फिर उस बुद्धिवाद को भी अपने निश्चित और पूर्ण स्थान तक क्यों नहीं बढ़ने दिया? आदि प्रश्न ऐसे हैं जिनको समझने के लिए न केवल दार्शनिक विवेचन की ही अपेक्षा है बल्कि ऐतिहासिक और सामाजिक तथ्यों के निरूपण की भी आवश्यकता है। हमारे देश के सामाजिक इतिहास से ये प्रश्न सम्बद्ध हैं। इतना ही नहीं बौद्ध धर्म और दर्शन के उद्भव, विकास और लोप की समग्र परम्परा को ही ठीक तरह से हृदयंगम करने के लिए हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम बुद्धकालीन विचार पद्धति की हालत से परिचित हों और भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के समय या उनसे कुछ पूर्व के मत-मतान्तरों और उनकी उच्छृङ्खलता से ही विशेषत: सम्भूत दर्शन और जीवन के उस अनर्थकारी सम्बन्धविच्छेद की, जो उस समय के समस्त वातावरण में अभिव्याप्त था और जिसके प्रतिकार और परिष्कार में ही बुद्ध-धर्म का स्वरूप बहुत कुछ निश्चित हुआ था, अधिगति प्राप्त करें। 'ब्रह्म ज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात', 'कोइ कह सत्य झूठ कह कोई उभय प्रबल करि माने...तीनि भ्रम', 'कल्पहिं पन्थ अनेक' आदि बातें जिस प्रकार मध्ययुगीन विकृत और जीवन की पवित्रता से रहित भारतीय विचार-परम्परा का निरूपण करती हैं, उसी प्रकार वे भगवान् बुद्ध के आविर्भाव-काल की चिन्तन-परम्परा का भी कुछ अंश में दिग्दर्शन करती हुई कही जा सकती हैं, क्योंकि उस समय भी भारत में 'सांसारिक वेदनाओं को भोगने वाले, तृष्णा से चकित[1]' अनेक समण-ब्राह्मण (श्रमण और ब्राह्मण), परिब्राजक (परिब्बाजक[2]), तक्की (तार्किक) और मीमांसक (वीमंसी) इधर उधर घूमा करते थे जो लोक और आत्मा के विषय में, शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद के विषय में न जाने क्या-क्या परस्पर विरोधी और व्यावहारिक उपयोगिता से शून्य बातें बिना जाने, बिना देखे (अजानतं अपस्सतं) किया करते थे। इनमें अनेक प्रज्ञावादी और विमुक्तिवादी थे जो अनेक प्रकार से प्रज्ञा और विमुक्ति की ही प्रशंसा किया करते थे[3]। 'प्रज्ञावादांश्च पुत्र भाषसे' की उक्ति इन प्रज्ञावादियों पर सर्वथा चरितार्थ

(१) वेदयितं तण्हागतानं ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१)

(२) बुद्धकालीन परिब्राजकों के विस्तृत विवरण के लिये देखिये डा० लाहा द्वारा सम्पादित 'बुद्धिस्टिक स्टडीज', पृष्ठ ८९-११२ में उनका गौतम बुद्ध एण्ड दि परिब्राजक्स्' शीर्षक लेख।

(३) देखिये कस्सपसीहनाद-सुत्त (दीघ० १।८)

होती थी। इन श्रमणों और ब्राह्मणों के अनेक सम्प्रदाय थे, और ये सभी अत्यन्त 'वादशील' (वादसील) भी होते थे, इसमें संशय नहीं। बुद्ध के समकालिक वात्स्यायन नामक परिब्राजक ने अपने समय के तार्किकों के सम्बन्ध में कहा था, 'मैं देखता हूँ कि बाल की खाल उतारने वाले, दूसरों से वाद-विवाद में सफल, निपुण कोई-कोई क्षत्रिय पण्डित मानो प्रज्ञा में स्थित तत्त्व से दृष्टिगत (धारणा में स्थित तत्त्व) को खण्डा खण्डी करके चलते हैं—सुनते हैं श्रमण गौतम अमुक ग्राम या निगम में आवेगा। वे प्रश्न तैयार करते हैं 'इस प्रश्न को हम श्रमण गौतम के पास जाकर पूछेंगे' ऐसा हमारे पूछने पर यदि वह ऐसा उत्तर देगा तो हम इस प्रकार वाद (शास्त्रार्थ) रोपेंगे[१]'। उस समय ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं थी जो उपालि गृहपति के समान ही दम्भपूर्वक कह सकते थे 'तो जैसे बलवान् पुरुष लम्बे बाल वाली भेड़ को बालों से पकड़ कर निकाले, डुलावे, उसी प्रकार मैं श्रमण गौतम के वाद को निकालूंगा, घुमाऊँगा, डुलाऊँगा, अथवा जैसे कि गहरे बलवान् शौण्डिक कर्मकर (शराब बनाने वाला) भट्टी के बड़े टोकरे (सोंडिक किलंज) को पानी वाले तालाब में फेंककर कानों को पकड़ कर निकाले, घुमावे, डुलावे, ऐसे ही मैं श्रमण गौतम को कहँगा ....,. अथवा जैसे कि साठ वर्ष का पट्ठा हाथी गहरी पुष्करिणी में घुसकर सन धोवन नामक खेल को खेले, ऐसे ही मैं श्रमण गौतम को, खिलाऊँगा। हाँ तो मैं जाता हूँ, इस कथावस्तु में श्रमण गौतम के साथ वाद को रोपूंगा[२]' इस प्रकार के तार्किकों का दावा था कि अपने शास्त्रार्थ से वे अचेतन स्तम्भ को भी हिला सकते हैं, पसीना ला सकते हैं, मनुष्य का तो कहना ही क्या ? सच्चक निगण्ठपुत्र ने अभिमानपूर्वक कहा था, "मैं ऐसे किसी श्रवण या ब्राह्मण . . . . . .या अपने को सम्यक् सम्बुद्ध कहने वाले को भी नहीं देखता जो मेरे साथ वाद रोपकर कम्पित न हो जाय, जिसकी काँख से पसीना न छूटने लगे। यदि मैं अचेतन स्तम्भ से भी शास्त्रार्थ प्रारम्भ करूँ तो वह मेरे वाद के मारे कम्पित हो जायगा, मनुष्य की तो बात ही क्या!" इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक अनुभव से शून्य अनेक तार्किक बुद्ध के जीवन-काल में विद्यमान थे[३] जो मल्लों की तरह अपनी कला का प्रदर्शन करते हुए इधर-उधर घूमते थे। दृष्टियों के खंडन और मंडन में लगे हुए इन

(१) चूल हत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम० १।३।७)
(२) उपालि सुत्त (मज्झिम० २।१।६)
(३) चूल सच्चक सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।५)

वादियों को, जो प्रतिवादी को ललकारने के लिये सदा तैयार रहते थे, सुत्त-निपात में 'राज भोजन से पुष्ट पहलवान' की उपमा दी गई है[1]। भगवान् की दृष्टि में इस प्रकार के तार्किक या कुतार्किक 'मोघ पुरुष' ही थे और या तो भगवान् ने उन्हें मौन प्रभाव से सुधारा या यदि उनसे शास्त्रार्थ भी किया तो इस आवश्यक शर्त के साथ, जैसा कि उन्होंने उपालि (उपालि-सुत्त-मज्झिम० २।१।६) के साथ की थी, 'गृहपति ! यदि तू सत्य में स्थिर हो मन्त्रणा करे तो हम दोनों का संलाप हो।' तर्कशील वादियों से, पसूर-सुत्त के शब्दों में, भगवान् का प्रायः यही कहना था, "तुम्हारे साथ विवाद करने को यहाँ कोई नहीं है"। "मैं संसार में किसी विवादी (कथंकथी) को छुड़ाने नहीं जाऊँगा", ऐसा एक बार भगवान् ने कहा था (धोतक-माणव- पुच्छा—सुत्त-निपात), जो कुतार्किकों के प्रति उनकी खिन्नता का सूचक है। तर्कवाद के रूप में न्याय की परम्परा इस युग में काफी प्रभावशाली दिखाई पड़ती है और एक दूसरे को 'निग्रह स्थान' में लाना श्रमण और ब्राह्मण भली प्रकार जानते हैं[2]। वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का भयंकर रूप विद्यमान था। ब्राह्मणों में केवल जातिवाद का गर्वमात्र अवशेष रह गया था, वे अपने को सर्वश्रेष्ठ मानते थे और शूद्रों को ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न और आत्मज्ञान के अत्यन्त अनुपयुक्त[3]! वैसे सामाजिक अवस्था में दासियों के पुत्रों के, चाहे वे राज्याधिकारी ही क्यों न हों, बैठने के आसन तक शुद्ध किये जाते थे दूध से धो-धोकर।[4] ब्राह्मणों के वर्ण

(१) सूरो यथा राजखादाय पुट्ठो अभिगज्जमेति पटि सूरमिच्छं। पसूर-सुत्त।

(२) देखिये संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)

(३) 'हे गौतम! पहले हम ऐसा जानते थे, कहां इभ्य (नीच), काले, ब्रह्मा के पैर से उत्पन्न (शूद्र) मुण्डक श्रमण और कहां धर्म का जानना' चंकि सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)

(४) ब्राह्मणों की सर्वश्रेष्ठता रूपी गर्ववाणियों और उस पर बुद्ध-विचार के लिए देखिए, अस्सलायण सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।३); माधुरिय सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।४); अम्बट्ठ सुत्त (दीघ० १।३) चंकि-सुत्त-(मज्झिम० २।५।५); फासुकारि सुत्त (मज्झिम० २।५।६); बुद्ध के द्वारा ब्राह्मणत्व के आदर्श दिखाए जाने के लिए देखिए वासेट्ठ सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।८); सुत्त निपात; धम्मपद (ब्राह्मण वग्ग) इत्यादि।

श्रेष्ठता सम्बन्धी अहंभाव के अत्यधिक चित्रण त्रिपिटक में उपलब्ध होते हैं,[१] यद्यपि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ब्राह्मणों की पूर्वकालीन पवित्रता का भी अक्सर वर्णन किया गया है और स्वयं बुद्ध के समय में भी बावरि जैसे ज्ञानी और आचरण सम्पन्न ब्राह्मण थे। याज्ञिक धर्म की तो इस युग में अत्यन्त ही हीन दशा दृष्टिगोचर होती है। अनेक प्रकार के अग्नि हवन और होमों की परम्परा देखें तो आज भी मुंह में उँगली दबानी पड़ती है 'अग्नि-हवन, दर्वी-होम, तुष-होम, कण-होम, तण्डुल-होम, घृत-होम, तैल-होम, मुख में घी लेकर कुल्ले से होम, रुधिर-होम[२]।' इस प्रकार इस युग की दुरवस्था बहुमुखी है। किन्तु सब से बड़ी अव्यवस्था तो इस युग में सृष्टि के रहस्यों और तत्त्वों को लेकर फैली हुई थी। 'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' की उपनिषद्-वाणी इस युग की प्रवृत्तियों के लिए भली प्रकार फलितार्थ होती है। विचार की सभी परस्पर विरोधी कोटियाँ जो सम्भव हो सकती हैं यहाँ उपलक्षित हैं और यह सम्भव हो सकता है कि बुद्ध के काल के बहुत पहले से इनका प्रवर्तन होता चला आ रहा था। जिन 'वेदवाद में रत' और 'नान्यदस्तीति वादिन:' लोगों की ओर गीता में संकेत आया है[३], उनका यहाँ खूब बाहुल्य दिखाई पड़ता है। वे 'यही सत्य है और सब झूठा' इस प्रकार अपने मत-विशेष में खूब श्रद्धा रखते हैं[४]। 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरं' कहने वाले महानास्तिकवादियों की भी इस युग में कमी नहीं है। सारांश यह कि जीवन की व्यावहारिक उपयोगिता से शून्य, अत्यन्त भ्रान्तिमयी और भ्रमपूर्ण अनेक दार्शनिक धारणाएँ इस युग में प्रचलित थीं, जिनका वर्णन ६२ मिथ्या धारणाओं के रूप में त्रिपिटक में अनेक बार, कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से, आया है। साथ ही इनको सिखाने वाले विभिन्न आचार्यों के वर्णन भी कुछ प्राप्त हैं। दीघ निकाय का प्रथम सुत्त अर्थात् ब्रह्मजाल सुत्त इन सब धारणाओं का सर्वोत्तम विश्लेषण करता है, यद्यपि त्रिपिटक के कुछ अन्य सुत्त अथवा सुत्तन्त भी इस विषय की बहुत कुछ सूचना विभिन्न दृष्टिकोणों से देते हैं[५]। 'ललित विस्तर' और संस्कृत का बौद्ध

---

(१) देखिए ब्राह्मण धम्मिय सुत्त (सुत्त निपात २।७) तथा सुत्तनिपात, अट्ठक वग्ग।

(२) ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१); अग्नि-हवन, अग्नि परिचरण आदि के लिए, मिलाइये संयुत्त ७।१।९; सुत्त निपात ३।४

(३) गीता २।३।२

(४) देखिए चंकि सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)

(५) ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१)

साहित्य भी इस विषय में सर्वथा मौन नहीं है, यद्यपि प्रमाणवत्ता इन सब से अधिक पालि त्रिपिटक की ही है। पालि-विवरण का ही आश्रय यहां हम लेंगे। अब हम देखें कौनसी वे बासठ मिथ्या दार्शनिक धारणाएँ हैं जिन सभी को भगवान् तथागत जानते हैं, जिनके प्रमाण और प्रकार को जानते हैं और जिनसे अधिक भी जानते हैं, किन्तु जानकर भी 'मैं जानता हूँ' ऐसा अभिमान नहीं करते' ?

बासठ मिथ्या दृष्टियों का निदर्शन

बासठ मिथ्या धारणाओं में से, जो बुद्ध के काल में नाना श्रमणों और ब्राह्मणों में प्रचलित थीं, अठारह तो थीं पूर्वान्त कल्पिक (पुब्बन्त कप्पिका) अर्थात् लोक और आत्मा के आदि सम्बन्धी और चवालीस थीं अपरान्तकल्पिक (अपरन्तकप्पिका) अर्थात् लोक और आत्मा के अन्त सम्बन्धी। इस प्रकार यह इनका द्विविध विभाग है। पहले हम पूर्वान्त-कल्पिक दृष्टियों को लें।

पूर्वान्तकल्पिक धारणाएँ पाँच मतों में विभाजित की गई हैं (१) शाश्वत-वाद (२) नित्यता-अनित्यतावाद (३) सान्त-अनन्तवाद (४) अमराविक्षेप-वाद तथा (५) अकारणवाद अथवा अधीत्यसमुत्पाद। इनमें से शाश्वतवाद, नित्यता-अनित्यतावाद, सान्त-अनन्तवाद और अमराविक्षेपवाद इन चार मतों में से प्रत्येक का प्रमाणत्व चार धारणाओं से (चतूहि वत्थूहि) और अन्तिम अकारणवाद अथवा अधीत्य समुत्पाद का प्रामाण्य दो धारणाओं से (द्वीहि वत्थूहि) किया जाता था। इस प्रकार इन पूर्वान्तकल्पिक धारणाओं की संख्या मिलाकर कुल १८ होती है अथवा यों भी कह सकते हैं कि इन्हीं अठारह धारणाओं से (अट्ठारस वत्थूहि) पूर्वान्तकल्पिक मत भिन्न-भिन्न रूप से निर्दिष्ट होते थे। शाश्वतवाद (सस्सतवाद) का मूल सिद्धान्त था 'आत्मा और लोक नित्य, अपरिणामी, कूटस्थ और अचल हैं। प्राणी चलते फिरते, उत्पन्न होते और मरते हैं, किन्तु अस्तित्व नित्य है'। यह मत चार धारणाओं पर अवस्थित था, (१) चित्त के समाधि लाभ करने पर जन्मजन्मान्तर की स्मृति होती है (२) एक संवर्तविवर्त (कल्प) से लेकर दस संवर्त-विवर्त तक समाधि में अपने जन्म जन्मान्तर की स्मृति होती है (३) दस संवर्त-विवर्त, से लेकर बीस संवर्त विवर्त या चालीस संवर्त-विवर्त आदि तक अपने जन्म मरण की स्मृति होती है (४) तर्क के आधार पर। नित्यता-अनित्यतावादी (एकच्च सस्सतिका एकच्च असस्सतिका) श्रमण और ब्राह्मण वे थे जो आत्मा और लोक को अंशतः

नित्य और अंशतः अनित्य मानते थे और ऐसा चार वस्तुओं के कारण, (१) चित्त के समाधि प्राप्त करने पर मनुष्य अपने पहले जन्म को स्मरण करता है, उससे पहले को नहीं। वह ऐसा कहता है—जो ब्रह्मा, महाब्रह्मा है जिसके द्वारा हम निर्मित किए गए हैं, वह नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिणाम धर्मा है और ब्रह्मा के द्वारा निर्मित किए गए हम अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत, परिणामी और मरणशील हैं, (२) समाधि में पूर्व जन्मों की स्मृति के फलस्वरूप क्रीडाप्रदूषिक (खिड्डापदूसिका) देवों[1] को च्युत होता हुआ देख और जो ऐसे नहीं हैं उनको अच्युत देख इस प्रकार की अनुभूति होती है कि आत्मा और लोक अंशतः नित्य और अंशतः अनित्य हैं (३) इसी प्रकार मनः प्रदूषिक[2] (मनोपदूसिका) देवों को च्युत होता हुआ देख और उनसे विपरीत को अच्युत देख उपर्युक्त प्रकार की अनुभूति होती हैं (४) तर्क के द्वारा इस प्रकार का निश्चय कि ये चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा तथा शरीर अनित्य और अध्रुव हैं और यह जो मन, चित्त अथवा विज्ञान है, वह नित्य और ध्रुव है। फिर सान्त-अनन्तवाद में विश्वास करने वाले (अन्तानन्तिका) मानते थे कि लोक सान्त और परिच्छिन्न भी है और अनन्त एवं अपरिच्छिन्न भी, सान्त और अनन्त, परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न तथा न सान्त न अनन्त, न परिच्छिन्न और न अपरिच्छिन्न ही, और ऐसा वे कहते थे चार धारणाओं के आधार पर (१) समाहित चित्त में इस प्रकार के भान होने से कि 'लोक सान्त है, परिच्छिन्न है' (२) ऐसा भी भान होने से कि 'लोक अनन्त है, अपरिच्छिन्न है' (३) ऐसा भी भान होने से कि लोक ऊपर से नीचे की ओर सान्त तथा दिशाओं की ओर अनन्त है (४) तर्क से विनिश्चय द्वारा कि लोक न सान्त है न अनन्त। अमराविक्षेपवादी (अमराविक्खेपिका) वे थे जो किसी प्रश्न का उत्तर पूछे जाने पर कोई निश्चित उत्तर ही नहीं देते थे। अमराविक्षेपवादी उनका नाम इसलिए पड़ा कि अमराविक्षेप नाम की छोटी-छोटी मछलियां होती हैं जो बहुत फिसलने वाली और चंचल होने के कारण हाथ में नहीं आतीं और इन्हीं मछलियों के समान अमराविक्षेपवादियों के सिद्धान्तों में भी कहीं कोई स्थिरता नहीं थी। 'यह भी मैंने नहीं कहा, वह भी मैंने नहीं कहा, अन्यथा भी नहीं, ऐसा नहीं है—यह भी नहीं, ऐसा नहीं है, यह भी नहीं कहा' ऐसी उनकी विभ्रमकारिणी बुद्धि रहती थी और इसके लिए उनके पास आधार

(१) अर्थात् वे देव जो क्रीड़ा में ही अपने समय को बिताते हैं।

(२) वे देव जो क्रोध आदि से अपने मन को दूषित करते हैं।

भी चार थे (१) सम्यक् ज्ञान नहीं होने से असत्य-भाषण के भय से वह न यह कह सकता है कि 'यह अच्छा है' और न यह कि 'यह बुरा है' (२) असत्य-भाषण करके अनर्थ सम्पादन करने के भय से वह प्रश्नों के पूछे जाने पर कुछ निश्चित बात ही नहीं कहता (३) सम्यक् ज्ञान नहीं होने से अधिक कुशल शास्त्रार्थ करने वालों से डर कर कुछ निश्चित उत्तर नहीं देता (४) वह स्वयं जानता ही नहीं कि परलोक, औपपातिक (अयोनिज) देव और सुकृत तथा दुष्कृत कर्मों के विपाक हैं अथवा नहीं, अतः वह कोई निश्चित उत्तर ही नहीं देता। संजयबेलट्ठिपुत्त जिनके अनिश्चिततावाद का वर्णन दीघ-निकाय के द्वितीय सुत्त 'सामञ्ञफल सुत्त' में आता है इसी दृष्टि को मानने वाले थे। अकारणवादी अथवा अधीत्यसमुत्पन्नवादी (अधिच्चसमुप्पन्निका) वे थे जो मानते थे कि लोक और आत्मा न शाश्वत हैं और न अशाश्वत, न स्वयंकृत हैं और न परकृत, बल्कि बिना ही किसी कारण के उत्पन्न हैं, अधीत्यसमुत्पन्न हैं, और ऐसा दो धारणाओं से (१) असंज्ञित्व नाम के देव जब संज्ञा के उत्पन्न होने से इस लोक में श्रेष्ठ पुरुषों के रूप में जन्म लेते हैं तो समाहित चित्त होने पर वे संज्ञा के उत्पन्न होने को स्मरण करते हैं, उसके पहले को नहीं। वे ऐसा कहते हैं—आत्मा और लोक अकारण उत्पन्न हुए हैं। सो कैसे ? हम पहले नहीं थे, हम नहीं होकर भी उत्पन्न हो गए (२) तर्क के आधार पर। इस प्रकार पूर्वान्तकल्पिक १८ धारणाओं का संक्षिप्त विश्लेषण ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१) के अनुसार हमने किया, जो इस विषय का एक अनुत्तर विवरण उपस्थित करता है। अब हम अपरान्तकल्पिक ४४ धारणाओं को संक्षेप में लेंगे।

अपरान्तकल्पिक धारणाएँ मुख्यतया पाँच भागों या मतों में बाँटी गई हैं, यथा (१) मरने के बाद आत्मा का संज्ञित्व प्रतिपादन करने वाला वाद (उद्धमाघातनिक-सञ्ञीवाद) (२) असंज्ञित्व प्रतिपादन करने वाला वाद (उद्धमाघातनिक-असञ्ञीवाद) (३) नैव संज्ञित्व नैव असंज्ञित्व वाद (नेव सञ्ञी-नासञ्ञीवाद) (४) उच्छेदवाद तथा (५) दृष्टधर्मनिर्वाणवाद (दिट्ठधम्म-निब्बाणवाद)। इनमें से प्रथम मत १६ धारणाओं से, द्वितीय मत आठ धारणाओं से, तृतीय मत भी ८ धारणाओं से, चतुर्थ मत सात धारणाओं से और पाँचवाँ मत पाँच धारणाओं से प्रतिपादित किया जाता था। अब हम देखें कि कौनसी वे १६ धारणाएँ थीं जिनका अनुसरण कर कुछ श्रमण और ब्राह्मण 'मरने के बाद आत्मा संज्ञी रहता है' ऐसा कहते थे। 'मरने के बाद आत्मा रूपवान्' रोगरहित और संज्ञा-प्रतीति के साथ रहता है। अरूपवान् और रूपवान्

आत्मा होता है, न रूपवान्, न अरूपवान् आत्मा है; आत्मा सान्त होता है, आत्मा अनन्त होता है, आत्मा सान्त और अनन्त होता है; आत्मा न सान्त और न अनन्त होता है, आत्मा एकान्त संज्ञी होता है, आत्मा नानात्मसंज्ञी होता है, आत्मा परिमित संज्ञा वाला होता है, आत्मा अपरिमित संज्ञा वाला होता है; आत्मा बिलकुल शुद्ध होता है, आत्मा बिलकुल दुःखी होता है, आत्मा सुखी और दुःखी होता है, आत्मा सुख और दुःख से रहित होता है, आत्मा अरोग और संज्ञी होता है" इन्हीं सोलह कारणों से 'मरने के बाद आत्मा संज्ञी रहता है' इस मत की पुष्टि की जाती थी। 'मरने के बाद आत्मा असंज्ञी रहता है' इस मत की आठ धारणाएँ थीं, यथा 'मरने के बाद आत्मा असंज्ञी, रूपवान् और अरोग रहता है, अरूपवान्, रूपवान् और अरूपवान्, न रूपवान् न अरूपवान्, सान्त, अनन्त, सान्त और अनन्त, न सान्त और न अनन्त'। उपर्युक्त दोनों मतों की आठ-आठ धारणाओं में से प्रत्येक को क्रमशः विकल्प से साथ साथ रखकर 'मरने के बाद आत्मा नैव संज्ञी, नैव असंज्ञी रहता है' ऐसा मानने वाले भी अपने मत की पुष्टि के लिए आठ धारणाओं की उद्भावना कर लेते थे, यथा 'मरने के बाद आत्मा रूपवान्, अरोग और नैव संज्ञी नैवासंज्ञी रहता है—अरूपवान्.......' इत्यादि। फिर आत्मा के उच्छेद को मानने वाले भी थे, जिनके वर्णनों से हमें ज्ञात होता है कि 'सुशिक्षित' चार्वाकों के वे वंशज अथवा पूर्वज ('धूर्त' चार्वाक तो आत्मा जैसे किसी पदार्थ की सत्ता ही नहीं मानते, फिर उसका उच्छेद कैसे!) थे[1] और सदानन्द ने अपने 'वेदान्त सार' में जिन चार प्रकार के चार्वाक-मतों का वर्णन किया है[2] उनसे भी इनकी बहुत कुछ तुलना की जा सकती है। इस सुत्त में वर्णित उच्छेदवाद की सात धारणाओं को माधवाचार्यके'सर्व दर्शन संग्रह' के प्रथम परिच्छेद (चार्वाक दर्शन) के साथ मिलाकर यदि हम पढ़ें तो भारतीय दर्शन के इस अत्यन्त मनोरञ्जक परिच्छेद के विषय में हमें बहुत कुछ ज्ञातव्य बातें मिलेंगी[3]। किन्तु इनके विषय में तो बाद में बौद्ध दर्शन का चार्वाक मत के साथ सम्बन्ध दिखाते समय ही कुछ स्पष्ट रूप से कहेंगे। यहाँ यही कहना पर्याप्त है कि सामञ्ञफल सुत्त (दीघ० १।२) में अजित केसकम्बली के जिस उच्छेदवाद का वर्णन किया गया है वह यही है जो यहाँ कुछ विस्तार से उपलब्ध होता है और अन्यत्र

(१,२,३) इन सब के विशेष निरूपण और विवेचन के लिए देखिए आगे पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन' के अन्तर्गत 'बौद्ध दर्शन और चार्वाक मत' पर विचार।

भी त्रिपिटक में जिस मत के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। इन उच्छेद-वादियों की सात धारणाएँ थीं जिनके कारण वे आत्मा के उच्छेद का उपदेश देते थे (१) यथार्थ में यह आत्मा चार महाभूतों से बना है और माता पिता के संयोग से उत्पन्न होता है, इसलिए शरीर के नष्ट होते ही यह आत्मा भी बिलकुल समुच्छिन्न हो जाता है (२) अन्य वह आत्मा है जो दिव्य, रूपी कामाववचार लोक में रहने वाला तथा भोजन खाकर रहने वाला है। वह सत् आत्मा शरीर के नष्ट होने पर उच्छिन्न और विनष्ट हो जाता है। (३) अन्य ही वह आत्मा दिव्य, रूपी, मनोमय, अंग प्रत्यंग से युक्त और अहीनेन्द्रिय है। वह आत्मा शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है (४) अन्य ही वह आत्मा है जो सभी तरह के रूप और संज्ञा से भिन्न, प्रतिहिंसा की संज्ञाओं के अस्त हो जाने से नानात्म संज्ञाओं को मन में न करने से अनन्त आकाश की तरह अनन्त आकाश शरीर वाला है। वह सत् आत्मा भी शरीर के साथ ही उच्छिन्न हो जाता है। (५) अन्य है वह आत्मा जो विज्ञान शरीर वाला है और शरीर के साथ ही वह भी उच्छिन्न होता है (६) अन्य है वह आत्मा जो अकिंचन-शरीर वाला है और वह सत् आत्मा भी शरीर के साथ ही उच्छिन्न होता है (७) अन्य है वह आत्मा जो शान्त और प्रणीत नैव-संज्ञा-न-संज्ञा है और वह भी शरीर के साथ ही उच्छेद को प्राप्त होता है। दृष्ट-धर्म-निर्वाणवादी मानते थे कि प्राणी का इसी संसार में देखते-देखते निर्वाण हो जाता है और ऐसा पाँच कारणों से (१) चूंकि यह आत्मा पाँच काम गुणों में फँसकर सांसारिक भोग भोगता है, इसलिए इसी संसार में वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है (२) यह आत्मा कामों से पृथक् रह कर प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरता है, इसलिए इसी जन्म में वह निर्वाण पा लेता है (३) वितर्क और विचारों के शान्त हो जाने से द्वितीय ध्यान को प्राप्त कर यहाँ निर्वाण प्राप्त कर लेता है (४) उपेक्षा युक्त, स्मृतिमान् और सुखी विहारी होते तीसरे ध्यान को प्राप्त हो यहीं निर्वाण को प्राप्त कर लेता है (५) यह आत्मा सुख और दुःख के नष्ट होने से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के अस्त हो जाने से चौथे ध्यान को प्राप्त कर यहीं निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इन बासठ दार्शनिक धारणाओं का वर्णन समाप्त हमने किया जो बुद्ध के समय में नाना श्रमणों और ब्राह्मणों में प्रचलित थीं और जिनमें फँसे हुए वे दुःख और वेदनाओं के अन्त को नहीं समझ सकते थे। इन सब विचारों की क्रान्ति में भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ था। अब हम यह देखें कि बुद्ध की

इनके प्रति क्या प्रतिक्रिया थी ? इस प्रकार के अध्ययन से हम देख सकेंगे कि मूल बुद्ध-दर्शन कम से-कम क्या नहीं था, और आत्मा- अनात्मा सम्बन्धी विभिन्न मतवादों से वह कितना निरपेक्ष एवं अतीत सिद्धान्त है ।

तथागत की इन दृष्टियों के प्रति प्रतिक्रिया—तथागत-प्रवेदित धर्म के स्वरूप एवं उसकी कतिपय मान्यताओं और मौनों की संगति और व्याख्या तथागद की इन दृष्टियों के प्रति प्रतिक्रिया के आधार पर ही सम्भव और आवश्यक भी

भगवान् बुद्धदेव का अनुशासन उपर्युक्त सभी मतों से अतीत है और अपनी सत्यता की सिद्धि के लिए उपर्युक्त मतों में से किसी के भी 'हां' या 'ना' उत्तरों की अपेक्षा नहीं रखता । वह जीवन की दुःख रूप मूल समस्या को साहसिक रूप से पकड़ता है, उसके साथ खिलवाड़ नहीं करता। उपर्युक्त सभी दार्शनिक दृष्टियाँ भगवान् बुद्ध के मन्तव्य रूपी श्रेष्ठ जाल में मछली के समान निगृहीत होती हैं। 'भिक्षुओ ! जैसे कोई दक्ष मल्लाह या मल्लाह का पुत्र छोटे-छोटे छेद वाले जाल से सारे जलाशय को खोजे और उसके मन में ऐसा हो—इस जलाशय में जो अच्छी-अच्छी मछलियाँ हैं, वे सभी जाल में फँसकर बँध गई हैं' उसी तरह भगवान् ने सद्धर्म के श्रेष्ठ जाल में सभी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मिथ्या दृष्टियों को बाँधा। इस कथन के महत्त्व को हम समझ सकें तो बुद्ध-मन्तव्य को उपर्युक्त दृष्टियों में से किसी के साथ एकात्म करने का साहस हम कर ही नहीं सकते। किन्तु भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास में हम देखते हैं कि न केवल बौद्धों से इतर व्याख्याकार ही बल्कि स्वयं बौद्ध आचार्य भी बुद्ध-मन्तव्यों की व्याख्या करते हुए इतने दूर चले गये हैं कि उन्हें कभी एक मिथ्या दार्शनिक दृष्टि अथवा कभी किसी अन्य के समीप ले पहुँचे हैं। किसी ने उन्हें ध्रुव-आत्मवादी दिखाने का प्रयत्न किया है तो किसी ने पूर्ण नास्तिकवादी । वस्तुतः सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों को भगवान् ने कभी उत्साहित ही नहीं किया, उन्हें असंगत प्रश्न कह कर ही निन्दित किया, आत्मा और लोक के आदि और अन्त की समस्याओं पर विचार करने को निषिद्ध और अनर्थकारी ही बताया और उनसे अपने मन्तव्य को सर्वथा अतीत और अनपेक्ष ही बताया। बुद्ध-मन्तव्य की यदि कोई भी एक दृष्टि उसकी अपनी कही जा सकती है तो वह सूत्र रूप में यही है कि 'ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह। तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमनो, (हेतुसे उत्पन्न होने वाले जो धर्म हैं, उनका हेतु तथागत बतलाते

हैं। उनका जो निरोध है उसको भी वे बतलाते हैं। यही महाश्रमण का वाद है)। हम जानते हैं कि आयुष्मान् सारिपुत्र इसी एक सूत्र को आयुष्मान् अश्वजित् से सुनकर तथागतप्रवेदित धर्म में प्रव्रजित हो गए थे। और यह अकारणवाद के प्रति सबसे अधिक तीव्र प्रवचन है, यही 'ऋत' अथवा 'सत्य' का उच्चतम प्रतीक है जिसे बुद्ध-दर्शन में 'प्रतीत्य समुत्पाद' की संज्ञा प्राप्त हुई है। बुद्ध-धर्म न शाश्वतवाद है और न अशाश्वतवाद या उच्छेदवाद। उसे 'सन्ततिवाद' कहा जा सकता है, जो प्रतीत्य समुत्पाद का पर्यायवाची है। यही वास्तव में बुद्ध का 'अनात्मवाद' भी है। इसी की दूसरी संज्ञा है मध्यमा प्रतिपदा या मध्यम मार्ग। 'नत्थिकवाद' के विरुद्ध भगवान् ने कितना कहा है यह हम आगे यथास्थान देखेंगे। किन्तु साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि 'अत्थिकवाद' का प्रचारक होना भी तथागत का काम नहीं था। परलोक की सत्ता में विश्वास करने वाले, पुनर्जन्म के दुःखों से मनुष्य लोक को छुड़ाने वाले उन शास्ता को उच्छेदवादी भी कैसे कहा जाय? सभी अश्वासनों से आश्वसित होकर ही, दश बलों से युक्त होकर ही, सब कछ स्वयं जानकर और साक्षात्कार कर (सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा) ही अधिकार पूर्वक उपदेश करने वाले सम्यक् सम्बुद्ध संशय-वादी अथवा अनिश्चयवादी किस प्रकार हो सकते हैं? भगवान् का वास्तविक मन्तव्य तो जीवन की गम्भीरतम समस्या दुःख की संगति में ही समझने योग्य है, सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों के झमेले में तो वह छिप जाता है। इस विषय में भगवान् को यदि कुछ कहना होता तो माल्लुंक्य पुत्त से ही क्यों न कह देते? उत्तर कालीन बौद्ध आचार्यों के व्याख्यान कहां तक बुद्ध-मन्तव्य को ही विशुद्ध रूप में प्रख्यापित करते हैं अथवा कहां तक वे उसको उपर्युक्त मिथ्या दृष्टियों में से ही किसी में डाल देते हैं, यह हम उस विषय का निरूपण करते समय देखेंगे। न जाने किस पुरातन काल से चली आई हुई 'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' इन दो प्रवृत्तियों में से 'नास्ति' वाली प्रवृत्ति का एक अत्यन्त गलत रूप से सम्मिलन बुद्ध-मन्तव्य के साथ कर उसे चार्वाकों की पंक्ति में बैठाकर घृणा का विषय बनाया गया और अनात्मवाद (जो औपनिषद आत्मवाद के विपरीत न होकर एक ही सत्य रूपी सिक्के की दूसरी पीठ भर है, एक अतीत अनुभव की दृष्टि से, और एक साधन पक्ष पर बल देकर) के उपदेष्टा को न केवल वेद-निन्दक (यद्यपि किसी की भी निन्दा से 'बुद्ध' परे थे) ही कह कर बल्कि अनीश्वरवाद का भी उनपर आरोप कर उन्हें पूर्णरूप से नास्तिक बना दिया गया। फिर सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर जिन

'अस्ति' और 'नास्ति' की विभिन्न कोटियों को भगवान् ने निकृष्ट बताया और मूल वस्तु से भटकना ठहराया, उन्हीं को लेकर तो उनके दार्शनिक अनुयायियों के सर्वास्तित्ववादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी आदि विभिन्न सम्प्रदाय हो गये। आश्चर्य तो यह कि भगवान् तथागत के मध्यम मार्ग को ही मनीषी नागार्जुन ने 'शून्यवाद' (माध्यमिक मत) का पर्याय बना डाला जो अपने विकास की अवस्था में निश्चय ही एक बार 'अभाव' का समानार्थक बन गया! यह भी कम आश्चर्य नहीं कि न केवल भारत के ही बल्कि संसार के एक अप्रतिम विचारक शंकर जैसे तत्त्वपक्षपाती के द्वारा भी उपर्युक्त सभी पारस्परिक विरुद्ध सिद्धान्तों को सिखाने का स्वयं बुद्ध पर ही आरोपण किया गया और इसे उनका 'असम्बद्ध प्रलापित्व' दिखाया गया और उनको जगत् के प्रति द्वेष करने वाला बताया गया! क्या बुद्ध और बुद्ध-दर्शन को समझने का इससे भी अधिक गलत मार्ग और कोई हो सकता है? फिर चाहे स्वयं शंकर ही इस मार्ग के पथिक क्यों न रहे हों! बुद्ध धर्म किसी मतवाद को स्थापित करने के लिये उत्पन्न नहीं हुआ था बल्कि वह तो जीवन-विशुद्धि को स्थापित करने वाला मार्ग था। वह आत्म विशुद्धि चाहता है, जो दृष्टियों से निष्पन्न नहीं हो सकती। उच्छेदवादी और अक्रियावादी तो बुद्ध को उनके समय में ही अनेकों बार बताया गया और यह परम्परा कुछ-न कुछ सदा चलती ही रही, यद्यपि स्वयं बुद्ध ने स्पष्ट तम शब्दों में इसका निराकरण किया था। आज तक उन्हें बहुत से सन्देहवादी और अविज्ञेयतावादी मानते हैं और प्रकुध कात्यायन के समान उनके मत को बताने का विफल प्रयास करते हैं। निर्वाण की अभावात्मक व्याख्या का भी प्रभाव अभी पूर्णरूप से निःशेष नहीं हुआ है। किन्तु यह सब तो उन मतवादों के जाल में ही पड़ जाना है, जिससे बचने के लिए भगवान् ने अनेक पर्यायों से धर्म का उपदेश किया है। बुद्ध-मन्तव्य इन सब से अतीत और विभिन्न उद्देश्य वाला है। किसी भी मतवाद में उसका आग्रह नहीं है, किसी भी दृष्टि में उसकी आसक्ति नहीं है। दृष्टि में आसक्ति रखना उसके लिये एक विनिबन्धन है। धर्म-सम्बन्धी आसक्ति की भी उसने निन्दा की है। 'धर्म' को 'कुल्लूपम' (बड़े के समान) कहने का यही तात्पर्य है। धर्म तरने के लिये है, रखने के लिये नहीं। 'यही सत्य है, अन्य नहीं' इस प्रवृत्ति की तथागत ने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व निन्दा की थी, जो आज विश्व-धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के युग में उस युग से भी कहीं अधिक ठीक है। मतवादों से आज भी मानवता उसी प्रकार पीड़ित

हो उठी है जिस प्रकार बुद्ध-काल में थी। मतवाद और धार्मिक विवादों के विरुद्ध आज तक का सब से अधिक प्रभावशाली प्रवचन हमें सुत्त-निपात के पसूर-सुत्त में मिलता है । सत्य विवादाश्रित नहीं है और सत्य-प्राप्त महात्मा विवाद नहीं करते। 'मुक्त पुरुषों के पास विवाद रुपी युद्ध के लिये कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता' । यही तथागत की दृष्टि थी। इसी का परिणाम बुद्ध-शासन के रूप में विश्व को मिला है । आत्म-शुद्धि का मार्ग किसी भी मत-वाद पर आधारित नहीं है । मागन्दिय ब्राह्मण ने जब भगवान् से पूछा कि ज्ञानियों ने आध्यात्मिक शान्ति का अनुभव किस प्रकार किया है, तो भगवान् ने उसे उत्तर देते हुए यही कहा था, "दृष्टियों के दुष्परिणाम को देखकर उनमें आसक्त न होकर मैंने आध्यात्मिक शान्ति की गवेषणा की और उसे पाया[१]" । अतः सत्य की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण मतवादों को छोड़ना आवश्यक है । ज्ञानी किसी के साथ विवाद नहीं कर सकता और न वह किसी विशेष मतवाद में आसक्ति ही रखता है । "वह किसी ज्ञान दृष्टि या विचार के कारण अभिमान नहीं करता और न वह उसमें लिप्त ही होता है । वह किसी कर्म-विशेष या श्रुति के फेर में भी नहीं पड़ता, क्योंकि वह मतवादों के अधीन, नहीं है" ।[२] "जो अपने को दूसरों के समान', उनसे उत्तम या हीन समझता है, उसके कारण वह विवाद में पड़ता है । जो इन तीन अवस्थाओं में अविचलित रहता है, उसे समानता या उत्तमता का विचार नहीं रहता । जिसमें समता या असमता का विचार नहीं है वह ब्राह्मण किसे सत्य या असिद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा ? वह किसके साथ, विवाद करेगा ?"[३] सम्पूर्ण धार्मिक विवाद केवल तर्क को बढ़ाने वाला है। 'सब्बं तं तक्कवड्ढनं ।' 'ऐसा है', 'ऐसा है' (इतिह, इतिह) कहने वाले कोरे परम्परावाद से शुद्धि प्राप्त नहीं होती। वह शान्त पुरुष का लक्षण भी नहीं है। तथागत-प्रवेदित धर्म मतवाद विशेष नहीं है । वह धर्म (सत्य) है और साथ में विनय भी । वह विवाद-रहित साधना का मार्ग है । उसके उद्भावक ने उसका लक्ष्य बताते हुए कहा है, 'जो इस धर्म-विनय में प्रमाद रहित होकर उद्योग करेगा वह आवागमन को छोड़ दुःख का अन्त करेगा[४] ।" यही तथागत

(१) मागन्दिय—सुत्त (सुत्त-निपात)
(२) उपर्युक्त के समान
(३) उपर्युक्त के समान ।
(४) यो इमस्मि धम्मविनये अपमत्तो विहेस्सति । पहाय जातिसंसारं दुक्खस्सन्तं करिस्सति । महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३)

का हमारे लिए सबसे बड़ा दान है और यही है हमारी सब से बड़ी आवश्यकता भी। इससे अधिक दर्शन भी शायद ही हमें कुछ और दे सके !

३—बुद्ध-धर्म-संघ

बुद्ध-दर्शन की प्रस्तावना स्वरूप बुद्ध, धर्म और संघ की अनुस्मृति अत्यन्त आवश्यक

बुद्ध, धर्म और संघ बौद्ध धर्म के तीन रत्न माने गये हैं[१]। 'नमः रत्नत्रयाय' कह कर इन्हें अक्सर नमस्कार भी किया जाता है। इनका स्मरण स्वस्तिकारक है[२]। उससे भय, दुःख आदि दूर होते हैं। शरणत्रय (सरणत्तय) भी यही कहलाते हैं[३], और इन्हीं की शरणागति के द्वारा कुछ थोड़े से बुद्ध-शिष्यों को छोड़कर प्रायः सबकी प्रव्रज्या भगवान् बुद्ध के समय में हुई थी[४], और आज भी परम्परानुक्रम से प्रायः इसी प्रकार होती है। गृहस्थ स्त्री-पुरुष भी शील ग्रहण करते समय एवं अपनी दैनिक चर्या में बुद्ध धर्म और संघ की शरण जाते हैं। माहायानिकों और उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदायों की बात यदि हम छोड़ दें तो बुद्ध, धर्म और संघ की यह शरणागति जो बहुत से भिक्षुओं की बद्ध के समय में ही हुई, केवल एक नैतिक प्रयोजन ही रखती है। किन्हीं वैष्णव अर्थों में तो अनुकम्पक शास्ता अपने शरणागत भिक्षुओं के योगक्षेम का भार उठाने का दावा नहीं करते। शाक्यमुनि 'योगक्षेमवहो हरिः' नहीं है और न उनके शिष्य हैं आर्त भगवद्भक्त। 'बुद्धं सरणं गच्छामि' में आर्त भक्त की पुकार नहीं है। यह लोक अ-शरण है, भव क्षणभंगुर और दुःखमय है, इस अनुभूति से कुछ-न-कछ आर्तता तो भिक्षु में रहती है जो 'बुद्धं सरणं गच्छामि' के संकल्प में ध्वनित है, परन्तु बुद्ध से वह त्राता के रूप में कुछ अपेक्षा नहीं रखता। यह भक्त का उससे भेद है। बुद्ध-धर्म की शरणागति केवल साधक की त्रिरत्न के प्रति अनुरक्ति की सूचक है। शाक्यमुनि के पास से मनुष्य को जो कुछ

(१) खुद्दक पाठ, सरणत्तय मिलाइये, त्रीणि रत्नानि, बुद्धोधर्मः संघश्चेति। धर्मसंग्रह (नागार्जुन कृत—मैक्समुलर द्वारा सम्पादित, ऑक्सफोर्ड १८८५) पृष्ठ १

(२) देखिये रतन-सुत्त (सुत्त-निपात)

(३) यथा 'बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि'।

(४) तपस्सु और भल्लिक नामक दो बंजारों को तो भगवान् ने दो वचनों से ही उपासक बनाया था। 'बुद्धं सरणं गच्छामि' और 'धम्मं सरणं गच्छामि' कह कर ही उन्होंने बुद्ध-शरणागति प्राप्त की थी, क्योंकि उस समय तक संघ की स्थापना ही नहीं हुई थी। देखिये विनय-पिटक—महावग्ग।

आश्वासन मिल सकता है, वह केवल यही है कि यह धर्म सु-आख्यात है, अच्छी प्रकार दुःख का क्षय करने के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो'[1]। तथागत की जामिनी पवित्र जीवन प्राप्त करने पर्यन्त तक ही है[2]। काम वहाँ सब साधक को ही करना है। हाँ, तथागत की सम्यक् सम्बोधि केवल उसकी साक्षी और सहायक अवश्य होती है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा है कि बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति और संघानुस्मृति का प्रयोजन केवल कुशल धर्मों की उत्पत्ति और अकुशल धर्मों की उच्छित्ति ही है[3]। भिक्षुणी रोहिणी ने तो और भी अच्छी प्रकार कहा है "यदि दुःख से तुम्हें भय है, यदि दुःख तुम्हें प्रिय नहीं लगता, तो बुद्ध की शरण जाओ और धर्म और संघ की भी।"[4] 'धम्मपद' इसी में अर्थ को लेकर कहा गया है कि जिसने बुद्ध की शरण ली है अर्थात् जिसने चतुरार्य सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग के स्वरूप को ठीक प्रकार समझा है उसको सच-मुच उत्तम शरण प्राप्त हुई है। इस शरण को पाकर वह सब दुःखों से विमुक्त हो जाता है[5]। इसी अर्थ में भगवान् बुद्ध शरणागतों के शोकहर्ता हैं। 'शोकस्य

---

(१) ....चर ब्रह्म चरियं सम्म क्खस्स अन्तकिरियायाति। विनय-पिटक—महावग्ग।

(२) "नन्द! जिस समय तुम्हारी सांसारिक आसक्ति से मुक्ति हो गई उसी समय मैं जामिनी से छूट गया।' उदान (नन्द वग्ग)।

(३) "जिस समय महानाम! आर्य श्रावक बुद्ध की, धर्म का, संघ की अनुस्मृति करता है, उस समय उसके चित्त में राग पैदा नहीं होता, द्वेष पैदा नहीं होता, मोह पैदा नहीं होता, बल्कि ऋजु मार्ग पर ही लगा हुआ उसका उस समय चित्त होता है।" अंगुत्तर ११।२।२; मिलाइये, "आवुस! यहां आर्य श्रावक तथागत का स्मरण करता है......इस प्रकार भी कोई-कोई प्राणी विशुद्धतत्त्व हो जाते हैं।" अंगुत्तर, विसुद्ध मग्ग ७।१२४ में उद्धृत; "विशाख! किस प्रकार क्लेशों से मलिन चित्त का निर्मलीकरण होता है? यहां विशाखे! आर्य श्रावक तथागत को स्मरण करता है...." अंगुत्तर, विसुद्धि मग्ग ७।१२५ में उद्धृत; तथागत के अनुस्मरण से अर्थ-ज्ञान, धर्म-ज्ञान, प्रामोद्य और प्रीति को आर्य श्रावक प्राप्त करता है, जिसके लिये देखिये विसुद्धिमग्ग ७।११९; वत्थ-सुत्त (मज्झिम० १।१।७)।

(४) स चे भायसि दुक्खस्स सचे ते दुक्खमप्पियं। उपेहि बुद्धं सरणं धम्मं संघञ्च तादिनं॥ थेरी गाथा २८८

(५) गाथाएँ १४।१०-१४

हर्ता शरणागतानाम्'। आचार्य बुद्धघोष ने 'शरणागति' की परिभाषा करते हुए उसे धार्मिक चेतना का उदय कहा है[१]। यह एक गम्भीर मनोवैज्ञानिक सत्य है और न केवल बौद्ध धर्म बल्कि सब धर्म-साधनाओं के लिये समान रूप से ठीक है। जब किसी हृदय में आध्यात्मिक चेतना जन्म लेती है तो किसी न किसी प्रकार वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में आत्म-समर्पण की भावना से अवश्य संयुक्त रहती है—'वे मेरे स्वामी हैं' 'मैं उनका दास हूँ' ऐसा यदि भक्त के समान न कहे तो वह अवश्य कहता ही है, 'वे मेरे शास्ता हैं, मैं उनका शिष्य हूँ।' सर्वोत्तम शरणागति के लिये यह आवश्यक है कि जिसकी शरण में जाना है वह सर्वोत्तम हो। भगवान् बुद्ध से अधिक इस शर्त को और कौन पूरी करेगा? वे वास्तविक अर्थों में संसार के इतिहास के सर्वोत्तम पुरुष हैं। प्रत्येक बौद्ध स्मरण करता है कि 'वे भगवान् मुक्त पुरुष, पूर्ण ज्ञानी, विद्या और आचरण से युक्त, सुन्दर गतिवाले, लोकविद्, पुरुषों को संयमी बनाने के लिये अद्वितीय सारथी-स्वरूप और देवताओं और मनुष्यों के शास्ता हैं। वे महर्षि हैं, महामुनि हैं, जिन हैं, विनायक हैं, धर्मचक्र-प्रवर्तक हैं। परन्तु विशुद्ध वैज्ञानिक अध्ययन में बुद्धानुस्मृति का विधान बौद्ध साधक की दृष्टि से नहीं हो सकता। इस अध्ययन में तो उसका एक वैज्ञानिक और तात्त्विक महत्त्व ही है। तथागत ने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से कोटि-कोटि मानवों को शताब्दियों से शान्ति और ज्ञान का सन्देश दिया है। असंख्य कवियों, शिल्पियों, मूर्तिकारों और विचारकों ने उससे प्रेरणा प्राप्त की है। अतः उनके उपदेशों के समान उनका व्यक्तित्व भी तत्त्वदर्शियों के लिये अध्ययन और मनन का अद्वितीय विषय है। यद्यपि विचारों के क्षेत्र में व्यक्तियों का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, परन्तु तथागत इसके एक सबसे बड़े अपवाद हैं। बुद्ध का जीवन स्वयं दर्शन है। दार्शनिक साधना में बुद्ध तथागत जैसी दूसरी मिसाल मिलना मुश्किल है। उनके जीवन की पूरी कहानी हमें उपलब्ध है और वह ऐतिहासिक है। हम अक्षपाद, कपिल और बादरायण की ओर जिज्ञासाभरी दृष्टियों से देखते हैं किन्तु उनकी जीवन-स्मृतियों की एक अस्पष्ट द्युति भी हम पाते नहीं, हम जाबाल, श्वेतकेतु, भारद्वाज, जैवलि, प्रतर्दन और उद्दालक की ओर देखते हैं और निराश हो जाते हैं, किन्तु बुद्ध भगवान् के जीवन के विषय में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, हमारी जिज्ञासाएँ सर्वथा सावकाश हैं। उन पूर्ण ज्ञानी महापुरुष की अनुस्मृतियां मनुष्य के लिए कितने

(१) परमत्थजोतिका (खुद्दक पाठ की अट्ठकथा), पृष्ठ १६ (पालि टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)

उपयोग की वस्तुएँ हैं, इसका ठीक अनुमान नहीं किया जा सकता। शाक्यमुनि ही शील, समाधि और प्रज्ञा रूप विशुद्धिमार्ग के द्वारा सभी दुःखों के यहीं आत्यन्तिक विनाश रूप निर्वाण के साधिकार उपदेष्टा हो, विक्रम के पूर्व पाँचवीं शताब्दी के उस विचिकित्सामय युग में चतुरार्य सत्यों के साक्षात्कर्ता प्रथम ऋषि हुए, अतः उनके समकालीन वातावरण पर उनके उपदेशों की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसे जानने के लिए उनके द्वारा उपदिष्ट परम तत्त्व रूप धर्म और संघ रूप से उसकी रक्षा के लिए प्रतिष्ठापित उस तत्त्व पर आचरण करने वाले साधकों का समूह रूप संघ भी हमारे अध्ययन के कितने व्यापक विषय होने चाहिए यह बताने की आवश्यकता नहीं। फिर भगवान् तथागत निश्चित इतिहास के विषय हैं। उनके जीवन, धर्म और संघ सम्बन्धी विवरण ही नहीं, बल्कि अन्य तत्सम्बन्धी पारिपार्श्विक सामग्री भी बहुत मात्रा में उपलब्ध है। यह ठीक है कि बाद में चलकर महासांघिकों ने, (विशेषतः अन्धकों ने) उन्हें 'लोकोत्तर बुद्ध' (पालि 'लोकुत्तर बुद्ध') कह कर पुकारा, वैपुल्य- वादियों (अथवा वेतुल्यवादियों) ने उनकी ऐतिहासिकता का ही निषेध किया, 'बुद्धचरित' 'दिव्यावदान', 'ललित विस्तर' और 'महावस्तु' आदि के रचयिताओं ने उनके ऐतिहासिक जीवन को काव्यमय सत्य का विषय बनाया (यद्यपि 'बुद्ध-चरित' के वर्णनों की विशेषता उनका संयम है), जिससे बुद्ध-जीवन की ऐतिहासिकता कुछ दबसी गई। इसी कारण आज भी सेनाँ जैसे अनेक पश्चिमी विद्वानों ने उनके जीवन के ऐतिहासिक तथ्य को सन्देह का विषय बनाकर उसके विषय में 'पौराणिक गाथा' जैसी बात कहने का प्रचार किया। चाहे श्रीमती रायस डेविड्स के मतानुसार उपर्युक्त विद्वान् (सेनाँ) का मन्तव्य तथागत की ऐतिहासिकता का निषेध करना भले ही न रहा हो, यह ठीक है कि अनेक पश्चिमी विद्वान् आज भी बुद्ध-जीवन की पौराणिक व्याख्या को महत्त्व देते हैं। डा० आनन्द कुमारस्वामी और कुमारी आई० बी० हॉर्नर जैसे स्थविरवाद बौद्ध धर्म के गम्भीर विद्वान् जब सन् १९४८ में यह लिखने में संकोच नहीं करते कि "यद्यपि लेखक की प्रवृत्ति पौराणिक व्याख्या की ओर झुकने की है, फिर भी बुद्ध की ओर निर्देश यहाँ इस प्रकार किये जायँगे जैसे कि ऐतिहासिक व्यक्ति के प्रति[1]" तो हम समझ सकते हैं कि विद्वानों के मन में भी कितना अन्धकार रह सकता है। परन्तु चाहे सेनाँ हों, चाहे आनन्द कुमारस्वामी और चाहे

(१) आनन्द कुमार स्वामी तथा आई० बी० हॉर्नर द्वारा प्रस्तुत 'दि लिविंग थॉट्स ऑव गोतम दि बुद्ध', पृष्ठ २

आई० बी० हॉर्नर, इन सबके लिए केवल एक ही उत्तर पर्याप्त है। लुम्बिनी के शालोद्यान में खड़ा हुआ प्रियदर्शी सम्राट् अशोक का शिलास्तम्भ, शताब्दियों को चीरता हुआ, आज भी अपने सन्देश को निरन्तर बुलन्द करता हुआ उच्च स्वर से हमारे सामने उद्घोषित कर रहा है—'हिद बुधे जाते सक्यमुनिति हिद भगवा जातेति' अर्थात् 'यहीं शाक्यमुनि बुद्ध उत्पन्न हुए थे, यहीं भगवान् उत्पन्न हुए थे'। इतना ही नहीं, आज तो पुरातत्त्वविदों के प्रयास से वे सभी स्थान निश्चय रूप से प्राप्त हैं, जहाँ जाकर गवेषक देख सकते हैं कि कहाँ भगवान् तथागत उत्पन्न हुए थे, कहाँ उन्होंने अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की थी, कहां उन्होंने अनुत्तर धर्मचक्र प्रवर्तन किया था और कहाँ अन्त में उन्होंने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया था। तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व अशोक को इन बातों में कोई सन्देह नहीं था। अतः तथागत के जीवन के ऐतिहासिक महत्त्व को कम करने का प्रयत्न मूर्खता ही होगी। ऐतिहासिक बुद्धि के सन्तोष के लिये हमने यह बात कही है। तत्त्वपक्षपातिनी भारतीय मनीषा तो सद्धर्म के अस्तित्त्व में ही बुद्ध के अस्तित्त्व का सर्वोत्तम साक्ष्य देखती है। प्रथम शताब्दी ईसवी में ही जब ग्रीक राजा मेनान्डर ने भदन्त नागसेन से पूछा कि बुद्ध हुए हैं, इसमें प्रमाण क्या है, तो भदन्त ने किसी ऐतिहासिक या संघीय परम्परा का उल्लेख न किया जिसे वे आसानी से कर सकते थे। उन्होंने यह कहना उचित समझा, "महाराज! ये चीज़ें अभी तक मौजूद हैं जो उन सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा काम में लाई गई थीं। उन सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध के द्वारा काम में लाई गई चीजें ये हैं—(१) चार स्मृति-प्रस्थान (२) चार सम्यक् प्रधान (३) चार ऋद्धिपाद (४) पाँच इन्द्रियाँ (५) पांच बल (६) सात बोध्यंग और (७) आर्य अष्टांगिक मार्ग। इनको देखकर कोई भी जान सकता है और विश्वास कर सकता है कि भगवान् अवश्य हुए हैं"। आगे भदन्त ने बतलाया, "बहुत जनों को तारकर उपाधि के मिट जाने से बुद्ध निर्वाण को प्राप्त कर चुके हैं। इस अनुमान से जान लेना चाहिए कि वे पुरुषोत्तम हुए हैं।" भदन्त की तात्त्विक प्रमाण-परम्परा आगे बढ़ती ही गई, "संसार के देवताओं और मनुष्यों को धर्मामृत पाए हुए देख पता लगाना चाहिए कि धर्म की बड़ी धार बही होगी।"...... उत्तम गन्ध की महक पाकर लोग पता लगा लेते हैं कि जैसी गन्ध बह रही है उससे मालूम होता है कि फूल पुष्पित हुए होंगे। वैसे ही यह शील की गन्ध देवताओं और मनुष्यों में बह रही है,[1] इसी से समझ लेना

---

(१) मिलिन्द पञ्हो (अनमान पञ्हो)

चाहिए कि अलौकिक बुद्ध हुए होंगे ।"[1] ऐतिहासिक भाषा में हम इसे यों कह सकते हैं कि भारत और सम्पूर्ण एशिया का इतिहास बुद्ध के जीवन-अस्तित्व का साक्षी है । फिर उन कारुणिक शास्ता ने महान् भिषक् के रूप में रोगग्रस्त जनता के लिये जो अमृत की दुकान खोली है, वह तो आज भी विद्यमान है । भदन्त नागसेन की इस प्रेरणा के सामने कि 'कर्म का दाम देकर, उस अमृत को खरीद कर ले लो' सब कुछ इतिहासवाद आदि का कथन फीका और निःसार सा लगता है । वेतुल्लवादियों का यह कथन कि बुद्ध तो सदा तुषित-लोक में ही रहे और न वे इस लोक में ठहरे और न उन्होंने उपदेश ही किया, बाद में चलकर नागार्जुन जैसे मेधावी महायानिक आचार्यों के द्वारा अधिक दार्शनिक रूप से व्याख्यात किया गया और बुद्ध की ऐतिहासिकता से साफ तौर पर इंकार किया गया । दिव्यशक्ति-प्रदर्शन, भविष्यवाणी करना आदि जो बातें बुद्ध के द्वारा 'मिथ्याजीव' के रूप में निन्दित की गई थीं, वे भी स्वयं स्थविरवादियों के 'आटानाटीय सुत्त' जैसे पालि त्रिपिटक के ही अंशों में स्थान पा गईं और कालान्तर में तो बुद्ध-जीवन के अलौकिक तत्वों का इस हद तक प्रचार किया गया कि अन्य धर्म-संस्थापकों या महापुरुषों के समान उनका पूरा दैवीकरण ही कर दिया गया। मानुष बुद्ध का विशुद्ध विचार मनुष्यों की दृष्टि से ओझल हो गया । ऐसी हालत में काल्पनिक अतिरञ्जनाओं के अतिरिक्त परिणाम क्या हो सकता था ? किन्तु आज की स्वतन्त्र ऐतिहासिक गवेषणाओं ने फिर बुद्ध के व्यक्तित्व और उनके जीवन की प्रधान घटनाओं को उनके यथासम्भव याथात्म्य रूप में रखने का प्रयत्न किया है और इन सब अध्ययनों को प्रेरणा मिली है पालि साहित्य के स्वाध्याय से जिसमें बुद्ध का मानव-रूप सुरक्षित है । गौतम बुद्ध न केवल ऐतिहासिक महापुरुष ही हैं, बल्कि भारतीय इतिवृत्तात्मक इतिहास के वे एक प्रकार से प्रवर्तक भी हैं । भारतवर्ष का निश्चित घटनात्मक इतिहास उनके जीवन से प्रारम्भ होता है । भारतीय वाङमय में ऐतिहासिक साहित्य के अभाव का विदेशी विद्वान् चाहे जितना भी अतिरञ्जित वर्णन करें और चाहे अन्यत्र वह कम या अधिक कितना भी ठीक हो, किन्तु गौतम बुद्ध के विषय में तो वह कभी ठीक नहीं माना जा सकता । उनके विषय में अतुल ऐतिहासिक सामग्री है, यदि उसके ठीक उपयोग को हम जान सकें । यह ऐतिहासिक तत्त्व भगवान् बुद्ध के महत्त्व को ठीक दिशा में रख उसके तेज को बढ़ाने वाला है । न केवल बौद्ध दर्शन के भारतीय दर्शन के साथ सम्बन्ध दिखाने के प्रसंग में ही बल्कि समग्र

भारतीय दर्शन के इतिहास को प्रस्तुत करते समय अथवा उसके राजनैतिक अथवा सामाजिक इतिहास की ही एक रूप रेखा उपस्थित करते समय, इतना ही नहीं विश्व की संस्कृति अथवा उसके विचार शास्त्र का ही एक समग्र रूप से निर्देश करते समय, तथागत की जीवनचर्या के लिए एक पृथक् परि-च्छेद अर्पित न किया जाय, यह कभी सम्भव नहीं हो सकता। विश्व के सर्वविध इतिहास पर सम्यक् सम्बुद्ध का प्रभाव वस्तुतः इतना ही व्यापक है। चाहे हमारी जिज्ञासा किसी भी क्षेत्र को लेकर प्रवृत्त हो, हम मानवीय इतिहास में बुद्ध-जीवन के महत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। फिर दर्शन में तो सबसे अधिक हम यह जानना चाहेंगे ही कि बौद्ध संस्कृति का बहुगामी प्रवाह जिस मूल स्रोत से बहा, वे भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध कहाँ और किस वातावरण में उत्पन्न हुए थे, किस प्रकार उनका महाभिनिष्क्रमण हुआ था, कहाँ और किस प्रकार उन्होंने रोमहर्षण तप किया था और कहाँ उन भगवान् ने अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त कर प्राणियों को धर्मोपदेश किया था। सभी मनीषी गवेषक जो समालोचनात्मक रूप से ठीक ऐतिहासिक रूप में उनके मन्तव्य को जानना चाहेंगे, वे गवेषणा करेंगे ही कि कहाँ, कब और किन शब्दों में तथागत के द्वारा प्रथम धर्म चक्र का प्रवर्तन किया गया था और किन-किन जनपदों में भगवान् की चारिकाएँ हुई थीं, किन-किन संस्थागारों में भगवान् के कौन-कौन से सिंहनाद हुए थे, कौन-कौन वर्षावास भगवान् ने कहाँ-कहाँ बिताए थे और सम्यक् सम्बोधि पाने के समय से लेकर महापरिनिर्वाण के समय तक करीब ४५ वर्षों तक भगवान् के उपदेश का केन्द्रीय बिन्दु क्या था और अपने समय में प्रचलित विभिन्न मिथ्या दृष्टियों के सम्बन्ध में उनका क्या विचार था? सभी विचारशील मनुष्य जो जीवन की गम्भीरतम समस्याओं के साथ खिलवाड़ करने के पक्षपाती नहीं अथवा अपनी पोषित क्षुद्र भावनाओं और पक्षपात बुद्धियों की सान्त्वना के ही गवेषी नहीं, बल्कि साहस-पूर्वक विचार के द्वारा जो कुछ भी अनुकूल अथवा अननुकूल प्राप्त हो उसी को स्वीकार करने की इच्छा करने वाले हैं, वे भी तथागत में एक अन्यतम शरण प्राप्त करते हैं और फिर उनकी स्वाभाविक जिज्ञासा होती ही है, कि वे भगवान् कैसे शील वाले, कैसी प्रज्ञा वाले, कैसे विहार वाले और कैसी विमुक्ति वाले थे? उनका ब्रह्मचर्य कैसा समृद्ध, उन्नत, विस्तारित और देव और मनुष्यों में सुप्रकाशित था? उनका धर्म कैसा सु-आख्यात, सम्यक्-सम्बुद्ध-प्रवेदित और शान्ति देने वाला था? उनका संघ कैसा सरल, सुमार्ग पर प्रतिपन्न और

विमल-हृदय था ? कैसे वे भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध ध्यान की प्रशंसा करने वाले थे, निःशब्द को चाहने वाले थे, मार को विजय करने वाले थे, रोगियों की सेवा करने वाले थे ? मूल गन्ध कुटी में उनकी दिन-चर्या क्या रहती थी ? रात और दिन के विभिन्न याम उनके द्वारा किन-किन कृत्यों में विताए जाते थे, उनकी शिष्य मण्डली में कौन कौन से विशेष चारित्र्य-सम्पन्न व्यक्ति थे और उनकी तथागत में कैसी निष्ठा थी ? उपर्युक्त सभी प्रश्नों में संक्षेपतः बुद्ध, धर्म और संघ की अनुस्मृति आ जाती है और वैसे भी बौद्ध धार्मिक और दार्शनिक विकास के प्रकृत स्वरूप को समझने के लिए, जो विशेषतः धर्म और संघ से ही प्रारम्भ हुआ, हमें शास्ता के व्यक्तित्व और उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म एवं उसके अभ्यास करने वाले संघ के विषय में कुछ जानना अत्यन्त आवश्यक है । इसलिए संक्षिप्त तुलनात्मक दार्शनिक निरूपण में भी उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसका उपयोग अब हम करेंगे।

बुद्ध-जीवनी के उपादान और उनकी आपेक्षिक महत्ता

बुद्ध की अत्यन्त संक्षिप्त जीवनी और उनके द्वारा उपदिष्ट 'धम्म' तथा उनके ही द्वारा प्रतिष्ठापित 'संघ' के विषय में कुछ कहने के पूर्व हम संक्षेप रूप से बुद्ध-जीवनी के साहित्यिक उपादानों के सम्बन्ध में कुछ कहेंगे, यद्यपि आगे 'साहित्य और परम्परा' विषय पर विचार करते समय यह सब अधिक स्पष्ट रूप से स्वयं ही निरूपित हो जायगा। भगवान् बुद्ध के जीवन सम्बन्धी चर्चा उनके जीवनाध्याय के विभिन्न प्रकरणों को लेकर पालि-त्रिपिटक में अनेक बार आई है। कभी तो स्वयं बुद्ध ही उसके विषय में कुछ कहते दिखाए गए हैं और कभी अन्य प्रकार से उस पर प्रकाश डाला गया है । त्रिपिटक के ये वर्णन ही बुद्ध के जीवन को जानने के प्रामाणिकतम एवं प्राचीनतम उपादान हैं। इनके बाद महत्त्व की दृष्टि से स्थान आता है अट्ठकथाओं का, जिनकी संक्षिप्त विषय-वस्तु और स्वरूप पर हम स्थविरवाद के 'साहित्य और परम्परा' पर लिखते समय विचार करेंगे। यहां इतना ही कहना अपेक्षित है कि मूल पालि-त्रिपिटक में जो कुछ छोटी-मोटी खाइयां और गड्ढे कहीं-कहीं छोड़ दिए गए हैं उन्हीं को भरने का काम इन अट्ठकथाओं ने किया है। अतः ये त्रिपिटक की एक प्रकार से परिपूरक कही जा सकती हैं । संस्कृत के भाष्यों अथवा वार्तिकों की सी तो कोई बात इनमें उपलब्ध नहीं होती, किन्तु विशेषतः ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टियों से ये त्रिपिटक को

समझने और उसकी संगति लगाने के लिए अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ हैं। अतः निश्चय ही बुद्ध की चारिकाओं और वर्षावासों आदि का एक इतिवृत्तात्मक रूप उपस्थित करने के अलावा जिसका कि अट्ठकथाओं ने निश्चय ही एक अत्यन्त महनीय प्रयत्न किया है और जिसके आधार पर ही आधुनिक ऐतिहासिक विद्वान् इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित कहने में समर्थ हुए हैं, अट्ठकथाएँ स्वयं बुद्ध की दैनिक चर्या और उनके समसामयिक पारिपार्श्विक वातावरण को यथारूप में उपस्थित करने और उनके शिष्यों और शिष्याओं के कुछ अनुत्तर चित्र उपस्थित करने में भी समर्थ हुई हैं। इन सबके अतिरिक्त अट्ठकथाओं का और भी अधिक महत्त्व है जिसके कारण मूल बुद्ध-दर्शन के विषय में वे प्रमाण कोटि में आती हैं, किन्तु इसपर हम अन्यत्र विचार करेंगे। अट्ठकथाओं के बाद कुछ संस्कृत अथवा अर्द्धसंस्कृत (गाथा संस्कृत) में लिखे गये ग्रन्थों में बुद्ध-चरित उपलब्ध होता है, जिसकी प्रमाणकोटि ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत निचले स्तर की है। अश्वघोष कृत 'बुद्ध-चरित' बुद्ध के जीवन और उपदेशों सम्बन्धी एक श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ है। उनके 'सौन्दरनन्द' में भी बुद्ध-उपदेशों की एक अच्छी झलक मिलती है। 'ललित विस्तर' और 'महावस्तु' में बुद्ध-जीवनी का वर्णन है, परन्तु अतिरंजनाओं का आधिक्य है और अलौकिक तथ्यों के अत्यधिक समावेश के कारण उन्हें ऐतिहासिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

उत्तरकालीन युग में बुद्ध का जीवन, जैसा कि हम पहले भी संकेत कर चुके हैं, अनेक कल्पनाओं का विषय बन गया जिसमें ऐतिहासिक तत्त्व प्रायः कुछ नहीं था। इस कल्पना-तत्त्व का सर्वथा अभाव पिटक साहित्य में भी नहीं है, यद्यपि वहां वह बहुत कम है। उसमें से हम आसानी से ऐतिहासिक तत्त्व का निर्माण कर सकते हैं। हर हालत में हमें तो भगवान् बुद्ध के समान ही विभज्य व्याकरण करके सत्य को निकालना होगा, अभूत से भूत को प्राप्त करना होगा। फिर हमें विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे ग्रन्थों की परम्परा को भी समझना चाहिए, उनके रचयिताओं के मन्तव्यों को जानना चाहिए, उनके युगों और तत्कालीन समाज की मानसिक प्रवृत्तियों से परिचित होना चाहिए। कोई काव्य-लेखक कवि इतिहास-लेखक नहीं होता। ऐतिहासिक सत्य और काव्यमय सत्य में बहुत अन्तर है। अतः जो बात हमें कोई लेखक देना नहीं चाहता उसको उसमें न पाकर हमें उसकी अनुचित समालोचना नहीं करनी चाहिये। इस दृष्टि से

'बुद्ध चरित' जैसे ग्रन्थरत्नों का अपना महत्त्व है, फिर चाहे ऐतिहासिक तथ्यों की पूर्ण उपलब्धि उनमें भले ही न हो। साधारण जनता, एक समय था, जब कि किसी महापुरुष की महत्ता उस समय तक मानने को तैयार न होती थी जब तक कि देवता स्वयं आकर उसके जन्म पर उसके दर्शन न करें, पुष्प वृष्टि न करें, उसके जीवन की चर्या का विधान न बनावें, ऋतुएँ और वनस्पतियां उसके जन्म पर प्रफुल्लित न हो पड़ें, मेघ आकर वर्षा न करें. देव-मार-ब्रह्मा-सहित सारे लोक में प्रकाश न फैल जाय और उसकी महत्ता के सामने समग्र दश साहस्री लोक धातु ही प्रकम्पित न हो जाय[१]। यही कारण है कि इस प्रकार के अलौकिक वर्णनों की उद्भावना करने में एक युग के वैदिक परम्परा के पुराणकारों, बौद्ध वंश-ग्रन्थों के रचयिताओं (यद्यपि उनमें ऐतिहासिकता काफी अधिक है) और जैन पुराणों के लेखकों में होड़ सी लगी हुई है। काल की प्रवृत्ति के अनुसार इन सब चमत्कारपूर्ण बातों का समावेश अन्य महापुरुषों के समान बुद्ध के जीवन में भी उत्तरकालीन लेखकों के द्वारा कर दिया गया है, जिससे पालि-त्रिपिटक के विवरण आश्चर्यजनक मात्रा में विमुक्त हैं। हम मुख्यतः पालि त्रिपिटक के आधार पर ही बुद्ध-जीवन की मुख्य घटनाओं का कुछ उल्लेख यहां करेंगे।

गौतम बुद्ध ऐतिहासिक महापुरुष हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। कोसल देश के उत्तर में शाक्य क्षत्रियों के एक छोटे से गणतन्त्र कपिलवस्तु में ५६३ ईस्वी पूर्व अथवा ६२४ ई० पूर्व[२] गौतम का जन्म हुआ। राजा शुद्धोदन की महिषी माया देवी अथवा महामाया देवी के गर्भ से, जो कोलिय वंश की राजकुमारी थीं, इस आश्चर्यमय पुरुष का जन्म कपिलवस्तु से करीब चौदह-पन्द्रह मील की दूरी पर लुम्बिनी वन (रोमन देई स्टेशन से प्रायः आठ मील पश्चिम, नैपाल की तराई) में शाल वृक्षों के नीचे हुआ। महाराज

मूल पिटक और अनुपिटक साहित्य के आधार पर अत्यन्त संक्षिप्त बुद्ध-जीवनी देने का प्रयत्न— जन्म, यौवन और महाभिनिष्क्रमण

---

(१) अच्छरियधम्म-सुत्त (मज्झिम० ३।३।३) जैसे पालि-त्रिपिटक के अंशों में इस काव्यमय पद्धति का आश्रय लिया गया है, जिसके वास्तविक स्वरूप को हमें समझना चाहिये।

(२) परम्परा से प्रसिद्ध है कि गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण उनकी ८० वर्ष

अशोक के द्वारा स्थापित शिलास्तम्भ इसी तथ्य की सूचना देता है—'हिद बुधे जाते साक्यमुनिति हिद भगवा.जातेति'। गोतम (गौतम) के जन्म के सातवें दिन महामाया देवी का शरीरान्त हो गया और उनके बाद महा प्रजापती गोतमी, जो नवजात शिशु की मौसी थीं, उसकी क्षीरदायिका हुईं। उन्होंने बड़े प्रेम से बच्चे को पाला और बाद में अनन्य श्रद्धा भाव से उस सम्यक् सम्बोधि प्राप्त अपने बालक की अनुगामिनी हुईं। जिस प्रेम और लगन से उन्होंने गोतम को उसकी बाल्यावस्था में पाला था उसी का अनुस्मरण कराते हुए बाद में आयुष्मान् आनन्द ने, जब भगवान् ने यह स्वीकार कर लिया कि पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी प्रव्रज्या के सभी फलों को साक्षात्कार कर सकती हैं, मातृ-ग्राम की प्रव्रज्या के लिए वकालत करते हुए कहा था, 'भन्ते ! जो अभि-भाविका, पोषिका, क्षीरदायिका हो, भगवान् की मौसी महा प्रजापती गोतमी बहुत उपकार करनेवाली हो, जननी के मरने पर जिससे भगवान् को दूध पिलाया हो। . . . . भन्ते ! अच्छा हो स्त्रियों को भी प्रव्रज्या मिले।'[१] इन्हीं देवी ने अभिसम्बोधि प्राप्त कर पहली यात्रा में कपिलवस्तु आने पर भगवान् को भेंट स्वरूप अपने हाथ का कता, अपने ही हाथ का बुना, एक धुस्से (दुस्स) का जोड़ा भगवान् को अर्पित किया था। महाप्रजापती की विराग-भावना इतनी प्रबल थी कि तीन बार मना करने पर भी, फूले पैरों, धूल भरे शरीर से दुःखी, दुर्मना अश्रुमुख रोते हुए द्वार कोष्ठक के बाहर खड़ी रही कि किसी प्रकार भगवान् प्रव्रज्या की अनुज्ञा दे दें ! क्यों न हो, 'बुद्ध' की क्षीरदायिका जो रही थी ! अस्तु, इसी स्मरणीय देवी के द्वारा गोतम का उनकी बाल्यावस्था में पालन-पोषण हुआ। गोतम के उत्पन्न होने पर उनके विषय में, जैसी कि उस समय प्रथा थी, अनेक प्रकार की भविष्य-वाणियाँ भी की गईं। काल देवल नामक तपस्वी ने बताया कि यह बालक

की अवस्था में हुआ, और यह तिथि पश्चिमी विद्वानों द्वारा ४८३ ई० पूर्व मानी गई है, अतः उनका जन्मकाल ५६३ ई० पूर्व हुआ। लंका की परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण ५४४ ई० पूर्व हुआ। अतः इस परम्परा के अनुसार उनका जन्म ६२४ ई० पू० हुआ। हमें लंका की परम्परा ही अधिक मान्य है।

(१) देखिए पजापती पब्बज्जा सुत्त (अंगुत्तर० ४।२।१।१); विनय-पिटक—चुल्लवग्ग ११

आगे चलकर अवश्य ही बुद्ध होगा और कथा है कि वह अपनी मृत्यु को गोतम के 'बुद्धत्व' प्राप्त करने के पूर्व जानकर अपने भानजे को, जिसका नाम 'नालक' था, प्रव्रज्या दिला गया, जिसने तथागत के तथाधर्म में प्रतिष्ठित हो जाने पर उनके पास जा उस ज्ञान को सुना जो 'नालक ज्ञान' के नाम से आज भी हमारे लिए सुरक्षित है। सात दैवज्ञ ब्राह्मणों ने भी गोतम के विषय में बताया था कि ऐसे लक्षणों वाला बालक यदि गृहस्थ रहता है तो चक्रवर्ती राजा होता है और प्रव्रजित होने पर बुद्ध। कौण्डिन्य नामक तरुण ब्राह्मण ने तो निश्चयपूर्वक ही जान लिया था 'इसके घर में रहने का कोई कारण नहीं है, अवश्य ही यह विवृत कपाट बुद्ध होगा।' यही कौण्डिन्य उरुवेला जाकर तप करने लगे और जब इन्होंने जान लिया कि गोतम घर छोड़कर प्रव्रजित हो गए हैं तो वे उन उपर्युक्त सात ब्राह्मणों के पुत्रों के पास गए कि वे भी प्रव्रज्या ग्रहण कर उन महापुरुष से उपदेश ग्रहण करें। उनमें से चार ब्राह्मण कुमारों ने उनकी बात मानली और वे कौण्डिन्य ब्राह्मण के साथ उरुवेला में जाकर तपस्या करने लगे जहाँ कि बाद में भगवान् गोतम भी गए। पञ्चवर्गीय भिक्षुओं के रूप में इन्हीं पाँच ब्राह्मणों के प्रति वाराणसी में ऋषिपतन मृगदाव में (वाराणसियं इसिपतने मिगदाये) भगवान् बुद्ध का प्रथम उपदेश रूप धर्मचक्र प्रवर्तन भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे, हुआ। शाक्यों की प्रथा के अनुसार आषाढ़ मास में एक दिन खेत बोने का उत्सव मनाया जाता था जिसमें उनका सभापति राजा भी हल चलाता था। एक इसी प्रकार के अवसर पर, जातक-अट्ठकथा के वर्णन के अनुसार गोतम आसन मार, श्वास-प्रश्वास को रोक, एक जामुन के पेड़ के नीचे प्रथम ध्यान में स्थित हो गए। कुछ भी हो, गोतम बचपन से ही विचारशील थे, इसमें सन्देह नहीं। सोलह वर्ष के वे हुए और राहुल-माता (जिन्हें यशोधरा, गोपा या भद्रकृत्या भी कहा गया है) उनकी धर्मपत्नी हुईं। वृद्ध, रोगी, मृतक और प्रव्रजित पुरुषों को देखकर गोतम के कारुणिक हृदय में जो भावनाएँ प्रकट हुईं, वे कवियों के द्वारा और स्वयं त्रिपिटक में भी एक अत्यन्त हृदय द्रावक रूप में वर्णित की गई हैं। किन्तु ये दृश्य जैसा कि आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी ने भी कहा है, गृहत्याग के लिए पर्याप्त कारण नहीं थे[१]। यदि गोतम के गृहत्याग के केवल ये ही कारण होते तब तो मात्र भावावेश के गोतम की प्रव्रज्या

---

(१) देखिये विश्ववाणी का 'बौद्ध संस्कृति' विशेषांक (मई, १९४२), पृष्ठ ५०४

का और कोई उद्देश्य ही नहीं रहता। एक दो दुःखी, रोगी, वृद्ध या मृतक आदमियों के देखने के कारण ही गोतम ने जीवन का निषेध नहीं कर दिया था, बल्कि जीवन की गम्भीरतम समस्याओं का दर्शन करके ही उन्होंने रोते पिता और विलखती हुई महाप्रजापती गोतमी को छोड़ा था, राहुल-माता के विषय में तो कहना ही क्या? सार्वभौम दुःख का उन्होंने परिपूर्णतम साक्षात्कार किया था और वर्षों तक अपने ज्ञान और विराग को पकाया था। उस 'किंकुसल गवेसी' को क्या-क्या समस्याएँ उद्वेलित कर रही थीं, क्या-क्या चिन्ताएँ उसे सता रही थीं, इसे सम्भवतः संसार कभी जानेगा नहीं। हाँ, जो कुछ स्वयं उसने अपनी पूर्व अवस्था का वर्णन करते हुए छोड़ा है, उसी से हम उसकी चित्त-अवस्था का कुछ दिग्दर्शन मात्र कर सकते हैं। और इस तरह हमें जानना चाहिए कि गोतम की विरागावस्था इस हद तक बढ़ी हुई थी कि तीनों लोक ही उन्हें जलती हुई झोंपड़ी की तरह दिखाई पड़ते थे। 'हा कष्ट! हा शोक!' यह निरन्तर ही उनकी आह निकल रही थी। 'हाय! यह लोक कष्ट में पड़ा है!' इससे निःसरण जाना नहीं जाता!' यही भावना उन्हें सदा हुआ करती थी। विषयों में उनका मन लगता नहीं था। वे विश्वव्यापी दुःख का समाधान चाहते थे। वे मानव-मुक्ति के लिये सचेष्ट थे। अन्यथा प्रथम पुत्र के उत्पन्न होने पर उस स्वयं राजकुमार को 'राहु पैदा हुआ, बन्धन पैदा हुआ' इस प्रकार के मार्मिक वचन को निकालने की क्या ज़रूरत थी? बौद्ध दर्शन के अप्रतिम विद्वान् और पिटक और अनुपिटक साहित्य के ज्ञाताओं के मूर्धन्य आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी का विचार है कि यद्यपि तत्वज्ञान की गम्भीरतम जिज्ञासा ही गोतम के गृह-परित्याग का मूल कारण थी जिसके लिए वे अनेक कष्ट सहते हुए स्थान-स्थान पर और एक आश्रम से दूसरे आश्रम की ओर घूमे और अन्त में जिसके कारण उरुवेला में उन्होंने कठिन तप का आरम्भ किया, किन्तु जब कि ये सब बातें ठीक हैं, उनका खयाल है कि गोतम के गृह-त्याग का एक राजनैतिक कारण भी था जो अप्रधान रहते भी वहाँ विद्यमान अवश्य था। "शाक्यों के पड़ोसी और सम्बन्धी कोलिय राजा थे। वे सभी कोसल राज के अधीन हुए थे। किन्तु फिर भी शाक्यों और कोलियों में रोहिणी नदी के पानी के बारे में बार-बार युद्ध हुआ करता था। इसका नतीजा यह होता था कि दोनों को ही खेती के लिए पर्याप्त पानी नहीं मिलता था और आपस में लड़ने से बहुत हानि होने के अलावा कोसल राज को इन छोटे गण-

राज्यों की अन्तर व्यवस्था में हस्तक्षेप करने का बार-बार मौका मिलता था। इसलिए यह कलह गोतम को बुरा लगना स्वाभाविक था। अन्त में किसी अवसर पर कोलियों के विरुद्ध शस्त्र धारण से गोतम ने साफ़ इंकार कर दिया। इससे कठिन प्रसंग आ उपस्थित हुआ। इसका नतीजा यह होने वाला था कि शुद्धोदन के सारे कुटुम्ब का शाक्य देश से निष्कासन किया जाता। इस विपत्ति से मुक्त होने के लिए एक ही रास्ता था कि गोतम परिव्राजक हो जाते और उन्होंने उसी रास्ते को स्वीकार किया। शस्त्र धारण करना क्षत्रियों का कर्म है, यह कहकर गोतम को युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए आप्त मित्रों और पण्डितों ने अवश्य प्रवृत्त किया होगा। लेकिन अर्जुन की तरह गोतम का यह क्षणिक वैराग्य नहीं था। यह परिपक्व विचारों का परिणाम था। इसलिए स्वयं कोई भगवान् भी गोतम को शस्त्र उठाने के लिए प्रवृत्त नहीं कर सकता था।......कुटुम्ब के बचाने के लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं होने से उन्होंने (महा प्रजापती गोतमी और शुद्धोदन ने) रोते-रोते गोतम को आज्ञा दी। और गोतम आडार कालाम के आश्रम में चले गए। केवल कुटुम्ब का बचाना ही गोतम का उद्देश्य होता तो वह सात वर्ष तक घोर तपश्चर्या का प्रयत्न करके तत्वबोध का मार्ग नहीं खोजते। परिव्राजकों के तत्वज्ञान में से आदमी-आदमी के झगड़ों के मिटाने का कोई रास्ता अवश्य मिलेगा, यह उनका विश्वास था। गृहत्याग के उपर्युक्त कारण को ध्यान में रखने से गोतम के परिव्राजक जीवन के तपश्चर्यादिक सारे कार्यों का समन्वय प्रकट होता है। आडार कालाम के ध्यान मार्ग से कलह मिटाने का प्रश्न हल नहीं हो सकता था, इसलिए गोतम ने उसको छोड़कर उद्रक रामपुत्र का आश्रय लिया"[१]। स्पष्ट ही विदित होता है कि आचार्य कोसम्बी जी ने शाक्य और कोलियों के झगड़े को और सामान्यतः 'आदमी-आदमी के झगड़ों के मिटाने' को गोतम के गृह परित्याग के कारणत्व के रूप में कुछ अधिक महत्व दे दिया है। ऐतिहासिक रूप से यदि शाक्य और कोलियों में विवाद हुआ और गोतम ने उनके (कोलियों के) विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने से इंकार किया जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य-मनुष्य के बीच झगड़े को देख उनकी चिन्ता शक्ति कुछ और जाग्रत हुई जो उनको प्रव्रज्या के प्रति और भी अधिक प्रवण करने वाली हुई, तो इन बातों के मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु गोतम की विचारधारा में यह आदमी-आदमी के बीच होने वाला कलह अथवा उसके

(१) विश्ववाणी, 'बौद्ध संस्कृति' विशेषांक (मई, १९४२), पृष्ठ ५०४-५०५

मिटाने का रास्ता कोई इतना महत्वपूर्ण स्थान पा गया हो कि आडार कालाम और उद्रक रामपुत्र जैसे आचार्यों को उन्होंने इसीलिए छोड़ा हो कि वे उन्हें उपर्युक्त कलह को मिटाने का कोई निश्चित मार्ग नहीं बता सके हों, ऐसा तो कदाचित् हम नहीं कह सकते। यदि ऐसा हुआ होता तो बुद्ध एक उत्साही समाज-सुधारक हुए होते जैसे कि वह कभी नहीं थे। बुद्ध के उपदेश में सर्वप्रथम तो तृष्णा अथवा कामना का निरोध है जिसके द्वारा स्वतः ही सब झगड़ों का अन्त हो जाता है। किन्तु मनुष्यों-मनुष्यों के बीच होने वाले झगड़ों का हल पाने के लिए ही कोई गोतम की प्रव्रज्या हुई हो, ऐसा हम नहीं कह सकते, हाँ उसमें उसने भी योग दिया हो, ऐसा तो समझा जा सकता है। 'बुद्धत्व' प्राप्त करने के बाद भी तथागत ने स्पष्ट ही कहा कि 'हे धोतक! मैं लोक में किसी कथंकंथी को छुड़ाने नहीं जाऊँगा। इस प्रकार श्रेष्ठ धर्म को जानकर तुम इस ओघ को तर जाओगे।' वैसे भी शाक्यों पर बाद में विपत्ति आने पर तीन बार अपने मौन से प्रभाव डालकर भी जब भगवान् सफल नहीं हुए तो फिर अधिक उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। यदि अधिकरण समथ का कोई वास्तविक क्रियात्मक सामाजिक रूप, सिवाय उसके जो उनके अनुत्तर धर्म में स्वतः ही उपस्थित है, भगवान् ने अपने वर्षों के प्रयत्न स्वरूप निकाला होता तो वे उसे अवश्य यहाँ उपस्थित करते। किन्तु उनकी समस्या तो किसी देश अथवा काल से सीमित न होकर सर्वथा सार्वभौम और सार्वजनीन थी जिसमें दुःख की व्यापक और गम्भीरतम अनुभूति ही प्रधान थी, अतः जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच झगड़े भी समाधान पा सकते थे किन्तु उन सम्बन्धी हलकी जिज्ञासा गोतम के चित्त में इतनी प्रबल तो न थी कि उसी के आधार पर हम उनकी समस्त आध्यात्मिक जिज्ञासा, खोज और तपस्या को व्याख्यात कर सकें जो कि वास्तव में उसी सर्वव्यापी जलन की निवृत्ति के लिए की गई थी, जिसके विषय में स्वयं तथागत ने कहा था 'भिक्षुओ! सभी जल रहा है। क्या जल रहा है? चक्षु जल रही है, रूप जल रहा है' इत्यादि। इसी व्यापक दृष्टि से हमें बुद्ध-संन्यास को देखना चाहिए, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है। पूज्यपाद श्री आचार्य कोसम्बी जी द्वारा प्रदर्शित उपर्युक्त ऐतिहासिक साक्ष्य से हमारा विरोध नहीं, किन्तु गोतम के प्रव्रज्या-ग्रहण के प्रति उसके कारणत्व की सीमा के अनुमापन में ही हम उनकी तरह उसे उतना महत्व देने के लिए तैयार नहीं जितना कि उन्होंने दिया है। हमारा विनम्र मत है कि 'सम्मा दुक्खस्स, अन्तकिरियाय' (सम्यक् दुःख का अन्त करने के लिये) ही उन्तीस वर्ष की अवस्था में गोतम

ने प्रव्रज्या ली और उसका कोई बाह्य परिस्थितिजन्य मुख्य कारण न था। अतः शाक्यकुमार ने प्रव्रज्या ग्रहण की और इस गम्भीर वैराग्य के साथ कि उनके विषय में निश्चय ही ऐसा कहा जा सकता है कि 'हे महापुरुष ! तू ने लौटकर देखने का काम कभी नहीं किया'। राहुल कुमार उस समय एक सप्ताह के थे। गोतम का महाभिनिष्क्रमण मानवता का एक श्रेष्ठतम काव्य है, अनेक कवियों और चित्रकारों के यश का वह उपादान है, दर्शन-साधना के इतिहास में वह एक अत्यन्त क्रान्तिकारी व्यापार है और जो उसे देखता है वह पवित्रता से अभिभूत हुए विना नहीं रह सकता। जातक-अट्ठकथा (निदान कथा) की काव्यमय भाषा में उस समय देवताओं ने उनके चारों ओर मसाल ग्रहण किए और इस श्री और सौभाग्य के साथ बोधिसत्व गए। विश्व के लिए ही तथागत की वह प्रव्रज्या थी, तृष्णा के निवेशनों को उच्छिन्न करने के लिए ही उस महान् वीर का वह अदम्य उत्साह था। कपिलवस्तु के दरवाज़ों को छोड़ते हुए उस विरागी के लिये विश्व के साधक नतमस्तक हैं।

तपस्या, मार-विजय और अभिसम्बोधि-प्राप्ति

प्रव्रजित हो शाक्यकुमार ने एक सप्ताह अनूपिया नामक आमों के बाग में प्रव्रज्या सुख में बिताया, फिर एक ही दिन तीस योजन मार्ग पैदल चल कर अनोमा (औमी) नदी को पार करते हुए राजगृह पहुँचे। वहाँ के राजा ने उन्हें महान् ऐश्वर्य प्रदान करना चाहा, किन्तु उनको किस बात की कामना हो सकती थी। राजगृह के द्वार से बाहर निकलते हुए शाक्यकुम को जब हम मधूकरी करते देखते हैं जिससे उनकी अनभ्यस्त आँतें मुख से बाहर निकलती-सी जान पड़ती हैं, तो एक करुण दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। कितना महँगा मूल्य गोतम ने ज्ञान-प्राप्ति के लिए चुकाया! अनेक प्रकार से अपने शरीर को कष्ट देते हुए शाक्यकुमार आडार कालाम नामक तपस्वी के पास पहुँचे जो कुछ-कुछ सांख्य तत्त्व के उपदेष्टा थे। अपने गृह परित्याग से इस अवस्था पर्यन्त का वर्णन करते हुए भगवान् ने बोधिराजकुमार से कहा था 'राजकुमार ! बोधि से पहले, बुद्ध न हो बोधिसत्व होते समय, मुझे भी यही होता था 'सुख सुख में प्राप्य नहीं है, सुख दुःख में प्राप्य है, इसलिए राजकुमार ! मैं उस समय नव वयस्क ही, बहुत काले केशों वाला, सुन्दर यौवन से युक्त, प्रथम वयस् में, माता-पिता के अश्रुमुख होते, घर से बेघर हो प्रव्रजित हुआ। इस प्रकार प्रव्रजित हो जहाँ आलार कालाम था, वहाँ गया।'

आलार कालाम से उन्होंने क्या सीखा और किस प्रकार से वे उनसे निराश हुए, इसे भी बुद्ध के वचनों में ही सुनिए 'जाकर आलार कालाम से कहा, आवुस कालाम ! इस धर्म-विनय में मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूँ।' ऐसा कहने पर राजकुमार ! आलार कालाम ने मुझ से कहा, 'विहरो आयुष्मन्, यह ऐसा धर्म है जिसमें विज्ञ जन शीघ्र ही अपने आचार्यत्व को स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहार करेगा।' सो मैंने जल्दी ही, क्षिप्र ही, उस धर्म को पूरा प्राप्त कर लिया। तब मैंने उतने ही ओठ छुए मात्र से, कहने-कहाने मात्र से, ज्ञानवाद और स्थविरवाद (वृद्धों का सिद्धान्त) कहने लगा 'मैं जानता हूँ, देखता हूँ'। तब मेरे मन में ऐसा हुआ—आलार कालाम ने 'इस धर्म को केवल श्रद्धा से स्वयं जानकर साक्षात्कार कर प्राप्त कर मैं विहरता हूँ' यह मुझे नहीं बतलाया। ज़रूर आलार कालाम इस धर्म को जानता देखता विहरता होगा। तब मैं जहाँ आलार कालाम था वहाँ गया। जाकर आलार कालाम से पूछा 'आवुस कालाम ! तुम इस धर्म को स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, प्राप्त कर कहाँ पर्यन्त बतलाते हो'। ऐसा कहने पर राजकुमार ! आलार कालाम ने 'आकिंचन्यायतन' बतलाया। सो मैं विना देर किए ही उस धर्म को स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर विहरने लगा। इस तरह मेरे आचार्य होते हुए भी आलार कालाम ने मुझ अन्तेवासी को अपने बराबर के स्थान पर स्थापित किया, बड़े सत्कार से सत्कृत किया। तब मुझे यों हुआ 'यह धर्म न निर्वेद के लिए है, न वैराग्य के लिए, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न सम्बोधि के लिए, और न निर्वाण के लिए। आकिंचन्यायतन तक उत्पन्न होने के लिए यह है। सो मैं राजकुमार ! उस धर्म को अपर्याप्त मान उस धर्म से उदास हो चल दिया'[१]। वहाँ से चलकर वे उद्दक रामपुत्त नामक आचार्य के पास पहुँचे। 'सो राजकुमार ! मैं 'क्या कुशल है' इसकी गवेषणा करता हुआ ('किं कुसल गवेसी' हुआ) सर्वोत्तम, श्रेष्ठ शान्तिपद को खोजता हुआ, जहाँ उद्दक रामपुत्त था, वहाँ गया[२]। यह उद्दक रामपुत्त 'नैव संज्ञा-नासंज्ञायतन' नामक योग की अवस्था का उपदेश करता था। इस धर्म से भी उदासीन हो वे चल दिए। उन्होंने सोचा कि जैसे ये पुरुष पुरुषार्थ कर सकते हैं उस प्रकार

(१) बोधिराजकुमार सुत्त (मज्झिम० २।४।५) देखिये विनय-पिटक-चुल्लवग्ग ५ भी।

(२) उपर्युक्त के समान ही।

वे भी पुरुषार्थ के योग्य हैं, अतः अपने ही 'प्रधान' या प्रयत्न से उन्हें सत्य का साक्षात्कार करना चाहिए। घूमते-घामते शाक्यकुमार उरुवेला की वनस्थली में पहुँचे। 'वहाँ मैंने रमणीय भूमि, सुन्दर वनखण्ड, बहती नदी, श्वेत, सुप्रतिष्ठित चारों ओर रमणीय गोचर ग्राम देखा। तब मुझे राजकुमार! ऐसा हुआ—रमणीय है यह भूमिभाग! प्रधान—(निर्वाण सम्बन्धी प्रयत्न,) इच्छुक कुलपुत्र के प्रधान के लिए यह बहुत ठीक स्थान है। सो मैं 'प्रधान के लिए यह ठीक है' सोच वहीं बैठ गया[1]'। इसी स्थान पर कौण्डिन्य आदि पाँच परिव्राजक शाक्यकुमार को मिले। गोतम ने कठिन तपस्या प्रारम्भ की। उनके रोमहर्षण तप का पूर्ण वर्णन त्रिपिटक में अनेक बार आया है। पर उसे यहाँ देना असम्भव है। संकेत रूप से ही कुछ दिग्दर्शन करना आवश्यक है। 'तब राजकुमार! मेरे मन में हुआ—क्यों न मैं दाँतों के ऊपर दाँत रख, जिह्वा द्वारा तालू को दबा, मन से मन को निग्रह करूँ, दबाऊँ, सन्तापित करूँ। तब मेरे दाँत पर दाँत रखने, जिह्वा से तालू दबाने, मन से मन को पकड़ने, दबाने, तपाने में, काँख से पसीना निकलता था। उस समय मैंने न दबने वाला वीर्य आरम्भ किया था, स्मृति मेरी बनी थी, काया भी तत्पर थी[2]'। 'तब मुझे यों हुआ—क्यों न मैं श्वास-रहित ध्यान धरूँ? सो मैंने राजकुमार! मुख और नासिका से श्वास का आना-जाना रोक दिया। तब राजकुमार! मेरे मुख और नासिका से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने पर कान के छिद्रों से निकलते हवाओं का बहुत अधिक शब्द होने लगा.........तब मेरे मुख, नासा और कर्ण से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने से मूर्धा में बहुत अधिक बात टकराने लगे... सिर में बहुत अधिक वेदना होने लगी, बहुत अधिक बात पेट को छेदने लगे, काया में अत्यधिक दाह होता था[3]"। "देवता भी मुझे कहते थे 'श्रमण गोतम मर गया'। कोई-कोई देवता यों भी कहते थे 'श्रमण गोतम मरा, नहीं मरेगा, श्रमण गोतम अर्हत् है, अर्हत् का तो इस प्रकार का विहार होता ही है'[4]। अन्त में गोतम अल्पाहारी और निराहारी भी हो गए। 'जैसे आसीतिक (वनस्पति विशेष) की गाँठें, वैसे ही उस अल्प आहार से मेरे अंग-प्रत्यंग हो गए। उस अल्प आहार से जैसे ऊँट का पैर, वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया, जैसे सुओं की पांती वैसे ही ऊँचे-नीचे मेरे पीठ के काँटे हो गए, जैसे पुरानी शाला की कड़ियाँ अँहण

(१) उपर्युक्त के समान ही।
(२,३,४) बोधि राजकुमार-सुत्त (मज्झिम० २।४।५)

बँहण होती हैं, वैसी ही मेरी पँसुलियाँ हो गई। जैसे गहरे कुए में पानी का तारा गहराई में बहुत दूर दिखाई देता है ऐसे ही मेरी आखें हो गई। जैसे कच्चा तोड़ा कड़ुआ लौका हवा धूप से सम्पुटित होकर मुर्झा जाता है, ऐसे ही मेरे शिर की खाल चिचुक गई थी, मुर्झा गई थी। राजकुमार! यदि मैं पेट की खाल को मसलता तो पीठ के काँठों को पकड़ लेता था, पीठ के काँठों को मसलता तो पेट की खाल को पकड़ लेता था। उस अल्पाहार से मेरे पीठ के काँठे और पेट की खाल बिलकुल सट गई थी। यदि मैं पाखाना या मूत्र करता तो वहीं भहरा कर गिर पड़ता था। जब मैं काया को सहराते हुए हाथ से शरीर को मसलता था तो हाथ से शरीर मसलते वक्त काया से सड़ी जड़ वाले रोम झड़ पड़ते थे। मनुष्य भी मुझे देखकर कहते थे 'श्रमण गोतम काला है'। कोई कोई मनुष्य कहते थे 'श्रमण गोतम काला नहीं है, श्याम है'। कोई-कोई मनुष्य कहते थे 'श्रमण गोतम काला नहीं है, न श्याम ही है, मंगुर वर्ण है'। राजकुमार! मेरा वैसा परिशुद्ध, पर्यवदात छवि वर्ण नष्ट हो गया था'[1] निश्चय ही अभूतपूर्व तपस्या थी शाक्य गोतम की! 'तब मुझे यों हुआ 'अतीत काल में जिन किन्हीं श्रमणों या ब्राह्मणों ने घोर, दुःख, तीव्र और कटु वेदनाएँ सही होंगी, इतने ही पर्यन्त सही होंगी, इससे अधिक नहीं, भविष्य काल में भी जो कोई श्रमण या ब्राह्मण घोर, दुःख, तीव्र और कटु वेदनाएँ सहेंगे, इतने पर्यन्त ही सहेंगे, इससे अधिक नहीं। आजकल भी जो कोई श्रमण या ब्राह्मण ......इतने ही पर्यन्त, इससे अधिक नहीं[2]। किन्तु इस सब कठिन तपश्चर्या से शाक्य गोतम को लाभ क्या हुआ? इस आत्म-निर्यातन के आत्यन्तिक मार्ग पर चलकर उनको अधिगति भी क्या हुई? इसके विषय में उनकी अत्यन्त ही स्पष्ट और क्रान्तिकारी वाणी है, "राजकुमार! उस दुष्कर चारिका से उत्तर मनुष्य-धर्म, अलमार्य-ज्ञान-दर्शन, विशेष (परम तत्त्व) को मैंने नहीं पाया। विचार हुआ कि बोध के लिए क्या कोई दूसरा मार्ग है[3]?" तपस्वियों में वे परम तपस्वी भी हुए, रूक्षाचारियों में परम रूक्षाचारी भी, जुगुप्सुओं में परम जुगुप्सु भी और एकान्तसेवियों में परम विविक्त भी[4] और फिर वहाँ सारिपुत्र! मेरी यह तपस्विता थी—मैं अचेलक (नग्न) रहता था और बुलाई भिक्षा का त्यागी,

---

(१) बोधि राजकुमार सुत्त (मज्झिम० २।४।५)
(२) उपर्युक्त के समान ही।
(३,४) उपर्युक्त के समान ही।

'ठहरिये' कह दी गई भिक्षा का त्यागी, न अपने लिए की गई भिक्षा को, न अपने उद्देश्य से किए गए को और न निमन्त्रण को खाता था, न घड़े के मुख से ग्रहण करता था.....मैं एक ही घर में भिक्षा करने वाला था, या केवल एक कवलभर खाने वाला होता था'[1] इस प्रकार अत्यन्त कठिन तपश्चरण भी किया, इतना कि बातरोग के कारण पीठ उनकी अन्त तक पीड़ित रही[2], किन्तु इससे लाभ ? गोतम का साक्ष्य है कि लाभ इससे उन्हें कुछ न हुआ, सत्य की प्राप्ति उन्हें इस आत्मक्लेश से नहीं हुई। तब स्थूल आहार ग्रहण करना प्रारम्भ किया। कौण्डिन्य आदि पांच ब्राह्मण परिव्राजकों ने जो उनके साथ तपस्या कर रहे थे समझा कि गोतम पथ से भ्रष्ट हो गए। अतः उन्हें छोड़ कर वे ऋषिपतन चले गए। सुजाता नाम की एक कृषक-पुत्री जो एक थाल खीर का सद्यः बोधि के लिए प्रस्तुत शाक्यकुमार को देकर विश्वसाधना के इतिहास में अमर हो गई है, वहां आई और उसका अर्पित किया हुआ सुमधुर पायास ही भगवान् ने वैशाखपूर्णिमा के उस शुभ प्रभात में खाया जो उनके लिए 'बुद्ध' होने के बाद वाले ४९ दिनों के लिए आहार हुआ। इतने काल तक न तो भगवान् ने दूसरा आहार किया, न स्नान किया, और न मुख धोया। केवल ध्यान सुख में ही इन सप्ताहों को परिपूर्ण समाधि-अवस्था में भगवान् ने बिताया। सुजाता की खीर को खा कर, सोने का थाल उन्होंने नदी में फेंक दिया और इस प्रकार संकल्प कर ध्यान में बैठ गए 'चाहे मेरा चमड़ा हड्डी ही क्यों न बाकी रह जाय, चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जाए, किन्तु सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किए विना इस आसन को नहीं छोड़ूंगा।' पूर्व की ओर मुंह कर सौ बिजलियों की कड़क से भी न छूटनेवाला अपराजित आसन लगा कर वे बैठ गए। त्रिपिटक और उत्तरकालीन बौद्ध संस्कृत साहित्य की काव्यमय भाषा में फिर मार सेना से उनका संघर्ष हुआ। वायु, वर्षा, पाषाण, हथियार, धधकती राख, बालू, कीचड़ और अन्धकारमय वृष्टि आदि से भी मार अपनी सेना सहित शाक्यकुमार को विचलित नहीं कर सका, बोधि-प्राप्ति के लिये वज्र समाधि लगाये हुए गोतम ने मार को पहचान लिया। मार की तीनों दुहिताएँ (तृष्णा, अरति और राग) गोतम का कुछ न बिगाड़ सकीं। पापी मार के तीनों पुत्र (विभ्रम, हर्ष और दर्प) हताश हो गये। न

(१) उपर्युक्त के समान ही।
(२) देखिये महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३) की अट्ठकथा।

भय-भैरव गोतम को विचलित कर सके और न मधुर प्रलोभन। इस सब का आशय केवल यही है कि गोतम ने अपनी निम्न प्रकृति पर विजय प्राप्त की, बुरे और विचलित करनेवाले विचारों को उन्होंने पूरी तरह दबा दिया, सभी चित्त के विकारों को पूरी तरह से हटा दिया। यही कामाधिपति मार की विजय का संक्षिप्त तत्त्व है और इसकी समानताएँ भारतीय और विदेशी साधना के इतिहास में भी लभ्य हैं—जो अधिकतर बुद्ध के मार-विजय से ही उधार ली हुई हैं। इस प्रकार उसी दिन अर्थात् वैशाख पूर्णिमा के दिन ही उन महापुरुष ने अनुत्तर आत्म-विजय प्राप्त कर सभी बन्धनों और आस्रवों को उच्छिन्न कर अपने चीवर (वस्त्र) के ऊपर बरसते हुए बोधिवृक्ष के अंकुरों से मानो लाल मूंगों की तरह पूजित होते हुए, रात के प्रथम याम में पूर्व जन्मों का ज्ञान, मध्यम याम में दिव्यचक्षु पा, अन्तिम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान प्राप्त किया। यही उनके द्वारा अभिसम्बोधि का पाना था। विश्व की दर्शन-साधना में यह दृश्य अत्यन्त महत्व रखता है और शाक्यसिंह के लिए भी यह एक अनुत्तर विजय थी। गोतम का भविष्य का गर्भशयन बन्द हो गया, उनके अकुशल धर्म सब नष्ट हो गए और इसी ज्ञान को प्राप्त कर वे 'बुद्ध' हो गए, जिसके विषय में उन्होंने बाद में भी कहा 'ज्ञातव्य को जान लिया, भावनीय की भावना कर ली। परित्याज्य को छोड़ दिया, अतः हे ब्राह्मण ! मैं बुद्ध हूँ।'[१] इसीलिए तो शैल ब्राह्मण जैसे प्रसिद्ध ब्राह्मण साधकों के द्वारा भी उनकी इस प्रकार स्तुति की गई 'हे चक्षुष्मन् ! तुम्हीं बुद्ध हो, तुम्हीं शास्ता हो, तुम्हीं मार विजयी मुनि हो। उपाधि तुम्हारी हट गई, आस्रव तुम्हारे विदारित हो गए। सिंह समान भव की भीषणता से रहित तुम उपादान रहित हो। हे वीर ! पाद प्रसारित करो ये नाग (पाप रहित) शास्ता की वन्दना करें'[२]। परमार्थ रूप से निखिल ज्ञान दर्शी के रूप में 'बुद्ध' पद का क्या तात्पर्य हो सकता है, इस विषय में तो बुद्ध वचनों के साक्ष्य पर हम बाद में विचार करेंगे, यहां उपर्युक्त बुद्ध-वचन के अर्थ में ही इसके तात्पर्य को जानकर सन्तोष करना चाहिये। तथा-धर्म अर्थात् सत्य धर्म में प्रतिष्ठित होने के कारण ही अथवा उसे प्राप्त करने के कारण ही शाक्यसिंह की इसी समय से 'तथागत' संज्ञा हुई, जो एक अत्यन्त सुन्दर और अभूतपूर्व नाम है।

---

(१) सेल सुत्त (मज्झिम० २।५।३)
(२) सुत्त निपात ३।७ (सेल सुत्त); सेल-सुत्त (मज्झिम० २।५।३) भी

वे मुनि सम्यक् सम्बुद्ध बनकर परम महत्ता के भागी हुए। 'ब्राह्मण! अविद्या में पड़ी, अविद्या रूपी अण्डे से जकड़ी इस प्रजा में मैं अकेला ही अविद्या के अण्डे के खोल को फोड़कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण! लोक में ज्येष्ठ हूँ, श्रेष्ठ हूँ। मैंने ही ब्राह्मण! न दबने वाला वीर्य आरम्भ किया था, विस्मरण रहित स्मृति मेरे सम्मुख थी, अचल और शान्त मेरा शरीर था, एकाग्र समाहित मेरा चित्त था'[1]। जिस प्रकार वे भगवान् सभी ध्यानों की भावना कर, चतुरार्य सत्यों के दर्शन कर अविद्या के अण्डे को फोड़कर सम्यक् सम्बोधि का साक्षात्कार करनेवाले हुए, इसका कुछ अधिक विवरण अपेक्षित है क्योंकि इसके आधार पर ही न केवल उनके समग्र धर्म और दर्शन का समझना अवलम्बित है बल्कि अपने प्रभाव विशेष के कारण भी सभी दर्शन के विद्यार्थियों की स्मृति में एक विशेष स्थान का अधिकारी है। तो फिर सम्यक् सम्बुद्ध के वचनों में ही हम इस अनुत्तर दर्शन-कथा को सुनें जिसे उन्होंने बाद में वेरंजक नामक ब्राह्मण से कहा था। 'सो ब्राह्मण! मैं सवितर्क, सविचार, विवेक से उत्पन्न प्रीति सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगा। फिर वितर्क और विचार शान्त के शान्त होने पर भीतरी शान्ति, चित्त की एकाग्रता, अवितर्क, अ-विचार, समाधि से उत्पन्न प्रीति सुख वाले द्वितीय ध्यान कोप्राप्त हो विहरने लगा। प्रीति से भी विरक्त और उपेक्षक हो विहरता हुआ स्मृतिमान्, अनुभववान् हो, काया से सुख को भी अनुभव करता हुआ, जिसको कि आर्य लोग उपेक्षक, स्मृतिमान्, सुख-विहारी कहते हैं, वैसा ही तृतीय ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगा। फिर सुख और दुःख के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के पहले ही अस्त हो जाने से, अ-दुःख, अ-सुख, उपेक्षा स्मृति की परि-शुद्धता रूपी चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगा। इस प्रकार चित्त के समाहित, परिशुद्ध, पर्यवदात, उपक्लेशरहित, मृदुभूत और स्थिर हो जाने पर, पूर्व जन्मों की स्मृति के ज्ञान के लिए मैंने चित्त को झुकाया'[2]। फिर अनेक पूर्वजन्मों को स्मरण करते हुए भगवान् को ज्ञान की अपूर्व फूटें हुईं, अविद्यान्ध-

(१) वेरंजक ब्राह्मणसुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।१) देखिए विनय-पिटक—पाराजिका १ भी।

(२) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।१); पाराजिका १; देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ १३९।

कार का नाश होकर ज्ञान का प्रकाश हुआ, जिसका वर्णन भी उन्हीं के शब्दों में बार बार हमारे लिए स्मरण का विषय होना चाहिए, इसमें सन्देह नहीं। 'ब्राह्मण! रात के पहले याम में, उस प्रकार प्रमाद रहित, तत्पर, आत्म-संयम युक्त विहरते हुए, मैं अनेक पूर्व जन्मों को स्मरण करने लगा, मुझे यह पहली विद्या प्राप्त हुई। अविद्या गई, विद्या आई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण! अण्डे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह पहली फूट हुई।'[१] 'सो इस प्रकार चित्त के परिशुद्ध होने पर प्राणियों के जन्म-मरण के लिए मैंने चित्त को झुकाया। अ-मानुष, दिव्य, विशुद्ध चक्षु से अच्छे, बुरे, सुवर्ण, दुर्वर्ण, सुगत, दुर्गत, मरते, उत्पन्न होते, प्राणियों को मैं देखने लगा। ब्राह्मण! रात के मध्यम याम में यह द्वितीय विद्या उत्पन्न हुई। ब्राह्मण! अण्डे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह दूसरी फूट हुई।[२] 'सो इस प्रकार चित्त के परिशुद्ध होने पर, आस्रवों के क्षय के ज्ञान के लिए मैंने चित्त को झुकाया। 'यह दुःख है' इसे यथार्थ जान लिया, 'यह दुःख-समुदय है', इसे यथार्थ जान लिया 'यह दुःख-निरोध है' इसे यथार्थ जान लिया, 'यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे यथार्थ जान लिया। 'ये आस्रव हैं', इसे यथार्थ जान लिया, 'यह आस्रव-निरोध है' इसे यथार्थ जान लिया, 'यह आस्रव-निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे यथार्थ जान लिया। सो इस प्रकार जानते, इस प्रकार देखते हुए चित्त कामास्रवों से विमुक्त हो गया, भवास्रवों से विमुक्त हो गया, अविद्यास्रवों से विमुक्त हो गया। विमुक्त हो जाने पर 'छूट गया' ऐसा ज्ञान हुआ। जन्म खतम हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, अब यहां के लिए कुछ शेष नहीं, इसे जाना। ब्राह्मण! रात के पिछले याम में यह तृतीय विद्या प्राप्त हुई। अविद्या चली गई, विद्या उत्पन्न हुई। तम गया, आलोक उत्पन्न हुआ। ब्राह्मण! अण्डे से मुर्गी के बच्चे की तरह यह तीसरी फूट हुई'[३]। इसी ज्ञान की अपूर्व फूट होने पर कहा जाता है कि शाक्य गोतम ने सम्यक् सम्बुद्ध बनते हुए प्रथम बार यह उद्गार किया 'बहुत जन्म में संसार में अनेक बार दौड़ता रहा, नित्य गृहकारक को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते मैं पुनः पुनः जन्म के दुःखों को सहता रहा। हे गृहकारक! अब तुझे देख लिया।

(१) उपर्युक्त के समान ही।

(२) उपर्युक्त के समान ही, देखिए, बुद्धचर्या पृष्ठ १४०

(३) उपर्युक्त के समान ही।

अब तू पुनः घर न बना सकेगा। सभी तेरी कड़ियाँ टूटी हुई पड़ी हैं, गृह-शिखर भी बिखरा पड़ा है। सम्पूर्ण तृष्णा के नाश से अब चित्त संस्कार से विरहित हुआ है'[1]। इस प्रकार भगवान् बोधि वृक्ष के नीचे सप्ताह भर एक आसन से विमुक्ति का सुख लेते हुए बैठे रहे। रात को प्रथम, मध्यम और अन्तिम याम में उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम (आदि से अन्त की ओर) और प्रतिलोम (अन्त से आदि की ओर) मनन किया और इसी समय उनके मुख से कुछ प्रीति वाक्य भी निकले जो खुद्दक निकाय के 'उदान' नामक ग्रन्थ में एक अनुत्तर रूप से निहित हैं। सप्ताह भर बोधिवृक्ष के नीचे बैठकर भगवान् अजपाल नामक बरगद के नीचे विमुक्ति का आनन्द लेते हुए एक आसन से बैठे रहे, जहां उन्होंने एक ब्राह्मण को ब्राह्मण बनानेवाले धर्मों का उपदेश भी किया। फिर इसी प्रकार एक सप्ताह उन्होंने मुचलिन्द नामक वृक्ष के नीचे बिताया जहाँ भगवान् ने पवित्र जीवन की प्रशंसा में कुछ कहा। फिर भगवान् ने राजायतन नामक वृक्ष के नीचे एक आसन से बैठे हुए एक सप्ताह तक विमुक्ति सुख का अनुभव किया और यहीं पर तपस्सु और भल्लिक नामक दो बनजारों को भगवान् ने उपासक बनाया। उस समय संघ की स्थापना नहीं हुई थी, अतः उपर्युक्त दो महाभागों की दो वचनों से ही अर्थात् 'भन्ते ! हम दोनों भगवान् की शरण जाते हैं, धर्म की शरण जाते हैं। आज से हम दोनों को साञ्जलि शरणागत उपासक जानें' इस प्रकार बुद्ध-धर्म में दीक्षा हुई। संसार में यही दोनों महाभाग बनजारे दो वचन से प्रथम उपासक हुए। सप्ताह भर उस पेड़ की मूल में समाधि-अवस्था में रहकर भगवान् फिर अजपाल नामक बरगद के पेड़ के नीचे ही चले गए। तब एकान्त में ध्यानावस्थित भगवान् के चित्त में वितर्क पैदा हुआ "मैंने गम्भीर, दुर्दर्श, दुर्ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण, पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्म को पा लिया। यह जनता काम तृष्णा में रमण करनेवाली, काम-रत, काम में प्रसन्न है। काम में रमण करनेवाली इस जनता के लिए यह जो प्रतीत्यसमुत्पाद है, वह दुर्दर्शनीय है

---

(१) अनेक जाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेस्सन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं।
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखतं॥
धम्मपद ११।८-९

और यह भी दुर्दर्शनीय है जो कि सभी संस्कारों का शमन, सभी मंत्रों का परित्याग, तृष्णाक्षय, विराग, निरोध और निर्वाण" यह सोचकर वे भगवान, जिनके लिए यहाँ कुछ करना शेष नहीं रह गया था, उपदेश करने में अनुत्सुक हुए। 'मैं यदि धर्मोपदेश करूँ भी और दूसरे उसको न समझ पावें तो यह मेरे लिए पीड़ा की ही वस्तु होगी'। किन्तु लोक के दुःख का खयाल कर भगवान् के हृदय में अनुकम्पा जगी और उन्होंने धर्मोपदेश करने का विचार किया। इसी तथ्य को त्रिपिटक ने एक काव्यमय स्वरूप देकर वर्णन किया है। जब भगवान् का मन उपदेश करने की ओर से उदासीन हो रहा था तो सहापति ब्रह्मा उनके इस संकल्प को जान कर वहां आए और प्रार्थना की 'भगवान् धर्म उपदेश करें, सुगत धर्म उपदेश करें। अल्प मल वाले प्राणी भी हैं जो धर्म न सुनने के कारण विनष्ट हो जाएँगे'।[1] इतना ही नहीं, ब्रह्मा ने इस विषय में अत्यन्त ही अनुरोध किया और निश्चय ही जो कुछ ब्रह्मा ने उस समय कहा उसे अपनी वाणी को ऊँचा करते हुए आज भी हम अपनी अनेक समस्याओं और क्लेशों के बीच सम्यक् सम्बुद्ध के प्रति कह ही सकते हैं 'पथरीले पर्वत के शिखर पर खड़ा पुरुष जैसे चारों ओर जनता को देखे। उसी तरह हे सुमेध! हे सर्वत्र नेत्र वाले! धर्म रूपी महल पर चढ़ कर सब जनता को देखो। हे शोक रहित! शोक-निमग्न जन्म जरा से पीड़ित जनता की ओर देखो—

उठो हे वीर! हे संग्रामजित्! हे सार्थवाह! उऋणऋण!
जग में विचरण कर धर्म प्रचार करो, जानने वाले मिलेंगे।[2]

ब्रह्म-याचना के परिणाम-स्वरूप कारुणिक शास्ता ने धर्म प्रचार का निश्चय कर लिया। मार का प्रयत्न जो उसने बुद्ध को विमुख करने के लिये उनके चित्त में उदासीनता उत्पन्न कर किया था, विफल गया।

ब्रह्म-याचना के परिणाम स्वरूप धर्म प्रचार

बुद्ध ने शास्त बनना स्वीकार कर लिया। विश्व के भाग्य-निर्णय का यह अद्वितीय क्षण था। तथागत ने अपना निर्वाण-प्रवेश लोकानुकम्पावश स्थगित कर दिया। तब से विश्व के साधनात्मक इतिहास की काया पलट गई। आलार कालाम और उद्दक रामपुत्त तो इस लोक को पहले ही छोड़ चुके थे। भगवान् ने ध्यान चक्षुओं से देखकर कौण्डिन्य आदि पाँच ब्राह्मण परिव्राजकों

(१) विनय पिटक—महावग्ग १
(२) उपर्युक्त के समान ही।

को, जो पहले उनके पास उरुवेला में रहे थे और जो इस समय वाराणसी के पास ऋषपतन (सारनाथ) में रह रहे थे, अपने उपदेश के उपयुक्त पात्र पाया और वे वहीं के लिए चल पड़े। रास्ते में उपक नामक एक आजीवक ने उनको प्रसन्न-इन्द्रिय और परिशुद्ध, उज्ज्वल कान्ति वर्ण वाला देखकर कहा 'किसको गुरु मानकर तू प्रव्रजित हुआ है और कौन तेरा शास्ता है' ? भगवान् ने उससे कहा 'मैं सब को पराजित करने वाला, सब को जानने वाला हूँ। सभी धर्मों में निर्लिप्त हूँ। सर्वत्यागी हूँ। तृष्णा के क्षय से विमुक्त हूँ। मैं स्वयं ही जानकर उपदेश करूँगा।.....मैं संसार में अर्हत हूँ। अपूर्व शास्ता हूँ। मैं सम्यक् सम्बुद्ध, शीतल तथा निर्वाण-प्राप्त हूँ। धर्म का चक्का घुमाने के लिए काशियों के नगर को जा रहा हूँ। अन्धे हुए लोक में मैं अमृत-दुन्दुभी बजाऊँगा'[1]। इस प्रकार भगवान काशी प्रदेश की ओर चले।

वाराणसी में ऋषिपतन मृगदाव में भगवान् विहार कर रहे हैं[2]। वहां भगवान् पञ्चवर्गीय भिक्षुओं (कौण्डिन्य आदि) से मिलने के लिए जाते हैं। पहले से श्रमण गौतम को सत्कार न देने के लिए पूरी तरह से सुनिश्चित और दृढ़प्रतिज्ञ वे तथागत के मुख पर अनुपम ज्योति देखकर उससे अभिभूत हो जाते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार से उनके प्रति प्रेम और सत्कार प्रदर्शित करने लगते हैं। उरुवेला में ज्योति प्राप्त कर आए हुए वे महात्मा उन्हें अपनी सम्यक् सम्बोधि का उपदेश सुनाते हैं, जिसे वे भिक्षु कान देकर सुनते हैं। भगवान् ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को इस प्रकार आमन्त्रित किया[3] ---'हे भिक्षुओ ! ये दो अतियां प्रव्रजित के द्वारा सेवन करने योग्य नहीं हैं। एक तो यह काम-सुख में लिप्त होना जो हीन है, ग्राम्य है, पृथग्जनों (अज्ञजनों) के योग्य है, अनार्य है और अनर्थ से संयुक्त है और दूसरा यह जो अपने को कष्ट देना है सो भी दुःख है, अनार्य है और अनर्थ से भरा हुआ है"

'हे भिक्षुओ ! इन दोनों मार्गों से अलग रहकर तथागत ने मध्यमा प्रतिपद् का साक्षात्कार किया है, जो चक्षुओं को खोलनेवाली, ज्ञान को प्राप्त करानेवाली, एवं उपशम, अभिज्ञा, सम्बोध और निर्वाण की ओर ले जानेवाली है।'

---

(१) विनय पिटक, महावग्ग १, देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ २१

(२) भगवा वाराणसियं विहरति इसिपतने मिगदाये। धम्म-चक्कपवत्तन सुत्त।

(३) तत्र खो भगवा पञ्चवग्गिये भिक्खू आमन्तेसि। उपर्युक्त के समान ही।

'कौन सी है हे भिक्षुओ ! वह मध्यमा प्रतिपदा, जिसका तथागत ने साक्षात्कार किया है और जो चक्षुओं को खोलनेवाली, ज्ञान को प्राप्त करानेवाली तथा उपशम, अभिज्ञा, ज्ञान और निर्वाण की ओर ले जाने वाली है ? यह वही है जो आर्य अष्टांगिक मार्ग, यथा—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि'।

'यही है भिक्षुओ ! वह मध्यमा प्रतिपदा जिसकी अभिसम्बोधि तथागत ने प्राप्त की है और जो नेत्रों को खोलनेवाली, ज्ञान को प्राप्त करानेवाली तथा उपशम, अभिज्ञा, ज्ञान और निर्वाण की ओर ले जाने वाली है।'[1]

इसी समय भगवान् ने चार आर्य सत्यों का उपदेश देते हुए कहा:— 'यह है भिक्षुओ ! दुःख आर्य सत्य। जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रियों से मिलना दुःख है, प्रियों से वियोग दुःख है, जिस भी इच्छित (वस्तु) को नहीं पाता है, वह भी दुःख है। संक्षिप्त में सभी उपादान स्कन्ध दुःख ही हैं।'

'यह है हे भिक्षुओ ! दुःख समुदय आर्य सत्य। जो यह तृष्णा पुनर्भव को करनेवाली, आसक्ति और राग के साथ चलने वाली और वहां वहां रमण करनेवाली है। वह जैसे कि, काम-तृष्णा, भव-तृष्णा, विभव-तृष्णा।'

---

(१) द्वे मे भिक्खवे अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा। यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो।

एते ते भिक्खवे उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।

कतमा च सा भिक्खवे मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खु करणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।

अयमेव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो सेय्यथीदं। सम्मादिट्ठि, सम्मा संकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो, सम्मा सति, सम्मा सम्माधि।

अयं खो सा भिक्खवे मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।

'यह है हे भिक्षुओ ! दुःख निरोध आर्य सत्य जो कि इस तृष्णा का ही अशेष विराग, निरोध, त्याग, प्रतिनिस्सर्ग और छोड़ना ।'

'यह है हे भिक्षुओ ! दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्य सत्य । यही है है आर्य अष्टांगिक मार्ग, यथा सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्ति, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि'।

'यह दुःख आर्य सत्य है, इस प्रकार हे भिक्षुओ, मुझे पूर्व अश्रुत धर्मों में आंख उत्पन्न हुई, ज्ञान उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, विद्या उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ ।

यह दुःख आर्य सत्य परिज्ञेय (जानने योग्य) है, इन पूर्व में अश्रुत धर्मों में हे भिक्षुओ, मुझे आंख उत्पन्न हुई, ज्ञान उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, विद्या उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ । फिर हे भिक्षुओ, यह दुःख आर्य सत्य मैंने जान लिया, इसलिए पूर्व अश्रुत धर्मों में मुझे आँख उत्पन्न हुई, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, विद्या उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ ।'[1]

---

(१) इदं खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं । जातिपि दुक्खा जरापि दुक्खा व्याधिपि दुक्खो मरणंपि दुक्खं अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो पियेहि विप्पयोगो दुक्खो यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं । संखित्तेन पञ्चुपादानक्खन्धापि दुक्खा ।

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं । यायं तण्हा पोनोभविका नन्दिराग सहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी । सेय्यात्थीदं काम तण्हा भवतण्हा विभवतण्हा ।

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियंसच्चं यो तस्सा येव तण्हाय असेस विराग निरोधा चागो पटिनिस्सग्गो मुत्तिअनालयो ।

इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरिय सच्चं । अयमेव अरियो अट्ठङगिको मग्गो । सेय्यत्थीदं, सम्मादिट्ठि, सम्मा संकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो, सम्मा सति, सम्मा समाधि ।

इदं दुक्खं अरिय सच्चन्ति मे भिक्खवे पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि ञाणं उदपादि पञ्ञा उदपादि विज्जा उदपादि आलोको उदपादि । तं खो पनिदं दुक्खं अरिय सच्चं परिञ्ञातन्ति मे भिक्खवे पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि ञानं उदपादि पञ्ञा उदपादि

इसी प्रकार भगवान् ने कहा कि दुःख-समुदय आर्य सत्य को उन्होंने छोड़ने योग्य (पहातब्बन्ति) समझा और उसे छोड़ दिया (पहीनन्ति), दुःख निरोध आर्यसत्य को साक्षात्करणीय (सच्छिकातब्बन्ति) जाना और उसका साक्षात्कार कर लिया (सच्छिकतन्ति) एवं दुःखनिरोध गामिनी प्रतिपदा रूप आर्यसत्य को भावनीय (भावेतब्बन्ति) जाना और उसकी सम्यक् रूप से उन्होंने भावना की (भावितन्ति)। इस प्रकार उन्होंने अश्रुतपूर्व धर्मों में चक्षु, ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक प्राप्त किए। भगवान् ने यह भी कहा 'जब तक हे भिक्षुओ ! मुझे इन चार आर्य सत्यों में इस प्रकार से तीन प्रकार से बारह आकार वाला यथा भूत ज्ञान दर्शन सुविशुद्ध नहीं हुआ, तब तक हे भिक्षुओ ! देवों के सहित, ब्रह्मा के सहित, मार के सहित, श्रमण और ब्राह्मणों के सहित इस लोक में, इन देव और मनुष्यों सहित सारी प्रजा में अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त कर लिया ऐसा मैंने कभी प्रज्ञप्त नहीं किया। किन्तु, जब मैंने जान लिया कि मुझे दर्शन उत्पन्न हुआ, मुझे चेतो-विमुक्ति उत्पन्न हुई और यह मेरा अन्तिम जन्म है और अब पुनर्भव नहीं है। तब हे भिक्षुओ ! इन चार आर्य सत्यों में इस प्रकार तीन प्रकार से बारह आकार वाला यथाभूत मुझे ज्ञान दर्शन सुविशुद्ध उत्पन्न हुआ और तभी मैंने देवों के सहित, ब्रह्मा के सहित, मार के सहित, श्रमण और ब्राह्मणों के सहित, इस लोक में, इन देव और मनुष्यों सहित सारी प्रजा में, अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त कर लिया, ऐसा प्रज्ञप्त किया, क्योंकि हे भिक्षुओ ! मुझे ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ, चेतो विमुक्ति प्राप्त हुई और मैंने जाना कि यही मेरा अन्तिम जन्म है, अब पुनर्भव नहीं है"।[1] इस प्रकार भगवान् ने कहा और उन भिक्षुओं ने

विज्जा उदपादि आलोको उदपादि। तं खो पनिदं दुक्खं अरिय सच्चं परिञ्ञातन्ति मे भिक्खवे पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि ञाणं उदपादि पञ्ञा उदपादि विज्जा उदपादि आलोको उदपादि।

(१) याव कीवञ्च मे भिक्खवे इमेसु चतुसु अरिय सच्चेसु एवं तिपरिवट्टं द्वादसाकारं यथा भूतं ञानदस्सनं न सुविसुद्धं अहोसि नेव तावाहं भिक्खवे सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समण ब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय अनुत्तरं सम्मा संबोधिं अभि सम्बुद्धो पञ्चञ्ञासिं। ञाणञ्च पन मे दस्सनं उदपादि अकुप्पा मे चेतो विमुत्ति अयमन्तिमा जाति नत्थि दानि पुनब्भवोति। यतो च खो मे भिक्खवे इमेसु चतुसु अरिय

उनके कथन का अभिनन्दन किया। आयुष्मान् कौण्डिन्य को तो वहीं 'जो कुछ समुदय धर्म है, वह सब निरोध धर्म है' ऐसा विमल धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ।[1] यही भगवान् का प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन था जो अपनी दार्शनिक गम्भीरता और आध्यात्मिक सन्तुलित विधान में विश्व के साधना के इतिहास में अपनी तुलना नहीं रखता। इस उपदेश को देकर भगवान् का अत्यन्त कर्मशील जीवन लोक के कल्याण के लिए प्रारम्भ हुआ और अनेक प्रकार के साधन सम्पन्न व्यक्ति आ आकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर 'जो कुछ समुदय धर्म है, वह सब निरोध धर्म है', ऐसा अनुभव कर विमल और विशुद्ध जीवन व्यतीत करने लगे। कालान्तर में उरुवेल काश्यप जैसे अग्निहोत्रियों को[2], हा सन्तप्त ! हा पीड़ित ! इस प्रकार से चिल्लाते हुए जिज्ञासु यश कुलपुत्र जैसों को[3], तीनों लोकों को जलती हुई फूंस की झोंपड़ी के समान देखते हुए काश्यप जैसे विरागियों को[4], सारिपुत्र जैसे परिव्राजकों को[5] एवं अन्य अनेक असंख्य साधकों को अपने उपदेशामृत से तृप्त करते हुए भगवान् इधर उधर चारिकाएँ करने लगे। जहां कहीं भी भगवान् ने उपदेश दिया, सभी जगह श्रोताओं ने प्रसन्न होकर 'जैसे औंधे को सीधा कर दे, ढँके को उघाड़ दे, भूले को रास्ता बतादे, अन्धकार में तेल का प्रदीप रखदे ताकि आंख वाले रूप को देखें, ऐसे ही भगवान् ने अनेक

सच्चेसु एवं तिपरिवट्टं द्वादसाकारं यथा भूतं ञाणदस्सनं सुविसुद्धं अहोसि अथाहं भिक्खवे सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समण ब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय अनुत्तरं सम्मा संबोधिं अभि सम्बुद्धो पच्चञ्ञासिं। ञाणञ्च पन मे दस्सनं उदपादि अकुप्पा मे चेतोविमुत्ति अयमन्तिमा जाति नत्थि दानि पुनब्भवोति।

(१) इदमवोचि भगवा अत्तमना पञ्चवग्गिया भिक्खू भगवतो भासितं अभनन्दुन्ति। इमस्मिं च पन वेय्याकरणस्मिं भञ्जमाने आयस्मतो कोण्डञ्ञस्स विरजं वीतमलं धम्मचक्खुं उदपादि यं किञ्चि समुदय धम्मं सब्बं तं निरोध धम्मन्ति। धम्मचक्कपवत्तन सुत्त (संयुत्त० ५५।२।१) देखिये विनय पिटक, महावग्ग भी।

(२) देखिये विनय पिटक—महावग्ग १।

(३) देखिये विनय पिटक—महावग्ग १ ही।

(४) महाकाश्यप की प्रव्रज्या के लिए देखिए अंगुत्तर निकाय-अट्ठकथा १।१।१०

(५) देखिए विनय पिटक—महावग्ग ही।

पर्याय से धर्म को प्रकाशित किया'[१] इस प्रकार श्रद्धा अर्पित कर तथागत के द्वारा 'आओ भिक्षुओ, धर्म सु-आख्यात है, दुःख के सम्यक् विनाश के लिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो' इन शब्दों में आश्वसित हो जिसके लिए कुलपुत्र घर से बेघर हो प्रव्रजित होते हैं उस सत्य को जानकर जीवन धन्य किया। भिक्षुओं की संख्या जब बढ़ कर साठ हो गई तो भगवान् ने उन्हें सम्बोधित किया, 'भिक्षुओ ! जितने भी मानुष और दिव्य बन्धन हैं, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी सभी दिव्य और मानुष भोगों से मुक्त होओ। भिक्षुओ ! बहुजन-हितार्थ, बहुजन सुखार्थ, लोक पर अनुकम्पा करने के लिए, हित के लिए, सुख के लिए, विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। हे भिक्षुओ ! आदि में कल्याणकारक, मध्य में कल्याणकारक, अन्त में कल्याणकारक इस धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित, व्यञ्जन सहित, केवल परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"[२] भिक्षु लोग चारों तरफ़ लोक-कल्याण के लिए जाने लगे और साथ ही उनके शास्ता महाश्रमण भी। जिन भगवान् की धर्म-देशना ठीक ४५ वर्ष तक खाने-पीने, सोने-उठने और आराम करने के समय को छोड़ कर निरन्तर ही चलती रही और जो कोसी-कुरुक्षेत्र और हिमालय से विन्ध्य-मेखला तक फैले मध्यम देश में सदा ही चलते रहे, उनकी चारिकाओं अथवा उपदेशों का संक्षिप्ततम विवरण भी यहां देना सम्भव नहीं है। अपनी समस्त चारिकाओं में जब हम कभी भगवान् को डाकू अंगुलिमाल को शान्त और दान्त बनाते हुए, कहीं श्रेष्ठी अनाथ पिण्डिक को उपदेशामृत से तृप्त

(१) 'सेय्यथा पि भो गोतम निक्कुज्जितं वा उक्कुज्जेय्य, पटिच्छन्नं वा विवरेय्य, मूल्हस्स वा मग्गं आचिक्खेय्य, अन्धकारे वा तेलपज्जोतं धारेय्य, चक्खुमन्तो रूपानि दक्खिन्तीति एवमेव भोता गोतमेन अनेक परियायेन धम्मो पकासितो। एते मयं भवन्तं गोतमं सरणं गच्छाम, धम्मञ्च, भिक्खुसंघञ्च।" तेविज्ज-सुत्त (दीघ० १।१३); इन शब्दों की पुनरुक्ति सुत्त-पिटक के अनेक सुत्तों में हुई है।

(२) संयुत्त० ४।१।४; विनय पिटक, महावग्ग १ भी; मिलाइये, चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं देसेत्थ भिक्खवे धम्मं आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान-कल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं ब्रह्मचरियं पकासेथ। विनय पिटक, महावग्ग में ही।

करते हुए, कहीं बोधि राजकुमार के द्वारा उनके सम्मान में अपने नव-निर्मित प्रासाद में उनको ले जाने के लिये बिछाई हुई सुन्दर मूल्यवान् चैलपंक्ति पर चलने के लिए इन्कार करते हुए, कहीं कोशल राज पसेनदि (प्रसेनजित्) के द्वारा अपना पाद-सेवन देखते हुए और कहीं भिक्षुओं से अत्यन्त प्रेमपूर्वक कुशल-प्रश्न आदि पूछते हुए, कहीं रोगियों की सेवा करते हुए, कहीं गंगा की रेती में घूमते ध्यान का उपदेश करते हुए, कहीं पूर्णिमा की चाँदनी रात में पितृ-वध के शोक से सन्तप्त अजातशत्रु को उद्‌बोधन कर शान्ति देते हुए, कहीं किसी ग्वाले के धारोषण दुग्ध-सत्कार को ग्रहण करते हुए, कहीं दायें-बायें सारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन को लिए आनन्द के द्वारा अनुगमित किसी ग्रामीण मार्ग पर जाते हुए, कहीं कपिलवस्तु के पास एक पेड़ की छाया में बैठकर जनपदों में शान्ति का विधान करते हुए, कहीं भद्रवर्गियों को आत्म-गवेषणा का मार्ग सिखाते हुए, कहीं कालाओं को सत्यान्वेषण का रास्ता दिखाते हुए, कहीं आत्मक्लेश पानेवाले मिथ्याजीवी परिव्राजकों को सद्धर्म का उपदेश देते हुए, कहीं बावरि ब्राह्मण श्रेष्ठ के शिष्यों की जिज्ञासाओं का वेदज्ञ ऋषि के अनुरूप ही उत्तर देते हुए, कहीं सर्वथा अलग ही विचरण करते हुए, कहीं तो भिक्षा करने के बाद रीता ही पात्र लौटते हुए, उन कारुणिक मुनि को देखते हैं तो हम एक अनुपम और दिव्य व्यक्तित्व के साक्षात्कार करते ही अपने को पाते हैं, एक उच्च आध्यात्मिक मनोदशा में अपने को उठा हुआ पाते हैं। भगवान् का सम्यक् सम्बोधि पाकर जब प्रथम बार कपिलवस्तु में आना हुआ तभी महाप्रजापती गोतमी ने उनको दुस्स भेंट करने का निश्चय किया और प्रायः उसी समय या उसके कुछ दिन बाद मातृग्राम (स्त्रियों) के संघ में प्रवेश का भी सवाल उपस्थित हुआ। महाप्रजाती गोतमी ने अत्यन्त विह्वलता पूर्वक भगवान् से कहा 'भन्ते ! अच्छा हो यदि मातृग्राम (स्त्रियां) भी तथागत के दिखाए धर्म-विनय में घर से बेघर हो प्रव्रज्या पावें'। 'नहीं गोतमी ! मत तुझे रुचे कि स्त्रियां भी तथागत के दिखाए धर्म-विनय में घर से बेघर हो प्रव्रज्या पावें' भगवान् ने तीन बार कहा। फिर आनन्द की वकालत हुई 'भन्ते ! क्या तथागत-प्रवेदित धर्म में घर से बेघर प्रव्रजित हो स्त्रियां स्रोत-आपत्ति फल, सकृदागामि फल, अनागामि फल, अर्हत्त्व फल को साक्षात् कर सकती हैं ?"। "साक्षात् कर सकती हैं, आनन्द[१] !" तथागत का स्पष्ट उत्तर

(१) पजापती पब्बज्जा सुत्त (अंगुत्तर निकाय) नियम पिटक चुल्ल वग्ग

था। नतीजा यह हुआ कि आठ गुरु धर्मों को स्थापित कर, जिन्हें महाप्रजापती गौतमी ने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक स्वीकृत किया, उनको और बाद में अन्य अनेक स्त्रियों को भी उपसम्पदा प्राप्त हो गई। भगवान् के मन्तव्य के अनुसार विशुद्धतम ब्रह्मचर्य गृहवास में सम्भव नहीं था[1], जो संबाध मार्ग था। उनके अनुसार तो प्रव्रज्या ही केवल खुला हुआ मार्ग था, किन्तु गृहस्थों के लिए उनके मध्यम मार्ग में अन्यतम आश्वासन न हो, ऐसा भी नहीं था। वे भगवान् स्वयं बहुतों को 'तुम्हारे लिए तो अप्रमाद का जीवन ही ठीक है' ऐसा कहकर गृहवास में ही रहने की अनुमति देते थे। अतः गृहस्थ स्त्री और पुरुष भी उनके शिष्य थे। इस प्रकार उनके शिष्यों के चार विभाग थे, भिक्षु, भिक्षुणी, गृहस्थ उपासक, गृहस्थ उपासिकाएँ। इनमें से कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों के विषय में तो हमारा ज्ञान कुछ विस्तृत भी है और त्रिपिटक में उनके जीवनचित्र हमें उपलब्ध होते हैं। हम जानते हैं कि तथागत के सारिपुत्र और महामौद्गल्यायन स्थविर दो अग्रश्रावक, क्षेमा और उत्पलवर्णा दो अग्रश्राविकाएँ, उपासकों में चित्र गृहपति और हस्तक आमलक दो अग्रश्रावक उपासक, उपासिकाओं में वेलु कंटकी (नगर-वासिनी) नन्दमाता और खुज्ज-उत्तरा दो अग्रश्रावका उपासिकाएँ थीं। इस प्रकार उनके ये आठ प्रधान शिष्य थे[2]। अंगुत्तर-निकाय के एतदग्गवग्ग में तो भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक और उपासिकाओं में कौन किस गुण में अग्र थे, इसका एक विशद वर्णन हमें उपलब्ध है। इस प्रकार भिक्षुओं में, महाप्रज्ञों में सारिपुत्र, ऋद्धिमानों में महामौद्गल्यायन, धुतवादियों में महाकाश्यप, दिव्य चक्षु वालों में अनुरुद्ध, बहुश्रुतों में, गतिमानों में, स्थितिमानों में, और उपस्थाकों में आनन्द, विनयधरों में उपालि; भिक्षणी श्राविकाओं में, महाप्रज्ञाओं में खेमा, विनयधरों में पटाचारा, आरब्ध वीर्यों में सोणा, रूक्ष चीवर धारिणियों में कृशा गौतमी, ऋद्धिमतियों में उत्पलवर्णा, श्रद्धायुक्तों में शृगाल माता; उपासक श्रावकों में, प्रथम शरण आनेवालों में तपस्सु और भल्लिक वणिक् अग्र थे, दायकों में अनाथपिण्डिक, संघ के सेवकों में उद्गत; और उपासिका श्राविकाओं में प्रथम शरण में आनेवालियों

---

(१) देखिए रट्ठपाल सुत्त (मज्झिम० २।४।२) 'शंख लिखित ब्रह्मचर्य गृह में वास करते हुए सुकर नहीं है'।

(२) देखिए धम्मपद-अट्ठकथा ४।३; बुद्धचर्या, पृष्ठ ४७३-७४

में सेनानी दुहिता सुजाता अग्र थी, दायिकाओं में विशाखा मृगारमाता, बहुश्रुतों में खुज्जुत्तरा, मैत्री विहार प्राप्तों में सामावती, ध्यानियों में उत्तरा नन्दमाता, प्रणीत दायिकाओं में सुप्रवासा कोलिय दुहिता, रोगी-शुश्रूषिकाओं में सुप्रिया उपासिका, और अतीव प्रसन्नों में कात्यायनी मुख्य थीं[1]। कहने की आवश्यकता नहीं कि तथागत के समय में ये चारों परिषदें ज्ञान और चारित्र्य की सम्पदा से युक्त थीं और तथागत के मन्तव्य के मार्गानुसरण में जीवन खपानेवाली थीं[2]। इनमें से कुछ तो सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और आनन्द जैसे भिक्षु थे जिनके भगवान् स्वयं अत्यन्त प्रशंसक थे और जो स्वयं तथागत के धर्म की धुरा का अधिकांश में वहन करते थे। आनन्द का तो तथागत के प्रति सेवामय अनुराग निश्चय ही अवर्णनीय है और सारिपुत्र जैसे महाप्रज्ञ शिष्य के वषय में तो कहना ही क्या? यह महाभिक्षु अपने शास्ता में अपार श्रद्धा रखते थे। उनका कहना था 'मार सेना को दमन करने-वाले एक बुद्ध ही के प्रति श्रद्धा रखना, एक उनकी शरण में जाना, एक उन ही को प्रणाम करना भवसागर से तार सकता है'[3]। मैत्री विहार भी उनका इतना परिपूर्ण था कि 'देवताओं के सहित इस सारे लोक के उलट जाने, सूरज और चाँद के पृथ्वी पर टूट पड़ने तथा पर्वतराज सुमेरु के चूर-चूर हो जाने पर भी स्थविर सारिपुत्र किसी के दुःख की इच्छा मन में नहीं ला सकते थे'[4]। इतना ही नहीं, बीमार होने पर स्वयं अपने उपचार को जानते हुए भी तो अपने लिए कोई दवा नहीं ले सकते थे। 'अरे! मैंने मँगाकर यह दवा थे कि ली है। यह बुरी बात है। ऐसा करने से मेरी जीविका बुरी हो जायगी'[5] ऐसे ही मनुष्यों के द्वारा बौद्ध संस्कृति का, बौद्ध धर्म और दर्शन का, प्रसार हुआ। विनम्र ऐसे कि थे 'आज ही प्रव्रजित हुआ या सात वर्ष का श्रामणेर भी हो और यदि वह भी मुझे सिखावे तो सहर्ष मैं उसकी बात को स्वीकार करूँगा'[6], सन्तोषी और आप्तकाम ऐसे कि कुछ न मिले तो

---

(१) अंगुत्तर० १।२।१-७

(२) देखिए संयुत्त० १३।२।५; बुद्धचर्या, पृष्ठ ४४४

(३) मिलिन्द प्रश्न (भिक्षु जगदीश काश्यप का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ २९६

(४) उपर्युक्त में पृष्ठ १२८

(५) उपर्युक्त, पृष्ठ २८१

(६) उपर्युक्त, पृष्ठ ४८७

पानी पीकर ही पेट भरने वाले और बुद्ध शासन पर दृढ़ ऐसे कि 'यदि मेरी अँतड़ियाँ भूख से निकलकर बाहर भी चली आवें तो भी मैं अपनी जीविका को नहीं तोड़ सकता, प्राण चाहे भले ही निकल जाएँ[१]' । तभी तो तथागत 'मेरे द्वारा संचालित चक्र, अनुपम धर्मचक्र को तथागत का अनुजात सारिपुत्र अनुचालित कर रहा है[२]' ऐसा उस महा प्रज्ञ के विषय में कह सकते थे। फिर जिस अनन्य साधारण ढंग से एक अनुपम करुणामय दृश्य को उपस्थित करते हुए इस महाभिक्षु ने अपने शास्ता से बिदाई ली[३] और अन्त में उसी प्रकार परिनिर्वाण भी प्राप्त किया उसके विषय में तो स्वयं शास्ता ने जो कहा वह कुछ विस्तृत होने पर भी यहाँ सर्वथा उद्धरणीय है । शास्ता ने हाथ फैला कर सारिपुत्र के धातुओं को हाथ में ले भिक्षुओं को आमन्त्रित किया 'भिक्षुओ ! जिस भिक्षु ने पहले एक दिन अनेक सौ प्रातिहार्य करके निर्वाण होने के लिये अनुज्ञा

---

(१) उपर्युक्त, पृष्ठ ४५५; मिलाइये पृष्ठ ४९८ भी ।

(२) सेल सुत्त (मज्झिम २।५।३); मिलाइये 'भिक्षुओ ! सारिपुत्र को छोड़ मैं किसी दूसरे को ऐसा नहीं पाता हूँ, जो मेरे द्वारा चलाए हुए धर्मचक्र को फिर भी चलावे । भिक्षुओ ! सारिपुत्र ही मेरे प्रवर्तित धर्मचक्र को ठीक तरह से चला सकता है ' (अंगुत्तर निकाय) मिलिन्द पञ्हो, मेण्डक पञ्हो में उद्धृत, देखिए भिक्षु जगदीश काश्यप का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४४५;, मिलाइये सुत्तनिपात ३।७ भी ।

(३) मगध में नालक नामक ग्राम में रोगग्रस्त होने पर आयुष्मान् सारिपुत्र ने श्रावस्ती में जा कर भगवान् से निवेदन किया :

भन्ते ! भगवान् अनुज्ञा दें, सुगत अनुज्ञा दें, मेरा परिनिर्वाण काल उपस्थित है। आयु संस्कार खतम हो चुका ।

'कहां परिनिर्वाण करोगे ?'

'भन्ते मगध देश में नालक ग्राम में जन्म गृह है, वहां परिनिर्वाण करूंगा'

'सारिपुत्र ! जिसका तू काल समझता है' ।

स्थविर ने रक्तवर्ण हाथों को फैलाकर शास्ता के चरणों को पकड़ कर कहा 'भन्ते ! इन चरणों की वन्दना के लिये सौ हजार कल्पों से अधिक काल तक मैंने असंख्य पारमिताएं पूर्ण कीं। वह मेरा मनोरथ सिर तक पहुँच गया। अब आपके साथ फिर जन्म ले एक स्थान में मिलना नहीं है। अब यह विश्वास छिन्न हो चुका। अनेक शतसहस्र बुद्धों

मांगी थी उसी की आज ये शंखवर्ण धातुएँ (हड्डियाँ) दिखाई पड़ रहे हैं। भिक्षुओ ! सौ हजार कल्प से अधिक समय तक पारमिताएँ पूर्ण किया हुआ यह भिक्षु था। मेरे प्रवर्तित धर्मचक्र को अनुवर्तन करने वाला यह भिक्षु था। सन्तुष्ट, प्रविविक्त, असंसृष्ट, उद्योगी, पापनिन्दक यह भिक्षु था। प्राप्त महान् सम्पत्तियों को पाँच सौ जन्म तक छोड़कर यह भिक्षु प्रव्रजित होता रहा। देखो भिक्षुओ ! महाप्रज्ञ की धातुओं को।...... उस बीतराग, जितेन्द्रिय, निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो। शान्ति बल में पृथ्वी के समान हो वह कुपित नहीं होता था, न इच्छाओं के वशवर्ती होता था, वह अनुकम्पक, कारुणिक, निर्वाण को गया, निर्वाण-प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो ! जैसे चाण्डाल-पुत्र नगर में प्रविष्ट हो मन नीचा किए कपाल हाथ में लिए विचरता है, ऐसे ही यह सारिपुत्र विचरता था। निर्वाण प्राप्त सारिपुत्र की हे भिक्षुओ ! वन्दना करो। जैसे टूटे सींगों वाला साँड़ नगर के भीतर विना किसी को मारते विचरता है, वैसे ही यह सारिपुत्र विचरता था। भिक्षुओ ! निर्वाण प्राप्त सारिपुत्र की वन्दना करो"[1]। इस प्रकार स्वयं तथागत ने जिन सारिपुत्र का गुणगान

के प्रवेश स्थान, अजर, अमर, क्षेम, सुख, शीतल, अभय, निर्वाणपुर जाऊँगा। यदि मेरा कोई कायिक या वाचिक (कर्म) भगवान् को न रुचा हो, भगवान् क्षमा करें, मेरा जाने का समय है।

'सारिपुत्र ! तुझे क्षमा करता हूँ। तेरा कुछ भी कायिक या वाचिक कर्म ऐसा नहीं है जो मुझे नापसन्द हो। अब तू सारिपुत्र जिसका काल समझता है'। सारिपुत्र के चलते समय शास्ता भी धर्मसेनापति के सम्मान के लिए धर्मासन से उठकर गन्धकुटी के सामने जा खड़े हुए।

सारिपुत्र ने वन्दना कर कहा 'भगवन् ! आज से असंख्य सौ हजार कल्प से अधिक समय तक अनोम दर्शी सम्यक् सम्बुद्ध के पादमूल में पड़कर मैंने तुम्हारे दर्शन की प्रार्थना की थी। वह मेरी प्रार्थना पूरी हुई। तुम्हें देख लिया। वह तुम्हारा प्रथम दर्शन था, यह अन्तिम दर्शन। अब फिर तुम्हारा दर्शन नहीं होगा'। ऐसा कहकर चल दिए। भिक्षुगण विलखते हुए चिल्लाए, 'स्थविर किसके हाथ में शास्ता को सौंपकर जा रहे हो'। 'सबको ही यह गन्तव्य मार्ग है, तुम भी आवुसो ठहरो, दशवल (बुद्ध) के विषय में बेपर्वाही मत करना'। देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१४

(१) चुन्दसुत्त (संयुत्त० ४५।२।३) पर अट्ठकथा, देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१७

किया, उनकी स्मृति का सम्मान किया, इतना ही क्यों, जिनके चले जाने के बाद दिशाएँ ही उन्हें शून्य-सी जान पड़ने लगीं, उन धर्मसेनापति सारिपुत्र का, जिनका धर्मघोष तथागत के समान ही गम्भीर होता था, यह किञ्चित् चरित्र-दिग्दर्शन हुआ। इसी प्रकार भगवान् के सभी मुख्य शिष्यों की जीवन स्मृतियाँ यदि त्रिपिटक के स्रोतों से एकत्र की जाएँ तो इससे हमारे साधनात्मक इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण परिच्छेद पर तो अच्छा प्रकाश पड़ेगा ही, हम इससे यह भी देख सकेंगे कि भगवान् बुद्ध और उनके पूर्वगामी शिष्यों ने जो इतने विशाल विचारों के आन्दोलन को जन्म दिया था उसके मूल में उनकी लोकोत्तर जीवन-विशुद्धि ही थी। भगवान् के पीछे कभी पंखा झलते हुए, कभी महाप्रजापती गौतमी के लिए भगवान् से वकालत करते हुए, कभी अपने आपको तथागत के उपस्थाक पद के लिए समर्पित करते हुए, कभी सारिपुत्र के परिनिर्वाण पर भगवान् के सामने ही अपने दुःखावेश में अपने को न सँभाल पाते हुए, कभी स्वयं शास्ता के चले जाने के बाद मूल-गन्ध कुटी को देख-देखकर विलखते हुए, आयुष्मान् आनन्द भी क्या कम आकर्षण के विषय हैं ? और फिर अनाथपिण्डिक श्रेष्ठी जैसे दायकों के विषय में भी कहना क्या ! महामौद्गल्यायन और महाकाश्यप भी इस परम्परा में कैसे भुलाये जा सकते हैं। भिक्षु-भिक्षुणियों सहित भगवान् के व्यक्तित्व के इस संक्षिप्त चित्र को देखकर हम कुछ सोच सकते हैं कि किस प्रकार उन भगवान् का मंगल कीर्ति-शब्द उस समय फैला होगा और किस प्रकार वे और उनका भिक्षु संघ पूजा और श्रद्धा के योग्य हुए होंगे। अब हम भगवान् के अन्तिम दिवस और महापरिनिर्वाण के विषय में कुछ कह कर 'बुद्ध' सम्बन्धी अपने विवरण को समाप्त करेंगे।

अन्तिम दिवस और तथागत का महापरिनिर्वाण

परम तत्त्व को प्राप्त कर और करीब ४५ वर्षों तक उसका साधारण जनता में प्रचार कर आखिर भगवान् को भी जरा-अवस्था आई। 'आश्चर्य भन्ते ! अद्भुत भन्ते ! भगवान् के चमड़े का रंग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात नहीं है। गात्र शिथिल हैं। सब शरीर पर झुर्रियाँ पड़ी हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। इन्द्रियों में भी विकार दिखाई पड़ता है'[1]। त्रिपिटक में इस प्रकार के वर्णन प्राप्त हैं जिनसे प्रकट होता है कि इस अवस्था में कभी-कभी तथागत को आने-जाने में भी कष्ट होता

(१) आनन्द की उक्ति जरा-सुत्त (संयुत्त० ४७।५।१) में।

था, किन्तु साधारणतः आनन्द जैसे चिर-उपस्थाक को पाकर तथागत सभी प्रकार से सुनिश्चिन्त थे। फिर चित्त के सुशमित हो जाने के कारण शरीर सम्बन्धी कष्ट जो साधारण जनों के लिए देहात्मबुद्धि रखने के कारण असह्य हो उठते हैं, 'अनात्मवादी' तथागत के प्रति कुछ अर्थ नहीं रख सकते थे, जो स्मृति-सम्प्रजन्य से युक्त अनुपम सुख विहारी थे और जिनका सुख विहार किन्हीं भी बाह्य अवस्थाओं पर निर्भर नहीं था। जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है, कभी-कभी पीठ का अगियाना भी उन्हें सताता था जिससे वे कभी-कभी उपदेश देते हुए अन्त में स्मृति-सम्प्रजन्य पूर्वक पीठ के बल लेट जाते थे। अन्तिम चर्या भगवान् की अम्बलट्ठिका[1] में हुई, जहाँ से वे नालन्दा, पाटलिग्राम, कोटिग्राम आदि होते हुए वैशाली पहुँचे, यहां उन्होंने अम्बपाली गणिका का आतिथ्य ग्रहण किया। इस समय भगवान् भिक्षुओं को यही उपदेश देते विहरते थे 'भिक्षुओ! स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ विहार करो, यही हमारा अनुशासन है'। "वर्षावास में भगवान् को कड़ी बीमारी उत्पन्न हुई। भारी मरणान्तक पीड़ा होने लगी। उसे भगवान् ने स्मृति-सम्प्रजन्य के साथ विना दुःख अनुभव करते स्वीकार किया। उस समय भगवान् को ऐसा हुआ 'मेरे लिए यह उचित नहीं कि मैं उपस्थाकों को बिना जतलाये, भिक्षु संघ को बिना अवलोकन किए, परिनिर्वाण प्राप्त करूँ। क्यों न मैं इस व्याधि को हटाकर, जीवन संस्कार को दृढ़तापूर्वक धारण कर, विहार करूँ'? भगवान् उस व्याधि को वीर्य से हटाकर प्राणशक्ति को दृढ़तापूर्वक धारण कर, विहार करने लगे। तब भगवान् की वह बीमारी शान्त हो गई। भगवान् बीमारी से उठ, रोग से अभी मुक्त हो, विहार से बाहर निकलकर विहार की छाया में बिछे आसन पर बैठे। तब आयुष्मान् आनन्द जहां भगवान् थे, वहां गए। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठे। एक ओर बैठे आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से कहा, 'भन्ते! भगवान् को सुखी देखा। भन्ते! मैंने भगवान् को अच्छा हुआ देखा। मेरा शरीर शून्य हो गया था। मुझे दिशाएँ भी सूझ न पड़ती थीं। भगवान् की बीमारी से मुझे धर्म भी भान नहीं होते थे। भन्ते! कुछ आश्वासन मात्र रह गया था कि भगवान् तब तक परिनिर्वाण प्राप्त नहीं करेंगे जब तक भिक्षु-संघ को कुछ कह न लेंगे'।

---

(१) 'सम्भवतः वर्तमान सिलाव'। देखिए राहुल सांकृत्यायन 'महा परिनिब्बाण-सुत्त' का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ६, पदसंकेत २

'आनन्द ! भिक्षु-संघ मुझ से क्या चाहता है ?

मैंने न-अन्दर न-बाहर करके धर्म को उपदेश किया है। आनन्द ! धर्मों में तथागत को कोई आचार्य-मुष्टि (रहस्य) नहीं है। आनन्द ! जिसको ऐसा हो कि मैं भिक्षु संघ को धारण करता हूँ, भिक्षु संघ मेरे उद्देश्य से है, वह ज़रूर आनन्द ! भिक्षु संघ के लिए कुछ कहे। आनन्द तथागत को ऐसा नहीं है। आनन्द ! तथागत भिक्षु संघ के लिए क्या कहेंगे ? आनन्द ! मैं जीर्ण, वृद्ध, अध्वगत, वयः प्राप्त हूँ। अस्सी वर्ष की मेरी उम्र है। आनन्द ! जैसे पुरानी गाड़ी बाँध-बूंधकर चलती है, ऐसे ही आनन्द ! तथागत का शरीर बांध-बूंध कर चल रहा है। आनन्द ! जिस समय तथागत सारे निमित्तों को मन में न करने से, किन्हीं-किन्हीं वेदनाओं के निरुद्ध होने से, निमित्त रहित चित्त की समाधि को प्राप्त हो विहरते हैं, उस समय.....तथागत का शरीर अच्छा होता है। इसलिए आनन्द ! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्य शरण, धर्मदीप, धर्मशरण, अनन्य शरण होकर विहरो'[१]। भगवान् ने वैशाली में ही कुछ दिन वास करते हुए एक दिन भिक्षुओं को बुला कर कहा 'इसलिए भिक्षुओ ! मैंने जो धर्म उपदेश किया है, तुम अच्छी तरह से सीख कर उसका सेवन करना, भावना करना, बढ़ाना, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य बहुजन हितार्थ, बहुजन सुखार्थ, लोकानुकम्पार्थ, देव-मनुष्यों के अर्थ-हित-सुख के लिए हो। भिक्षुओ ! मैंने ये कौन से धर्म अभिज्ञान कर उपदेश किए हैं, जिन्हें अच्छी तरह सीख कर....., जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग। अचिर काल में ही तथागत का परिनिर्वाण होगा। आज से तीन मास बाद तथागत परिनिर्वाण प्राप्त करेंगे।' भगवान् ने यह कहा। सुगत शास्ता ने यह कह कर फिर यह भी कहा—

'मेरा आयु परिपक्व हो गया, मेरा जीवन थोड़ा है।

तुम्हें छोड़कर जाऊँगा, मैंने अपने करने लायक काम को कर लिया। भिक्षुओ ! निरालस, सावधान, सुशील होओ। संकल्प का अच्छी तरह समाधान कर अपने चित्त की रक्षा करो। जो इस धर्म में प्रमाद रहित हो उद्योग करेगा वह आवागमन को छोड़ दुःख का अन्त करेगा'[२]। तब वैशाली से कुसीनारा की ओर चलते हुए वैशाली को देखकर भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द से कहा

(१) महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३)

(२) महापरिनिब्बाण सुत्त(राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ १८-१९

'आनन्द ! तथागत का यह अन्तिम वैशाली-दर्शन होगा' तब भगवान् भिक्षु-संघ के साथ जहाँ पावा थी, वहाँ गए। वहां पावा नगरी में भगवान् ने चुन्द कर्मार पुत्र (सोनार) के यहाँ शूकर मार्दव (सुक्कर मद्दवं) भोजन खाया। यह 'सुक्कर मद्दवं' क्या वस्तु थी, इसके विषय में भगवान् 'अट्ठकथा चरिय' ने भी वैकल्पिक निर्णय देकर अपनी इस विषयक अनिश्चितता प्रकट कर दी है[1]। और आधुनिक विद्वानों में भी इस विषय में कोई एक मत नहीं दिखाई पड़ता। अधिकतर पश्चिमी विद्वान् इसे शूकर के कोमल मांस से बना हुआ भोजन मानने के पक्षपाती हैं[2]। परन्तु हमारी समझ में यह नहीं आता कि प्राणातिपात से विरति का व्रत लिये हुए श्रद्धावान् उपासक चुन्द कर्मार पुत्र अपने शास्ता को मांस परोसकर दुष्कृत अपराध कैसे कर सकता था ? 'सुक्कर मद्दव' वस्तुतः सकरकन्दी या कुकुरमुत्ता से तैयार किया हुआ भोजन था और यह प्रसन्नता की बात है कि कुछ यूरोपीय विद्वानों की प्रवृत्ति भी 'सुक्कर मद्दव' को किसी कन्द से तैयार किये हुए भोजन को मानने की ओर है[3]। कुछ भी हो, चुन्द कर्मार पुत्र के भोजन को खाकर भगवान् को खून गिरने की कड़ी बीमारी उत्पन्न हुई, मरणान्तक सख्त पीड़ा होने लगी। उसे भगवान् ने स्मृति-सम्प्रजन्य-युक्त हो, बिना दुःखित हुए, सहन किया। भगवान् कुसीनारा की ओर चले, किन्तु रास्ते में ही 'आनन्द ! मेरे लिए चौपेटी संघाटी बिछादो, मैं थक गया हूँ, बैठूंगा।' 'अच्छा भन्ते'। 'आनन्द, मेरे लिए पानी लाओ। मैं (प्यासा) हूँ, आनन्द ! पानी पीऊँगा'। 'भन्ते ! भगवान् पानी पीवें, सुगत पानी पीवें'। भगवान् ने पानी पिया। भगवान् का परिनिर्वाण अत्यन्त समीप था, किन्तु 'आश्चर्य भन्ते ! अद्‌भुत भन्ते ! कितना परिशुद्ध, पर्यवदात तथागत के शरीर का वर्ण है। भन्ते ! यह दुशाला भगवान् के शरीर पर किरण सा जान पड़ता है'। 'ऐसा ही है आनन्द ! ऐसा ही है आनन्द ! दो समयों में आनन्द ! तथागत के शरीर का वर्ण अत्यन्त परिशुद्ध, पर्यवदात जान पड़ता है। किन दो समयों में ?

---

(१) देखिये महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३) की अट्ठकथा।
(२) हेस्टिंग्स एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ८८४; रायस डेविड्स- बुद्धिज्म, पृष्ठ ८०; मेकडोनल एण्ड कीथ : वैदिक इंडेक्स, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ४६१
(३) देखिये टी० वाटर्स : औन युआन् चुआङ्स् ट्रेविल्स इन इंडिया (डा० रायस डेविड्स और बुशल द्वारा सम्पादित), जिल्द दूसरी, पृष्ठ २७-२८

जिस समय तथागत ने अनुपम सम्यक् सम्बोधि का साक्षात्कार किया और जिस समय तथागत उपाधि (आवागमन के कारण) रहित निर्वाण को प्राप्त करते हैं' । तथागत को अनीश्वरवादी कहने वाले तथाकथित ईश्वरवादियों के लिए यह मार्मिक स्थल मननीय है । भगवान् ने फिर आयुष्मान् आनन्द के द्वारा चुन्द कर्मार पुत्र के प्रति यह सन्देश और आश्वासन देते हुए कहा 'आनन्द ! शायद कोई चुन्द कर्मार पुत्र को यह कहकर चिन्तित करे 'आवुस चुन्द ! अलाभ है तुझे, तूने अपयश कमाया जो कि तथागत तेरे पिण्डपात को भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए' । आनन्द ! चुन्द कर्मारपुत्र की इस चिन्ता को तू दूर करना (और कहना)—'आवुस ! लाभ है तुझे, तू ने सुलाभ कमाया, जो कि तथागत तेरे पिण्डपात को भोजन कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए ।.....आनन्द ! चुन्द कर्मार पुत्र की चिन्ता को इस प्रकार दूर करना ।' इसी समय स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं के वर्ताव सम्बन्धी प्रश्न को लेकर भगवान् से आनन्द ने पूछा 'कथं मयं भन्ते मातुग्गामे पटिपज्जामाति' (किस प्रकार भन्ते ! हम स्त्रियों के साथ वर्ताव करेंगे ?) । भगवान् ने कहा 'अदस्सनं आनन्दाति' (न देखना आनन्द !') । 'सति दस्सने भन्ते कथं पटिपज्जितब्बंति' (दर्शन होने पर भगवान् कैसे वर्ताव करेंगे ?) आनन्द ने फिर पूछा भगवान् बोले 'अनालापो आनन्दाति' (आलाप न करना, आनन्द !) । 'आलपन्तेन भन्ते कथं पटिपज्जितब्बं' (आलाप भी करना पड़े तो भगवान् कैसे करना चाहिए ?) भगवान् ने उत्तर दिया 'सति आनन्द उपट्ठापेतब्बा' 'स्मृति को आनन्द ! सँभाले रखना [१]' । । 'स्मृति' का बौद्ध परिभाषा में कितना व्यापक और गम्भीर अर्थ है, यह हम बोधि-पक्षीय धर्मों का विवरण करते समय देखेंगे। आनन्द के यह पूछने पर कि वे तथागत के शरीर के विषय में क्या करेंगे, भगवान् ने गम्भीर स्वर में कहा 'अव्यावटा मा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीर पूजाय'[२] अर्थात् 'तथागत की शरीर-पूजा से तो हे आनन्द, तुम सदा बेपर्वाह ही रहो', फिर 'तुम तो हे आनन्द ! सदर्थ के लिए ही प्रयत्न करना, सदर्थ के लिए ही उद्योग करना । सदर्थ में अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसंयमी हो विहरना'[३] । भगवान् का परिनिर्वाण अभी शीघ्र होनेवाला था, अतः भावुक आनन्द इसको सहन करने की हिम्मत न रखते हुए विहार में जाकर खूंटी को पकड़ कर रोते हुए खड़े थे । 'हाय !

(१,२,३) महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३) ।

मैं शैक्ष्य हूँ और जो मेरे अनुकम्पक शास्ता हैं, उनका परिनिर्वाण हो रहा है ! ' भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया 'भिक्षुओ ! आनन्द कहां है ?' 'यह भन्ते ! आयुष्मान् आनन्द विहार में जाकर. . रोते खड़े हैं' 'आ ! भिक्षु ! मेरे वचन से तू आनन्द को कह—आवुस आनन्द ! शास्ता तुम्हें बुला रहे हैं'। 'अच्छा भन्ते !' 'आनन्द ! मत शोक करो, मत रोओ । मैंने आनन्द ! पहले ही कह दिया है—सभी प्रियों से जुदाई होनी है, सो वह आनन्द ! कहाँ मिलने वाला है ? जो कुछ जात, उत्पन्न, भूत है, सो नाश होनेवाला है। 'हाय ! वह नाश न हो, यह सम्भव नहीं ।' जब इस प्रकार भगवान् उपदेश कर रहे थे तब सुभद्र नामक एक परिव्राजक भगवान् के पास आया जिसको उनके अन्तिम क्षणों में ही प्रव्रज्या मिली । तब भगवान् ने अन्तिम बार भिक्षुओं को आमन्त्रित किया 'आनन्द ! शायद तुमको ऐसा हो, शास्ता हमारे चले गए, अब हमारा शास्ता नहीं है ! आनन्द ! इसे ऐसा मत समझना । मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किए हैं, प्रज्ञप्त किए हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता होंगे'। 'भिक्षुओ ! यदि बुद्ध, धर्म, संघ में एक भिक्षु को भी कुछ शंका हो तो पूछ लो ! भिक्षुओ ! पीछे अफ़सोस मत करना 'शास्ता हमारे सम्मुख थे किन्तु हम भगवान् के सामने कुछ पूछ न सके ' 'हन्त ! भिक्षुओ, अब तुम्हें कहता हूँ—संस्कार (कृतवस्तु) व्यय धर्मा हैं, अप्रमाद के साथ सम्पादन करो'[१]: यह तथागत की अन्तिम वाणी थी । भगवान् तथागत ध्यान की क्रमिक अवस्थाओं का अनुभव करते हुए महा परिनिर्वाण में स्थित हो गए । 'स्थिर-चित्त तथागत को अब श्वास प्रश्वास नहीं रहा । शान्ति के सहित उन्होंने निष्कम्प हो काल किया । भगवान् के परिनिर्वृत्त हो जाने पर उनके फूलों को आठ भागों में विभक्त किया गया, जिनमें से प्रत्येक पर भिन्न-भिन्न जानपद जनों ने स्तूप बनवाये[२] । सौ कल्पों में भी बुद्ध-पुरुष का होना दुर्लभ है । हम उस महा पुरुष की बन्दना करते हैं । अब हम बुद्ध के बाद धर्म पर आते हैं ।

---

(१) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

(२) यथा मगधराज अजातशत्रु ने, वैशाली के लिच्छवियों ने, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने, रामगाम के कोलियों ने, वेठदीप के ब्राह्मणों ने, पावा के मल्लों ने, कुसीनारा के मल्लों ने, द्रोण ब्राह्मण ने, और पिप्पली वन के मौर्यों ने ।

'धम्म' की अनुस्मृति

धर्म की अनुस्मृति वस्तुतः बुद्ध की स्मृति से कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। परमार्थ रूप से तो बुद्ध और धर्म में भेद करना ही अज्ञान होगा। बुद्ध और धर्म एक हैं। भगवान् बुद्ध ने स्वयं अनेक वार कहा है, "जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है। जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है[१]।' महायान बौद्ध धर्म में इसी सत्य की स्वीकृति 'धर्म-कायास्तथागताः' कह कर की गई है और उसे विस्तृत तात्त्विक रूप प्रदान किया गया है। महापरिनिर्वाण में प्रवेश करते समय भगवान् ने भिक्षुओं से कहा था, "मेरा बाद मेरे द्वारा उपदेश किया हुआ धर्म-विनय ही तुम्हारा शास्ता होगा[२]।" इस प्रकार 'धर्म' लोक में बुद्ध का प्रतिनिधि है। परन्तु 'धम्म' अपने अस्तित्व के लिए बुद्धों के आविर्भाव पर निर्भर नहीं है। 'तथागत चाहे उत्पन्न हों, चाहे न हों, धर्म-नियामता तो रहती ही है[३]।' अतः 'धम्म' व्यक्ति-निरपेक्ष सत्य है, जो व्यक्ति के रूप में भगवान् बुद्ध की भी अपेक्षा नहीं रखता। बुद्ध और संघ के बीच 'धम्म' मध्यस्थता करता है। बुद्ध ने धम्म का साक्षात्कार किया और अपने बाद 'धम्म' को अपना प्रतिनिधि बनाया। 'धम्म' के लिए बुद्ध ने अपने को विसर्जित कर दिया। 'धम्म' के प्रचार के लिये, ब्रह्मचर्य के प्रकाश के लिये, संघ का आयोजन हुआ। परन्तु बुद्ध के बाद उसका नियन्त्रणकर्ता भी 'धम्म' ही हुआ, कोई व्यक्ति नहीं। वस्तुतः बुद्ध ने अपने जीवन-काल में भी कभी यह नहीं माना कि वे संघ का संचालन कर रहे हैं। धम्म के द्वारा ही वे संघ को संचालित मानते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध और संघ के बीच में धम्म है। आश्चर्य कि इस 'धम्म' को भी विसर्जित करने का तथागत ने उपदेश दिया जब कि उससे प्रयोजन पूरा हो जाय। जिस प्रकार तरने के बाद नाव छोड़ दी जाती है, पकड़ कर नहीं रक्खी जाती, उसी प्रकार धर्म को भी छोड़ना है, पकड़ कर नहीं रखना है। नाव के समान ही धर्म का उपदेश भगवान् ने दिया है। "कुल्लूपमं खो भिक्खवे

---

(१) यो धम्मं पस्सति सो मं पस्सति यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति। संघाटी-सुत्त (इति वुत्तक)

(२) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

(३) उप्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतानं ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता। संयुत्त-निकाय।

धम्मं देसिस्सामि नित्थरणत्थाय नो गहणत्थाय[1]" । जिस धर्म को पुरुष-श्रेष्ठ ने साक्षात्कार किया, वह "आदि कल्याणकारी है, मध्य में कल्याणकारी है और अन्त में भी कल्याणकारी है[2] ।" स्वयं-साक्षात्कृत धर्म के रूप का वर्णन करते हुए स्वयं भगवान् ने कहा है, "मैंने इस धर्म को प्राप्त किया है जो गम्भीर है, दुर्दर्श है, दुरनुबोध है, शान्त, उत्तम और तर्क से अप्राप्य है । यह धर्म कुशल है और बुद्धिमान् जनों के द्वारा साक्षात्कार करने योग्य है[3] ।' वस्तुतः बुद्ध-धर्म की सब से बड़ी विशेषता आज भी यह कही जा सकती है कि वह तथागत के द्वारा सु-आख्यात है, सुन्दर तौर पर कहा हुआ है। 'स्वाक्खातो भगवता धम्मो'[4] । बुद्धिवादी विवेचना के सामने वह ठहरता है । फिर दूसरी बड़ी बात, जो धर्म-साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, यह है कि यह धर्म यहीं, इस शरीर में, इस व्याम-मात्र कलेवर में, प्राणों के विद्यमान रहते, अनुभव करने योग्य है । यह धर्म सांदृष्टिक है, अकालिक है । 'सन्दिट्ठिको अकालिको'[5] । कठोर प्रत्यक्षवाद पर यह धर्म आधारित है। इसकी सत्यता यहीं जाँची जा सकती है, इसके अनुभव को यहीं प्राप्त किया जा सकता है । सर्वोत्तम अर्थ में यह स्वसंवेद्य ज्ञान है । यह धर्म 'एहिपस्सिको'[6] है, अर्थात् यह कहता है, 'आओ और देखो' । 'आचार्यमुष्टि' इसके अन्दर नहीं है, रहस्य-भावना पर यह आधारित नहीं है जिसका उपयोग थोड़े-से जनों के लिये हो । इसका उपयोग तो सम्पूर्ण जनता के लिये है । यह तो जनवादी धर्म है, जो सबको पुकार कर कहता है 'आओ और देखो' । विश्वास को यहां कोई स्थान नहीं है । सच्चाई का गहरा आत्मविश्वास यहाँ विद्यमान है । यह धर्म 'ओपनयिक' है, निर्वाण की ओर ले जानेवाला है । तथागत की बोधि पर केवल विश्वास करने से काम न चलेगा । इसके लिये बुद्ध-धर्म नहीं है । प्रत्येक हृदय में बोधि प्राप्त करनी होगी, प्रत्येक हृदय में मार-विजय करनी होगी, प्रत्येक हृदय में

(१) अलगद्दूपम-सुत्त (मज्झिम० १।३।२)
(२) सो धम्मं देसेति आदि कल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसान कल्याणं" चूल-हत्थिपदोपम-सुत्त (मज्झिम० १।३।७)
(३) अधिगतो सो म्यायं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो दुरनुबोधो सन्तो पणीतो अतक्कावचरो निपुणो पंडित वेदनीयो । (विनय-पिटक—महावग्ग)
(४) वत्थूपम-सुत्त (मज्झिम० १।१।६)
(५,६) उपर्युक्त के समान ।

बुद्ध-पुरुष का आविर्भाव करना होगा। तथागत ने जिस सत्य का साक्षात्कार किया उसका अनुभव प्रति शरीर में, प्रति आत्मा में (पच्चन्तं) हो, यह बौद्ध धर्म है। इसीलिये कहा गया है 'विज्ञ जनों के द्वारा, प्रत्येक शरीर में अलग-अलग, यह धर्म साक्षात्कार करने योग्य है।" "पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूहि[1]।" सद्धर्म के गुणों की इतनी अनुस्मृति यहाँ विचार के लिये पर्याप्त होगी।

तथागत-प्रवेदित धर्म के मूल उपादान चार आर्य-सत्य हैं—उनका विवरण और विवेचन

जिस धर्म की प्रतिशरण में भगवान् ने भिक्षुओं को छोड़ा, वह चार आर्य सत्यों पर निर्भर है। चार आर्य सत्यों को हम बुद्ध-शासन के मूल उपादान मान सकते हैं। इनका ज्ञान भगवान् को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के समय ही हुआ था और ऋषिपतन मृगदाव के अपने प्रथम प्रवचन में उन्होंने इनका उपदेश दिया था[2] वस्तुतः, जैसा हम पहले देख चुके हैं, चार आर्य सत्यों के बोध के कारण ही भगवान् को 'बुद्ध' कहा गया है[3]। धर्म-ज्ञान वस्तुतः चार आर्य सत्यों का ज्ञान ही है[4]। चार आर्य सत्यों के उपदेश को ही बुद्धों का वह उठाने वाला उपदेश 'बुद्धानं सामुक्कंसिका धम्मदेसना' कहा गया है, जिसके द्वारा वे व्यक्तियों के मन को ऊर्ध्व नैतिक धरातल पर ले जाने का प्रयत्न करते हैं। अतः बुद्ध शासन में इनका कितना महत्त्व है, इसपर यहाँ अधिक बल देने की आवश्यकता नहीं। कुशल धर्मों के समग्र रूप को बुद्ध-शिष्य चार आर्य सत्यों में ही निहित मानते थे। 'आवुसो ! जितने कुशल धर्म हैं, वे सभी चार आर्य सत्यों में निहित हैं, कौन से चार आर्य सत्यों में, दुःख आर्य सत्य में, दुःख-समुदय आर्य सत्य में, दुःख निरोध आर्य सत्य में, दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद्

---

(१) उपर्युक्त के समान।

(२) देखिये धम्म चक्क पवत्तन-सुत्त (संयुत्त-निकाय); चार आर्य सत्यों के विवरण के लिये देखिये सच्च विभंग-सुत्त (मज्झिम० ३।४।११), दसुत्तर-सुत्त (दीघ० ३।११), सामञ्ञफल-सुत्त (दीघ० १।२), भयभेरव सुत्त (मज्झिम० १।१।४), सब्बासव-सुत्त (मज्झिम० १।१।२) तथा सतिपट्ठान-सुत्त (मज्झिम० १।१।१०) भी।

(३) देखिये पीछे पृष्ठ १९९, पद-संकेत १

(४) देखिये उदान-अट्ठकथा १।१; उदान, पृष्ठ २ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

आर्य सत्य में'[१] । जिन किन्हीं भी चीज़ों को भगवान् ने व्याकृत किया है और जो मनुष्यों के लिए एकान्त निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए, उपशम के लिए, अभिज्ञा के लिए, सम्बोधि के लिए और निर्वाण के लिए हैं उनमें चार आर्य सत्य मुख्य हैं। 'पोट्ठपाद', 'यह दुःख है', इसे मैंने व्याकृत किया है, 'यह दुःख-समुदय है' इसे मैंने व्याकृत किया है, 'यह दुःख-निरोध है' इसे मैंने व्याकृत किया है, 'यह दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे मैंने व्याकृत किया है[२] ।' 'भिक्षुओ ! चारों आर्य-सत्यों के अनुबोध, प्रतिवेध न होने से इस प्रकार दीर्घकाल से यह दौड़ना, संसरण, 'मेरा और तुम्हारा' हो रहा है । कौन से चारों से ? भिक्षुओ ! दुःख आर्य-सत्य के अनुबोध न होने से, दुःख-समुदय; दुःख निरोध; दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद् । भिक्षुओ ! सो इस दुःख आर्य-सत्य को अनुबोध किया तो भवतृष्णा उच्छिन्न हो गई, भवनेत्री (तृष्णा) क्षीण हो गई[३] ।' 'भिक्षुओ ! दुःख आर्य सत्य क्या है ? पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, मरना दुःख है, शोक करना दुःख है, रोना पीटना दुःख है, पीड़ित होना दुःख है, चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, संक्षेप में पांच उपादान स्कन्ध ही दुःख हैं'[४] । 'तो भिक्षुओ ! क्या समझते हो यह जो चारों महासमुद्रों में पानी है, वह अधिक है या यह जो इस संसार में बार-बार जन्म लेने वालों ने प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण रो-पीट कर आँसू बहाए हैं[५] ?' 'भिक्षुओ ! चिर काल तक माता के मरने का दुःख सहा है, पिता के मरने का दुःख सहा है, लड़की के मरने का दुःख सहा है, रिश्तेदारों के मरने का दुःख सहा है, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहा है, रोगी होने का दुःख सहा है, उन माता के मरने का दुःख सहने वालों ने, पिता के मरने का दुःख सहने

---

(१) महाहत्थिपदोपम सुत्त (मज्झिम० १।३।८)
(२) पोट्ठपाद सुत्त (दीघ० १।९)
(३) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)
(४) महा सति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९),
पाँच उपादान स्कन्ध ये हैं, रूप-उपादान स्कन्ध, वेदना-उपादान-स्कन्ध, संज्ञा-उपादान-स्कन्ध, संस्कार-उपादान-स्कन्ध और विज्ञान-उपादान-स्कन्ध ।
(५) संयुत्त० १४।३, भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद, देखिए बुद्ध वचन, पृष्ठ ९–१०

वालों ने, पुत्र के मरने का दुःख सहने वालों ने, लड़की के मरने का दुःख सहने-वालों ने, रिश्तेदारों के मरने का दुःख सहनेवालों ने, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहनेवालों ने, रोगी होने का दुःख सहने वालों ने, संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण जो रो पीट कर आँसू बहाए हैं, वे ही अधिक हैं, इन चारों महासमुद्रों का जल नहीं'[१]। 'तो क्या समझते हो भिक्षुओ ! यह जो चारों महासमुद्रों में पानी है यह अधिक है अथवा यह जो संसार में बार-बार जन्म लेकर सीस कटाने पर रक्त बहा है।' 'इस प्रकार भिक्षुओ ! दीर्घ काल तक दुःख का अनुभव किया है, तीव्र दुःख का अनुभव किया है, बड़ी-बड़ी हानियाँ सही हैं, श्मशान भूमि को पाट दिया है। अब तो भिक्षुओ ! सभी संस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति प्राप्त करो'[२]। 'भिक्षुओ ! यह जो फिर-फिर जन्म का कारण है, यह जो लोभ तथा राग से युक्त है, यह जो जहाँ कहीं मज़ा लेती है, यह जो तृष्णा है, जैसे काम-तृष्णा, भव-तृष्णा तथा विभव-तृष्णा—यह तृष्णा ही दुःख के समुदय के विषय में आर्य-सत्य है'[३]। 'तो भिक्षुओ ! यह तृष्णा कैसे पैदा होती है और कैसे अपना घर बनाती है[४] ?' 'संसार में जो प्रियकर है, संसार में जिसमें मज़ा है, वहीं यह तृष्णा पैदा होती है और वहीं यह अपना घर बनाती है'[५]। 'रूप-संज्ञा, शब्द-संज्ञा, गन्ध-संज्ञा, रस-संज्ञा, स्पर्श-संज्ञा तथा धर्म-संज्ञा, ये सब प्रियकर हैं, इन सब में मज़ा है, इन्हीं में यह तृष्णा पैदा होती है और इन्हीं में यह अपना घर बनाती है'[६] 'रूप-संचेतना, शब्द-संचेतना, गन्ध-संचेतना, रस-संचेतना, स्पर्श-संचेतना तथा धर्म-संचेतना, ये सब प्रियकर हैं, इन सब में मज़ा है, इन्हीं में यह तृष्णा पैदा होती है और इन्हीं में यह अपना घर बनाती है'[७]। इसी प्रकार रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और मन के विषयों के वितर्क और विचार भी सब प्रियकर होने से तृष्णा के आलय हैं। सुख वेदना को मनुष्य ग्रहण करता है और दुःख वेदना को दूर करने का प्रयत्न करता है। 'वेदना को जो अपना बनाना है वही उसमें राग उत्पन्न होना है; वेदना में जो राग है वही उपादान है; जहाँ उपादान है वहाँ भव है; जहां भव है वहां पैदा होना है। जहां पैदा होना है, वहाँ बूढ़ा होना,

---

(१,२) संयुत्त० १४।३ भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद, देखिये बुद्ध वचन, पृष्ठ ९-१०

(३,७) महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९), देखिये बुद्ध वचन, पृष्ठ ११-१३ भी।

मरना, शोक करना, रोना पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना—सब है। इस प्रकार इस सारे-के-सारे दुःख का समुदय होता है'[१]। कामना ही से इस संसार की सभी दुःख रूप समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं[२] और 'भिक्षुओ! ऐसा समय आता है जब यह महा समुद्र सूख जाता है, नहीं रहता है, लेकिन अविद्या और तृष्णा से संचालित, भटकते फिरते प्राणियों के दुःख का अन्त नहीं होता'[३]। यह अशेष दुःख-परम्परा दूर भी तो कैसे हो, इसके निरोध का कोई उपाय तो जाने? 'भिक्षुओ! दुःख के निरोध के विषय में आर्य सत्य क्या है? 'भिक्षुओ! उसी तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य, उस तृष्णा का निरोध, त्याग, परित्याग, उस तृष्णा से मुक्ति, अनासक्ति—यही दुःख के निरोध के बारे में आर्य सत्य है'[४] 'किस विषय में यह तृष्णा प्रहीण करने से प्रहीण होती है, निरुद्ध करने से निरुद्ध होती है? संसार में जो प्रियकर है, संसार में जिसमें मजा है, उसी में यह तृष्णा प्रहीण करने से प्रहीण होती है, उसी में निरोध करने से निरुद्ध होती है'[५]। 'भिक्षुओ! संसार में जो कुछ भी प्रियकर लगता है, संसार में जिसमें मजा लगता है, उसे चाहे पिछले समय के, चाहे अब के, चाहे भविष्य के, जो भी श्रमण-ब्राह्मण दुःख करके समझेंगे, रोग करके समझेंगे, उससे डरेंगे, वही तृष्णा को छोड़ सकेंगे'[६]। 'भिक्षुओ! यही जो रूप का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है। यह जो वेदना का निरोध है, संज्ञा का निरोध है, संस्कारों का निरोध है, तथा विज्ञान का निरोध है, उपशमन है, अस्त होना है, यही दुःख का निरोध है, रोगों का उपशमन है, जरा-मरण का अस्त होना है'[७]। दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग रूप आर्य सत्य क्या है, इसका उत्तर आर्य अष्टांगिक मार्ग में मौजूद है जो बोधि पक्षीय धर्मों का एक अंग है। अतः उसके विषय में तो बोधि पक्षीय धर्मों के निरूपण करते समय विचार करेंगे। इस प्रकार यहाँ

---

(१) महातण्हा संखय सुत्त (मज्झिम० १।४।८), देखिए बुद्धवचन, पृष्ठ १४
(२) देखिये महादुक्खक्खन्ध सुत्त (मज्झिम० १।२।३); बुद्ध वचन, पृष्ठ १४
(३) संयुत्त० २१।१०; देखिए बुद्धवचन, पृष्ठ १५
(४-५) महासति-पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)
(६) संयुत्त० १२।७; देखिए बुद्धवचन, पृष्ठ १६
(७) संयुत्त० २१।३; देखिए बुद्ध वचन, पृष्ठ १६–१७

तथागत द्वारा उपनिष्ट धर्म का पूरा स्वरूप देने का प्रयत्न हमने नहीं किया, किन्तु केवल उसके मूल उपादान स्वरूप चार आर्य सत्यों पर ही विचार किया जो उस 'उत्तम भिषक्'[१] के द्वारा दिए गए मानवता को सर्वोत्तम दान हैं और जिनके द्वारा ही उन्होंने मानवता के रोग, उसके स्वरूप, निदान, भैषज्य और पथ्य आदि का अत्यन्त अनुपम रूप से विधान किया है। अब हम धर्म से संघ पर आते हैं। धर्म के समाज गत रूप का नाम ही संघ है। विचार और शील की समानता से आबद्ध जन-समूह का नाम ही संघ है। 'दिट्ठिसील संघातेन संघातोति संघो[२]।'

संघ-स्थापना और मातृग्राम (स्त्रियों) को संघ में प्रवेश की आज्ञा—संघ सम्बन्धी कुछ नियम और शास्ता के परिनिर्वाण के समय बौद्ध-धर्म और संघ की साधारण अवस्था

किस प्रकार भगवान् ने ब्रह्मचर्य को चिरस्थायी बनाने के लिए भिक्षुओं के एक समूह रूप संघ की स्थापना की, यह हम पहले देख ही चुके हैं। स्त्रियों को प्रवेश भी संघ में किन अवस्थाओं में मिला, यह भी हम पहले देख चुके हैं। राजा बिम्बिसार ने सर्वप्रथम संघ की सेवार्थ वेणुवन-बिहार बनवाया। उसके बाद कुछ और भी विहार बुद्ध-काल में बने। स्त्रियों के लिए भी भगवान् ने पवित्र जीवन का बिताना उतना ही उपयोगी माना जितना मनुष्यों के लिए और उन के लिये अलग विहार बनवाने की भी व्यवस्था हुई। संघ एक स्वयं-चालित संस्था थी, जिसका विधान उस समय के गणराज्यों के समान था। भगवान् ने बिना किसी जाति भेद या वर्णभेद का विचार करते हुए सद्धर्म में समान रूप से सबका अधिकार माना और चातुर्वर्णी परिशुद्धि का उन्होंने प्रचार किया तथा ब्राह्मण्य को किसी वंश में जन्म लेने के परिणाम स्वरूप नहीं किन्तु उत्तम प्रयत्न द्वारा अधिगत पवित्रता के कारण स्वरूप ही माना[३]। तभी तो उपालि जैसे नापितवंशोद्भव व्यक्ति

---

(१) जैसा कि कृशा गौतमी ने भगवान् को पुकारा, देखिए थेरी अपदान, तृतीय भाणवार; बुद्धचर्या, पृष्ठ ३६३

(२) सुमंगल विलासिनी, जिल्द पहली, पृष्ठ २३० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) देखिये धम्मपद (ब्राह्मण-वग्ग); वासेट्ठ-सुत्त (सुत्त-निपात)

भी उनके आर्य-धर्म में विनय को जाननेवालों में श्रेष्ठतम गिने जा सकते थे। तथागत के संघ में सभी को समान अधिकार था प्रवेश पाने का और शास्ता से उपदेश हासिल करने का। 'भिक्षुओ ! जैसे स्वच्छ मधुर शीतल जल-वाली रमणीय सुन्दर घाटोंवाली पुष्करिणी हो। यदि पूर्व दिशा से भी धूप में तपा, धूप से अभितप्त, थका, तृषित, पिपासित पुरुष आवे, वह उस पुष्करिणी को पाकर अपनी पिपासा को दूर करे, धूप के ताप को दूर करे, यदि पच्छिम दिशा से भी, उत्तर दिशा से भी, दक्षिण दिशा से भी, जहाँ कहीं से भी, ऐसे ही भिक्षुओ ! यदि क्षत्रिय कुल से घर से बेघर प्रव्रजित होवे और वह तथागत के उपदेश किए धर्म को प्राप्तकर, इस प्रकार मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा की भावना करे तो वह आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करता है।... यदि ब्राह्मण कुल से, यदि वैश्य कुल से, जिस किसी भी कुल से[१].......'। तथागत के संघ के ठीक स्वरूप को न समझने के कारण उसके विषय में प्रामाणिक विद्वानों तक को भी भ्रान्तियाँ हुई हैं। वास्तव में बात यह है कि आजकल के नितान्त भौतिक आधार पर व्यवस्थित संघों को देखने वाला मानव बुद्ध के संघ को ठीक तरह से समझ ही नहीं सकता। और वास्तव में भिक्षु-संघ तो किन्हीं भी अर्थों में आधुनिक रूप में एक संघ था ही नहीं। जिस संघ का उद्भावक और प्रधानतम व्यवस्थापक अपने संघ के सदस्यों तक के प्रति इतना कह दे कि न केवल वे समयानुसार छोटे मोटे नियमों को ही (जो स्वयं उसी के द्वारा बनाए हुए हैं) छोड़ सकते हैं, किन्तु जो प्रयोजन निकल जाने के बाद स्वयं उनके धर्म को भी छोड़ सकते हैं अर्थात् उसके प्रति अभिनिवेश हटा सकते हैं, इतना ही क्यों, जो शास्ता अपने चले जाने के बाद अपना कोई उत्तराधिकारी तक न छोड़े जो संघ की ठीक व्यवस्था कर सके किन्तु सब को एक अशरीरी अमूर्त धर्म की प्रतिशरण में ही छोड़ जाय, और तो क्या, जो मरते समय अपने संघ के प्रति कुछ अन्तिम बात कह जाने की स्मृति दिलाये जाने पर 'आनन्द ! जिसको ऐसा हो कि मैं भिक्षु संघ को धारण करता हूँ, भिक्षु संघ मेरे उद्देश्य से है वह ज़रूर आनन्द ! भिक्षु संघ के लिए कुछ कहे। आनन्द ! तथागत को ऐसा नहीं है। आनन्द ! तथागत भिक्षु संघ के लिए क्या कहेंगे[२]' ऐसा गम्भीर निर्घोष करे, उस संघ-कर्ता के विषय में हम क्या कहेंगे ? अत्यन्त प्राकृत-इन्द्रिय हम जो व्याव-

(१) चूल-अस्सपुर सुत्त (मज्झिम० १।४।१०); देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ २८८
(२) देखिये महापरिनिब्बाण सुत्त (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद) पृष्ठ १४

हारिक दृष्टिकोण की बात बहुत करते हैं किन्तु जो एक तथागत की दृष्टि में तृष्णा के निवेशनों को छोड़ और कुछ नहीं, कह सकते हैं कि तथागत ने पारमार्थिक सत्य के रूप में धर्म को ग्रहण कर उसकी व्यावहारिकता खो दी। ऐसी ही कुछ बात महामति डा० राधा कृष्णन् ने ब्रिटिश एकेडमी में 'गौतम बुद्ध' पर अभिभाषण करते हुए बुद्ध-विचार की अपर्याप्तता के प्रसंग में कही थी[१]। भगवान् बुद्ध के पारमार्थिक मन्तव्य को न समझने और स्थूल यथार्थ-वादी दृष्टि को अधिक महत्त्व देने के परिणामस्वरूप ही यह है। तथाधर्म में अधिरूढ़ महात्मा जिस दृष्टि से इस जगत् के संघों आदि को देखता है उस दृष्टि में हम नहीं देख सकते, अतः लौकिक प्रज्ञप्ति में चाहे जो कुछ कहा जाय किन्तु संघ के विषय में बुद्ध की प्रवृत्ति एक परिपूर्णतम ज्ञानी और आत्म-काम, आत्माराम महात्मा की ही थी, किसी-लौकिक व्यवस्थापक की नहीं। फिर यह भी कहना कि बुद्ध ने संघ के रूप में प्रव्रज्या के ही महत्त्व पर अत्यधिक जोर देकर और औपनिषद परम्परा के अनुसार गृहस्थ जीवन आदि की वास्त-विक उपयोगिता को व्यावहारिक रूप में स्वीकार न कर अपने विचार की अपर्याप्तता अथवा अति रञ्जना प्रकट की[२] निश्चय ही बुद्ध के द्वारा उच्चरित गृह विनय (गह विनय) सम्बन्धी उपदेशों को उनका उचित मूल्य नहीं देना है और फिर परमार्थावस्था में तो औपनिषद ऋषि और बुद्ध दोनों ही गृह-त्याग को एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु मानते हैं। भगवान् ने संघ स्थापित कर भिक्षुओं को मठाधीश या आमिष-दायाद नहीं बनाना चाहा, गुरुवाद का प्रचार करना नहीं चाहा, अपना नाम चलाना नहीं चाहा, वे भगवान् केवल पवित्रता की स्थापना देखने को चिन्तित थे और जो स्त्री-पुरुष इसके लिए इच्छुक थे वे ही उनके संघ थे और रहेंगे, किसी स्थूल अर्थ में हमें इसके प्रयोग से जितना सम्भव हो बचना चाहिए। इसी अर्थ में संघ

---

(१) "I may refer briefly to certain inadequacies in Buddha's thought which revealed themselves in its later history and relation to Buddhism........ His conception of Dharma as the absolute reality was not sufficiently concrete for practical purposes". **गौतम दि बुद्ध, पृष्ठ ४९**

(२) **देखिये वहीं, पृष्ठ ४९**

की अनुस्मृति आज भी हमारे लिए कुछ अर्थ रख सकती है। अस्तु, भगवान् का संघ उनके समय में पवित्रता पर अच्छी तरह प्रतिष्ठित था जैसा कि महामहापरिनिब्बाण सुत्त में वर्णित इस विषय सम्बन्धी भगवान् की प्रसन्नता से द्योतित है[1]। उस समय ऐसे भिक्षु-भिक्षुणी साधक विद्यमान थे, जो अपने प्राणों के लिये भी बुद्धोपदिष्ट शील को तोड़ना नहीं जानते थे। 'श्रमण मुझे क्यों प्रिय हैं' इस आत्मोद्गार में भिक्षुणी रोहिणी ने तत्कालीन भिक्षु-संघ के गुणों को गाया है जो ऐतिहासिक रूप से सत्य माना जा सकता है। फिर बिना संघ की पवित्रता के स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में उसकी शरणागति की संगति भी नहीं बैठ सकती थी। अतः साधारणतः भगवान् के भिक्षु और भिक्षुणियाँ, गृहस्थ उपासक और उपासिकाएँ अपनी चारित्र्य-सम्पदा के लिए स्मृत होते थे और इसी में उस समय तथागत के धर्म-विनय का महत्त्व था। भिक्षु और भिक्षुणियों सम्बन्धी अनेक नियम जो समग्र विनयपिटक में निहित हैं, और जिनका विधान धीरे-धीरे अवसर के अनुसार किया गया था यहाँ संक्षेपतम रूप से भी नहीं कहे जा सकते, अतः इतना ही कहना पर्याप्त है कि भगवान् के विनय-सम्बन्धी नियम उनके शिष्यों में शील, समाधि और प्रज्ञा के सञ्चार के लिए ही थे, उनका कर्मकाण्डमय कोई महत्त्व न था जिसके कि भगवान् विरुद्ध थे। भगवान् सदा ध्यान पर ही जोर दिया करते थे और अपराध करने पर भिक्षु अथवा भिक्षुणियाँ प्रतिज्ञात करण और क्षमा-याचना के भी अधिकारी होते थे। संघ का जीवन व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं किन्तु समाज के, बहुजन के, शुभ और कल्याण के सिद्धान्त पर व्यवस्थित था और भगवान् भी ऐसा ही उपदेश भिक्षुओं को दिया करते थे। विवाद-ग्रस्त प्रश्न बुद्ध के आदेश अथवा बहुमत के आधार पर निश्चित कर लिए जाते थे। इसलिए वह अनुपम संघ भगवान् के समय में पूजनीय और दक्षिणेय (दान देने योग्य) था, इसमें सन्देह नहीं। बुद्ध और धर्म के साथ उसकी भी स्मृति सावकाश थी, इसमें आश्चर्य नहीं।

---

(१) 'मैं तब तक परिनिर्वाण को प्राप्त नहीं होऊँगा जब तक मेरे भिक्षु श्रावक निपुण, विनय युक्त, विशारद, बहुश्रुत.....' राहुल सांकृत्यायन का हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १७; "आनन्द ! 'प्रसन्न हूँ' कह रहा है। आनन्द ! तथागत को मालूम है---इस भिक्षु संघ में एक भी भिक्षु ऐसा नहीं है जो ..... नियत संबोधि-परायण न हो" वहीं पृष्ठ २०

उपसंहार

इस प्रकार बुद्ध, धर्म और संघ की अत्यन्त संक्षिप्त अनुस्मृति हमने की[१]। इनके प्रकाश में हम बुद्ध के विचार और उसके ऐतिहासिक विकास को ठीक तरह से समझ सकेंगे। तथागत के व्यक्तित्व और धर्म के किञ्चित् स्वरूप का निर्देश कर हमने उनके प्रभ व का कुछ निदर्शन किया है, जो बौद्ध दर्शन के तात्त्विक स्वरूप को समझने में हमारा सहायक होगा। संघ सम्बन्धी अनुस्मृति में हमने प्रसंगवश देखा है कि बुद्ध-परिनिर्वाण तक विशेषतः मध्यप्रदेश अर्थात् बिहार और उत्तर-प्रदेश तक उसका प्रसार सीमित था। बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक विकास एवं भारत में उसके लोप के रहस्य पर हम आगे चल कर विचार करेंगे। अब हम प्रारम्भिक बौद्ध धर्म और दर्शन के साहित्य पर आते हैं।

४—साहित्य और परम्परा

मूल बुद्ध-दर्शन को जानने का पालि-त्रिपिटक ही एकायन मार्ग और इस रूप में उसकी प्रामाणिकता

मूल बुद्ध-दर्शन की साहित्य-सम्पदा अपने सम्पूर्ण रूप में उन महाग्रन्थों अथवा महाग्रन्थ-समूहों में निहित है जिनकी सामूहिक संज्ञा 'त्रिपिटक' अथवा 'तिपिटक' है और जो पालि भाषा में लिखे गए हैं। त्रिपिटक अर्थात् तीन पिटारियाँ—तीन महा-ग्रन्थ-समूह जिनमें बुद्धवचन निहित हैं और जो परम्परानुक्रम से हमें बुद्ध की विरासत और दान के रूप में मिले हैं। ये तीन पिटक हैं—सूत्र पिटक (सुत्त पिटक), विनय पिटक और अभिधर्म पिटक (अभिधम्म पिटक)। पालि-भाषा-निबद्ध ये तीन पिटक ही बुद्धानु-शासन को जानने के लिये सब समय के लिए एकायन मार्ग हैं। वास्तव में बुद्ध-शासन अपने पूर्वतम, अतः विशुद्धतम, रूप में इन्हीं के द्वारा आज तक बचाकर रक्खा गया है। इन्हीं तीन पिटकों में निहित बुद्ध-वचन, जो इसीलिए 'तेपिटक बुद्ध-वचन' भी कहलाते हैं, भगवान् बुद्ध के व्यक्तित्व और उपदेशों

(१) बुद्ध, धर्म और संघ के अतिरिक्त तीन और अनुस्मृतियाँ बौद्ध साधकों के लिये अपेक्षित हैं। वे हैं शील, त्याग और देवता सम्बन्धी अनु-स्मृतियाँ। इन छह अनुस्मृतियों के पूर्ण विवेचन के लिये विसुद्धिमग्ग, सप्तम परिच्छेद (छ अनुस्सति निद्देसो) द्रष्टव्य हैं। इनके अतिरिक्त चार और अनुस्मृतियाँ हैं, मरणानुस्सति, कायगता सति, आनापान सति और उपसमानुस्सति)। इनके विवेचन के लिये देखिये विसुद्धि-मग्ग का अष्टम परिच्छेद।

को जानने के सर्वोत्तम उपाय हैं। कुमारिल, शंकर अथवा माधवाचार्य से ही जिन्होंने अपना बौद्ध दर्शन सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया है और उतने से ही जो सन्तुष्ट हैं अथवा नागार्जुन, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, दिङनाग और आर्यदेव जैसे बौद्ध आचार्यों से ही जिन्होंने बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अभिज्ञा प्राप्त की है और उसे ही जो बुद्ध का मूल मन्तव्य मान कर सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों की खण्डा-खण्डी में ही लगे हैं (यद्यपि इससे बहुत कुछ अधिक भी इन आचार्यों के प्रज्ञानों में है) उनकी अनेक भ्रान्तियों के निवारण का उपाय पालि-त्रिपिटक ही है जो बुद्ध-दर्शन के मूल रूप को एक अनपेक्ष रूप से उसके विशुद्धतम और नैसर्गिक स्वरूप में हमारे सामने उपस्थित करता है। अतः पालि-त्रिपिटक ही मूलबुद्ध-शासन की अभिज्ञा प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। किन्तु यह सब त्रिपिटक के प्रति मात्र श्रद्धा का ही विजृम्भण न माना जाय, अतः यहाँ कुछ उन आपत्तियों का विचार भी आवश्यक है जो त्रिपिटक के विषय में उसकी साक्षात् बुद्ध-वचन के रूप में प्रामाणिकता को सन्देह का विषय बनाते हुए विद्वानों के द्वारा की गई हैं। वास्तव में न तो त्रिपिटक की ही बुद्ध-वचन के रूप में और न पालि की ही जिसमें वह लिखा गया है, बुद्ध के उपदेशों के वास्तविक माध्यम के रूप में, सोलहो आने प्रामाणिकता सन्देह का विषय नहीं बनाई गई हो, ऐसी बात नहीं है। प्रत्युत, पिटक साहित्य जो भगवान् बुद्ध के समय में ही पिटकधर आभाणकों के द्वारा मौखिक रूप से अपनी स्मृति का विषय बनाया गया था, तीन धर्म-संगीतियों में, महास्थविर 'पोरा-णाचरियों' के द्वारा संगायन किए जाने के परिणामस्वरूप अशोक के समय में अन्तिम रूप से जिसका संकलन और स्वरूप-विनिश्चय हुआ एवं जिसे प्रथम बार ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व अर्थात् बुद्ध के काल से करीब ५०० वर्ष बाद लंका में राजा वट्टगामणि के समय में लेखबद्ध कर व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया गया, निश्चय ही बुद्ध के साक्षात् उच्चरित शब्दों के रूप में बहुतों के सन्देह का विषय बन चुका है। फिर पालि नाम से कही जानेवाली त्रिपिटक की भाषा ही कहां तक बुद्ध के उपदेशों के वास्तविक माध्यम और स्वरूप को प्रकट करती है अथवा कहाँ तक उसमें सम्मिश्रण, सम्पादन अथवा अनूदन हुआ है और 'तेपिटक बुद्ध-वचन' कहाँ तक तथागत के मुख से निकली हुई वाणी के विशुद्ध रूप कहे जायँ अथवा कह तक दूसरों के मन की भी उन पर छाप है, इस विषय में विद्वानों के विवाद का अन्त नहीं है। हम यहा पहले पालि के भाषातत्त्व को लेकर ही इस विषय में कुछ विचार करेंगे और

बाद में अन्य दृष्टिकोणों से। पालि प्रधानतः प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन की भाषा है। बौद्ध धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के एक विशिष्ट पहलू अर्थात् उनके पूर्वतम रूप (जिसका ही अपर नाम 'स्थविरवाद' है) के स्पष्टतम प्रकाशन में ही उसके उपयोग की इतिश्री है। इसी में उसकी अल्पता की अनुभूति और उसके सारे महत्व की सीमा है। इसी के लिए उसका सर्वस्व अर्पित हुआ है और इसके अतिरिक्त उसमें ज्ञेय भी अल्प है। मूल बुद्ध-वचन परम्परा से इसी भाषा में लिखे हुए मनुष्य-जाति को मिले हैं। किन्तु यह पालि किस प्रदेश की आदिम भाषा थी अथवा इसका मूल स्वरूप क्या था और इसके उद्गम का प्रकार और मूल उपादान क्या था, ये बातें आज भी निश्चित रूप से निर्णीत नहीं हो सकीं। भारतीय भाषात्मक विकास में पालि के स्थान का सम्यक् अनुमापन आज भी भाषा विज्ञान की एक समस्या है। कुछ के अनुसार यदि पालि भाषा का आदिम स्थान अवन्ती अथवा कोशल प्रदेश है तो कुछ उसे विन्ध्यमेखला के समीप, उसके उत्तर, दक्षिण अथवा मध्य और पच्छिमी प्रदेश की भाषा ठहराते हैं। कुछ के अनुसार यदि वह एक प्राच्य प्रादेशिक भाषा है तो अन्य इसका विरोध करते हुए उसे उज्जैन अथवा अन्य किसी पश्चिमी प्रदेश की भाषा प्रमाणित करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार पालि भाषा के जन्म-स्थान को लेकर विद्वानों में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं, जिन पर अन्तिम शब्द कहा जाना अब भी शेष है। यह ठीक है कि प्रायः अधिकांश विदेशी विद्वान् यथा जेम्स एल्विस, चाइल्डर्स, सर जार्ज ग्रियर्सन, विंडिश, विन्टरविट्ज़, कीथ और ओल्डन बर्ग आदि सुपरिचित भारतीय परम्परा के अनुसार ही किसी-न-किसी प्रकार मागधी भाषा को ही अर्थात् बुद्ध के समय में व्यवहृत मगध अथवा मध्यदेश की भाषा को ही पालि भाषा का आदिम स्वरूप स्वीकार करते हैं, फिर चाहे उसके मूल स्वरूप के विषय में वे स्पष्टतया कुछ न भी कह सकें। किन्तु पालि भाषा की विविध रूपता किसी भी सामान्य नियम में नहीं बाँधी जा सकती। फिर डाक्टर गायगर और ल्यूडर्स के द्वारा किया हुआ पालि भाषा का अर्द्धमागधी के साथ साम्य-प्रदर्शन भी हमें कहीं नहीं ले पहुँचता। त्रिपिटक की भाषा का अशोक के शिलालेखों की भाषा के साथ तुलनात्मक अध्ययन करके भी, शास्ता की 'सकाय निरुत्तिया' अनुज्ञा का आचार्य बुद्धघोष के अनुसार अथवा नवीन पद्धति से व्याख्यान और विवेचन करके भी, अशोक के भाब्रू शिलालेख में निर्दिष्ट 'परियायों' की पालि-त्रिपिटक में समानता देखने के सभी विभिन्न प्रयत्न समाप्त करके भी, चीनी

तुर्किस्तान में पाये गये संस्कृत अथवा अध्द्धसंस्कृत ग्रन्थों की पालि से तुलना करने के उपरान्त भी, सारांश यह कि जितने भी उपकरण आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा हमें प्राप्त हैं, उन सब का भरपूर उपयोग करके भी, हम बुद्ध के 'वाचनामग्ग' रूप पालि के विषय में अभी कुछ निश्चित विचार उपस्थित नहीं कर पाये हैं और यही कारण है कि पालि के सोलह आने बुद्ध की स्वयं मुखसे उच्चरित भाषा के रूप में उसकी प्रमाणवत्ता में अभी कुछ-न-कुछ सन्देह बना हुआ है। किन्तु पूर्वाचार्यों द्वारा छोड़ी हुई परम्परा में हमारा कुछ आश्वासन अवश्य है। जब तक वैज्ञानिक दृष्टिकोण हमें कोई निश्चित मार्ग नहीं दिखाता, तब तक हम नागसेन और बुद्धघोष की परम्परा को नहीं छोड़ सकते जिसके अनुसार त्रिपिटक साक्षात् बुद्ध-वचन है, हाँ स्पष्ट ही जो सारिपुत्र, आनन्द आदि के द्वारा दिए गए प्रवचन कहे गए हैं वे तो उन्हीं के होने ही चाहिए। इसी प्रकार हमें कथावत्थु आदि के विषय में भी जानना चाहिए। यह निश्चित है कि सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के बाद भगवान् ने ४५ वर्ष तक प्रायः कोसी-कुरुक्षेत्र तथा हिमालय-विन्ध्य के भीतर ही चारिकाएँ कर अपने उपदेशों को दिया। यह भी निश्चित है कि 'बहुजन हिताय' के पक्षपाती उन शास्ता ने तत्कालीन लोक भाषा में ही अपना सन्देश लोगों को सुनाया जैसा कि उनकी अनुज्ञा 'अनुमति देता हूँ भिक्षुओ, बुद्ध-वचन को अपनी अपनी भाषा (मागधी भाषा ?) में सीखने की[१]', से स्पष्ट है। वैदिक छन्द में अपने उपदेशों को अनुवादित करा (जैसी कि उनके कुछ विद्वान् ब्राह्मण शिष्यों की इच्छा अवश्य थी) और इस प्रकार उसे लोक-धर्म से दूर की चीज बना देने की प्रवृत्ति की निन्दा भगवान् ने स्वभावतः ही की और उसे केवल जीवन की साधारण भाषा में ही सीखने की अनुमति दी। चूंकि जनसाधारण की 'अपनी भाषा' (सकाय निरुत्तिया) उस समय प्रायः मागधी ही थी, इसलिए आचार्य बुद्धघोष की व्याख्या इसकी उस समय के प्रसंग में सर्वथा ठीक ही है। यदि बुद्ध के समय का ही विचार कर उनकी अनुज्ञा पर विचार किया जाय तो 'अपनी भाषा' और 'मागधी भाषा' एक ही है, अतः आचार्य बुद्धघोष की व्याख्या बिलकुल ठीक है और आधुनिक विद्वान् जो बहुत पण्डितवाद दिखाकर उसका प्रत्याख्यान करते हैं वे शायद 'अट्ठकथाचरिय' को पूरी तरह से न समझ सकने के कारण ही ऐसा करते हैं। सामान्यतः

(१) अनुजानामि भिक्खवे सकाय निरुत्तिया बुद्ध वचनं परियापुणितुं। विनय पिटक—चुल्ल वग्ग।

मागधी ही उस समय मध्यमण्डल की प्रचलित लोक भाषा थी और उसी में बुद्ध ने अपना उपदेश दिया था और चूंकि स्वभावतः ही नाना वर्ण और जातियों के लोग आ-आकर उस चातुर्वर्ण-परिशुद्धिमयी बुद्ध-धर्म की धारा में नहाने आये थे जिसको तथागत ने प्रवाहित किया था। अतः अपने-अपने प्रान्तों के प्रचलित भाषा-स्वरूपों के अनुसार वे बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त मूल भाषा अर्थात् मागधी भाषा को मिश्रित एवं भ्रष्ट भी करने लगे थे, जिसकी ओर कुछ भिक्षुओं की खीज भी अत्यन्त स्वाभाविक ही थी। फिर बुद्ध के उपदेश बहुत समय तक तो केवल मौखिक ही रहे और तीन संगीतियों में जिनका निर्देश और विस्तृत वर्णन हम आगे करेंगे, उनके संगायन होने के पश्चात् वे विकास, परिवर्तन और संशोधन की एक परम्परा में से गुजरते हुए अन्त में सिंहल में राजा वट्टगामणि के समय में प्रथम शताब्दी में व्यवस्थित रूप को प्राप्त हुए जब कि बुद्ध को हुए लगभग ५०० वर्षों का लम्बा व्यवधान हो चुका था। अतः चाहे सोलह आने भाषा विज्ञान अथवा उपर्युक्त अन्य तथ्यों के प्रकाश में पालि भाषा मागधी भाषा का ही मूल रूप न दिखाई जा सकती हो, किन्तु वह उसी से अधिक सम्बन्धित और उसी का एक रूप है, इसमें सन्देह नहीं। अशोक के शिला-लेखों की मागधी में प्रथमा विभक्ति में 'ए' और त्रिपिटक की पालि में 'ओ' का आना तथा अशोक के शिला-लेखों में 'र' की जगह 'ल' का प्रयोग पाया जाना, ये तो अल्प विभिन्नताएँ हैं, जो पालि के एक लोक-भाषा होने के कारण सर्वथा सम्भव हो सकती हैं और फिर अशोक के पूर्वी शिला-लेखों, और पालि में तो एक अपूर्व समानता है जिसके आधार पर पालि-त्रिपिटक को बुद्ध-वचन मानना अनुपयुक्त नहीं हो सकता, हाँ अनेक प्रादेशिक भाषाओं का सम्मिश्रण उसमें अवश्य हुआ है और यही उसकी विभिन्न-स्वरूपता का भी कारण है। अतः पालि ही कुछ सीमाओं के सहित पूर्व मागधी भाषा है और वही बुद्ध का स्वाभाविक 'वाचनामग्ग' (भाषा-माध्यम) भी है। चाहे पालि की व्युत्पत्ति हम प्राकृत से, पाकट, पाउड और पाउल रूपों में होती हुई करें, चाहे पालि भाषा, पाटलिभाषा रूपों में होती हुई 'पालि' भाषा के रूप में करें, चाहे आचार्य मोग्गल्लान के अनुसार उसका अर्थ 'पंक्ति' या 'श्रेणी' कहा जाय, चाहे अभिधम्मत्थदीपिका सूची के अनुसार 'पा पालेति रक्खतीति पालि-तंति' इस प्रकार कहा जाय, चाहे विद्वद्वर पं० विधुशेखर भट्टाचार्य के मतानुसार (जिससे श्रीमती रायज डेविड्स भी सहमत हैं) उसे 'मूल ग्रन्थ की पंक्ति अथवा 'पाठ' का पर्याय माना जाय और फिर चाहे अन्त

में बुद्ध-उपदेश के अर्थ में प्रयुक्त 'पालियाय' शब्द का ही रूप धीरे-धीरे पालि हो गया, ऐसा माना जाय, हमें यह तो कभी भूलना ही नहीं चाहिए कि बुद्ध-वचनों के समीपतम ले जानेवाले हमारे पास एकतम पालि त्रिपिटक और उसी की भाषा ही हैं। यहां पालि के भाषा तत्त्व को लेकर सब बातें हमने केवल सांकेतिक रूप से ही कही हैं[1]। तत्त्व के गवेषकों का पालि अथवा संसार की अन्य भाषाओं के अध्ययन में अभिनिवेश भी क्या? तथागत के नाते ही हमारी पालि की उपासना है, सुगत के लिए ही आज 'मागध निरुक्त' का हमारे लिए उपयोग है। बुद्ध-वचनों को अपनी तीन पिटारियों में बड़े यत्न से सुरक्षित रखनेवाली पालि भाषा आज सत्य-शोधकों के लिये प्रणम्य बन गई है। तथागत की सन्देशवाहिनी होने के नाते उसे शत-सहस्र सत्य-शोधक अभिवादन करते हैं। सम्यक् सम्बुद्ध की वाणी को काल विलुप्त होने से बचाकर तथा उस थाती को मनुष्य जाति के लिए सदा के लिए सम्भव बना कर निश्चय ही पालि अपने नाम को एक अर्थ में (पा-पालेति रक्खतीति पालि) सार्थक करने वाली हुई है और इसलिये उसे प्रणाम है।

'तेपिटकसंगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवाद' अर्थात् अर्थकथाओं के सहित तीनों पिटकों में सन्निहित सब 'स्थविरवाद' है, इस कथन के प्रकाश में प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के, स्थविरवाद—परम्परा के रूप में ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विकास पर एक विहंगम दृष्टि

इस प्रकार जब कि पालि-त्रिपिटक कुछ सीमाओं और मर्यादाओं के साथ बुद्ध-शासन के मूल स्वरूप को उपस्थित करता है, किंवा उसका पर्याय ही कहा जा सकता है, उसी पर आधारित और विशेषतः उसी की व्याख्या में प्रवृत्त अन्य पालि साहित्य भी, जो इसीलिए अनुपालि अथवा अनुपिटक कहा जाता है और जिसका निर्माण त्रिपिटक की रचना के बाद कई शताब्दियों तक लंका, सिआम और बर्मा जैसे देशों में हुआ है, त्रिपिटक के साथ मिलकर बौद्ध धर्म और दर्शन के ऐतिहासिक विकास के उस प्रारम्भिक स्वरूप की ग्रन्थ-सम्पदा को अपने पूर्ण रूप में प्रकट करता है, जो 'स्थविर-वाद' (पालि-थेरवाद) के नाम से बौद्ध धर्म और दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण

(१) पालि भाषा के पूर्ण भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के लिये देखिये भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १—७३

ही हमें इस प्रकरण के प्रथम अंश में अपेक्षित है। कहाँ तक यह स्थविरवाद अथवा 'थेरवाद' बौद्ध धर्म और दर्शन के ऐतिहासिक और साहित्यिक विकास को स्पर्श करता है और कहाँ के बाद वह उसे उन दर्शन-सम्प्रदायों में संनिविष्ट होने के लिए छोड़ देता है जिनको हम 'उत्तर' कालीन कह सकते हैं, यह अब हम देखेंगे। मूल बुद्ध-दर्शन के न केवल साहित्यिक ही अपितु ऐतिहासिक विकास को समझने के लिए भी यह अपेक्षित होगा, अतः कुछ अधिक स्पष्टता और विस्तार से हम इस विषय के निरूपण में प्रवृत्त होंगे।

भगवान् बुद्धदेव का निर्वाण ४८३ ई० पूर्व या ४८६ ई० पूर्व या लंका की परम्परा के अनुसार ५४३ ई० पूर्व हुआ। सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के बाद से ठीक महापरिनिर्वाण तक अर्थात् ४५ वर्ष तक भगवान् सतत रूप से धर्म का उपदेश करते रहे। उनके धर्म का केन्द्र बिन्दु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बोधिपक्षीय धर्मों के उपदेश पर ही रहा। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार भगवान् बुद्ध का धर्मोपदेश विशेषतः 'कोसी से कुरुक्षेत्र और हिमालय से विन्ध्याचल के बीच के प्रदेश'[1] में ही हुआ और निश्चय ही उनका यह कथन त्रिपिटक के आधार पर ही है जो भगवान् की चारिकाओं के स्थान को विशेषतः 'मध्य जनपदों' (मज्झिमेसु जनपदेसु) में ही दिखाती है[2]। बुद्ध ने अपने काल में जितनी भी प्रवृत्तियों को जन्म दिया और उनके सम्बन्ध में जितनी भी जिज्ञासितव्य बातें हैं वे सभी, जैसा कि हम अभी देख चुके हैं, त्रिपिटक-वाङमय के द्वारा ज्ञेय हैं, किन्तु न तो इतना कहना बुद्ध-दर्शन की ही सम्पूर्ण कहानी है और न पालि-वाङमय के विस्तार का ही पूर्ण विवेचन है। बौद्ध धर्म के विकास की, जैसा कि हमने पहले संकेत रूप से कहा है, कम-से-कम पन्द्रह सौ वर्ष की परम्परा है। इस सुदीर्घ युग में बुद्ध के द्वारा निर्दिष्ट प्रवृत्तियाँ किसी-न-किसी रूप में भारतीय सामाजिक, राजनैतिक और दार्शनिक क्षेत्र को प्रभावित करती रहीं। फिर बौद्ध धर्म और दर्शन का विकास केवल भारत तक ही सीमित नहीं। भारत के बाहर के देशों ने भी बुद्ध-वाणी को सुना और अपनी सामाजिक परिस्थिति और संस्कृति के अनुरूप ही उसे ग्रहण किया। आनन्द की वकालत पर जब भगवान् ने महाप्रजापती गोतमी को तथागत-प्रवेदित धर्म में प्रव्रज्या पाने की अनुमति दे दी थी और जब अन्य स्त्रियाँ भी उसमें

(१) देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ १८८
(२) देखिये अक्खण सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।३।८)

प्रवेश पा गई थीं तब भगवान् ने आनन्द से कहा था, 'आनन्द ! यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय में स्त्रियाँ घर से बेघर हो प्रव्रज्या न पातीं तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता । किन्तु चूंकि आनन्द ! स्त्रियाँ घर से बेघर हो प्रव्रजित हुई हैं, इसलिए अब यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच सौ वर्ष ही ठहरेगा'[१] । निश्चय ही यदि बौद्ध धर्म और दर्शन के ऐतिहासिक विकास पर हम दृष्टिपात करें तो कह सकते हैं कि वह अपने विशुद्धतम रूप में ५०० वर्षों से अधिक नहीं ठहरा । भगवान् की उक्त भविष्यवाणी जो महा स्थविर नागसेन के शब्दों में शासन के टिकने की अवधि को बतानेवाली अथवा उसी अर्थ में आचार्य वसुबन्धु के शब्दों में 'अधिगम' सम्बन्धिनी थी, अक्षरशः सत्य हुई । निश्चय ही ईस्वी शताब्दी तक आते-आते बौद्ध धर्म अपनी मौलिक पवित्रता और मुख्य संवेदना को खो चुका था । वैसे तात्विक दृष्टि से देखने पर तो जैसा कि स्वयं शास्ता ने सुभद्र नामक परिव्राजक से कहा था 'यदि भिक्षु लोग धर्म के अनुसार ठीक तरह से रहेंगे तो संसार अर्हतों से कभी खाली नहीं हो सकता', सदा के लिये ठीक है । क्रमशः पूर्व निर्दिष्ट मनीषियों के ही मतानुसार यह बुद्धवाणी बुद्ध-शासन के स्वरूप का प्रख्यापन करती हुई अथवा बुद्ध-शासन के 'आगम' सम्बन्धी स्वरूप का प्रतिपादन करती हुई आजतक सत्य प्रमाणित हुई है और जब तक यह पृथिवी सत्य से बिलकुल विहीन नहीं हो जायगी तब तक सत्य प्रमाणित होगी । "बुद्ध-शासन चाहे पांच सौ वर्षों तक ही टिका हो, किन्तु उसका आगम तो सदा चिरस्थायी ही रहेगा । यदि इसमें (बुद्ध के बताए हुए सद्धर्म में) बुद्ध के पुत्र सदा विनय पालन, शील-रक्षा तथा पुण्य और पवित्रता की वृष्टि करते रहें, तो यह बहुत दिनों तक बना रहेगा ।'[२] किन्तु ठोस ऐतिहासिक दृष्टि से, जिसमें कि विचारों के तात्विक विवेचन से उनकी सामाजिक प्रतिक्रिया ही अधिक जिज्ञासितव्य विषय होती है, एकान्त साधना में धर्म का अभ्यास करने वाले एक दो व्यक्तियों के स्थान पर मनुष्य के सामाजिक कृत्यों का ही अधिक विचार किया जाता है, हम यही कहेंगे कि बौद्ध धर्म की आयु भारत में करीब डेढ़ हजार वर्ष की ही हुई और यही हमारा प्रस्तुत विषय है । सम्यक् सम्बुद्ध के समय में ही हम जानते हैं कि संघ में कलह और भेद के चिन्ह

---

(१) विनय-पिटक—चुल्लवग्ग ।

(२) देखिये मिलिन्दपञ्हो (मेण्डकपञ्हो) ।

प्रकट हो चुके थे और न केवल देवदत्त के द्वारा ही बुद्ध पर पत्थर फेंकने, उन्हें मारने, उनके संघ को विच्छिन्न करने आदि के प्रयत्न किए गये थे, किन्तु साधारण रूप से भी बुद्ध पर अनेक प्रकार के आक्षेप किए गए थे, जिनमें विशेषतः हाथ 'आजीवकों' का था जो देखते हुए भी तथागत की महिमा को ईर्ष्यावश स्वीकार नहीं कर सकते थे। सुनक्खत्त लिच्छविपुत्त जैसे भ्रमितबुद्धि व्यक्ति भी इन भ्रान्तियों के बढ़ाने में सहायक ही थे, किन्तु फिर भी तथागत के अनुपम व्यक्तित्व के कारण उनके विरोधियों अथवा अपूर्ण शिष्यों के संघ-भेदक प्रयत्न सभी निष्फल हुए थे। किन्तु इन्हीं सब झगड़ों के कारण तथागत को 'अधिकरण शमथ' (झगड़े को शान्त करने के नियम) भी बहुत आदेश करने पड़े थे और कभी तो शास्ता भिक्षुओं की अप्रिय प्रवृत्तियों से बहुत उकता भी जाते थे। भगवान् प्रतिपदा सम्बन्धी विवाद को महान् अनर्थ का कारण समझते थे, क्योंकि जिन बोधि पक्षीय धर्मों को उन्होंने अच्छी तरह जानकर और साक्षात्कार कर उपदेश दिया था, उन्हें वे अविवाद और अविरुद्ध मार्ग मानते थे। छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियमों के विषय में शास्ता को विशेष आग्रह नहीं था, किन्तु, जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्रथम विवाद बौद्ध संघ में इन्हीं छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी नियमों को लेकर हुआ। यह ठीक है कि सम्यक् सम्बुद्ध के परम तत्त्व विषयक प्रश्नों में महामौन के कारण कुछ अस्पष्टता भी अवश्य थी और यह भी, जैसा कि बहुत-से विद्वानों ने कहा है, बौद्ध धर्म और दर्शन के बहुमुखी विकास में एक कारण हुआ। किन्तु जहाँ तक स्थविरवाद की परम्परा पर्यन्त बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास का सम्बन्ध है, हम कह सकते हैं कि वास्तविक झगड़े विनय सम्बन्धी नियमों को लेकर ही हुए और दार्शनिक सिद्धान्तों का उद्गमन तो उनमें से बहुत पीछे चलकर प्रारम्भ हुआ। भगवान् का परम-तत्त्व सम्बन्धी मौन अनेक प्रकार से और विशेषतः निषेधात्मक रूप से जो व्याख्यात हुआ और इस प्रकार कभी-कभी वह उनके निश्चित उपदेशों के विरुद्ध भी जो जा पड़ा, तो ये बहुत काल बाद की होनेवाली घटनाएँ हैं। बुद्ध के चले जाने के बाद तो झगड़े के प्रधान कारण विनय-सम्बन्धी नियम ही थे। भगवान् ने अपने धर्म का उपदेश नाना प्रकार के स्वभाव, संस्कृतियों और कुलों के मनुष्यों को दिया था और निश्चय ही यह अनिवार्य था कि बौद्ध संघ के विकसित होने पर उनमें सभी शील, समाधि और प्रज्ञा के मूर्तिमान् प्रतीक न होकर बहुत-से अल्प वैराग्य वाले, प्रमादी और संयम में रुचि न रखने वाले प्राणी भी थे। फिर भगवान् ने अपने परिनिर्वाण के समय संघ को छोटे-मोटे

भिक्षु-नियमों को समयानुसार बदल देने की अनुज्ञा दे दी थी ताकि भिक्षुओं का आत्म-स्वातन्त्र्य बना रहे और जिस नाव को उन्होंने उन्हें समुद्र को पार करने के लिए दिया था उससे ही वे स्वयं चिपटे न रहें। इस भगवान् की अनुज्ञा में जब कि जागरूक साधकों को एक परम आश्वासन और पथ-प्रदर्शन था, प्रमादी भिक्षुओं के लिए भी यह कुछ कम आश्वासन का कारण नहीं हुआ। भगवान् के द्वारा छोटे-मोटे नियमों की व्याख्या तो की नहीं गई थी और न सम्भव ही थी, अतः अल्प वैराग्य वाले भिक्षु मार्ग का अच्छी तरह उल्लंघन कर तथागत के मार्ग को उच्छृङ्खल कर सकते थे। फिर स्त्रियों का संघ में प्रवेश भी हितकारी नहीं था। स्वयं शास्ता के शब्दों में 'आनन्द! जैसे आदमी पानी को रोकने के लिए, बड़े तालाब की रोकथाम के लिए, मेंड़ बांधे, उसी प्रकार आनन्द! मैंने रोक-थाम के लिए भिक्षुणियों को जीवन भर अनुल्लंघनीय आठ गुरु धर्मों को स्थापित किया[1]।' यह रोक-थाम निश्चय ही बहुत काल तक सफलता पूर्वक नहीं चल सकती थी। जितने दिनों तक भी वह चली, उसमें भी तथागत का व्यक्तित्व ही प्रधान कारण था। किन्तु फिर भी सम्यक् सम्बुद्ध के रहते सामान्यतः ऐसा कहा जा सकता है कि उनका संघ सुप्रतिपन्न ही रहा और भिक्षु और भिक्षुणियाँ उनके द्वारा दिखाए गए विशुद्धि-मार्ग पर ही चलते रहे। किन्तु शास्ता के उठ जाने के बाद समय ने पलटा खाया। मार को अपनी पराजय की स्मृति सताने लगी। पूर्व भिक्षुओं की तरह अब वह फटकारा भी नहीं जा सकता था। भिक्षुणियों के भिक्षुओं और गृहस्थों के संसर्ग में आने के कारण अनेक प्रकार के संकट बुद्ध-काल में ही उत्पन्न होने लगे थे। थुल्लनन्दा और दब्ब के तथा अभिरूपा नन्दा और साढ़ के प्रसंग इसके उदाहरण हैं। वह जीवन-विशुद्धि, जो आर्य अष्टांगिक मार्ग स्वरूप बुद्ध-शासन की आयु थी, उसी के विषय में कुछ प्रमादी भिक्षु ढील डालने लगे। अतः प्रथम बात जो बुद्ध के चले जाने के बाद सब से पहले उनके शिष्यों में किसी भी प्रकार का विभेद डालनेवाली या उनमें से अधिक विचारशील और आचारसम्पन्न स्थविरों को व्यथित करने वाली हुई वह कोई तात्त्विक विवेचन सम्बन्धी नहीं थी, बल्कि विनय के नियमों के प्रति कुछ साधनाहीन भिक्षुओं की अवहेलना ही थी। तथागत ने किन्हीं भौतिक अर्थों में तो संघ की स्थापना की ही नहीं थी,वह तो केवल प्रव्रज्या के खुले मार्ग में विचरनेवाले निष्काम, अकिञ्चन

---

(१) विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।

भिक्षुओं का धर्म के लिए केवल संगम मात्र था और वह भी थोड़े समय के लिए। इसीलिए तो तथागत के उठ जाने के बाद उनका कोई उत्तराधिकारी नहीं हुआ। भगवान् ने भिक्षुओं को केवल 'धम्म' की ही शरण में छोड़ा। उन्होंने जान बूझकर अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं चुना[1]। जब 'आमिष' ही वहाँ नहीं था, तो किसी को भी उसका 'दायाद' कैसे बनाया जाता, अतः सभी भिक्षु केवल समान रूप से 'धर्म-दायाद' ही थे और धर्म को ही प्रतिशरण मानते हुए तृष्णा के निबन्धनों को तोड़ने के प्रयत्न में लोक-कल्याण की भावना से इधर-उधर चारिका करते विहरते थे। जब हम तथागत के अग्र श्रावक या श्राविका जैसी बात कहते हैं तो हमें किसी स्थूल अर्थ में उनकी प्रधानता नहीं समझनी चाहिए, बल्कि वह तो केवल साधना सम्बन्धी विशेषता का ही वर्गीकरण था। आनन्द और सारिपुत्र के महत्त्व इसी प्रकार के हैं। अपने महापरिनिर्वाण के समय शास्ता ने अपना कोई उत्तराधिकारी नहीं छोड़ा अर्थात् किसी भी एक भिक्षु को प्रधान नहीं बनाया, जो उनके बाद उनके संघ की व्यवस्था करे। धर्म को ही उन धर्ममेघ ने सब से बड़ा व्यवस्थापक बनाया। समस्त लौकिक प्रज्ञप्तियों से परे तथागत के लिए यह उपयुक्त ही था, अध्यात्म में ही अभिनिवेश रखनेवाली भारतीय परम्परा के यह सर्वथा अनुकूल ही था। अस्तु, जब तथागत ने धर्म को ही भिक्षुओं का एकतम प्रतिशरण छोड़ा तो प्रमादी जनों की उच्छृङ्खलता जो जगत् के अहित के लिए हर युग में प्रवृत्त हुआ करती है, इससे कुछ उत्साहित हो सकती थी। सुभद्र जैसे भिक्षु भगवान् के परिनिर्वाण होने के बाद ही कहने लगे 'मत आवुसो ! शोक करो, मत आवुसो ! रोओ। हम अच्छी तरह मुक्त हो गए। उस महाश्रमण से पीड़ित रहा करते थे 'यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें विहित नहीं है' अब जो चाहेंगे सो करेंगे, जो नहीं चाहेंगे सो नहीं करेंगे'[2]। निश्चय ही इस प्रकार की प्रवृत्तियों को देखकर विचारशील भिक्षुओं को बड़ी ग्लानि और चिन्ता हुई। 'सामने अधर्म प्रकट हो रहा है, धर्म हटाया जा रहा है, अविनय प्रकट हो रहा है, विनय हटाया जा रहा है, धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं, अधर्मवादी बलवान् हो रहे हैं, अविनयवादी बलवान् हो रहे हैं, विनयवादी हीन हो रहे हैं'। इस प्रकार की भावनाएँ धर्मप्राण भिक्षुओं में जाग्रत होने लगीं। अतः धर्म और

(१) देखिये गोपक-मोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम० ३।१।८)
(२) पालि उद्धरण के लिये देखिये पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७६

विनय के संगायन करने का विचार किया गया ताकि बुद्ध के द्वारा कथित धर्म के विषय में भ्रान्ति न फैले और उसका स्वरूप निश्चित हो जाय। भिक्षुओं की एक सभा को बुलाने का उद्योग किया जाने लगा ताकि तथागत-प्रवेदित धर्म और विनय को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया जाय। इस सभा का मुख्य उद्देश्य इस प्रकार धर्म और विनय का संगायन ही था, जैसा कि इसकी कार्यवाही प्रारम्भ होने के समय भिक्षुओं ने कहा भी था कि 'हम धर्म और विनय का संगायन करें (धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम)। अतः कुछ विद्वानों का यह कथन ठीक हो सकता है कि पहले बुद्ध-वचनों का द्विविध विभाग ही था अर्थात् धर्म और विनय। किन्तु इससे अभिधर्म पिटक की आपेक्षिक महत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, यह हम आगे दिखाने का प्रयत्न करेंगे। सभा की कार्यवाही के लिए स्थान राजगृह चुना गया। आर्य महाकाश्यप ने, जो भगवान् बुद्ध के बारह महाश्रावकों में से तृतीय थे (सारिपुत्र और मौद्गल्यायन तो पहले ही चल बसे थे!) और जिनके विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्वयं भगवान् बुद्ध ने जिनके साथ लँगोटी बदली थी और उनकी (भगवान् बुद्ध की) चिता तब तक नहीं जलाई गई थी जब तक आयुष्मान् महाकाश्यप ने स्वयं भगवान् के चरणों की शिर से वन्दना नहीं कर ली थी, सभा के सभा-पतित्व का कार्य-भार अपने ऊपर लिया। उन्होंने सभा के कार्य के लिए ४९९ अर्हत् चुने जिनमें आनन्द, जो यद्यपि अभी तक (तथागत के चिर उपस्थाक होने पर भी! बातचीत और लोगों की मिला-जुली में जो अधिक समय नष्ट होता था!) 'शैक्ष्य' ही थे किन्तु सभा की कार्यवाही से पहले जिन्होंने अर्हत् पद प्राप्त कर लिया था, पांच सौ वें सदस्य हुए। सभा की कार्यवाही शुरू हुई बुद्ध-परिनिर्वाण के तीसरे मास राजगृह के वैभार पर्वत के पास सप्तपर्णी गुफा के द्वार में। 'वेभार पब्बत पस्से सत्तपण्णिगुहा द्वारे'। आयुष्मान् महा-काश्यप ने संघ को विज्ञापित किया 'आवुसो! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द हो तो मैं उपालि से विनय पूछूं'। आयुष्मान् उपालि ने भी संघ को ज्ञापित किया 'भन्ते! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द हो तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप से पूछे गए विनय का उत्तर दूं'। इस प्रकार विनयधरों में प्रमुख उपालि की प्रधानता में विनयपिटक का संगायन इस संगीति में किया गया। इसी प्रकार आयुष्मान् आनन्द से, जो भगवान् के चिर उपस्थाक तो रहे ही थे साथ ही जिन्होंने तथागत से यह भी वचन ले लिया था कि उनकी अनुपस्थिति में जो कोई भी उपदेश भगवान् कहीं

करेंगे उसे आनन्द को भी बता देंगे ताकि इस सम्बन्धी उनका ज्ञान परिपूर्ण रहे, आयुष्मान् महाकाश्यप ने धर्म (सुत्त) सम्बन्धी प्रश्न किए जिनके उन बहुश्रुत भिक्षु ने उत्तर दिए। इस प्रकार यही उपदेशों का संग्रह सुत्तपिटक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हम जानते हैं कि स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में ही पिटक को मौखिक रूप से याद करनेवाले अर्थात् पिटक धर होते थे जो 'सूत्र धर' 'विनय धर' 'मात्रिका धर' आदि के नाम से अपने द्वारा स्मृत त्रिपिटक के भागों के अनुसार पुकारे भी जाते थे और भाणवारों में जो दीघनिकाय आदि ग्रन्थों का विभाजन उपलब्ध होता है वह भी इसी परम्परा को सूचित करता है। स्वयं भगवान् बुद्ध के द्वारा ही उनके वचनों की प्रमाणवत्ता के अनुमापन करने के विषय में बहुत कुछ कहा था, अतः इस निष्कर्ष पर आना कठिन नहीं है कि इस प्रथम संगीति में जो बुद्ध-निर्वाण के तीन मास बाद ही हुई थी, ये स्मृतियाँ अति नवीन रही होंगी और उनको विकृत करने का पूर्वाचार्य संगीतिकारों के पास कोई कारण न रहा होगा अतः सभी परमार्थप्रिय अर्हतों की इस समिति के द्वारा संगायन किए हुए धर्म-विनय की प्रमाणवत्ता के विषय में सन्देह करने का हमारे पास कोई विशेष कारण नहीं है। इसी संगीति में क्षुद्रानुक्षुद्र शिक्षापदों (भिक्षु-नियमों) को लेकर भी महास्थविर धर्मसंगीतिकारों को एक महान् असमंजस में पड़ जाना पड़ा। भगवान् ने भिक्षु-संघ को यथा समय आवश्यकतानुसार अपने द्वारा उपदिष्ट छोटे-मोटे नियमों को हटाने की अनुज्ञा दे दी थी[1] और अब प्रमादी भिक्षु इसी की ओट में अनाचार में लीन हो रहे थे। अतः इसपर महान् विवाद हुआ कि कौन शिक्षापद छोटे-मोटे हैं, जिनपर भगवान् की अनुज्ञा प्रयुक्त होती है, किन्तु मनीषी स्थविर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। आयुष्मान् महाकाश्यप ने यह सूचना की 'संघ अविहित का न विधान करे, प्रज्ञप्त का न छेदन करे, किन्तु प्रज्ञप्ति के अनुसार शिक्षापदों में बरते'। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी बुद्ध-शासन को स्थिर देखनेवाले मनीषियों के द्वारा यह सूचना स्वीकृत की गई। इसी समय एक यह अप्रासंगिक किन्तु वैसे स्मरणीय घटना यह हुई कि स्थविर भिक्षुओं ने आनन्द के कुछ कृत्यों को, जिनमें उनके द्वारा भगवान् से क्षुद्र-अनुक्षुद्र शिक्षापदों के विषय में विस्तृत स्पष्टीकरण न करने, तथागत-प्रवेदित धर्म में स्त्रियों की प्रव्रज्या की उत्सुकता पैदा करने तथा भगवान्

(१) आकंखमानो आनन्द संघो ममच्चयेन खुद्दानुखुद्दकानि सिक्खापदानि समूहन्तु। महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

को कल्प भर ठहरने की प्रार्थना न करने आदि सम्बन्धी बातों को, दुष्कृत (दुक्कटं) ठहराया और उनके लिए उनसे देशना (क्षमा-याचना) करने को कहा गया, किन्तु प्रत्येक के ही विषय में आनन्द ने अपनी सफ़ाई देते हुए कहा 'भन्ते ! इसे मैं दुष्कृत नहीं समझता, किन्तु आयुष्मानों के खयाल से देशना करता हूँ'। सभा की कार्यवाही विसर्जित हुई और इसी समय पुराण नामक एक भिक्षु, जो स्वयं भगवान् के मुख से शिक्षा पाए हुए था, वहां आया और जब उससे अन्य भिक्षुओं ने कहा 'आओ, तुम भी संगायन करो' तो उसने उत्तर दिया 'आवुसो ! स्थविरों ने धर्म और विनय को सुन्दर तौर से ही संगायन किया है, तो भी मैं तो जैसा मैंने भगवान् के मुंह से सुना है, उनके मुख से ग्रहण किया है, वैसा ही धारण करूँगा। आयुष्मान् पुराण के इस कथन से कुछ विद्वानों ने विनय और सुत्त के बुद्ध-वचन होने की प्रमाणवत्ता में सन्देह प्रकट किया है, किन्तु यह समालोचनात्मक दृष्टि से गलत है। आयुष्मान् पुराण का कथन स्थविर भिक्षुओं द्वारा संगायन किए गए धर्म और विनय की प्रमाणवत्ता के विषय में किसी भी प्रकार सन्देह दिखलानेवाला नहीं बल्कि उनके स्वयं साक्षात् रूप से शास्ता से उपदेश पाए जाने के कारण उसके सामने किसी भी अन्य के, फिर चाहे वे बुद्ध के प्रधान शिष्य ही क्यों न हों, बुद्धि अथवा स्मृति के माध्यम से छनकर आए हुए उपदेशों को अधिक महत्त्व देने की स्वाभाविक अनिच्छा है। जिसने स्वयं शास्ता से अपने स्वभाव और प्रकृति के अनुसार उपदेश पाया है और एकनिष्ठा से जो उसी के आचरण में लीन है, वह उन्हीं शास्ता के द्वारा अन्यों को दिए गए उपदेशों के पण्डितवाद में क्यों पड़ने लगा, अतः 'आवुसो ! स्थविरों ने सुन्दर तौर से ही धर्म और विनय का संगायन किया है' किन्तु 'जैसा मैंने भगवान् के मुख से ग्रहण किया है, वैसा ही मैं तो ग्रहण करूँगा'। इसमें भिक्षुओं के द्वारा संगायन किए गए धर्म-विनय की अप्रामाणिकता की बात कहाँ रही, एक विनम्र साधक के द्वारा अपनी अल्पता और निष्ठा का केवल यह प्रकाशन है। एक मनुष्य के लिए बुद्ध के द्वारा जो कुछ कहा गया वह सब जानना शक्य नहीं, अतः जब वह अपने प्रति दिए गए उपदेश को प्रधानता देकर अन्य के प्रति उदासीनता दिखाता है तो इससे यह निष्कर्ष कभी नहीं निकाला जा सकता कि वह उस सबकी प्रामाणिकता को ही स्वीकार नहीं करता। एक अन्यत्र स्थान में हम कजंगला नामक भिक्षुणी को भी इसी प्रकार कुछ बुद्ध-वचनों के विषय में, जो उसने नहीं सुने, ऐसा ही कहते देखते हैं किन्तु उस सुत्त में यह तात्पर्य कभी नहीं निकाला

गया कि जो उपदेश उसने भगवान् के मुख से स्वयं सुने ही नहीं वे बुद्ध-वचनों के रूप में उसे ग्राह्य नहीं। अतः धर्मवादी भिक्षुओं के द्वारा सम्मिलित रूप से धर्म-विनय का जो संगायन किया गया वह अपने प्रधान रूप में बुद्ध-वचनों के रूप में हमें मान्य होना चाहिए, ऐसा हमें जानना चाहिए। अस्तु, धर्म और विनय के स्वरूप का निर्णय करने के लिए स्थविर भिक्षुओं की यह प्रथम संगीति बुद्ध निर्वाण के करीब तीन महीने बाद (भाद्रपद कृष्ण द्वितीया को यह बैठक प्रारम्भ हुई) राजगृह की सातपर्णी नामक गुफा के द्वार में की गई। इस संगीति में पाँच सौ भिक्षुओं ने भाग लिया। अतः यह 'पंचशतिका' भी कही जाती है।

इसके ठीक सौ वर्ष बाद अर्थात् ३८३ ई० पूर्व बौद्ध संघ को एक और अधिक कठिन और भारी अधिकरण (झगड़े) में पड़ जाना पड़ा। यह झगड़ा भी विनय सम्बन्धी नियमों को लेकर ही हुआ। वैशाली के निवासी वज्जिपुत्तक (वृज्जि पुत्र) भिक्षु दस बातों का प्रचार करने लगे जिनमें अन्य बातों के साथ ये दो बातें बहुत मुख्य थीं, यथा भिक्षुओं द्वारा जातरूप-रजत (सोना-चाँदी) का ग्रहण और कच्ची सुरा को पीना निषिद्ध न मानना। वज्जिपुत्तक भिक्षु अपना खूब ढोंग बनाकर श्रद्धालु उपासकों से खूब रुपया वसूल करते थे। आयुष्मान् यश काकण्डपुत्त नामक एक अत्यन्त स्पष्टवादी और निष्काम भिक्षु इस सब को सहन न कर सके। लगे वे वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को फटकारने। पहले तो भ्रष्ट भिक्षुओं ने स्वयं इन्हें भी सोना-चाँदी देकर लुभाना चाहा, किन्तु यश काकण्डपुत्त लभाए जाने वाले व्यक्तियों में से नहीं थे। उन्होंने वृज्जिपुत्र भिक्षुओं को खूब धिक्कारा कि शाक्यपुत्रीय श्रमण होकर वे सोने-चांदी का किसी भी हालत में ग्रहण कैसे कर सकते हैं, जब कि इसके विरुद्ध शास्ता की स्पष्ट अनुज्ञा है। इतना ही नहीं, यश काकण्डपुत्र ने वैशालिक उपासकों को भी, जिन्होंने वृज्जिपुत्र भिक्षुओं को दान दिया था, उनके अनुचित दान के लिए फटकारा और स्वयं शास्ता के कथनों का प्रमाण देकर उन्हें यह बतलाया कि इस प्रकार का दान बुद्ध के मन्तव्य के विरुद्ध है। अस्तु, दोनों तरफ से झगड़े की तैयारियाँ होने लगी और, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, वैशाली में एक दूसरी संगीति बुलाई गई, जिसके परिणाम स्वरूप महासांघिकों का एक प्रभावशाली सम्प्रदाय स्थापित हो गया, जो स्थविरवादियों का कट्टर विरोधी था। अशोक के समय तक आते-आते बौद्ध संघ के अठारह सम्प्रदाय हो गए, जिनका वर्णन हम आगे बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास पर विचार करते समय करेंगे। अशोक ने पाटलिपुत्र में एक तृतीय संगीति बुलाकर बुद्ध के

मूल मन्तव्यों का निर्णय कराया और उसके समग्र साहित्य का संकलन भी। यही साहित्य अशोक के पुत्र महेन्द्र (महिन्द) के द्वारा ताम्रपर्णि द्वीप (लंका) में ले जाया गया[१], जहां प्रथम बार राजा वट्टगामणि के शासन-काल में (विक्रमी पूर्व २८ से ५६ विक्रम संवत् तक) अपनी अट्ठकथाओं सहित वह लेख-बद्ध कराया गया। 'त्रिपिटक की पंक्ति और उसकी अट्ठकथा, जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कण्ठस्थ करके ले आए थे, प्राणियों की (स्मृति-) हानि को देखकर भिक्षुओं ने धर्म की चिरस्थिति के लिए पुस्तकों में लिखाया'[२]। इस प्रकार यही अर्थकथाओं सहित त्रिपिटक-साहित्य जिसका संग्रह, संकलन और अन्तिम स्वरूप ऊपर दिखाए विकास क्रम से हुआ, प्रारम्भिक बौद्ध धर्म का 'स्थविरवाद' परम्परा के रूप में एकमात्र प्रामाणिक साहित्य है। स्थविरवाद-परम्परा का विस्तृत विकास हमने ऊपर न दिखा कर केवल उसके साहित्य के प्रकाश में उसपर कुछ प्रकाश डाला है, विस्तृत तो इस विषय में बौद्ध धर्म और और दर्शन के समग्र विकास को आदि से अन्त तक दिखाते समय ही आगे करेंगे। अभी हम स्थविरवाद-परम्परा के साहित्य के कुछ विवरण और विवेचन पर ही अपनी दृष्टि जमाएँ।

'तेपिटक बुद्धवचन' अर्थात् त्रिपिटक-ग्रन्थराशि की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन और साथ ही उसके प्रसिद्ध ग्रंथों के कालपर्यायक्रम एवं उनकी आपेक्षिक प्रमाणवत्ता और महत्ता पर भी संक्षिप्त विचार

त्रिपिटक परम्परा से बुद्ध-वचन माना जाता है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। उसकी इस विषय में प्रामाणिकता के विषय में भी हम कुछ विचार कर चुके हैं। यहाँ पर यह भी कह देना अपेक्षित है कि त्रिपिटक के समस्त ग्रन्थों की भी प्रमाण-वत्ता, प्रणयन-काल और महत्ता एक-सी नहीं, किन्तु भिन्न-भिन्न है। विद्वानों ने अत्यन्त प्रयत्न कर इन बातों का वैज्ञानिक रूप से निपरूण किया है। सब से प्रथम डाक्टर रायज डेविड्स का नाम इस सम्बन्ध में स्मरणीय है। उन्होंने महात्मा बुद्ध के काल से लेकर सम्राट् अशोक के समय तक के पालि-साहित्य का काल अनुमापन किया है और अपने निष्कर्षों को अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट इण्डिया' में उपस्थित किया है। वे बुद्ध-

(१) देखिए बहिरनिदानवण्णना—समन्तपासदिका (कोसम्बी का देवनागरी संस्करण) पृष्ठ, ४८

(२) देखिये महावंश ३३।१००-१०१

वचनों का विभाजन कालानुक्रम से इस प्रकार करते हैं (१) वे बुद्ध वचन, जो समान रूप में त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थोंमें मिलते हैं, (२) वे कथानक, जो समान रूप में त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में मिलते है, (३) शील, पारायण, अट्ठक और पातिमोक्ख, (४) दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत्त निकाय, (५) सुत्त-निपात, थेर और थेरी गाथा, उदान, खुद्दक पाठ, (६) सुत्त विभंग और खन्दक, (७) जातक और धम्मपद, (८) निद्देस, इतिवुत्तक और पटिसम्भिदा, (९) पेत्त और विमान वत्थु, अपदान, चरिया पिटक और बुद्धवंस, (१०) अभि-धम्म पिटक के ग्रन्थ, जिनमें सम्भवतः प्रथम पुग्गल पञ्ञत्ति और अन्तिम कथा-वत्थु है [१]। इस प्रकार डाक्टर रायज़ डेविड्स के अनुसार त्रिपिटक-साहित्य का प्रारम्भ काल बुद्ध-निर्वाण के काल से (अर्थात् पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व से) लेकर अशोक के समय (अर्थात् तीसरी शताब्दी ई० पूर्व) तक है जब कि उसने अन्तिम स्वरूप प्राप्त किया। आचार्य विन्तरनित्ज़ ने भी त्रिपिटक के काल-पर्याय-क्रम पर विचार किया है और भाब्रू शिलालेख [२] के आधार पर, जो इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण लेख है, यह प्रमाणित किया है कि कुछ सीमाओं के सहित हमारा समग्र त्रिपिटक, कम-से-कम विनय और सुत्त पिटक, ईसा

---

(१) देखिये बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १८८

(२) बौद्ध संघ के लिए यह लेख अशोक ने सम्बोधित किया है। इसमें कुछ ऐसे ग्रन्थों के निर्देश हैं, जो त्रिपिटक के ग्रन्थों से समानता रखते हैं। उदाहरणतः इसका 'अरियवसानि' ग्रन्थ दीघ निकाय के संगीति-सुत्त से समानता रखता है (डा० रायज डेविड्स के मत में)। इसी प्रकार 'विनय समुकसे', 'अनागत भयानि', 'मुनि गाथा', 'मोनेय सूते', 'उपतिस पसिने' और 'लाघुलोवादे' पालि त्रिपिटक में किन-किन ग्रन्थों से समानता रखते हैं, इसके लिए विभिन्न विद्वानों के मतों के लिए देखिए, विमलाचरण लॉ, हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६६५-६६ (अपेंडिक्स 'बी'); इसमें अशोक महा-राज कहते हैं 'ये केचि भन्ते भगवता बुधेन भासिते सवे से सुभासिते वा। एचुखो भन्ते हमियाये दिसेया देवं सधम्मे चिलीठती के होत्थ सतीति अलहाम हकं तं वतेव। इमानि भन्ते धम्म-पलियायानि विनय समुकसे अलियवसानि अनागतभयानि मुनिगाथा मोनेय सुते उपतिसपसिने ए च लाहुलावादे मुसावादं अधिगिच्य भगवता बुधेन भासिते—आदि'

की तीसरी शताब्दी में प्रचलित मागधी भाषा के ही स्वरूप हैं[१]। अशोक के शिलालेखों में जहाँ-तहाँ भाणक, सुत्तन्तिक, पंचनेकायिक, पेटकी आदि शब्दों के प्रयोगों से यह सिद्ध होता है कि कम-से-कम ईसा के २०० वर्ष पूर्व त्रिपिटक साहित्य की एक जीवित परम्परा रही होगी[२]। इसके बाद डाक्टर विमला चरण लॉ ने प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्राप्तव्य प्रमाणों के आधार पर त्रिपिटक साहित्य के काल-पर्याय-क्रम के सवाल को निरूपित किया है[३] और उनके निष्कर्ष, जो डा० गायगर जैसे प्रामाणिक विद्वान् की सम्मति में भी डा० रायस डेविड्स के एतद्विषयक निष्कर्षों से अधिक मान्य हैं[४], इस प्रकार हैं, (१) बुद्ध के उपदेश, जो गद्य या पद्य में त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं, (२) दो या अधिक ग्रन्थों में मिलनेवाले कथानक, (३) शील, पारायण, अट्ठक, शिक्षापद, (४) दीघ का प्रथम अंश, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर निकाय और पातिमोक्ख का पूर्व स्वरूप, (५) दीघ का शेष भाग, थेर-थेरी-गाथा, जातक, सुत्त विभंग, पीटसम्भिदा मग्ग, पुग्गल-पञ्ञत्ति और विभंग, (६) महावग्ग और चुल्लवग्ग, विमान वत्थु, पेतवत्थु, धम्मपद, और कथावत्थु, (७) चुल्लनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त निपात, धातु कथा, यमक और पट्ठान, (८) बुद्धवंस, चरियापिटक और अपदान, (९) परिवार पाठ, (१०) खुद्दक पाठ[५]। प्रस्तुत लेखक ने 'पालि-साहित्य का इतिहास' में इस विषय सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन किया है और जिन नये निष्कर्षों को उसने स्थापित किया है, वे वहाँ द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार त्रिपिटक-वाङ्मय के काल-पर्याय-क्रम का किञ्चित् निर्देश हमने किया है, उसकी प्रमाणवत्ता के विषय में भी प्रायः इसी प्रकार समझना चाहिए। महत्ता भी बुद्ध-वचन के रूप में प्रायः उपर्युक्त विभाजन के अनुसार ही माननी चाहिए, किन्तु इसके बहुत कुछ अनिश्चित और अव्यवस्थित होने से हमारे वर्तमान ज्ञान

---

(१) विंतरनित्ज : हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १५

(२) विंतर नित्ज : हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८; मिलाइये रायज डेविड्स : बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ १६९ तथा विमला चरण लॉ : हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ २८

(३) देखिए उनकी हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ १-४२

(४) देखिए लॉ की हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर में उनका प्राक्कथन।

(५) देखिए उनकी हिस्ट्री ऑव पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ४२

की अवस्था में बुद्ध-वचनों का ठीक निर्णय करने में हमारे पास कोई विशेष निश्चित साधन नहीं है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने विशेषतः अट्ठकथाओं की सहायता लेकर बुद्ध के कुछ उपदेशों का काल-क्रम के अनुसार अपने अपूर्व ग्रन्थ 'बुद्धचर्या' में वर्णन किया है, जो मूल स्रोतों के आधार पर होने के कारण पालि त्रिपिटक के काल-पर्याय क्रम के अनुसंधित्सु विद्यार्थी के लिये द्रष्टव्य है। जैसा पहले कहा जा चुका है, बुद्ध-वचन तीन भागों में विभाजित हैं, यथा सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्म पिटक। यही तीनों मिलकर त्रिपिटक या तिपिटक कहलाते हैं। वैसे, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, पहले बुद्ध वचनों का द्विविध विभाजन ही था, यथा धम्म और विनय[1] और अभिधर्म पिटक केवल मातिकाओं के रूप में ही उस समय प्रचलित था। फिर बुद्ध-वचनों का नवांग भाग भी है[2] और अन्य प्रकार भी वे विभाजित किए गए हैं, किन्तु तीन पिटकों का विभाजन ही अधिक सुगम, परम्परागत और वैज्ञानिक है, अतः उसी का हम यहाँ अनुसरण करेंगे। त्रिपिटक में प्रथम हम पिटक को लें। सुत्त पिटक में भगवान् बुद्ध के नाना स्थानों में दिए हुए उपदेश निहित हैं। इसमें बुद्ध के संवाद, कहानियां, पद्यमय कथन और सामान्यतः बुद्ध के उपदेश निहित हैं। इस पिटक की शैली की गम्भीरता की तुलना डाक्टर रायज़ डेविड्स ने प्लैटो के संवादों से की है[3]। परन्तु प्लैटो के संवाद बुद्ध संवादों के सामने तुच्छ और नगण्य हैं। सुत्त पिटक पाँच ग्रन्थ-समूहों में विभक्त है, यथा (१) दीघ निकाय. (२) मज्झिम निकाय, (३) संयुत्त निकाय (४) अंगुत्तर निकाय और (५) खुद्दक निकाय। इनमें से प्रथम दीघनिकाय (दीर्घ लम्बाई के सुत्त होने से इसका नाम दीघ निकाय है) तीन भागों या वर्गों (वग्ग) में विभाजित है, जिनमें कुल मिलाकर ३४ सुत्त हैं। यह वर्गीकरण इस प्रकार है —

---

(१) प्रथम संगीति में महाकस्सप थेर कहते हैं 'धम्मञ्च विनयञ्च संगायेय्याम।'

(२) सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल, इस प्रकार नवांग बुद्ध वचन भी हैं, देखिए विनय पिटक, पाराजिका १, बुद्धचर्या पृष्ठ १४१

(३) देखिए राधाकृष्णन् : हिस्ट्री ऑव इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४४-४५

सीलक्खन्ध वग्ग	...	...	१३ सुत्त
महा वग्ग	...	...	१० सुत्त
पाथेय या पाटिक वग्ग	...	...	११ सुत्त

निम्नांकित विवरण इसे और अधिक स्पष्ट करेगा:—

दीघ-निकाय

(१) सीलक्खन्ध वग्ग

१. ब्रह्मजाल सुत्त — इसमें बुद्ध के युग में प्रचलित ६२ मिथ्या धारणाओं का सद्धर्म रूपी श्रेष्ठ जाल में निगृहीत होना दिखलाया गया है।

२. सामञ्ञफल सुत्त — श्रामण्य की महिमा भगवान् ने अजातशत्रु के प्रति गाई है।

३. अम्बट्ठ सुत्त — जातिवाद के विरुद्ध तीव्रतम प्रवचन।

४. सोणदण्ड सुत्त — सच्चा ब्राह्मण कौन है? इसपर विचार।

५. कूटदन्त सुत्त — यज्ञ में की गई पशुहिंसा की निन्दा।

६. महालि सुत्त — महालि लिच्छवि के प्रति अर्हत् पद प्राप्ति के साधन का वर्णन

७. जालिय सुत्त — आत्मा और शरीर के सम्बन्ध पर विचार।

८. कस्सपसीहनाद सुत्त — आत्म-निर्यातन-मयी तपस्या के विरुद्ध नग्न परिव्राजक काश्यप के प्रति तीव्रतम प्रवचन।

९. पोट्ठपाद सुत्त — आत्मवाद का विवेचन निर्वाण के मार्ग में सहायक नहीं, ऐसा पोट्ठपाद ब्राह्मण के प्रति भगवान् का उपदेश।

१०. सुभ सुत्त — आयुष्मान् आनन्द के द्वारा शील (सील) समाधि और प्रज्ञा (पञ्ञा) पर प्रवचन।

११. केवड्ढ सुत्त — चमत्कार प्रदर्शन की निन्दा

१२. लोहिच्च सुत्त — अच्छे और बुरे शास्ताओं के विषय में लोहिच्च ब्राह्मण के प्रति उपदेश।

१३. तेविज्ज सुत्त — अकेली 'त्रयी विद्या' से कुछ नहीं होता, इसपर विचार।

(२) महावग्ग

१४.	महापदान सुत्त	— बुद्ध गोतम और छह पूर्व बुद्धों की कथा; विपस्सी बुद्ध; (बोधि सत्व सिद्धान्त के यहां बीज)
१५.	महानिदान सुत्त	— प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तृततम वर्णन
१६.	महापरिनिब्बाण सुत्त	— अनेक महत्वपूर्ण विषयों के सहित तथागत के महापरिनिर्वाण की अत्यन्त करुणापूर्ण शब्दों में कथा।
१७.	महासुदस्सन सुत्त	— राजा सुदर्शन के रूप में बुद्ध के एक पूर्व जन्म की गाथा।
१८.	जनवसभ सुत्त	— यक्ष जनवसभ की कथा, मगध के अनेक उपासकों का 'सोतापत्ति फल' को प्राप्त कर लेना।
१९.	महागोविन्द सुत्त	— महागोविन्द के रूप में बुद्ध का वर्णन, निर्वाण के मार्ग पर विचार।
२०.	महासमय सुत्त	— देवों के विषय में विचार।
२१.	सक्कपञ्ह सुत्त	— बुद्ध का इन्द्र (शक्र) के प्रति 'यं किञ्चि समुदय धम्मं सब्बं तं निरोध धम्मंति' पर उपदेश।
२२.	महासतिपट्ठान सुत्त	— सति (स्मृति) और चतुरार्य सत्यों पर विचार।
२३.	पायासि सुत्त	— 'न सन्ति परलोक वादा' सिद्धान्त का निराकरण।

(३) पाटिक वग्ग

२४.	पाटिक सुत्त	— निगण्ठ नाटपुत्त का कुछ वर्णन, बुद्ध का ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखाने से इन्कार।
२५.	उदुम्बरिक सीहनादसुत्त	— मिथ्या तपस्याओं एवं वास्तविक ब्रह्मचारी का वर्णन।
२६.	चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त	— चार स्मृति-प्रस्थानों का वर्णन और बुद्ध मैत्रेय के विषय में विचार।
२७.	अग्गञ्ञ सुत्त	— आचरण जातिवाद से श्रेष्ठ है, इसपर विचार।
२८.	सम्पसादनीय सुत्त	— बुद्ध का सारिपुत्र को धर्मोपदेश।

२९.	पासादिक सुत्त	— पूर्ण और अपूर्ण शास्ताओं पर ।
३०.	लक्खण सुत्त	— बत्तीस महापुरुष लक्षण ।
३१.	सिंगालोवाद सुत्त	— गृह-विनय (गह विनय) पर उपदेश ।
३२.	आटानाटिय सुत्त	— रक्षा-मन्त्र (रक्खामन्त) पर विचार ।
३३.	संगीति सुत्त	— सारिपुत्र के द्वारा धम्म का विवेचन ।
३४.	दसुत्तर सुत्त	— इसके विभागों में सारिपुत्र के द्वारा धर्म की रूप-रेखा ।

इस प्रकार एक अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दीघ निकाय के विश्लेषण को उसकी विषय-वस्तु के संक्षिप्ततम निर्देश के साथ हमने देखा। अब मज्झिम निकाय के विभाजन और विषय-वस्तु पर संक्षिप्त रूप से आते हैं। यह निकाय वास्तव में बुद्ध के उपदेशों की दृष्टि से सर्वोत्तम और सबसे अधिक महत्त्व का है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'बुद्ध वचनामृत' कहा है और डा० ढालके ने तो केवल इसी एक ग्रन्थ के आधार पर अपने बौद्ध दर्शन सम्बन्धी अनुत्तर निबन्धों की रचना की है। मज्झिम निकाय का विभाजन १५ वर्गों में है जिनमें कुल १५२ सुत्त हैं जो मध्यम लम्बाई के हैं। निम्नांकित विवरण से यह स्पष्ट होगा।

(१) मूल-परियाय वग्ग

१.	मूल परियाय सुत्त	— चेतना की अवस्थाएँ किस प्रकार उत्पन्न होती हैं? निर्वाण पर भी विचार।
२.	सब्बासव सुत्त	— 'आसव' (मल) किस प्रकार जीतने चाहिएँ; मिथ्या दृष्टियों का भी कुछ निदर्शन।
३.	धम्म दायाद सुत्त	— 'भिक्षुओ, धम्मदायाद बनो, आमिष दायाद नहीं।'
४.	भयभेरव सुत्त	— भयों को किस प्रकार जीता जाय। बुद्ध के द्वारा उनकी सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन।
५.	अनंगण सुत्त	— सारिपुत्र और मौद्गल्यायन में दुष्टता से बचने के मार्ग पर संलाप।
६.	आकंखेय सुत्त	— भिक्षु के द्वारा स्पृहणीय विषय (पातिमोक्ख-संवर सम्भूत सील)
७.	वत्थूपम सुत्त	— चित्त की विशुद्धि पर व्याख्यान।

२८.	महा-हत्थिपदोपम सुत्त	—	चार आर्य सत्यों में सभी कुशल धर्म निहित हैं, ऐसा सारिपुत्र के द्वारा उपदेश।
२९.	महासारोपम सुत्त	—	देवदत्त के संघ छोड़ जाने पर बुद्ध का उपदेश।
३०.	चूल-सारोपम सुत्त	—	पूर्वोक्त का ही विशिष्ट वर्णन।
			(४) महायमक वग्ग
३१.	चूलगोसिंग सुत्त	—	अनुरुद्ध, नन्दिय और किम्बिल की प्रव्रज्या।
३२.	महा गोसिंग सुत्त	—	गोसिंग वन को किस प्रकार का भिक्षु सुशोभित करेगा? एक संवाद।
३३.	महागोपालक सुत्त	—	भिक्षु के ग्यारह दोष व गुण।
३४.	चूल गोपालक सुत्त	—	अच्छे और बुरे शास्ताओं के अनुयायियों की दशा।
३५.	चूल सच्चक सुत्त	—	बुद्ध और सच्चक जैन के बीच पञ्चस्कन्ध पर संवाद।
३६.	महा सच्चक सुत्त	—	तथागत का अभिसम्बोधि और समाधि पर प्रवचन।
३७.	चूल तण्हासंखय सुत्त	—	तृष्णा का क्षय कैसे हो?
३८.	महा तण्हा संखय सुत्त	—	चेतना का संसरण नहीं।
३९.	महा अस्सपुर सुत्त	—	आदर्श भिक्षु के लिए आवश्यक गुण?
४०.	चूल अस्सपुर सुत्त	—	भिक्षु के कर्तव्य।
			(५) चूल यमक वग्ग
४१.	सालेय्यक सुत्त	—	कुछ का स्वर्ग को और कुछ का नरक को गमन कैसे?
४२.	वेरंजक सुत्त	—	उपर्युक्त के समान ही।
४३.	महावेदल्ल सुत्त	—	मनोवैज्ञानिक विषयों पर सारिपुत्र का एक प्रवचन।
४४.	चूल वेदल्ल सुत्त	—	उपर्युक्त विषय पर ही धम्मदिन्ना भिक्षुणी का एक प्रवचन।
४५.	चूल धम्मसमादान सुत्त	—	धर्म-समाधान के चार प्रकार।
४६.	महा धम्मसमादान सुत्त	—	उपर्युक्त के समान ही।
४७.	वीमंसक सुत्त	—	ठीक विमर्श कैसे?
४८.	कोसम्बिय सुत्त	—	झगड़े के खिलाफ़, कौशाम्बी के भिक्षुओं को।

७५. मागन्दिय सुत्त — कामनाओं के त्याग पर उपदेश।
७६. सन्दक सुत्त — सन्दक परिव्राजक को आनन्द के द्वारा मार्ग-प्रदर्शन।
७७. महासकुलुदायि सुत्त — बुद्ध के आदर के पांच कारण।
७८. समणमण्डिका सुत्त — सम्यक् आचरण के गुण।
७९. चूल सकुलुदायि सुत्त — निगण्ठ नाटपुत्त और उनका चातुर्याम संवर।
८०. वेखनस्स सुत्त — पूर्वोक्त का ही विशेषतः विवरण।

(९) राज वग्ग

८१. घटिकार सुत्त — बुद्ध के एक पूर्व जन्म पर।
८२. रट्ठपाल सुत्त — राष्ट्रपाल की प्रव्रज्या।
८३. मखादेव सुत्त — बुद्ध के एक पूर्व जीवन की कथा।
८४. मधुर सुत्त — ब्राह्मण ही श्रेष्ठ नहीं।
८५. बोधिराजकुमार सुत्त — धर्म का साक्षात्कार कितने दिनों में?
८६. अंगुलिमाल सुत्त — अंगुलिमाल डाकू की प्रव्रज्या।
८७. पियजातिक सुत्त — जितने ही प्रिय उतने ही दुःख।
८८. बाहितिक सुत्त — शुभ और अशुभ आचरण।
८९. धम्मचेतिय सुत्त — धार्मिक जीवन की श्रेष्ठता।
९०. कण्णकत्थल सुत्त — बुद्ध की सर्वज्ञता पर संलाप।

(१०) ब्राह्मण वग्ग

९१. ब्रह्मायु सुत्त — बत्तीस महापुरुष लक्षण।
९२. सेल सुत्त — उपर्युक्त के समान ही।
९३. अस्सलायन सुत्त — जातिवाद?
९४. घोटमुख सुत्त — आत्म-निर्यातन की निन्दा।
९५. चंकि सुत्त — जातिवाद?
९६. एसुकारि सुत्त — जातिवाद?
९७. धानंजानि सुत्त — गृहस्थ-बन्धन अशुभ कार्य करने का बहाना नहीं!
९८. वासेट्ठ सुत्त — वास्तविक ब्राह्मण कौन?
९९. सुभ सुत्त — घर रहें या वन जाएँ?
१००. संगारव सुत्त — बुद्ध के द्वारा देवों के अस्तित्व की स्वीकृति।

(११) देवदह वग्ग

१०१. देवदह सुत्त — निगण्ठों के मत का खण्डन —
१०२. पञ्चत्तय सुत्त — आत्मा के पाँच सिद्धान्त और निब्बाण उन पर अनाश्रित।
१०३. किन्ति सुत्त — भ्रष्ट भिक्षुओं को नियम-उपदेश।
१०४. सामगाम सुत्त — शान्ति सम्बन्धी उपदेश।
१०५. सुनक्खत्त सुत्त — तृष्णोच्छेदन सम्बन्धी प्रवचन।
१०६. आनञ्जसप्पाय सुत्त— वास्तविक शाश्वतवाद क्या है ?
१०७. गणकमोग्गल्लान सुत्त— मोग्गल्लान के साथ भिक्षुओं की शिक्षा पर उपदेश।
१०८. गोपकमोग्गल्लान सुत्त— धर्म ही एक मात्र प्रतिशरण।
१०९. महापुण्णम सुत्त — पञ्चस्कन्ध सम्बन्धी प्रवचन।
११०. चूल पुण्णम सुत्त — अच्छे और बुरे आदमी।

(१२) अनुपद वग्ग

१११. अनुपद सुत्त — तथागत के द्वारा सारिपुत्र की प्रशंसा।
११२. छब्बि सोधन सुत्त — सम्यक् ज्ञानी के प्रति प्रष्टव्य प्रश्न।
११३. सप्पुरिस सुत्त — अच्छे पुरुष ?
११४. सेवितब्ब-असेतिब्बसुत्त—क्या सेवितव्य और क्या असेवितव्य ?
११५. बहुधातुक-सुत्त — बुद्ध और आनन्द का एक सम्वाद।
११६. इसिगिलि सुत्त — प्रत्येक बुद्धों (पच्चेक बुद्धा) पर बुद्ध।
११७. महाचत्तारीसक सुत्त—सम्यक् समाधि पर विचार।
११८. आनापान सति सुत्त — प्राणायाम सम्बन्धी प्रवचन।
११९. कायगतासति सुत्त — कायें कायानुपश्यना ?
१२०. संखारुप्पत्ति सुत्त — संस्कारों का उदय कैसे ?

(१३) सुञ्ञता वग्ग

१२१. चूल-सुञ्ञाता वग्ग — शून्यता क्या है ?
१२२. महा सुञ्ञाता सुत्त — उपर्युक्त के समान ही।
१२३. अच्छरियब्भुतधम्मसुत्त—बोधि सत्व के अद्‌भुत जीवन पर।
१२४. बक्कुल सुत्त — अचेल कस्सप की प्रव्रज्या।
१२५. दन्त भूमि सुत्त — धर्म का उपदेश दें कैसे ?
१२६. भूमिज सुत्त — सम्यक् दृष्टि अत्यन्त आवश्यक।

१२७. अनुरुद्ध सुत्त — अनुरुद्ध के द्वारा चेतोविमुक्ति पर विचार।
१२८. उपक्किलेस सुत्त — सम्यक् समाधि क्या है ?
१२९. बाल-पण्डित सुत्त — जीवन के बाद फल ?
१३०. देवदूत सुत्त — यम का भय ?

(१४) विभंग वग्ग

१३१. भद्देकरत्त सुत्त — भूत और भविष्यत् को छोड़ वर्तमान में रमो।
१३२. आनन्द भद्देकरत्त सुत्त— " "
१३३. महाकच्चान भद्देकरत्त सुत्त— " "
१३४. लोमसकंगिय भद्देकरत्तसुत्त— " "
१३५. चूल कम्मविभंग सुत्त— संसार में असमानता क्यों ?
१३६. महा कम्म विभंग सुत्त— " "
१३७. सडायतन विभंग सुत्त— छः आयतनों पर विचार।
१३८. उद्देस विभंग सुत्त — महाकात्यायन के द्वारा चेतना पर प्रवचन।
१३९. अरण विभंग सुत्त — शान्ति का रहस्य ?
१४०. धातु विभंग सुत्त — छः धातुओं (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और चित्त) पर विचार।
१४१. सच्च विभंग सुत्त — चार आर्य सत्य।
१४२. दक्खिणा विभंग सुत्त — दान और दाताओं पर प्रवचन। संघ को दिया हुआ दान व्यक्ति के दान से ऊपर।

(१५) सडायतन वग्ग

१४३. अनाथपिंडिकोवाद सुत्त—अनाथपिण्डिक की मृत्यु।
१४४. छन्नोवाद सुत्त — छन्न की आत्महत्या।
१४५. पुण्णोवाद सुत्त — दुःख और सुख में व्यवहार।
१४६. नन्दकोवाद सुत्त — अनित्यता पर विचार।
१४७. चूल राहुलोवाद सुत्त— अनित्यता पर ही।
१४८. छछक्क सुत्त — अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन।
१४९. महासडायतनिक सुत्त— इन्द्रियों का सम्यक् ज्ञान।
१५०. नगरविन्देय्य सुत्त — आदरणीय श्रमण-ब्राह्मण कौन ?
१५१. पिंडपातपारिसुद्धि सुत्त—पिण्डपात कैसे करना ?
१५२. इन्द्रिय भावना सुत्त — इन्द्रिय भावना कैसे हो ?

इस प्रकार बुद्ध की चारिकाओं में जिस प्रकार उनके अववाद (उपदेश) हुआ करते थे, उनका कुछ चित्रण ये 'सुत्त' करते हैं। कुछ उनके शिष्यों के भी प्रवचन हैं। मज्झिम तथा अन्य निकायों में न केवल बुद्ध के विचार संबंधी ही किन्तु तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था की भी एक अतुल सामग्री भरी पड़ी है। विस्तार-भय से उसका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता[1]। इस प्रकार ऊपर दो निकायों की किञ्चित् विषय वस्तु के निरूपण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि सुत्त पिटक की विचार-शैली किस प्रकार की है, अब हम संक्षेप में ग्रन्थों के मात्र नाम-परिगणन से ही मनस्तृप्ति करेंगे ताकि साहित्य-सम्बन्धी भाग उचित से अधिक स्थान न ले सके। तृतीय निकाय अर्थात् संयुत्त निकाय पाँच वग्गों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलाकर ५६ संयुत्त हैं, जैसा कि निम्नलिखित रूप-रेखा से स्पष्ट होगा:—

(१) सगाथ वग्ग, जिसमें ११ संयुत्त हैं, यथा—

१. देवता संयुत्त (आठ अध्याय)
२. देवपुत्त " (तीन अध्याय)
३. कोसल " (तीन अध्याय)
४. मार " (तीन अध्याय)
५. भिक्खुणी " ———
६. ब्रह्मा " (दो अध्याय)
७. ब्राह्मण " (दो अध्याय)
८. वंगीस " ———
९. वन " ———
१०. यक्ख " ———
११. सक्क " (तीन अध्याय)

(२) निदान वग्ग, जिसमें १० संयुत्त हैं, यथा—

१. निदान संयुत्त (९ अध्याय)
२. अभिसमय " ———
३. धातु " (४ अध्याय)

---

(१) उसके कुछ निर्देश के लिये देखिए मज्झिम निकाय, भाग २, प्राक्कथन, पृष्ठ १८-२२ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण) तथा लाहा। पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६५५-६५६

४. अनमतग्ग " (२ अध्याय)
५. कस्सप " ——
६. लाभ सक्कारसंयुत्त (४)
७. राहुल " (२)
८. लक्खण " (२)
९. ओपम्म " ——
१०. भिक्खु " ——

(३) खन्ध वग्ग, जिसमें १३ संयुत्त हैं, यथा—

१. खन्ध संयुत्त (पांच-पांच अध्यायों के तीन विभाग)
२. राध " (चार अध्याय)
३. दिट्ठि " (दो अध्याय)
४. ओक्कन्तिक" ——
५. उप्पाद " ——
६. किलेस " ——
७. सारिपुत्त संयुत्त
८. नाग " ——
९. सुपण्ण " ——
१०. गन्धब्बकाय संयुत्त ——
११. बलाह " ——
१२. वच्छगोत्त" ——
१३. झान (या समाधि) संयुत्त ——

(४) सडायतन वग्ग—जिसमें दस संयुत्त हैं, यथा

१. सडायतन संयुत्त (चार भागों में विभक्त, पहले तीन भागों में से प्रत्येक में पांच और अन्तिम में चार अध्याय)
२. वेदना संयुत्त (३ अध्याय)
३. मातुगाम " (३ अध्याय)
४. जम्बुखादक" —
५. सामण्डक "
६. मोग्गल्लान "
७. चित्त "

८. गामणि "
९. असंखत " (२ अध्याय)
१०. अव्याकत "

(५) महावग्ग, जिसमें १२ संयुत्त हैं—

१. मग्ग संयुत्त — (८ अध्याय)
२. बोज्झंग संयुत्त— (१८ अध्याय)
३. सतिपट्ठान " (१० ")
४. इन्द्रिय " (१७ ")
५. सम्मप्पधान" (५ ")
६. बल " (१० ")
७. इद्धिपाद " (८ ")
८. अनुरुद्ध " (२ ")
९. झान " (५ ")
१०. आनापान " (२ ")
११. सोतापत्ति " (७ ")
१२. सच्च " (११ ")

विषय इस निकाय का भी वैसा ही है, जैसा अन्य का । वही मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याएँ, वही कथानक, वही संवाद और वही सरल पुनरावृत्तिमयी शैली । चतुर्थ निकाय अर्थात् अंगुत्तर निकाय विशेषतः संख्यात्मक है, जो निम्न-लिखित ११ निपातों में विभक्त है, यथा एक निपात, दुक निपात, तिक निपात, चतुक्क नि०, पंचक नि०, छक्क नि०, सत्तक नि०, अट्ठक नि०, नवक नि०, दसक नि०, और एकादसक निपात । पञ्चम निकाय अर्थात् खुद्दक निकाय का विभाजन १६ (आचार्य बुद्धघोष के अनुसार १५) ग्रन्थों में है, जो इस प्रकार है। (१) खुद्दक पाठ, (२) धम्मपद, (३) उदान, (४) इतिवुत्तक, (५) सुत्त-निपात, (६) विमानवत्थु, (७) पेतवत्थु, (८) थेरगाथा, (९) थेरी गाथा, (१०) जातक, (११ तथा १२) जो आचार्य बुद्धघोष ने एक ही ग्रन्थ के रूप में माने हैं) महा निद्देस तथा चुल्ल निद्देस, (१३) पटिसम्भिदा मग्ग, (१४) अपदान, (१५) बुद्धवंस तथा (१६) चरिया पिटक । कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी अलग-अलग विषय वस्तु का तो निर्देश यहाँ किया ही नहीं जा सकता, इनके अध्यायों आदि का विभाजन दिखाना भी अत्यन्त कठिन काम है । विनय पिटक में भिक्षु और भिक्षुणियों सम्बन्धी नियम हैं, जो बुद्ध-शासन की

दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। विनय पिटक का ग्रन्थ-विभाजन इस प्रकार है—(१) सुत्त विभंग, (२) खन्धक, (३) परिवार और (४) पातिमोक्ख। पातिमोक्ख में जो नियम दिए हैं, उन्हीं की व्याख्या सुत्त विभंग में है, जिसके दो भाग हैं (अ) पाराजिक, (आ) पाचित्तिय। खन्धक के भी दो भाग हैं (अ) महावग्ग और (आ) चुल्लवग्ग। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा। तीसरा अधिधम्म पिटक दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विषय की दृष्टि से नवीन इसमें कुछ नहीं है जो सुत्त पिटक में न हो, बल्कि यह उसी की तात्विक या नैतिक व्याख्या उपस्थित करता है। व्यवहार-वचन (वोहार वचन) का उपयोग न कर यह परमार्थ वचन (परमत्थ वचन) का उपयोग करता है और विशेष अन्तर तो सुत्त पिटक से इसका यह है कि जिन 'धर्मों' को सुत्त पिटक 'रूप', 'वेदना', 'संज्ञा', 'संस्कार', और 'विज्ञान' इन पञ्चस्कन्धों के रूप में विभक्त करता है उन्हीं का अभिधम्म पिटक में विभाजन और वर्गीकरण 'चित्त', 'चेतसिक' और 'रूप' के रूप में है। यह सब दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है, इसे कहने की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमारा आगे बौद्ध मनोविज्ञान सम्बन्धी विवरण इसी पिटक के आधार पर होगा। अभिधर्म पिटक सात ग्रन्थों में विभक्त है[1] (१) धम्म संगणि, (२) विभंग, (३) धातु-कथा, (४) पुग्गल पञ्ञत्ति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। इनकी संक्षिप्त विषय-वस्तु का कुछ निर्देश यहाँ आवश्यक होगा। धम्म संगणि बौद्ध मनोवैज्ञानिक आचार-तत्व का अनुत्तर ग्रन्थ है। यहां सभी 'धर्म' 'कुशल', अकुशल' और 'अव्याकृत' रूप में देखे गए हैं। 'चित्त', 'चेतसिक' और 'रूप' पर यहाँ महत्वपूर्ण विचार है, जिसका संक्षिप्ततम विवरण भी हम यहाँ देने में असमर्थ हैं। विभंग धम्मसंगणि का ही पूरक है और समग्र ग्रन्थ १८ विभंगों में विभक्त है, यथा, (१) खन्ध विभंग, (२) आयतन विभंग, (३) धातु विभंग, (४) सच्च विभंग, (५) इन्द्रिय विभंग, (६) पच्चयाकार विभंग, (७) सतिपट्ठान विभंग, (८) सम्मप्पधान विभंग, (९) इद्धिपाद विभंग, (१०) बोज्झंग विभंग, (११) मग्ग विभंग, (१२) झान विभंग, (१३) (१३) अप्पमञ्ञा विभंग, (१४) सिक्खापद विभंग, (१५) पटिसम्भिदा—मग्ग विभंग (१६) ञाण विभंग, (१७) खुद्दकवत्थु विभंग तथा (१८) धम्महृदय

---

(१) सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थों के लिए देखिए आगे उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन का विवेचन।

विभंग। तृतीय अभिधर्म ग्रन्थ 'धातु कथा' (अथवा खन्ध-आयतन-धातु-कथा) है, जो १४ भागों में विभक्त है, यथा, (१) संगहो असंगहो (२) संगहितेन असंगहितं, (३) असंगहितेन संगहितं, (४) संगहितेन संगहितं, (५) असंगहितेन असंगहितं, (६) सम्पयोगो विप्पयोगो, (७) सम्पयुत्तेन विप्पयुत्तं, (८) विप्पयुत्तेन सम्पयुत्तं, (९) सम्पयुत्तेन सम्पयुत्तं, (१०) विप्पयुत्तेन विप्पयुत्तं, (११) असंगहितेन सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं, (१२) सम्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं, (१३) असंगहितेन सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं तथा (१४) विप्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं। यहाँ विषय-निरूपण हमारा उद्देश्य नहीं। केवल विषय-वस्तु के स्वरूप का कुछ निर्देश करना है और इतने के लिए उपर्युक्त वर्णन पर्याप्त है, सामग्रच में तो अभिधर्म का संक्षिप्त निरूपण एक अत्यन्त कठिन, महत्वपूर्ण और हिन्दी साहित्य में एक नितान्त ही अभिनव विषय है। 'पुग्गल पञ्ञत्ति', 'पुग्गलों' या व्यक्तियों के विषय में अद्भुत ग्रन्थ है और दस विभागों में विभाजित है। पाँचवाँ ग्रन्थ कथावत्थु अधिकांश में अशोक-कालीन है, किन्तु परम्परा से इसका उपदेश तथागत के द्वारा ही दिया गया, ऐसा कुछ का विश्वास है। इस ग्रन्थ का उपयोग पूर्णरूप से हम अशोक-कालीन बौद्ध धर्म के सम्प्रदायों का वर्णन करते समय करेंगे जिनका कि इसमें वर्णन है। स्थविरवाद परम्परा का समर्थन तथा अन्य १७ निकायों अथवा सिद्धान्तों का खण्डन इसमें है। मोग्गलिपुत्त तिस्स इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता हैं। छठा अभिधर्म-पिटक का ग्रन्थ 'यमक' है। 'यमक' इसकी संज्ञा इसलिए है कि प्रश्न और उनके प्रतिरूप प्रश्न इस ग्रन्थ में प्रारम्भ से अन्त तक जोड़ों में रक्खे गए हैं। दस भागों या यमकों में यह ग्रन्थ विभक्त है। वे ये हैं—(१) मूल यमक, (२) खंध यमक, (३) आयतन यमक, (४) धातु यमक, (५) सच्च यमक, (६) संखार यमक, (७) अनुसय यमक, (८) चित्त यमक (९) धम्म यमक तथा, (१०) इन्द्रिय यमक। सातवाँ ग्रन्थ पट्ठान है, जिसका एकमात्र विषय प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन है। यहाँ चौबीस प्रत्ययों के द्वारा प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त पर विचार किया गया है। वे चौबीस प्रत्यय (पच्चय) ये हैं:—

(१) हेतु पच्चय, (२) आरम्मण पच्चय, (३) अधिपति पच्चय, (४) अनन्तर पच्चय, (५) समनन्तर पच्चय, (६), सहजात पच्चय, (७) अञ्ञमञ्ञ पच्चय, (८) निस्सय पच्चय, (९) उपनिस्सय पच्चय, (१०) पुरेजात पच्चय, (११) पच्छाजात पच्चय, (१२) आसेवन पच्चय, (१३) कम्म पच्चय, (१४) विपाक पच्चय, (१५) आहार पच्चय, (१६) इन्द्रिय पच्चय, (१७) झान पच्चय,

(१८) मग्ग पच्चय, (१९) सम्पयुत्त पच्चय, (२०) विप्पयुत्त पच्चय, (२१) अत्थि, (२२) नत्थि, (२३) विगत और, (२४) अविगत। इनमें से बहुत से प्रत्यय एक दूसरे के अन्तर्गत भी सम्मिलित हैं और इसकी सम्यक् अनुभूति इस ग्रन्थ में की गई है। प्रत्येक 'धर्म' का उद्‌भव इन्हीं उपर्युक्त चौबीस प्रत्ययों के आधार पर इस महाग्रन्थ में दिखाया गया है और इसके लिए चार ढंग काम में लाए गए हैं जिनके पारिभाषिक नाम हैं (११) अनुलोम पट्ठान, (२) पच्चनिय पट्ठान, (३) अनुलोम पच्चनिय पट्ठान और, (४) पच्च-निय-अनुलोम पट्ठान। इससे अधिक कहना तो ग्रन्थ के पूर्ण विश्लेषण में ही जाना होगा, जिसके लिए शक्ति और स्थान दोनों ही कम हैं।

इस प्रकार त्रिपिटक की ग्रन्थ-सम्पत्ति का कुछ वर्णन समाप्त हुआ। अब हम अट्ठकथा साहित्य पर आने से पूर्व कुछ उन ग्रन्थों का निर्देश करेंगे जो यद्यपि अट्ठकथाओं से पूर्व लिखे गये किन्तु त्रिपिटक पर ही आश्रित हैं और उनमें से कुछ का दार्शनिक महत्त्व अत्यन्त उच्चकोटि का है। इन ग्रन्थों में विशेषतः 'नेत्तिपकरण', 'पेटकोपदेस', 'मिलिन्दपञ्ह' और 'विसुद्धिमग्ग' विचार के क्षेत्र में आते हैं। 'नेत्ति पकरण' को हम त्रिपिटक वाङमय का 'निरुक्त' कह सकते हैं, अतः उसका सीधा दार्शनिक महत्व बहुत अधिक नहीं है। 'पेटकोपदेस' भी प्रायः उसी का पूरक है। 'मिलिन्द पञ्ह' और 'विसुद्धि मग्ग' ही दो ग्रन्थ ऐसे बचते हैं जिनका महत्त्व स्थविरवाद-परम्परा के चिन्तन में अत्यन्त अधिक है। 'मिलिन्द पञ्ह' भिक्षु नागसेन की रचना है, किन्तु यह भिक्षु कब उत्पन्न हुए अथवा इनका जीवनवृत्त क्या था, इसके विषय में कोई निश्चित मत उपलब्ध नहीं होता। इतना ही हम जानते हैं कि यवनराज मिलिन्द (योनकानं राजा मिलिन्दो) जिनका ग्रीक नाम मीनेन्ड्रौस अथवा मीनाण्डर कहा जाता है, सत्यगवेषी होकर भिक्षु नागसेन के पास आये थे और बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी अपनी जिज्ञासाएँ महान् त्रिपिटक-धर भिक्षु के सामने रक्खी थीं जिनका उत्तर महान् पण्डितवाद के साथ आयुष्मान् भदन्त ने दिया था जिस सब से उक्त राजा को महान् शान्ति और सन्तोष प्राप्त हुए थे। इस राजा का समय क्या है, इसके विषय में विद्वानों में एक मत उपलब्ध नहीं होता[1], किन्तु उन सबके

(१) डाक्टर स्मिथ (अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृष्ठ २७७, २३९, २५८) के अनुसार मीनान्डर ने १५५ ई०पू० भारत पर चढ़ाई की; राय चौधरी (पौलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एन्शियन्ट इण्डिया, पृष्ठ २०४) तथा बारनैट

मतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईस्वी शताब्दी के आसपास यह सागल-प्रदेश का शासक था, जो दक्षिणी पंजाब में था। यह ग्रन्थ भिक्षु नागसेन और राजा मिलिन्द के संवाद स्वरूप ही रचित है। सात भागों में समग्र ग्रन्थ विभक्त है, यथा (१) बाहिर कथा, (२) लक्खण पञ्हो, (३) विमतिच्छेदन पञ्हो, (४) मेण्डक पञ्हो, (५) अनुमान पञ्हो, (६) धुतंग कथा और (७) ओपम्मकथा पञ्हं। भारतीय दार्शनिक साहित्य में इस ग्रन्थ-रत्न का एक अत्यन्त महान् मूल्य है। वैसे इसको जब कोई पढ़ता है तो किसी रायज़ डेविड्स के ही उसको यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि वह जगत् के महान् गद्य काव्य को पढ़ रहा है। दार्शनिक विषयों को लेकर भी जो काव्यमयता, जो संगीततत्त्व, जो हृदय-हारिणी शैली ईश्वरकृष्ण, गौडपाद, नागार्जुन (मूलमाध्यमिक-कारिका में) और ज्ञानेश्वर जैसे मनीषियों ने दिखाई है, वह भदन्त नागसेन की भी विशेषता है। किन्तु विचार उनका, अन्य उपर्युक्त मनीषियों की तरह ही, प्रधान क्षेत्र है। बड़ी कुशलता के साथ विषय का प्रारम्भ यहाँ किया गया है, अर्थात् पुद्गलवाद के सवाल को लेकर, जो वास्तव में दर्शन की समस्या का हृदय ही है। अन्य वार्ताओं के हो जाने पर और दोनों नायकों के पूर्व जन्मों का वर्णन समाप्त हो जाने पर राजा अत्यन्त ही जिज्ञासा से नागसेन के पास जा कर बैठ जाता है। राजा सरल भाव से पूछता है 'भन्ते! आपका नाम क्या है?' भदन्त नागसेन कहते हैं कि उनको लोग 'नागसेन' 'नागसेन' ऐसा कहते हैं, किन्तु यह सब व्यवहार मात्र के लिए ही है और वास्तव में 'नागसेनोति न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भतीति', 'नागसेन' नाम का कोई पुद्गल यहाँ उपलब्ध नहीं होता'। बस संवाद और संप्रश्न का क्षेत्र खुल जाता है और भदन्त नागसेन ने मिलिन्द की शंकाओं के जो महनीय उत्तर दिए हैं वे इस ग्रन्थ-रत्न में द्रष्टव्य हैं। उनका यहाँ संक्षिप्ततम निदर्शन भी नहीं किया

(कलकत्ता रिव्यू, १९२४, पृष्ठ २५०) के अनुसार मीनाण्डर प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुआ; मजूमदार के अनुसार यह तिथि ९० ई० पू० से अधिक आगे नहीं बढ़ाई जा सकती; देखिए मिलिन्द पञ्हो, बम्बई यूनीवर्सिटी का देवनागरी संस्करण (मूल) भूमिका पृष्ठ ९; मिलाइये लॉ: हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३५५; एन्साईक्लोपैडिया ऑफ़ रिलिजन ऐण्ड ऐथिक्स, जिल्द आठवीं, 'मिलिन्द पञ्हो' पर निबन्ध।

जा सकता। इस ग्रन्थ का चतुर्थ भाग अर्थात् 'मेण्डक पञ्हो' सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें राजा ने अत्यन्त चक्करदार प्रश्न रक्खे हैं, जिनका उत्तर बड़ी सावधानी से भदन्त नागसेन ने दिया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा। दूसरा ग्रन्थ जो इस प्रसंग में आता है वह है भगवान् अट्ठकथाचरिय बुद्धघोषाचार्य (पाँचवीं शताब्दी ईस्वी) का 'विसुद्धि मग्ग'। यह ग्रन्थ थेरवाद बौद्ध धर्म का विश्वकोश कहा जा सकता है। कोई भी महत्त्व-पूर्ण विषय बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी इस ग्रन्थकार ने छोड़ा नहीं है, यद्यपि अपनी परीक्षा स्वरूप दी हुई केवल दो गाथाओं पर व्याख्या रूप ही यह ग्रन्थ लिखने का दावा उसने किया है। 'मिलिन्द प्रश्न' की प्रामाणिकता आचार्य बुद्ध-घोष को अत्यन्त मान्य है और उसको अनेक स्थानों में प्रमाण-स्वरूप उद्धृत भी किया है। ये दोनों महाग्रन्थ आदि बौद्ध दर्शन के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त पठनीय हैं। किन्तु इनके विचारों का एक विभेद हमें त्रिपिटक की मूल भावनाओं से करना चाहिए। इन दोनों ही आचार्यों ने कुछ कुछ बुद्ध के मौन को निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है। भिक्षु नागसेन का किया हुआ 'अनात्मवाद' का वर्णन निश्चय ही अत्यन्त महनीय और विशद है और 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन के प्रसंग में 'अनात्मवाद' का वर्णन कभी भी पूरा नहीं कहा जा सकता जब तक कि भदन्त नागसेन के इस विषयक मत का भी कुछ उल्लेख अथवा उनके मिलिन्द के साथ हुए सम्वाद में से कुछ उद्धरण अवश्य न दे दिये जायँ। किन्तु बुद्ध का मन्तव्य बिलकुल वैसा ही निषेधात्मक रहा हो जैसा कि इस मनीषी विचारक ने अपने अनुपम तर्कबल से दिखाया है, ऐसा हम सम्भवतः नहीं कह सकते। इसीलिए डा० राधाकृष्णन् के इस विचार से सहमत होने में हमें तनिक भी झिझक नहीं कि जहाँ तक बुद्ध के मन्तव्य को दिखाने से सम्बन्ध है वहाँ हमें मिलिन्द प्रश्न के साक्ष्य को बहुत सँभल कर ही लेना चाहिए[1]। वैसे इन मनीषी भिक्षु ने बुद्ध के मन्तव्य को बड़ी अच्छी तरह से समझाया है, इसमें सन्देह नहीं। यही बात 'बुद्धघोसा-चरिय' के विषय में भी कही जा सकती है और उनका साक्ष्य भी किन्हीं बातों में हमें सँभल कर ही लेना चाहिए। वैसे इन दोनों विचारकों के मतों का उद्धरण 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन के प्रसंग में हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक होगा और हम वैसा करेंगे भी, किन्तु सम्यक् समीक्षा के बाद ही उनके मतों को

---

(१) देखिए 'इण्डियन फ़िलॉसफ़ी', जिल्द पहली, पृष्ठ ३४५-४६

ग्राह्य समझना होगा, उनके बुद्ध-मन्तव्य के प्रकाशक होने के रूप में। यह प्रसन्नता है कि ये दोनों ग्रन्थरत्न मूल पालि में देवनागरी अक्षरों में प्रकाशित हैं[1], जैसा कि अभी अधिकांश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पालि-साहित्य भी नहीं होने पाया है।

अट्ठकथा साहित्य और दार्शनिक दृष्टि से उसका महत्व

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त त्रिपिटक पर व्याख्याएँ अथवा अट्ठकथाएँ भी हैं। पालि साहित्य में तीन प्रसिद्ध अट्ठकथाकार हुए हैं। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। इन तीनों मनीषियों ने त्रिपिटक के भिन्न-भिन्न अंशों पर अट्ठकथाएँ लिखी हैं। यदि हमारा उद्देश्य पालि साहित्य का निरूपण करना होता तो हम यहाँ उनका कुछ विस्तृत वर्णन करते, किन्तु हम यहां प्रत्येक वस्तु को दार्शनिक दृष्टिकोण से ही देख रहे हैं, अतः हमें यह जान लेना चाहिए कि उस दृष्टि से इन अट्ठकथाओं का महत्त्व अल्प है। संस्कृत में लिखे दार्शनिक ग्रन्थों के भाष्यों या वार्तिकों से इन अट्ठकथाओं की कोई तुलना नहीं। ये तो केवल बुद्ध के उपदेशों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार करती हैं और यही कदाचित् इनका सब से बड़ा मूल्य है। हाँ, अभिधर्म पिटक पर लिखी अट्ठकथाएँ मूल्यवान् कृति हैं दर्शन की दृष्टि से भी। और इस दृष्टि से आचार्य बुद्धघोष की 'अट्ठसालिनी' ('धम्मसंगणि' की अट्ठकथा) यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बाद की शताब्दियों में उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त पालि भाषा में लिखे गये अन्य भी अनेक ग्रन्थ हैं, किन्तु उनका दार्शनिक महत्त्व बहुत अल्प है। इसलिए

(१) मिलिन्द प्रश्न, बम्बई विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित (सम्पादक वदेकर) और विसुद्धिमग्ग, आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी द्वारा सम्पादित (भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित)। पूज्य आचार्य पाद ने 'विसुद्धिमग्ग' पर 'विसुद्धिमग्ग दीपिका' नाम की एक महत्त्वपूर्ण टीका भी पालि में लिखी है, जो महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित है। मिलिन्द प्रश्न का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित है, जिसे भिक्षु जगदीश काश्यप जी ने योग्यतापूर्वक किया है। 'विसुद्धि मग्ग' का विद्वत्तापूर्ण अनुवाद भिक्षु श्री धर्मरक्षित जी ने किया है, जो इस समय प्रेस में है।

अन्य अनुपालि अथवा अनुपिटक साहित्य और उसमें दार्शनिक अंश की अल्पता

वे यहाँ विचारणीय नहीं। 'अभिधम्मत्थसंगहो' जैसे कुछ विवेचनात्मक ग्रन्थ अवश्य स्मरणीय हैं और इसी प्रकार बाद की शताब्दियों में किया गया विशेषतः बरमा में अभिधम्म-सम्बन्धी अध्ययन भी। विशेषतः पालि त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं के आधार पर अब हम स्थविरवाद बौद्ध धर्म का विवेचन करेंगे।

५—बोधि पक्षीय धर्म : बुद्ध-शासन और आचारतत्त्व की प्रतिष्ठा

सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म (सत्ततिंस बोधिपक्खिया धम्मा) भगवान् बुद्ध के अविवाद और अविरुद्ध मन्तव्य हैं

भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय अपने शिष्यों को बुलाया और उनसे कहा 'भिक्षुओ ! मैंने जो धर्म उपदेश किया है, तुम अच्छी तौर से सीखकर उसका सेवन करना, भावना करना, बढ़ाना; जिससे कि यह ब्रह्मचर्य अध्वनीय (चिर-स्थायी,) हो; यह ब्रह्मचर्य बहुजन-हितार्थ, बहु-जन सुखार्थ, लोकानुकम्पार्थ और देव-मनुष्यों के अर्थ, हित और सुख के लिए हो। भिक्षुओ ! वे कौन-से धर्म हैं, जिन्हें स्वयं जान कर, स्वयं साक्षात्कार कर, अभिज्ञान कर, मैंने तुम्हें उपदेश किया है, जिन्हें तुम अच्छी तरह सीखकर बढ़ाना ? वे हैं (१) चार स्मृति-प्रस्थान, (२) चार सम्यक् प्रधान, (३) चार ऋद्धिपाद, (४) पाँच इन्द्रिय (५) पांच बल, (६) सात बोध्यंग और (७) आर्य अष्टांगिक मार्ग ।..."[१] । इस प्रकार हम कह सकते है कि बोधि पक्षीय धर्म भगवान् बुद्ध के अन्तिम उपदेश हैं। "जो इस धर्म में प्रमाद रहित होकर उद्योग करेगा, वह आवागमन को छोड़ कर दुःख का अन्त करेगा।" उपर्युक्त परिगणित सैंतीस धर्म ही अपने समष्टि रूप में बोधि पक्षीय धर्म कहलाते हैं। 'बोधि पक्षीय' शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि आर्यमार्ग (बुद्ध-मार्ग) के ही बोधन (ज्ञान) करने के अर्थ में ज्ञान 'बोध' कहलाता है और इस आर्य मार्ग रूप बोध के पक्ष में होने के कारण अर्थात् इसके सहायक होने के कारण ये सैंतीस धर्म 'बोधि पक्षीय धर्म' कहलाते हैं। 'इमे सत्ततिंस धम्मा बुज्झन-

(१) महापरिनिब्बाणसुत्त (दीघ० २।३)

ट्ठेन बोधोति लद्धनामस्स अरिय मग्गस्स पक्खे भवत्ता बोधि पक्खिया नाम। पक्खे भवत्ताति उपकारभावे ठितत्ता"[१]। बोधि पक्षीय धर्म बोधि की ओर ले जाने वाले हैं। वे बोधि की अनुकूल अवस्थाएँ हैं। सम्भवतः बोधिपक्षीय धर्मों की ओर लक्ष्य करके ही भगवान् ने अपनी 'पच्छिमा वाचा' (अन्तिम वाणी) में कहा था 'हन्त ! भिक्षुओ ! मैं तुमसे कहता हूँ........अप्रमाद से सम्पादन करो'। निश्चय ही बोधि पक्षीय धर्म वे विशुद्धि के मार्ग हैं जिनका भगवान् ने अनेक सुत्तों में अनेक बार पुनरुक्ति करके उपदेश दिया है[२] और जिनको वे अविवाद और अविरुद्ध रूप से मनुष्य मात्र के लिए कल्याणकारी मानते थे। आनन्द से संलाप करते हुए भगवान् ने कहा था 'तो क्या मानते हो आनन्द ! मैंने साक्षात्कार कर जिन धर्मों का उपदेश किया है, जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धि पाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग, आनन्द ! इन धर्मों में क्या दो भिक्षुओं का भी मतभेद दीखता है ?" आनन्द ने उत्तर दिया, "नहीं भन्ते ! इन धर्मों में मैं दो भिक्षुओं का भी मतभेद नहीं देखता।"[३] इससे स्पष्ट है कि बोधिपक्षीय धर्मों का समग्र रूप ही वह अविवाद साधना-मार्ग था जिसका उपदेश तथागत ने दिया था और जिसके सम्बन्ध में दो भिक्षुओं में भी उनके समय में मतभेद नहीं था। बोधि पक्षीय धर्मों के अभ्यास से मनुष्य इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त करता है, ऐसा भगवान् का ज्ञान पूर्वक कहना था[४]। जब वे कहते थे "धर्म ही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, इस जन्म में भी और परजन्म में भी"[५] तो उनका तात्पर्य यहां धर्म से बोधि पक्षीय धर्मों के अभ्यास से ही होता था। भगवान् अपने शिष्यों से अपेक्षा रखते थे कि वे प्रति दिन रात्रि के प्रथम

---

(१) विसुद्धिमग्ग २२।३३

(२) देखिए महासकुलुदायि सुत्त (मज्झिम० २।३।७;) संयुत्त० २१।८।९; महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३); विभंग, पृष्ठ ३७२; मिलिन्द प्रश्न और विसुद्धिमग्ग (बाईसवां परिच्छेद) में भी बोधि पक्षीय धर्मों का निर्देश मिलता है।

(३) सामगाम-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।४)

(४) देखिये अग्गञ्ञ-सुत्त (दीघ० ३।४)

(५) उपर्युक्त के समान।

और अन्तिम याम में प्रयत्नपूर्वक बोधि पक्षीय धर्मों की भावना करें[१]। जैसा अभी कहा गया, अन्तिम बार जब शास्ता ने अपने शिष्यों से बिदाई ली और महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया तो उस समय उनका भिक्षुओं से यही कहना था, "भिक्षुओ ! मैंने जो धर्म तुम्हें उपदेश किये हैं, जैसे कि चार स्मृति-प्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग और आर्य अष्टांगिक मार्ग, इनका तुम अभ्यास करना, बढ़ाना ताकि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो और बहुजनों के हित, सुख और कल्याण के लिये हो[२]।"

बोधि पक्षीय धर्म सम्पूर्ण बौद्ध साधना की प्रतिष्ठा-भूमि हैं

बोधि पक्षीय धर्म वस्तुतः समग्र बुद्ध-शासन की प्रतिष्ठा और भगवान् बुद्ध के धर्म-चक्र की धुरी हैं। शास्ता के चले जाने के बाद उनके शिष्यों में बुद्ध के दार्शनिक मन्तव्यों को लेकर चाहे जितनी विप्रतिपत्तियाँ और विभिन्नताएँ रही हों, परन्तु इन ढाई हजार वर्षों में सम्पूर्ण बौद्ध साधक और साधिकाओं ने बिना किसी अपवाद के बोधि पक्षीय धर्मों का अभ्यास चित्त-शुद्धि के लिये अपने जीवन में किया है। चाहे तथोक्त हीनयानी हों या महायानी, सब बौद्धों ने बोधि पक्षीय धर्मों के अभ्यास को शास्ता का अ-विवाद शासन माना है और बुद्ध के जीवन-काल के समान आज तक कभी दो बौद्ध साधकों का, चाहे वे बौद्ध धर्म की किसी शाखा के माननेवाले हों, इस सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं रहा है। अतः हम कह सकते हैं कि बोधि पक्षीय धर्म सम्पूर्ण बौद्ध साधना की प्रतिष्ठा भूमि हैं और बौद्ध धर्म की एकता सम्पादित करने में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग रहा है और आगे भी रहेगा। स्थविरवाद बौद्ध धर्म के समान महायान बौद्ध धर्म में, जो स्थविरवाद का ही आगे की शताब्दियों में युगानुरूप स्वाभाविक विकास है, बोधि पक्षीय धर्मों के महत्त्व को अच्छी प्रकार समझा गया है। दिव्यावदान में बोधि पक्षीय धर्मों को भगवान् बुद्ध के अन्तिम उपदेश और आदेश बताया गया है[३]। सद्धर्म पुण्डरीक में ३७ बोधि पक्षीय धर्मों का उल्लेख

---

(१) देखिये पधानिय-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय ६।१।२।७)
(२) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)
(३) पृष्ठ २०७-२०८

है[1]। इसी प्रकार प्रज्ञा पारमिता शतसाहस्रिका[2], प्रज्ञा पारमिता अष्ट साहस्रिका[3], समाधिराज[4] और धर्म-संग्रह[5] में, जो सब महायान बौद्ध धर्म के ग्रन्थ हैं, बोधि पक्षीय धर्मों का विवरण किया गया है। फिर भी डा० हरदयाल के इस मत से हम सहमत नहीं हो सकते कि चूंकि 'बोधि पक्षीय' शब्द में 'बोधि' शब्द का प्रयोग है न कि निर्वाण का (निर्वाण के लिये प्रायः बोधि शब्द का प्रयोग महायान बौद्ध धर्म की एक विशेषता है) इसलिये 'बोधि पक्षीय' शब्द की उत्पत्ति महायान के पूर्वगामी बौद्ध संस्कृत साहित्य में हुई[6]। बोधि या 'सम्यक् सम्बोधि' (सम्मा सम्बोधि) शब्द उतना ही स्थविरवाद बौद्ध धर्म का है जितना महायान का, जिसका उसने बाद में चलकर कुछ अधिक प्रयोग किया। हमारी निश्चित धारणा है कि 'बोधि पक्षीय धर्म' शब्द स्वयं भगवान् बुद्ध के मुख से निःसृत हुआ था और उन्हीं से उनके सब शिष्यों ने, चाहे वे तथोक्त स्थविरवादी हों, या महायानी, लिया है। हाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से उसका सर्वप्रथम प्रयोग तो पालि-त्रिपिटक में ही हुआ है, ऐसा ही मानना पड़ेगा। बोधि पक्षीय धर्मों का उपदेश भगवान् बुद्ध का मूल उपदेश था और स्थविर-वादियों के नैतिक दर्शन के समान वह सम्पूर्ण बौद्ध साधना का आधार है। अब हम बोधि पक्षीय धर्मों के संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन पर आते हैं—

बोधि पक्षीय धर्मों का संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन— चार स्मृति प्रस्थान

चार स्मृति-प्रस्थान, जिनका उपदेश भगवान् बुद्ध ने दिया है, ये हैं (१) काया में कायानुपश्यना, (२) वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, (३) चित्त में चित्तानुपश्यना और (४) धर्मों में धर्मानुपश्यना। 'स्मृति' शब्द बौद्ध साधना में अत्यन्त व्यापक है। साधारणतः 'स्मृति' (पालि सति) शब्द का अर्थ है स्मरण या यादगारी। स्मरण किसका? यादगारी किसकी? अपनी काया और मन से किये जाने वाले प्रत्येक कर्म की। जानते

(१) पृष्ठ ४५८
(२) पृष्ठ १४२७
(३) पृष्ठ १९४
(४) पृष्ठ १९३
(५) खण्ड ४३
(६) दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ८१

हुए, ज्ञान पूर्वक, प्रत्येक कर्म को करना, यही स्मृति है। मानसिक सावधानी का यह दूसरा नाम है। अपने मौलिक रूप में 'स्मृ' धातु का अर्थ गम्भीर चिन्तन था। बौद्ध प्रयोग में यह अर्थ सम्पूर्ण रूप से समाविष्ट है। 'स्मृति' का सतत अभ्यास भगवान् बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व किया था। अनेक बार उन्होंने कहा है, "मैंने न दबने वाला वीर्य आरम्भ किया था। उस समय मेरी स्मृति अमुषित और जागृत थी।[१]" वस्तुतः 'अमुषितस्मृति' भगवान् बुद्ध का एक उपपद ही है। जहां कहीं साधक भिक्षु का वर्णन आया है, वहां अनिवार्य रूप से यह कहा गया है, "यहां एक भिक्षु भोजन के बाद, भिक्षा से निबटकर, आसन मार कर, शरीर को सीधा रख, स्मृति को सामने उपस्थित कर ध्यान करता है[२]।" राहुल को उपदेश देते हुए भगवान् ने स्मृति के अभ्यास पर बड़ा जोर दिया है[३]। इसी प्रकार अन्तिम बार जब आनन्द ने भगवान् से पूछा कि स्त्रियों के दर्शन होने पर हम क्या करेंगे, तो भगवान् ने यही कहा था, 'सति आनन्द उपट्ठापेतब्बा',[४] अर्थात् आनन्द! स्मृति को उपस्थित बनाये रखना। जितनी भी दुष्ट इच्छाएँ हैं, उनको जीतने का उपाय 'स्मृति' है। वह मार को परास्त करने का अमोघ अस्त्र है। मिथ्या मतवाद रूपी जितने झरने इस लोक में बहते हैं उनसे वह साधक को बचाती है। भगवान् ने कहा है, "लोक में जितने झरने प्रवाहित हो रहे हैं, स्मृति उनका निवारण है[५]।" हम पहले देख चुके हैं कि अपने काल में प्रचलित नाना मिथ्या दार्शनिक दृष्टियों से बचाकर साधकों के सामने एक अविवाद मध्यम-मार्ग को रखना तथागत का एक उद्देश्य था। चार स्मृति-प्रस्थान भी ऐसी ही एक मध्यमा प्रतिपदा थी

(१) बोधिराजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५); महाहत्थिपदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।८); महासच्चक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।६); वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर) आदि।

(२) महा सतिपट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)

(३) देखिये महाराहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।२); अम्बलट्ठिक-राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।१); राहुल-सुत्त (सुत्त-निपात)।

(४) महा परिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

(५) यानि सोतानि लोकस्मि सति तेसं निवारणं। अजित माणव-पुच्छा (सुत्त-निपात—पारायणवग्गो)

जिसका उपदेश भगवान् ने पूर्वान्त और अपरान्त दृष्टियों के अतिक्रमण के लिये दिया था। उन्होंने स्वयं कहा है, "पूर्वान्त (जीव और लोक के आदि सम्बन्धी) और अपरान्त (जीव और लोक के अन्त सम्बन्धी) दृष्टियों के दूर करने के लिये, अतिक्रमण करने के लिये, मैंने चार स्मृति प्रस्थानों का उपदेश दिया है[१]।" वस्तुतः मध्यम-मार्ग का विचार भगवान् बुद्ध के शासन का आधार-भूत विचार है और न केवल मध्यमा प्रतिपदा रूपी आर्य अष्टांगिक मार्ग के ही स्वरूप का बल्कि प्रतीत्य समुत्पाद और बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद के स्वरूप का भी सम्यक् अवधारण हम उनके उपदेश के मध्यम-मार्गी रूप को समझे बिना नहीं कर सकते। स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश भी अभ्यास के लिये है, आत्मा और लोक के आदि और अन्त सम्बन्धी प्रश्नों का निबटारा करने के लिये नहीं। भगवान् अपने उपदेश की प्रक्रिया में पहले साधक भिक्षु को भोजन की मात्रा का उपदेश देते थे, फिर जागरण में तत्पर रहने का और उसके बाद 'स्मृति' के अभ्यास का[२]। आनापान सति (प्राणायाम के साथ स्मृति) चार स्मृति-प्रस्थान, सात बोध्यंग और विमुक्ति को वे निर्वाण-साधना की क्रमिक अवस्थाएँ मानते थे। उनका कहना था कि आनापानसति चार स्मृति-प्रस्थानों को पूर्ण करती है और चार स्मृति-प्रस्थान सात बोध्यंगों को। इसी प्रकार सात बोध्यंग विद्या और विमुक्ति को पूर्ण करते हैं[३]।

'स्मृति शब्द के साथ-साथ 'सम्प्रजन्य' शब्द का भी प्रयोग पालि साहित्य में अक्सर दृष्टिगोचर होता है। भिक्षु के लक्षणों के सम्बन्ध में अक्सर कहा गया है कि उसे स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होना चाहिये। 'सतो सम्पजानो' (स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त) साधक भिक्षु का एक बड़ा लक्षण है[४]। 'सतीमा' (स्मृतिमान्) भिक्षु पर मार कभी अपना वार नहीं कर सकता। 'अध्यात्मचिन्तक स्मृतिमान् भिक्षु इस दुस्तर भव-बाढ़ को तर जाता है'।

---

(१) पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६)
(२) गणकमोग्गल्लान-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।७)
(३) आनापान सति सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।८)
(४) जागरो चस्स भिक्खवे भिक्खु विहरेय्य सतो सम्पजानो समाहितो (भिक्षुओ! भिक्षु को चाहिये कि वह जागरूक, स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त तथा समाहित-चित्त होकर विहरे) जागरिय-सुत्त (इतिवुत्तक २।२।१०)

'अज्भत्तचिन्ती सतिमा ओघं तरति दुत्तरं'[१]। इसके विपरीत जिसकी स्मृति नष्ट हो गई है, जिसे अपनी शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के सम्बन्ध में जानकारी नहीं है, जागरूकता नहीं है, वह नष्ट हो जाता है। पतित भिक्षु का जहाँ कहीं वर्णन आया है, उसकी स्मृति को नष्ट अवश्य दिखाया गया है। उसका लेटना, उठना, बैठना सब स्मृति-विहीन होता है जैसे कि साधक-भिक्षु का स्मृति-युक्त। भगवान् बुद्ध के पतित शिष्य देवदत्त का सुधि विहीन अवस्था में सो जाने का वर्णन किया गया है[२]। स्मृति के समान 'सम्प्रजन्य' शब्द का भी यही अर्थ है कि साधक को अपने प्रत्येक कर्म के विषय में ज्ञानवान् होना चाहिये। सोते, जागते, उठते, बैठते, बोलते, चुप रहते, प्रत्येक अवस्था में उसे जागरूक रहना चाहिये कि वह क्या कर रहा है। प्रत्येक साँस के लेने और छोड़ने की अवस्था में 'स्मृति' का अभ्यास करना चाहिये। यही आनापान-सति है, अर्थात् प्रत्येक आश्वास (साँस लेना) और प्रश्वास (साँस छोड़ना) के साथ स्मृति की भावना। 'साँसों साँसा नाम जप' की जो बात सन्तों ने नाम के सम्बन्ध में कही है, वही भगवान् बुद्ध ने चार स्मृति-प्रस्थानों के सम्बन्ध में कही थी। जब प्रत्येक साँस के आने-जाने के साथ स्मृति की भावना चलती है तो मनुष्य की अन्तिम सांस जब छूटती है तो वह भी विदित होकर ही लय होती है, बिना विदित हुए नहीं, ऐसा भगवान् का कहना है[३]। स्मृति और सम्प्रजन्य के द्वारा मनुष्य शारीरिक और मानसिक व्याधाओं और पीड़ाओं पर भी विजय पाता है। भगवान् बुद्ध को अनेक बार हम शारीरिक पीड़ाओं को स्मृति और सम्प्रजन्य के द्वारा सहन करते देखते हैं। भगवान् बुद्ध के पैर में देवदत्त ने एक पत्थर फेंक कर मारा था जिससे उसमें काफी चोट आ गई थी। भगवान् इस दुःख को स्मृति-सम्प्रजन्य पूर्वक सहते थे[४]। वृद्धावस्था के दुःख को, जब कि तथागत का शरीर किसी प्रकार बांध-बूंध कर चल रहा था, भगवान स्मृति और स्मृतिजन्य पूर्वक विहार करते हुए उसे सहते थे[५]। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन जैसे शिष्यों

(१) हेमवत-सुत्त (सुत्त-निपात)
(२) देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग (संघ-भेदक-खन्ध)
(३) महाराहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।२)
(४) देखिये सकलिक-सुत्त (संयुत्त-निकाय)
(५) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

के चले जाने के दु:ख को सहने के लिये शास्ता के पास स्मृति और सम्प्रजन्य ही दो साधन थे[१] और उनके वियोग से दु:खी भिक्षुओं के लिये भी उनके पास इससे अधिक और कुछ कहने को नहीं था, "भिक्षुओ ! वह कहाँ से मिले जो चला जानेवाला है । सब संस्कार अनित्य हैं । इसलिये भिक्षुओ, आत्म-दीप होकर, स्मृति और सम्प्रजन्य के साथ विहरो[२]" । स्मृति और सम्प्रजन्य का अभ्यास तथागत की प्रत्येक शारीरिक और मानसिक क्रिया में समाया हुआ था । उनका उठना, बैठना, सोना, लेटना सब स्मृति-पूर्वक होता था । उन जैसा जागरूक पुरुष विश्व ने दूसरा नहीं देखा है ।

बौद्ध योग-साधना में चार स्मृति-प्रस्थानों का जितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसपर अधिक जोर नहीं दिया जा सकता । स्वयं बोधि पक्षीय धर्मों के वर्गीकरण में स्मृति की गणना चार बार की गई है। आर्य अष्टांगिक मार्ग में उसका स्थान सातवाँ है । सात बोध्यंगों में वह प्रथम है । इसी प्रकार पाँच बलों में वह तीसरा बल है और पाँच इन्द्रियों में तीसरी इन्द्रिय है । तृतीय और चतुर्थ ध्यान में भी वह विद्यमान रहती है । पाँच प्रकार के संयम (संवर) में भी उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान है । पाँच प्रकार के संयम हैं, प्रातिमोक्ष-संयम, स्मृति-संयम, ज्ञान-संयम, क्षान्ति-संयम और वीर्य-संयम । स्मृति-संयम की परिभाषा करते हुए कहा गया है "(भिक्षु) चक्षु-इन्द्रिय की रक्षा करता है, चक्षु-इन्द्रिय में संयम को प्राप्त करता है, यह है स्मृति-संयम ।"[३] वस्तुतः चार आर्य सत्य, आर्य अष्टांगिक मार्ग, सप्त बोध्यंग, चार ध्यान, अनात्मवाद, सबको स्मृति अपने गर्भ में छिपाये हुए है ।

'स्मृति-प्रस्थान' (पालि सति-पट्ठान) शब्द का अर्थ है स्मृति का प्रस्थान या उदय[४] । स्मृति की भावना चार क्षेत्रों में की जाती है, यथा काया, वेदना,

(१,२) देखिये उक्काचेल-सुत्त (संयुत्त-निकाय)

(३) 'रक्खति चक्खुन्द्रियं, चक्खुन्द्रिये संवरं आपज्जतीति', अयं सति-संवरो । विसुद्धि मग्ग १।१८

(४) सति-पट्ठान का ठीक संस्कृत रूपान्तर स्मृति-प्रस्थान ही है । परन्तु महायानी बौद्ध संस्कृत साहित्य में इसे 'स्मृत्युपस्थान' कहा गया है, जो व्याकरण की दृष्टि से गलत नहीं है, जैसा भ्रमवश डा० हरदयाल ने उसे सोचा है । डा० हरदयाल ने उसे 'दुर्भाग्यपूर्ण गलती' कहा है । उनके मत के लिये देखिये उनका ग्रन्थ 'दि बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट

चित्त और (बाह्य और आन्तरिक) धर्मों में। यही क्रमशः कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ये चार स्मृति-प्रस्थान नाना मिथ्या दृष्टियों के अतिक्रमण के लिये हैं। भगवान् ने इन चार स्मृति-प्रस्थानों को भावना करने योग्य धर्म बताया है[1]। इनकी भावना से अमृत की प्राप्ति होती है, ऐसा उन्होंने कहा है[2]। चूंकि इन स्मृति-प्रस्थानों का अभ्यास गहरी मानसिक शिक्षा की अपेक्षा रखता है, अतः गृही लोग कभी ही कभी इनका अभ्यास कर सकते हैं[3], जब कि बुद्ध-स्मृति, धर्म-स्मृति और संघ-स्मृति के रूप में स्मृति का अभ्यास वे भी प्रत्येक समय कर सकते हैं[4]। चार स्मृति-प्रस्थानों की प्रशंसा में भगवान् ने इतना कहा है जितना सम्भवतः उन्होंने अन्य किसी साधन के सम्बन्ध में नहीं कहा। उन्होंने स्मृति के इन प्रस्थानों को प्राणियों की विशुद्धि के लिये, शोक तथा कष्ट के उपशमन के लिये, दुःख के विनाश के लिये और ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति के लिये एक मात्र मार्ग माना है। "भिक्षुओ! ये जो चार स्मृति-प्रस्थान हैं, वे प्राणियों की विशुद्धि के लिये, शोक तथा कष्ट के उपशमन के लिये, दुःख तथा दौर्मनस्य के नाश के लिये, ज्ञान की प्राप्ति के लिये, निर्वाण के साक्षात्कार के लिये एकायन मार्ग हैं[5]।" चूंकि तथागत प्रयोजनवादी थे, इसीलिये

संस्कृत लिटरेचर' पृष्ठ ८५। संस्कृत 'स्मृत्युपस्थान' का पालि रूपान्तर 'सति-पट्ठान' ही होगा, जैसा कि—'स्मृति-प्रस्थान' का भी। यहां पालि के सन्धि-सम्बन्धी नियमों की विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

(१) देखिये दसुत्तर-सुत्त (दीघ० ३।११)

(२) देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ १८१-१८२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) देखिये कन्दरक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।१)

(४) देखिये महानाम-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय ११।२।२)

(५) एकायनं अयं भिक्खवे मग्गो सत्तानं विसुद्धिया सोकपरिद्दवानं समतिक्कमाय दुक्खदोमनस्सानं अत्थंगमाय ञाणस्स अधिगमाय निब्बाणस्स सच्छिकिरियाय यदिदं चत्तारो सति पट्ठाना'ति। महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।२२); सति पट्ठान-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।१०); कन्दरक-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।१); देखिये मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४५३ भी (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

उन्होंने चार स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश साधकों के कल्याणार्थ दिया है। भिक्षुओं की तो ये चार स्मृति-प्रस्थान बपौती जमीन ही हैं। सब बौद्ध साधकों के लिये यह उनके बाप की छोड़ी हुई जमीन है, जिसपर वे निर्भय होकर विहर सकते हैं। भगवान् ने यह आश्वासन स्वयं दिया है, "भिक्षुओ! भिक्षु की स्वकीय पैतृक भूमि क्या है? यही जो कि चार स्मृति-प्रस्थान[1]।" जब तक इस अपनी भूमि पर बिचरेंगे, अपने पिता के द्वारा छोड़ी हुई भूमि पर रहेंगे, बुद्ध-पुत्रों के लिये कोई भय नहीं है। यह तो उनकी अपनी गोचर-भूमि है। पर जहाँ मार्ग भ्रष्ट मृगों की तरह[2] या लोभी हिमालय-वासी बन्दरों की तरह[3], जिन दोनों की उपमाएँ भगवान् बुद्ध ने दी थीं, भिक्षुओं ने अपनी गोचर-भूमि को छोड़ा और दूसरी ओर (काम-भोगों की ओर) पग बढ़ाया तो उनका बन्धन निश्चित है। पर वे ऐसा क्यों करने लगे?

अब हम पालि निकायों के आधार पर चार स्मृति-प्रस्थानों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे। पहले कायानुपश्यना को लें। 'भिक्षुओ! भिक्षु कैसे काया में कायानुपश्यी हो कर विहरता है? भिक्षुओ, भिक्षु अरण्य में, वृक्ष के नीचे, एकान्त घर में, आसन मारकर, शरीर को सीधा कर, स्मृति को सामने कर बैठता है। वह जानते हुए साँस लेता है, जानता हुआ साँस छोड़ता है, लम्बी साँस लेते हुए वह अनुभव करता है कि लम्बी साँस ले रहा हूँ। लम्बी साँस छोड़ते हुए अनुभव करता है कि लम्बी साँस छोड़ रहा हूँ......सारी काया को अनुभव करते हुए साँस लेना सीखता है। सारी काया को अनुभव करते हुए साँस छोड़ना सीखता है। काया के संस्कार को शान्त करते हुए साँस लेना सीखता है, काया के संस्कार को शान्त करते हुए साँस छोड़ना सीखता है। इस प्रकार अपनी काया में कायानुपश्यी होकर विहरता है। अपनी और

---

(१) को च भिक्खुनो भिक्खवे गोचरो सको पेत्तियो विसयो? यदिदं चत्तारो सति पट्ठाना' ति। संयुत्त-निकाय।

(२) कुछ मृग चारे के लोभ से अपनी स्वकीय पैतृक चरागाह को छोड़कर अन्यत्र चले गये जहाँ वे बन्धन में पड़ गये। चार स्मृति-प्रस्थान भिक्षुओं की अपनी चरागाह हैं जिसे छोड़ने पर बन्धन मिलेगा, यह एक जातक की कथा का सारांश है।

(३) अपने स्वकीय क्षेत्र को छोड़कर संकट में पड़नेवाले हिमालयवासी बन्दरों की सुन्दर उपमा भगवान् ने दी थी।

दूसरों की काया में कायानुपश्यी हो विहरता है। काया में उत्पत्ति-धर्म को देखता विहरता है। काया में विनाश-धर्म को देखता विहरता है। काया में उत्पत्ति-विनाश को देखता विहरता है। 'काया है' करके उसकी स्मृति, ज्ञान और प्रतिस्मृति की प्राप्ति के अर्थ उपस्थित रहती है वह अनाश्रित हो विहरता है, लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' और 'मेरा' करके वह ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! इस प्रकार भिक्षु काया में कायानुपश्यी होकर विहार करता है[१]।' इसी प्रकार जिस-जिस अवस्था में शरीर हो उसका उसी-उसी प्रकार प्रत्यवेक्षण करना और साथ ही 'नित्य दोषानुदर्शन' करना भी, काया में कायानुपश्यना करने के लिए, तथागत का उपदेश है। उन्हीं के मार्मिक शब्दों में 'भिक्षुओ! भिक्षु पैर के तलवे से ऊपर, केश मस्तक से नीचे त्वचा से घिरे हुए इस काया को नाना प्रकार की गन्दगी से पूर्ण देखता है। इस काया में हैं केश, रोम, नख, दाँत, चमड़ी, मांस, स्नायु, मज्जा.... पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मूत्र। भिक्षुओ! जैसे दोनों ओर मुंह वाली एक बोरी हो और वह नाना प्रकार के अनाज, धान, मूंग, उड़द, तिल, तण्डुल आदि से भरी हो, उसे आँख वाला आदमी खोल कर देखे—यह धान है, यह मूंग है, यह उड़द है, यह तिल है, यह तण्डुल है। इसी प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु पैर के तलवे से ऊपर, केश मस्तक के नीचे, त्वचा से घिरे हुए, इस काया को नाना प्रकार की गन्दगी से पूर्ण देखता है[२]।' फिर काया को इसकी स्थिति के अनुसार इसके स्वभाव के अनुसार, देखना भी स्मृति-प्रस्थान है। चौदह प्रकार से इस स्मृति का वर्णन दीघ-निकाय के महासत्ति पट्ठान सुत्त में विस्तार से किया गया है। श्मशान-योग का भी वर्णन इस सुत्त में काया-नुपश्यना के रूप में किया गया है। साधक श्मशान में जाकर लाशों को देखता है और उनकी दुरवस्था को अपने शरीर पर घटाता है[३]। काया में कायानु-पश्यना वास्तव में अनात्मवाद का ही एक व्यावहारिक और साधनामय स्वरूप है। जिसने इसे साधा है वह 'लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' या 'मेरा' करके ग्रहण नहीं करता। भिक्षुओ! भिक्षु इस प्रकार भी काया में कायानुपश्यी हो विहार करता है'[४]। भगवान् ने कहा है कि जिसने कायानु-

(१) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(२) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(३) मिलाइये बोधिचर्यावतार ८। ३०-३२
(४) महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)

स्मृति का अभ्यास किया है उसे अपूर्व प्रकृति विजय लाभ होता है जिसका उन्होंने 'दस लाभों' के रूप में वर्णन किया है।[१] । कायानुपश्यना ही कायगता स्मृति (कायगता सति) कहलाती है । इसमें शरीर की ३२ गन्दगियों पर मनन किया जाता है । मज्झिम-निकाय के कायगता सति सुत्तन्त में इसका विस्तृत वर्णन है एवं खुद्दक-पाठ के 'द्वत्तिसाकार' में संक्षिप्त उल्लेख । सुत्त-निपात के विजय-सुत्त में भी शरीर की अनित्यता के सम्बन्ध में विचार है। काया के अशुभ, गन्दे स्वरूप के मनन के द्वारा राग-शान्ति का प्रयत्न करना बौद्ध साधना का एक आवश्यक अंग था । इसी को अशुभ-भावना भी कहा गया है । भगवान् ने राहुल को उपदेश देते हुए कहा है, "राहुल ! तू अशुभ की भावना कर । जो तेरा राग है, वह चला जायगा[२] ।' भगवान् ने नन्दा नामक भिक्षुणी को भी उपदेश देते हुए कहा था, 'असुभाय चित्तं भावेहि'[३] अर्थात् 'तू अशुभ की अपने चित्त से भावना कर।' धर्मसेनापति सारि-पुत्र ने अपने एक साथी भिक्षु को, जो राग-विद्ध हो गया था, इसी प्रकार का उपदेश दिया था ।'उदान' में भगवान् अपने शिष्यों मौद्गल्यायन और कात्या-यन को कायगता स्मृति-परायण देखकर प्रसन्न उद्‌गार करते दिखाये गये हैं। अभय माता ने अशुभ भावना के द्वारा अपनी निर्वाण-प्राप्ति की सूचना दी है[४] । विसुद्धि मग्ग में एक भिक्षु की अशुभ भावना का एक सुन्दर उदाहरण दिया गया है, जो बड़ा प्रभावशाली है[५] । भगवान् ने कहा था कि कायगता स्मृति करनेवाले भिक्षु को चार ध्यानों की प्राप्ति होती है और वह मार को अवसर नहीं देता । भगवान् ने कहा है कि काय-गता-स्मृति करने वाले भिक्षु को इतना सुख मिलता है कि 'उसके शरीर का कोई भाग विवेकज प्रीति-सुख से अव्याप्त नहीं रहता[६] ।" जैसे पातालतोड़ कुएँ में अजस्र जल की धार निकलती है वैसे ही आनन्द का अजस्र स्रोत साधक के हृदय में फूट पड़ता है, जिसकी शीतलता से उसके शरीर का कोई भाग

(१) कायगतासति सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।९)
(२) महाराहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।२)
(३) थेरीगाथा, गाथा १९, देखिये गाथा ८२ भी ।
(४) थेरी गाथा, गाथाएँ ३३-३४
(५) देखिये विसुद्धि मग्ग १।५५
(६) कायगता सति-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।९); महासकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७)

अछूता नहीं रहता[१]। जैसा कबीर साहब ने कहा था 'रस गगन गुफा तें अजर झरै' वैसी ही हालत कायगता-स्मृति करनेवाले भिक्षु की हो जाती है— 'अमर होइ कबहूँ न मरै'। स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा है, "भिक्षुओ! जो कायगता सति का उपभोग नहीं करते, वे अमृत का उपभोग नहीं करते; जो कायगता सति का उपभोग करते हैं, वे अमृत का उपभोग करते हैं।"[२] 'भिक्षुओ! भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो कैसे विहरता है?' 'भिक्षुओ! भिक्षु सुख-वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि सुख-वेदना अनुभव कर रहा हूँ। दुःख-वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि दुःख वेदना अनुभव कर रहा हूँ। अ-दुःख असुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि अ-दुःख असुख वेदना को अनुभव कर रहा हूँ। भोग पदार्थ युक्त सुख वेदना को अनुभव करते हुए जानता है कि भोग-पदार्थ युक्त सुख वेदना को अनुभव कर रहा हूँ...........भीतर बाहर की वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहरता है। वेदनाओं में उत्पत्ति धर्म को देखता है। वेदनाओं में विनाश धर्म को देखता है। वेदनाओं में समुदय-विनाश धर्म को देखता है।....वह अनाश्रित हो विहरता है। लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' और 'मेरा' करके ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहरता है[३]। 'भिक्षुओ! भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी हो कैसे विहरता है?' 'भिक्षुओ! भिक्षु स-राग चित्त को जानता है कि यह स-राग चित्त है। राग-रहित चित्त को जानता है कि यह राग-रहित है। स-द्वेष चित्त को जानता है कि यह सद्वेष चित्त है। द्वेष रहित चित्त को जानता है कि यह द्वेष रहित है...........इस प्रकार भीतरी चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है। बाहरी चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है। भीतर बाहर चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है। चित्त में उत्पत्ति-धर्म को देखता है। चित्त में विनाश धर्म को देखता है। लोक में किसी भी वस्तु को 'मैं' और 'मेरा' करके ग्रहण नहीं करता। इस प्रकार भिक्षुओ! भिक्षु चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है[४]'

---

(१) कायगता सति-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।९); महासकुलुदायि सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७)

(२) मिलाइये सौन्दरनन्द १४।४२

(३) महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९)

(४) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ निकाय २।९) ही।

'भिक्षुओ ! भिक्षु धर्मों (मन के विषयों) में धर्मानुपश्यी हो कैसे विहरता है ?' 'भिक्षुओ ! भिक्षु पाँच नीवरणों[1] को देखता हुआ धर्मों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है।' 'और फिर भिक्षुओ ! भिक्षु पांच उपादान स्कन्धों[2] में धर्मानुपश्यी हो विहरता है'। इसी प्रकार छः आन्तरिक और बाहरी आयतनों में[3], सात बोध्यंगों में और चार आर्य सत्यों में सम्यक् अनुपश्यना करना धर्मों में धर्मानुपश्यना करना है। इनका नैतिक फल यहीं मिलता है, ऐसी भगवान् की गवाही है। 'भिक्षुओ ! जो कोई भिक्षु इन चार स्मृति-उपस्थानों की सात वर्ष तक भावना करे, उसे दो फलों में से एक फल की प्राप्ति अवश्य होगी—इसी जन्म में अर्हत्त्व, या उपादान अवशिष्ट रहने पर अनागामी भाव। भिक्षुओ ! सात वर्ष रहने दो......छः वर्ष, पांच वर्ष चार वर्ष...........सप्ताह भर भी भावना करे तो उसे दो फलों में से एक फल अवश्य प्राप्त होगा—इसी जन्म में अर्हत्त्व या उपादान अवशिष्ट रहने पर अनागामी फल।' इस प्रकार हमने देखा कि काया, चित्त, वेदनाओं और धर्मों पर विचार करने का जो मार्ग उपर्युक्त स्मृति-प्रस्थानों में प्रख्यापित किया गया है, उसमें अनात्मवाद की अनुभूति कूट कूट कर भरी हुई पड़ी है, जो सम्पूर्ण बुद्ध-शासन की तात्त्विक प्रतिष्ठा है। पहले हम भगवान् बुद्ध के वचन का उद्धरण देकर दिखा चुके हैं कि चार स्मृति-प्रस्थान सब बुद्ध-पुत्रों की सामान्य बपौती जमीन हैं। क्या इन ढाई हजार वर्ष के बौद्ध साधक-साधिकाओं ने इसे इस रूप में समझा है ? क्या स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के अन्य रूपों को मानने वालों ने भी इसमें अपना भाग पाया है, यह जानना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। यद्यपि यहाँ हमारा उद्देश्य स्थविरवादी तत्त्वदर्शन और साधना-मार्ग का विवरण उपस्थित करना ही है, परन्तु अपने क्षेत्र का कुछ अतिक्रमण कर हमें यहाँ यह दिखाने की लालसा है कि सब युगों के बौद्ध साधकों और विचारकों ने, चाहे वे जिस दार्शनिक सम्प्रदाय के हों, स्मृति की भावना के अपने बपौती अधिकार को समझा है और उसका अभ्यास किया है। यहाँ हम महायान बौद्ध धर्म में स्मृति के स्वरूप और महत्त्व को लेकर कुछ कहना चाहेंगे।

---

(१) यथा कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा।
(२) यथा रूप-उपादान-स्कन्ध, वेदना-उपादान-स्कन्ध, संज्ञा-उपादान-स्कन्ध, संस्कार-उपादान-स्कन्ध और विज्ञान-उपादान-स्कन्ध।
(३) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ निकाय २।९) ही।

'ललित विस्तर' में कहा गया है कि स्मृति संसार रूपी वृक्ष की जड़ काट डालने के लिये कुल्हाड़ी के समान है। शान्ति देव ने अपने अमर दार्शनिक काव्य 'बोधिचर्यावतार' के पाँचवें परिच्छेद में स्मृति का उपदेश देते हुए कहा है, "जो अपने मन की रक्षा करना चाहते हैं, उनसे मेरा कहना है 'स्मृति और सम्प्रजन्य की सावधानी से रक्षा करो। मन के द्वार से स्मृति को कभी मत हटने दो। पापी इच्छाएँ चोरों के समान हैं, जो दरवाजे के अन्दर घुस आना चाहती हैं[1]।" अतः शान्तिदेव ने स्मृति को चित्त रूपी द्वार का पहरेदार बताया है जो बुरी इच्छाओं रूपी चोरों को अन्दर नहीं घुसने देती। परन्तु स्मृति की प्रशंसा में सब से अधिक तो आर्य अश्वघोष ने ही कहा है, जिनके शब्दों को बिना उद्धृत किये हम यहाँ नहीं रह सकते। नन्द को उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं—

"स्मृति को स्थिर करके तुम्हें स्वभाव से चंचल इन्द्रियों को विषयों से हटाना चाहिये[2]।"

"स्मृति रूपी किवाड़ से इन्द्रिय रूपी बाँध को बन्द करके ध्यान और आरोग्य के लिये भोजन की मात्रा को जानो[3]।"

"बैठे, चलते, खड़े होते, देखते, बोलते और ऐसे ही दूसरे कार्य करते समय, अपने सभी कार्यों को अच्छी तरह जानते हुए अपनी स्मृति को स्थिर रक्खो।"

"द्वार पर नियुक्त द्वाराध्यक्ष के समान जिसकी स्मृति स्थिर है, उसके ऊपर दोषों का आक्रमण नहीं होता, जिस प्रकार रक्षित नगर पर शत्रुओं का आक्रमण नहीं होता।"

"स्मृति सभी अवस्थाओं में साधक के चित्त की इस प्रकार रक्षा करती है जैसे धाई बालक की। जिस मनुष्य ने कायगता स्मृति का अभ्यास किया है, उसे कोई क्लेश नहीं हो सकता।"

"दोषों का लक्ष्य वही आदमी होता है जो स्मृति रूपी कवच से हीन है, जैसे प्रतिपक्षी शत्रुओं का लक्ष्य वही योद्धा होता है जो कवच से रहित है।"

"स्मृति द्वारा अरक्षित चित्त को वैसे ही अनाथ समझना चाहिये जैसे

---

(१) बोधिचर्यावतार ५।१-५, २३-२९

(२) सौन्दरनन्द १३।३०

(३) सौन्दरनन्द १४।१

पथप्रदर्शक के बिना विषम स्थलों पर चलनेवाला अन्धा मनुष्य असहाय होता है।

"लोग अनर्थों में आसक्त होते हैं, अपने वास्तविक हित से विमुख रहते हैं और भय के रहते विराग प्राप्त नहीं करते, इसका कारण है स्मृति-विनाश।"

"स्मृति अपने-अपने क्षेत्र में रहनेवाले शील आदि सभी सद्‌गुणों का अनुसरण करती है, जैसे कि गोप बिखरी हुई गायों का पीछा करता है।"

"जिसकी स्मृति नष्ट हो गई है, उसका अमृत नष्ट हो गया। जिसकी कायगता स्मृति उपस्थित है, उसके हाथ में अमृत है।

"जिसके पास स्मृति नहीं है, उसे आर्य सत्य कहाँ से प्राप्त होगा ! और जिसके पास आर्य सत्य नहीं है, उसका सन्मार्ग नष्ट हो गया।

"जिसका सन्मार्ग नष्ट हो गया, उसका अमृत पद नष्ट हो गया। जिसका अमृत पद नष्ट हो गया, वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।"

"इसलिये चलते हुए 'चल रहा हूँ', खड़े होते 'खड़ा हो रहा हूँ' एवं इसी प्रकार दूसरे कार्य करते समय अपनी स्मृति बनाये रक्खो[१]।"

अन्य बौद्ध संस्कृत साहित्य में चार स्मृति-प्रस्थानों के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है[२] और वह तत्त्वतः स्थविरवादी दृष्टि से भिन्न नहीं है।

भारत ही नहीं, विश्व के ध्यानी साहित्य में स्मृति-प्रस्थानों की भावना के समान गम्भीर और उदात्त वस्तु दूसरी नहीं मिल सकती। 'स्मृति' शब्द का इतना व्यापक अर्थ कहीं नहीं लिया गया है। भगवान् पतंजलि ने श्रद्धा, वीर्य, समाधि और प्रज्ञा के साथ (जो स्मृति के साथ मिलकर बौद्ध साधना की पाँच इन्द्रियां हैं[३]) स्मृति का उल्लेख तो अवश्य किया है[४], किन्तु उसे कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया है। गीताकार ने 'सम्मोह से स्मृति-विनाश और स्मृति-विनाश से बुद्धि का नाश[५]' ऐसा कह कर स्मृति के महत्त्व की ओर इंगित तो अवश्य किया है, किन्तु उसे विधानात्मक रूप से साधना के अंग के रूप में स्थान नहीं दिया है। यदि

(१) सौन्दरनन्द १४।३५-४५

(२) जिसके लिये देखिये, महाव्युत्पत्ति, पृष्ठ ७३; धर्मसंग्रह, पृष्ठ ९; महायान सूत्रालंकार, पृष्ठ १४०; शिक्षा समुच्चय, पृष्ठ २२८; दश-भूमिक सूत्र, पृष्ठ ३८

(३,४) देखिये आगे पांच इन्द्रियों का विवेचन।

(५) २।६३

हम बौद्ध अर्थ के साथ गीता के उपर्युक्त श्लोक को पढ़ें तो वह उसका वैसा सर्वोत्तम भाष्य होगा जैसा आज तक कोई आचार्य नहीं कर सका है। वैष्णवों के 'स्मरणं कीर्तनं विष्णोः' में स्मरण या स्मृति का अत्यन्त साधारण प्रयोग है और वह बौद्ध अर्थ की गम्भीरता को स्पर्श नहीं करता। स्मृति की गम्भीरता की कुछ कुछ झलक हम सन्तों के 'सुमिरन' में अवश्य पाते हैं। 'सुमिरन कर ले मेरे मना' जब कबीर साहब ने गाया था तो वे अज्ञात रूप से विस्मृत बौद्ध साधना को ही वाणी दे रहे थे। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि सन्तों का 'सुमिरन' विशेषतः नाम का है, उन्होंने 'हरि-सुमिरन' ही प्रायः किया है, जब कि बौद्ध साधना की स्मृति विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक है, वह बाहर और भीतर के जगत् के विश्लेषण के द्वारा इन्द्रियों को शमित करने का प्रयत्न है। दूसरे शब्दों में सन्तों का 'सुमिरन' प्रार्थनामय है, जब कि बौद्ध साधकों का ध्यानमय। किन्तु इस ध्यानमय अवस्था को भी सन्तों ने, जो भारत में बौद्ध साधना के अन्तिम उत्तराधिकारी थे, प्राप्त किया है, जब उन्होंने गाया है, 'या काया की कौन बड़ाई', 'हम को उढ़ावौ चदरिया', 'रहना नहिं देस बिराना है', 'मन रहना रे हुसियार एक दिन चुरवा आवेगा', आदि, आदि। 'साँसों साँसा नाम जाप' जो कबीर साहब ने कहा था, वह बौद्ध साधना की आनापान-सति का वैष्णव रूपान्तर ही था। फिर उन्हीं का उद्बोधन कि 'सुमिरन सों मन लाइये जैसे नाद कुरंग' तो बौद्ध साधना-पद्धति और सन्त साधना-पद्धति दोनों के लिये ही समान रूप से कहा जा सकता है। 'मन रे जागत रहिये भाई' यह कबीर साहब ने कहा था और 'भिक्षु जागरूक रह कर बिचरे, स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होकर' यह बुद्ध का आदेश था। जगते रहने में किसी का क्या विरोध हो सकता है? वेद के ऋषि ने भी कहा था कि जो जगता रहता है उसी को ऋचाएँ अपने स्वरूप को प्रकट करती हैं। उपनिषदें भी इसी की रट लगाती हुई कहती हैं 'उठो, जागो' 'उत्तिष्ठत जाग्रत' और यही भगवान् ने उट्ठान सुत्त में कहा था 'उट्ठहथ निसीदथ' 'उठो और बैठो', सोने से क्या लाभ? समर्थ रामदास जब अपने विवाह के अवसर पर 'सावधान' शब्द सुनकर उठ खड़े हुए थे और प्रव्रज्या की अवस्था में चले गये थे तो इसका एकमात्र कारण यही था कि अपने पूर्व जीवन में वे स्मृति का अभ्यास किये हुए थे। जगत् को स्वप्न या माया के रूप में देख कर शंकर ने अज्ञ 'जीव' को पुकारते हुए कहा था 'तस्मात् जाग्रथ, जाग्रथ' इसलिये 'जग जाओ, जग जाओ'। संसार रूपी रात्रि में यह जग जाना ही तुलसीदास ने

परमार्थ-वियोगी योगियों का लक्षण बताया है[1]। उन्होंने कहा है कि जब प्राणी को सब विषय-विलासों से विरति हो गई तो जानना चाहिये कि वह जग गया[2]। इस जगाने के लिये ही और न केवल जागने बल्कि क्षण-क्षण की जीवन-चर्या में जागरूक रहने के लिये ही तथागत ने स्मृति-प्रस्थानों का उपदेश दिया था जो सब काल के साधकों के सम्मिलित साक्ष्य से विशुद्धि का एक अद्वितीय मार्ग और चित्त-शुद्धि का अन्यतम साधन है।

अब हम चार 'सम्यक् प्रधानों' के विवरण पर आते हैं। बुद्ध-शासन में 'प्रधान' शब्द का अर्थ है निर्वाण-सम्बन्धी प्रयत्न, पुरुषार्थ, वीर्य-साधन।

चार सम्यक् प्रधान[3]

यह शब्द ही इस बात की सूचना देता है कि बुद्ध-शासन में अभ्यास ही सब कुछ है। यह शासन उद्योग के लिये है, साधना के लिये है, सिद्धान्तवाद या बौद्धिक आयास के लिये नहीं। तीव्र प्रयत्न या पुरुषार्थ की साधना से ही सत्य का अधिगम होता है। 'तीव्रैः प्रयत्नैरधिगम्य सत्यं'[4] यह बुद्ध के लिये कहा गया था। तीव्र प्रयत्न के द्वारा उन्होंने सत्य को प्राप्त किया था और तब ज्ञानमय दीपक बन कर वे विश्व के लिये चमके थे। जिस मार्ग के द्वारा उन्होंने सत्य को पाया था उसी मार्ग को वे दूसरों को भी सिखाते थे और वह था साधना का, तीव्र वीर्य-साधना का, मार्ग जिसे वे 'प्रधान' कहते थे। प्रयत्न से निर्वाण मिलता है, इसलिये वही 'प्रधान' है। भगवान् ने 'प्रधान' को सत्य प्राप्ति का 'बहुकारी धर्म' कहा था। इसका अर्थ यह था कि, "यदि कोई प्रधान करता है तो सत्य को प्राप्त करता है और यदि प्रधान नहीं करता तो सत्य को भी प्राप्त नहीं करता[5]।" इसी बात को दुहराते हुए भगवान् ने एक दूसरी जगह कहा था कि बिना प्रयत्न (प्रधान) किये मुक्ति साक्षात्कार नहीं

---

(१) यहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी—रामचरित मानस (अयोध्या काण्ड)

(२) जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा—उपर्युक्त के समान।

(३) चार सम्यक् प्रधानों के विवरण के लिये देखिये महा सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७) तथा संगीति परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)

(४) बुद्ध-चरित १।६९

(५) चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)

की जा सकती। अतः साधक को इन्द्रिय-द्वारों को सुरक्षित रखने का, भोजन में मात्रा जानने का, जागरूक रहने का और बोधि पक्षीय धर्मों के भावना रूपी 'प्रधान' में लग जाने का अभ्यास करना चाहिये[1]। अनुत्पन्न अकुशल धर्मों की अनुत्पत्ति के लिये रुचि उत्पन्न करना, परिश्रम करना, प्रयत्न करना, चित्त को निग्रह करना, यह प्रथम सम्यक् प्रधान है। जो अकुशल धर्म उत्पन्न हो गये हैं, उनके विनाश के लिये भी वैसा ही वीर्यारम्भ करना, यह द्वितीय सम्यक् प्रधान है। इसी प्रकार अनुत्पन्न कुशल धर्मों की प्राप्ति के लिये उत्तरोत्तर दृढ़ प्रयत्न करना तृतीय सम्यक् प्रधान और उत्पन्न कुशल धर्मों की स्थिति, अविनाश, वृद्धि और विपुलता के लिये उद्योग करना चतुर्थ सम्यक् प्रधान है। भिक्षुणी धम्मदिन्ना ने इन चार सम्यक् प्रधानों को 'समाधि के परिष्कार' कहा था[2]।

चार ऋद्धिपाद हैं, (१) छन्द समाधि-प्रधान संस्कार-युक्त ऋद्धिपाद की भावना, (२) वीर्य समाधि-प्रधान संस्कार-युक्त ऋद्धिपाद की भावना,

चार ऋद्धिपाद[3]

(३) चित्त समाधि-प्रधान संस्कार-युक्त ऋद्धिपाद की भावना और (४) विमर्शसमाधि प्रधान संस्कार-युक्त ऋद्धिपाद की भावना।

आध्यात्मिक विकास के पाँच मुख्य साधन श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा माने गये हैं। यही पाँच इन्द्रियां या जीवनी-शक्तियाँ कहलाती हैं।

पांच इन्द्रियां या आध्यात्मिक विकास की पांच मुख्य शक्तियां

बुद्ध-धर्म की नैतिक व्यवस्था में इन पाँच इन्द्रियों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। पहली इन्द्रिय श्रद्धा है। श्रद्धा का अर्थ है चित्त की प्रसादमयी अवस्था। चित्त के सम्प्रसाद का नाम ही श्रद्धा है, ऐसा श्रद्धा का लक्षण मिलिन्दपञ्ह में किया गया है[4]।

---

(१) पधानीय-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)
(२) चूलवेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४)
(३) इनके विवरण के लिये देखिये संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०); महा सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७); जनवसभ-सुत्त (दीघ० २।५)
(४) सम्पसादनलक्खणा सद्धा। मिलिन्द पञ्हो (लक्खणपञ्हो); मिलाइये सद्धा ओकप्पना अभिप्पसादो। धम्म संगणि, भाग १२; श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः (योग-सूत्र १।२० पर व्यास-भाष्य)।

श्रद्धा जब चित्त में उत्पन्न होती है तो प्रसन्नता और उत्साह को पैदा करती है। वह सारे चित्त को प्रीति और प्रामोद्य से भर देती है। उत्पन्न होते ही वह चित्त-मलों को नष्ट कर देती है। 'सद्धा उप्पज्जमाना नीवरणे विक्खम्भेति।' श्रद्धा में प्रतिष्ठित होकर साधक वीर्यारम्भ करने लगता है। अतः श्रद्धा से ही वीर्य की उत्पत्ति है। वीर्यारम्भ करनेवाले की स्मृति ठहरती है। जिसकी स्मृति ठहरी हुई है, उसी का चित्त समाधि-मग्न होता है और चित्त की समाधि से ही मनुष्य प्रज्ञा को प्राप्त करता है। इस प्रकार इन पाँच इन्द्रियों—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा में क्रमिक सम्बन्ध है। एक के बाद एक वे उत्पन्न होती हैं। इस साधना-क्रम में, जैसा हम देखते हैं, श्रद्धा प्रथम और प्रज्ञा अन्तिम है। श्रद्धा का अन्तिम विकास-परिणाम प्रज्ञा है। बुद्ध-धर्म ने जिस प्रकार अन्य अनेक अतिवादों (अन्तों) का समवन्य किया है, उसी प्रकार वह श्रद्धा और बुद्धि का भी समन्वय है। बुद्ध-धर्म प्रायः बुद्धिवादी धर्म ही माना जाता है, और यह ठीक भी है। केशपुत्र नामक ग्राम के कालाम क्षत्रियों से भगवान् ने सदा के लिये स्मरणीय शब्दों में कहा था, "कालामो! न तुम श्रुत के कारण किसी बात को मानो, न तर्क के कारण, न नय-हेतु से, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर-विचारित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य रूप होने से और न इसलिये कि 'श्रमण हमारा गुरु है' यह सोचकर! बल्कि कालामो! जब तुम स्वयं ही जानो कि ये बातें अच्छी, अदोष, विज्ञों से अनिन्दित हैं, यह ग्रहण करने पर हित, सुख के लिये होंगीं, तो कालामो! तुम उन्हें स्वीकार करो[१]।" भगवान् अन्धविश्वास के कड़े विरोधी थे और बुद्धिवाद के तो वे विश्व में प्रथम आचार्य ही माने जाते हैं। फिर भी उन्होंने श्रद्धा की महत्ता को स्वीकार किया है और उसे बुद्धिवाद द्वारा नियन्त्रित किया है। बुद्ध के प्रत्येक शिष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तथागत की सम्बोधि पर श्रद्धा रक्खे, "वह भगवान् विमुक्त पुरुष, सम्यक् सम्बुद्ध, लोकविद्, अद्वितीय पुरुष-दम्य सारथी, विद्या और आचरण से युक्त, देव और मनुष्यों के शास्ता, भगवान् बुद्ध हैं।" परन्तु यह श्रद्धा अन्धविश्वास के रूप में न होकर बुद्धि सम्मत अनुभव के रूप में होनी चाहिये। यह ईमान लाना जैसी वस्तु बिलकुल नहीं है। क्योंकि भगवान् ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्दों में कह रक्खा है कि भगवान् बुद्ध ज्ञानी हैं या नहीं, यह जानने के लिये

---

(१) अंगुत्तर-निकाय ३।७।५

भिक्षु को समन्वेषण करना चाहिये, खोज करनी चाहिये, मीमांसा और परीक्षा करनी चाहिये और परीक्षा करने पर यदि ठीक लगे तो स्वीकार करना चाहिये अन्यथा नहीं[१]। बुद्ध के विषय में मीमांसा करनी चाहिये कि यह भगवान् परमज्ञानी (सम्यक् सम्बुद्ध) हैं या नहीं। स्वयं 'सम्यक् सम्बुद्ध का यह अपने शिष्यों से कहना, ढाई हजार वर्ष पूर्व, कितना अभूतपूर्व, कितना आश्वासनमय! यदि भगवान् इस प्रकार न कहते तो मानवता को आज बुद्ध-धर्म के रूप में सब से बड़ा आश्वासन कैसे मिलता, विश्व के असंख्य विचारकों को, जो किसी मसीह, पैगम्बर या अवतार में विश्वास करने को प्रस्तुत नहीं, शान्ति कैसे मिलती ? चाहे बुद्ध हो, चाहे धर्म, चाहे संघ, चाहे अन्य कोई वस्तु "हम मीमांसक (वीमंसक) होंगे, ऐसा तुम्हें सीखना चाहिये[२]।" यही भगवान् का सदा भिक्षुओं से कहना था। जब वे कभी देखते थे कि भिक्षु किसी बात को बिना समझे उनके गौरव से उनकी हाँ में हाँ मिला रहे हैं, तो वे उन्हें टोकते थे, "भिक्षुओ ! क्या तुम शास्ता के गौरव से तो 'हां' नहीं कह रहे हो ?......... भिक्षुओ ! जो तुमारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया है, क्या उसी को तो तुम कह रहे हो[३] ?" इस प्रकार बुद्धि की प्रतिष्ठा कर भगवान् ने श्रद्धा का उपदेश दिया था। इसलिये श्रद्धा और बुद्धि का उनके उपदेशों में समाधान है। तथागत की श्रद्धा 'प्रज्ञान्वया श्रद्धा' (पञ्ञान्वया सद्धा) है। उसका पर्यवसान प्रज्ञा में होना आवश्यक है। इसीलिये श्रद्धा पहली इन्द्रिय और प्रज्ञा अन्तिम इन्द्रिय है। श्रद्धा को भगवान् ने पुरुष का श्रेष्ठ धन बताया है[४] और कहा है 'श्रद्धा के द्वारा मनुष्य भव-बाढ़ को तरता है[५]। अमृत रूपी खेती का भगवान् ने श्रद्धा को बीज बताया है[६]। जहां कहीं साधक भिक्षु का वर्णन आया है सर्वप्रथम यह कहा गया है 'यहाँ भिक्षु श्रद्धा से युक्त होता है[७]।" प्रव्रज्या श्रद्धा से ही ली जाती है। इसीलिये भिक्षुओं

(१) वीमंसक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।७)
(२) बहुधातुक-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।५)
(३) महा तण्हा संखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)
(४) सद्धीव वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं। आलवक-सुत्त (सुत्त-निपात)
(५) सद्धाय तरती ओघं। सुत्त-निपात।
(६) देखिये कसिभारद्वाज-सुत्त (सुत्त-निपात)
(७) इध भिक्खु सद्धाय समन्नागतो होति। मिलाइये बुद्धे अवेच्चप्पसादेन समन्नागता। जनवसभ-सुत्त (दीघ० २।५)

को अनेक बार याद दिलाया गया है 'तुमने श्रद्धा से प्रव्रज्या ग्रहण की है' (सद्धाय पब्बज्जित्वा) आदि । अतः यह सुनिश्चित है कि मूल बुद्ध-दर्शन में भी श्रद्धा की साधना आधार-भूमि के रूप में प्रतिष्ठित है । श्रद्धा वास्तविक अर्थों में साधना की अधिपति है, वह बौद्ध साधना के पाँच बलों में से एक बल भी है और स्रोत आपन्न अवस्था के भगवान् ने जो चार अंग बताये हैं उनमें वह प्रथम है[१] । सम्पूर्ण पुण्यकारी वस्तुओं (पुञ्ञकिरिया वत्थूनि) का आधार श्रद्धा को बुद्ध-शासन में माना गया है । इसीलिये कहा गया है कि श्रद्धा को सुप्रतिष्ठित, मूल से पकड़ी हुई, होना चाहिये और जीवन-पर्यन्त उसे कम न होने देना चाहिये[२] । यद्यपि सत्य-प्राप्ति के लिये बहुकारी धर्म तो भगवान् ने प्रधान को ही बतलाया है, परन्तु श्रद्धा से सत्य की अनुरक्षा की जाती है, ऐसा उन्होंने कहा है[३] । महानाम शाक्य से भगवान् ने कहा था कि साधक को सात सद्धर्मों से युक्त होना चाहिये । इन सात सद्धर्मों में प्रथम श्रद्धा है और अन्तिम प्रज्ञा[४] । इसी प्रकार बोधि राजकुमार को भगवान् ने निर्वाण-साधना के पाँच अंग बताये थे, जिनमें भी प्रथम श्रद्धा और अन्तिम प्रज्ञा है[५] । किसी भी प्रकार देखें, साधना में श्रद्धा प्रथम स्थान ग्रहण करती है और प्रज्ञा अन्त में उसका साथ छोड़ना नहीं चाहती । बुद्ध-धर्म की यह एक बड़ी विशेषता है । यदि श्रद्धा को हम हृदय का प्रतीक मानें (और उपनिषद् ने तो कहा भी है—हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता) और प्रज्ञा को बुद्धि का, तो हम कह सकते हैं कि भगवान् ने हृदय और बुद्धि का समाधान किया है । यही कारण है कि उनका धर्म-विनय करोड़ों व्यक्तियों के लिये उतना आकर्षक बन सका है और सब प्रकार की प्रकृतियों और स्वभावों के मनुष्य उसमेंआश्वासन ग्रहण करते हैं । अन्त में हम यहाँ यही कहेंगे कि बिना श्रद्धा के साधना आगे नहीं बढ़ती । भगवान् ने कहा है कि उनकी शिक्षा में क्रमिक विधान है । पहले श्रद्धा अवश्य चाहिये । श्रद्धा होने पर ही मनुष्य ज्ञानी के समीप जाता है, उपासना करता है, कान लगाकर धर्म सुनता है, उसे ग्रहण करता है, ग्रहण किये धर्म की परीक्षा करता है, परीक्षण कर निदिध्यासन करता है । फिर उसे उत्साह होता है

(१) देखिये संगीति-परियाय-सुत्त (दीघ० ३।१०)
(२) देखिये चवमान-सुत्त (इति वुत्तक)
(३) चंकि सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)
(४) सेख-सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।३)
(५) बोधिराजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५)

और वह वीर्यारम्भ करता है। तदनन्तर समाधि के द्वारा स्वयं सत्य का साक्षात्कार करता है, प्रज्ञा से सत्य को बेधता है। "यदि श्रद्धा न हुई तो पास जाना भी न हुआ, कान लगाकर धर्म सुनना भी न हुआ, निदिध्यासन भी न हुआ, सुने धर्म की परीक्षा भी न हुई, पुरुषार्थ भी न हुआ, परम सत्य का साक्षात्कार भी न हुआ। इस प्रकार तो भिक्षुओ! अयोग्य व्यक्ति (मोघ पुरुष) इस धर्म-विनय से बहुत दूर चले जाते हैं।" यह इस संक्षिप्त विवरण से, आशा है, हम बुद्ध के धर्म-विनय में श्रद्धा के महत्त्वपूर्ण स्थान को दिखाने में समर्थ हो सके हैं। तथागत की 'प्रज्ञान्वया श्रद्धा' भारतीय दर्शन की महनीय परम्पराओं के सर्वथा अनुकूल है और आज के अस्तव्यस्त जीव-लोक के लिये, जिसके भावात्मक और बौद्धिक सन्तुलन खोये हुए, हैं वह एक अद्‌भुत वरदान है, इसमें सन्देह नहीं। पाँच इन्द्रियों में से श्रद्धा के अतिरिक्त वीर्य के सम्बन्ध में जो पहले कहा जा चुका है वह बहुत पर्याप्त है। स्मृति के सम्बन्ध में पहले कह ही चुके हैं। समाधि और प्रज्ञा के सम्बन्ध में हम आर्य अष्टांगिक मार्ग के विवरण के प्रसंग में कुछ संक्षिप्त रूप में और बौद्ध दर्शन की योग-दर्शन के साथ तुलना करते समय कुछ विस्तृत रूप से कहेंगे।

अब हम यहाँ अपने विषय से कुछ अलग जाकर भी महायान बौद्ध धर्म में श्रद्धा के महत्त्वपूर्ण स्थान को लेकर कुछ और कहना चाहेंगे। पाँचों इन्द्रियों और विशेषतः श्रद्धा की महिमा एक इन्द्रिय और बल के रूप में महायान बौद्ध धर्म में स्थविरवाद बौद्ध धर्म की अपेक्षा और अधिक गहरे रूप से प्रतिष्ठित है। पाँच इन्द्रियों का उल्लेख महायान बौद्ध धर्म के महा व्युत्पत्ति, महायान सूत्रालंकार, दशभूमिक सूत्र, धर्म-संग्रह और प्रज्ञा पारमिता शतसाहस्रिका आदि ग्रन्थों में है। जिस प्रकार पालि साहित्य में कहीं-कहीं २२ इन्द्रियों का उल्लेख है[१], उसी प्रकार उसका अनुसरण महाव्युत्पत्ति में भी किया गया है, जहाँ उनकी वही संख्या बताई गई है। नाम भी दोनों के समान ही हैं। आचार्य वसुबन्धु ने 'इन्द्रिय' शब्द के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की ओर लक्ष्य करते हुए कहा है, 'आधिपत्यार्थेन इन्द्रियाण्युच्यन्ते।' यह अर्थ स्थविरवाद-परम्परा को मान्य है। पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लेते हुए आचार्य बुद्धघोष ने 'इन्द्रिय' शब्द की जो व्याख्या की है[२],

(१) देखिये विसुद्धिमग्ग १६।१-१२

(२) देखिये 'को पन नेसं इन्द्रियट्ठो नामाति' आदि; विसुद्धि मग्ग १६।४; मिलाइये पाणिनि० ५।२।९३; देखिये 'अधिपतियट्ठेन इन्द्रियाणि' भी विसुद्धिमग्ग दीपिका २२।३७।

वह आर्य वसुबन्धु के समान है। इसी परिभाषा को अश्वघोष ने स्वीकार किया है जब कि उन्होंने कहा है 'प्राधान्यादिन्द्रियमिति[१]' अर्थात् प्रधान होने के कारण इस श्रद्धा को इन्द्रिय कहते हैं। आचार्य अश्वघोष ने, जिन्होंने बौद्ध धर्म में सर्व प्रथम भक्ति-बीज का आरोपण किया, श्रद्धा की प्रशंसा में बहुत कुछ अत्यन्त काव्यमय शब्दों में कहा है। उन्होंने श्रद्धा को धर्माभ्यास का मूल माना है। बिना श्रद्धा के धर्म का अभ्यास हो ही नहीं सकता। श्रद्धा की आवश्यकता बताते हुए और उसे स्थिर एवं सबल बनाने के लिये उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध नन्द से कहते हैं:—

"पृथ्वी के भीतर जल है, यह श्रद्धा जब मनुष्य को होती हैं, तब प्रयोजन होने पर पृथ्वी को प्रयत्नपूर्वक खोदता है।

"यदि अग्नि से प्रयोजन न हो, या यदि काष्ठ में अग्नि है, यह श्रद्धा न हो तो कोई भी पुरुष काष्ठ को न रगड़ेगा। किन्तु प्रयोजन और श्रद्धा के होने पर उसे रगड़ते हैं।

"भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक को न हो तो वह भूमि में बीज न बोयेगा।

"जैसे दान हाथ ग्रहण करता है, वैसे ही श्रद्धा सद्धर्म को ग्रहण करती है, इसलिये मैंने श्रद्धा को विशेष रूप से हाथ कहा है।

............धर्म की उत्पत्ति में श्रद्धा उत्तम कारण है, इसलिये इस श्रद्धा रूपी अंकुर को तुम्हें बढ़ाना चाहिये, क्योंकि इसके बढ़ने से धर्म वैसे ही बढ़ता है जैसे जड़ के बढ़ने से वृक्ष। जिसका विचार आकुल है, जिसका निश्चय दुर्बल है, उसकी चंचल श्रद्धा सफलता के लिये नहीं है।

"जब तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नहीं लेता है, तब तक उसकी श्रद्धा बलवती या स्थिर नहीं होती। संयम के द्वारा इन्द्रियों को जीतकर जिसको तत्त्व का दर्शन हो चुका है उसका श्रद्धा रूपी वृक्ष फल और आश्रय देता है[२]।" इसलिये भगवान् ने नन्द को सब से पहले श्रद्धा के अभ्यास का उपदेश देते हुए कहा, 'अब तुम श्रद्धा रूपी साधन से सुसज्जित होकर हे सौम्य! अमृत की प्राप्ति के लिये अपने शील की रक्षा करो[३]।" श्रद्धा को सर्वश्रेष्ठ बतानेवाले पालि बुद्ध-

---

(१) सौन्दरनन्द १२।३७
(२) सौन्दरनन्द १२।३३-४३
(३) सौन्दरनन्द १३।१०

वचन को हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। अश्वघोष ने भी भगवान् से नन्द के प्रति कहलवाया है। 'श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्यः[1]'। बोधिसत्त्व की जीवन-साधना का प्रारम्भ श्रद्धा से और अन्त प्रज्ञा में होता है। यह तथ्य स्थविरवादी मत से पूर्णतया संगत है। महायान बौद्ध धर्म में सात धन माने गये हैं, जिनमें श्रद्धा प्रथम है। बोधिसत्त्व दस 'परिशोधक धर्मों' में परिपूर्णता प्राप्त करते हैं, जिनमें प्रथम श्रद्धा है। बौद्ध धर्म में शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रथम शर्त श्रद्धा है, ऐसा भगवान् बुद्ध ने ललित विस्तर में कहा है, जो पालि-धम्म के अनुकूल ही है। प्रज्ञा पारिमता अष्ट साहस्रिका में कहा गया है कि श्रद्धा मार-विजय में सहायक है। वहीं उसे भव-सागर से पार उतरने के लिये जहाज के समान भी कहा गया है। महावस्तु ने श्रद्धा को अमृत के समान कहा है। 'महावस्तु' में श्रद्धा की पूजा एक देवी के रूप में करने को कहा गया है। शान्तिदेव ने 'शिक्षा समुच्चय' और 'बोधि चर्यावतार' में श्रद्धा की जो महिमा गाई है, उसमें विस्तार से चले जाने पर तो हम मूल विषय से बहुत दूर जा पड़ेंगे। शिक्षा-समुच्चय में उन्होंने श्रद्धा को 'शुक्ल धर्म' (शुक्लो धर्मः) कहा है[2]। अधिक क्या, शून्यवादी आचार्य नागार्जुन तक ने कहा है कि श्रद्धा ही वह आधारभूत वस्तु है जिससे भव को पार किया जाता है, यह बुद्ध का नियम है[3]। बुद्ध और बोधिसत्त्वों के प्रति श्रद्धा रखने का विधान, महायान बौद्ध धर्म में अतिशय रूप से किया गया है। इस प्रकार महायान बौद्ध धर्म में स्थविरवाद बौद्ध धर्म से कुछ बढ़ कर श्रद्धा के महत्त्व की स्वीकृति है, जिसके कारणों पर हम आगे चल कर इस प्रकरण के उत्तरार्द्ध में प्रकाश डालेंगे।

पाँच बल

बल पाँच हैं, यथा (१) वीर्य बल, (२) स्मृति बल, (३) समाधि बल, (४) प्रज्ञा बल तथा (५) श्रद्धा बल[4]। इनमें से प्रायः सब का वर्णन पहले हो चुका है।

---

(१) सौन्दरनन्द ५।२४
(२) ५।१०
(३) देखिये सोडरब्लोम : दि लिविंग गौड, पृष्ठ १६५
(४) संगीति परियाय सुत्त में एक स्थान पर केवल चार बल ही वर्णित हैं और संयुत्त० २१।८।९ में छः बल; मिलाइये महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३) एवं सामगाम सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।४) धम्म संगणि भाग ५८, ९५० अंगुत्तर निकाय जिल्द दूसरी, पृष्ठ १४१-१४२;

सात बोध्यंग या सम्बोध्यंग जो पालि-निकायों में अनेक वार वर्णित हु[1], ये हैं (१) स्मृति, (२) धर्म-विचय, (३) वीर्य, (४) प्रीति, (५) प्रश्रब्धि, (६) समाधि तथा (७) उपेक्षा । सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने में ये परम सहायक हैं, इसलिए इन्हें बोध्यंग कहा गया है । भगवान् ने इन सातों बोध्यंगों को मिलाकर एक साथ 'भावना प्रयत्न' भी कहा है । 'एक भिक्षु प्रयत्न करता है, जोर लगाता है, मन को काबू में रखता है कि जो कुशल कल्याणमय बातें उसमें नहीं हैं वे उसमें आ जाएँ । वह स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा, इन बोधि के सात अंगों का अभ्यास करता है जो कि एकान्तवास तथा राग रहित होने से उत्पन्न होते हैं, निरोध से सम्बन्धित हैं और उत्सर्ग की ओर ले जाने-वाले हैं । भिक्षुओ ! इसे भावना-प्रयत्न कहते हैं[2] ।' भगवान् का कहना है कि इन सात सम्बोध्यंगों की भावना के द्वारा साधक इसी जन्म में आस्रवों के क्षय से आश्रव-रहित चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा-विमुक्ति को साक्षात्कार कर विहरता है[3] । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वीर्य, स्मृति और समाधि जो इन्द्रिय, बलों और बोध्यंगों के रूप में गिने गये हैं, आगे चलकर मध्यम मार्ग के भी तीन महत्त्वपूर्ण अंग हैं ।

सात बोध्यंग

कहीं कहीं सात बलों का भी उल्लेख है । महायान बौद्ध धर्म में बलों की संख्या प्रायः पांच ही है । महाव्युत्पत्ति, महायानसूत्रालंकार, दश भूमिकसूत्र, धर्म संग्रह और प्रज्ञा पारमिता शत साहस्रिका में ५ बलों का उल्लेख पालि के समान ही है । परन्तु ललित विस्तर में जिन पांच बलों का उल्लेख है, वे हैं पुण्य, प्रज्ञा, ज्ञान, क्षान्ति और वीर्य ।

(१) देखिये विशेषतः महासति पट्ठान-सुत्त (दीघ० २।९); सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।२) ; महा सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७) ; महायान बौद्ध धर्म में सात बोध्यंगों का विवरण करने वाले साहित्य के परिचय के लिये देखिये हरदयाल : दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १४९-१५५

(२) अंगुत्तर -निकाय, चतुक्क निपातो ।

(३) नन्दकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।४)

आर्य-अष्टांगिक मार्ग

आर्य अष्टांगिक मार्ग बुद्ध-शासन में निश्चय ही एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान रखता है। अपने सर्वप्रथम प्रवचन (धम्मचक्क पवत्तन सुत्त) में भगवान् ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को इसका उपदेश दिया था और मध्यमा प्रतिपदा के साथ इसकी एकात्मता दिखाई थी। दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग रूपी चतुर्थ आर्य सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग दोनों एक हैं। यही वह मार्ग है जिसे तथागत ने खोज निकाला है। मध्यमा प्रति-पदा रूपी आर्य अष्टांगिक मार्ग 'अरण' धर्म है अर्थात् दुःख-रहित धर्म और वही ठीक मार्ग है[1]। यह मार्ग आँख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देनेवाला है। यह शासन, अभिज्ञा, बोध और निर्वाण की ओर ले जानेवाला है[2]। भगवान् ने कहा है "निर्मल ज्ञान की प्राप्ति के लिये यही एक मार्ग है। और कोई दूसरा मार्ग नहीं। इस मार्ग पर चलने से तुम दुःख का नाश करोगे[3]।" आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाणगामी मार्ग है, इसे एक सुन्दर उपमा के द्वारा समझाते हुए भगवान् ने कहा है, "जिस प्रकार भिक्षुओ! गंगा, यमुना, अचिरवती, सरभू (सरयू) और मही नदियाँ पूर्व की ओर बहने वाली, समुद्र की ओर अभिगामिनी होती हैं, उसी प्रकार भिक्षुओ! अभ्यास करने पर आर्य अष्टांगिक मार्ग निर्वाण की ओर ले जानेवाला है, निर्वाण की ओर अभिमुख होनेवाला है[4]।" अन्य अनेक प्रकार से भी शास्ता ने आर्य अष्टांगिक मार्ग की महिमा प्रख्यापित की है। भगवान् ने इसे 'कल्याण वर्त्म' कह कर पुकारा है और अक्षुण्ण रूप से इसपर आचरण करने के लिये शिष्यों को उत्साहित किया है। 'आनन्द! इस समय मैंने भी यह कल्याणवर्त्म स्थापित किया है जो कि एकान्त निर्वेद के लिए, विराग के लिए, निरोध के लिए, उपशम के लिए, अभिज्ञा के लिए, सम्बोधि के लिए, और निर्वाण के लिए है और वह यही आर्य अष्टांगिक मार्ग है। 'आनन्द! यह मैंने कल्याण

---

(१) अरण विभंग सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।९)

(२) धम्म-चक्क पवत्तन-सुत्त (संयुत्त-निकाय)

(३) एसो व मग्गो नत्थञ्ञो दस्सनस्स विसुद्धिया।....एतं हि तुम्हे पटिपन्ना दुक्खस्सन्तं करिस्सथ। धम्मपद २०।२-३

(४) संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ ३९-४० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

वर्त्म स्थापित किया है। सो आनन्द ! मैं यह कहता हूँ—जिससे तुम मेरे इस स्थापित कल्याण वर्त्म को अनुप्रवर्तित करना। तुम मेरे अन्तिम पुरुष मत बनना[१]। भगवान् ने आर्य अष्टांगिक मार्ग को 'स्रोत' (निर्वाणगामी प्रवाह) में पड़ जाना भी कहा है। 'सारिपुत्र ! स्रोत स्रोत कहा जाता है। सारिपुत्र ! स्रोत क्या है ?' 'भन्ते ! यह आर्य अष्टांगिक मार्ग ही स्रोत है, 'साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र ! यह आर्य अष्टांगिक मार्ग ही स्रोत है...। 'सारिपुत्र ! स्रोत आपन्न, स्रोत आपन्न कहा जाता है, सारिपुत्र ! स्रोत आपन्न क्या है ?' 'भन्ते ! जो व्यक्ति इस आर्य अष्टांगिक मार्ग से युक्त है, वही स्रोत आपन्न कहा जाता है' 'साधु सारिपुत्र ! साधु सारिपुत्र ! यही जो आर्य अष्टांगिक मार्ग से युक्त है वही स्रोत आपन्न कहा जाता है'[२]। आर्य अष्टांगिक मार्ग को ही भगवान् ने अमृत का मार्ग कहा है[३]। अब हम देखें कि आर्य अष्टांगिक मार्ग क्या है ? भगवान् के ही शब्दों में :

'भिक्षुओ ! यह जो कामोपभोग का हीन, ग्राम्य, अशिष्ट, अनर्थकर जीवन है और यह जो अपने शरीर को व्यर्थ क्लेश देने का दुःखमय, अनार्य, अनर्थकर जीवन है, इन दोनों अतियों से बचकर तथागत ने मध्यम मार्ग का ज्ञान प्राप्त किया है, जो कि आँख खोल देनेवाला है, ज्ञान करा देनेवाला है, शमन के लिए, अभिज्ञा के लिए, बोध के लिए, निर्वाण के लिए होता है[४]।' यही आर्य अष्टांगिक मार्ग दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला है, जोकि इस प्रकार है:—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाणी	प्रज्ञा-स्कन्ध
(४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव	शील-स्कन्ध

(१) मखादेव-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।३)
(२) सारिपुत्त सुत्त, (संयुत्त० ५४।१।५)
(३) देखिये इसी प्रकरण में आगे 'निब्बाण' का विवेचन।
(४) मिलाइए 'द्वे मे भिक्खवे अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थ संहितो यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थ संहितो। एते ते भिक्खवे उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा

(६) सम्यक् व्यायाम,
(७) सम्यक् स्मृति समाधि-स्कन्ध
(८) सम्यक् समाधि

ऊपर के कोष्ठकों से स्पष्ट है कि आर्य अष्टांगिक मार्ग तीन स्कन्धों में अन्तर्भावित है, यथा सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प प्रज्ञा स्कन्ध मे सम्मिलित हैं, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव शील-स्कन्ध में और सम्यक् व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक् समाधि समाधि-स्कन्ध में[1]। आनन्द ने हमें बताया है कि भगवान् इन तीन धर्म-स्कन्धों के बड़े प्रशंसक थे और उनका प्रयत्न था कि उनके शिष्य इनमें स्थित हों[2]। इन तीन धर्म स्कन्धों को भगवान् ने तीन सम्पत्तियाँ भी कहा था[3] और तीन बड़े यज्ञ भी[4]। शील, समाधि और प्रज्ञा के त्रिविध आधारभूत वर्गीकरण में सम्पूर्ण बुद्ध-शासन आ जाता है। शील सदाचार का पर्यायवाची शब्द है। 'भिक्षुओ! प्रातिमोक्ष-संयम से युक्त होकर विहरो, चक्षु के संयम से युक्त होकर विहरो' आदि रूप से भगवान् ने जो उपदेश दिया है वही शील का स्वरूप है। शील वस्तुतः हमारे विचारों और कर्मों का समन्वय ही है। वह काया की, वाणी की और मन की शुचिता है। समाधि हमारे चित्त की एकाग्र अवस्था का ही नाम है। बिना शील के समाधि की प्राप्ति सम्भव नहीं। समाधि इच्छा, ज्ञान और संकल्पों की समन्वयावस्था है। इसी प्रकार हमारे मन और सत्य की समन्वयावस्था का नाम है प्रज्ञा। प्रज्ञा को कुशल चित्त-युक्त ज्ञान भी कहा गया है। प्रज्ञा की उच्चतम अवस्था ही सम्यक् सम्बोधि है। उद्योगी प्रज्ञावान भिक्षु ही आवागमन रूपी जटा को काटता है। 'आतापी निपको भिक्खु सो अयं विजटये जटंति।' शील, समाधि और प्रज्ञा के रूप में बौद्ध साधना-पद्धति का विस्तृत विवेचन आचार्य बुद्धघोष

चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय निब्बानाय संवत्तति।
धम्मचक्कपवत्तन-सुत्त (संयुत्तनिकाय)

(१) देखिये चूलवेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४)
(२) सुभ-सुत्त (दीघ० १।१०)
(३) देखिये कस्सपसीहनाद-सुत्त (दीघ० १।८); पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १।१०)
(४) देखिये कूटदन्त-सुत्त (दीघ० १।५)

ने 'विसुद्धिमग्ग' में किया है, जिसका विस्तृत विवरण हम यहाँ न देकर पातंजल योग-साधना के साथ उसके तुलनात्मक अध्ययन के प्रसंग में पाँचवें अध्याय में देंगे। अब हम आर्य अष्टांगिक मार्ग का संक्षिप्त विवरण पालि निकायों के आधार पर देंगे। सम्यक् दृष्टि, वस्तुतः चार आर्य सत्यों को समझना ही है [1]। सम्यक् दृष्टि मुक्ति-मार्ग की पहली सीढ़ी है जिसके बिना न शील की प्राप्ति है और न समाधि की। सम्यक् दृष्टि के परिणाम-स्वरूप ही हमें शील मिलता है। 'भिक्षुओ! जिस समय आर्य श्रावक दुरा-चरण को पहचान लेता है, दुराचरण के मूल कारण को पहचान लेता है, सदाचरण को पहचान लेता है, सदाचरण के मूल कारण को पहचान लेता है, तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है। उसकी इस धर्म में अचल श्रद्धा उत्पन्न हो गई है और वह इस धर्म में आ गया है [2]।' अविद्याश्रित संस्कारों को निर्मल करने का ज्ञानमय संकल्प ही सम्यक् संकल्प है। 'भिक्षुओ! सम्यक् संकल्प क्या है? नैष्कर्म्य संकल्प सम्यक् संकल्प है। अव्यापाद संकल्प सम्यक् संकल्प है। अविहिंसा संकल्प सम्यक् संकल्प है'।[3] विचार का सम्यक् अभ्यास ही सम्यक् वाणी के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है। 'भिक्षुओ! सम्यक् वाणी किसे कहते हैं? भिक्षुओ! एक आदमी झूठ बोलना छोड़, झूठ बोलने से दूर रह सत्य बोलने वाला, सच्चा, लोक में यथार्थवादी होता है। वह चुगली करना छोड़ता है, वह कठोर वाणी छोड़ता है[4]।' इसलिये 'भिक्षुओ! आपस में इकट्ठे होने पर दो बातों में से एक बात होनी चाहिए, या तो धार्मिक बातचीत या फिर आर्य मौन। भिक्षुओ! इसे सम्यक् वाणी कहते हैं[5]।' सम्यक् कर्मान्त का सम्बन्ध बाह्य जीवन से है। 'भिक्षुओ! सम्यक् कर्मान्त क्या है? एक आदमी जीव-हिंसा को छोड़ जीव-हिंसा से दूर रहता है। वह दण्ड का प्रयोग नहीं करता, शस्त्र का प्रयोग नहीं करता, लज्जाशील, दयावान्, सभी प्राणियों पर अनुकम्पा करनेवाला होता है [6]।' यही सम्यक् कर्मान्त है। इसी प्रकार सम्यक् आजीव व्यक्तिगत और सामा-

(१) सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)
(२) 'बुद्ध वचन', पृष्ठ २१
(३) 'बुद्ध वचन', पृष्ठ ३२
(४) अंगुत्तर १०, 'बुद्धवचन', पृष्ठ ३२,३३
(५) अरिय परियेसन सुत्त (मज्झिम० १।३।६)
(६) अंगुत्तर १०, 'बुद्ध वचन', पृष्ठ ३४

जिक जीवन की शुद्धि के लिये है। 'भिक्षुओ! सम्यक् आजीव क्या है? भिक्षुओ! आर्य श्रावक मिथ्या आजीविका को छोड़ सम्यक् आजीविका से जीवन निर्वाह करता है। यही सम्यक् आजीव है[1]।' सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) ज्ञानमय अभ्यास है? 'भिक्षुओ! चार प्रकार के व्यायाम सम्यक् प्रयत्न हैं। कौन से चार? संयम प्रयत्न, प्रहाण प्रयत्न, भावना प्रयत्न तथा अनुरक्षण प्रयत्न[2]।' भगवान् ने निर्वाण की अधिगति में प्रयत्न या 'व्यायाम' स्वरूप 'प्रधान' को ही प्रधान कारण माना है। 'भारद्वाज! सत्य प्राप्ति का बहुकारी धर्म 'प्रधान' है। यदि 'प्रधान' न करे तो सत्य को भी प्राप्त न करे। चूंकि 'प्रधान' करता है, इसीलिए सत्य को प्राप्त करता है। इसीलिए सत्यप्राप्ति के लिए बहुकारी धर्म 'प्रधान' है[3]।' बिना 'व्यायाम' के 'प्रधान' भी कहां सम्भव है! इसीलिए तो 'चाहे मेरा मांस, रक्त सब सूख जाए और बाकी रह जाएँ केवल त्वक्, नसें और हड्डियाँ, किन्तु जब तक उसे जो किसी भी मनुष्य के प्रयत्न से, शक्ति से या पराक्रम से प्राप्य है, प्राप्त नहीं कर लूंगा, चैन नहीं लूंगा'[4] ऐसा वीर्य आरम्भ करना ही पड़ता है। इसे ही सम्यक् प्रयत्न (व्यायाम) कहते हैं। अब क्या है, सम्यक् स्मृति? इसका उत्तर हम चार स्मृति प्रस्थानों के विवरण के समय दे आये हैं। वस्तुतः पूर्वोक्त चार 'स्मृति-प्रस्थान' ही 'सम्यक् स्मृति' है यथा, काया में कायानुपश्यना, वेदनाओं में वेदनानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना और धर्मों में धर्मानुपश्यना। भगवान् ने उपदेश दिया है कि, 'आनन्द! आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्यशरण होकर विहरो' और इस पर उन्हीं की व्याख्या है कि उपर्युक्त चार स्मृति-प्रस्थानों (जिनका संग्रहात्मक स्वरूप ही 'सम्यक् स्मृति' है) की भावना और आचरण करने का तात्पर्य ही है आत्मदीप, आत्मशरण, अनन्य शरण होकर विहरना। 'आनन्द! कैसे भिक्षु आत्मशरण होता है? आनन्द! यहाँ भिक्षु काया में कायानुपश्यी..........इस प्रकार आनन्द! भिक्षु आत्म-शरण होता है[5]।' तृष्णा और उपादान से विरति के लिये बार बार

(१) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(२) जिनके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए 'बुद्ध-वचन', पृष्ठ ३५-३७
(३) चंकि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।५)
(४) देखिए जातकट्ठकथा (निदानकथा) तथा 'बुद्ध वचन', पृष्ठ ३७
(५) सारिपुत्र के निधन के बाद ये शब्द भगवान् ने कहे, देखिए चुन्द-सुत्त (संयुत्त-निकाय ४५।२।३)

पुनरुक्ति पूर्वक भगवान् ने स्मृति के उपदेश दिये हैं। समाधि की संक्षिप्त परिभाषा हम पहले दे ही चुके हैं। 'भिक्षुओ! यह जो चित्त की एकाग्रता है—यही समाधि है। चारों स्मृति-प्रस्थान हैं समाधि के निमित्त और चारों सम्यक् प्रयत्न हैं समाधि की सामग्री। इन्हीं आठों धर्मों के सेवन करने, भावना करने तथा बढ़ाने का नाम है समाधि[1]।' यहां यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि बोधि पक्षीय धर्मों के अन्य अंगों के समान आर्य अष्टांगिक मार्ग के भी प्रभूत महत्त्व को महायान बौद्ध धर्म ने स्वीकार किया है, एवं पालि साहित्य के समान महा व्युत्पत्ति, महावस्तु, प्रज्ञा पारमिता शत साहस्रिका, ललित विस्तर, करुणा पुण्डरीक, समाधिराज, अवदान शतक, महायान सूत्रालंकार आदि बीसों ग्रंथों में आर्य अष्टांगिक मार्ग का विवरण आया है।[2] विस्तृत वर्णन उसके यहां उपलब्ध नहीं हैं।

इन्हीं की समष्टि का नाम बौद्ध जीवन-पद्धति है

इस प्रकार बोधि पक्षीय धर्मों के स्वरूप की एक झलक हमने देखी, जिनके उपदेश को बार-बार दुहराकर, अनेक पर्यायों से, अपनी चारिकाओं में भगवान् दिया करते थे। तथागत सम्भवतः इन्हीं के शास्ता के रूप में अपने को स्मरण कराना चाहते थे और जो कुछ भी उन्होंने कहा है वह इन्हीं की व्याख्या या संगति स्वरूप है। इनके समग्र रूप में हम बौद्ध आचार तत्त्व को उसके पूर्णतम रूप में देख सकते हैं। 'अभिधर्म' तो उसकी तात्त्विक या मनोवैज्ञानिक व्याख्या मात्र है। भगवान् के मन्तव्य का अन्तिम तात्पर्य अभ्यास में ही है और जब उनके समय में कुछ प्रमादी भिक्षु खीज कर कह देते थे कि 'यह श्रमण तो हमारी जान ही ले लेता है' या सारिपुत्र जैसे साधना-निष्ठ भिक्षु अपने मन को समझाया करते थे कि चाहे जो कुछ हो बुद्ध का शासन तो पूरा करना ही पड़ेगा, तो वे सभी बुद्ध की आचार तत्त्व पर जोर देने की प्रवृत्ति को ही सूचित किया करते थे। कितनी प्रसन्नता होती थी अन्त में उन्हें जब वे यह अनुभव करते थे कि बुद्ध का शासन कर लिया गया है (कतं बुद्धस्स सासनं), सब बोझों को उठा

---

(१) चूलवेदल्ल सुत्त (मज्झिम० १।५।४)

(२) इनके आधार पर आर्य अष्टांगिक मार्ग के विवरण के लिये देखिये हरदयाल : दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १५५-१६४

कर फेंक दिया गया है और पूरी कृतकृत्यता प्राप्त हो चुकी है। भिक्षुणी पटाचारा अपनी शिष्याओं को अक्सर सिखाया करती थी "बुद्ध-शासन को करो जिसे करके पछताना नहीं पड़ता।" जैसा कि हमने प्रथम प्रकरण में भारतीय दर्शन की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार करते समय देखा है, नैतिक संकल्प सभी भारतीय दर्शनों का सामान्य अधिष्ठान रहा है। बुद्ध के विचार में जो तपस् का स्वरूप था वह इन्हीं उपर्युक्त बोधि पक्षीय धर्मों में निहित है। वैसे हम कह सकते हैं कि बुद्ध आत्म-निर्यातनमयी तपस्या के कड़े विरोधी थे जैसे कि भोगमयी प्रवृत्ति के। मध्यमा प्रतिपद् का उन्होंने उपदेश दिया था। शरीर को कष्ट देनेवाली तपस्याओं की कड़ी निन्दा करनेवाले सुत्तों का त्रिपिटक में अभाव नहीं है[1]। इसी प्रकार काम-निन्दा भी तथागत के समान विश्व के अन्य किसी शास्ता ने शायद ही की हो[2]। भगवान् कर्म चाहते थे, दण्ड नहीं। 'तपस्वी! दण्ड-दण्ड कहना तथागत का नियम नहीं है। कर्म-कर्म कहना तथागत का

---

(१) देखिए प्रधानतया सामञ्ञफल सुत्त (दीघ० १।२); कस्सप-सीहनाद सुत्त (दीघ० १।८); उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त (दीघ० ३।२); महासीहनाद सुत्त (मज्झिम० १।२।२); कीटागिरि सुत्त (मज्झिम० २।२।१०); दीघनख सुत्त (मज्झिम० २।३।४); नगरविन्देय्य सुत्त (मज्झिम० ३।५।८); सोणदण्ड सुत्त (दीघ० १।४); चूल गोसिंग सुत्त (मज्झिम० १।४।१); पोतलिय सुत्त (मज्झिम० २।१।४); कुक्कुर वतिक सुत्त (मज्झिम० २।१।७); अस्सलायण सुत्त (मज्झिम० २।५।३); घोटमुखसुत्त (मज्झिम० २।५।४); वासेट्ठ सुत्त (मज्झिम २।५।८) आदि।

(२) पालि साहित्य में विषय-दुष्परिणामों के लिये देखिये पोतलिय सुत्तन्त (मज्झिम० २।१।४); काम-सुत्त (सुत्त-निपात) थेरीगाथा, गाथाएँ ३४५-३५८; बौद्ध संस्कृत साहित्य में आचार्य अश्वघोष की वृत्ति काम-निन्दा का वर्णन करने में अधिक रमी है और उन्होंने अनेक काव्यमय वर्णन उपस्थित किये हैं, देखिये बुद्ध चरित, सर्ग ११, सौन्दरनन्द सर्ग ९ तथा १४; ललित विस्तर, महावस्तु आदि अनेक महायानी ग्रन्थों में विषय-वासना के दुष्परिणामों पर गम्भीर प्रवचन हैं, जो अपने शान्तिकारी प्रभाव में अद्वितीय हैं।

नियम है[१]', तपस्या में भगवान् को उतना ही शारीरिक कष्ट मान्य था जितना कि वह कुशल धर्मों की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है और वह भी सीमाओं के साथ और आवश्यकता होने पर ही। 'गृहपति! मैं नहीं कहता कि सब तप तपना चाहिए, न मैं कहता हूँ 'सब तप नहीं तपना चाहिए। न मैं कहता हूँ सब व्रत धारण करने चाहिए और न कहता हूँ नहीं करने चाहिए....... गृहपति! जिस तप को तपते इसके अकुशल धर्म बढ़ते हैं, कुशल धर्म क्षीण होते हैं, ऐसा तप न करना चाहिए, मैं कहता हूँ। इसी प्रकार जिस तप को तपते इसके अकुशल धर्म क्षीण होते हैं, कुशल धर्म बढ़ते हैं, ऐसा तप तपना चाहिए, ऐसा मैं कहता हूँ[२]।' कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के तप को करना अकृतात्मा और असंयमी पुरुषों के द्वारा सम्भव नहीं। 'तो क्या मानते हो भिक्षुओ! क्या तुमने देखा या सुना है, शयन-सुख, स्पर्श-सुख, गृह-सुख से युक्त, इन्द्रियों के द्वारों को न रोकनेवाले, भोजन की मात्रा को न जानने वाले, जागरण में न तत्पर, श्रमण-ब्राह्मणों को, इच्छुनुसार कुशल धर्मों की विपश्यना करनेवाला होते, रात के पहले भाग और पिछले भाग में बोधि-पक्षीय धर्मों की भावना करते, आश्रवों के क्षय से आश्रव रहित चित्त की विमुक्ति, प्रज्ञा-विमुक्ति को इसी जन्म में स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर, प्राप्तकर विहरते?' 'नहीं भन्ते!'[३] 'पानी में पड़े हुए भींगे काष्ठ को जैसे गलाया नहीं जा सकता, ऐसा करने से वह पुरुष थकावट और पीड़ा का ही भागी होता है, ऐसे ही राजकुमार! जो श्रमण-ब्राह्मण काया द्वारा कामवासनाओं में लग्न हो विचरते हैं और जो कुछ भी उनका काम (वासनाओं) में काम रुचि, काम स्नेह, काम मूर्च्छा, काम-पिपासा और काम-परिदाह है, वह यदि भीतर से छूटा नहीं है, शमित नहीं हुआ है, तो प्रयत्न-शील होने पर भी वे श्रमण-ब्राह्मण दुःखद तीव्र कटु वेदना मात्र सह रहे हैं। वे ज्ञान-दर्शन, अनुत्तर संबोधि के अयोग्य हैं[४]।' किन्तु 'जो कोई श्रमण-ब्राह्मण काया द्वारा काम-वासनाओं से अलग हो विहरते हैं और जो उनका कामवासनाओं में काम-परिदाह है वह भीतर से भी अच्छी तरह छूट गया है और वे सुशमित हैं तो वे प्रयत्नशील

---

(१) उपालि सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।६)
(२) दिट्ठिवज्ज सुत्त (अंगुत्तर० १०।२।५।४)
(३) पधानीय सुत्त (अंगुत्तर० ६।१।२।७)
(४) बोधिराजकुमार सुत्त (मज्झिम० २।४।५)

श्रमण-ब्राह्मण दुःखद तीव्र कटु वेदना नहीं भोगते । वे ज्ञान-दर्शन, अनुत्तर संबोध के पात्र हैं । यदि वे प्रयत्नशील श्रमण-ब्राह्मण दुःख तीव्र कटु वेदना को भोगें भी तो भी वे ज्ञान-दर्शन अनुत्तर संबोध के पात्र हैं[१] ।' इस प्रकार हम देखते हैं कि आवश्यकता के अनुरूप तथागत को शरीर-पीड़ा इष्ट है और नहीं भी । इसी प्रकार वे श्रुत से शुद्धि नहीं मानते और न अ-श्रुत से ही। बुद्ध-शासन तो केवल सम्यक् प्रयत्न चाहता है और उसी पर सब कुछ आधारित है। यहाँ यह भी कह देना उचित है कि इस तपस्या की साधना में बुद्ध के अनुसार जातिवाद का कोई विचार नहीं । चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या श्रमण, जो कोई स्मृति-प्रस्थानों की भावना करेगा वही निर्वाण का साक्षात्कार करेगा[२] । जाति या ऊँच नीच का विचार तो आवाह-विवाह में होता है, जहाँ मनुष्य कहते हैं 'तू मेरे योग्य है'; 'तू मेरे योग्य नहीं है' । 'प्रधान' मनुष्यों में विभेद नहीं करता [३] । 'जाति मत पूछ, आचरण पूछ'[४] 'मा जातिं पुच्छ, चरणं च पुच्छ' । यही भगवान् बुद्ध की वाणी है । 'कर्म' से ही वे ब्राह्मणत्व का होना निष्पन्न बताते हैं और उनके धर्म-ह्रद में चाहे मनुष्य किसी भी दिशा से आवे और चाहे किसी वर्ण अथवा जाति का हो, समान रूप से शान्ति पाने का अधिकारी है, शर्त यही है कि वह 'प्रधान' करे[५] । यही चातुर्वर्णी शुद्धि का तात्पर्य है[६] । भगवान् बुद्ध मानव-जाति को एक मानते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार कीट, पतंग, चतुष्पद, मत्स्य, पक्षी आदि

---

(१) बोधिराजकुमार सुत्त (मज्झिम० २।४।५)

(२) अग्गञ्ञ सुत्त (दीघ० ३।४)

(३) 'भन्ते ! चार वर्ण हैं और यदि वे प्रधानीय अंगों से युक्त हों तो क्या भन्ते ! उनमें नानाकरण नहीं होगा ?' 'महाराज ! उनका 'प्रधान' नानात्व नहीं करता ! कण्णत्थलक सुत्त (मज्झिम० २।४।१०); मिलाइये चूल अस्सपुर सुत्त (मज्झिम० १।४।१०)

(४) देखिए सुन्दरिका-भारद्वाज सुत्त (संयुत्त० ७।१।९); मिलाइये सुत्त-निपात ३।४ भी; 'अम्बट्ठ ! जो कोई जातिवाद में फँसे हैं, गोत्रवाद में फँसे हैं, मानवाद में फँसे हैं, आवाह-विवाह में फँसे हैं, वे अनुपम विद्याचरण सम्पदा से दूर हैं। ' अम्बट्ठ सुत्त (दीघ० १।३)

(५) देखिए चूलअस्सपुर सुत्त (मज्झिम० १।४।१०)

(६) देखिए धम्मपद, ब्राह्मण वग्ग; वासेट्ठ-सुत्त (मज्झिम० २।५।८)

जातियों में जातिगत पृथक् चिन्ह होते हैं वैसे मनुष्यों में नहीं होते[१] । जहां प्रव्रज्या और गृहस्थ-धर्म का प्रश्न है, भगवान् सब को ही प्रव्रज्या लेने की भी अनुज्ञा नहीं देते, तपस्सु और भल्लिक को उनकी यही आज्ञा हुई कि तुम्हारे लिए यही श्रेयस्कर है कि घर में रह कर तुम अप्रमाद का जीवन बताओ[२] । गृह-विनय का उपदेश भी भगवान् ने दिया ही है[३] । स्वर्ग-प्राप्ति भी उन्होंने गृहस्थ साधकों की सम्भव मानी ही है, किन्तु जहां चरम उद्देश्य की प्राप्ति का वर्णन आया है वहाँ तो उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ऐसा कोई भी आदमी उनको स्मरण नहीं आता जिसने गृहस्थ हो कर दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त की हो[४] । अर्हत्त्व की अवस्था प्राप्त कर लेने पर गृह-वास सम्भव नहीं है । भगवान् निश्चय ही गृहस्थ-जीवन को पूर्ण पवित्रता के लिए कुछ अनुपयुक्त स्थान समझते थे, इसलिए यदि उन्होंने विशेष साधन सम्पन्न व्यक्तियों (यथा राष्ट्रपाल और काश्यप आदि) को प्रव्रज्या की ओर उत्साहित किया हो, तो यह भारतीय परम्परा के अनुकूल ही था । । 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा ।' यह आदेश उपनिषदों का भी था। जिन विद्वानों ने आश्रम-धर्म के प्रश्न को लेकर बौद्ध और वैदिक जीवन-विधि के स्वरूपों

---

(१) वासेट्ठ-सुत्त (मज्झिम० २।५।८)

(२) 'स्थपतियो ! गृहवास बाधा पूर्ण और रागादि मल का आगमन मार्ग है; प्रव्रज्या ही खुली जगह है । किन्तु स्थपतियो ! तुम्हारे लिए अप्रमाद से रहना ही युक्त है ।' थपति सुत्त, संयुत्त० ५४।१।६); 'सोण ! अच्छा हो तू गृहस्थ रहते ही बुद्धों के शासन का अनुगमन कर ।' सोण सुत्त (उदान ५।६)

(३) देखिए सिगालोवाद सुत्त (दीघ० ३।८); थपति सुत्त (संयुत्त० ४५।१।६); छव सुत्त (अंगुत्तर ४।२।१) आदि।

(४) 'हे गौतम ! क्या कोई गृहस्थ है जो गृहस्थ के संयोजनों को बिना छोड़े काया को छोड़ दुःख का अन्त करनेवाला हो' ? 'नहीं वत्स ! ऐसा कोई गृहस्थ नहीं' । 'हे गौतम ! क्या कोई ऐसा गृहस्थ है जो गृहस्थ के संयोजनों को बिना छोड़े काया छोड़ने पर स्वर्ग को प्राप्त होने वाला हो' ? 'वत्स एक ही नहीं सौ. . .दो सौ. . . .अनेक गृहस्थ हैं जो गृहस्थ के संयोजनों को बिना छोड़े मरने पर स्वर्गगामी होते हैं' । तेविज्ज-वच्छगोत्त सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

में विभेद किया है, उन्होंने मूल भावना को समझा नहीं है। हाँ, बुद्ध के उपदेशों के प्रति तत्कालीन सामाजिक प्रतिक्रिया को लेकर वे बहुत कुछ बढ़े चले गए हैं, किन्तु इसी प्रकार उन्होंने 'कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो' और 'अत्तकिलमथानुयोगो' इन दोनों ही कोटियों से अलग 'मध्यमा प्रतिपद' पर भी कुछ अधिक ध्यान दिया होता, तो कदाचित् ऐसा वे नहीं कह सकते थे।

इस प्रकार हमने बौद्ध आचार तत्त्व को उपर्युक्त बोधि-पक्षीय धर्मों के रूप में देखा है और उनमें निहित तपस्या के स्वरूप पर भी कुछ विचार किया है।

नैतिक आदर्शवाद ही बुद्ध का वास्तविक मन्तव्य

इस सब से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तथागत का एकतम लक्ष्य नैतिक तत्त्व की प्रतिष्ठा करना ही था और उसे उन्होंने विशुद्धतम रूप में प्रस्तुत किया है। उसे हम किन्हीं सीमाओं से बाँध नहीं सकते। वह निरपेक्ष और स्वतः परिपूर्ण है। प्रजापती गौतमी से भगवान् ने कहा था, 'हे गौतमी ! जिन धर्मों को तू जाने कि ये स-राग के लिए हैं, विराग के लिए नहीं, संयोग के लिए हैं, वियोग के लिए नहीं, जमा करने के लिए हैं असंग्रह के लिए नहीं, इच्छाओं को बढ़ाने के लिए हैं, इच्छाओं को कम करने के लिए नहीं; असन्तोष के लिए हैं, सन्तोष के लिए नहीं; भीड़ के लिए हैं, एकान्त के लिए नहीं; अनुद्योगिता के लिए हैं, उद्योगिता के लिए नहीं..........तो तू गौतमी ! सोलहो आने जानना कि वह न धर्म है, न विनय है, न शास्ता का शासन है, किन्तु इनसे विपरीत जो धर्म हैं, अर्थात् जो विराग के लिये हैं, उद्योगिता के लिये हैं, उन्हें जानना कि ये सोलहो आने तथागत के धर्म है, विनय हैं, शासन हैं।[१]" इससे स्पष्ट है कि जो कुछ भी विराग, असंग्रह, सन्तोष और उद्योगिता के लिये है, वह सब बुद्ध का शासन है, वह उन्हें मान्य है। उसी के लिये बुद्ध के दर्शन की तात्त्विक व्यवस्था है। सम्पूर्ण, दार्शनिक मतवादों के बीच में होकर तथागत ने मध्यमा प्रतिपदा का आविष्कार किया था, यह इसी कारण कहा जाता है।

शरीर-पीड़ा और भोगवाद की अतियों से बचकर जिस प्रकार भगवान् ने आर्य अष्टांगिक मार्ग के रूप में समन्वित जीवन-विधि का विकास किया

---

(१) पजापती पब्बज्जा सुत्त (अंगुत्तर० ८।२।१।३)

आर्य अष्टांगिक मार्ग के अलावा मध्यमा प्रतिपदा का एक गम्भीरतर रूप प्रतीत्यसमुत्पाद

उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वय-विधान किया। इस प्रकार उनके द्वारा साक्षात्कृत मध्यमा प्रतिपदा अपने पूर्ण अर्थ में अत्यन्त व्यापक और विस्तृत दृष्टि लिये हुई थी। बुद्ध के सम्पूर्ण शासन की मध्यम-मार्ग के रूप में व्याख्या की जा सकती है। 'मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति'। मध्यम-मार्ग के द्वारा तथागत धर्म का उपदेश करते हैं, यह बात आर्य अष्टांगिक मार्ग पर ही लागू नहीं है, बुद्ध की सम्पूर्ण तात्त्विक स्थिति की व्याख्या हमें इसी दृष्टि से करनी चाहिये, तभी हम उनकी नैतिक और तात्त्विक परिस्थितियों की पारस्परिक संगति भी मिला सकेंगे। यहाँ हम यही कहना चाहेंगे कि जीवन-विधि को लेकर जिस प्रकार तथागत ने संश्लेषणात्मक आर्य अष्टांगिक मार्ग हमें दिया, उसी प्रकार जिस तात्त्विक आधार को उन्होंने स्वीकार किया वह भी उनके काल में प्रचलित नाना दार्शनिक मतवादों की भूलभुलैयों और उनके अतिवादों से बचकर मौन साधना करने के लिये था, जिससे सत्य प्राप्त होता है। जिन मुख्य अतियों से बचकर तथागत ने अपने सम्यक् दर्शन को प्रस्तुत किया, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है :—

(१) **सब्बं अत्थि**—सब है—नित्यतावादी मत।

(२) **सब्बं नत्थी'ति**—सब नहीं है—अनित्यतावादी मत।

(३) **सब्बे पुब्बेकतहेतू**—सब पूर्वकृत हेतुओं के कारण है, चाहे वह हेतु ईश्वर हो, या भाग्य या काल या अन्य कोई।

(४) **सब्बे अहेतू अप्पच्चया**—सब का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है।

(५) **सुखदुक्खं सयं कतं**—सुख-दुःख स्वयंकृत हैं।

(६) **सुख दुक्खं परंकतं**—सुख-दुःख पर-कृत हैं।

इन सब विरोधी अतियों (अन्तों) का समाधान भगवान् ने प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के द्वारा किया, जिसका विवेचन अब हम करेंगे।

६—प्रतीत्य समुत्पाद (पटिच्चसमुप्पाद) अथवा प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम

प्रतीत्य समुत्पाद (पालि, पटिच्चसमुप्पाद) का अर्थ है प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम—प्रतीत्य (इसके होने से) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता

प्रतीत्य समुत्पाद का संक्षिप्त अर्थ, महत्व और उद्देश्य

है) इस सम्बन्धी ज्ञान। इसी परिभाषा में यह भी सम्मिलित है कि इसके न होने से यह नहीं होता, इसके निरोध से यह भी निरुद्ध हो जाता है[१]। प्रतीत्य समुत्पाद में 'प्रत्यय' शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसलिये प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य केवल उत्पत्ति मात्र नहीं है। 'न उप्पादमत्तं पटिच्च समुप्पादो'[२]। केवल उत्पत्ति मात्र का ज्ञान प्रतीत्य-समुत्पाद नहीं है। प्रत्येक उत्पाद (उत्पत्ति) का कोई प्रत्यय, कारण, हेतु है, यह प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है। जिसके होने से जो अन्य वस्तु हो, तो वह पहली वस्तु उस दूसरी वस्तु का 'प्रत्यय' कहलाती है[३]। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु का अवश्यम्भावी रूप से आश्रय लेकर स्थित होती है या उत्पन्न होती है, तो वह (दूसरी वस्तु) उस (पहली वस्तु) का 'प्रत्यय' कहलाती है[४]। उपकारक या सहायक होना ही प्रत्यय होने का लक्षण है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की स्थिति या उत्पत्ति में उपकारक या सहायक

---

(१) इमस्मिं सति इदं होति, इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति, इमस्मिं असति इदं न होति, इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति। बहुधातुक-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।५); देखिये महा-तण्हा-संखय सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८) भी; मिलाइये, 'अत्रायं धर्म संकेतो यदस्मिन् सति इदं भवति अस्योत्पादादिदमुत्पद्यत इति। बोधिचर्यावतार पञ्जिका, पृष्ठ ४७४; देखिये माध्यमिक वृत्ति, पृष्ठ ९ (पूसां का संस्करण)।

(२) विसुद्धि मग्ग १७।११; प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ हम केवल उत्पत्ति क्यों नहीं ले सकते, इसके लिये आचार्य बुद्धघोष ने चार कारण दिये हैं—(१) सुत्तपिटक में इस सम्बन्धी प्रमाण का अभाव है (सुत्ताभावतो) (२) सुत्तपिटक का इससे स्पष्ट विरोध है (सुत्तविरोधतो) (३) ऐसा अर्थ लेने से गम्भीरता की हानि है (गम्भीरनयासम्भवतो) और (४) व्याकरण सम्बन्धी दोष है (सद्दभेदतो)। इनके विस्तृत विवरण के लिये देखिये विसुद्धि मग्ग, १७।८-१३

(३) पटिच्च एतस्मा एतीति पच्चयो। विसुद्धिमग्ग १७।६८

(४) यो हि धम्मो यं धम्मं अपच्चक्खाय तिट्ठति व उप्पज्जति वा सो तस्स पच्चयो'ति वुत्तं होति। विसुद्धिमग्ग १७।६८

हो, तो वह उसका 'प्रत्यय' कहलाती है[१] । इसलिये प्रत्यय-सामग्री के हेतु से ही, उसके बिना नहीं, जो धर्मों (पदार्थों) का स्थिति में आना है, वह प्रतीत्य समुत्पाद है । उत्पत्ति न स्वतः होती है और न बिना हेतुओं के ही, बल्कि वह प्रत्ययों के आश्रय से ही या उनके साथ ही होती है, यही प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रस्थान-बिन्दु है । प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, समुदय और उद्भव आदि शब्द इस प्रसंग में समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं[२] । प्रतीत्य समुत्पाद ही को 'तथता', 'अवितथता', 'अनन्यथता' और 'इदं प्रत्ययता' (इसके होने से यह होने की अवस्था) भी कहा गया है[३] । 'तथता' इसलिये कि उन-उन प्रत्ययों से उन-उन धर्मों, पदार्थों या अवस्थाओं की नियमानुसार उत्पत्ति होती है, उनसे कम या अधिक की नहीं; 'अवितथता' इसलिये कि प्रत्यय-सामग्री उपस्थित होने पर उससे उत्पन्न होनेवाले धर्म भी अवश्यम्भावी रूप से उपस्थित होते ही हैं; 'अनन्यथता' इसलिये कि किन्हीं अन्य पदार्थों रूप प्रत्ययों से किन्हीं अन्य पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती; और 'इदं प्रत्ययता' इसलिये कि सभी पदार्थ प्रत्ययों या प्रत्यय-समूहों के द्वारा ही उत्पन्न होनेवाले होते हैं'[४] । पदार्थों की कारण-सामग्री में 'इसके प्रत्यय से यह' यह सम्बन्ध सदा रहता ही है । यही 'इदं प्रत्ययता' का अर्थ है ।

वैसे तो बुद्ध-शासन में सभी कुछ महान् है, सभी कुछ गम्भीर है ! सम्राट् अशोक की वाणी में हम आज भी दुहरा सकते हैं—ये केचि भगवता बुधेन भासिहें सवे से सुभासिते वा[५] । अर्थात् भगवान बुद्ध ने जो कुछ भी कहा है, सब सुन्दर ही कहा है । और फिर धर्म सेनापति सारिपुत्र के शब्दों में बुद्ध-

---

(१) यो हि धम्मो यस्स धम्मस्स ठितिया वा उप्पत्तिया वा उपकारको होति सो तस्स पच्चयोति वुच्चति । विसुद्धिमग्ग १७।६८

(२) पच्चयो, हेतु, कारणं, निदानं, सम्भवो, पभवोति आदि अत्थतो एकं, व्यञ्जनतो नानं । विसुद्धिमग्ग १७।६८

(३) "इति खो, भिक्खवे, या तत्र तथता, अवितथता, अनञ्ञथता, इदप्पचयता अयं वुच्चति भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादो ।" संयुत्त निकाय, विसुद्धिमग्ग १७।५ में उद्धृत ।

(४) देखिये विसुद्धिमग्ग १७।६

(५) भाब्रू शिलालेख ।

शासन सदा ही मनन करने के लिये अत्यन्त उत्तम है[1]। किन्तु फिर भी जो दार्शनिक गहनता और नैतिक व्यापकता तथा मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट इस प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी सिद्धान्त में निहित है, वह दार्शनिक नय में अन्यत्र दुर्लभ है। जिस सिद्धान्त को तथागत पूरी तरह जानने का दावा करते हों, पूरी तरह समझने का दावा करते हों (यं तथागतो अभिसम्बुज्झति अभिसमेति) उसमें इतनी गम्भीरता भी क्यों न हो? कहा ही गया है कि सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने के समय ही भगवान् बुद्ध को इस महान् सत्य का साक्षात्कार हुआ था। अभिसम्बोधि प्राप्त करते हुए बुद्धदेव ने प्रथम याम में पूर्व-जन्मों का ज्ञान प्राप्त किया, मध्यम याम में दिव्य चक्षु प्राप्त किये और अन्तिम याम में प्रतीत्य समुत्पाद का साक्षात्कार किया था[2]। प्रतीत्य समुत्पाद का चिन्तन ही, उस पूर्ण ज्ञानी (अभिसम्बुद्ध) पुरुष का सर्वप्रथम ध्यान (विहार) था[3]। बुद्धत्व प्राप्त कर विमुक्ति-सुख का अनुभव करते हुए सप्ताह भर एक ही आसन से बैठकर भगवान् ने रात के पहले पहर में 'इसके होने से यह होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है' इस प्रकार अनुलोम (सीधे प्रकार) से; मध्यम पहर में 'इसके नहीं होने से यह नहीं होता है, इसके रुक जाने से यह रुक जाता है' इस प्रकार प्रतिलोम (उल्टे रूप) से; और अन्तिम पहर में 'इसके होने से यह होता है, इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है; इसके नहीं होने से यह नहीं होता है, इसके रुक जाने से यह रुक जाता है' इस प्रकार अनुलोम-प्रतिलोम प्रकार से, चिन्तन किया था[4]। जहां कहीं भी प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया गया है या उसका वर्णन आया है, भगवान् इसकी गम्भीरता पर जोर देते दिखाये गये हैं। यहाँ तक कि अपने चिर-उपस्थाक और अत्यन्त साधन-सम्पन्न शिष्य आनन्द को भी उन्होंने इसके विषय में एक साधारण दृष्टिकोण लेने से आगाह किया। "आश्चर्य है भन्ते! अद्भुत है भन्ते! कितना

(१) देखिये मिलिन्द-प्रश्न, पृष्ठ ४५३ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)
(२) देखिये विनयपिटक—महावग्ग।
(३) "....पटिच्चसमुप्पादमनसिकारो पठमाभिसम्बुद्धविहारो।" विसुद्धिमग्ग १७।९
(४) देखिये विनयपिटक, महावग्ग १।१-३ मिलिन्द प्रश्न २।३।१; उदान १।१-२; विसुद्धिमग्ग १७।९

गम्भीर है और गम्भीर-सा दीखता भी है यह प्रतीत्य समुत्पाद, पर मुझे यह साफ-साफ जान पड़ता है[१] ।" ऐसा एक बार आनन्द ने कहा था। परन्तु शास्ता ने उन्हें रोकते हुए कहा—"ऐसा मत कहो आनन्द! ऐसा मत कहो आनन्द! यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर सा दीखता भी है[२] ।" जब भगवान् के सदा पास रहनेवाले शिष्य आनन्द की यह हालत है तो फिर उपनिषद् की भाषा में जिनका 'जियो और मरो'[३] यह तृतीय ही पन्थ है, उन हम अज्ञ पृथग्जनों के विषय में तो कहना ही क्या ? "आनन्द! इस धर्म (प्रतीत्य समुत्पाद) को न जानने, न प्रतिवेध करने से ही ये प्रजाएँ उलझे सूतसी, गाँठें पड़ी रस्सी-सी, मूंज वल्वज-सी, दुःख, दुर्गति, पतन, विनिपात को प्राप्त हो, संसार से पार नहीं हो सकतीं ।"[४] जिन्होंने कामों के आस्वादों को ही जीवन का लक्ष्य बना लिया है उनके द्वारा यह प्रतीत्य समुत्पाद रूपी सत्य साक्षात्कार करने के योग्य नहीं, उनके द्वारा यह परम अणु धर्म विज्ञेय नहीं। "इन आसक्ति में पड़ी, आसक्ति में रत, आसक्ति में प्रसन्न, प्रजाओं के लिये यह बहुत कठिन है कि वे कार्य कारण-सम्बन्धी प्रतीत्य समुत्पाद के नियम को समझ सकें[५] ।" वास्तव में कारणवाद सम्बन्धी ज्ञान ही भगवान् बुद्ध के

---

(१) अच्छरियं भन्ते ! अब्भुतं भन्ते ! याव गम्भीरो चायं भन्ते पटिच्च-समुप्पादो गम्भीरावभासो च । अथ च पन मे उत्तान कुत्तानको विय खायतीति । महानिदान-सुत्त (दीघ० २।२)

(२) मा हेवं आनन्द अवच, मा हेवं आनन्द अवच । गम्भीरो चायं आनन्द पटिच्च समुप्पादो गम्भीरावभासो च । उपर्युक्त के समान ही । देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ९२ भी (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) 'जायस्व म्रियस्व' । छान्दोग्य० ५।१०।८

(४) एतस्स आनन्द धम्मस्स अननुबोधा अप्पटिवेधा एवं अयं पजा तन्ताकुलक-जाता गुलागुण्ठिकजाता (अथवा, कुलकुण्डिकजाता, गुणगण्ठिकजाता, यह भी पाठ) मुञ्जवब्बजभूता अपायं दुग्गतिं विनिपातं संसारं नाति-वत्तति । महानिदान सुत्त (दीघ० २।२) ।

(५) आलयरामा खो पनायं पजा आलयरता आलयसम्मुदिता । आलयरामाय खो पन पजाय आलयरताय आलयसम्मुदिताय दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयता पटिच्च समुप्पादो । महापदान सुत्त (दीघ० २।१) ।

सम्पूर्ण मन्तव्य का विश्लेषण है, बौद्ध दार्शनिक भाषा में कहें तो "हेतु का ज्ञान ही धर्म-प्रतिसम्विद् है"[१]। हेतु ही धर्म है[२]। स्वयं भगवान् बुद्ध ने धर्म और प्रतीत्य समुत्पाद की एकता दिखाते हुए कहा था, "जो कोई प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है; जो कोई धर्म को देखता है वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है[३]"। वस्तुतः धर्म प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। "भिक्षुओ ! मैं तुम्हें (धर्म) कहता हूँ" ऐसा कहकर भगवान् ने 'इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है, जैसे कि अविद्या के कारण संस्कार' आदि रूप से प्रतीत्य समुत्पाद का ही उपदेश दिया था[४]। अतः हम कह सकते हैं कि बुद्धोपदिष्ट धर्म और प्रतीत्य समुत्पाद दोनों एक हैं। यदि तथागत-प्रवेदित धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझना है, तो उनके द्वारा उपदिष्ट दुर्धर्ष अटल नियम प्रतीत्य समुत्पाद को समझना ही होगा, और फिर यह नियम तो स्वयं तथागत की भी अपेक्षा नहीं रखता। "चाहे तथागत उत्पन्न हों या चाहे तथागत उत्पन्न न हों, किन्तु यह जो धर्मों की अविचल स्थिति है, धर्म नियामता रूपी धातु (मूल वस्तु) है, इदं प्रत्ययता (प्रतीत्य समुत्पाद) है, यह तो हर दशा में सदा ठहरती ही है।"[५] अत्यन्त व्यवस्थित, प्रतिनियत, देश, काल, निमित्त, क्रिया और फल वाले इस[६] सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक संसार-चक्र के विषय में भगवान् तथागत का यह कहना निश्चय ही बिलकुल ठीक ही था। यह किसकी अपेक्षा रखता है ? मनुष्य की साधना की सार्थकता तो इसी में है कि वह इसके रूप को समझे और तदनुकूल बरते।

बुद्ध-वचनों के साक्ष्य पर इस प्रकार हमने प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त की

---

(१) हेतुम्हि ञाणं धम्मपटिसम्भिदा। विभंग, विसुद्धिमग्ग १७।३०६ में उद्धृत

(२) हेतुनो हि धम्मोति नामं। विसुद्धिमग्ग १७।३०६

(३) महाहत्थिपदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।८)

(४) देखिये महातण्हासंखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)

(५) उप्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतानं ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्म नियामता इदप्पच्चयता। संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २५-२६ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण), विसुद्धिमग्ग १७।५ में उद्धृत।

(६) अस्य जगतो........प्रतिनियत देश कालनिमित्त क्रिया फलाश्रयस्य। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य १।१।२

गम्भीरता का कुछ दिग्दर्शन किया है। अब स्थविरवाद-परम्परा और उत्तर-कालीन बौद्ध दार्शनिक विकास इस विषय में क्या कहते हैं, इसपर कुछ तुलनात्मक दृष्टि से यहाँ विचार कर लेना चाहिये। आचार्य बुद्धघोष के समान तेजस्वी आचार्य और व्याख्याकार स्थविरवाद-परम्परा में कोई दूसरा नहीं हुआ है। और फिर सच बात तो यह है कि स्वयं त्रिपिटक को छोड़कर यदि और कहीं 'प्रतीत्य समुत्पाद' का मूल बुद्ध-दर्शन के अनुसार हमें पूर्णतम विवरण और विवेचन मिल सकता है, तो वह बुद्ध घोषाचार्य के अद्वितीय ग्रन्थ 'विसुद्धि-मग्ग' में ही है। यहाँ पर महास्थविर ने अनेक प्रकार से प्रतीत्य समुत्पाद की गम्भीरता को विवेचित किया है[1]। प्राचीन आचार्यों का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा है कि "सत्य, प्राणी, पुनर्जन्म और प्रत्यय (हेतु) इन चार बातों का जानना (देखना) तो कठिन है ही, इनका उपदेश करना तो और भी अधिक कठिन है[2]"। आगम (शास्त्रीय अध्ययन) और अधिगम (आध्यात्मिक साधना) की जिनमें परिपूर्णता है, वही वास्तव में इस 'गम्भीर' दुर्ज्ञेय, दुर्बोध, शान्त, प्रणीत (उत्तम), तर्क से अप्राप्य, विज्ञजनों के द्वारा समझने योग्य' धर्म को साक्षात्कार करने के अधिकारी हैं। स्वयं बुद्धघोषाचार्य जैसे साधन-सम्पन्न महास्थविर को भी प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन करते समय ऐसा भान होने लगा जैसे कि वे महासागर का अवगाहन कर रहे हैं। "पतिट्ठं नाधिगच्छामि अज्झोगाळ्हो व सागरं।"[3] कोई आश्चर्य नहीं यदि दर्शन के साधारण विद्यार्थी की भी यही अवस्था हो जाय!

फिर प्रतीत्य समुत्पाद का महत्त्व न केवल स्थविरवादी बौद्ध धर्म के लियेही है, बल्कि समग्र बौद्ध दर्शन के विकास और मूल-बुद्ध दर्शन के साथ उसके सम्बन्ध को समझने के लिये भी हमें प्रतीत्य समुत्पाद के मूल स्वरूप को समझना बहुत आवश्यक है। शून्यवाद (माध्यमिक मत) के प्रभावशाली आचार्य महामति नागार्जुन ने सर्वप्रथम भगवान् बुद्ध को प्रतीत्य समुत्पाद के उपदेष्टा के रूप में ही स्मरण किया है और प्रतीत्य समुत्पाद पर ही उन्होंने अपने सम्पूर्ण शून्य-वादी दर्शन की नींव भी रक्खी है। इसी प्रकार अन्य अनेक उत्तर कालीन बौद्ध

---

(१) विसुद्धिमग्ग १७।३०४-३१४

(२) सच्चं सत्तो पटिसन्धि पच्चयाकारमेव च। दुद्दसा चतुरा धम्मा देसेतुं च सुदुक्करा॥ विसुद्धिमग्ग १७।२५ में उद्धृत।

(३) विसुद्धिमग्ग १७।२५

आचार्यों ने भी इस सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की हैं। तुलनात्मक अध्ययन से ही हम इन सब की विशेषताओं को अलग-अलग समझ सकते हैं और जान सकते हैं कि कहाँ तक उन्होंने मूल बुद्ध-मन्तव्य का अनुगमन किया है, और कहाँ वे उससे बाहर गये हैं। पर विशुद्ध बुद्ध-शासन की दृष्टि से भी जो हमारा प्रस्तुत विषय है हमें यहीं प्रतीत्य समुत्पाद की कुछ प्रधान विशेषताओं पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेनी चाहिये ताकि न केवल आगे विवेचन का विषय बनाये जानेवाले उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक विकास को ही हम उसके पूर्व रूप के साथ मिलाकर ठीक प्रकार अध्ययन कर सकें, बल्कि इसलिये भी कि अभी मूल बुद्ध-दर्शन की परम्परा के अनुसार भी प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन करते समय हम उन विशेषताओं को ध्यान में रक्खें जो स्थविरवाद-परम्परा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

यदि चतुरार्य सत्यों को हम बुद्ध धर्म के मूल उपादान मानें और अनत्ता या अनात्मवाद के सिद्धान्त को बुद्ध-शासन की तात्त्विक प्रतिष्ठा, तो हम निश्चय ही कह सकते हैं कि प्रतीत्य समुत्पाद इन दोनों की मध्यस्थता करता है। अपने एक स्वरूप में जब कि यह नियम द्वितीय और तृतीय आर्य सत्य रूप (दुःख-) समुदय और (दुःख-) निरोध की हेतुसम्मत व्याख्या करता है और अविचल कार्य-कारण-भाव सम्बन्धी नियम के आधार पर दुःख-निरोध की सम्भवता दिखाता है, तो अपने दूसरे रूप में यह सभी बाह्य और आन्तरिक पदार्थों या धर्मों को क्षणिक, अनित्य और प्रतीत्य समुत्पन्न दिखाकर उनमें अनात्म बुद्धि का स्फुरण करता है, जो दुःख और वेदनाओं के निरोध का एकमात्र उपाय है। वह न शाश्वत अस्तित्व कहता है और न उच्छेद। इस प्रकार वह मध्यवर्ती मार्ग का अवलम्बन करता है। एक दूसरे प्रकार की मध्यस्थता भी प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धान्त करता है। वह इस बात का साक्षी है कि जिस प्रकार महाश्रमण (बुद्ध) का वाद शाश्वतवाद से व्यतिरिक्त है, उसी प्रकार वह उच्छेदवाद, अ-क्रियावाद, अ-कारणवाद और नास्तिकवाद से भी व्यतिरिक्त है। प्रतीत्य समुत्पन्न धर्मों की क्या शाश्वतता और प्रत्ययों से बार-बार उत्पन्न और निरुद्ध होनेवाले धर्मों की कहाँ से उच्छेद-कथा? वे केवल प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, कारण-सन्तति से प्रवाहित होनेवाले हैं, यही तो कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'जो करता है वही फल उपभोग करता है, (सो करोति सो पटिसंवेदति[1]) या 'अन्य करता है

(१) निदान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

और अन्य फल उपभोग करता है (अञ्ञो करोति अञ्ञो पटिसंवेदति[१]) इन दो अतिवादमयी शंकाओं से भी प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-मन्तव्य को बचा ले जाता है। "यह विश्वास करना कि कर्म का कर्ता और दूसरे जन्म में उसके फल का उपभोग करने वाला, ये दोनों एक हैं, यह एक अति है। इसी प्रकार यह विश्वास करना कि कर्म का करनेवाला और उसके फल का उपभोग करनेवाला, ये दो भिन्न-भिन्न हैं, यह दूसरी अति है। पूर्ण पुरुष तथागत ने इन दोनों अतियों को छोड़ दिया है, और इन दोनों के मध्य में स्थित सत्य को उन्होंने सिखाया है[२]।" यही तो प्रतीत्य समुत्पाद है, मध्यमा प्रतिपदा का अत्यन्त उच्चकोटि का दार्शनिक रूप। पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी अनेक सुत्तों, इतिवुत्तकों, उदानों और वेय्याकरणों में कारुणिक शास्ता ने प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश दिया है और ऐसा करने मे उनकी करुणा को छोड़ और क्या कारण हो सकता है? आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि नाना प्रकार से भगवान् ने इसीलिये प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश दिया है कि एक तो यह सिद्धान्त ही सर्वतः कल्याणकारी है और फिर स्वयं तथागत को उपदेश देने में परिपूर्णता (पारमिता) प्राप्त है[३]। फिर यहां अपूर्व विस्तार क्यों न हो? प्रतीत्य समुत्पाद को हम आसानी से भगवान् तथागत की करुणा का ज्ञा।मय परिणाम कह सकते हैं। ऐतिहासिक विद्वान् जिन्हें भावना से विशेष काम नहीं है, प्रायः समझते हैं कि अनेक प्रकार के उपदेश तो भिन्न-भिन्न स्थानों और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के प्रति उपदेश देने के कारण ही हैं। यह कहना भी ठीक ही है। कुछ यह भी कहते हैं कि प्रतीत्य समुत्पाद के स्वरूप-निर्णय में ही बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक युग में कुछ विनिश्चितता नहीं थी, इसलिये भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णन इस अव्यवस्थित स्वरूप के कारण मिलते हैं और उनको एक व्यव-

---

(१,२) संयुत्त-निकाय।

(३) कस्मा पनेवं देसेतीति? पटिच्च समुप्पादस्स समन्त भद्दकत्ता, सयं च देसनाविलासप्पत्तत्ता। समन्त भद्दको हि पटिच्च-समुप्पादो ततो ततो ञायपटिवेधाय संवत्तति येव। देसना विलासप्पत्तो च भगवा चतुवेसारज्जपटिसम्भिदा योगेन चतुब्बिध गम्भीर भावप्पत्तिया। सो देसनाविलासप्पत्तत्ता नानानयेहेव धम्मं देसेति। विसुद्धिमग्ग १७।३३; मिलाइये विसुद्धि मग्ग १७।२२-२३ भी।

स्थित रूप में बाँधना और फिर उसकी मनोयोगपूर्वक रक्षा करना और तर्कों से उसकी संगति दिखाना तो बाद के आचार्यों का काम है। इस मत को गले उतारना कुछ कठिन है, पर इस विवाद में न पड़ना ही ठीक है। यहाँ तो हमें यही कहना है कि सुत्त-पिटक में (अभिधम्म पिटक में विशेषज्ञ ही आश्वासन पा सकते हैं) जो संवादों के रूप में हमें प्रतीत्य समुत्पाद के विवरण मिलते हैं उनमें दार्शनिक एकरूपता और व्यवस्था चाहे ऊपर से भले ही दिखाई न पड़े परन्तु आधारभूत रूप से वह वहाँ विद्यमान है और विभिन्न पात्रों के योग्यता-क्रम से उसका केवल घटा-बढ़ाकर वर्णन किया गया है। थोड़ी-सी भी सहानुभूति जिसके अन्दर हो वह इन वर्णनों को पढ़कर आज भी यह कहे विना नहीं रह सकता 'औंधे को जैसे सीधा कर दे, ढँके को जैसे उघाड़ दे, भूले को रास्ता बतला दे, अन्धकार में तेल का प्रदीप रख दे ताकि आँख वाले रूप को देखें, ऐसे ही गोतम ने अनेक प्रकार से धर्म को प्रकाशित किया।' हमने त्रिपिटक में अनेक बार पढ़ा है कि प्रयोजन को लेकर ही तथागत बोलते हैं, बिना प्रयोजन के तथागत शब्दों का कभी व्यवहार नहीं करते। तो फिर हमें देखना ही चाहिये कि प्रतीत्य समुत्पाद के उपदेश में उन प्रयोजन-वादी, अर्थार्थी शास्ता का क्या उद्देश्य था?

चतुरार्य सत्य, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, बुद्ध-शासन के मूल उपादान हैं। वे ही 'बुद्धों की वह उठाने वाली धर्म-देशना' हैं जिनके द्वारा भगवान् बुद्ध साधकों को उच्च मानसिक स्थिति में उठाया करते थे। चतुरार्य सत्यों में आर्य अष्टांगिक मार्ग और प्रतीत्य समुत्पाद दोनों अन्तर्भावित हैं, यह हम पहले देख चुके हैं[१]। भगवान् बुद्ध का सम्पूर्ण मन्तव्य वस्तुतः चार आर्य सत्यों में रक्खा हुआ है। और चार आर्य-सत्य भी हम यहां क्यों कहें, दो भी कहना तो पर्याप्त होगा। "भिक्षुओ! दो ही चीजें मैं सिखाता हूँ— दुःख और दुःख से विमुक्ति।"[२] इससे अधिक जिन्होंने जानना चाहा वे उनके धर्म-विनय से वापस चले गये। हमारे 'अति प्रश्नों' के लिये तथागत ने कोई स्थान ही नहीं छोड़ा है। किन्तु फिर भी हम अनेक प्रकार के 'अति-प्रश्न' बुद्ध-शासन के विषय में करते ही हैं। 'प्रतीत्य समुत्पाद' भी भारतीय दार्शनिक विकास में अनेक प्रकार के अति प्रश्नों का शिकार हुआ है। किन्तु

(१) देखिये पीछे चार आर्य सत्यों का विवेचन।
(२) संयुत्त-निकाय।

हमें तो यही स्मरण रखना है कि तथागत सिद्धान्तों के प्रख्यापक आचार्य नहीं हैं, वे तो मनुष्य-जाति के अद्वितीय भिषक् (अनुत्तरो भिसक्को) ही हैं। एक चतुर वैद्य के समान वे रोगी के रोग, निदान, भैषज्य, पथ्य और आरोग्य के विषय में तो सब जिज्ञासाओं का सहेतुक उत्तर देने को तैयार हैं, बल्कि अनेक पर्यायों से इसे बताते हुए कारुणिक शास्ता को कभी थकावट या आलस्य ही नहीं है। किन्तु यदि रोग की विषम अवस्था में रोगी व्यर्थ प्रलाप ही करने लग जाय, संनिपात की अवस्था में बकने ही लग जाय, तो वैद्य उसकी जिज्ञासाओं को लेकर क्या करेगा ? इस हालत में उसके प्रश्नों को ही गलत बता कर उसे केवल औषध को ही सेवन करने के लिये कहा जा सकता है। अन्य दर्शनकार और विचारक चाहे जो कुछ कहें, और अपनी-अपनी दृष्टियों से सभी को बुद्ध-मन्तव्य की व्याख्या करने का अधिकार है, किन्तु बुद्ध का स्वयं का दृष्टिकोण यही मालूम पड़ता है कि जो न निर्वेद के लिये है, न विराग के लिये है, न निरोध के लिये है, न शान्ति के लिये है, न श्रेष्ठ ज्ञान के लिये है, न परिपूर्ण बोध के लिये है और न निर्वाण के लिये है, उसका बुद्ध-शासन में निश्चय ही कोई स्थान नहीं है[१]। इन सब बातों के प्रकाश में ही हमें देखना चाहिये कि भगवान् ने प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश किस मन्तव्य को लेकर दिया ? सब से प्रथम बात तो यही है कि बुद्ध के दर्शन की जो सब से बड़ी विशेषता है वह है उसका हेतुओं पर आश्रित होना। यही एक ऐसी प्रभावशाली बात है जो उन्हें एक ओर तो उन अहेतुकतावादियों, यदृच्छावादियों, नास्तिकतावादियों, नियतिवादियों अथवा निराशावादियों से पृथक् करती है जिनके अनुसार दुःख का आगमन किसी कारण को लेकर नहीं होता अतः उसका उच्छेद भी अशक्य अथवा असम्भावित है, और दूसरी ओर उन ऐसे जनों से जो ईश्वर-निर्माण या भवितव्यता के कारण दुःख का उद्गम मानते हैं और जो किसी दूसरे की सहायता से ही (फिर चाहे वह ब्रह्मा हो, या ईश्वर या काल या स्वभाव या अन्य कोई देवता या मनुष्य विशेष) भव को पार किया चाहते हैं। भगवान् का स्पष्ट उत्तर है कि दुःख न तो अ-कारण है और न वह ईश्वर-निर्माण या भवितव्यता के कारण है। दुःख है और कारणों के सहित ही वह है और आश्वासन की बात यह है कि उन कारणों के निरोध कर दिये जाने पर दुःख-परम्परा भी निरुद्ध हो जाती है।

---

(१) देखिये पोट्ठपाद-सुत्त (दीघ० १।९)

इसको तथागत ने देखा है, इसलिये दूसरों के हित के लिये भी वे इसका उपदेश देते हैं। "आनन्द! 'क्या जरा-मरण स-कारण है'? यदि यह पूछा जाय तो कहना चाहिये 'है'। 'किस कारण से जरा-मरण है'? यदि यह पूछा जाय तो कहना चाहिये 'जन्म के कारण जरा-मरण है' आदि।[1] इस प्रकार हेतुओं को दिखा-दिखाकर भगवान् ने दुःख का निरोध सिखाया है। कार्य-कारण-भाव को ध्यान में रख कर ही (योनिशः मनसिकार के द्वारा) भगवान् ने ब्रह्मचर्य-वास का उपदेश दिया है। तभी तो आज हम आनन्द की तरह यह उद्गार किये बिना नहीं रह सकते "आश्चर्य भन्ते! अद्भुत भन्ते! कारण-कारण से भन्ते! भगवान् ने हमें ओघ-निस्तरण (संसार-बाढ़ को पार करना) सिखाया।" कारण-कारण से ओघ-निस्तरण सिखाना ही प्रतीत्य समुत्पाद है। इससे अधिक यदि हम कुछ कहेंगे तो कदाचित् बुद्ध-मन्तव्य से बाहर जायँगे, यद्यपि बुद्धि के तर्कों रोका भी नहीं जा सकता और बुद्ध ने ऐसा करने को कहा भी नहीं है, शर्त यही है कि हम मूल प्रयोजन को न भूलें। पर हम तो अल्प से ही सन्तुष्ट हो जानेवाले हैं। द्वितीय और तृतीय आर्य सत्य रूप दुःख-समुदय और दुःख-निरोध की वैज्ञानिक व्याख्या मात्र प्रतीत्य समुत्पाद है, इतना भर हम जानते हैं। "जो धर्म (पदार्थ) हैं, वे हेतु से उत्पन्न होते हैं। उनके हेतु को तथागत ने कहा है। और उनका जो निरोध है (उसे भी बताया है)। महाश्रमण (बुद्ध) का यही मत है।"[2] बुद्ध-दर्शन का यह अर्द्धगाथात्मक विवरण प्रतीत्य समुत्पाद के महत्त्व को भली भाँति स्पष्ट कर देता है। अथवा दूसरे शब्दों में, "जो कुछ समुदय-धर्म है, वह सब निरोध-धर्म है"[3] इसकी व्याख्या भी प्रतीत्य समुत्पाद कहा जा सकता है, इतना ही जानना हमारे लिये पर्याप्त है। किसी भी प्रकार कहें बात यही ठहरती है कि विना ठीक तरह से हेतुओं को जाने हुए उनकी निवृत्ति होना अशक्य है, इसलिये अनुकम्पक शास्ता ने, जिनके शासन में कोई अन्य नहीं किन्तु स्वयं का 'प्रधान' या पुरुषार्थ ही बहुकारी धर्म है, दुःख-निरोध के सम्पूर्ण

---

(१) महानिदान-सुत्त (दीघ० २।२)

(२) ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह। तेसं च यो निरोधो। एवं वादी महासमणो। विनय-पिटक—महावग्ग।

(३) यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोध-धम्मं ति। विनय-पिटक—महा-वग्ग।

मार्ग को वैज्ञानिक दृष्टि से ही दिखाना उचित समझा। "जब क्षीणास्रव तपस्वी योगी को धर्म प्रकट हो जाते हैं तब उसकी सारी कांक्षाएँ मिट जाती हैं, क्योंकि वह हेतु के सहित धर्म को जान लेता है।"[१] यह हेतु के सहित धर्म को जान लेना ही प्रतीत्य समुत्पाद है। इसीलिये तो प्रतीत्य समुत्पाद को प्रज्ञा की भूमि भी कहा गया है[२]। प्रज्ञा से हेतुओं का दर्शन करके ही प्राणी नाम और रूप के बन्धन से विमुक्त होता है।

किन्तु प्रतीत्य समुत्पाद के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों को अनेक भ्रान्तियाँ भी हुई हैं। स्थविरवाद बौद्ध धर्म के अत्यन्त प्रख्यात और प्रामाणिक विद्वान् महास्थविर श्री ज्ञानातिलोक जी ने हमें बताया है कि उनके द्वारा 'पटिच्च समुप्पाद' पर स्थविरवाद-परम्परा के अनुसार निबन्ध लिखने से पूर्व किसी भी पश्चिमी देश की भाषा में उसका विशुद्ध निरूपण उन्हें प्राप्त नहीं हुआ (आधुनिक भारतीय भाषाओं की तो बात ही क्या, जहाँ बौद्ध विषयों की चर्चा ही अभी बिलकुल प्रारम्भिक अवस्था में है और जो कुछ भी है वह भी प्रायः पश्चिमी अध्ययन की प्रेरणा और अनुगमन पर ही !)। इस प्रकार महामनीषी स्थविर श्री ज्ञानातिलोक जी का विचार है कि कर्न, बरनफ़ और ढालके आदि विद्वानों ने (पूसाँ के फ्रेंच भाषा में लिखे निबंध 'बौद्ध कारणवाद सम्बन्धी सिद्धान्त' से तो उन्होंने अपनी अनभिज्ञता दिखाई है) प्रतीत्य समुत्पाद को मूल बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार नहीं समझा है। किन्हीं ने उसमें यदि तथागत को 'आदि कारण' की गवेषणा करते हुए देखा है, तो किन्हीं ने उनके द्वारा निदान अथवा हेतु के रूप में उपदिष्ट अविद्या की समानता अथवा असमानता अन्य भारतीय दर्शनों में निरूपित 'अविद्या' के स्वरूप से की है। इस प्रकार इस नियम को उपदेश करने में बुद्ध का प्रयोजन क्या था, इसकी सम्यक् अनुभूति नहीं की गई[३]। उन कारुणिक शास्ता ने सृष्टि के आदि और अन्त सम्बन्धिनी परस्पर विरोधिनी सभी धारणाओं को तो अनार्य और अनिष्टकारी ही बताया था, उन्हें मिथ्या

---

(१) उदान।

(२) इमाय पञ्ञाय खन्धायतन धातु इन्द्रिय सच्च पटिच्च समुप्पादादि भेदा धम्मा भूमि। विसुद्धिमग्ग १४।३२; देखिये विसुद्धिमग्ग १७।१ भी।

(३) देखिये महास्थविर ज्ञानातिलोक-कृत 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक', पृष्ठ १३९

दृष्टियाँ कहकर उन सबसे अतीत और निरपेक्ष सद्धर्म रूप महाजाल में उन सबको निगृहीत ही माना था, सृष्टि के आदि कारण के चिन्तन को तो उन्होंने अचिन्त्य और अविज्ञेय ही ठहराया था, उसे और तत्सम्बन्धिनी अन्य जिज्ञासाओं को तो उन्होंने अधिकारपूर्ण दृष्टि से 'अव्याकृत' ही किया था और परमार्थ-मार्ग में उन्हें हानिकर ही बताया था। "भिक्षुओ! अविद्या और तृष्णा से संचालित भटकते फिरते प्राणियों के पूर्व कोटि (आरम्भ) का पता नही चलता।"[१] ऐसा गम्भीर सिंहनाद करनेवाले तथागत कभी अविद्या के कारणत्व सम्बन्धी किसी विवादग्रस्त दार्शनिक सिद्धान्त का प्रख्यापन करेंगे, यह सम्भव नहीं। उनके लिये तो मार्ग या प्रतिपद् का प्रख्यापन ही मुख्य वस्तु है, जिसके द्वारा वे दुःख-निरोध का यहीं जीते जी साक्षात्कार करने का उपदेश देते हैं। उनके दर्शन का सबसे बड़ा अलंकार यही है कि "जिसके लिये वे धर्म का उपदेश करते हैं, वह अपने दुःख के क्षय को प्राप्त कर लेता है"[२]। सम्यक् सम्बुद्ध का आविर्भाव किसी दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन या मण्डन करने के लिये नहीं हुआ था, क्योंकि इस सबसे वे परे थे। "ब्राह्मण! यह सत्य है, यह किससे कहे; यह झूठ है, यह भी किससे विवाद करे। जिसमें सम-विषम नहीं है, वह किससे विवाद करे? जो काम से शून्य, अपने लिये भविष्य को न बनानेवाला है, वह मुनि लोक से विग्रह की कथा नहीं कहता।"[३] जिस एक विचार के अक्ष पर तथागत का सम्पूर्ण धर्मचक्र घूमता है और जिसी के द्वारा वह अपनी विशेषता और मौलिकता प्राप्त करता है, वह है केवल उसकी यह मान्यता कि संसार नन्दी (तृष्णा) के फन्दों से बुरी तरह दुःख में फँस गया है, एक दुःख से दूसरे दुःख में निरन्तर प्रवेश करता हुआ वह उसके निस्सरण को नहीं जानता, और उसे इसका एक मार्ग बतलाना है। तथागत को सदा ही यह चिन्ता सताती रही "यह संसार बहुत कष्ट में पड़ा है, जन्म लेता है, वृद्ध होता है, मरता है, च्युत होता है और फिर उत्पन्न होता है। वह इस दुःख से, जरा और मृत्यु से, निस्सरण को नहीं जानता। वह किस तरह दुःख, जरा और मृत्यु से, निस्सरण को जानेगा[४]।" किस तरह यह प्राणी इस तृष्णा रूपी जटा से,

(१) संयुत्त-निकाय।
(२) महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।२)
(३) सुत्त-निपात।
(४) किच्छं वतायं लोको आपन्नो जायति च जीयति च मीयति च चवति च

जिससे वह बाहर भीतर बुरी तरह जकड़ा हुआ है, अपने को सुलझा पायगा ? इसी चिन्ता का समाधान तथागत के द्वारा विशुद्धि-मार्ग के रूप में दिया गया और इसी की वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या स्वरूप प्रतीत्य समुत्पाद भी मनुष्य जाति को विरासत के रूप में मिला। इस विरासत को हमें इसी रूप में देखना चाहिये। तात्विक और तुलनात्मक रूप से बहुत विचार दौड़ा कर और अनेक प्रकार से इस सिद्धान्त को समझने और समालोचित करने का प्रयत्न कर हम दार्शनिक मार्ग को विस्तारित करते भले ही कहे जायँ, परन्तु इससे हम बुद्ध-मन्तव्य के कुछ भी अधिक समीप पहुँच सकेंगे, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। अतः हमें तो केवल विशुद्ध स्थविरवाद-परम्परा के अनुसार ही यहाँ प्रतीत्य समुत्पाद के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। कहने की आवश्यकता नहीं कि केवल त्रिपिटक और अनु-पिटक साहित्य ही इस विषय में हमारे लिये एकमात्र आश्रय लेने योग्य सामग्री है[१]।

प्रतीत्य समुत्पाद का विवरण और विवेचन

१—२ अविज्जा-पच्चया संखारा।
२—३ संखार-पच्चया विञ्ञाणं।
३—४ विञ्ञाण-पच्चया नामरूपं।
४—५ नामरूप-पच्चया सलायतनं।
५—६ सलायतन-पच्चया फस्सो।
६—७ फस्स-पच्चया वेदना।
७—८ वेदना-पच्चया तण्हा।

उप्पज्जति चा'ति, आदि। संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०, विसुद्धिमग्ग १७।३४ में उद्धृत।

(१) स्थविरवादी साहित्य में प्रतीत्य समुत्पाद के विवरण के लिये देखिये महा निदान-सुत्त (दीघ० २।२); महातण्हा-संखय-सुत्तन्त (मज्झिम १।४।८); चूल सीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।१) महाहत्थि पदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।८; निदान-संयुत्त (संयुत्त-निकाय); उदान (बोधिवग्ग); सम्पूर्ण 'पट्ठान' प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन ही है; विसुद्धिमग्गो (सत्तरसमो परिच्छेदो); मिलिन्दपञ्हो (लक्खण-पञ्हो)।

८–९ तण्हा-पच्चया उपादानं ।
९–१० उपादान-पच्चया भवो ।
१०-११ भव-पच्चया जाति ।
११–१२ जाति-पच्चया जरा-मरण-सोक-परिदेव-
दुक्ख-दोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति ।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति ।
अयं वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्चसमुप्पादो ।
अविज्जाय त्वेव असेस-विराग-निरोधा संखार-निरोधो
संखार-निरोधा विञ्ञाण-निरोधो
विञ्ञाण-निरोधा नामरूप-निरोधो
नामरूप-निरोधा सलायतन-निरोधो
सलायतन-निरोधो फस्स-निरोधो
फस्स-निरोधा वेदना-निरोधो
वेदना-निरोधा तण्हा-निरोधो
तण्हा-निरोधा उपादान-निरोधो
उपादान-निरोधा भव-निरोधो
भव-निरोधा जाति-निरोधो
जाति-निरोधा जरा-मरण-सोक-परिदेव-
दुक्ख-दोमनस्सुपायासा निरुज्झन्ति ।
एवमेतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होति ।
अयं वुच्चति, भिक्खवे, पटिच्च समुप्पादो[1] ।

१—२ अविद्या के प्रत्यय से संस्कार
२—३ संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान
३—४ विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप
४—५ नाम-रूप के प्रत्यय से षडायतन
५—६ षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श
६—७ स्पर्श के प्रत्यय से वेदना
७—८ वेदना के प्रत्यय से तृष्णा
८—९ तृष्णा के प्रत्यय से उपादान

---

(१) संयुत्त-निकाय (निदान-संयुत्त); विसुद्धिमग्ग १७।२ में उद्धृत ।

९–१० उपादान के प्रत्यय से भव
१०–११ भव के प्रत्यय से जाति
११–१२ जाति के प्रत्यय से जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य और हैरानी-परेशानी उत्पन्न होते हैं।
इस प्रकार इस सम्पूर्ण दुःख-स्कन्ध का समुदय होता है।
यही कहा जाता है, भिक्षुओ, प्रतीत्यसमुत्पाद।

पुनः

अविद्या के रुक जाने से संस्कार रुक जाते हैं
संस्कारों के रुक जाने से विज्ञान रुक जाता है
विज्ञान के रुक जाने से नाम-रूप रुक जाते हैं
नाम-रूप के रुक जाने से षडायतन रुक जाते हैं
षडायतन के रुक जाने से स्पर्श रुक जाता है
स्पर्श के रुक जाने से वेदना रुक जाती है
वेदना के रुक जाने से तृष्णा रुक जाती है
तृष्णा के रुक जाने से उपादान रुक जाता है
उपादान के रुक जाने से भव रुक जाता है
भव के रुक जाने से जाति रुक जाती है
जाति के रुक जाने से जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-हैरानी-परेशानी रुक जाते हैं
इस प्रकार यह सम्पूर्ण दुःख-स्कन्ध रुक जाता है।
यही कहा जाता है, भिक्षुओ! प्रतीत्य समुत्पाद।

अनुलोम और प्रतिलोम के मार्ग से क्रमशः समुदय और निरोध का निरूपण करता हुआ यह कार्यकारण भाव रूप नियम भगवान् के द्वारा, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, विशेषतः दुःख के समुदय और निरोध को समझाने के लिए ही सिखाया गया। वैसे सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि इस नियम के अनुसार आध्यात्मिक या बाह्य जगत् की होनेवाली कोई भी घटना अपनी उत्पत्ति के लिए अपने से पूर्व किसी अन्य घटना के प्रत्यय, हेतु अथवा निदान स्वरूप ही होती है और वह स्वयं भी एक अन्य परवर्ती घटना के प्रति प्रत्यय, हेतु अथवा निदान के रूप में कारण बनती है और इस प्रकार यह कार्य-कारण रूप भव-चक्र निरन्तर चलता है। इस नियम के अनुसार मनुष्य यदि आचरण करे तो अपने दुःख का अन्त कर सकता है, अपनी समस्याओं का

हल पा सकता है, भगवान् तथागत गवाही हैं, कारण कि उन्होंने यह सब देखकर ही उपदेश दिया है[1]। प्रतीत्य समुत्पाद का पूर्ण विवरण उपर्युक्त बारह अंगों के द्वारा ही किया जाता है, अतः इसे द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद भी कहा जाता है। किन्तु प्रत्ययों की ठीक संख्या अथवा क्रम के विषय में त्रिपिटक में ही कोई निश्चित नियम बरता गया हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अनेक प्रकार से कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत रूप में, जैसा कि भगवान् शंकर ने भी ठीक कहा है[2], इसका विवरण त्रिपिटक में उपलब्ध होता है। भगवान् ने अनेक पर्यायों से इस धर्म का उपदेश दिया है। शास्ता की कारुणिकता ही विभिन्न प्रकार के उपदेशों और पुनरुक्ति के लिए उत्तरदायी है। मुख्यतः जैसा कि आचार्य बुद्धघोष ने प्रकट किया है, चार प्रकार के विवरण इस सिद्धान्त के त्रिपिटक में उपलब्ध होते हैं[3]। पहले प्रकार का वर्णन तो वही है जो द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में ऊपर दे दिया गया है। 'उदान' और 'विसुद्धिमग्ग' में इसी प्रकार यह दिया गया है। दूसरा ढंग वह है जो सातवें प्रत्यय 'वेदना' से लेकर बारहवें प्रत्यय जरा-मरण आदि तक आता है। 'निदान संयुक्त' में इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध है। तीसरा ढंग वह है जो बारहवीं कड़ी अर्थात् जरा-मरण से लेकर प्रथम कड़ी अर्थात् अविद्या तक आता है। इस प्रकार का वर्णन 'निदान संयुत्त' और 'उदान' में मिलता है। चौथा ढंग जो त्रिपिटक में उपलब्ध होता है उसके अनुसार आठवीं कड़ी से उल्टे रूप से प्रत्यय-परम्परा प्रथम कड़ी अर्थात् अविद्या तक पहुँचती है। उत्तर्युक्त ढंगों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार से प्रतीत्य समुत्पाद का वर्णन त्रिपिटक में उपलब्ध होता है, यथा तीसरी कड़ी से बारहवीं कड़ी तक (निदान संयुत्त ४९), पाँचवीं कड़ी से आठवीं कड़ी तक (निदान संयुत्त ४३) और दीघ निकाय के महानिदान सुत्त में कड़ियां १–२ और

---

(१) तं तथागतो अभिसम्बुज्झति अभिसमेति, अभिसम्बुजित्वा अभिसमेत्वा आचिक्खति देसेति पञ्ञापेति पट्ठपेति विवरति विभजति उत्तानीकरोति पस्सथाति चाह अविज्जापच्चया भिक्खवे संखारा, आदि। संयुत्त-निकाय, विसुद्धिमग्ग १७।५ में उद्धृत।

(२) देखिए पांचवें प्रकरण में शांकर दर्शन का विवेचन।

(३) देखिए विसुद्धिमग्ग, १७।२८-३४; मिलाइये ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक, पृष्ठ १४४-१४५

२–३ तो गायब हैं ही, कड़ी ४–५ भी छोड़ दी गई है और नाम-रूप से सीधे स्पर्श का समुदय दिखा दिया गया है। 'इसलिए आनन्द ! स्पर्श का यही हेतु, यही निदान, यही समुदय और यही प्रत्यय है जो कि नाम-रूप।' कुछ भी हो, सैद्धान्तिक दृष्टि से तो महानिदान सुत्तन्त का वर्णन ही, जैसा कि डा० रायस डेविड्स ने भी कहा है[१], त्रिपिटक में परिपूर्णतम माना जा सकता है, यद्यपि यह भी ठीक है कि दीघ आभाणकों ने यहाँ भी प्रथम दो कड़ियों का निर्देश नहीं किया और वैसे भी इस सुत्तन्त में जरा-मरण रूप दुःख पर इतना जोर नहीं दिया गया जितना कि अन्यत्र। प्रतीत्यसमुत्पाद के विभिन्न निदानों की जो व्याख्या हम आगे करेंगे उसमें अधिकतर प्रकाश हम इस सुत्तन्त से ही लेंगे यद्यपि अन्य पिटक और अनुपिटक स्रोतों का भी उपयोग आवश्यक होगा, और यह सब एक अत्यन्त सीमित मर्यादा में ही क्योंकि अभिधम्म पिटक के 'विभंग' के छठे 'विभंग' अर्थात् 'पच्चयाकार विभंग' में तो सभी मानसिक और भौतिक जगत् में होनेवाले व्यापारों को उपर्युक्त बारह अंगों के रूप में नहीं बल्कि चौबीस प्रत्ययों के रूप में व्याख्यात किया गया है जिनका विश्लेषण, जैसा कि महास्थविर ज्ञानातिलोक जी का विचार है, करीब २००० पृष्ठ ले लेगा। फिर स्यामी त्रिपिटक-संस्करण में ३१२० पृष्ठों में समाप्त और प्रतीत्य समुत्पाद के निरूपण करने की दृष्टि से ही 'अनुलोम पट्ठान', 'पच्चनिय पट्ठान', 'अनुलोम-पच्चनिय पट्ठान' एवं 'पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान' इन चार खण्डों में विभक्त महाग्रन्थ 'पट्ठान' का तो एकमात्र विषय ही है प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन, जिसपर उपर्युक्त २४ प्रत्ययों के रूप में ही विचार किया गया है। कितनी मनो-वैज्ञानिक सूक्ष्मता ! कितनी वैज्ञानिक विश्लेषण-प्रियता ! फिर इनकी अट्ठ-कथाओं की, विसुद्धिमग्ग की और उत्तरकालीन प्रतीत्य समुत्पाद-सम्बन्धी निबन्धों यथा सिंहल में लिखे गए धर्मरत्न के द्वारा 'पटिच्च समुप्पादय' और 'सत्वोत्पत्ति विनिश्चय' जैसे ग्रन्थों के विषय की तो बात ही क्या ? भारतीय दर्शन में कारणवाद सम्बन्धी विचार के एक प्रधान अंग भूत स्थविरवाद में प्रतिष्ठित 'पटिच्चसमुप्पाद' के महत्वपूर्ण सिद्धान्त के पूर्णतम निरूपण के लिए महास्थविर ज्ञानातिलोक जी के इस विषय में अन्यतम प्रयत्न के बाद भी अभी बहुत क्षेत्र बाकी है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तो हम, जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर

---

(१) देखिये डॉयलाग्स ऑव दि बुद्ध, भाग दूसरा, पृष्ठ ४२

चुके हैं, अत्यन्त सामान्य विवेचन से ही आत्मतुष्टि करेंगे और हमारे विषय के क्षेत्र के विचार से यही समीचीन भी होगा। भय तो यह है कि कहीं यह भी अधिक न हो जाय। किन्तु विषय-गौरव से यह क्षम्य होगा, ऐसा विश्वास है। तो फिर हम द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद की प्रथम कड़ी से ही अनुलोम-क्रम से आगे चलेंगे।

१—२ 'अविद्या के प्रत्यय से संस्कार' (अविज्जा-पच्चया संखारा)। यहां अविद्या क्या है और संस्कार क्या हैं? अविद्या का अर्थ है मूल बुद्ध-दर्शन में चतुरार्य सम्बन्धी अज्ञान अथवा प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी अज्ञान[1]। सांख्य और वेदान्त दर्शनों के अविद्या सम्बन्धी सिद्धान्तों के साथ हमें बुद्ध-सम्मत अविद्या को पारस्परिक गड़बड़ी में नहीं डाल देना चाहिए। सांख्य दार्शन की अविद्या सृष्टि का मूल कारण है, जिसका अन्य कोई कारण नहीं। बुद्ध-दर्शन की अविद्या स्वयं अनित्य, संस्कृत और प्रतीत्य समुत्पन्न है। प्रत्ययों से उत्पन्न होनेवाली और प्रत्ययों से निरुद्ध होनेवाली है। 'आस्रवों के समुदय से अविद्या का समुदय होता है'[2] इस प्रकार अविद्या का कारण बतलाया गया है। इसीलिये आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि प्रकृति-वादियों (सांख्याचार्यों) की प्रकृति के समान अविद्या लोक का मूल कारण नहीं है[3]। आदि कारण की खोज तथागत ने नहीं की है। बल्कि उसे उन्होंने

(१) तत्थ कतमा अविज्जा? दुक्खे अञ्ञाणं....... दुक्ख समुदये अञ्ञाणं .....दुक्ख निरोधे अञ्ञाणं....दुक्ख निरोध गामिनिया पटिपदाय अञ्ञाणं........इदप्पच्चयता पटिच्च समुप्पन्नेसु धम्मेसु अञ्ञाणं। धम्म संगणि, पृष्ठ १९५ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); विभंग, पृष्ठ १८१ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण); देखिये, "आवुसो! जो यह दुःख के विषय में अज्ञान, दुःख-समुदय के विषय में अज्ञान, दुःख-निरोध के विषय में अज्ञान, दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद् के विषय में अज्ञान है, इसे आवुसो! अविद्या कहा जाता है।" सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)

(२) सम्मादिट्ठि-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)

(३) कस्मा पनेत्थ अविज्जा आदितो वुत्ता? किं प तिवादीनं पकति विय अविज्जापि अकारणं मूलकारणं लोकस्सा'ति? न अकारणं। "आसव-समुदया अविज्जा समुदयो'ति हि अविज्जाय कारण वुत्तं। विसुद्धिमग्ग १७।३६

मन को निर्बल करनेवाली खोज माना है[१] । आदि कारण उनके लिये 'अकथनीय' है । इसीलिये उन्होंने कहा है, "भिक्षुओ यह संसार अनादि है, इसके आरम्भ का पता नहीं चलता, इसकी पूर्व-कोटि जानी नहीं जाती ।'[२] अविद्या के सम्बन्ध में ही उन्होंने कहा है, "भिक्षुओ ! अविद्या के आरम्भ का पता नहीं चलता, जब कि यह कहा जा सके कि इसके पहले अविद्या न थी, इसके बाद वह उत्पन्न हुई[३] ।" यही बात उन्होंने भव-तृष्णा के बारे में भी दुहराई है[४] । अतः किसी मूल कारण की गवेषणास्वरूप अविद्या का उल्लेख यहाँ तथागत ने नहीं किया है, बल्कि मानवीय अनुभव की सीमा के क्षितिज पर्यन्त दुःख परम्परा के अनुसन्धान करने का यह निश्चित फल है जहाँ से आगे मनुष्य की आँखें काम नहीं देतीं । 'भिक्षुओ । अविद्या और तृष्णा से सञ्चालित, भटकते फिरते मनुष्यों के पूर्वकोटि का पता नहीं चलता[५] ।' जब मनुष्य यह नहीं देखता कि दुःख का स्वरूप क्या है, उसके समुदय, निरोध और निरोध-मार्ग क्या हैं, तो वह निश्चय ही बार-बार यम के वश को प्राप्त होता है, नाना योनियों में जन्म-मरण के चक्र में पचता फिरता है, सारांश यह कि चतुरार्य सम्बन्धी अज्ञान-रूप अविद्या ही उसकी सभी दुःख-परम्परा की जननी बनती है । भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा है कि चार आर्यसत्यों के अज्ञान-

---

(१) अंगुत्तर-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ७७ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(२) अनमततग्गोयं भिक्खवे संसारो पुब्बकोटि न पञ्ञायति । संयुत्त-निकाय अनमतग्ग संयुत्त); जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति अविज्जाय, इतो पुब्बे अविज्जा नाहोसि, अथ पच्छा समभवीति । अंगुत्तर-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ ११३, (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण), विसुद्धिमग्ग १७।३७ में उद्धृत । देखिये मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो) भी ।

(४) पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति भवतण्हाय, इतो पुब्बे भवतण्हा नाहोसि, अथ पच्छा समभवीति । पूर्वोक्त के समान, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ ११६, विसुद्धिमग्ग १७।३७ में उद्धृत । देखिये मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो) भी ।

(५) संयुत्त-निकाय ।

स्वरूप अविद्या के कारण ही प्राणियों का नाना योनियों में संसरण, आवागमन हो रहा है और उसी के परिणाम-स्वरूप वे स्वयं भी अनेक पूर्व-जन्मों में संसार-चक्र में घूमते रहे हैं। "भिक्षुओ ! चार आर्य सत्यों के प्रतिवेध न होने से इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आवागमन, संसरण हो रहा है....जब ये देख लिये जाते हैं तो भव-नेत्री नष्ट हो जाती है, दुःख की जड़ कट जाती है और फिर आवागमन नहीं रहता[1] ।" इस विचार-दृष्टि से देखने पर हम कुछ (केवल कुछ) कह सकते हैं कि 'तस्य हेतुरविद्या' कहनेवाले और क्लेशों की परम्परा में उसे ही प्रथम स्थान देनेवाले भगवान् पतञ्जलि निश्चय ही कुछ बुद्ध-मन्तव्य के समीप दीखते हैं, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उस दर्शन में सांख्य-दर्शन के समान ही, जिसका कि वह पूरक दर्शन है, प्रकृति और पुरुष के विवेक की अख्याति ही अविद्या-रूप से संज्ञित हुई है और इस प्रकार की कोई वस्तु बुद्ध-दर्शन में नहीं है। बुद्ध-दर्शन की अविद्या केवल एक प्रत्यय है जो हमारे वर्तमान बाह्य और आन्तरिक जीवन-संस्कारों के लिये उत्तरदायी है। तो फिर यह अविद्या संस्कारों को जन्म देती है। ये संस्कार क्या हैं ? वही जो कि कुशल और अकुशल कायिक, वाचिक और मानसिक चेतनाएँ, जो पुनर्जन्म का कारण बनती हैं। इन्हें हम मानसिक वासना भी कह सकते हैं। या अधिक विस्तृत अर्थ में जीवन के भौतिक और मानसिक तत्त्वों का नाम ही संस्कार है। ये संस्कार (संखार) तीन प्रकार के होते हैं, यथा 'पुञ्ञाभिसंखार' (पुण्याभिसंस्कार) 'अपुञ्ञाभिसंखार' (अपुण्याभिसंस्कार) और 'आनेञ्ञाभिसंखार'। इनमें से 'पुञ्ञाभिसंखार' और 'आनेञ्ञाभिसंखार' तो सांसारिक दृष्टि से कुशल अथवा 'लोकिय कुशल' होते हैं और 'अपुञ्ञाभिसंखार' होते हैं अकुशल। इन्हीं सब संस्कारों की, जो पुनर्जन्म के कारण होते हैं कभी तो होती है अविद्या 'आरम्मण' अर्थात् आलम्बन या विषय, कभी होती है 'उपनिस्सय' अर्थात् निश्चय रूप से आधार या कारण, कभी यह बनती है उनकी 'अनन्तर' अर्थात् अत्यन्त समीपवर्ती, कभी 'समन्तर', कभी रहती है सम्बन्धित यह उनसे 'हेतु' के रूप में, कभी 'सहजात' के रूप में, कहीं 'अञ्ञमञ्ञ' अर्थात् अन्योन्याश्रयता के रूप में और कभी 'सम्पयुत्त' अर्थात् संयोग आदि के रूप में। इस प्रकार अभिधर्म पिटक में, विशेषतः 'पट्ठान' में, अनेक प्रकार के

---

(१) महा परिनिब्बाण-सुत्त (दीघ० २।३)

हेतुओं, निदानों अथवा प्रत्ययों से अविद्या और संस्कारों के सम्बन्ध पर विचार किया गया है। कर्म की 'लोकुत्तर कुसल' अथवा 'अव्याकत' अवस्थाओं को यहां नहीं गिनाया गया क्योंकि ये पुनर्जन्म की कारण भूत नहीं हैं, अतः अविद्या-जनित भी इन्हें नहीं कह सकते। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि अविद्या सम्बन्धी विचार में बुद्ध के दृष्टिकोण की जितनी अन्य भारतीय दर्शनकारों से विभिन्नता है उतनी ही 'संस्कार' के विषय में भी हैं, क्योंकि अभिधर्म-पिटक की 'संस्कार' सम्बन्धी विश्लेषणात्मक सूक्ष्मताएँ अपनी हैं। सब संस्कार व्ययधर्मा हैं (वय धम्मा संखारा), अनित्य हैं (अनिच्चा वत संखारा), दुःख रूप (सब्बे संखारा दुक्खा) हैं और हैं अनात्म (सब्बे संखारा अनत्ता) हैं। यह बुद्ध-दर्शन की एक आधारभूत मान्यता है, जिसपर विस्तृत विचार हम अनात्मवाद का विवेचन करते समय करेंगे।

२–३ संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान (संखार-पच्चया विञ्ञानं) विज्ञान से यहाँ तात्पर्य उन चित्त-धाराओं से है जो पूर्वजन्म में किए हुए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाक स्वरूप यहाँ प्रकट होती हैं और जिनके कारण ही मनुष्य को अपने विषय में आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर आदि विषयक अनुभूति होती है। यदि अविद्या और तृष्णा के अशेष निरोध से कुशल, अकुशल अथवा अव्याकृत संस्कार उत्पन्न न हों तो फिर माता के गर्भ में पुनः विज्ञान का बीज पड़ता ही नहीं, पुनर्जन्म होता ही नहीं[1]।

३–४ विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप (विञ्ञान पच्चया नाम रूपं)। 'नाम' और 'रूप' ये दो शब्द न केवल बौद्ध दर्शन में ही किन्तु समस्त भारतीय दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन शब्दों का बौद्ध पारि-भाषिक अर्थ औपनिषद अर्थ से भिन्न है[2]। बौद्ध दर्शन में समस्त बाह्य और आध्यात्मिक जगद् व्यापार पांच स्कन्धों में विभक्त किया गया है, यथा

---

(१) मिलाइये निदान संयुत्त, ५१; देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दिअभि-धम्म पिटक, पृष्ठ १४८

(२) औपनिषद अर्थ को हृदयंगम करने के लिए देखिये छान्दोग्य० ३।२-३; ७।१४।१; मुण्डक० ३।२।८ आदि, मिलाइये विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रेल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ८७-८८। राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ३९९

रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान[1] । इनका भी फिर द्विविध विभाग किया गया है यथा 'नाम' और 'रूप' । 'रूप' में तो आता है पूर्वोक्त प्रथम स्कन्ध और 'नाम' में निहित हैं बाद के चार स्कन्ध यथा, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान[2] । बौद्ध दर्शन में सामान्यतः 'नाम' और 'रूप' का यही स्वरूप मान्य है। मिलिन्दप्रश्नकार भी इसीलिए कहते हैं 'जितनी स्थूल चीजें हैं सभी रूप हैं और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं सभी नाम हैं' । 'यं तत्थ महाराज ! ओकारिकं एतं रूपं ये तत्थ सुखुमा चित्तचेतसिका धम्मा एतं नामंति ।'[3] । अतः निश्चित ही ये दोनों आपस में अन्योन्याश्रय भाव से सम्बद्ध हैं (अञ्ञामञ्ञूपनिस्सिता महाराज इमे धम्मा एकतो न उप्पज्जन्तीति—मिलिन्द प्रश्न, लक्खणपञ्हो, दुतियो वग्गो) । 'भिक्षुओ ! जितना भी रूप है—चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का, अथवा बाहर का, चाहे स्थूल अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा अथवा भला, चाहे दूर अथवा समीप, वह सब रूप 'रूप-उपादान-स्कन्ध' के अन्तर्गत है[4] ।' 'भिक्षुओ ! रूप-उपादान-स्कन्ध किसे कहते हैं ? चारों महाभूतों को, तथा चारों महाभूतों के कारण जो रूप उत्पन्न होता है, उसे रूप-उपादान-स्कन्ध कहते हैं[5] ।' चार महाभूत अर्थात् पृथ्वी-धातु, जल-धातु, अग्नि-धातु तथा वायु धातु। इसी प्रकार वेदना-उपादान-स्कन्ध, संज्ञा-उपादान-स्कन्ध, संस्कार-उपादान-स्कन्ध और विज्ञान-उपादान-स्कन्ध के अन्तर्गत जो कुछ है वह सब 'नाम' से अभिधेय है। इन्हीं 'नाम' और 'रूप' के प्रति विभिन्न प्रत्ययों से अर्थात् 'सहजात', 'निस्सय' और 'सम्पयुत्त' आदि के रूप में 'विज्ञान' एक निदान होता है[6] । 'यदि आनन्द ! विज्ञान (चित्त-धारा) माता

(१) पञ्चस्कन्ध के विशेष विवेचन के लिए देखिए आगे 'अनात्मवाद' का विवेचन ।

(२) मिलाइये सम्मादिट्ठि सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।९)

(३) मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो) ; मिलाइये संयुत्त-निकाय (निदान संयुत्त)

(४) महासतिपट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)

(५) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)

(६) 'पट्ठान' में निर्दिष्ट चौवीस प्रत्ययों में से किन-किन को लेकर विज्ञान के

के कोख में नहीं आता तो क्या नाम-रूप सञ्चित होता' ? 'नहीं भन्ते ! ' 'आनन्द ! यदि केवल विज्ञान ही माता की कोख में प्रवेश कर निकल जाए, तो क्या नाम-रूप इसके लिए बनेगा ?' 'नहीं भन्ते ! ' 'कुमार या कुमारी के अति शिशु रहते ही यदि विज्ञान छिन्न हो जाए, तो क्या आनन्द! नाम-रूप वृद्धि, विरूढ़ि को प्राप्त होगा ? 'नहीं भन्ते ! ' 'इसीलिए आनन्द विज्ञान का ही यह हेतु है जो कि यह नाम-रूप, 'आनन्द ! यह जो विज्ञान सहित नाम-रूप है इतने ही से जन्म लेना, बूढ़ा होना, मरना, च्युत होना, उत्पन्न होना हो रहा है। इतने से ही अधिवचन-व्यवहार, इतने ही से निरुक्ति-व्यवहार, इतने ही से प्रज्ञा विषय हैं, इतने ही से 'इस प्रकार' का जतलाने के लिए मार्ग वर्तमान है'[१]। नाम और रूप सब प्रकार से विज्ञान पर ही आश्रित हैं और इसीलिए ये जाति, जरा-मरण और दुःख-समुदय दिखाई पड़ते हैं। यदि अविद्या और तृष्णा के निरोध के द्वारा संस्कार उत्पन्न नहीं हुए होते तो विज्ञान (जीव या चित्तधारा) भी माता की कोख में किस प्रकार पहुँचता ? और फिर क्या नाम और रूप ही उस हालत में उत्पन्न होते ? शास्ता का साक्ष्य है कि कभी नहीं।

४–५ नाम-रूप के प्रत्यय से षडायतन (नाम-रूप पच्चया सडायतनं)। षडायतन से तात्पर्य है पाँच ज्ञानेन्द्रियां, यथा आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा, तथा 'मन आयतन' अर्थात् चेतना के विभिन्न स्वरूप अपने संग्रहात्मक रूप में[२]।' जीवन-धारा के प्रवाह में चेतना का उदय 'नाम' और 'रूप' के प्रथम उदय, स्थिति और आश्रय से ही होता है। पाँचों प्रकार की ऐन्द्रिय अनुभूति का आगमन कभी नहीं होता, यदि पाँचों प्रकार की 'इन्द्रियां' ही आश्रय के रूप में पूर्व उपस्थित नहीं होतीं। सारांश यह कि यदि वेदना, संज्ञा और संस्कार ('नाम') नहीं होते, यदि चार महाभूत और इनसे निर्मित विकार ('रूप') नहीं होते, तो इन्द्रियों की अनुभूतियाँ भी कहाँ से आतीं, क्योंकि ये तो उन्हीं से अनेक

प्रत्यय से नाम-रूप उत्पन्न होते हैं, इसके विशेष विस्तार के लिए देखिए, ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १४९

(१) **महानिदान सुत्त (दीघ० २।२)**

(२) **द्रष्टव्य विभंग ३**

प्रकार से, विशेषतः आश्रय (निस्सय), प्राग् भाव, पुरेजात और उपस्थिति (अत्थि) के रूप में[1], प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। यही इसका तात्पर्य है।

५–६ षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श (सडायतन पच्चया फस्सो)। इन्द्रिय और विषय का संयोग ही स्पर्श है और वह छः प्रकार का है, आँख का स्पर्श, कान का स्पर्श, नाक का स्पर्श, जीभ का स्पर्श, शरीर का स्पर्श और मन का स्पर्श। ये सभी 'कुशल' या 'अकुशल' कर्म के विपाक हैं। आश्रय (निस्सय), पूर्वभाव (पुरेजात) इन्द्रिय, विप्रयुक्त (विप्प-युत्त) उपस्थिति (अत्थि) और अविगत के प्रत्ययों से स्पर्श का उदय षडायतन पर आश्रित है[2]।

६–७ स्पर्श के प्रत्यय से वेदना (फस्स-पच्चया वेदना)। इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न मन पर प्रथम प्रभाव का नाम वेदना है। नाक और उसके विषय के स्पर्श से तदनुकूल वेदना, कान और उसके विषय से तदनुकूल वेदना, इसी प्रकार नाक, जीभ, शरीर और मन की वेद-नाएँ भी। चेतना से प्रत्येक प्रकार की वेदना अनिवार्य रूप से सम्बद्ध रहती हैं। यदि स्पर्श हुआ है तो वेदना रोकी नहीं जा सकती, फिर चाहे वह दुःख रूप हो, चाहे सुख रूप, चाहे दुःख-सुख रूप, चाहे न-दुःख-न-सुख रूप।

७–८ वेदना के प्रत्यय से तृष्णा (वेदना-पच्चया तण्हा)। छः प्रकार के विषयों के प्रति छः प्रकार की ही तृष्णा होती है, यथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मन के विषयों के प्रति तृष्णा। यदि इनमें से किन्हीं पदार्थों के प्रति काम वासना को लेकर तृष्णा उदित होती है तो वह 'काम तण्हा' कहलाती है, यदि व्यक्तिगत जीवन की शाश्वत लालसा को लेकर प्रवृत्त होती है तो 'भव तण्हा' और यदि व्यक्तिगत जीवन के विनाश सम्बन्धी विश्वास को लेकर ही यह प्रवृत्त होती है तो यही 'विभव तण्हा' कहलाती है। तथागत का मन्तव्य इस त्रिविध तृष्णा रूप सर्पिणी के विनाश के द्वारा ही दुःख निवृत्ति को सम्पादन करना है। जो इस तृष्णा को ही दबाकर रखता है उससे दुःख उसी प्रकार

---

(१) द्रष्टव्य, गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १५०–१५१

(२) द्रष्टव्य, ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १५२, विभंग २

गिर पड़ता है जैसे कमल-दल से जल। यह त्रिविध तृष्णा ही सब दुःख की जननी है और यदि यह पूर्ण रूप से निरुद्ध न की जाय तो संसार रूप वृक्ष नित्य उगता ही रहता है।

८–९ तृष्णा के प्रत्यय से उपादान (तण्हा-पच्चया उपादानं)। उपादान चार प्रकार के हैं, (१) कामूपादान अर्थात् कामवासना से चिपटे रहना (२) दिट्ठूपादान अर्थात् मिथ्या सिद्धान्तों से चिपटे रहना, (३) सील-ब्बतूपादान अर्थात् केवल व्यर्थ कर्मकाण्ड में लगे रहना, (४) अत्तवादू-पादान अर्थात् आत्मवाद में आसक्ति रखना। काम के प्रति तृष्णा (कामतण्हा) काम के प्रति उपादान (कामूपादान) का 'आश्रय' रूप से प्रत्यय बनती है और इस प्रकार अनर्थ की श्रृंखला बढ़ती है[१]।

९–१० उपादान के प्रत्यय से भव (उपादान-पच्चया भवो)। 'भव' अर्थात् पुनर्जन्म को करनेवाला कर्म। 'भव' दो प्रकार है अर्थात् 'कम्म भव' और 'उप्पत्ति भव'। सभी कर्म जो पुनर्जन्म का करनेवाला है 'कम्म भव' है, अतः 'कम्म भव' पुनर्जन्मकारी चेतना की ही संग्र-हात्मक संज्ञा है। जिस-जिस उपादान को लेकर व्यक्ति जिस जिस लोक में जन्म पाता है यही 'उप्पत्ति भव' से तात्पर्य है। जहां-जहाँ भी जिस-जिस पदार्थ से चिपटना है, वहाँ तक बन्धन का अन्त नहीं है।

१०–११ भव के प्रत्यय से जाति (भव-पच्चया जाति) जाति से तात्पर्य है बच्चे के मां की कोख में आने पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पञ्चस्कन्ध का प्रस्फुरण। जब 'भव' है तभी तो 'जाति' है, अन्यथा माता के पेट में शयन क्यों होता ?

११–१२ जाति के प्रत्यय से जरा-मरण (जाति-पच्चया जरामरणं)। जहाँ जाति अथवा पुनर्जन्म नहीं है, वहाँ जरा, मरण, शोक, परिदेव और उपायास भी नहीं हैं ? किन्तु जहाँ पुनर्जन्म है वहाँ तो ये अनिवार्य ही हैं ! अतः इस पुनर्जन्म के निरोध से ही दुःख का

---

(१) पांच उपादान स्कन्ध हैं, रूप-उपादान स्कन्ध, वेदना-उपादान स्कन्ध, संज्ञा-उपादान स्कन्ध, संस्कार-उपादान स्कन्ध तथा विज्ञान-उपादान स्कन्ध।

निरोध सम्भव है। इसी अर्थ को विस्तारित करते हुए भगवान् कहते हैं "यदि आनन्द ! जन्म न होता तो सर्वथा बिल्कुल ही सब किसी की भी जाति न होती; जैसे देवों का देवत्व, गन्धर्वों का गन्धर्वत्व, यक्षों का यक्षत्व, भूतों का भूतत्व, मनुष्यों का मनुष्यत्व, चतुष्पदों (चौपायों) का चतुष्पदत्व, पक्षियों का पक्षित्व, सरीसृपों (रेंगने वालों) का सरीसृपत्व, उन-उन प्राणियों का वह वह होना। यदि जन्म न होता, सर्वथा जन्म का अभाव होता, जन्म का निरोध होता, तो क्या आनन्द ! जरा-मरण दिखलाई पड़ेगा[1]।

"नहीं भन्ते !"

"इसलिए आनन्द ! जरामरण का यही हेतु, निदान, समुदय, प्रत्यय है जोकि यह जन्म ?"

यदि जरा, मरण, शोक और परिदेव को हटाना है तो पुनर्जन्म को हटाना ही होगा, क्योंकि ये उसी पर आश्रित हैं। पुनः यदि पुनर्जन्म नष्ट हो जायगा तो उसका आधार 'भव' भी तो अपने आप नष्ट हो जायगा, इसी प्रकार भव को गिराने के लिए उपादान को, उपादान के निरोध के लिए तृष्णा के निरोध को, तृष्णा के निरोध के लिए वेदना के निरोध को, वेदना को निरुद्ध करने के लिए स्पर्श के निरोध को, स्पर्श को निरुद्ध करने के लिए षडायतन के निरोध को, षडायतन को निरुद्ध करने के लिए नाम रूप के निरोध को, नाम रूप को निरुद्ध करने के लिए विज्ञान के निरोध को, विज्ञान को निरुद्ध करने के लिए संस्कारों के निरोध को और अन्त में संस्कारों को निरुद्ध करने के लिए अविद्या के निरोध को सम्पादित करना ही होगा, जो चतुरार्य-सत्यों की भावना और आचरण के बिना अशक्य है। जहाँ तक विश्व की व्याख्या से सम्बन्ध है यह नियम उसके गतिशील स्वरूप का परिचय देता है। जीवन अन्योन्याश्रित सम्बन्धों का केन्द्र है, कारण-कार्य की सहेतुक व्यवस्था पर ठहरा हुआ है जिसे समझ कर मनुष्य अपनी स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति का उपयोग कर सकता है और अपने मोक्ष को खोज सकता है। नियति जैसी कोई चीज उसकी बाधक बननेवाली नहीं है। काल की दृष्टि से हम प्रतीत्यसमुत्पाद की बारह कड़ियों को तीन भागों में बाँट सकते हैं, अतीत, वर्तमान और भविष्यत्। अतीत, वर्तमान और भविष्यत् का सम्बन्ध हम तीन

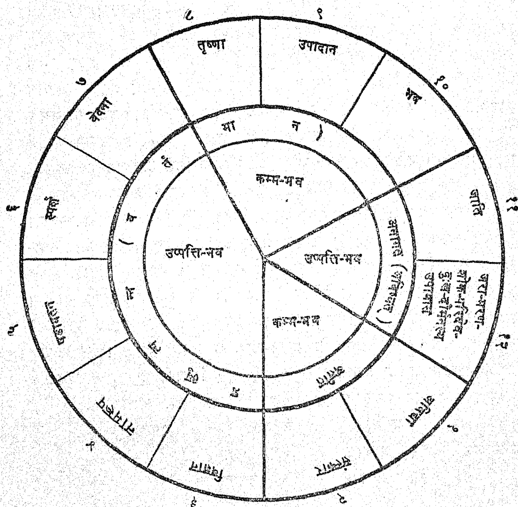
(१) महानिदान-सुत्त (दीघ० २।२)

जन्मों से भी मान सकते हैं अथवा एक ही जन्म या क्षण की तीन क्रमिक अवस्थाओं से भी। वस्तुतः बुद्ध-दर्शन की मान्यता के अनुसार चित्त (विज्ञान) की सतत प्रवाहशील धारा के ये तीन लगातार आनेवाले क्षण ही हैं। प्रत्येक क्षण हमारे जन्म और मरण लगातार होते रहते हैं, अतः परमार्थ रूप में इस जन्म और दूसरे जन्मों में कोई अन्तर नहीं है। जहाँ तक हमारे अतीत, वर्तमान और भविष्य के जन्मों से सम्बन्ध है, हमें प्रतीत्य समुत्पाद के सम्बन्ध को समझ लेना चाहिये। अविद्या और संस्कार दोनों मिलकर हमारे पूर्व जन्म की वे रचनात्मक कर्म-शक्तियाँ (कम्म-भव) हैं, जो संकलित होकर हमारे वर्तमान जन्म (उप्पत्ति-भव) को निश्चित करती हैं। हमारे वर्तमान जीवन के विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना सब उसी के विपाक-स्वरूप हैं। उसके बाद हमारे वर्तमान जीवन की कड़ियाँ जो तृष्णा, भव और उपादान के रूप में उत्पन्न होती हैं, स्वयं कर्म-भव बन जाती हैं (अतीत जीवन के अविद्या और संस्कार के समान) जिनका विपाक भविष्य के पुनर्जन्म रूप में होता है और वहाँ फिर जरा, मरण और दुःख की सन्तति उत्पन्न हो जाती है, जो वर्तमान जीवन के कर्म-विपाक के समान ही है। इस प्रकार यह भव-चक्र चलता है। प्रतीत्य समुत्पाद के १२ निदानों के इन तीन काल-विभागों में वर्गीकरण को हम इस तालिका के द्वारा दिखा सकते हैं[१]:

	अतीत	वर्तमान	भविष्यत्
कम्म भव	(१) अविद्या	(८) तृष्णा	
	(२) संस्कार	(९) उपादान	
		(१०) भव	
उप्पत्ति भव		(३) विज्ञान	(११) जन्म
		(४) नाम-रूप	(१२) जरा-मरण-दुःख
		(५) षडायतन	
		(६) स्पर्श	
		(७) वेदना	

(१) देखिये अनागारिक गोविन्द : दि साइकोलोजीकल एटीटयूड ऑव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ ८२; मिलाइये ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ १५८; राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४११

इसे हम चक्र के द्वारा इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं:—



हम पहले कह चुके हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद केवल दार्शनिक सिद्धान्त मात्र नहीं है जिसमें आन्तरिक और बाह्य जीवन के समस्त व्यापारों के समुदय और निरोध का क्रम हेतुओं और निदानों के अन्योन्याश्रित भाव के आधार पर दिखाया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद जीवन के विकास का क्रम है, दुःख-निरोध गामी आर्य अष्टांगिक मार्ग की वह तात्त्विक व्याख्या है। प्रतीत्य समुत्पाद हमें यह बतलाता है कि किस प्रकार प्राणी अविद्या के कारण नाना अनुभवों और चेतना की अवस्थाओं में भ्रमण करता है। संस्कार, विज्ञान, नाम-रूप आदि क्रम से वह अन्त में जन्म-जरा-मरण-शोक-परिदेव-दुःख-दौर्मनस्य-उपायास की ऐसी अवस्था में आ जाता है जहाँ दुःख इतना स्थूल और शक्तिशाली हो जाता है कि उसे उसके समुदय (कारण) के

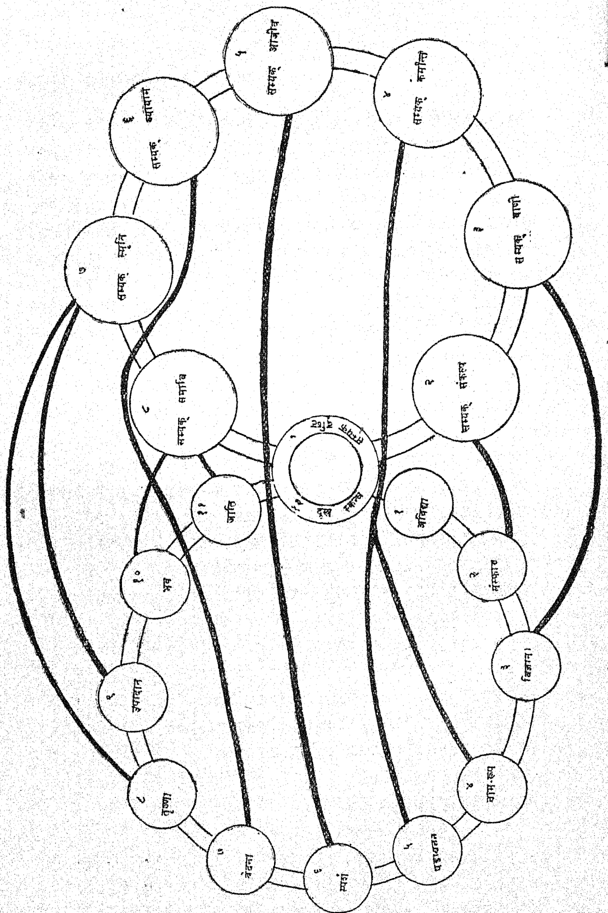
बारे में सोचना पड़ता है। वह दुःख-निरोध का संकल्प करता है। अपनी दृष्टि उसे बदलनी पड़ती है। जिन हेतुओं और प्रत्ययों से दुःख क्रमशः आया था उन्हें दबाना पड़ता है। उनके प्रतिपक्षी साधनों का उपयोग करना पड़ता है। अविद्या-संस्कार-नामरूप-षडायतन-स्पर्श-वेदना-तृष्णा-उपादान-भव क्रम से वह जन्म में आकर जरा-मरण शोक-दुःख आदि का भागी बना था। अब इस दुःख को दूर करने के लिये उसे दुःख के स्वभाव पर विचार करना होगा। यही दुःख-निरोध की पहली सीढ़ी है, और यही पहली सीढ़ी है आर्य अष्टांगिक मार्ग की भी—सम्यक् दृष्टि—जो दुःख, उसके कारण, और निरोध और निरोधगामी मार्ग को समझनेवाली है। अतः सम्यक् दृष्टि अविद्या की प्रतिपक्षी है। अब कारणवाद का चक्र दुःख-निरोध की ओर मुड़ चला है। आगे का प्रत्येक अंग प्रतीत्य समुत्पाद के किसी-न-किसी प्रत्यय का प्रतिपक्षी है। इस प्रकार क्रमशः सम्यक् संकल्प संस्कार का प्रतिपक्षी है, सम्यक् वाणी विज्ञान का नियमन करती है, सम्यक् कर्मान्त षडायतन का, सम्यक् आजीव स्पर्श का, सम्यक् व्यायाम वेदना का, सम्यक् स्मृति तृष्णा और उपादान का और अन्त में सम्यक् समाधि भव का नियमन करती है, जन्म का विनिश्चय करती है और अन्त में उसका विनाश कर देती है। इस प्रकार सम्पूर्ण दुःख-पुंज का विनाश हो जाता है, जो जन्म (जाति) के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद और आर्य अष्टांगिक मार्ग का सम्बन्ध है, जिसे अनागारिक गोविन्द द्वारा प्रस्तुत आगे के पृष्ठ पर दी गई तालिका के द्वारा अच्छी प्रकार समझा जा सकता है[१]।

यह है दुःख के उद्गम और निरोध का क्रम ! भव-चक्र, धर्म-चक्र या ब्रह्म चक्र, जिसे स्वच्छ दर्पण के समान विश्व की बाह्य और आन्तरिक व्यवस्था में समाया हुआ तथागत ने देखा था। इसे उन्होंने अपनी प्रज्ञा से बेधा था और फिर जगत् के लिये प्रकट किया था। क्या इसके सम्बन्ध में यह कहना अक्षरशः ठीक न होगा, "इस प्रकार प्रवर्तित चक्र का जो अनुसरण नहीं करता वह इन्द्रियासक्त पुरुष व्यर्थ ही जीता है[२]।" इसीलिये तथागत ने कहा था—इस मार्ग पर लगकर तुम दुःख का अन्त करोगे।

---

(१) दि साइकोलोजीकल एटीटयूड ऑव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ १०२

(२) एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः। अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।—गीता



(आर्य अष्टांगिक मार्ग के अंगों तथा प्रतीत्य समुत्पाद में सम्बन्ध । मोटी रेखाओं के द्वारा यह दिखाया गया है कि आर्य अष्टांगिक मार्ग का कौन-सा अंग प्रतीत्य समुत्पाद के किन-किन अंगों पर अपना प्रभाव स्थापित करता है और उनका नियमन करता है ।)

भारतीय दर्शन में कारणवाद सम्बन्धी अन्य सिद्धान्तों के साथ उसकी कुछ तुलना

प्रतीत्य समुत्पाद के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त ने विभिन्न उत्तरकालिक बौद्ध सम्प्रदायों में क्या स्वरूप ग्रहण किया, विभिन्न भारतीय दर्शनों में स्वीकृत कारणवादी सिद्धान्तों से उसकी क्या तुलना है, इसके सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। यह कार्य तो हम क्रमशः इस परिच्छेद के उत्तरार्द्ध तथा पाँचवें परिच्छेद में करेंगे। परन्तु यहाँ कुछ मोटी-मोटी बातों पर विचार किये बिना नहीं रहा जा सकता। प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश भगवान् तथागत ने जिस उद्देश्य से और जिस मन्तव्य की सिद्धि के लिए दिया था, उसका विवेचन ऊपर हो चुका है। त्रिपिटक में उपलब्ध इस सिद्धान्त के विवरण के विभिन्न प्रकारों को भी एक अत्यन्त संक्षिप्त दृष्टि से हमने देखा है। यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त न केवल उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों के द्वारा ही बल्कि अन्य भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों के आचार्यों के द्वारा भी विवेचन और मीमांसा का विषय बनाया गया है। प्रथम बात तो इस विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह है कि आचार्य बुद्धघोष (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईसवी) के समय से ही लेकर प्रायः जिस केन्द्रीय दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को देखा गया है वह मुख्यतः द्वितीय और तृतीय आर्यसत्य को प्रख्यापन करनेवाले नियम के रूप में नहीं है बल्कि शून्यता रूपी अनात्मवाद की सिद्धि के लिए है। इस प्रकार आचार्य बुद्धघोष का यह निष्कर्ष कि जब सभी धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न हैं तो इन स्कन्धों को मिलाने या अलग करने वाला कोई कर्ता दिखाई नहीं पड़ता, यह भव-चक्र कारक-वेदक-रहित है[१], कर्म का कोई कारक नहीं है, विपाक नहीं है, केवल शुद्ध धर्म प्रवर्तित हो रहे हैं, यही सम्यक् दर्शन है[२] और इसी प्रकार आगे उनका यह कहते जाना कि कर्म फल से शून्य है, कर्म में फल विद्यमान नहीं रहता, कोई देव या ब्रह्मा इस संसार का कारक नहीं, हेतु और प्रत्ययों से प्रवण केवल शुद्ध धर्म प्रवर्तित हो रहे हैं[३], यद्यपि मूल बुद्ध-

(१) भवचक्कमविदितादिमिदं कारकवेदकरहितं। द्वादसविध सुञ्ञाता-सुञ्ञं सततं समितं पवत्तति ॥ विसुद्धिमग्ग १७।२७३

(२) कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्स च वेदको। सुद्ध धम्मा पवत्तन्ति एवेतं सम्मदस्सनं ॥ यह पुराने आचार्यों का कथन है, जिसे आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग १७।२० में उद्धृत किया है।

(३) फलेन सुञ्ञं तं कम्मं फलं कम्मे न विज्जति ।

दर्शन की भावना या मान्यता से बाहर नहीं जाता, किन्तु निश्चय ही यह प्रतीत्य समुत्पाद के प्रधानतम उद्देश्य को कुछ अप्रधान सा अवश्य बना देता है। साथ ही इस प्रकार का दृष्टिकोण प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी विचार को तार्किक दिशा में भी बढ़ने को बहुत कुछ अग्रसर करता है और उसे अवसर देता है। भगवान् नागार्जुन ने तो जब अपने 'शून्यवाद' के समग्र दर्शन की सिद्धि ही 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सहारे की, तो उन्होंने न केवल उसे शून्यवाद के साथ एकाकार ही कर दिया, बल्कि उसे सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों के विवाद की कुंजी भी बना दिया। किन्तु कहाँ तक यह सब वाद-विवाद बुद्ध-मन्तव्य की दिशा में ही गया, यह सब उस विषय के विचारकों को सुलझाने की बात है। प्राथमिक रूप से यहाँ इतना कहा जा सकता है कि वह बुद्ध की मूल प्रतीत्य-समुत्पाद-सम्बन्धी भावना को कुछ निषेधात्मक दिशा में अधिक ले गया है[1]। इस प्रकार के विवेचन और दार्शनिक मन्थन से जो एक बात स्पष्ट रूप से निकली वह यह थी कि प्रतीत्य समुत्पाद का स्वरूप प्रधानतः नैतिक आदर्शवाद की सिद्धि के अर्थ न होकर बाद में कारणवाद की समस्या को सुलझाने के लिए बन गया और इसी रूप में अनेक कमियाँ भी उत्तरकालीन आचार्यों के द्वारा इस सिद्धान्त में दिखाई गईं और वाद और प्रतिवाद की एक लम्बी पर-

---

न हेत्थ देवो ब्रह्मा संसारस्सत्थि कारको।
सुद्ध धम्मा पवत्तन्ति हेतुसम्भारपच्चयाति"

यह भी पुराने आचार्यों का ही कथन है। विसुद्धिमग्ग १७।२० में उद्धृत।

(१) यह प्रसन्नता की बात है कि स्थविरवाद-परम्परा के आचार्यों ने भी यह अनुभव किया है कि आचार्य नागार्जुन 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त को उसकी मूल भावना से अलग ले गये हैं। आचार्य बुद्धघोष ने विसुद्धि मग्ग १७।२५ में प्रतीत्य समुत्पाद के अर्थ-सम्बन्धी निर्धारण के लिये कुछ नियम निर्दिष्ट किये हैं जिनमें एक यह है कि 'ठीक अर्थ को ग्रहण करना चाहिये'। इस पर विसुद्धिमग्ग की एक प्राचीन टीका में कहा गया है "यथा च एके 'अनिरोधं अनुप्पादं'ति (माध्यमिक कारिकायाः प्रथम श्लोकः) आदिना पटिच्च समुप्पादस्स अत्थं मिच्छा गाहेन्ति एवं गाहे अकत्वा वुत्तनयेनेव अविपरीतं अत्थं गाहेन्तेन।" आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी कृत विसुद्धिमग्ग दीपिका (विसुद्धिमग्ग की टीका), पृष्ठ १२६ में उद्धृत।

म्परा भारतीय विचार मण्डल में इस विषय को लेकर चल पड़ी। वास्तव में तो प्रतीत्य समुत्पाद का मिलान हमें भारतीय दर्शन के अन्य कारणवाद सम्बन्धी सिद्धान्तों के साथ करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं, कारणवाद की समस्या को सुलझाने के लिए भगवान् सुगत ने इसका उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने किसी मूल कारण की खोज स्वरूप प्रतीत्य समुत्पाद को प्राप्त नहीं किया था। फिर अविद्यमान वस्तु को विद्यमान दिखाने का प्रयत्न कर तो हम तथागत की निन्दा ही करेंगे? हाँ, यदि भारतीय दर्शन के प्राण दुःख-निवृत्ति के अन्यतम मार्ग के गवेषण में ही स्पन्दित होते हैं, तो जिस प्रकार उसके विभिन्न सम्प्रदायों में इस अनुत्तर मार्ग की तात्विक व्याख्या की गई है उसके साथ प्रतीत्य समुत्पाद के तुलनात्मक अध्ययन का हम अवश्य विनम्र प्रस्ताव कर सकते हैं। इस प्रकार न्याय-दर्शन में दुःख निवृत्ति का जो क्रम दिखाया गया है[1], वह प्रतीत्य समुत्पाद के साथ मिलाने योग्य है; उपनिषदों में भी इसके समान जो सिद्धान्त उपलब्ध हैं[2], उनका भी निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन हम कर सकते हैं और सांख्याचार्यों का 'प्रत्ययसंघ' प्रतीत्य समुत्पाद से कितनी समानता रखता है, इसके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं! कर्न का यह कथन कि प्रतीत्य समुत्पाद की 'अविद्या' सांख्यदर्शन के 'प्रधान' के, 'संस्कार', बुद्धि के; 'विज्ञान', 'अहंकार' के, 'नाम-रूप' 'तन्मात्राओं' के और 'षडायतन', 'इन्द्रियों' के समानान्तर रूप हैं[3], भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों के लिए भूरि-भूरि विचारणीय है, यद्यपि इससे सहमत होना उतना आसान नहीं है। वैष्णव-दर्शन जो इस समस्या के तात्विक विवेचन में प्रवृत्त ही नहीं होता बल्कि केवल दुःख-निवृत्ति के एक अद्वितीय मार्ग को ही प्रस्तुत करता है, इस विषय में बौद्ध दर्शन के ठीक विपरीत है। तथागत समस्या को ठीक सामने से देखते हैं और उनके दर्शन में दुःख-निवृत्ति को किसी देव-विशेष की कृपा पर नहीं लटकाया गया बल्कि एक दुर्धर्ष प्राकृतिक नियम के आधार पर उन्होंने उसके

(१) देखिए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन तथा न्याय-वैशेषिक'।

(२) देखिए बृहदारण्यक ३।२; श्वेताश्वतर ६।१

(३) देखिए उनका मैनुअल ऑव इंडियन बुद्धिज्म, पृष्ठ ४७-४८; मिलाइये एन० के० भागवत: दि बुद्धिस्ट फिलॉसफी ऑव दि थेरवाद स्कूल, पृष्ठ २५-२९, ५०; और अधिक विचार के लिए देखिए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन तथा सांख्य-योग' पर विचार।

मार्ग को दिखाया है। वैष्णव दर्शन विना कारण-कार्य की समस्या में पड़े ही भक्ति के द्वारा समस्या को सुलझाने का प्रस्ताव करता है—नाम जपत भव-सिन्धु सुखाहीं। करहु विचार सन्त मन माँहीं। इस दृष्टि से देखने पर भगवान् का हेतु-आश्रित मार्ग बड़ा कड़ा दिखाई पड़ेगा। प्रत्ययों से संचालित धर्मों में जहाँ कर्म का कोई कारक नहीं और केवल शुद्ध धर्म प्रवर्तित हो रहे हैं, हृदय की खोज करना व्यर्थ होगा। इसलिए प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर विचारकों और साधकों के लिये है। बाह्य और आन्तरिक नियमों की अबाधता और अमोघता दिखाकर वह हमें कड़ा करना चाहता है। निर्बल मनुष्य सम्भवतः इतने के लिये तैयार नहीं होगा। भक्त-साधक की प्रतीत्य समुत्पाद की ओर क्या दृष्टि होगी, इसे हम प्रह्लाद के इन शब्दों में प्रकट कर सकते हैं जो एक अन्य प्रसंग में प्रयुक्त हुए हैं, "बालक के लिये माता-पिता, रोगी के लिये औषध और समुद्र में डूबते हुए के लिये नौका सदा ही सहायक नहीं होते[१]।" यही हालत निर्बल मानवता के लिये प्रतीत्य समुत्पाद की भी है। वह बलिष्ठों का साधन है, प्रज्ञावानों का दर्शन है। निर्बलों के लिये उसके अभाव की पूर्ति सर्वप्रथम बुद्ध-भक्ति के रूप में महायान ने की और उसी साधन को वैष्णव साधना में भी बाद को अपनाया गया। वैष्णव-दर्शन सत्य को प्रख्यापित न करता हो, ऐसी गम्भीर विचार की वाणी नहीं हो सकती। उसकी भी औषध महान् और अनुत्तर है। परन्तु समस्या का सीधे रूप से सामना उसने कभी नहीं किया। औषधियाँ सब की अमोघ होने पर भी रोग का सहेतुक निदान और भैषज्य-विधान तो उन 'उत्तम भिषक्' तथागत ने ही सर्वोत्तम रूप से किया है और वही प्रतीत्य समुत्पाद के समग्र रूप में निहित है। इसी रूप में उसे देखने पर उसके वास्तविक तात्विक मर्म को हम समझ सकते हैं और इसी तरह कदाचित् तथागत के मन्तव्य को भी।

समीक्षा और उपसंहार

किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में, कोई भी वस्तु केवल एक ही दृष्टिकोण अथवा एक ही पहलू से नहीं देखी जाती, बल्कि प्रमा की सूक्ष्म डोरियों से ही चारों तरफ नापी जाती है ताकि उसकी सत्यता सर्वविध प्रमाणित हो सके। इस दृष्टिकोण से प्रतीत्य समुत्पाद भी, फिर चाहे बुद्ध-मन्तव्य से व्यभिचरित होकर ही क्यों न हो, अनेक समालोचनाओं का विषय बन गया है। इनपर विशेष

---

(१) भागवत ७।९।१९

रूप से विचार हम पाँचवें प्रकरण में शांकर दर्शन पर विवेचन करते समय करेंगे। भगवान् शंकराचार्य ने सर्वास्तिवादियों के 'परमाणुवाद' का खण्डन उपस्थित करते समय प्रतीत्य समुत्पाद के भी सवाल को उठाया है और बौद्ध क्षणिकवाद की प्रतिष्ठा में उसपर विचार कर दार्शनिक दृष्टि से उसे सर्वथा विशीर्ण कर दिया है, ऐसा हमें कहना चाहिये। वास्तव में एक स्थिर चैतन्य को माने बिना कारणवाद की दृष्टि से प्रतीत्य समुत्पाद की संगति नहीं लग सकती और उसके विषय में भगवान् तथागत का मौन है। आत्मा है या नहीं, इसका एकांश रूप से निरूपण तथागत ने नहीं किया है, बल्कि पंच स्कन्धों में उसका विश्लेषण कर केवल उनकी अनित्यता, दुःखमयता और अनात्मता तथागत ने दिखाई है। इसीलिये वे विभज्यवादी हैं, विश्लेषणवादी हैं। 'है' या 'नहीं' की कोटियों से विमुक्त होकर उन्होंने तथता का, ज्ञान का, साक्षात्कार किया है। किन्तु जो बात हमारे लिए आवश्यक है वह यह है कि चाहे प्रतीत्य समुत्पाद की संगति स्थिर आत्म तत्त्व के मानने पर ही लगती हो अथवा चाहे क्षणिक-वाद की उसमें अभिव्याप्ति मानने पर वह शून्यवाद में पर्यवसित हो जाता हो, प्रतीत्य समुत्पाद के शास्ता का मन्तव्य इन सबसे अतीत था। उन्होंने प्रतीत्य समुत्पाद में कारणवाद देखने को नहीं कहा था, बल्कि 'धर्म' देखने को कहा था और यदि क्षणिकवाद के सिद्धान्त का हम आत्यन्तिक रूप से बुद्ध में आरोप न करें (और हमें ऐसा करना भी नहीं चाहिए, क्योंकि क्षणिकवाद या क्षणभंगवाद तो दार्शनिक दृष्टि से एक बाद की चीज़ है) तो इतना तो निश्चय ही शंकर को भी स्वीकार्य है कि इन प्रत्ययों के उत्पत्ति और निरोध का क्रम बन सकता है। तो जो बात स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष है अर्थात् जब यह हम जानते हैं कि बुद्ध ने दुःख के क्रम के विनाश के लिए ही इस सिद्धान्त को प्रख्यापित किया था तो फिर सर्वश्लेषी क्षणिकवाद का उनपर आरोप कर (जिसे तथागत ने असंस्कृता धातु रूपी निर्वाण पर नहीं लगाया था, परन्तु जिस पर बाद के आचार्यों ने आरोप कर क्षणिकवाद को सर्वव्यापी सिद्धान्त बना दिया, जिससे शंकरादि अद्वैत वेदान्तियों को उसके प्रत्याख्यान करने का अवसर मिला) उनके मूल मन्तव्य को ही हम खटाई में क्यों डालें? इसी तरह हम भगवान् तथागत के मन्तव्य को समझ सकते हैं, सन्दिग्ध सिद्धान्तों का उन पर आरोप करके तो हम उनके मूल मन्तव्य पर ही आघात कर देते हैं। यदि दुःखादि का विनाश करना है तो तृष्णादि का त्याग करना ही होगा और इसी के लिए प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश है। तथागत वितथ तो बोलते ही

नहीं, व्यर्थ भी वे नहीं बोलते। उनका सदा के लिये साधकों से कहना है—'यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं। लभते पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं।' जैसे जैसे स्कन्धों की उत्पत्ति और व्यय का विचार मनुष्य करता है, वैसे-वैसे उस ज्ञानी को प्रीति और प्रमुदिता रूपी अमृत की प्राप्ति होती है। यदि प्रीति और प्रमुदिता रूपी अमृत की प्राप्ति हमें नहीं होती तो समझना चाहिये कि तथागत को समझने में कहीं गलती अवश्य रह गई है। उसे ठीक तरह समझ कर और संगति मिला कर जिस तरह प्रीति और प्रमुदिता मिले उसी समय समझना चाहिये कि बुद्ध मन्तव्य पर हम लग रहे हैं और यही शास्ता का शासन है।

७—अनात्मवाद: बुद्ध-मन्तव्य का तात्त्विक आधार

अनात्मवाद क्रान्तिकारी दर्शन!

'अनात्मवाद' एक अत्यन्त क्रान्तिकारी दर्शन है। भारतीय दर्शन का एक साधारण विद्यार्थी, जो औपनिषद आत्मतत्त्व को ठीक रूप से ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानता है, और जानता है कि 'आत्मा' के ही केवल श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार के लिए औपनिषद ज्ञान का उपयोग है, जब प्रथम बार सुनता है कि तथागत के मत में तो 'आत्मा की स्थिति ही नहीं है', तो उसके विभ्रमों और भयों की सीमा नहीं रहती। यदि भावुक हृदय हुआ और ठीक पथ-प्रदर्शन न मिला, तो पागल भी हो सकता है। वह रोमाञ्चित होता है और भयभीत भी। उपनिषदों के ऋषियों के प्रज्ञानों से वह ठीक ही अभिभूत हुआ रहता है, किन्तु सम्यक् सम्बुद्ध को भी तो वह भ्रमित और विमुग्ध नहीं मान सकता। परिणामतः वह दुःखी और अश्रद्धालु होता है। 'कपिलो यदि सर्वज्ञः सुगतो नेति का प्रमा। उभयौ यदि सर्वज्ञौ मतिभेदः कथं तयोः।' ऐसी कुछ विवशता उसको बुद्ध और उपनिषदों के ऋषियों को लेकर होने लगती है। यदि औपनिषद ऋषि ठीक हैं तो बुद्ध को गलत होना ही चाहिए, और यदि बुद्ध ठीक हैं तो उपनिषदों के ऋषियों की क्या हालत है? ऋषियों के 'ऋषित्व' अथवा बुद्ध के 'बुद्धत्व' का अर्थ ही क्या है? इनमें से एक के भी सही होने पर दूसरा बिना गलत हुए नहीं रह सकता, और जहाँ एक भी गलत होता है वहां समग्र भारतीय दर्शन ही गिरता है। फिर भारतीय दर्शन में मनुष्य के आयासित हृदय के लिए आश्वासन ही क्या रहा? जहाँ तक अपने अनुभव

की भी बात है, सभी मनुष्य 'मैं हूँ' ऐसा ही तो अनुभव करते हैं। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव तो किसी को होता नहीं है[१]। अतः परम सत्य के विषय में भी 'अस्तीत्येवोपलब्धव्य:' कहने वाला ही ठीक मार्ग हो सकता है। ब्रह्म है, ऐसा जो समझेगा, वही तो उसे जान सकेगा। 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद।' फिर यह 'अनात्मवाद' कैसा ? 'दुद्दसं अनत्तं नाम !'

'अनात्मवाद' शब्द सुनकर भी भय लगता है। अन्-आत्म-वाद—नहीं आत्मा, ऐसा सिद्धान्त ! पालि शब्द है अनत्ता—अन्-अत्ता—नहीं आत्मा।

अनात्मवाद को ठीक प्रकार न समझने के कारण भय और मोह की प्राप्ति

कहीं आश्वासन नहीं मिलता। तथागत तो भयों को दूर करने आये थे। फिर यह क्या भयकारी सिद्धान्त सिखला दिया। क्या आत्म-विनाश तथागत को अभिप्रेत था ? क्या मरने के बाद सत्त्वोच्छेद हो जाता है, जीव नहीं रहता, यही उन्हें कहना था ? तो फिर बासठ प्रचलित धारणाओं में से एक अशाश्वतवादी धारा को ही उन्होंने क्यों नहीं अपना लिया। क्यों उसे उन्होंने 'मिथ्या' कह कर पुकारा और साथ ही स्वयं 'अन्-अत्ता' ऐसा कहा। युग-युग का साधक इस प्रकार तो तथागत से अर्जुन के शब्दों में यही कहता रहेगा, 'व्यामिश्रेणेन वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे'। यह कुछ कम सम्भव नहीं है कि पुराणकारों ने जब भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान कर भी उन्हें प्रजाओं को विमोहित करनेवाला बताया, तो वह उनके अनात्मवाद सम्बन्धी सिद्धान्त को पचा न सकने के कारण ही था, जो बौद्ध तत्त्व ज्ञान की प्रतिष्ठा है। बुद्ध पुनर्जन्म की बात कहते हैं, बार-बार यह कहते हैं कि उनका धर्म इस लोक और परलोक दोनों के सुख के लिये है[२] और साथ ही कहते हैं 'अनत्ता', तो यह कुछ समझ में नहीं आता। अनात्मवाद के सिद्धान्त से तथागत का क्या तात्पर्य है ?

(१) न हि कश्चित् संदिग्धे अहं वा नाहं वेति। भामती।

(२) दिट्ठधम्मिकञ्चेव अत्थं सम्परायिकं चाति। उभो अत्थ सुत्त (इति-वुत्तक); मिलाइये, "चुन्द ! मैं ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही आस्रवों के क्षय के लिये धर्मोपदेश करता हूँ।" पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६); जिसके पाप-कर्म नष्ट हो गये हैं, वह इस लोक और परलोक दोनों को साधता है, इस भावना के लिये देखिये सिगालोवाद सुत्त (दीघ० ३।८)

सचमुच अनात्मवाद के सम्बन्ध में बड़ी भ्रान्ति है, जो भय को जन्म देती है। इस सिद्धान्त का ठीक प्रकार से न समझना मनुष्यों के हृदय में बुद्ध-धर्म के बीज नहीं जमने देता। वह उन्हें उससे विमुख कर देता है, उसके प्रति भय-बुद्धि उत्पन्न कर देता है। तथागत की सर्वाश्लेषी करुणा से आकृष्ट और उनके विमल नैतिक मन्तव्यों से प्रभावित प्राणी भी इस देश में आशंकापूर्वक पूछते देखे गये हैं, "क्या यह ठीक है कि भगवान् बुद्ध आत्मा को नहीं मानते, ईश्वर को नहीं मानते ?" आत्मवाद और ईश्वरवाद को लेकर बुद्ध-मन्तव्य के सम्बन्ध में ये शंकाएँ भारत में शताब्दियों से चली आ रही हैं और आज के वातावरण में भी जहाँ-कहीं देखी जा सकती हैं। इनका समाधान अत्यन्त आवश्यक है। हम यहाँ बुद्ध के तथोक्त अनीश्वरवाद के सम्बन्ध में कुछ न कहकर केवल अनात्मवाद के सम्बन्ध में ही कुछ संक्षिप्त विश्लेषण और विवेचन करेंगे।

अनात्मवाद की विपुल व्याख्याएँ और उसपर विशाल साहित्य

तथागत ने अनात्मवाद का उपदेश आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व दिया था। तब से इन पच्चीस गुजरी हुई शताब्दियों में मोग्गलिपुत्त तिस्स (तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व) से लेकर कमलशील (८५० ई०) तक सैकड़ों बौद्ध आचार्यों ने इस सिद्धान्त की महनीय व्याख्याएँ की हैं, उस पर विचार किया है और उसे समझने का प्रयत्न किया है। नागसेन, अश्वघोष, बुद्धघोष, नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और शान्तरक्षित उन ऐसे सैकड़ों भिक्षुओं में से कुछ नाम हैं। बौद्ध धर्म के नाना सम्प्रदायों ने इस सिद्धान्त की अपने-अपने मन्तव्य के अनुसार व्याख्याएँ की हैं, जिनमें एक का दूसरे से काफी पार्थक्य भी है। फिर भारत के बाहर के मनीषी विचारकों ने भी इस सिद्धान्त पर शताब्दियों से प्रभूत रूप से विचार किया है और इस सम्बन्धी एक महान् साहित्य तिब्बती, चीनी, जापानी, बरमी, सिंहली और स्यामी भाषाओं में उपलब्ध होता है जिस तक किसी भारतीय विद्यार्थी की पहुँच आज कठिनता से ही हो सकती है। ब्राह्मण और जैन (जो दोनों आत्मवादी दर्शन हैं) दर्शन-परम्पराओं के विचारकों ने भी तुलनात्मक दृष्टि से बौद्ध अनात्मवाद का शताब्दियों से अध्ययन किया है और आज भी कर रहे हैं। यूरोप और रूस के अनेक आधुनिक विद्वानों ने अपने मौलिक वैज्ञानिक ढंग से इस सिद्धान्त का अध्ययन किया है और कई नये विचार उन्होंने इस सम्बन्ध में हमें दिये हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनात्मवाद सम्बन्धी विस्तृत विचार देश और विदेश के बौद्ध

और अ-बौद्ध विचारकों के द्वारा इन पच्चीस शताब्दियों में किया गया है। हमारे लिये यह असम्भव है कि हम इस सब का पर्यालोचन कर अनात्मवाद का विवेचन यहाँ उपस्थित कर सकें। एक पूरी आयु भी इसके लिये पर्याप्त न होगी। अतः हम यहाँ केवल तथागत-प्रवेदित अनात्मवाद के रूप को समझने का प्रयत्न करेंगे, अर्थात् अनात्मवाद के उस रूप को जिसे स्वयं शास्ता ने सिखाया था।

बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद— अनत्तलक्खण-सुत्त के आधार पर

हम पहले देख चुके हैं कि भगवान् बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति के बाद अपना पहला प्रवचन वाराणसी के समीप इसिपतन (सारनाथ) के मिगदाय (मृग-उद्यान) में पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया था। इस प्रवचन का सम्बन्ध चार आर्य सत्यों और आर्य अष्टांगिक मार्ग से था। चार आर्य सत्यों के निरूपण के सम्बन्ध में हम इस सुत्त का उल्लेख कर चुके हैं। भगवान् ने यहीं अपना दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रवचन अनात्मवाद के सम्बन्ध में पंचवर्गीय भिक्षुओं को दिया। यह उपदेश 'अनत्त लक्खण-सुत्त' के रूप में विनय-पिटक के महावग्ग में सम्मिलित है। बौद्ध धर्म की दार्शनिक स्थिति के आधारभूत रूप को यह सुत्त प्रकट करता है। इसके अत्यधिक महत्त्व को देखते हुए इसे पूर्ण रूप से यहाँ उद्धृत करना आवश्यक होगा :

एक समय भगवान् वाराणसी के समीप इसिपतन के मिगदाय में विहार करते थे। उस समय भगवान् ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को सम्बोधित किया :

"भिक्षुओ ! रूप आत्मा नहीं है। भिक्षुओ ! यदि रूप आत्मा होता तो इसमें रोग न होता, और हम रूप के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरा रूप ऐसा हो', 'मेरा रूप ऐसा न हो !' चूंकि भिक्षुओ ! रूप आत्मा नहीं है, इसलिये रूप में रोग होता है और हम रूप के सम्बन्ध में नहीं कह सकते 'मेरा रूप ऐसा हो', 'मेरा रूप ऐसा न हो[1]।'

---

(१) रूपं भिक्खवे अनत्ता। रूपं च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं रूपं आबाधाय सम्वत्तेय्य, लब्भेथ च रूपे एवं मे रूपं होतु, एवं मे रूपं मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे रूपं अनत्ता, तस्मा रूपं आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति रूपे एवं मे रूपं होतु, एवं मे रूपं मा अहोसीति।

"भिक्षुओ ! वेदना आत्मा नहीं है । भिक्षुओ ! यदि वेदना आत्मा होती तो इसमें रोग न होता और इस वेदना के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरी वेदना ऐसी हो', 'मेरी वेदना ऐसी न हो' । चूंकि भिक्षुओ ! वेदना आत्मा नहीं है, इसलिये वेदना में रोग होता है और हम वेदना के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, 'मेरी वेदना ऐसी हो', 'मेरी वेदना ऐसी न हो[१] ।'

"भिक्षुओ ! संज्ञा आत्मा नहीं है । भिक्षुओ ! यदि संज्ञा आत्मा होती तो इसमें रोग न होता और हम संज्ञा के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरी संज्ञा ऐसी हो', 'मेरी संज्ञा ऐसी न हो' । चूंकि भिक्षुओ ! संज्ञा आत्मा नहीं है, इसलिये संज्ञा में रोग होता है और हम संज्ञा के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, 'मेरी संज्ञा ऐसी हो', 'मेरी संज्ञा ऐसी न हो'[२] ।

"भिक्षुओ ! संस्कार आत्मा नहीं हैं । भिक्षुओ ! यदि संस्कार आत्मा होते तो उनमें रोग न होता और हम संस्कारों के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरे संस्कार ऐसे हों', 'मेरे संस्कार ऐसे न हों' । चूंकि भिक्षुओ ! संस्कार आत्मा नहीं हैं, इसलिये संस्कारों में रोग होता है और हम संस्कारों के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, 'मेरे संस्कार ऐसे हों', 'मेरे संस्कार ऐसे न हों'[३] ।

---

(१) वेदना भिक्खवे अनत्ता । वेदना च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं वेदना आबाधाय संवत्तेय्य, लब्भेथ च वेदनाय एवं मे वेदना होतु, एवं मे वेदना मा अहोसीति । यस्मा च खो भिक्खवे वेदना अनत्ता, तस्मा वेदना आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति वेदनाय एवं मे वेदना होतु, एवं मे वेदना मा अहोसीति ।

(२) सञ्ञा भिक्खवे अनत्ता । सञ्ञा च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं सञ्ञा आबाधाय संवत्तेय्य, लब्भेथ च सञ्ञाय एवं मे सञ्ञा होतु, एवं मे सञ्ञा मा अहोसीति । यस्मा च खो भिक्खवे सञ्ञा अनत्ता, तस्मा सञ्ञा आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति सञ्ञाय एवं मे सञ्ञा होतु, एवं मे सञ्ञा मा अहोसीति ।

(३) संखारा भिक्खवे अनत्ता । संखारा च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्संसु, न यिमे संखारा आबाधाय संवत्तेय्युं, लब्भेथ च संखारेसु एवं मे संखारा होन्तु, एवं मे संखारा मा अहेसुं ति । यस्मा च खो भिक्खवे संखारा अनत्ता, तस्मा संखारा आबाधाय संवत्तन्ति, न च लब्भति संखारेसु एवं मे संखारा होन्तु, एवं मे संखारा मा अहेसुं ति ।

"भिक्षुओ ! विज्ञान आत्मा नहीं है। भिक्षुओ ! यदि विज्ञान आत्मा होता तो उसमें रोग न होता और हम विज्ञान के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरा विज्ञान ऐसा हो', 'मेरा विज्ञान ऐसा न हो'। चूंकि भिक्षुओ ! विज्ञान आत्मा नहीं है, इसलिये विज्ञान में रोग होता है और हम विज्ञान के सम्बन्ध में नहीं कह सकते, 'मेरा विज्ञान ऐसा हो,' 'मेरा विज्ञान ऐसा न हो'[१]।

"तो क्या मानते हो भिक्षुओ ! रूप नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओ ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है ?"

"नहीं, भन्ते !"[२]

"भिक्षुओ ! वेदना नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओ ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है ?"

---

(१) विञ्ञाणं भिक्खवे अनत्ता। विञ्ञाणं च हिदं भिक्खवे अत्ता अभविस्सा, न यिदं विञ्ञाणं आबाधाय संवत्तेय्य, लब्भेत च विञ्ञाणे एवं मे विञ्ञाणं होतु, एवं मे विञ्ञाणं मा अहोसीति। यस्मा च खो भिक्खवे विञ्ञाणं अनत्ता, तस्मा विञ्ञाणं आबाधाय संवत्तति, न च लब्भति विञ्ञाणे एवं मे विञ्ञाणं होतु, एवं मे विञ्ञाणं मा अहोसीति।

(२) तं किं मञ्ञथ भिक्खवे रूपं निच्चं वा अनिच्चं वा ति ? अनिच्चं भन्ते। यं पनानिच्चं, दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति ? दुक्खं भन्ते। यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ताति। नो हेतं भन्ते।

"नहीं, भन्ते !"[१]

"भिक्षुओ ! संज्ञा नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओ ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणाम धर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है ?"

"नहीं , भन्ते !"[२]

"भिक्षुओ ! संस्कार नित्य हैं या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओ ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणाम धर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है, 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' ?

"नहीं, भन्ते !"[३]

"भिक्षुओ ! विज्ञान नित्य है या अनित्य ?"

---

(१) वेदना भिक्खवे निच्चं वा अनिच्चं वा ति। अनिच्चं भन्ते ! यं पनानिच्चं, दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति ? दुक्खं भन्ते । यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता'ति। नो हेतं भन्ते ।

(२) सञ्ञा भिक्खवे निच्चं वा अनिच्चं वा ति ? अनिच्चं भन्ते । यं पनानिच्चं दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति ? दुक्खं भन्ते । यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ताति । नो हेतं भन्ते ।

(३) संखारा भिक्खवे निच्चं वा अनिच्चं वा ति ? अनिच्चं भन्ते । यं पनानिच्चं दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति । दुक्खं भन्ते । यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ताति । नो हेतं भन्ते ।

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख भन्ते !"

"तो भिक्षुओ ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणाम धर्मा है, क्या उसके सम्बन्ध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा आत्मा है' ?"

"नहीं, भन्ते !"[1]

"इसलिये भिक्षुओ ! जो कुछ भी यहाँ रूप है, चाहे वह अतीत का हो, या भविष्यत् का, या वर्तमान का, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप का या दूर का, वह सब रूप मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[2]

"इसलिये भिक्षुओ ! जो कुछ भी यहाँ वेदना है, चाहे वह अतीत की हो, या भविष्यत् की, या वर्तमान की, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप की या दूर की, वह सब वेदना मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[3]

"इसलिये भिक्षुओ ! जो कुछ भी यहाँ संज्ञा है, चाहे वह अतीत की हो,

---

(१) विञ्ञाणं भिक्खवे निच्चं वा अनिच्चं वा ति ? अनिच्चं भन्ते । यं पनानिच्चं दुक्खं वा तं सुक्खं वा ति । दुक्खं भन्ते । यं पनानिच्चं दुक्खं विपरिणामधम्मं कल्लं नु तं समनुपस्सितुं एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता ति । नो हेतं भन्ते ।

(२) तस्मातीह भिक्खवे यं किञ्चि रूपं अतीतानागत पच्चुप्पन्नं अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओलारिकं वा सुखुमं वा हीनं वा पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा, सब्बं रूपं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता ति एवं एतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बं ।

(३) या काचि वेदना अतीतानागत पच्चुप्पन्ना अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओलारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा या दूरे सन्तिके वा सब्बा वेदना नेतं मम, नेहसोमस्मि, न मे सो अत्ता ति एवं एसा यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बा ।

या भविष्यत् की, या वर्तमान की, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप की या दूर की, वह सब संज्ञा मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[1]

"इसलिये भिक्षुओ ! जो कुछ भी संस्कार यहाँ हैं, चाहे वे अतीत के हों, या भविष्यत् के, या वर्तमान के, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप के या दूर के, वे सब संस्कार मेरे नहीं हैं, वे मैं नहीं हूँ, वे मेरे आत्मा नहीं हैं, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[2]

"इसलिये भिक्षुओ ! जो कुछ भी विज्ञान यहाँ है, चाहे वह अतीत का हो या भविष्यत् का, या वर्तमान का, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप का या दूर का, वह सब विज्ञान मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरा आत्मा नहीं है, इस प्रकार सम्यक् प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिये ।[3]

"भिक्षुओ ! इस प्रकार देखकर श्रुतवान् आर्य-श्रावक रूप में निर्वेद को प्राप्त करता है, वेदना में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, संज्ञा में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, संस्कारों में निर्वेद को प्राप्त करता है और विज्ञान में भी निर्वेद को प्राप्त करता है । निर्वेद प्राप्त कर वह विरक्त होता है । विराग

---

(१) या काचि सञ्ञा अतीतानागत पच्चुप्पन्ना अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओळारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा या दूरे सन्तिके वा सब्बा सञ्ञा नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता ति एवं एसा यथाभतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बा ।

(२) ये केचि संखारा अतीतानागत पच्चुप्पन्ना अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओळारिका वा सुखुमा वा हीना वा पणीता वा ये दूरे सन्तिके वा सब्बे संखारा नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता ति एवमेतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बा ।

(३) यं किञ्चि विञ्ञाणं अतीतानागत पच्चुप्पन्नं अज्झत्तं वा बहिद्धा वा ओळारिकं वा सुखुमं वा हीनं वा पणीतं वा यं दूरे सन्तिके वा सब्बं विञ्ञाणं नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ताति एवं एतं यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय दट्ठब्बं ।

से विमुक्ति प्राप्त करता है। विमुक्त होने पर उसे यह ज्ञान होता है 'मैं विमुक्त हूँ।' जन्म का क्षय हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ, करना था सो कर लिया, अब आगे कुछ करने को शेष नहीं है, ऐसा वह प्रज्ञा के द्वारा जानता है।"[१]

यह है सम्पूर्ण अनात्मवाद का उपदेश जिसे भगवान् ने दिया। कितना विशद और सरल है इसका रूप, जिसे किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं। तीन बातें भगवान् ने क्रमशः अत्यन्त सरल शब्दों में यहाँ कही हैं। पहली बात यह है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा समझना उचित नहीं है क्योंकि ये बाधाओं से ग्रस्त हैं, रोग के अधीन हैं। दूसरी बात यह कही है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य हैं, अतः दुःख हैं, अतः आत्मा नहीं हो सकते। तीसरी बात यह कही है कि जब ये आत्मा नहीं हैं तो इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिये, इनसे विरक्त होना चाहिये और इस प्रकार विराग के द्वारा विमुक्ति का साक्षात्कार कर कृतकृत्यता सम्पादित करनी चाहिये। बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद अपने सम्पूर्ण रूप में इतना ही है, न इससे कुछ कम न अधिक।

थोड़े-बहुत सम्बोधनों के हेर-फेर से भगवान् ने इसी उपदेश को अपनी चारिकाओं में अनेक बार दिया। अग्निवेश-गोत्री सच्चक नामक नंगे साधु ने जब एक बार भगवान् से पूछा कि आप अपने शिष्यों को क्या शिक्षा देते हैं, तो भगवान् ने उससे यही कहा कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, यही शिक्षा मैं अपने शिष्यों को देता हूँ[२]। दीघ-निकाय के महानिदान-सुत्त में भगवान् ने अनात्मवाद का उपदेश अपने सेवक-शिष्य आनन्द को दिया। भगवान् ने अनात्मवाद का उपदेश राहुल को भी दिया।[३] अपने एक शिष्य पूर्ण को भी उन्होंने इसका उपदेश दिया[४]।

(१) एवं पस्सं भिक्खवे सुतवा अरिय सावको रूपस्मिं पि निब्बिन्दति, वेदनाय पि निब्बिन्दति, सञ्ञाय पि निब्बिन्दति, संखारेसु पि निब्बिन्दति निब्बिन्दं विरज्जति, विरागा विमुच्चति, विमुत्तस्मिं विमुत्तं हीति ञाणं होति खीणा जाति वुसितं ब्रह्मचरियं कतं करणीयं, नापरं इत्थत्तायाति पजानातीति।

(२) देखिए चूल सच्चक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।५)

(३) देखिये चूल राहुलोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।५)

(४) देखिये पुण्णोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।३)

पारिलेय्यक वन में सब भिक्षुओं के सामने भगवान् ने यही उपदेश दिया[1]। इन्द्रिय-संयम की शिक्षा देते हुए भगवान् ने यही उपदेश महातण्हा संखय-सुत्तन्त में दिया[2] और इसी प्रकार इन्द्रिय-भावना सुत्तन्त में भी[3]। महा अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९) में भी इसी उद्देश्य से यह उपदेश दिया गया। अनात्मवाद का पूरा उपदेश महापुण्णम-सुत्तन्त में भी निहित है[4]। इसी प्रकार अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२) में भगवान् ने भिक्षुओं से कहा, "भिक्षुओ! जो तुम्हारा नहीं है, उसे छोड़ो। उसका छोड़ना चिरकाल तक तुम्हारे हित और सुख के लिये होगा। भिक्षुओ! क्या तुम्हारा नहीं है? रूप.......वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान.....भिक्षुओ! यह सब तुम्हारा नहीं है। इसे छोड़ो। यह तुम्हारे लिये चिरकाल तक हित और सुख के लिये होगा।" यह अनात्मवाद का ही उपदेश था। इसी प्रकार संयुत्त-निकाय के 'न तुम्हाकं सुत्त' में भगवान् ने यही कहा, "भिक्षुओ! चक्षु तुम्हारी नहीं है, रूप तुम्हारा नहीं है, चक्षु-विज्ञान तुम्हारा नहीं है।......निर्वेद प्राप्त करो।" पृथ्वी, जल, तेज वायु, श्रुत, स्मृत, विज्ञान सब को 'न मैं', 'न मेरा' समझना चाहिये, यह मूल परियाय-सुत्त का उपदेश है[5]। चूल-वेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४) में कहा गया है कि जो आर्य दर्शन से वंचित है, वही रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा के तौर पर देखता है। सारांश यह कि पालि निकायों के अनेक सुत्तों में प्रायः समान शब्दों में अनात्मवाद का वर्णन मिलता है और वह भगवान् बुद्ध का प्रमुख उपदेश माना गया है। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने अनात्मवाद को भगवान् का सनातन (नित्य कल्प) शासन कहा है[6]। स्वयं सारिपुत्र ने अनात्मवाद का उपदेश मरणासन्न अनाथ पिंडिक को दिया उसकी सान्त्वनार्थ[7] और आत्महत्या करने पर उतारू छन्न को भी उन्होंने इसका उपदेश देते हुए उस दुष्कृत्य से उसे

(१) देखिये संयुत्त-निकाय २१।८।९
(२) मज्झिम० १।४।८
(३) मज्झिम० ३।५।१०
(४) मज्झिम० ३।१।९
(५) मज्झिम० १।१।१
(६) छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।२)
(७) देखिये अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।१)

बचाने का प्रयत्न किया[1]। नन्दक नामक भिक्षु ने अनात्मवाद का उपदेश भिक्षुणियों को दिया[2]। अब हमें यह देखना चाहिये कि साधना में रत भिक्षु और भिक्षुणियाँ और उनके शास्ता क्या सिद्धान्तवादियों की तरह इस सिद्धान्त का प्रचार करते रहते थे या उनका कुछ अन्य प्रयोजन था?

भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद के स्वरूप को पूरी तरह समझने के लिये हमें यह देखना चाहिये कि भगवान् ने किस प्रकार अनात्मवाद का उपदेश दिया और उसकी क्या सीमा बाँधी?

बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद का प्रकार और उसकी सीमा

भगवान् तथागत ने अनात्मवाद का उपदेश किसी स्वतन्त्र दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में नहीं दिया, यद्यपि बाद में इसको वह स्वरूप प्राप्त हो गया। पालि निकायों में अनात्मवाद की किरणें बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद में से फूटती निकलती दिखाई पड़ती हैं और उसी की दार्शनिक प्रतिष्ठाभूमि के रूप में उसका वहाँ उपयोग है। जब कभी भगवान् स्मृति-प्रस्थानों का वर्णन करते हैं, चार आर्य सत्यों का निदर्शन करते हैं, प्रतीत्य समुत्पन्न धर्मों की अनित्यता और दुःखमयता दिखाते हैं, अपने शिष्यों को अनासक्तिवाद सिखाते हैं, उन्हें इन्द्रिय-संयम में लगाते हैं, उसी समय वे अनात्मवाद के निरूपण में भी संलग्न दिखाई पड़ते हैं। भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट समग्र बोधिपक्षीय धर्मों की ओर यदि हम ध्यान दें तो उनका अभ्यास साधक के लिये कितना सरल और युक्तियुक्त होता है जब हम यह याद रक्खें कि यह समग्र 'रूप'-मय और चित्त-चेतसिक-मय जगत्, यह समग्र पञ्च स्कन्ध-व्यवहार, जिसके लिये हम दिन-रात हैरान-परेशान रहते हैं, वह हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है, वह 'आत्मा' नहीं है, 'अनात्मा' है। भगवान् ने बड़े मार्मिक शब्दों में कहा है कि जो अनित्य है, वह दुःख है और जो दुःख है वह 'अपना' (अत्ता) नहीं हो सकता। फिर उसमें चित्त को फँसा कर दुःख को क्यों बढ़ाया जाय? वह तो विपरिणाम धर्मा है, अवश्य बदलेगा। उसमें चित्त को लगाकर हम दुःख के अलावा परिणाम प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार सभी बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों से निर्वेद प्राप्त करने के लिये, जो ज्ञान-प्राप्ति की एक सब से बड़ी शर्त है, भगवान् ने अनुकम्पा

(१) देखिये छन्नोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।२)
(२) देखिये नन्दकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।४)

पूर्वक 'अनात्म' अथवा 'अनत्ता' का उपदेश दिया है और यही उसकी सीमा है। इससे आगे बढ़ने में, जैसा कि हम अभी देखेंगे, भय है और पालि त्रिपटक के आधार पर हम ऐसा कर भी नहीं सकते ।

अनात्मवाद के उपदेश में भगवान् का प्रयोजन

फिर हमें यह देखना चाहिये कि अनात्मवाद के उपदेश में तथागत का प्रयोजन क्या था ? तथागत ने जिस किसी वस्तु को व्याकृत किया है (मनुष्य-जीवन के लिये जो कुछ भी आवश्यक और उपयोगी है उस सब को तथागत ने व्याकृत किया है), जिस किसी उपदेश को दिया है, उस सब के अन्त में प्रायः अवश्य कह दिया है कि चूंकि यह वस्तु या उपदेश एकान्त निर्वेद के लिये, विराग के लिये, निरोध के लिये, उपशम के लिये, अभिज्ञा के लिये, सम्बोधि के लिये और निर्वाण के लिये है, इसलिये उसका उपदेश उन्होंने दिया है, उसका विभज्य-व्याकरण उन्होंने किया है। अनात्मवाद के उपदेश में ऐसा उनका क्या उद्देश्य था ? भगवान् साधकों को सिखाते हैं कि इन्द्रियों में संयम रक्खो। चक्षु से रूप को देखकर निमित्तग्राही और अनुव्यंजनग्राही मत बनो। चक्षु-इन्द्रिय में संयम प्राप्त कर विहरो। रूप में राग करोगे, तो चित्त के मल आ चिपटेंगे। चक्षुविज्ञान में आसक्ति होने पर दुःख का आक्रमण हो जायगा। इसी प्रकार श्रोत्र और शब्द, घ्राण और गन्ध और जिह्वा और रस आदि में भगवान् वितृष्णता सिखलाते हैं। इस वितृष्णता की वृद्धि के लिये ही भगवान् ने यह कहा कि 'भिक्षुओ ! यह चक्षु तुम्हारा नहीं है, यह चक्षुविज्ञान तुम्हारा नहीं है, यह रूप, यह श्रोत्र, ये शब्द, ये वेदनाएँ, ये स्पर्श, तुम्हारे नहीं हैं। इन्हें छोड़ दो।' कितनी विकलता थी तथागत के शब्दों में, "भिक्षुओ ! मैं तुम्हें कहता हूँ। मैं तुम्हें समझाता हूँ। ऐसा तुम्हें सीखना चाहिये [१]।" क्या किसी कोरे दार्शनिक सिद्धान्त को सिखलाने के लिये तथागत या अन्य कोई शास्ता इतनी तत्परता और इतनी हृदय की व्याकुलता दिखला सकता था ? जब तक मनुष्य अहंभाव को नहीं छोड़ता, 'मैं' और 'मेरा' से मुक्ति नहीं पाता, वह मार-मुक्त नहीं होता, राग-विसंयुक्त नहीं होता, आर्य नहीं बनता। "कैसे भिक्षुओ ! भिक्षु आर्य, मार-मुक्त, राग-विसंयुक्त होता है ? भिक्षुओ ! जिस भिक्षु का अभिमान ('अहं' का अभिमान) नष्ट हो गया है, भविष्य में न उत्पन्न होने योग्य हो गया

---

(१) महा अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९)

है, वही आर्य है, मार-मुक्त है, राग-विसंयुक्त है[१] ।" अनात्मवाद का उपदेश इसी के लिये दिया गया है । सम्पूर्ण भव अनित्य है, दुःख है, अनात्म है, इस प्रकार चिन्तन करनेवाले व्यक्ति को ज्ञान उत्पन्न होता है, (आध्यात्मिक) प्रीति उत्पन्न होती है, प्रश्रब्धि (चित्त-शान्ति) उत्पन्न होती है, सुख उत्पन्न होता है, अधिमोक्ष (संकल्प) उत्पन्न होता है, उच्चतर विकास (प्रग्रह) उत्पन्न होता है, ऐसा भगवान् ने कहा है[२] । अनात्म के चिन्तन से मनुष्य निमित्त और प्रवृत्त का यथाभूत ज्ञान प्राप्त करता है, उसे सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है । अनात्म के कारण उसे सब धर्म ठीक प्रकार दिखाई देने लगते हैं[३] । यह भी कहा गया है कि अनित्य को देखने से मनुष्य का मान नष्ट होता है, दुःख को देखने से उसकी इच्छाओं की शुद्धि होती है और अनात्म को देखने से उसकी दृष्टि-सम्बन्धी आसक्ति दूर होती है[४] । वैराग्य का उद्देश्य भी पूरा होता है, क्योंकि अनात्म का चिन्तन करते-करते साधक को यह जगत् शून्य ग्राम के समान या माया-मरीचिका के समान या गन्धर्व-नगर के समान रिक्त, तुच्छ और शून्य लगने लगता है और वह सम्पूर्ण भव में भय देखकर उससे विरक्त हो जाता है[५] । विराग से विमुक्ति को प्राप्त करता है । 'विरागा विमुच्चतीति ।' अनात्म का दर्शन करनेवाला देहात्म संज्ञा में निर्वेद को प्राप्त करता है,

(१) अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२); मिलाइये, 'अनात्म संज्ञी अभिमान के नाश को प्राप्त होता है, वह इसी जन्म में निर्वाण को प्राप्त करता है ।' मेघिय-सुत्त (उदान० ४।१)

(२) अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो मनसि करोतो ञाणं उप्पज्जति.... पीति... पस्सद्धि.... सुखं... अधिमोक्खो....पग्गहो...उप्पज्जति । पटि सम्भिदा मग्ग २।१००-१०१, विसुद्धिमग्ग २०।१०६ में उद्धृत ।

(३) अनत्ततो मनसि करोन्तो निमित्तं च पवत्तं च यथाभूतं जानाति पस्सति । तेन वुच्चति सम्मादस्सनं । एवं तदन्वयेन सब्बे धम्मा अनत्ततो सुदिट्ठा होन्ति । पटि सम्भिदामग्ग २।६२-६३ ।

(४) अनत्ततो पस्सन्तस्स दिट्ठिसमुग्घाटनं नाम होति अनिच्चतो पस्सन्तस्स नाम होति । पटि सम्भिदामग्ग, विसुद्धिमग्ग २०।८७ में उद्धृत ।

(५) अनत्ततो मनसिकरोन्तो पन उभयम्पेतं सुञ्ञं गामं विय, मरीचिगन्धब्बनगरादीनि विय च रित्तं तुच्छं सुञ्ञं अस्सामिकं अपरिणायकं पस्सति । तेनस्स निमित्तञ्च पवत्तञ्च भयतो उपट्ठाति । पटिसम्भिदामग्ग २।६२, विसुद्धिमग्ग २१।३४ में उद्धृत ।

नन्दी (तृष्णा) से उसकी विरक्ति हो जाती है, राग की आसक्ति उसके लिये छूटने लगती है, वह दुःख-समुदय के निरोध को खोजने लगता है, वह ग्रहण-रूप आसक्ति को छोड़ देता है।[1] अनात्म का चिन्तन करने से प्रतिसंख्या-ज्ञान की भी उत्पत्ति होती है[2]। किसी भी प्रकार हम देखें अनित्य—दुःख—अनात्म—निर्वेद—विराग—विमुक्ति—कृतकृत्यता—यही बौद्ध साधना का क्रम है। भगवान् के समग्र उपदेश की धुरी तृष्णाक्षय पर घूमती है। 'पूर्ण ! नन्दी (तृष्णा) के निरोध से दुःख का निरोध कहता हूँ'[3]। यह तृष्णा जब तक निरुद्ध न हो तब तक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति की आशा नहीं है और तृष्णा तो स्थूल-से-स्थूल पदार्थ से लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आध्यात्मिक पदार्थ तक होती है। किन्तु सभी बाह्य पदार्थों की तृष्णा छोड़कर भी मनुष्य अन्दरी पदार्थ (अपनी आत्मा) की तृष्णा नहीं छोड़ता—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। भगवान् ने इस सभी जगह लुभानेवाली (तत्र तत्राभिनन्दिनी) तृष्णा के सभी निवेशनों को उच्छिन्न करने का प्रयत्न किया है, यहाँ तक कि इसके अन्तिम निवेशन स्वरूप 'आत्मन्' को भी। यही अनात्मवाद है और यही उसका प्रयोजन। 'चक्षु से विज्ञेय रूप इष्ट, कान्त, मनाप, प्रियरूप, कामोपसंहित, रंजनीय होते हैं। यदि भिक्षु उन्हें अभिनन्दन करता है, स्वागत करता है, अध्यवसाय करता है, तो अभिनन्दन करते, स्वागत करते, अध्यवसाय करते, उसे नन्दी (तृष्णा) उत्पन्न होती है। पूर्ण। नन्दी की उत्पत्ति से दुःख की उत्पत्ति करता हूँ। पूर्ण ! जिह्वा से विज्ञेय रस इष्ट, कान्त मनाप, प्रियरूप, कामोपसंहित, रञ्जनीय होते हैं। यदि भिक्षु उन्हें अभिनन्दन करता है, स्वागत करता है, अध्यवसाय करता है, तो अभिनन्दन करते, स्वागत करते, अध्यवसाय करते, उसे नन्दी (तृष्णा) उत्पन्न होती है। पूर्ण ! नन्दी की उत्पत्ति से दुःख की उत्पत्ति कहता हूँ...[4], इसी प्रकार श्रोत्र (शब्द), घ्राण (गन्ध), काय (स्पर्श) मन (धर्म) आदि के

---

(१) अनत्ततो अनुपस्सन्तो अत्तसञ्ञं निब्बिन्दतो नन्दिं विरज्जन्तो रागं निरोधेन्तो समुदयं पटिनिस्सज्जन्तो आदानं पजहतीति। पटिसम्भिदामग्ग १।९७७

(२) अनत्ततो मनसि करोतो......पटिसंखा-ञाणं उप्पज्जति। पटिसम्भिदामग्ग २।६३–६४, विसुद्धिमग्ग में उद्धृत।

(३) पुण्ण सुत्त (संयुत्त० ३४।४।६)

(४) पुण्ण सुत्त (संयुत्त० ३४।४।६)

विषय में भी। किन्तु इन सब में यदि यह देख लिया जाय कि न ये सब और न इनमें से कोई एक 'मैं हूँ' या ये 'मेरे हैं' तो 'भिक्षुओ! ऐसा देख, धर्म को सुननेवाला, आर्य-श्रावक चक्षु से निर्वेद प्राप्त करता है, रूप से निर्वेद प्राप्त करता है, चक्षु-विज्ञान से निर्वेद प्राप्त करता है, चक्षु-संस्पर्श से निर्वेद प्राप्त करता है। चक्षु-संस्पर्श के कारण जो यह वेदना उत्पन्न होती है सुख, दुःख, न-सुख-न-दुःख, उससे भी निर्वेद को प्राप्त करता है[१]'। उसी प्रकार श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, काय, मन आदि से निर्वेद को प्राप्त करता है। "निर्वेद प्राप्त हो विरक्त होता है। विरक्त होने से विमुक्त होता है। विमुक्त होने पर 'मैं विमुक्त हूँ' ऐसा ज्ञान होता है। वह जानता है 'जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, सभी कर्तव्य कर चुका, अब यहाँ करने को कुछ शेष नहीं है'[२]। यही कृतकृत्यता है और यही बुद्ध-मत है। यही अनात्मवाद है और यही ब्रह्मचर्य का प्रयोजन भी।

बुद्ध-सम्मत अनात्मवाद का कुछ विस्तृत विवरण और विवेचन

ऊपर हमने अनात्मवाद का जो विवरण दिया है वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंच स्कन्धों को लेकर ही दिया है। वस्तुतः अनात्म की भावना १२ आयतनों (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया, मन, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य और धर्म) और अठारह धातुओं (उपर्युक्त ६ इन्द्रियों, उनके ६ विषय और ६ विज्ञानों) यथा चक्षुविज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान इनमें से प्रत्येक के सम्बन्ध में अलग-अलग और सम्मिलित रूप से की जाती है। स्कन्ध, आयतन और धातुओं की प्रवर्तित परिपाटी का नाम ही संसार है, जिसमें अनात्म की भावना करनी चाहिये। अब विस्तार से छः आध्यात्मिक आयतन हैं, यथा चक्षु आयतन, श्रोत्र आयतन, घ्राण आयतन, जिह्वा आयतन, काय आयतन और मन-आयतन। छः हैं बाह्य आयतन यथा, रूप आयतन, शब्द आयतन, गन्ध आयतन, रस आयतन, स्प्रष्टव्य आयतन, धर्म-आयतन। इसी प्रकार छः विज्ञान काय हैं यथा चक्षु द्वारा रूप में चक्षुविज्ञान उत्पन्न होता है और इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन के विज्ञान। इन उपर्युक्त तीनों को मिलाकर 'स्पर्श' की उत्पत्ति होती है यथा चक्षु, रूप और चक्षुविज्ञान के संगम से चक्षु-स्पर्श की और इसी प्रकार श्रोत्र स्पर्श, घ्राण स्पर्श आदि के बारे में भी समझना चाहिए।

(१,२) संयुत्त० ४३।३।१६; देखिए विनयपिटक, महावग्ग १ भी।

इन विभिन्न स्पर्शों के कारण ही उन-उन विषयक वेदना उठ खड़ी होती है जिससे ही उन-उन विषयक तृष्णा की उत्पत्ति होती है जो दुःख का कारण बनती है। उपर्युक्त ३६ धर्मों को तथागत ने 'अनात्मा' कहा है, अर्थात् ये प्रतीत्य-समुत्पन्न हैं, उत्पत्ति और विनाशवाले हैं, इनमें से किसी एक में अथवा इनके किसी संघात में इस प्रकार की बुद्धि कि 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा आत्मा है' नहीं की जा सकती। जो मर्त्य है वह अल्प ही तो है और जो अल्प है उसमें सुख कहाँ है? जो सुख नहीं वह अपना आत्मा कैसे हो सकता है? ऐसा समझना तो 'सत्कायवाद' होगा। दुःख के निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग तो यही है कि सभी आध्यात्मिक और बाह्य आयतनों, विज्ञानकायों, स्पर्शकायों, वेदनाकायों और तृष्णाकायों को 'यह मैं हूँ' अथवा 'यह मेरा आत्मा है' ऐसा न समझना और यही 'अनात्मवाद' है। 'आत्मा' के रूप में उपर्युक्त ३६ धर्मों में से किसी को ग्रहण मत करो, यही भगवान् का उपदेश है। यदि ये 'मैं या मेरा' करके ग्रहण किए गए तो चक्षुरादि छः इन्द्रियों के द्वारा रूपादि छः विषयों में चक्षुर्विज्ञान आदि छः विज्ञान भी उत्पन्न होंगे; तीनों के संगम से स्पर्श भी होंगे, सुखा, दुःखा या असुखा-अ-दुःखा वेदनाएँ भी होंगीं, आसक्ति भी होगी, शोक करना, रोना, पीटना सभी होंगे, अविद्या अनुशय भी होगा, दुःख होगा ही। फिर बचें कैसे? इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के संगम से वेदना तो उत्पन्न होगी ही। यह तो प्राकृतिक व्यापार है जिसका निरोध किया ही नहीं जा सकता (करिष्यसि अवशोऽपितत्—प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति—न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्—गीतोक्त वाक्य स्मरणीय) किन्तु यदि भिक्षु (तस्मादसक्तः सततं—नैव किंचित् करोमीति—उदासीनवदासीनो, फिर स्मरणीय) 'सुखा वेदना से संयुक्त होने पर अभिनन्दन नहीं करता, न आसक्त हो ठहरता है, उसे राग अनुशय नहीं चिपटता। दुःख-वेदना से संयुक्त होने पर वह न शोक करता है, न कलपता है, न विलाप करता है, न छाती पीट-पीटकर रोता है, न मूर्च्छित होता है। उसे प्रतिघ अनुशय नहीं होता। वह अदुःख-असुखा वेदना से युक्त होने पर उस वेदना के समुदय, विनाश, आस्वाद, दुष्परिणाम और निस्सरण को यथार्थ से जानता है[१]'। इस प्रकार इस अनात्मवाद का व्यावहारिक आचरण और मनन ही महान् आत्म-विजय का कारण होता है,

---

(१) छछक्क सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।६)

अनुत्तर इन्द्रिय भावना की प्रतिष्ठा होती है। भगवान् ने कहा है कि उपर्युक्त प्रकार से भावना किया हुआ मनुष्य 'यदि वह चाहता है कि प्रतिकूल को अप्रतिकूल जानकर विहार करूँ तो अप्रतिकूल जानते ही यहाँ विहार करता है। यदि वह चाहता है कि अप्रतिकूल में प्रतिकल जानकर विहार करूँ तो प्रतिकूल जानते ही विहार करता है।........यदि वह चाहता है प्रतिकूल-अप्रतिकूल दोनों को ही वर्जित कर स्मृति-सम्प्रजन्य युक्त हो विहार करूँ तो वह स्मृतिसम्प्रजन्य युक्त उपेक्षक हो विहरता है। इस प्रकार आनन्द ! भावितेन्द्रिय युक्त होता है[1] !' हो भी क्यों नहीं ? 'यहाँ आनन्द ! चक्षु से रूप को देखकर भिक्षु को मनाप होता है, अ-मनाप होता है, मनाप-अमनाप होता है। वह ऐसा जानता है 'यह मुझे मनाप उत्पन्न हुआ, अ-मनाप, मनाप-अ-मनाप, किन्तु यह संस्कृत, कृत (कृत्रिम) औदारिक, प्रतीत्य समुत्पन्न है। वही शान्त, वही प्रणीत है जो कि यह रूप आदि की उपेक्षा। तब उसका वह उत्पन्न मनाप, अमनाप, मनाप-अ-मनाप निरुद्ध हो जाता है, उपेक्षा ठहरती है। जैसे आनन्द ! आँखवाला मनुष्य पलक चढ़ाकर गिरा दे, पलक गिराकर चढ़ा दे, उसी तरह आनन्द ! जिस किसी को इतना शीघ्र, इतनी जल्दी, इतनी आसानी से उत्पन्न मनाप, उत्पन्न अमनाप, उत्पन्न मनाप—अमनाप निरुद्ध हो जाते हैं, उसकी उपेक्षा ठहरती है[2]'। ऐसी अवस्था में आस्रव या अकुशल कर्म तो कहाँ ठहरेंगे !

---

(१) इन्द्रिय-भावना सुत्त (मज्झिम० ३।५।१०)। इसी अर्थ को अन्यत्र भी भगवान् ने इस प्रकार दिखाया है 'भिक्षु ! यदि रूप धातु से भिक्षु का राग नष्ट हो गया है तो राग के प्रहाण से आलम्बन (इन्द्रिय विषय) छिन्न होता है, विज्ञान की प्रतिष्ठा नहीं रहती। यदि वेदना धातु से भिक्षु का राग नष्ट हो गया है; संज्ञा धातु से, संस्कार धातु से, विज्ञान धातु से......तो वह अप्रतिष्ठित विज्ञान न बढ़कर संस्कार-रहित हो विमुक्त हो जाता है। विमुक्त होने से स्थिर होता है। स्थिर होने से सन्तुष्ट होता है। सन्तुष्ट होने से त्रास नहीं खाता। त्रास न खाने पर इसी शरीर में निर्वाण को प्राप्त करता है। 'जाति क्षीण हो गई ......भिक्षु ! इस प्रकार जानने, देखने पर आश्रवों का क्षय होता है" उदान सुत्त (संयुत्त० २१।१।३); बुद्धचर्या, पृष्ठ ३९२-९३

(२) इन्द्रिय-भावना सुत्त (मज्झिम० ३।५।१०) ही। मिलाइये; पुण्णसुत्त (संयुत्त० ३४।४।६)

'भिक्षुओ ! ऐसा जानने, देखने के अनन्तर ही आश्रवों का क्षय होता है, जब कि रूप को आत्मा के तौर पर नहीं देखता, न रूपवान् को आत्मा के तौर पर[1]'। 'इस प्रकार जो संस्कार है वह अनित्य है, जो तृष्णा, जो वेदना, जो स्पर्श, जो अविद्या है वह सब अनित्य है। भिक्षुओ ! इस प्रकार जानने, देखने पर भी आश्रवों का क्षय होता है[2]"। जब अशुभ कर्म ही नहीं रहे तो हृदय में संशय, विमोह, द्वेष आदि मल भी कैसे रह सकते हैं? यह तथागत के उपदेश का अपमान ही है यदि कोई कहे कि उसने अनात्मवाद की भावना की है और विचिकित्सा उसके पल्ले को अभी तक पकड़े हुए है। ऐसा कभी नहीं हो सकता। अनात्मवाद वास्तव में विनम्रता की आत्यन्तिक कोटि, अनासक्ति की उच्चतम अवस्था और आत्मसंयम की एकमात्र कसौटी है। अहंकार चित्त में रह ही नहीं सकता यदि 'अनात्म' की भावना को अच्छी तरह साधा जाय। स्वयं शास्ता ने भी कहा है 'मागन्दिय ! धर्मों का अन्वेषण करते हुए मुझे 'मैं यह कहता हूँ' यह धारणा कभी नहीं हुई[3]"। "मैं सब धर्मों में निर्लेप हूँ, सर्वत्यागी हूँ, तृष्णा के क्षय से विमुक्त हूँ[4]"। इस प्रकार नैतिक आदर्शवाद के प्रकाश में हमने अनात्मवाद की किञ्चित् व्याख्या की। अब उसके तत्ववाद के स्वरूप पर विचार करें, यद्यपि नैतिक तत्व को खोकर नहीं, क्योंकि वही तो बुद्ध के समग्र विचार और शासन की आयु है और उसी के लिए शास्ता के शासन का एक मात्र उपयोग है।

अक्सर यह मान्यता है कि बुद्ध के मूल दर्शन में भी 'आत्मा' जैसी एक स्थिर पृथक् सत्ता के लिये अवकाश नहीं है। 'मनुष्य' या 'पुद्गल' कोई एक शुद्ध सत्ता नहीं है, किन्तु वह मानसिक और

पञ्चस्कन्ध और अनात्मवाद— और भौतिक अनेक अवस्थाओं का समुदाय मात्र है जो उत्पत्ति और विनाश के निरन्तर क्रम में घूमा करती हैं। सभी भौतिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम 'रूप' और सभी मानसिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम 'नाम' है। 'नाम' की तीन स्थितियाँ होती हैं—(१) संज्ञा, (२) वेदना, (३) संस्कार। किसी वस्तु

(१,२) संयुत्त० २१।८।९; देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ १०५
(३) मागन्दिय सुत्त (मज्झिम० २।३।५)
(४) उपक आजीवक के प्रति भगवान् की उक्ति, महावग्ग १ में।

के साक्षात्कार करने को संज्ञा कहते हैं अर्थात् किसी वस्तु को 'वैसा' करके पहचान लेना ही 'संज्ञा' है। विषय के स्पर्श से जो सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य या उपेक्षा की अनुभूति होती है, उसकी संग्रहात्मक संज्ञा 'वेदना' है। वितर्क, विचार, लोभ, द्वेष, करुणा आदि मानसिक प्रवृत्तियों को एक साथ मिलाकर संस्कार कहते हैं, अथवा यों भी कह सकते हैं कि अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों को 'संस्कार' कहते हैं। 'विज्ञान' अर्थात् चित्तधारा कुशल-अकुशल आदि जितने प्रकार के चित्त हैं उन सबकी संग्रहात्मक संज्ञा है। 'चित्त', 'विज्ञान', 'मन' प्रायः सब इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार ऊपर जो पाँच प्रकार की अवस्थाएँ कही गई हैं वे पञ्चस्कन्ध कहलाती हैं, यथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। भगवान् बुद्ध का विचार है कि जब हम व्यक्तित्व अथवा 'सत्व' जैसी बात कहते हैं तो या तो इनमें से ही किसी एक अथवा इनके समुच्चय मात्र का निर्देश करते हैं, वास्तव में 'आत्मा' नामक पदार्थ की अलग सत्ता नहीं है। 'जिस प्रकार अलग-अलग अंगों के आधार पर 'रथ' की संज्ञा होती है, उसी प्रकार पञ्चस्कन्धों के आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है[१]'। यहाँ होना ही होना' है, किन्तु 'है' ऐसी कोई स्थिर सत्ता नहीं है। 'आत्मा' नाम का पदार्थ केवल नाम के लिए है अर्थात् वह केवल 'प्रज्ञप्ति सत्' है, 'द्रव्यसत्' नहीं। 'दुःख ही यहां है किन्तु 'दुःखित' कोई नहीं, क्रिया है किन्तु 'कारक' नहीं, निर्वाण है किन्तु 'निर्वृ त' नहीं, मार्ग है किन्तु गमन करनेवाला नहीं'[२]। इस सब का तात्पर्य यही है कि प्रतीत्य समुत्पन्न सभी बाह्य और आध्यात्मिक धर्मों में छान-बीन करके भी उनमें कोई ऐसा स्थिर आत्म तत्व नहीं मिलता जिसको 'अपना' या 'आत्मा' करके ग्रहण किया जा सके, क्योंकि वे सभी अनित्य हैं, क्षणिक हैं और दुःख रूप हैं। जो अनित्य है, क्षणिक है, दुःख रूप है, वह क्या 'अपना' करके ग्राह्य है? अतः इन सभी बाह्य और आध्या-

(१) यथा हि अंगसम्भारा होति सद्दो रथो इति। एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोति सम्मुति। संयुत्त निकाय।

(२) दुक्खमेव हि न च कोपि दुक्खितो कारको न क्रिया च विज्जति। अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा मग्गं अत्थि गमको न विज्जति। विसुद्धिमग्ग में उद्धृत। देखिए विधुशेखर भट्टाचार्य: दि सेंट्रल कन्सैप्शन आव बुद्धिज्म, पृष्ठ ९१ भी।

त्मिक पदार्थों में आत्मबुद्धि करना, फिर चाहे वह किसी प्रकार की क्यों न हो, मूढ़ता का ही लक्षण है। पृथग्जन अनुचित रूप से विचार करता है 'म भूत-काल में था कि नहीं था ? मैं भूतकाल में क्या था ? मैं भूतकाल में क्या होकर फिर क्या क्या हुआ ? मैं भविष्यत् काल में होऊँगा कि नहीं होऊँगा ? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊँगा ? मैं भविष्यत् काल में कैसे होऊँगा ? मैं भवि-ष्यत् काल में क्या होकर क्या होऊँगा ? अथवा वह वर्तमान काल के सम्बन्ध में सन्देहशील होता है कि मैं हूँ या नहीं हूँ ? मैं क्या हूँ ? मैं कैसे हूँ ? यह सत्व कहाँ से आया ? यह कहाँ जायगा[1]' ? जब सत्ता सम्बन्धी इस प्रकार के प्रश्नों को लेकर अज्ञ जन प्रवृत्त होता है[1] तो या तो वह आत्म-उपादान ही ग्रहण करने वाला होता है, या फिर होता है पूर्ण उच्छेदवादी। दोनों ही मार्ग पतन के हैं। जो पञ्च-स्कन्धों में आत्म-बुद्धि करता है, उसके मन में ये छ: दृष्टियाँ घर कर लेती हैं। या तो वह इस बात को सत्य समझता है कि 'मेरा आत्मा है' या वह इस बात को सच समझता है कि 'मेरा आत्मा नहीं है', या इस बात को सच समझता है कि मैं आत्मा से आत्मा को पहचानता हूँ, या वह इस बात को सच समझता है कि 'मैं अनात्मा से आत्मा को पह-चानता हूँ, अथवा उसकी ऐसी दृष्टि होती है कि यह जो आत्मा कहलाता है यह ही अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगता है, या फिर अन्त में वह सोचता है कि 'यह आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, जैसा है वैसा ही रहेगा'[2]। सारांश यह कि वह पथभ्रष्ट 'संशयात्मा' और 'अनेक-चित्त-विभ्रान्त' होता है, 'बुद्धि उसकी बहुशाखाओंवाली और अनन्त होती है' (गीताकार के शब्द क्षम्य हों !) स्वभावतः ही सत्ता सम्बन्धी विभिन्न मत-वादों में पड़ता है और मुक्ति नहीं पाता। 'भिक्षुओ ! इसे कहते हैं मतों में जा पड़ना, मतों की गहनता, मतों का कान्तार, मतों का दिखावा, मतों का फन्दा तथा मतों का बन्धन। इन मतों के बन्धन में बँधा हुआ आदमी जिसने सद्धर्म को नहीं सुना जन्म, बुढ़ापे तथा मृत्यु से मुक्त नहीं होता, शोक से रोने-पीटने से, पीड़ित होने से, चिन्तित होने से भी वह मुक्त नहीं होता। मैं कहता हूँ कि वह दुःख से पार नहीं होता[3]।' भगवान् ने कहा है कि जो कोई भी आत्मा को प्रज्ञापन करनेवाला है, वह इन ४ प्रकारों से ही वैसा करता

(१) मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० १।१।१)
(२,३) मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० १।१।१)

है, यथा (१) 'मेरा आत्मा रूपधारी और अणु है', (२) मेरा आत्मा रूपवान् और अनन्त है', (३) 'मेरा आत्मा अरूप और अणु है' और (४) 'मेरा आत्मा अरूप, अनन्त है'[१]। 'आनन्द ! जिस कारण से आत्मा को (पञ्चस्कन्धों में) देखनेवाला देखता है, वे ये हैं, वह वेदना को 'वेदना मेरा आत्मा है' ऐसा समझता है, अथवा 'वेदना मेरा आत्मा नहीं, अप्रतिसंवेदन मेरा आत्मा है' ऐसा समझता है अथवा 'न वेदना मेरा आत्मा है, न अप्रतिसंवेदन मेरा आत्मा है, मेरा आत्मा वेदित होता है, अतः वेदना धर्मवाला मेरा आत्मा है' आनन्द ! ऐसे आत्मा का देखनेवाला देखता है'[२]। भगवान् ने इस सब को मूढ़ता ही मूढ़ता कहा है[३]। ऐसे मूढ़ जन से, जो वेदनाओं और 'आत्मा' में एकात्मता स्थापित करता है, भगवान् का प्रश्न है कि वह आखिर किन वेदनाओं को अपना आत्मा समझता है ? और फिर वेदनाएँ तो सभी अनित्य, संस्कृत, प्रत्यय से उत्पन्न होनेवाली और क्षय होनेवाली हैं। उनमें 'आत्मत्व' कैसा ? 'भिक्षुओ ! यदि कोई ऐसा कहे कि वेदना मेरा आत्मा है तो उससे यों कहना चाहिए कि आयुष्मन्, वेदना तीन तरह की होती है—(१) सुख वेदना, (२) दुःख वेदना, (३) अ-सुख—अ-दुःख वेदना। इन तीन तरह की वेदनाओं में से किस तरह की वेदना को 'आत्मा' समझते हो?' 'क्योंकि भिक्षुओ ! जिस समय कोई सुख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न तो उसे दुःख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख-अदुःख वेदना की, उस समय उसे केवल सुख-वेदना की ही अनुभूति होती हो। जिस समय कोई दुःख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय उसे न तो सुख वेदना की अनुभूति होती है, न असुख-अदुःख वेदना की, उस समय उसे केवल दुःख वेदना की अनुभूति होती है। जिस समय कोई असुख-अदुःख वेदना की अनुभूति करता है, उस समय न तो उसे सुख वेदना की अनुभूति होती है, न दुःख वेदना की, उस समय उसे केवल असुख-अदुःख

(१,२) महानिदान सुत्त (दीघ० २।२); 'विज्ञान' और 'नाम-रूप' का प्रतीत्य-समुत्पाद के प्रसंग में सम्बन्ध और प्रतीत्य समुत्पन्न भावों को विवेचित करते ही यहाँ भगवान् 'अनात्मवाद' के प्रख्यापन में लग जाते हैं, वास्तव में दार्शनिक दृष्टि से 'प्रतीत्य समुत्पाद' से ही 'अनात्मवाद' की सिद्धि है, अथवा यों भी कहिए कि दोनों ही एक 'अनात्म' सत्य को प्रख्यापित करने के लिए हैं।

(३) देखिए सब्बधम्म मूल परियाय सुत्त (मज्झिम० १।१।१)

वेदना की अनुभूति होती है'[१] । 'भिक्षुओ ! ये तीनों वेदनाएँ अनित्य हैं, संस्कृत हैं, प्रत्यय से उत्पन्न होनेवाली हैं, क्षय होनेवाली हैं, व्यय होनेवाली हैं, निरोध को प्राप्त होनेवाली हैं। इन तीनों वेदनाओं में से किसी एक की भी अनुभूति करते समय यदि किसी को ऐसा होता है कि 'यह आत्मा है' तो फिर उस वेदना का निरोध होते समय उसको ऐसा भी होगा कि 'मेरा आत्मा बिखर रहा है'। इस प्रकार वह अपने सामने ही अनित्य, सुख-दुःखमय उत्पन्न और विनाश होनेवाले आत्मा को मानता है' ![२] ''भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि 'मेरी वेदना आत्मा नहीं, आत्मा की अनुभूति नहीं होती' तो उससे यह पूछना चाहिए कि आयुष्मन् ! जहाँ किसी की अनुभूति ही नहीं, उसके बारे में क्या यह हो सकता है कि मैं 'यह' हूँ[३] ?'' 'फिर भिक्षुओ ! यदि कोई ऐसा कहे कि 'न तो मेरी वेदना आत्मा है, और न ही मेरे आत्मा की अनुभूति होती है, किन्तु मेरा आत्मा अनुभव करता है, मेरे आत्मा का स्वभाव है वेदना' तो उससे पूछना चाहिए कि आयुष्मन् ! यदि सभी वेदनाओं का सम्पूर्ण निरोध हो जाए, कोई एक भी वेदना न रहे, तो क्या किसी एक भी वेदना के न होने पर ऐसा होगा कि 'यह आत्मा' मैं हूँ' ?[४] 'फिर भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि मन 'आत्मा है' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मन की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं, उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि 'मेरा आत्मा उत्पन्न होता है और मरता है। इसलिए 'मन आत्मा है' ऐसा कहना ठीक नहीं। मन अनात्म है'[५] । इसी प्रकार 'मनो विज्ञान', 'धर्म' (मन के विषय) और चातुर्महाभूतिक शरीर ये सभी भगवान् ने अनात्म बताए हैं। इन अनित्य, प्रति क्षण परिवर्तनशील, समुदय और निरोधवाले, सुख-दुःखमय पदार्थों को 'यह मेरा आत्मा है' ऐसा ग्रहण करना कहाँ की बुद्धिमानी है ? भगवान् के वचनामृत को इस सम्बन्ध में कुछ और पान करें '....और भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि 'धर्म' आत्मा हैं, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि धर्म की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। जिसकी उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि 'मेरा आत्मा उत्पन्न होता है

(१,२) महा निदान सुत्त (दीघ० २।२)
(३,४) महासति पट्ठान सुत्त (दीघ० २।९)
(५) छछच्छक सुत्त (मज्झिम० ३।५।६)

तथा मरता है', इसलिए धर्म आत्मा हैं, यह ठीक नहीं; धर्म अनात्म हैं।'[१] 'फिर भिक्षुओ ! यदि कोई कहे कि 'मनोविज्ञान आत्मा है' तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि मनोविज्ञान की उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं। जिसके उत्पत्ति और निरोध दोनों दिखाई देते हैं उसे आत्मा मान लेने पर यह मान लेना होता है कि मेरा आत्मा उत्पन्न होता है तथा मरता है। इसलिए 'मनोविज्ञान आत्मा है', यह ठीक नहीं है। मनो-विज्ञान अनात्म है।'[२] इस प्रकार आत्म-उपादान की जितनी भी दृष्टियाँ हो सकती हैं उन सब का भगवान् ने 'आत्मत्व' के रूप में प्रत्याख्यान किया है औ रउनकी विचार-पद्धति का अनुसरण कर हमने यह भली प्रकार देखा कि यह सब उन्होंने क्यों किया। प्रधानतः इन्हीं हेतुओं से कि ये सभी प्रतीत्य समुत्पन्न, दुःख सुखमय, अनित्य और उत्पत्ति और विनाश होनेवाले हैं, अतः आत्मबुद्धि उनमें करना मूढ़ता है, इससे दुःखविमुक्ति हासिल नहीं हो सकती। शरीर को भी तो 'आत्मा' कैसे समझ सकते हैं ? यह तो 'असुराणाम् उपनिषद्' ही होगी, शरीर से भी अधिक विज्ञान अनात्म है। 'भिक्षुओ ! यह कहीं अच्छा है कि वह आदमी जिसने सद्धर्म को नहीं सुना चार महाभूतों से बने शरीर को आत्मा समझ ले, किन्तु चित्त को नहीं। ऐसा क्यों ? यह जो चार महाभूतों से बना शरीर है, यह एक साल, दो साल, तीन साल, चार साल, पाँच साल, छः साल और सात साल तक भी एक जैसा प्रतीत होता है, किन्तु जिसे चित्त कहते हैं, मन कहते हैं, विज्ञान कहते हैं, वह तो रात को और ही उत्पन्न होता है और निरुद्ध होता है और दिन को और ही'[३]। इस प्रकार 'तथा'—धर्म के उच्चतम शिखर पर चढ़कर मनुष्यों को विषयों के आस्वाद से निर्वेद प्राप्त कराने एवं उनको दुःख-निवृत्ति का एक अन्यतम मार्ग बताने के लिए भगवान् ने इस अभूत-पूर्व और अनन्य साधारण वाणी का उद्घोष करते हुए भिक्षुओं को आमन्त्रित किया 'भिक्षुओ ! सभी संस्कार अनित्य हैं, सभी संस्कार दुःख हैं, सभी धर्म अनात्म हैं, क्योंकि रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य हैं तथा विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है, वह दुःख है। जो दुःख है वह अनात्म है, जो अनात्म है, वह न मेरा है, न वह मैं हूँ, न वह मेरा आत्मा है'[४]। ऐसा ऊपर से क्रान्तिकारी, किन्तु जैसा कि हम आगे

(१,२) छछच्छक सुत्त (मज्झिम० ३।५।६)
(३) संयुत्त २१।७; देखिए बुद्ध वचन, पृष्ठ २८-२९
(४) संयुत्त० २१।२; देखिए विनयपिटक, महावग्ग भी।

देखेंगे, भारतीय विचार की सर्वोत्तम परम्परा के अनुकूल ही भगवान् ने निर्घोष किया। ऐसा कह उन कारुणिक शास्ता ने यह भी कहा। 'इसलिए भिक्षुओ! जितना भी रूप है, जितनी भी वेदना है, जितनी भी संज्ञा है, जितने भी संस्कार हैं, जितना भी विज्ञान है—चाहे भूतकाल का हो, चाहे वर्तमान का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल अथवा सूक्ष्म, चाहे बुरा अथवा भला, चाहे दूर अथवा समीप—वह 'न मेरा है न वह मैं हूं, न वह मेरा आत्मा है'[१]। 'भिक्षुओ! जैसे गंगा नदी में बहुत-सी झाग चली आ रही हो। उस झाग को कोई अखवाला आदमी देखे, उसपर सोचे और विचार करे और सोचने और विचार करने से उसे वह झाग बिलकुल रिक्त, तुच्छ तथा सारहीन मालूम दे— भिक्षुओ! फेन में क्या सार हो सकता है? उसी प्रकार भिक्षुओ! जितना भी रूप है—चाहे भूतकाल का, चाहे वर्तमान काल का, चाहे भविष्यत् का, चाहे अपने अन्दर का हो, चाहे बाहर का, चाहे स्थूल हो और चाहे सूक्ष्म, चाहे बुरा हो अथवा भला, चाहे दूर हो अथवा समीप—उसे भिक्षु देखता है, सोचता है, उस पर अच्छी तरह विचार करता है। उसे देखने पर, सोचने पर, अच्छी तरह विचार करने पर, उसे वह रूप बिलकुल रिक्त, तुच्छ तथा सारहीन दिखाई देगा। भिक्षुओ! रूप में क्या सार हो सकता है?'[२] तथागत ने उन्मुक्त निर्घोष किया है कि सभी 'संस्कार' (कृत वस्तु) यथा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान, अनित्य, दुःख और अनात्म हैं, इस दुर्धर्ष नियम को कोई टाल नहीं सकता। पुनरुक्ति का दोष स्वीकार करके भी कुछ उद्धरणों का विमोह हटाया नहीं जा सकता। 'भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हों, चाहे उत्पन्न न हों, यह सदैव यों ही रहता है। सभी संस्कार अनित्य हैं, जैसे रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है'[३]। 'भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हों या न हों। यह सदैव यों ही रहता है। सभी संस्कार दुःख है, यथा रूप दुःख है, वेदना दुःख है, संज्ञा दुःख है, संस्कार दुःख है, विज्ञान दुःख है'[४]। 'भिक्षुओ! चाहे तथागत उत्पन्न हों या न हों। यह सदैव यों ही रहता है। सभी संस्कार अनात्म हैं, यथा रूप अनात्म है, वेदना अनात्म है, संज्ञा अनात्म है, संस्कार अनात्म हैं, विज्ञान अनात्म है'[५]। अधिक से क्या 'भिक्षुओ! इसके लिए बिलकुल गुंजाइश नहीं, यह बिलकुल असंभव है कि कोई

(१,२) संयुत्त निकाय, देखिए बुद्ध वचन, क्रमशः पृष्ठ २९ एवं ८
(३,४,५) अंगुत्तर निकाय, देखिए 'बुद्ध वचन', पृष्ठ २६

आँख वाला आदमी किसी भी 'धर्म' को आत्मा करके ग्रहण करे'[१] । अतः 'भिक्षुओ ! यदि मुझे लोग ऐसा पूछें कि 'तुम पहले समय में थे कि नहीं थे ? तुम भविष्य में होगे कि नहीं ? तुम अब हो कि नहीं' ? तो उनके ऐसा पूछने पर मैं उनको यों कहूँगा कि 'मैं पहले समय में था', 'नहीं था', ऐसा नहीं है; 'मैं भविष्यत् में होऊँगा', 'नहीं होऊँगा', ऐसा नहीं है, 'मैं अब हूँ', 'नहीं हूँ, ऐसा नहीं है'[२] । सत्ता सम्बंधी प्रश्नों का कोई एक उत्तर देकर उन ६२ मिथ्यादृष्टियों का ही, जिनका वर्णन हम पहले 'प्राग्बौद्धकालीन दर्शन व्यवस्था' के प्रसंग में कर आए हैं, एक अंग बन जाना तथागत का काम नहीं था । सत्ता संबंधी प्रश्नों को लेकर 'तथागत का वाद यह है' ऐसा तो निश्चय ही कभी कहा ही नहीं जा सकता। जो बात निर्विवाद है वह यह है कि सभी वाह्य और आध्यात्मिक धर्मों में, जिनका विभाजन सुत्त में पंचस्कन्धों के रूप में, यथा रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के रूप में, एवं अभिधम्म में 'चित्त', 'चेतसिक' और 'रूप' के रूप में किया जाता है, भगवान् पूर्ण अनासक्ति, अस्पर्श अथवा 'अनात्म' की भावना कर उनसे निर्वेद प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त हुए थे, और यही बात एक दर्शनकार के लिए भी महत्वपुर्ण है। 'भिक्षुओ ! यदि कोई पूछे कि भगवान् गौतम किस दृष्टि के हैं ? तो उसे 'भिक्षुओ ! क्या उत्तर दोगे ? 'भिक्षुओ ! तथागत किस दृष्टि के हैं' ऐसी बात ही नहीं रही है। भिक्षुओ ! तथागत ने यह सब देख लिया है कि यह रूप है, यह रूप का समुदय है, यह रूप का अस्त होना है, यह वेदना है, यह वेदना का समुदय है, यह वेदना का अस्त होना है, यह संज्ञा है, यह संज्ञा का समुदय है, यह संज्ञा का अस्त होना है। ये संस्कार हैं, यह संस्कारों का समुदय होना है, यह संस्कारों का अस्त होना है, यह विज्ञान है, यह विज्ञान का उदय होना है, यह विज्ञान का अस्त होना है। इसलिए कहता हूँ कि सभी मान्यताओं के, सभी अस्तित्वों के, सभी अहंकारों के, सभी 'मेरे' के, सभी अभिमानों के, नाश हो जाने से, विराग से, त्याग से, छूटने से, उपादान न रहने से तथागत विमुक्त हो गये हैं।[३] 'अनुपादा विमुत्ता भिक्खवे तथागता'। यही बुद्ध-मत है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि तथागत ने रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और

---

(१) अंगुत्तर १।१५; 'बुद्ध वचन', पृष्ठ २६
(२) पोट्ठपाद सुत्त (दीघ० १।९)
(३) अग्गिवच्छगोत्त सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।२)

क्या अनात्मवाद उपनिषद्-विपरीत सिद्धांत है

विज्ञान इन पाँच स्कन्धों में, रूप-आयतन, शब्द-आयतन, गन्ध-आयतन, रस-आयतन, स्पर्श (स्पृष्टव्य)-आयतन, धर्म-आयतन, इन छह बाह्य आयतनों में, चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन इन छह आंतरिक आयतनों में, और चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मन, रूप, शब्द, गन्ध, रस स्पृष्टव्य, धर्म, चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मनोविज्ञान, इन अठारह धातुओं में, ऐसा कुछ न पाया था जिसे आर्य-धर्म में विनीत पुरुष कह सके 'यह मेरा है', 'यह मैं हूं', 'यह मेरा आत्मा है।' 'एतं मम, एसोहमस्मि, एसो मे अत्ता।' ये सब उपर्युक्त धर्म तो अनित्य हैं। जो अनित्य है, वह दुःख है। 'यदनिच्चं तं दुक्खं।' और जो दुःख है, वह आत्मा नहीं है। 'यं दुक्खं तदनत्ता'। इसलिए स्वाभाविक तौर पर साधक को इस नाम-रूप जगत् के संबंध में यह भावना करनी चाहिए, 'यह मेरा नहीं है', 'यह मैं नहीं हूँ', 'यह मेरा आत्मा नहीं है'। 'नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मे सो अत्ता'। इस प्रकार चिन्तन करते हुए वह निर्वेद को प्राप्त करेगा, निर्वेद से विराग को और राग के प्रहाण होने पर दुःख रूप भव को तर जायगा, विमुक्त हो जायगा। यही अनात्मवाद था जिसे शास्ता ने सिखाया था।

अब हमें यह देखना है कि इस अनात्मवाद का उपनिषदों के आत्मवाद से क्या सम्बन्ध है? क्या बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद उपनिषदों के ठीक विपरीत सिद्धांत है, अर्थात् क्या वह उस आत्मा का निषेध करता है जिसका उपदेश करना उपनिषदों का परम लक्ष्य है?

हम पहले कह चुके हैं कि भगवान् बुद्ध के समय में दो प्रकार की एक दूसरे से बिलकुल विपरीत विचार-धारायें प्रचलित थीं। एक थी जिसे हम शाश्वतवाद या नित्यतावाद कह सकते हैं और दूसरी विचार-धारा थी उच्छेदवादियों की। पहले मत को माननेवाले विचारकों का कहना था कि "यह जो मेरा आत्मा अनुभव कर्त्ता (वेदक) तथा अनुभव होने योग्य है, और जहाँ-तहाँ अपने भले बुरे कर्मों के विपाक को अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अपरिवर्तनशील है और अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा"[१]।

---

(१) यो मे अयं अत्ता वेदो वेदेय्यो तत्र तत्र कल्याण पापकानं कम्मानं विपाकं पटिसंवेदेति, सो खो पन मे अयं अत्ता निच्चो, धुवो, सस्सतो, अविपरिणामधम्मो, सस्सतिसमं तथेव ठस्सतीति। सब्बासव-सत्तन्त (मज्झिम० १।१।२)

उच्छेदवादियों के मत का उद्धरण करते हुए भगवान् ने स्वयं कहा है, 'भिक्षुओ! एक श्रमण और ब्राह्मण उच्छेदवादी हैं जो विद्यमान (सत्) सत्व (जीव, प्राणी) का उच्छेद, विनाश, प्रज्ञापन करते हैं।"[१] भगवान् ने शाश्वतवादियों के प्रयत्न को भरपूर मूर्खता 'परिपूरो बालधम्मो' कहा[२] और उच्छेदवादियों से अपने विचार को पूर्ण पृथक रखते हुए पुनर्जन्म और कर्म-फल को उपदिष्ट किया और इहलोक और परलोक दोनों के कल्याण की बात कही। प्रतीत्य समुत्पाद के विवरण में हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भगवान् ने दोनों कोटियों से बचकर धर्म का उपदेश दिया। भगवान् ने न शाश्वत कहा और न अशाश्वत, न यह कहा कि आत्मा है और न यह कहा कि आत्मा नहीं है, केवल पँच स्कन्धों का विश्लेषण करके यह दिखला दिया कि ये तो सब प्रतीत्य समुत्पन्न हैं, अनित्य और दु:ख स्वरूप हैं, इनमें तो कहीं 'अत्ता' (आत्मा) मिलता नहीं। पंच स्कन्धों के ऊपर भी कुछ है, प्रतीत्य समुत्पन्न भव से भी अतीत कोई सत्ता है, इसका साक्ष्य निर्वाण के रूप में उन्होंने अवश्य उसे 'असंस्कृता धातु' कहकर दिया, 'अच्युत', 'ध्रुव', 'अविनाशी' पद कहकर दिया।

अब प्रश्न यह है कि जिस ध्रुव आत्मवाद को भगवान् ने मूर्खतापूर्ण बताया वह क्या उपनिषदों का आत्मवाद है? पहले हम ध्रुव आत्मा सम्बन्धी उद्धरण को सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।२) से दे चुके हैं। उसमें कहा गया है कि 'यह जो मेरा आत्मा वेदक और वेदन (अनुभव) करने योग्य है (यो मे अयं अत्ता वेदो वेदेय्यो), जो जहां-तहां अपने भले बुरे कर्मों के विपाक को अनुभव करता है (तत्र तत्र कल्याण पापकानं विपाकं कम्मानं विपाकं पटिसंवेदेति) वह आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तन शील है (अयं अत्ता निच्चो, धुवो सस्सतो, अविपरिणाम धम्मो)। इसका अर्थ यह है कि जो आत्मा अनुभव करता है और अनुभव किया जाता है और जो कर्मों के विपाक का उपभोग करता है, वह नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अपरिवर्तनशील है, यह मत तथागत को मान्य नहीं है। साति भिक्षु को जो शाश्वत आत्मा सम्बन्धी मिथ्या धारणा हुई थी, वह भी सी संसरणशील वेदक-वेद्य विज्ञान के

(१) सन्ति भिक्खवे एके समण ब्राह्मणा उच्छेदवादा सतो सत्तस्स उच्छेदं विनासं पञ्ञापेन्ति। ब्रह्मजाल-सुत्त (दीघ० १।१)

(२) सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।२)

सम्बन्ध में हुई थी, यह हम आगे पुनर्जन्म के विवेचन के समय देखेंगे। तो क्या उपनिषदों का आत्मा वेदक और वेद्य और कर्म-फलों का उपभोक्ता है ? नहीं, बिलकुल नहीं । शंकर के ही साक्ष्य को इस सम्बन्ध में क्यों न लें। मनीषी आचार्य ने कहा है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-युक्त 'अहं' प्रत्यय आत्मा उपनिषदों का विषय नहीं है।[1] देहादि संहत आत्मा, अध्यस्त आत्मा, अपर आत्मा वह आत्मा नहीं है जिसे उपनिषदों के ऋषि अपने अन्दर खोजते हैं। यह तो क्षुद्र आत्मा है जिसके संबंध में अस्तिमान् को ब्रह्मविद् छोड़ते हैं। 'मैं यह शरीर नहीं', 'इन्द्रिय नहीं', 'मन नहीं', 'भूत-समुदाय नहीं', जब यह ब्रह्मवादी कहते हैं तो वे यही तो कहते हैं कि शरीर आत्मा नहीं, इन्द्रिय आत्मा नहीं, भूत-समुदाय आत्मा नहीं। एक दूसरे वर्गीकरण का प्रयोग कर बुद्ध ने केवल कह दिया है 'रूप आत्मा नहीं', 'वेदना आत्मा नहीं', 'संज्ञा आत्मा नहीं', 'संस्कार आत्मा नहीं', 'विज्ञान आत्मा नहीं', चक्षु आत्मा नहीं, आदि। उपनिषदों का इस प्रकार कहना कर्तृत्व-भोक्तृत्व युक्त 'अहं' प्रत्यय आत्मा के लिए है। यह तो उस पक्षी के लिए है, जो फल को खाता है। उसको वास्तविक आत्मा (अत्ता) मत समझो, यह उपनिषदों का कहना है और यही प्रकारान्तर से सम्यक् सम्बद्ध का है। तो फिर उपनिषदों का आत्मा कौन-सा है जिसे ब्रह्मवादी खोजते हैं ? वह है साक्षी आत्मा। तत्साक्षित्वेन प्रयुक्तत्वात्।[2] उपनिषदों का आत्मा साक्षी आत्मा है, सर्व भूतस्थ, सम, एक, कुटस्थ अनिर्देश्य, अनिर्वचनीय, हेयोपादेय रहित, सर्वातीत, निर्विकल्प, अनुभव से अतीत, कर्मफल के उपभोग से बिलकुल असंबंधित ! यह ऐसा पक्षी है, जो फल नहीं खाता, यद्यपि रहता उसी डाल पर है जिस पर पहला पक्षी। ऐसे आत्मा के संबंध में तथागत ने क्या कहा है ? 'नैतद बुद्धेन भाषितम्' । क्यों ? "क्योंकि भिक्षुओ ! इसी शरीर में तथागत (आत्मा) अननुवेद्य (अज्ञेय) हैं—यह कहता हूँ।"[3] जो न सत् है और न असत्, और न दोनों से व्यतिरिक्त, जो सर्वथा अनिर्वचनीय है, उसे व्यवहार-वाणी, जो केवल 'है' या 'नहीं है' प्रकट कर सकती है, किस प्रकार अभिव्यक्त करेगी ? "कात्यायन ! यह संसार द्वैत पर आश्रय लेने का

---

(१) नन्वात्मा अहंप्रत्ययविषयत्वादुपनिषत्स्वेव विज्ञायत इत्यनुपपन्नम्। न। तत्साक्षित्वेन प्रयुक्तत्वात् ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य १।१।४

(२) ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य १।१।४

(३) अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२)

अभ्यस्त है--'यह है' इस पर और 'यह नहीं है' इस पर। परन्तु जो ज्ञानी पुरुष इस संसार की वस्तुओं की उत्पत्ति के विधान को ज्ञान और दर्शन पूर्वक समझता है उसके लिए न तो है 'यह है' और न है ''यह नहीं है''[1]। वह लौकिक निरुक्तियों में नहीं पड़ता। जो वाणी से प्रकट करने योग्य नहीं उसे वाणी से प्रकट करने की गलती नहीं करता। किसी भी विषय पर बुद्ध के मन्तव्य को जानने के लिए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि भगवान् ने सत्ता संबंधी प्रश्नों की विभिन्न कोटियों में परिभ्रमण करने की अनुमति साधकों को नहीं दी है। वे स्वयं भी सब मतवादों से ऊपर थे। उनके नाम के साथ यदि हम किसी वाद का संबंध किसी अर्थ में जोड़ सकते हैं तो वह 'विभज्जवाद' (विभज्यवाद) ही है और इसका तात्पर्य यह है कि तथागत किसी वस्तु के संबंध में एकांश रूप से 'ह' या 'न' नहीं कहते, अच्छा या बुरा नहीं कहते।[2] एक तटस्थ सत्य-गवेषी की तरह वे विश्लेषण करते हैं और सत्य को सत्य और असत्य को असत्य कहते हैं। सत् को असत् कहना या असत् को सत् कहना तथागत का काम नहीं था। उन्होंने स्वयं कहा है "भिक्षुओ! जिसे संसार के विज्ञ पुरुष 'असत्' कहते हैं उसे मैं भी 'असत्' सिखाता हूँ। और भिक्षुओ! जिसे संसार में विज्ञ पुरुष 'सत्' पहचानते हैं, उसे मैं भी 'सत्' सिखाता हूँ[3]।" भगवान् बुद्ध का यह वचन ही एक अन्य भारतीय तत्त्वदर्शी (कृष्ण) के मुख से भी निकला था, "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।" यह तत्त्वदर्शियों का एक सामान्य अनुभूत सिद्धान्त है जिसके तथागत किसी प्रकार अपवाद नहीं थे।

बुद्ध का एक भी वचन सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक में इस निर्विशेष अर्थ का उद्धृत नहीं किया जा सकता कि 'आत्मा नहीं है'। जहां उन्होंने अनात्मा कहा है,

---

(१) संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १७ (महास्थविर ज्ञानातिलोक का अँग्रेजी अनुवाद), अनागारिक बी० गोविन्द : दि साइकोलोजीकल एटीट्यूड ऑव दि अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ १०६ में उद्धृत।

(२) तथागत विभज्यवादी हैं, एकांशवादी नहीं, इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये सुभ-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।९)

(३) संयुत्त-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १३८ (महास्थविर ज्ञानातिलोक का अँग्रेजी अनुवाद), अनागारिक बी० गोविन्द : दि साइकोलोजीकल एटीट्यूड ऑव दि अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी, पृष्ठ १४

वहाँ पञ्च स्कन्धों की अपेक्षा से ही कहा है, बारह आयतनों और अठारह धातुओं के क्षेत्र को लेकर ही कहा है। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण अनुभूत जगत् में अत्ता नहीं मिलता। तथागत ने सिर्फ इतना ही कहा है और बाह्य और आन्तरिक धर्मों में आसक्ति हटा कर सत्य का साक्षात्कार करने के लिये, जो स्वयं अनक्षर है, शब्द रहित है, व्यवहार-वाणी का विषय नहीं है। इसीलिये तथागत का इस पर मौन है। जब भगवान् 'अनात्मा' कहते हैं तो वे साधक को आत्मा सम्बन्धी उन सभी मिथ्या दृष्टियों से विमुक्त करना चाहते हैं जिनका विवरण हम 'प्राग्बौद्धकालीन भारतीय दर्शन की अवस्था' के विवेचन में पहले दे चुके हैं। न भगवान् यह चाहते हैं कि मनुष्य यह सोचे कि कहीं मैं मृत्यु के बाद विनष्ट तो नहीं हो जाऊँगा। और न वे यह चाहते हैं कि मनुष्य यह सोचे कि मैं सदा बना रहूँगा। यदि वह यह सोचेगा कि मैं नहीं रहूँगा तो यह तो स्वयं भगवान् के शब्दों में आन्तरिक अशनि-त्रास होगा, ऐसा होगा जैसे हृदय पर बिजली गिर पड़ी। "अहो! मैं उच्छिन्न हो जाऊँगा। अहो! मैं नष्ट हो जाऊँगा! हाय! मैं नहीं रहूँगा" इस प्रकार अज्ञ पुरुष शोक करता है, मूर्छित होता है। यह बिजली गिरने का भय है, अशनि-त्रास है'[१]। भगवान्, जो भय से त्राण के लिये उपदेश करते हैं, इस प्रकार स्वयं साधकों के हृदय पर वज्रपात नहीं कर सकते। दूसरी ओर अज्ञ मनुष्य सोचता है 'मर कर मैं तो नित्य, ध्रुव, शाश्वत, निर्विकार होऊँगा और अनन्त वर्षों तक वैसे ही स्थित रहूँगा।" यह अस्तित्व में उसकी आसक्ति को बढ़ाता है। यही ध्रुव आत्मवाद है जिसका कारुणिक शास्ता ने निषेध किया है, क्योंकि उन्होंने तृष्णा के उदय से दुःख का उदय देखा था, फिर चाहे वह तृष्णा आत्मा की ही क्यों न हो? मैं अतीत काल में था, या नहीं था, या क्या था? मैं क्या हूँ, मैं क्या नहीं हूँ, मैं कहां से आया हूँ, कहां जाऊँगा? मेरे आत्मा है? या नहीं है? आत्मा ही क्या अनात्मा है? अनात्मा ही क्या आत्मा है, क्या मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत है या अनित्य, अध्रुव, अशाश्वत? इन सब प्रश्नों को तो भगवान् ने 'अमनसिकरणीय' धर्म कहा है[२], इन पर विचार करने को मना किया है क्योंकि ये निष्प्रयोजन हैं, मन के आयास मात्र हैं, ये ज्ञान, सम्बोध, उपशम और निर्वाण की ओर ले जाने वाले नहीं हैं। इन्हें भगवान् ने चित्त के मल भी कहा है[३]।

(१) अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२)
(२,३) सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।२)

भगवान् ने न भव-तृष्णा (शाश्वत आत्मवाद) का उपदेश दिया है और न विभव-तृष्णा (उच्छेदवाद) का। जो उन्हें गलती से शाश्वतवादी मान बैठते हैं, वे आत्मवाद-उपादान में फँस जाते हैं, अहं की आसक्ति में बँध जाते हैं, और जो विभव को माननेवाले उच्छेदवादी उन्हें मान बैठते हैं, वे जीवन से तंग आकर उसके उच्छेद की सोचने लगते हैं। दोनों ही गलत मार्ग हैं। जो केवल मध्यमा प्रतिपदा को देखने वाले हैं, वे ही वास्तव में सम्यक्दर्शी हैं, उन्होंने ही तथागत के मन्तव्य को समझा है और वे दुःख प्रहाण के लिये पुरुषार्थ में लगते है[१]। भगवान् ने पूर्ण स्पष्टता के साथ कहा है, "मैं हूँ" यह गलत विचार है, "मैं नहीं हूँ" यह गलत विचार है, "मैं हूँगा" यह गलत विचार है, "मैं नहीं हूँगा" यह गलत विचार है। ये गलत विचार हैं, रोग हैं, फोड़े हैं, काँटे हैं। परन्तु जब भिक्षु सारे गलत विचारों पर काबू कर लेता है, उनका अतिक्रमण कर देता है तो वह शान्त मुनि कहलाता है। शान्त मुनि जन्म-जरा-मरण को प्राप्त नहीं होता, वह न उत्पन्न होता है, न मरता है, वह कम्पित नहीं होता, स्पृहा नहीं करता[२]।" जब 'मैं हूँ' और "मैं नहीं हूँ" दोनों को भगवान् मिथ्या विचार

---

(१) मिलाइये, "भिक्षुओ ! दो मिथ्या धारणाओं में पड़े देवता और मनुष्यों में कोई चिपट जाते हैं, (ओलियन्ति), कोई-कोई अधिक दौड़ लगा जाते हैं (अति धावन्ति) और केवल कोई-कोई आंखवाले ही देखते हैं। भिक्षुओ ! कैसे कोई-कोई चिपट जाते हैं ? भिक्षुओ ! कोई-कोई देवता और मनुष्य भव में रमने वाले हैं, भव में रत हैं, भव में प्रसन्न हैं। भवनिरोध का उपदेश देते समय उनका चित्त नहीं लगता, नहीं प्रसन्न होता। भिक्षुओ ! कोई-कोई अधिक दौड़ लगाते हैं। वे भव से ही घृणा, लज्जा और जुगुप्सा करते हुए विभव (उच्छेद) चाहते हैं। वे कहते हैं यह आत्मा शरीर छूटने पर उच्छिन्न हो जाता है, विनष्ट हो जाता है, नहीं रहता है, यही शान्त है, यही उत्तम है, यही यथार्थ है। भिक्षुओ ! यहां कोई ही कोई 'सम्यग्दर्शी' आंखवाले देखते हैं। यहां भिक्षु भूत(पञ्चस्कन्ध)को भूत के तौर पर देखता है, भूत को भूत के तौर पर देखकर निर्वेद, विराग और निरोध के लिये मार्ग के अभ्यास में लग जाता है। भिक्षुओ ! इस प्रकार आंखवाले देखते हैं।" दिट्ठिगत-सुत्त (इतिवुत्तक)

(२) धातु विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०)

कहते हैं, उन्हें रोग, फोड़ा और शल्य बतलाते हैं, तो फिर इनमें से एक में फँसाने का उनका किस प्रकार उद्देश्य हो सकता है ? उन्होंने तो यदि शाश्वतवाद को मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त कहा है तो साथ ही उच्छेदवाद की उससे अधिक कड़े शब्दों में निन्दा की है[1]। यह तो ठीक है, पर फिर भी अनात्मवाद का निषेधात्मक रूप से वर्णन क्यों है ?

इसे तो उपनिषद् के उदाहरण से ही समझाना ठीक होगा। याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को आत्मतत्त्व का रहस्य समझाते हुए बृहदारण्यक उपनिषद में कहते हैं, "जिस प्रकार नमक की डली पानी में डाल देने पर घुल जाती है और फिर निकाली नहीं जा सकती। वह सम्पूर्ण जल को लवणरसमय कर देती है, और जहां भी जल को निकालें वहीं लवणरसमय निकलता है। इसी प्रकार यह आत्मा, जो अनन्त, असीम, पूर्ण, प्रज्ञान घन है, वह भूतों से उठकर इन भूतों में ही विनष्ट हो जाता है। मर कर (प्रेत्य) संज्ञा नहीं है, यह मैं कहता हूँ।" मैत्रेयी को स्वयं भयभीत होना ही था, जिस प्रकार हम सब इससे भयभीत हो जायँगे। "भगवान् ने मुझे मोह में डाल दिया। मैं इसे नहीं समझ सकी।" याज्ञवल्क्य आगे समझाते हैं, "अरे ! मैं मोह की बात नहीं कहता। अविनाशी है अरे यह आत्मा। उच्छिन्न न होने वाला है यह आत्मा। जहां द्वैत हो वहां एक दूसरे को सूंघता...चखता...बोलता....सुनता...मनन करता...छूता.. विजानन करता है। लेकिन जहां कि सब उसका आत्मा ही है, वहां किससे किसको देखे ?...किससे किसको विजानन करे ?' सो यह 'नेति नेति' आत्मा अगृह्य है, असंग है। मैत्रेयी ! यह जो स्वयं सब का ज्ञाता है, इसे किससे जाना जाय ? यह मैत्रेयी ! तुम्हें अनुशासना कर दी गई। अरे ! इतना ही अमृतत्त्व है'। यह कह कर याज्ञवल्क्य चल दिये।" याज्ञवल्क्य यह नहीं कहना चाहते कि आत्मा उच्छिन्न होने वाला है, किन्तु उन्हें कहना पड़ता है 'मरने के बाद संज्ञा नहीं है।' भाषा की यह मांग है, अद्वैत की यह मांग है। भाषा द्वैतमयी है, विचार द्वैतमय है। वे अद्वैत को प्रकट नहीं कर सकते, परम सत्य का निर्देश नहीं कर सकते। इसीलिये 'न' कहना पड़ता है, 'नेति नेति' कहना पड़ता है। जहां याज्ञवल्क्य चल देते हैं, वहीं से बुद्ध प्रारम्भ करते हैं, यह हमें समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त उद्धरण उपनिषदों के आत्म-ज्ञान का अन्तिम प्रगति-चिन्ह है और वही

(१) देखिये आगे 'क्या तथागत उच्छेदवादी हैं ?' इस सम्बन्धी विवेचन। देखिये आगे पांचवें अध्याय में बौद्ध और नास्तिक दर्शनों का तुलनात्मक विवेचन भी।

है बुद्ध-दर्शन का प्रस्थान-बिन्दु। जहां उपनिषदों का दर्शन समाप्त होता है वही से बुद्ध-दर्शन का आरम्भ है। इसी कारण बुद्ध-मन्तव्य समझने में अत्यन्त कठिन और अपनी तात्त्विक गम्भीरता में तथागत के समान ही अननुमेय है। यदि इतना हम समझ सकें तो परम सत्ता के सम्बन्ध में तथागत के मौन को हम भली प्रकार समझ सकते हैं और उनके 'अनात्मवाद' को भी।

भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद का स्वरूप मुख्यतः साधनात्मक है, यह हम पहले काफी स्पष्ट कर चुके हैं। वह निर्वेद और विराग के लिये है, अनासक्ति और इन्द्रिय-संयम के लिये है।

साधन-पक्ष में औपनिषद मन्तव्य के साथ अनात्मवाद की एकता किन्तु अतीत सत्य के सम्बन्ध में 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' की कठिनाई और वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य को खोज निकालने में सभी प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों का विमोह

उससे बोध, उपशम और निर्वाण की प्राप्ति होती है। जिन्होंने इसे इस प्रकार समझा उन्होंने मुक्ति पाई, वे पार हो गये। बाकी लोग, जिनके पल्ले बौद्धिक विवेचन और सिद्धान्तवाद पड़ा, वे नाव बनाते ही रह गये, ऐसा हम कह सकते हैं। अनात्मवाद प्रधानतः सिद्धान्त न होकर कुशल, स्वस्तिक, क्षेम मार्ग है। रूप, वेदना और विज्ञानों में निर्वेद प्राप्त किये बिना आज तक किसने शान्ति पाई है? 'अनात्मवाद'—'अहंवाद' के संयोजन को तो छोड़ना ही पड़ेगा? मनुष्य सब जगह से प्रेम काटकर, आसक्ति हटा कर, अन्त में 'अपने' से तो प्रेम काटना नहीं चाहता। काटे कैसे, अपने को प्रियतम भी तो समझता है। तृष्णा का अन्तिम निवेशन तो यह 'मैं' ही है। जैसा हम पहले देख चुके हैं, इस 'मैं' के दो स्तर हैं। एक अल्प, तुच्छ स्तर है, जो साधारण व्यवहारावस्था से सम्बन्धित है। दूसरा पारमार्थिक स्तर है, जिसके सम्बन्ध में हम विराट् सूत्रात्मा जैसी बात कहते हैं। एक का सम्बन्ध साधारण अनुभव-जगत् से है और दूसरा है अतीत सत्य-विषयक। वेदान्त अनुभव-जगत् सम्बन्धी 'अहं' को अहंकार या अनात्मा कह कर पुकारता है। शंकर के ब्रह्मसूत्र-भाष्य के उपोद्घात में सभी वस्तुओं और आन्तरिक क्रियाओं में 'अहं' की प्रतीति अज्ञान के फलस्वरूप दिखाई गई है। इसी प्रकार जिन्हें अध्यासवाद मान्य नहीं है, वे भी दर्शन सामान्यतः द्रष्टा और दृश्य के सम्बन्ध-विच्छेद से ही 'नास्मि, न मे, नाहम्' के रूप में अथवा किन्हीं अन्य शब्दों का प्रयोग कर मनुष्य को बाह्य और आन्तरिक बन्धनों से विमुक्त करने का प्रयत्न करते हैं। इस दृष्टि से देखने पर 'अनात्मवाद' समझा जा

सकता है। उपनिषदों का 'आत्मा' अतीत है, उसका उस 'आत्मवाद-उपादान' से कोई सम्बन्ध नहीं, जिसको भगवान् तथागत ने सभी अकुशल कर्मों का मूल बताया है। तथागत ने अपने को वहीं तक सीमित रक्खा है, जहाँ तक मनुष्य मुक्ति-मार्ग की अन्तिम सीमा तक जाता है। जब वहाँ तक पहुँच जाता है तो तथागत जामिनी से बरी हो जाते हैं। वह स्वयं अपने अन्दर उस सत्य को साक्षात्कार करता है जिसे शब्दों में नहीं रक्खा जा सकता। सिद्धान्तों का निरूपण आचार्यों का काम होता है, 'बुद्धों' का काम नहीं। 'बुद्ध' न धर्म चलाते हैं, न दर्शन कायम करते हैं। वे मार्ग बताते हैं, अभ्यास का शासन करते हैं। अतः अनात्मवाद एक शासन है। जीवन का एक पूर्ण शासन। इस पर आचरण करने से यदि तृष्णा कम हो, विशुद्धि, बढ़े, चित्त में प्रसन्नता हो, तो समझना चाहिए कि ठीक समझा है, किन्तु यदि ऐसा न हो तो तथागत का शासन ठीक नहीं समझा गया। 'अनात्मा' को बुद्ध ने प्रख्यापित किया। किन्तु परम अतीत सत्य के विषय में उन्होंने मौन ही रक्खा। उनके मौन की अनेक व्याख्याएँ की गई हैं, किन्तु वे सब विमोह की ही सूचक हैं। तथागत के मार्ग पर तो चलने वाले के लिए उस प्रकार का कुतूहल भी एक संयोजन है। किन्तु फिर भी मनुष्य की बुद्धि नहीं मानती और वह गवेषणा किए बिना नहीं रहता। प्रथम प्रतिभाशाली आचार्य जिन्होंने 'अनात्मवाद' की व्याख्या की है, भदन्त नागसेन हैं। अनेक प्रश्नोत्तरों, उपमाओं और युक्तियों से भदन्त नागसेन ने अपने ग्रन्थ 'मिलिन्दपञ्हो' के प्रारम्भ में ही अनात्मवाद का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया है, जिसके जाने बिना कोई भी आज 'अनात्मवाद' के सिद्धान्त को समझने की बात नहीं कह सकता। सच बात तो यह है कि इस ग्रन्थ ने एक प्रकार से त्रिपिटक का ही महत्त्व ले लिया है और सम्भवतः स्थविरवादी बौद्धों में भी 'अनात्मवाद' की निषेधात्मक व्याख्या के इतने व्यापक प्रचार के लिए मुख्यतः यही ग्रन्थ उत्तरदायी है। त्रिपिटक का साक्ष्य तो एक विशेष प्रकार का ही है, यह हम पहले देख चुके हैं।

भदन्त नागसेन के द्वारा की गई व्याख्या को ठीक रूप से व्याख्यात करने के लिए सिवा उनके संवाद को देने के और कोई गति नहीं है। कुछ

भदन्त नागसेन की अनात्मवाद की व्याख्या

लम्बा होने पर भी रोचक होगा, ऐसा हम कह सकते हैं। 'भद्र ! आप किस नाम से पुकारे जाते हैं, आपका नाम क्या है ?' ग्रीक राजा मिनांडर ने भदन्त नागसेन से पूछा।

'महाराज ! मैं नागसेन के नाम से पुकारा जाता हूँ। मुझे भिक्षु यही कह कर बुलाते हैं। माता पिता अपने बच्चों के इस प्रकार के नाम रखते हैं जैसे नागसेन, सूरसेन आदि। लेकिन ये सब नाम केवल व्यवहार के लिए हैं। तात्विक दृष्टि से इस प्रकार का कोई व्यक्ति उपलब्ध नहीं होता। 'न हेत्थ पुग्गलो उपलब्ध तीति'।

'भद्र नागसेन ! यदि यथार्थ में कोई व्यक्ति है ही नहीं, तो आपको आपकी आवश्यक वस्तुएँ कौन देता है ? उन वस्तुओं का उपभोग कौन करता है ? पुण्य कौन करता है ? ध्यान कौन लगाता है ? आर्य-मार्ग और उसका फल निर्वाण कौन प्रत्यक्ष करता है ?............भले बुरे कर्मों का फिर कोई कर्ता ही नहीं ? आपका कोई गुरु ही नहीं ? आप दीक्षित भी नहीं ? आप कहते हैं आपको लोग नागसेन के नाम से पुकारते हैं। नागसेन क्या है ? 'क्या केश नागसेन हैं ?'

'केश किस प्रकार नागसेन हो सकते हैं ?'

'तो क्या फिर नख, दाँत, चमड़ी, मांस, शरीर नागसेन हैं ?'

'राजन् ! ये भी नहीं !'

'तो क्या फिर इन पाँच स्कन्धों का संयोग नागसेन है ?'

'नहीं राजन् !'

'तो क्या फिर इनसे कोई पृथक् चीज है ? (किं पन भन्ते अञ्ञात्र रूप वेदना संज्ञा संखार विञ्ञाणं नागसेनोति)

'नहीं महाराज' 'नहि महाराजाति'

उपमा देकर समझाते हैं—

'क्या रथ के बांस रथ हैं ?'

'क्या धुरा, चक्र, रस्से, जुआ, पहियों के डण्डे............

'तो क्या रथ इन सब से अलग वस्तु है ?'

'नहीं भन्ते !'

'तो फिर रथ क्या है ?' 'को पनेत्थ रथो' (रथ के बांस, पहिए, रथ का ढाँचा, पहियों के डण्डे, हाँकने की लकड़ी.....इन भिन्न भिन्न भागों पर रथ का अस्तित्व निर्भर है। 'रथ' एक शब्द है जो केवल व्यवहार के लिए है 'रथेति संखा समञ्ञा पञ्ञत्ति वोहारो नाममत्तं पवत्तीति'

'महाराज !' यही हालत व्यक्ति की है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान, इन पाँचों स्कन्धों पर मेरा अस्तित्व निर्भर है। नागसेन शब्द केवल व्यव-

हार मात्र है, यथार्थ में नागसेन नाम का कोई व्यक्तित्व विद्यमान नहीं है। परमार्थ रूप से व्यक्ति की उपलब्धि नहीं होती 'परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति'।

इस प्रकार भदन्त नागसेन ने 'अनात्मवाद' की व्याख्या की है। उन्होंने अनात्मवाद को पुद्गल नैरात्म्य के रूप में दिखाया है। 'परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति'। इस प्रकार उन्होंने निषेधात्मक दिशा में अपना निर्णय दे दिया है। हम नहीं कह सकते कि कहां तक भदन्त नागसेन तथागत के मत के अनुकूल गए हैं, किन्तु यह निश्चित है कि जिस निषेधात्मक दिशा का उन्होंने प्रवर्तन किया उसे स्थविरवाद परम्परा से बाहर के उत्तरकालिक बौद्ध विचारकों ने और अधिक बढ़ाया। इस प्रकार पुद्गल नैरात्म्य से आगे बढ़कर धर्म-नैरात्म्य का सिद्धान्त आया, जिसके सम्बन्ध में हमें यहाँ कुछ नहीं कहना है। चाहे विधानात्मक व्याख्या करें चाहे निषेधात्मक, शास्ता का तो यह मन्तव्य पूरा होना चाहिए कि ये दिन-प्रति-दिन के बन्धन कटें, कामना से पीछा छूटे, आसक्ति से पल्ला छूटे, सभी दैवी और मानवीय बन्धनों से विमुक्ति हो। यदि अनात्मवाद की भावना से ये कुछ भी प्राप्त हो गये 'तो भी इतने से बहुत कर लिया।' यही शास्ता का शासन है।

भगवान् बुद्ध के यदि कहीं दर्शन हो सकते हैं तो बोधि पक्षीय धर्मों की भावना में ही। अन्य कहीं हम उन्हें पा नहीं सकते। कम से कम दार्शनिक नयों और सिद्धान्तों में तो हमें तथागत नहीं मिलते। नागसेन बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इसलिए कह गए कि परमार्थ में पुद्गल की उपलब्धि कहीं नहीं होती; किन्तु यदि तथागत आकर उनसे पूछते, जैसा कि उन्होंने सारिपुत्र से पूछा था (तथागत की सम्यक् सम्बोधि के विषय को लेकर—महापरिनिब्बाण सुत्त में—उसी के आधार पर यहां लेखक ऐसी कल्पना कर रहा है) 'नागसेन! तुमने यह बड़ी उदार वाणी कही) बिलकुल सिंहनाद किया। क्या जितना भी भूत का रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान है, उस सबको तुमने चित्त से जान लिया है कि यह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इस स्वभाव वाला है, इस उद्गम, संघात और निस्सरणवाला है। नागसेन। क्या, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान से बाहर का जो है, उसको भी तुमने अपनी प्रज्ञा से देख लिया है कि यह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान से बाहर का इस उद्गम, संघात और निस्सरण वाला है (यदि वह ये हों)। इसी प्रकार सब वर्तमान के पाँचों स्कन्धों से बाहर और भीतर के तथा भविष्य के भी पाँचों स्कन्धों के भीतर और बाहर के क्षेत्र को लेकर यदि तथागत इसी प्रकार पूछ सकते, तो हम जानते हैं कि सारिपुत्र

की ही तरह सहमकर नागसेन या तो कुछ जवाब नहीं दे सकते, चुप हो जाते, या कहते 'नहीं भन्ते'। 'तो नागसेन ! ऐसा सिंहनाद क्यों—'परमत्थतो पनेत्थ पुग्गलो नूपलब्भति[1]।' यदि कहो कि बुद्ध-वचन के आधार पर तो कालामों के प्रति भगवान् की वाणी को स्मरण करना चाहिये। गति यह है कहां ? यह बुद्ध-शासन है। यदि 'अस्ति' में तुम नहीं जाते, तो 'नास्ति' में भी तुम नहीं जा सकते ? सिवाय इन्द्रियों, उनके विषयों, विज्ञानों और वेदनाओं आदि में अनासक्त रहने के और दृष्ट रूप पञ्चस्कन्धों में 'अनात्म' भाव कर विहरने के, बुद्ध के मन में हम प्रवेश नहीं कर सकते। वहाँ हमारे नागसेन, नागार्जुन, शंकर और धर्मकीर्ति सभी बालक हैं। इसीलिए तथागत ने नहीं बताया। जो जो बातें तथागत ने बे-कही हुई छोड़ीं और जिस कारण से छोड़ीं वह इस बुद्ध-वचन से स्पष्ट होता है 'भिक्षुओ ! संसार शाश्वत है' ऐसा मत रहने पर भी, 'संसार अशाश्वत है', ऐसा मत रहने पर भी, 'संसार सान्त है' ऐसा मत रहने पर भी, 'संसार अनन्त है' ऐसा मत रहने पर भी, 'जीव वही है जो शरीर है, ऐसा मत रहने पर भी अथवा 'जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है' ऐसा मत रहने पर भी 'मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं' ऐसा मत रहने पर भी, 'मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते हैं' ऐसा मत रहने पर भी, 'मृत्यु के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते,' ऐसा मत रहने पर भी, 'मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं,' ऐसा मत रहने पर भी—जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना तो हर हालत में हैं ही, और मैं इसी जन्म में—जीते जी—इन्हीं सब के नाश का उपदेश देता हूँ'[2]। उपर्यक्त दस बातें भगवान् ने व्याकृत नहीं की हैं, व्याख्यात नहीं की हैं। वे अव्याकृत वस्तुएँ हैं'[3]। भगवान् का स्पष्ट अभि-

---

(१) 'कि पन भन्ते ! अञ्ञात्र रूप वेदना सञ्ञासंखार विञ्ञाणं नागसेनोति' 'नहि महाराजाति'। भदन्त नागसेन का यह कहना साधिकार नहीं है; भिक्षुणी वज्रा के भी शब्दों में यह अस्पष्ट ध्वनि भी नहीं, तथा इसके विरुद्ध अन्य प्रमाण हैं' देखिए आगे 'निर्वाण' का विवेचन। 'हां' या 'ना' कहने का वाद-विवाद उठाना ही बुद्ध-मन्तव्य से दूर चला जाना है।

(२) संयुत्त० २१।५

(३) दस अव्याकृत वस्तुओं के लिए देखिए, चूल मालुङ्कय सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।३); अग्गि वच्छगोत्त सुत्तन्त (मज्झिम० २।३२) पासादिक सुत्त (दीघ० ३।६) पोट्ठपाद सुत्त (दीघ० १।९) मिलिन्द पञ्हो

प्राय है कि वे न चित्त की शान्ति के लिए हैं, न विमुक्ति के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न उपशम के लिए, न निर्वाण के लिए । फिर तथागत को व्यर्थ बोलने से क्या प्रयोजन है ? निश्चय ही मिलिन्दप्रश्नकार तथागत के मन्तव्य के अनुकूल ही कहते हैं, 'नेतस्स दीपनाय हेतु वा कारणं वा अत्थि, तस्मा सो पञ्हो ठपनीयो ! नत्थि भगवन्तानं बुद्धानं अकारणमहेतुकं गिरमुदीरणंति' । मालुंक्य-पुत्त आकर भगवान् से पूछता है कि मुझे परम तत्त्व का उपदेश करो, अतीत वस्तु को बतलाओ, मैं उसको जाने बिना आपके धर्म का अनुसरण नहीं कर सकता । आप यह बात क्यों नहीं बतलाते ? मुझे ठीक -ठीक बताओ कि (१) संसार शाश्वत है या (२) अशाश्वत , (३) सान्त है या (४) अनन्त ? (५) जीव वही है जो शरीर या (६) जीव दूसरा है ? (७) मृत्यु के बाद तथागत रहते हैं या (८) मृत्यु के बाद तथागत नहीं रहते ? (९) क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं, (१०) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं। बेचारा बार बार पूछता है किन्तु मौन के सिवाय तथागत से कुछ पाता नहीं। सो क्यों ? 'भिक्षुओ, यदि कोई कहे कि मैं तथागत के उपदेश पर तब तक नहीं चलूंगा, जब तक कि भगवान् मुझे यह न बता देंगे कि संसार शाश्वत है या अशाश्वत, संसार सान्त है या अनन्त.......तो भिक्षुओ !

(मेण्डक पञ्हो) । महायान बौद्ध धर्म में अव्याकृत वस्तुओं की संख्या १० से बढ़ा कर चौदह कर दी गई है । लोक की नित्यता-अनित्यता और अनन्तता-सान्तता की समस्या को यहां चार प्रकार से न रख कर आठ प्रकार से रक्खा गया है । इस प्रकार संख्या चौदह हो गई है। इस प्रकार महायान बौद्ध धर्म के अनुसार १४ अव्याकृत वस्तुएँ, जिनका विस्तृत विश्लेषण आचार्य नागार्जुन और चन्द्रकीर्ति ने किया है, ये हैं (१) क्या लोक शाश्वत है ? (२) क्या लोक अशाश्वत है ? (३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है (४) न शाश्वत न अशाश्वत ? (५) क्या लोक सान्त है ? (६) अनन्त ? (७) सान्त और अनन्त ? (८) न सान्त, न अनन्त ? (९) तथागत करने के बाद रहते हैं ? (१०) नहीं रहते ? (११) रहते भी और नहीं भी रहते ? (१२) न रहते हैं और नहीं रहते हैं ? (१३) जीव और शरीर एक हैं ? (१४) भिन्न हैं ? देखिये हरदयाल : दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १३३

ये बातें तो तथागत के द्वारा बे कही ही रहेंगी और वह मनुष्य यों ही मर जायगा।' जब हृदय में बुझा हुआ तीर लगा है तो 'महाभिषक्' से उसे निकलवाना चाहिए न कि इस पर आग्रह करना चाहिए 'मैं तब तक तीर न निकलवाऊँगा जब तक कि यह न जान लूं कि जिस आदमी ने तीर मारा है, उसका नाम क्या है, गोत्र क्या है, वह लम्बा है कि छोटा है अथवा कि मँझले कद का ? तथागत को इन प्रश्नों की अपेक्षा नहीं है। वे कारुणिक शास्ता हैं, किन्तु उन्हीं के लिए जो उनके विशुद्धि-मार्ग पर चलने का प्रयत्न करेंगे। जो अपने कुतूहल की ही शान्ति चाहते हैं, वे अपने प्रश्नों के तो उत्तर पायेंगे ही नहीं, किन्तु पाएँगे 'मरण या मरणान्त दुःख को'। 'संसार शाश्वत है या अशाश्वत' आदि प्रश्नों की व्याख्या में यदि तथागत लग जाते तो इन तीन में से एक अवश्य होते, शाश्वतवादी, अशाश्वतवादी अथवा उच्छेदवादी। तथागत इनमें से एक भी नहीं हैं। वे सभी निरुक्तियों से, सभी लौकिक व्यवहारों से, परे हैं 'अनुपादा विमुत्ता भिक्खवे तथागता'। चूल-मालुंक्यपुत्त के चले जाने के बाद आनन्द ने भगवान् से पूछा कि भन्ते ! आपने मालुंक्यपुत्त के प्रश्नों का उत्तर क्यों नहीं दिया, वह निराश होकर चला गया। भगवान् ने अपने चिर-उपस्थाक को बतलाया कि (मेरे उपदेश में कोई 'आचार्य मुष्टि' जैसी चीज़ नहीं है, किन्तु) आनन्द ! यदि मैं उसको किसी भी प्रकार उत्तर देता तो इन श्रमण-ब्राह्मणों के ही शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, उच्छेदवाद को उपदेश करता, किन्तु ये तो हीन कोटियाँ हैं, हीन, ग्राम्य और पृथग्जनों के योग्य। इसलिए तथागत ने व्याकृत नहीं किया। जो आत्मा की शाश्वतता को लेकर ही फूले रहते हैं, वे तथागत के अनुसार अज्ञान ही अज्ञान में (अन्धन्तमः......ये विद्यायां रताः। विमुक्ति प्रशंसा मन्दानांम्-सांख्यसूत्र) हैं, जो कहते हैं कि आत्मा शरीर के बाद उच्छिन्न हो जाता है, वे तथागत के उपदेश को मूलतः ही उच्छिन्न कर देते हैं, उसे निःशेष रूप से काट डालते हैं[१]'। उसकी कोई उपयोगिता ही नहीं छोड़ते; जो अशाश्वत आत्मा को बतलाते हैं वे भी उच्छेदवादियों की ही श्रेणी में आते हैं। तथागत ने यह सब देख लिया है, इसलिए वे इससे परे हैं। उनके धर्म रूपी श्रेष्ठ जाल में सभी सत्ता सम्बन्धी मिथ्या दृष्टियाँ पकड़ ली जाती हैं। तथागत के मन्तव्य को समझ लेने के बाद इस प्रकार प्रश्नों के लिए

---

(१) देखिये अलगद्दूपम सुत्त, (मज्झिम० १।३।२) तथा आगे 'क्या सम्यक् सम्बुद्ध उच्छेदवादी हैं।' इस पर विवेचन भी।

हृदय में आने का कोई स्थान ही नहीं होना चाहिए। किन्तु तत्त्व का समीक्षक पूछ सकता है कि सम्भवतः कहीं ऐसा तो न था कि तथागत को ही इन सब बातों का ज्ञान न था, इसलिए उन्होंने नहीं बताया, या उपनिषदों के अर्थ में आत्मा का विवेचन न किया हो। निश्चय ही सन्देह करनेवाला कह सकता है कि तथागत ने पाँच स्कन्धों अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान से बाहर और अतीत कुछ नहीं देखा, अतः वे या तो रहस्यवादी थे या अविज्ञेयतावादी। निश्चय ही डाक्टर कीथ ने उन्हें अविज्ञे यतावादी बताया भी है[1]। किन्तु तथागत को हम अविज्ञेयतावादी कभी नहीं मान सकते, जब कि उनके ये स्पष्ट प्रभावशाली शब्द हैं 'अभिञ्ञायाहं भिक्खवे धम्मं देसेमि नो अनभिञ्ञायाति" "भिक्षुओ ! मैं जान कर ही उपदेश देता हूँ, विना जाने नहीं।" सम्यक् सम्बुद्ध के ये शब्द समग्र विश्व के विचार मण्डल की उच्चतम कोटि हैं। जो कुछ भगवान् ने कहा है जानकर और साक्षात्कार कर ही कहा है 'ञत्वा सच्छिकत्वा' ! ऐसे तथागत को अविज्ञेयतावादी कहना ठीक नहीं है। आनन्द जैसे चिर-उपस्थाक भी, सारिपुत्र जैसे साधक भी, उनकी थाह नहीं लगा सके और न तथागत को अपेक्षा थी उनके मुख से अपने विषय में कोई उदारवाणी सुनने की ही 'भन्ते ! मुझे ऐसा विश्वास है' संबोधि में भगवानें से बढ़कर, भूयस्तर कोई श्रमण या ब्राह्मण न हुआ न होगा और न इस समय है'। 'सारिपुत्र तूने बड़ी उदार वाणी कही, बिलकुल सिंहनाद किया। सारिपुत्र ! जो वे अतीत काल में अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हुए, क्या तूने उन सब भगवानों को अपने चित्त से जान लिया कि वे भगवान् ऐसे शीलवाले, ऐसी प्रज्ञा वाले, ऐसे विहारवाले, ऐसी विमुक्तिवाले थे ?"

"नहीं, भन्ते !"

---

(१) कीथ कहते हैं:—'It is quite legitimate to hold that the Buddha was a genuine agnostic, that he had studied the various systems of ideas prevalent in his day without deriving any greater satisfaction from them than any of us today from the study of modern systems, *that he had no measured or other conviction on the matter.*' बुद्धिस्ट फ़िलासफी पृष्ठ ६३; इस विषय में कीथ ने तथागत के मन्तव्य के पल्ले को भी नहीं छुआ।

"सारिपुत्र ! जो वे भविष्यकाल में अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध होंगे, क्या उन सब भगवानों को तूने चित्त से जान लिया ?"

'नहीं भन्ते !'

"सारिपुत्र ! इस समय में अर्हत् सम्यक् संबुद्ध हूँ। क्या तू चित्त से जानता है कि मैं ऐसे शील वाला, ऐसी प्रज्ञावाला, ऐसे विहारवाला, ऐसी विमुक्ति वाला हूँ ?"

'नहीं भन्ते !'

'......तो सारिपुत्र ! तूने क्यों यह बड़ी आर्षभी वाणी कहीं, क्यों यह बिलकुल सिंहनाद किया ? 'किञ्च हि ते अयं सारिपुत्त उलारा आसभी वाचा भासिता एकंसो गहितो सीहनादो नदितो'

श्रद्धालु सारिपुत्र फिर भी कुछ दबी ज़बान से सिंहनाद करते ही गए। शास्ता ने कोई उत्तर नहीं दिया। जितने शिंशपा के पत्ते भगवान् ने हमें दिखाए हैं, उतने से ही हमें यह आश्वासन करना चाहिए कि ये हमारी अभिज्ञा के लिए, ज्ञान के लिए, उपशम के लिए, और निर्वाण के लिए काफी हैं। किन्तु यदि हम यह मानने लग जायँ कि समग्र शिंशपा-वन में ही सिर्फ उतनी ही पत्तियाँ हैं जितनी कि ये हमारे पास यहां रक्खी हुई हैं तो अपनी ही निर्बुद्धि दिखाएँगे[1]। सम्यक्

(१) एक बार भगवान् शिंशपा-वन में विहार कर रहे थे। उन्होंने एक शिंशप वृक्ष की कुछ पत्तियों को अपने हाथ में लेकर भिक्षुओं को सम्बोधित किया "भिक्षुओ ! ये शिंशपा की पत्तियां जो मैं हाथ में ले रहा हूँ, वे अधिक हैं या इस सम्पूर्ण शिंशपा-वन की पत्तियां ?" "भन्ते ! आपके हाथ में जो ये पत्तियां हैं ये तो बहुत अल्प हैं और शिंशपा-वन की सब पत्तियां तो बहुत अधिक हैं"। "इसी प्रकार भिक्षुओ ! वे वस्तुएँ बहुत अधिक हैं जिन्हें मैं अपनी अभिज्ञा से जानता हूँ परन्तु जिन्हें मैंने तुम्हें नहीं बताया है। उनकी अपेक्षा जो कुछ मैंने तुम्हें बताया है, वह तो सम्पूर्ण शिंशपा-बन की पत्तियों के सामने इस हाथ में रक्खी पत्तियों के समान है। भिक्षुओ ! इन बातों को मैंने तुम्हें क्यों नहीं बताया, क्यों नहीं व्याकृत किया ? क्योंकि भिक्षुओ ! ये न लक्ष्य-सिद्धि के लिए हैं, न ब्रह्मचर्य के लिये उपयोगी हैं, न निर्वेद, वैराग्य, निरोध, ज्ञान, उपशम और निर्वाण की ओर ले जानेवाली हैं। इसीलिये मैंने तुम्हें नहीं बतलाया है, नहीं व्याकृत किया है।" संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ ४३७-४३८ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

सम्बुद्ध ने इस सब जगत् और उसकी व्यवस्था को देखा था, यह कोरा विश्वास मात्र नहीं है। उनके 'अभिसम्बुद्ध' पद का यह स्वाभाविक अभिप्राय है। यदि अभि-सम्बुद्ध वे नहीं हुए होते तो गौतम जैसे व्यक्ति उसका दावा कभी नहीं करते। फिर यदि कीथ की तरह मान लें कि उन्हें इस विषय में कोई निश्चित सहेतुक विचार नहीं था (नो रीज़न्ड कन्विक्शन ऑन दि मैटर) तो तथागत के उपदेश में आश्वासन ही क्या रहा ? क्यों फिर वे सभी 'आश्वासनों' से आश्वासित थे, 'वैशारद्यों' से युक्त थे, 'बलों' से संयुक्त थे ? क्यों वे कहते, " मैं अग्र (श्रेष्ठ) को जानता हूँ ? उससे भी अधिक जानता हूँ।" विना निश्चित विचार रक्खे तो पवित्रता के प्रथम कोष्ठ में भी पदार्पण करना मुश्किल है, 'बुद्धत्व' तो दूर की बात है। यदि यह कहा जाय कि कीथ 'इस विषय में' कहते हैं, तब भी गलत है। इस प्रकार से सभी उपनिषदों के ऋषियों को अविज्ञेयतावादी मानना पड़ेगा जिनके उपदेश का क्रम बिलकुल उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि बुद्ध का चूल मालुंक्य के प्रति, और सब के प्रति :

यहीं तक बुद्ध और	'स ह्रो वाचाधीहि भो इति'
मालुंक्यपुत्र का संवाद	'स तूष्णीं बभूव '
	तं ह द्वितीये तृतीये वा वचनमुवाच।
यहां तक वाष्कलि	ब्रूमः खलु। त्वं न विजानासि।
और बाध्व का और आगे चला	उपशान्तोऽयमात्मा[1]।

'ब्रूमः खलु' ऐसा भगवान् तथागत ने परम सत्ता के सम्बन्ध में कभी नहीं कहा। क्योंकि यदि कहते तो पहले यही कहना पड़ता 'त्वं न विजानासि' जो वे पहले ही कह चुके हैं, किन्तु इस अज्ञान के लिए फटकार कर के भी 'ब्रूमः खलु' की भी तो कोई संगति लगानी ही पड़ेगी, अतः कुछ तो कहना ही चाहिए 'उपशान्तोऽयमात्मा', जो बुद्ध पहले से ही कह चुके हैं—मालुंक्यपुत्र चला जाता है। बुद्ध उपनिषदों की ओर देखते हैं, उपनिषदें लौटकर बुद्ध की ओर आती हैं। ऐसा यह विचित्र संयोग हुआ है तत्त्वज्ञान और नीति का। बुद्ध और उपनिषदें एक समान मौन हैं, और यह मौन भारतीय दर्शन का सर्वोत्तम मंगलमय सूत्र है। मालुंक्यपुत्र तो उदास होकर चला गया और चला ही जाना चाहिए था, क्योंकि 'गति' और 'अगति' को, 'च्युति' और 'स्थिति' को वहाँ कहाँ पूछना था जहाँ कि 'न पृथिवी है, न चन्द्रमा, न सूर्य।' किन्तु भगवान् चाहे व्याकृत

(१) ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्य ३।२।१७ में उद्धृत ।

न करते किन्तु उन्हें कोई ऐसा आश्वासन तो देना ही था कि 'कृत', 'जात', 'भूत' और 'संस्कृत' के बन्धन से हटने अर्थात् पञ्चस्कन्धों के प्रतीत्य-समुत्पन्न भावों से व्यतिरिक्त भी कोई स्थिति है जो समुद्र के समान गम्भीर और वचनों से अव्याख्येय है, जिसको 'अकृत', 'अजात' 'अभूत' और 'असंस्कृत' के सिवाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह उपदेश उनको तो नहीं दिया जा सकता था जो अभी पवित्र जीवन में प्रविष्ट भी नहीं हुए और पहले से ही अपनी समस्याओं का हल चाहते हैं। 'अनात्म' का अभ्यास करो 'मैं', मेरा' करके बाह्य और आध्यात्मिक जगत् को मत अपनाओ, तो जब निर्वाण की अवस्था पर आओगे तो भगवान् यह उदान किए बिना नहीं मानेंगे 'अत्थि भिक्खवे अजातं अभूतं अकतं असंखतं', 'तत्र न ठिति वदामि न चुतिं.........न तत्र पिठवी .....न चन्दम-सुरिया'। जो बात भगवान् ने 'आत्मा' के रूप में नहीं कही है, वही बात उन्होंने 'निब्बाण' के रूप में कही है, जो 'शान्त' (सन्त) है। 'निब्बानं सन्तं' और 'उपशान्तोऽयमात्मा' में क्या अन्तर है? निर्वाण शान्त है, आत्मा उपशान्त है। सभी जगत् अ-शान्त है 'हा सन्तप्त! हा पीड़ित! 'अप्पमादेन सम्पादेथ' इतना ही तो कहा जा सकता है। इस तथ्य को हम 'निर्वाण' का विवेचन करते समय विस्तार से दिखाएँगे। उपनिषदों में आत्मा को जानने विषयक कठिनता और उसकी अविज्ञेयता को प्रख्यापित करने वाले सहस्रों वाक्य हैं और उनका निर्देश हम उपनिषदों के दर्शन के प्रसंग में पाँचवें प्रकरण में करेंगे। यहाँ उनके उद्धरण देने या उनके प्रकाश में बुद्ध-मौन को अधिक व्याख्यात करने की जरूरत नहीं, क्योंकि जब हम 'उपशान्तोऽयमात्मा' कह चुके तो कुछ शेष नहीं रहा। 'किमत्र परिशिष्यते' की वाणी चरितार्थ हो गई। यदि उपनिषदों का यह मन्तव्य ठीक है, और ठीक होना ही चाहिए, कि जिसको परम तत्व अविज्ञात है, उसी को वह ज्ञात है, जिसका वह अमत उसी का वह मत है, तो हम निश्चय ही कह सकते हैं कि बुद्ध का वह विज्ञात है, बुद्ध का वह मत है—नातः परमस्ति। 'आत्मा' के जाननेवाले की जो स्थिति होनी चाहिए और जो गुण आत्मवान् में होने चाहिए, उनको बुद्ध में मिलाकर देखने पर बुद्ध 'वेदगू' या 'वेदज्ञ' हैं, इसमें सन्देह नहीं। उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों से यद्यपि हमें यहां बिलकुल भी प्रयोजन नहीं है और उनके प्रज्ञानों की मीमांसा हम बाद में ही करेंगे, किन्तु उनमें से भी बहुतों ने कहा है कि तथागत ने 'आत्मा' और 'अनात्मा' दोनों का ही प्रख्यापन किया है[१] और सामान्यतः मनुष्यों के अधिकार की

(१) देखिए आगे उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन का विवेचन।

विभिन्नता ही भगवान् के मौन में कारणस्वरूप रही है[1]। नागार्जुन आदि कुछ माहायानिक आचार्यों ने तो तथागत के मौन को एक रहस्यात्मक रूप ही दे डाला है और कहा है कि तथागत ने अभिसम्बोधि प्राप्त करने के समय से लेकर ठीक निर्वाण तक कभी किसी को कोई उपदेश ही नहीं दिया। इन आचार्यों के मतों का निरूपण (सोद्धरण) हम उनके दर्शन पर विचार करते समय करेंगे। यहाँ हम यही कहना चाहते हैं कि उपनिषदों ने जिस अज्ञेय, सर्वगत, सर्व नियामक 'आत्मा' का वर्णन किया है, उसकी भावना तथागत के 'निर्वाण', 'धम्म'[2] एवं 'कम्म' सम्बंधी सिद्धान्तों में भरी पड़ी है और जिसे तथागत ने 'अनात्म' कहा है वह उपनिषदों की 'आत्मा' नहीं किन्तु वह हमारी वह तुच्छ अहंकार बुद्धि है जो जहाँ भी आनन्द लेना चाहती है, विषयों का उपभोग करना चाहती है और शाश्वत काल तक स्थिति भी चाहती है कि कहीं ऐसा न हो कि मैं न होऊँ। इसी 'अहं' को, इसी 'आत्मा' की लालसा को उच्छिन्न करने के लिए शास्ता का अनात्म एवं बोधिपक्षीय धर्म रूपी वज्र उद्यत हुआ है।.....वज्रमुद्यतं......य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति। जिस वेदान्त रूप असंग शस्त्र के विषय में भगवान् शंकर कहते हैं कि यह अश्वत्थ वृक्ष रूप संसार ऐसे ही असंग शस्त्र के द्वारा उच्छेदन करने के योग्य है (...... असंगशस्त्रकृतोच्छेद एष संसार वृक्षः—कठ भाष्य २।३।१), तो हम कह सकते हैं कि बोधि पक्षीयधर्मों के शास्ता ने भी 'अनात्मवाद' के रूप में ऐसा ही एक वज्र रूप 'असंग' शस्त्र हमें दे दिया है जिससे यह संसार (संसरण, जन्म-मरण)

---

(१) देखिए 'एवमाद्येनोत्तरोत्तरक्रमलक्षणविधिना व्याकृतातिपृष्टाः स्थापनीयं भगवता व्याकृतमिति वक्षयन्ति, न तु ते मोघपुरुषा एवं ज्ञास्यन्ति यथा श्रोतृणां बुद्धिविकल्पात् तथागता अरहन्तः सम्यक् सम्बुद्धाः उत्रासपदविवर्जनार्थं सत्वानां न व्याकुर्व्वन्ति। अव्याकृतान्यपि च महामते तीर्थंकर वृष्टि वादव्युदासार्थं नोपदिश्यन्ते तथागतैः।.......... चतुर्विधपदप्रश्नव्याकरणेन महामते तथागता अरहन्तः सम्यक् सम्बुद्धाः सत्वेभ्यो धर्मं देशयन्ति। स्थापनीयमिति महामते कालान्तरदेशनैषा मया कृतापरिपक्वेन्द्रियाणां न तु परिपक्वेन्द्रियाणां स्थाप्यं भवति। लंकावतार सूत्र, पृष्ठ ११४; विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ १६, पदसंकेत १७ में उद्धृत।

(२) 'धर्म' में हम किस तरह 'वास्तविक आत्मा' के दर्शन कर सकते हैं, इसके लिए देखिए राधाकृष्णन् 'गोतम दि बुद्ध', पृष्ठ ३०; ३६-३९

रूप वृक्ष निःशेष रूप से काट डाला जा सकता है। कैसा है यह वृक्ष ? (शंकर के दर्शन का प्रसंग उपस्थित न होने पर भी) शंकर के शब्दों में ही सुनिए—"जन्म, जरा, मरण, शोक आदि अनेक अनर्थों से भरा पड़ा है। क्षण-क्षण में अन्यथा भाव को प्राप्त होनेवाला है; माया मृगतृष्णा के जल और गन्धर्व नगरादि के समान दृष्टनष्टस्वरूप है, तत्व-विजिज्ञासुओं के द्वारा 'इदं' रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता, अविद्या, काम, कर्म और कर्म रूप बीज से उत्पन्न हुआ है........तृष्णा रूप जल के सेचन से बढ़ा है.....सुख-दुःख और वेदना रूप अनेक प्रकार के रसों से युक्त है—ब्रह्मा आदि पक्षियों ने इस पर सात लोक रूपी घोंसले बना रक्खे हैं—(फिर अन्त में तो) नृत्य, गान, वाद्य, क्रीड़ा, आस्फोटन, हंसी, आक्रन्दन, रोदन हाय-हाय ! छोड़-छोड़ ! इत्यादि अनेक प्र कार के शब्दों की तुमुल ध्वनि से अत्यन्त गुञ्जायमान हो रहा है।' ऐसे संसार-वृक्ष के उच्छेदन करने के लिए भगवान् शंकर कहते हैं 'ब्रह्मात्मादर्शनासंगशस्त्र' को धारण करो। बिलकुल ऐसे ही वृक्ष को काटने के लिए शाक्यसिंह का भी अतुल पराक्रम है ('सिंहनादो तवातुलः') किन्तु वे अतीत ('ब्रह्मात्मा') को पहले से ही मान कर फिर 'दृश्य' (अनात्मा देहेन्द्रियादि) से उसका 'असंग' सम्पादित नहीं करते, किन्तु 'अनात्म' के सम्बन्ध में साँख्यकार के ही कुछ-कुछ ढंग से ('नास्मि, न मे, नाहं') 'न ये मेरे हैं, न मैं इनका हूँ, न ये मुझ में हैं, न मैं इनमें हूँ" इस प्रकार कहकर निर्वाण के क्षेम, कुशल, मंगल, प्रीतिगमनीय मार्ग पर लगा देते हैं, किन्तु 'अत्ता' को नहीं बोलते[१]। 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः संच्छिन्नसंशयाः'। बुद्ध की सम्बोधि महान् है ! 'क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।' बुद्ध होकर बोलना हो भी नहीं सकता। इसीलिए 'तथागतैः मौनैः न किञ्चित् भाषितम्—मौनाः हि भगवन्तस्तथागताः।' चाहे धम्मदिन्ना ने जो कुछ विशाख से कहा उसे हम देखें (मज्झिम० १।५।४), चाहे खेमा ने जो राजा पसेनदि (प्रसेन-जित् कोशलराज) से कहा उसे देखें (संयुत्त निकाय), चाहे सारिपुत्र ने जो यमक से कहा उसकी व्याख्या कर लें और चाहे देख लें वच्छ के प्रति स्वयं भगवान् बुद्ध की ही उक्ति को (अलगद्दूपम सुत्त), अन्त में सारिपुत्र के समान तथागत की अभिसम्बोधि के विषय में वैसी ही उदार

---

(१) द्रष्टव्य अंगुत्तर-निकाय, जिल्द ३, पृष्ठ ३५९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी संस्करण)

वाणी कहनी पड़ेगी जो उन्होंने कही थी अर्थात् 'भगवान् से भूयस्तर....आदि' अथवा आचार्य गौडपाद के साथ सुर-में-सुर मिलाकर यह भी कह सकते हैं 'क्रमते नहि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः। सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितम्'।

एक बात हम यहां और कह देना चाहते हैं। यद्यपि हम यह मानते हैं कि अनेक प्रकार से एक इन्द्रियातीत व्यवस्था में बुद्ध ने अपना विश्वास दिखाया है और निश्चय ही 'अजात, अकृत, अभूत, असंस्कृत' का उपदेश देकर तो एक अभूत पूर्वरूपसे ही, किन्तु साथ ही हम 'आत्मा' 'पुद्‌गल' आदि शब्दों के आने से ही बुद्ध को 'आत्मवाद' के प्रख्यापक के रूप में नहीं मान सकते। 'आत्मा' शब्द हमारे दार्शनिक साहित्य में बड़ा विचित्र है। इसी एक शब्द में समग्र भारतीय दर्शन-परम्परा व्याख्येय है। बुद्ध ने जब इसका प्रयोग किया है तो एक तो तुच्छ 'अहं-कार' के रूप में किया है, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं और दूसरे 'अपने' या 'अपना' के अर्थ में किया है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब उनके लिए 'अपना' कुछ है ही नहीं, तो वे इस प्रकार कैसे कह सकते हैं कि 'आत्म दीप होकर विहार करो, आत्म शरण, अनन्यशरण'—अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा'। जब कोई अपना (आत्मा) होगा तभी तो उसे दीप बनाया जायगा, तभी तो उसकी शरण ली जायगी, यहाँ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को तुम अपना बताते नहीं हो ('अनात्म' कहते हो) और इन पञ्चस्कन्धों से व्यतिरिक्त भी किसी को मानते नहीं हो (?), तो शरण किसकी लें, दीप किसको बनाएँ? भगवन् 'व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे'। तो फिर राधाकृष्णन् आदि (पुण्यश्लोक डा० रायज़ डेविड्स भी उनके साथ हैं) इन पदों से मानते हैं कि यहाँ 'अत्त' (आत्मा) का उपदेश उपलक्षित होता है[१]। इस लेखक का मत है कि यदि बुद्ध की भाषा पर ही चला जाय, तो यह अर्थ निष्पन्न नहीं होता। न तो यह भगवान् निर्देश कर रहे हैं पञ्चस्कन्धों का ही और न किसी 'सर्वगत' आत्मा जैसी वस्तु का ही, वे तो केवल एक साधारण प्रयोग कर रहे हैं। यदि 'अनात्म' का उपदेश वे देते हैं तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे 'अपने' शब्द का

---

(१) 1. 'When Buddha asks us to have the self as our light (अत्तदीप), the self as our refuge (अत्तसरण), surely he is referring not to the transitory constituents, but to the universal spirit in us,' **गौतम दि बुद्ध, पृष्ठ ४०**

प्रयोग भी किसी वस्तु या सम्बन्ध को दिखाने के लिए लौकिक भाषा में न करें। फिर यदि इसको भी नहीं माना जाय तो यह तो मानना ही चाहिए कि यदि 'आत्मा' की शरण लेने को भगवान् उपदेश करते हैं, तो मालुंक्यपुत्त भी तो आकर उन्हें पकड़ सकता था कि भगवन्! जिस 'आत्मा' की शरण लेने का उपदेश करते हो उसकी शरण मैं लूंगा, किन्तु पहले उसका स्वरूप भी तो बतलाओ। फिर क्या भगवान् उसे 'अव्याकृत' कर सकते थे? मालुंक्यपुत्त उनके सिर आ जाता और अन्यों को भी उसके प्रति करुणा आ जाती, शाक्यमुनि का तो कहना ही क्या? इसी प्रकार उपसीव-माणव (बावरि जैसे त्रैविद्य का शिष्य) भी आकर तथागत को तंग कर डालता कि मैं जो अपने आचार्य से रात-दिन आत्मा-परमात्मा की ही बातें पढ़ता रहता हूँ, सो मैंने जब आपसे पूछा कि 'हे समन्त चक्षु! आलम्बन बताओ, आलम्बन! जिससे मैं इस ओघ को पार करूँ' तब आपने मुझे तो बतला दिया कि 'आकिञ्चन्य को देख,' 'कुछ नहीं है' को देख' (सुत्तनिपात–५) और अब अपने शिष्यों को यहाँ अकेले उपदेश कर रहे हो, 'विराट सर्वगत आत्मा' (यूनीवर्सल सेल्फ) का! मुझ से कुछ कहते तो मैं भी 'शरीर' के विषय में वाद-विवाद कर आपके छक्के छुड़ा देता, अब बताइए भगवन् (अब समन्त-चक्षु नहीं रहे—'अत्ता' का प्रख्यापन जो करने लगे) कि जिस 'अत्त' की शरण लेने को कहते हो, वह 'अत्त' है क्या? 'कीजिये एक नई शारीर-मीमांसा तैयार'! निश्चय ही कोई संगति ही नहीं लगती बुद्ध के समग्र उपदेश के ढंग से यदि 'अत्त' शब्द के बिखरे हुए प्रयोगों से हम आत्मोपदेश का अर्थ औपनिषद अर्थों में ले लें। फिर सब से बड़ी बात तो यह है कि स्वयं कारुणिक शास्ता ने ही इसकी व्याख्या कर भ्रम अथवा विवाद के लिए कोई जगह ही नहीं छोड़ी। 'आनन्द! भिक्षु कैसे आत्मदीप होता है? कैसे आत्मशरण? आनन्द! भिक्षु काया में कायानुपश्यी हो विहरता है, वेदनाओं में वेदनानुपश्यी हो विहरता है, चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है, धर्मों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है.... ऐसे आनन्द! भिक्षु आत्म शरण होता है, आत्म दीप होता है[1]।" यह चार-स्मृति-

(१) चुन्द स्थविर जब सारिपुत्र के धातु-परिस्रावण और पात्र-चीवर आदि को लेकर श्रावस्ती में गए, तब भगवान् ने भिक्षुओं से कहा कि 'आत्मदीप.'-होओ' और तभी उसकी इस प्रकार व्याख्या की, देखिए चुन्दसुत्त संयुत्त० ४५।२।३ (अट्ठकथा सहित); बुद्धचर्या पृष्ठ ५१६-५१७; 'अत्तदीप सुत्त' भी 'अनात्म' का ही उपदेश करता है। अतः वह भी इस व्याख्या का ही समर्थक है।

प्रस्थानों की भावना सिवाय विशुद्ध 'अनात्म' दर्शन के और कुछ नहीं है, जैसा कि पहले हम बोधि पक्षीय धर्मों के विवरण और विवेचन में उनका जो विस्तृत विश्लेषण उपस्थित कर आए हैं, उससे स्पष्ट होगा। अतः जब भगवान् 'अत्तदीप' और 'अत्तसरण' होने का उपदेश करते हैं तो उससे उनका तात्पर्य केवल 'अनात्मवाद' के ही उपदेश से होता है। अतः हमें उनकी व्याख्या का ही आदर करना चाहिए, ऐसा हमारा विनम्र अभिप्राय है। इसी प्रकार 'अत्ता हि अत्तनो नाथो' आदि को भी हमें पुरुषार्थ के आधार पर और उपर्युक्त भावना से ही व्याख्यात करना चाहिए, उनमें औपनिषद 'आत्मा' की झलक देकर उपर्युक्त आपत्तियां आती हैं जिनके विषय में अधिक विस्तार से कहने की यहाँ जरूरत नहीं। एक और सुन्दर आख्यान को देख लें जो इस सम्बन्ध में औपनिषद आत्मा की गवेषणीयता के लिये उद्धृत किया जाता है। यदि केवल मनीषी डा० राधाकृष्णन् ही यहाँ औपनिषद आत्मा के प्रयोग को बुद्ध-वचन में पाते[१], तो हमें कोई आश्चर्य नहीं होता क्योंकि बौद्ध और औपनिषद आत्मा सम्बन्धी मन्तव्यों को समीप लाने की उनकी तत्परता सर्वविदित है, परन्तु यहाँ तो कुमारी आई० बी० हार्नर और आनन्द कुमार स्वामी ने भी कहा है कि यहाँ अनात्मवादी शास्ता ने एक महत्तर (greater) आत्मा (self) की भावना करने को कहा है, जिससे उनका तात्पर्य औपनिषद आत्मा से ही होता है[२]। वन-खण्ड में भगवान् समाधि लगाए हुए एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। कुछ कोलाहल-सा सुनते हैं। देखते हैं कि तीस आदमी इधर-उधर डोल रहे हैं। (भद्रवर्गीय के नाम से ये पुकारे गए हैं) । तीसों अपनी-अपनी स्त्रियों को लेकर वन-विहार के लिए निकले हैं। एक के पास स्त्री नहीं है, उसके लिए एक वेश्या लाई गई है। वह उनके नशे की हालत में आभूषण आदि लेकर भाग गई है। चारों तरफ वन

---

(१) देखिए राधाकृष्णन् : गौतम दि बुद्ध, पृष्ठ ३९-४०

(२) "We find the very Master in whom the work of self-naughting has been accomplished recommending others to seek for the self—an apparent contradiction–that can only be resolved if we clearly distinguish between the 'selves' referred to—one to be naughted, one to be cultivated." दि लिविंग थॉट्स ऑव गौतम दि बुद्ध, पृष्ठ ५-६ (भूमिका)

को ढूंढ़ते ये सभी भ्रमित युवक भगवान् बुद्ध को वहां बैठे देखते हैं और स्वभावतः ही पूछते हैं 'भन्ते ! भगवान् ने किसी स्त्री को तो नहीं देखा ?'

'कुमारो ! तुम्हें स्त्री से क्या है ?'

'भन्ते ! हम भद्रवर्गीय नामक तीस मित्र........आभूषण आदि लेकर भाग गई !'

'कुमारो ! क्या समझते हो, तुम्हारे लिए क्या उत्तम होगा ? क्या यह कि तुम स्त्री को ढूंढ़ो अथवा यह कि तुम अपने आप (आत्मा) को ढूंढ़ो। 'अत्तानं गवेसेय्याथ।'

'भन्ते ! हमारे लिए यही उत्तम है कि हम अपने आप को ढूंढ़ें'[1] ।

हमारा विनम्र मन्तव्य है कि इस उपर्युक्त आख्यान के 'अत्तानं गवेसेय्याथ' (आत्मा को ढूंढ़ो) में औपनिषद 'आत्मा' के उपदेश को देखना बेकार है, चाहे भले ही डा० राधाकृष्णन्, कुमारस्वामी और आई० बी० हार्नर ने इस प्रकार का अनधिकारपूर्ण प्रयत्न किया हो। प्रथम तो 'कालज्ञ' तथागत भद्रवर्गीयों को ऐसा उपदेश कभी नहीं देते और दूसरी बात यह है कि जब उन्होंने भद्रवर्गीयों से यदि यही कहा कि 'आत्मा' को तलाशो (औपनिषद अर्थ में) तब तो फिर संगत अर्थ यहीं है कि जब भद्रवर्गीय चुपचाप बैठ जाते हैं उनके उपदेश को सुनने के लिए तो उन्हें 'आत्मोपदेश' ही किया जाय, किन्तु होता तो केवल 'धर्मोपदेश' है, अतः हमें 'अत्त' का अर्थ या तो 'अपना' लेना चाहिए या 'धर्म' लेना चाहिए, औपनिषद आत्मा तो ऐसे प्रयोगों में नहीं लेना चाहिए। भगवान् ईसामसीह ने जब कहा कि 'अगर आदमी जगत् को पा ले और अपने (आत्मा-सेल्फ़) को खो दे ......आदि' तो हम इसे औपनिषद 'आत्मा' का प्रख्यापक नहीं मान सकते, यद्यपि संगति उसकी भी वहाँ बड़ी अच्छी तरह से (और सम्भवतः बौद्ध प्रयोग से अधिक) लग जाती है। सब बातें हमें मूल भावनाओं के आधार पर ही देखनी चाहिए और इस तरह बुद्ध 'अनात्म' का ही प्रख्यापन करनेवाले हैं, 'आत्म' का नहीं, यद्यपि दोनों ही क्रमशः अनुभव-जगत् और अतीत अनुभव के क्षेत्रों को लेकर एक ही सत्य का निरूपण करती हैं।

इस प्रकार हमने 'अनात्मवाद' के स्वरूप को समझने का प्रयत्न किया और उस सम्बन्धी कुछ समस्याओं को भी देखा। यदि हम अनात्मवाद को बोधिपक्षीय धर्मों की व्याख्या स्वरूप समझते हैं तो सम्भवतः हम उसे उसके ठीक रूप में

---

(१) राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद, देखिए बुद्धचर्या, पृष्ठ ३०

देखते हैं। 'बुद्ध' से अधिक बुद्ध बनने की चेष्टा हमें नहीं करनी चाहिए किन्तु सांसारिक पदार्थों से आसक्ति हटाकर अपना हित-चिन्तन करना चाहिए, यही बुद्ध-धर्म के शास्ता का उपदेश है। यही अन्य भारतीय दार्शनिक नयों का भी 'अविवाद' और 'अविरुद्ध' मन्तव्य है, यह हम आगे पाँचवें प्रकरण में देखेंगे। अनात्मवाद केवल विशुद्धि के लिए मार्ग है, ऐसा हमें जानना चाहिए। इसी में तथागत के भी उपदेश का पर्यवसान है, और यही दुःखों का अन्त भी है। 'एसेवन्तो दुक्खस्सा'ति। बुद्ध ने कहा है कि भव त्रिलक्षण है, अनित्य, दुःख और अनात्म। यह ऐसा सत्य है जिसे बुद्ध भी नहीं पलट सकते। चाहे तथागत उत्पन्न हों या नहीं, यह तो सदा अविचल ही रहेगा। इसलिये :

"सब्बे संखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया[1] ॥

'सभी संस्कार अनित्य हैं, यह जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःख से निर्वेद को प्राप्त करता है—यही विशुद्धि का मार्ग है'

"सब्बे संखारा दुक्खाति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया।"[2]

'सभी संस्कार दुःख हैं'—यह जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद को प्राप्त करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।

"सब्बे धम्मा अनत्ताति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया[3] ॥"

(सभी धर्म अनात्म हैं, यह जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद को प्राप्त करता है—यही विशुद्धि का मार्ग है।

इसीलिए तो—

"मैं सब धर्मों में निर्लेप हूँ, सर्वत्यागी हूँ,
तृष्णा के क्षय होने से विमुक्त हूँ[4]"

"भिक्षुओ! जितने भी दिव्य और मानुष पाश हैं, मैं उन सब से मुक्त हूँ। तुम भी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त होओ"[5]

यही तो अनात्मवाद है।

(१,२,३) धम्मपद २०।५।७
(४) संयुत्त० ४।१।४; बुद्धचर्या पृष्ठ २९
(५) विनय पिटक—महावग्ग १, बुद्धचर्या, पृष्ठ २१

८—मनोवैज्ञानिक आचारतत्त्व अथवा समग्र आन्तरिक और बाह्य जगत् के मूल उपादान-स्वरूप 'चित्त' 'चेतसिक' और 'रूप' की 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्ममयी व्याख्या।

बौद्ध धर्म का रूप मनोवैज्ञानिक है। धर्म मनोविज्ञान बनकर बौद्ध धर्म-साधना में आया है, यह उसकी एक बड़ी विशेषता है। प्राचीन वैदिक धर्म बाह्य-परक था, उसमें देवताओं की उपासना थी, जिनका स्वरूप अपने प्रारम्भिक रूप में प्रकृति की शक्तियों के प्रतीक-रूप में था। बाद में प्रकृति का नियन्त्रण ही वहाँ मानव का प्रथम उद्देश्य था। उसके बाद उपनिषदों में अन्दर की खोज प्रारम्भ हुई। उसी परम्परा का प्रवर्तन हमें बुद्ध के विचार में मिलता है। परन्तु उपनिषदों में जब कि गवेषणा का स्वरूप तात्त्विक है, भगवान् बुद्ध ने मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व का विश्लेषण मानवीय दृष्टिकोण से किया है। उपनिषदें परम सत्य की खोज करती हैं और बुद्ध-शासन में मनुष्य के चित्त और चेतसिक शक्तियों की खोज इस उद्देश्य से की गई है कि वे कहाँ तक मनुष्य की विमुक्ति में सहायक हैं। इसी अर्थ में हम उपनिषदों के मनोविज्ञान को तात्त्विक और बौद्धमनोविज्ञान को मानवीय कहते हैं। संश्लेषणात्मक दृष्टि दोनों में प्रायः समान है।

बौद्ध धर्म का मनोवैज्ञानिक रूप

भगवान् बुद्ध का यह एक अत्यन्त महान् कार्य माना गया है कि उन्होंने चित्त और चेतसिक धर्मों का विश्लेषण किया है। 'मिलिन्द पञ्हो' में भदन्त नागसेन ने राजा मिलिन्द से कहा है, "महाराज! भगवान् ने एक दुष्कर कार्य किया है।" "भन्ते नागसेन! भगवान् ने क्या दुष्कर कार्य किया है?" "महाराज! भगवान् ने अ-रूप चित्त-चेतसिक धर्मों के सम्बन्ध में, जो एक ही आलम्बन में विद्यमान रहते हैं, अलग-अलग विश्लेषण कर यह दिखाया है, यह स्पर्श है, यह वेदना है, यह संज्ञा है, यह चेतना है। महाराज! भगवान् ने यह दुष्कर कार्य किया है[1]।" निश्चयतः मनोविज्ञान बौद्ध दर्शन का एक

बौद्ध मनोविज्ञान मानवीय है

(१) दुक्करं महाराज भगवता कतंति। किं भन्ते नागसेन भगवता दुक्करं कतं ति। दुक्करं महाराज भगवता कतं यं अरूपीनं चित्तचेतसिकानं धम्मानं एकारम्मणे वत्तमानानं ववत्थानं अक्खातं, अयं फस्सो, अयं वेदना, अयं सञ्ञा, अयं चेतना, इदं चित्तं ति। मिलिन्द पञ्हो।

अलंकार है और उसका अध्ययन वहां मानव की मुक्ति के लिये किया गया है, जैसा हम अभी कह चुके हैं।

एक अत्यन्त गूढ़ और विस्तृत विषय

चित्त को भगवान् ने सब से अधिक सूक्ष्म तत्त्व माना है[1]। चित्त और चेतसिक धर्मों का विश्लेषण वस्तुतः सम्पूर्ण अभिधम्म-पिटक का विषय है और उसमें पूर्ण रूप से यहाँ नहीं जाना जा सकता। 'धम्म-संगणि' में मानसिक और भौतिक जगत् की अवस्थाओं का संकलन किया गया है और बाहर और भीतर के सारे जगत् की नैतिक व्याख्या की गई है। नैतिक व्याख्या से तात्पर्य है कर्म के शुभ (कुशल) अशुभ (अकुशल) और इन दोनों से व्यतिरिक्त एवं अव्याख्येय (अव्याकृत) विपाकों के रूप में व्याख्या। २२ 'तिकों' और १०० 'दुकों' के वर्गीकरण द्वारा चित्त और चित्त की अवस्थाओं का वर्गीकरण यहाँ किया गया है, जिसका सूक्ष्मतम निर्देश करना भी यहाँ असम्भव है। 'धम्म संगणि' के अनुसार चित्त की चार भूमियाँ हैं, जिन पर अग्रसर होता हुआ चित्त इस बहिर्जगत् की चंचलताओं से ऊपर उठ कर निर्वाण की ओर अभिमुख होता है। इन चार भूमियों के नाम हैं कामावचर-भूमि, रूपावचर भूमि, अरूपावचर भूमि और लोकोत्तर-भूमि[2]। 'धम्म-संगणि' में चित्त और चेतसिक धर्मों का जो विश्लेषण किया गया है उसका ही विस्तृत विवेचन प्रायः अभिधम्म-पिटक के अन्य ग्रन्थों में किया गया है और उस सबका संक्षेप हमें 'अभिधम्मत्थ संगह' नामक ग्रन्थ में मिलता है जो बौद्ध मनोविज्ञान की पाठ्य-पुस्तक कहा जा सकता है। बौद्ध मनोविज्ञान एक अत्यन्त विस्तृत विषय है। अभिधम्म-साहित्य का विश्लेषण करते समय इस लेखक ने इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है[3]। अंग्रेजी में पूज्य भिक्षु जगदीश काश्यप-कृत 'अभिधम्म-फिलॉसफी' (दो भाग) इस विषय पर एक अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण रचना है। महास्थविर ज्ञानातिलोक-कृत 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म-पिटक' भी अपने विषय की अपूर्व रचना है और बौद्ध मनोविज्ञान पर काफी प्रकाश डालती है। श्रीमती

---

(१) 'नाहं भिक्खवे अञ्ञं एक धम्मंपि समनुपस्सामि एवं लहुपरिवत्तं यथयिदं भिक्खवे चित्तंति'। अंगुत्तर-निकाय, एकक निपात।

(२) चित्त की इन चार भूमियों के विस्तृत विवरण के लिये देखिये भरत सिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३७४-३७५

(३) देखिये पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३३४-४६४

रायस डेविडस् के धम्मसंगणि-अंग्रेजी-अनुवाद (ए बुद्धिस्ट मेनुअल ऑव साइकोलोजीकल एथिक्स) की विस्तृत भूमिका भी विद्वत्तापूर्ण ढंग से लिखी गई है। इसी प्रकार अनागारिक बी० गोविन्द के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ 'दि साइकोलोजीकल एटीट्यूड ऑव दि अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफी' की भी प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते, जिन्होंने इस ग्रन्थ में बौद्ध मनोविज्ञान के दुरूह तत्त्वों को सफलतापूर्वक समझाने का प्रयत्न किया है। जो विषय इतना गूढ़ और विस्तृत है उसकी कुछ मोटी रूप-रेखा का ही संक्षिप्ततम उल्लेख हम यहाँ कर सकेंगे।

कर्म का चेतनामय स्वरूप

मनुष्य कर्म के ही उत्तराधिकारी हैं (कम्मदायाद), कर्म ही उनका यहाँ अपना है (कम्मस्सक), कर्म ही उनके उद्भव का कारण है (कम्मयोनि) और कर्म ही उनका अंतिम प्रतिशरण है (कम्मपटिसरण) है, ऐसा भगवान् बुद्ध ने सिखाया। किन्तु 'कर्म' की व्याख्या उनकी अत्यन्त व्यापक थी। उन्होंने समग्र चेतना को ही 'कर्म' कहा[1] और उनके बाद के अनुयायी चेतनाद्वैतवादियों (विज्ञानवादियों) ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'चित्त' को छोड़ 'कर्म' और कुछ है ही नहीं[2]। किन्तु अभी तो हमें बुद्ध-विचार को ही देखना है। तथागत ने कुछ-कुछ औपनिषद परम्परा के अनुकूल ही व्यावहारिक विशुद्ध नीतिवाद के लिए कर्म के मानसिक स्वरूप पर जोर दिया और उसे तात्विक दृष्टि से भी प्रख्यापित किया, 'चेतना ही भिक्षुओ कर्म है, ऐसा मैं कहता हूँ, चेतना के द्वारा ही कर्म को करता है, काया से, वाणी से या मन से[3]। इन संक्षिप्त शब्दों में 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन के मनोवैज्ञानिक आचार तत्व का सारा तत्व समाया हुआ है। सभी बाह्य और आध्यात्मिक सृष्टि के मूल उपादान स्वरूप पंचस्कन्धों अर्थात् 'रूप', 'वेदना', संज्ञा', 'संस्कार', और 'विज्ञान' का विवेचन और स्वरूप-प्रदर्शन हम

---

(१) चेतनाहं भिक्खवे कम्मं ति वदामि। चेतयित्वा हि कम्मं करोति कायेन वाचाय मनसा वा। अंगुत्तरनिकाय।

(२) सत्वलोकमथ भाजनोलोकं चित्तमेव रचयत्यतिचित्रम्। कर्मजं हि जगदुक्तमशेषं कर्म चित्तमवधूय च नास्ति। बोधिचर्यावतार-पञ्जिका, पृष्ठ ९९, ४७२।

(३) देखिए पदसंकेत १ ऊपर; मिलाइये 'मनो पुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया' आदि धम्मपद की प्रथम गाथा।

पहले कर आए हैं (अनात्मवाद के विवेचन में), अतः उसके पिष्टपेषण की यहाँ आवश्यकता नहीं । फिर यह विभाजन तो 'सुत्त पिटक' का है जो व्यवहार भाषा में बोलती है। अभिधर्म पिटक इन्हीं का विभागीकरण 'चित्त', चेतसिक', और 'रूप' इन तीन विभागों में करती है जो अधिक तात्विक अथवा मनोवैज्ञानिक है। 'धम्मसंगणि' इन्हीं तीन धर्मों का फिर विभाजन 'कुशल', 'अकुशल' और अव्याकृत' धर्मों में करती है जो कि नैतिक दष्टि से है। यही बौद्ध मनोवैज्ञानिक नीतिवाद अथवा आचार तत्व का सर्वोत्तम तत्व और रहस्य है।

'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चित्त

'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन में चार प्रकार के पदार्थ माने गए हैं, यथा चित्त, चेतसिक, रूप और निर्वाण [1]। 'निर्वाण अच्युत पद', 'अत्यन्त', 'असंस्कृत' 'अनुत्तर', 'परम सुख' कहा गया है जो प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थों से अव्यतिरिक्त है और जिसका निर्देश हम अलग करेंगे भी। अतः यहाँ विचारणीय केवल 'चित्त' 'चेतसिक' और 'रूप' ही हैं। मनुष्य जिन किन्हीं भी प्रवृत्तियों को लेकर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, फिर चाहे वह शुभ हो या अशुभ, बौद्ध दर्शन के अनुसार इन छः भागों में बाँटी जा सकती है, यथा, लोभ, द्वेष, मोह, अलोभ, (परोपकार वृत्ति) अद्वेष (हितचिन्ता) और अमोह (प्रज्ञा)। इनमें लोभ, द्वेष और मोह ये तीन तो 'अकुशल-मूल' अर्थात् सब बुरे कर्मों की जड़ हैं और 'अ-लोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' जो निषेधात्मक न होकर भावात्मक गुण हैं, कहलाती हैं 'कुशल मूल' अर्थात् ये सब शुभकर्मों की जड़ हैं। यही प्रवृत्तियाँ 'अभिधम्म' में 'हेतु' की संज्ञा ग्रहण करती हैं। जो चित्त, मन अथवा बुद्धि (बौद्ध अर्थों में ये प्रायः समानार्थवाची हैं) किसी 'हेतु' से युक्त हैं उन्हें 'सहेतुक' चित्त कहते हैं; जो नहीं हैं, उन्हें 'अहेतुक' चित्त कहते हैं। पुनः 'सहेतुक' चित्त भी तीन प्रकार के होते हैं, यथा, 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत'। 'अलोभ, 'अद्वेष' और 'अमोह' से प्रवृत्त होकर हम जब कोई काम करते हैं तब हम 'कुशल चित्त' में होते हैं, और इसी प्रकार 'लोभ, 'द्वेष' और 'मोह' से प्रवृत होकर जो काम होते हैं, वे सभी 'अकुशल चित्त' हैं। अव्याकृत-सहेतुक चित्त दो प्रकार का होता है, यथा, 'विपाक' और 'क्रिया'। 'कुशल' या 'अकुशल' कर्मों या चित्तों के जो संस्कार रह जाते हैं, वे ही 'विपाक चित्त' कहलाते

---

(१) तत्थ वुत्थाभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो । चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा । अभिधम्मत्थसंगहो ।

हैं। पुनर्भव अर्थात् जन्म से जन्मान्तर में चित्त की संतति का प्रवाह इसी 'विपाक चित्त' के कारण होता है। 'विपाक चित्त' अव्याकृत इसलिए है कि पहले कृत कर्म का फल होने के कारण न इसे 'कुशल' ही कह सकते हैं और न 'अकुशल' ही। 'क्रिया-सहेतुक चित्त' वह चित्त है जिसमें यद्यपि 'अलोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' यह तीन प्रवृत्तियाँ विद्यमान तो रहती हैं किन्तु तृष्णा के क्षय के कारण उनका 'विपाक' नहीं होता अर्थात् वे पुनर्जन्म के लिए कारण स्वरूप नहीं बनतीं। 'क्रिया-सहेतुक-चित्त' अर्हत् का ही हो सकता है। वह चाहे 'अलोभ', 'अद्वेष' और 'अमोह' के कारण कुछ कुशल कर्म सम्पादन भी करे, किन्तु अनासक्त होने के कारण उसका सब कर्म केवल क्रिया मात्र ही रह जाता है। (कुर्वन्नपि न लिप्यते—लिप्यते न स पापेन—तस्य कर्मापि अकर्म सम्पद्यते—ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते. . .स्मर्तव्य)। उनका 'विपाक' संचित नहीं होता, पुनर्जन्म तो हो ही कैसे सकता है (भिद्यते हृदयग्रन्थिः-स्मरणीय)। इस प्रकार यह चित्त' की 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्म-मयी संक्षिप्त व्याख्या है।

बावन चेतसिकधर्म— उनका विश्लेषण और नैतिक व्याख्यान

अब चेतसिकों अथवा चित्त के धर्मों या प्रकारों पर आते हैं। ये संख्या में ५२ अभिधर्मपिटक में गिनाए गए हैं और चित्त के साथ ही ये उत्पन्न और निरुद्ध होते रहते हैं[१] इन ५२ चेतसिक धर्मों को तीन श्रेणियों में बाँट कर अभिधर्म में दिखाया गया है, यथा 'अन्य समान' नाम से तेरह चेतसिक, 'अकुशल' नाम से चौदह चेतसिक और 'शोभन' नाम से पच्चीस चेतसिक, इस प्रकार बावन चेतसिक धर्म हैं[२]। अब इनका भी कुछ विश्लेषण करें। पहले १३ 'अन्य-समान' चेतसिक धर्मों को लें। 'अन्य-समान' से क्या तात्पर्य है? चित्त दो प्रकार के होते हैं 'शोभन' और 'अशोभन' (इस प्रकार के चित्त के विभाजन में हम आगे कहेंगे)। जब कोई

---

(१) एकुप्पाद-निरोधा च एकालम्बनवत्थुका। चेतोयुत्ता द्विपंचासा धम्मा चेतसिका मता। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्डो। (एक साथ उत्पन्न और निरुद्ध होनेवाले, एक ही विषय (आलम्बन) और इन्द्रिय (वस्तु) वाले, ५२ चित्त के धर्मों को 'चेतसिक' कहते हैं।)

(२) तेरसञ्ञासमाना च चुदस्सा कुसला तथा। सोभना पञ्चवीसाति द्विपञ्चास पवुच्चरे। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्डो।

'चेतसिक' 'शोभन' चित्त से युक्त होता है तब 'अशोभन' से वह अन्य होता है और जब 'अशोभन' से युक्त होता है तब 'शोभन' से अन्य होता है। इसीलिए इसे 'अन्य-समान' कहते हैं। इस 'अन्य-समान' चेतसिक का द्विविध विभाजन है, यथा 'साधारण' चेतसिक और 'प्रकीर्ण' चेतसिक। 'साधारण' चेतसिक धर्म वे हैं जो सभी चित्त में साधारण रूप से रहते हैं और ये संख्या में सात हैं—(१) स्पर्श, (२) वेदना, (३) संज्ञा, (४) चेतना, (५) एकाग्रता, (६) जीवितेन्द्रिय और (७) मनसिकार[1]। प्रकीर्ण चेतसिक धर्म वे हैं जो जब कभी होने वाले हैं। ये संख्या में छः हैं यथा—(१) वितर्क, (२) विचार, (३) अधिमोक्ष, (४) वीर्य, (५) प्रीति और (६) छन्द[2]। इन उपर्युक्त चेतसिक धर्मों से तात्पर्य क्या है? विषयों को स्पर्श करनेवाले चेतसिक को स्पर्श, विषयों के स्वाद भोगनेवाले को वेदना, विषयों के स्वभाव को ग्रहण करने वाले को संज्ञा, प्राप्त धर्मों को विषयों में प्रेरणा करनेवाले को चेतना, विषय में स्थिर करनेवाले को एकाग्रता, प्राप्त धर्मों के प्राण होकर उनकी रक्षा करने वाले को मनसिकार कहते हैं[3]। इसी प्रकार 'विषय में चिंतन करनेवाले (चेतसिक) को वितर्क, विषयों पर बार बार सोचनेवाले को विचार, विषयों में प्रवेश कर निश्चय करनेवाले को अधिमोक्ष, उत्पन्न धर्मों में उत्साह करनेवाले को वीर्य, विषयों में आनन्द करनेवाले को प्रीति, और विषयों को करना चाहनेवाले चेतसिकों को छंद कहते हैं'।[4] अब हम पूर्वोक्त चौदह 'अकुशल' चेतसिकों पर आते हैं। ये इस प्रकार हैं—मोह, अह्री, अनत्रपा, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि (विपरीत दृष्टि), मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य (पश्चात्तापकारी), स्त्यान (मन को भारी करने वाला), मृद्ध (चेतसिकों को भारी करनेवाला) तथा विचिकित्सा[5]। सभी नाम

(१) फस्सो वेदना सञ्ञा चेतना एकग्गता जीवितिन्द्रियं मनसिकारो चेति सत्ति मे चेतसिका सब्बचित्तसाधारणा नाम। अभिधम्मत्थसंगहो, चेतसिक कण्डो।

(२) वितक्को विचारो अधिमोक्खो वीरियं पीति छन्दो चेति छयिमे चेतसिका पकण्णिका नाम। उपर्युक्त के समान ही।

(३) भिक्षु धर्मरक्षित संबोधि : अभिधमत्थ संगहो का हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ २४, पदसंकेत १

(४) उपर्युक्त के समान ही।

(५) मोहो अहिरीकं अनोत्तप्पं उद्धच्चं लोभो दिट्ठि मानो दोसो इस्सा मच्छरियं कुक्कुच्चं थिनं मिद्धं विचिकिच्छा चेति चुद्दसि मे चेतसिका अकुसला नाम। अभिधम्मत्थ संगहो।

प्रायः स्वतः व्याख्यात हैं अतः इनके व्याख्यान की यहाँ आवश्यकता नहीं। तो फिर 'अकुशल' चित्त के संयोग से होनेवाले 'अकुशल' चेतसिकों को छोड़ अब हम पूर्वोक्त 'शोभन' चेतसिकों के विश्लेषण पर आते हैं जो 'शोभन' चित्तों के साथ मिलनेवाले होते हैं और जो संख्या में २५ हैं, यथा (१) श्रद्धा, (२) स्मृति, (३) ह्री, (४) अपत्रपा (पापों से भय करना), (५) अलोभ, (६) अद्वेष, (७) तत्रमध्यस्थता (विषय में उपेक्षा करना), (८) कायप्रश्रब्धि (चेतसिकों का शान्त होना), (९) चित्त प्रश्रब्धि (चित्तों का शान्त होना), (१०) कायलघुता (चेतसिकों का लघुत्व), (११) चित्तलघुता (चित्त का लघुत्व), (१२) कायमृदुता (चेतसिकों का नम्रत्व), (१३) चित्त मृदुता, (१४) कायकर्मण्यता (चेतसिकों की काम में योग्यता—'कर्मसु कौशलम्) ,(१५), चित्त कर्मण्यता, (१६) कायप्रागुण्य (चेतसिकों का समर्थ भाव), (१७) चित्त प्रागुण्य, (१८) कायऋजुता (चेतसिकों की ऋजुता), (१९) चित्तऋजुता, (२०) सम्यक् वाणी, (२१) सम्यक् कर्मान्त, (२२) सम्यक् आजीव– जिनको तीन विरतियाँ भी कहा गया है । अभिधम्मत्व संगहो में ये पूर्वोक्त तीन नामों से, किन्तु 'धम्मसंगणि' में 'विरति' नाम से ही गिनाएं गए हैं, बात एक ही है विधि रूप से कहें या निषेधात्मक रूप से, (२३) करुणा, (२४) मुदिता और (२५) अमोह (प्रज्ञा)[१] । इस प्रकार ५२ चेतसिकधर्म और उनकी 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' कर्ममयी यह व्याख्या समाप्त हुई। किन्तु यह सब तो दिग्दर्शन मात्र है और इसीलिए बहुत कुछ अस्पष्ट भी। अभी तो हमने केवल 'सहेतुक' 'चित्त' के इन तीन प्रकारों अर्थात् 'कुशल', 'अकुशल' और 'अव्याकृत' चित्त के ही कुछ कार्य और उसके किंचित् संबंध को उपर्युक्त ५२ चेतसिक धर्मों के साथ देखा। किन्तु जिस गहनता और मनोवैज्ञानिक

---

(१) सद्धा सति हिरी ओत्तप्पं अलोभो अदोसो तत्र मज्झत्तता कायप्पस्सद्धि, चित्तप्पस्सद्धि कायलहुता चित्तलहुता कायमुदुता चित्तमदुता कायकम्मञ्ञता, चित्तकम्मञ्ञता, कायपागुञ्ञता, चित्तपागुञ्ञता, कायुजुकता, चित्तुजुकता, चेति एकूनवीसति मे चेतसिका सोभन साधारणा नाम। अभिधम्मत्य संगहो, चेतसिक कण्डो। तथा 'सम्मा वाचा सम्मा कम्मन्तो सम्मा आजीवो चेति तिस्सो विरतियो नाम' । एवं 'करुणामुदिता अप्पमञ्ञायो नामाति सब्बथापि पञ्ञिन्द्रियेन सद्धि पञ्चवीसति मे चेतसिका सोभनाति वेदितब्बाति । अभिधम्मत्य संगहो, चेतसिक कण्डो ।

सूक्ष्मता एवं अन्तर्दृष्टि के साथ इसका विश्लेषण और व्याख्यान अभिधर्म पिटक में किया गया है उसकी तो यह एक प्रतिच्छाया भी नहीं है। कहाँ चित्त के चार प्रकार (कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर)? कहाँ फिर उनमें भी 'कामावचर' चित्त के ५४ प्रकार? फिर उनकी व्याख्या और उसमें भी यह निर्णय कि इनमें से १२ अकुशल चित्त, जिनमें से भी कि (८ लोभमूलक,[१] २ द्वेषमूलक[२] और २ मोह मूलक)[३]; १८ अहेतुक चित्त, (जिनका वर्गीकरण भी फिर ७ अकुशल विपाक[४] आठ कुशल विपाक[५] और ३ अहेतुक क्रिय चित्तों में[६] किया गया है। और २४ सहेतुक चित्त

(१) तत्थ कतमं कामावचरं ? सोमनस्स सहगतं दिट्ठिगत सम्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, सोमनस्स सहगतं दिट्ठिगत विप्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, सोमनस्ससहगतं दिट्ठिगतसम्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, सोमनस्स सहगतं दिट्ठिगतविप्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, उपेक्खा सहगतं दिट्ठिगत विप्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकन्ति, इमानि अट्ठपि लोभसहगत चित्तानि नाम।

(२) दोमनस्स सहगतं पतिघ सम्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकन्ति। इमानि द्वेपि पटिघसम्पयुत्तचित्तानि नाम।

(३) उपेक्खा सहगतं विचिकिच्छा सम्पयुत्तमेकं, उपेक्खा सहगतं उद्धच्च-सम्पयुत्तमेकन्ति, इमानि द्वेपि मोह सम्पयुत्त चित्तानि नाम।

(४) उपेक्खा सहगतं चक्खुविञ्ञाणं तथा सोतविञ्ञाणं, घाणविञ्ञाणं, जिह्वाविञ्ञाणं, दुक्ख सहगतं काय विञ्ञाणं, उपेक्खा सहगतं सम्पतिच्छनचित्तं, उपेक्खा सहगतं सन्तीरण चित्तञ्चेति, इमानि सत्तपि अकुसलविपाक चित्तानि नाम।

(५) उपेक्खासहगतं कुसलविपाकंचक्खुविञ्ञाणं, तथा सोतविञ्ञाणं, घाण-विञ्ञाणं, जिह्वा विञ्ञाणं, सुख सहगतं काय विञ्ञाणं, उपेक्खा सहगतं सम्पतिच्छनचित्तं, सोमनस्स सहगतं सन्तीरण चित्तं, उपेक्खा-सहगतं सन्तीरण चित्तञ्चेति, इमानि अट्ठपि कुसल विपाका हेतुकचित्तानि नाम।

(६) उपेक्खा सहगतं पञ्चद्वारावज्जनचित्तं, तथा मनोद्वारावज्जनचित्तं, सोमनस्ससहगतं हसितुप्पादचित्तञ्चेति, इमानि तीनिपि अहेतुक-क्रियचित्तानि नाम।

(जिनमें भी फिर वेदना, ज्ञान, संस्कार के भेद से वर्गीकरण)[१]। इतना ही क्यों, इन्हीं काम लोक में होनेवाले चित्तों में फिर २३ 'विपाक चित्त' २० 'कुशल' और 'अकुशल' एवं ११ क्रिया चित्त, ऐसा विभाजन[२]। ऊपर निर्दिष्ट द्वितीय चित्त अर्थात् 'रूपावचर' चित्त के भी फिर १५ प्रकार! (जिनमें कि ५ 'कुशल' चित्त[३], ५ 'विपाक' चित्त[४] और पांच क्रिया चित्त[५]। तृतीय चित्त

---

(१) यथा (१) कुशल (२) विपाक और (३) क्रिया चित्त के रूप में, प्रत्येक संख्या में ८ ही।

(अ) सहेतुक-कामावचर-कुशल चित्त, यथा, सोमनस्ससहगतं ञ्जानसम्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, सोमनस्ससहगतं ञ्जाण विप्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, उपेक्खासहगतं ञ्जानसम्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकं, उपेक्खासहगतं ञ्जानविप्पयुत्तं असंखारिकमेकं, ससंखारिकमेकन्ति, इमानि अट्ठपि कामावचर कुशल चित्तानि नाम।

(आ) सहेतुक कामावचर विपाक चित्त, यथा, उपर्युक्त ही आठ 'विपाक चित्त भी हैं।

(इ) सहेतुक कामावचर क्रिया चित्त, यथा, उपर्युक्त ही आठ 'क्रिया' चित्त भी हैं।

(२) कामे ते वीस पाकानि। पुञ्ञा-पुञ्ञानि वीसति। एकादस क्रिया चेति। चतुप्पञ्ञास सब्बथा।

(३) वितक्क विचार पीति सुखेकग्गता सहितं पथमज्झान कुसल चित्तं, विचार-पीति सुखेकग्गता-सहितं दुतीयज्झान कुसल चित्तं, पीति सुखेकग्गता सहितं ततीयज्झानकुशल चित्तं, सुखेकग्गता सहितं चतुत्थज्झान-कुसल चित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झान-कुसल-चित्तञ्चेति, इमानि पञ्चपि रूपावचर कुसल चित्तानि नाम।

(४) वितक्क विचार पीति सुखेकग्गता सहितं पथमज्झान विपाक चित्तं, विचारपीति सुखे-कग्गता-सहितं दुतीयज्झान विपाक चित्तं, पीति सुखेकग्गतासहितं ततीयज्झान विपाक चित्तं, सुखेकग्गता सहितं चतुत्थज्झान विपाक चित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानविपाक चित्तञ्चेति, इमानि पञ्चपि रूपावचर विपाक चित्तानि नाम।

(५) उपर्युक्त के समान ही।

अर्थात् 'अरूपावचर' के भी फिर बारह विभागों का निरूपण। जिसमें कि चार 'कुशल चित्त',[1] चार विपाक चित्त[2] और चार क्रिया चित्त[3] ऐसे सूक्ष्म विभाग किए गए। अन्त में चतुर्थ चित्त 'लोकोत्तर' चित्त के भी ८ प्रकार (जिनमें से चार 'कुशल' चित्त[4] और चार विपाक चित्त[5])। इस प्रकार कुल ५४ कामावचर, १५ रूपावचर, १२ अरूपावचर और ८ लोकोत्तर चित्तों अर्थात् कुल ८९ चित्त के प्रकारों की परिभाषायें, व्याख्यायें और विस्तृततम अर्थ में 'कर्म' के स्वरूप के साथ उनका उनका स्वरूप-निर्णय। इतना ही क्यों, चित्त के प्रकारों की संख्या का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण के साथ १२१ तक परिवर्द्धन ! सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, ससांस्कारिक, असांस्कारिक आदि का फिर उनके साथ संबंध-विनिर्णय, इतना ही नहीं पूर्व निर्दिष्ट ५२ चेतसिक धर्मों का भी इन चित्त के प्रकारों के साथ संबंध का विनिर्णय। इस सूक्ष्मता, इस विश्लेण-प्रियता, इस गहनता की कोई तुलना ही नहीं है। निश्चय ही मनोविज्ञानिक आचारतत्व 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन की भारतीय विचार को एक अन्यतम देन है जिसके लिए मनोविज्ञान सम्बंधी विश्व में इतना अध्ययन होने के पश्चात् भी हम अनेक बातों में ऋणी हो सकते हैं और प्रकाश पा सकते हैं। दुःख है कि 'अभिधर्म' को पढ़ने और पढ़ानेवाले भारत में बहुत कम हैं। किन्तु फिर भी उज्जलतम ज्ञान तो वहां चमक ही

---

(१) आकासानञ्चायतन कुसलचित्तं, विञ्ञानानञ्चायतन कुसलचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतन-कुसल चित्तं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतन कुसल चित्तञ्चेति, इमानि चत्तारिपि अरूपावचर कुसल चित्तानि नाम।

(२) उपर्युक्त के समान ही 'विपाक' चित्त भी।

(३) उपर्युक्त के समान ही 'क्रिया' चित्त भी।

(४) सोतापत्ति मग्ग चित्तं, सकदागामिमग्ग चित्तं, अनागामिमग्गचित्तं, अरहत्तमग्गचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि लोकुत्तर कुसल चित्तानि नाम।

(५) सोतापत्ति फल चित्तं, सकदागामि फल चित्तं, अनागामि फल चित्तं, अरहत्त फल चित्तञ्चेति इमानि चत्तारिपि लोकुत्तर विपाक चित्तानि नाम। अभिधम्मत्थ संगहो।

रहा है। आवश्यकता है हमें अभी अपने देश में अनेक 'कोसम्बियों'[१] की जो अभिधर्म के रहस्यों को समझने के लिए कठिन तपश्चर्या कर सकें और साथ ही आवश्यकता है कुछ 'कस्सपों'[२] की भी जो यदि समग्र अभिधर्म को सुवर्ण-पत्रों पर अंकित न करवा सकें तो कम-से-कम उन्हें नागराक्षरों में कागज-पत्रों पर तो ला ही दें। किन्तु यह सब तो अप्रासंगिक! 'मौलिक्य' बौद्ध दर्शन का मनोवैज्ञानिक विधान और उसके प्रकाश में उसकी आचारतत्व की व्याख्या निश्चय ही अत्यन्त अनूठी है जिसके समग्र विवेचन में कोई बिना एक स्वतंत्र ग्रन्थ की ही सृष्टि किए नहीं जा सकता। हमने ऊपर चित्त और चेतसिकों का तो कुछ निर्देशन कर ही दिया है, अब 'रूप' के विषय में कुछ संक्षिप्त कह इस विषय का किञ्चित् दिग्दर्शन करेंगे। 'रूप' से तात्पर्य, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, भौतिक पदार्थों के समग्र रूप से है।

बौद्ध दर्शन ने 'नाम' और 'रूप' के महत्व और सम्बन्ध को भली प्रकार समझा है। चार महाभूत और उन पर आधारित सृष्टि क्रम सभी 'रूप' के अन्दर है। कर्म की दृष्टि से 'रूप' 'अव्याकृत' है, अर्थात् न 'कुशल' है और न 'अकुशल'। जितना भी चार महाभूतों का रचा व्यवहार है वह 'अहेतुक' है अर्थात् उसके अन्दर लोभ, द्वेष, मोह, अथवा अलोभ, अद्वेष, अमोह की प्रवृत्तियाँ नहीं हैं (देखिए पहले 'हेतु' की व्याख्या) जिनके कारण वह किसी भले या बुरे कार्य में प्रवृत्त हो सके। वह जड़ है और प्रतीत्यसमुत्पन्न है। मानसिक संस्कृति से वह अभिभूत नहीं किया जा सकता, वह क्षणिक है और मन के बन्धनों और संयोजनों को करनेवाला है। 'धम्मसंगणि' में 'रूप' के दो भेद किए गए हैं,

'रूप' और उसकी नैतिक व्याख्या

---

(१) आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी हमारे देश के आधुनिक युग में 'अभिधर्म पिटक' के सम्भवतः सबसे प्रम अध्येता और उच्चकोटि के विद्वान् हुए हैं। देखिए उनकी अभिधम्मत्थ संगहो पर 'नवनीत टीका'।

(२) लंकाधिराज कस्सप पञ्चम (९२९ ई०) जिसने समग्र अभिधर्म पिटक को सोने के पत्रों पर खुदवाया और 'धम्म संगणि' में विशेषतः बहुमूल्य रत्न जड़वाए। देखिए ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३ (केसियस ए-पेरीरा का प्राक्कथन)

यथा 'उपादा' अर्थात् रूप के वे विकास जो चार महाभूतों से ही उत्पन्न हैं और 'नो पादा' अर्थात् जो ऐसे नहीं हैं। प्रथम के उदाहरण स्वरूप शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि २३ धर्म या पदार्थ दिए गए हैं और 'नो उपादा' 'रूपों' में प्रधानतः गिनाए हैं चार महाभूत आदि। फिर जड़ और चेतन में, 'रूप' और 'नाम' में, ग्रन्थि भी पड़ती है। विपाक स्कन्ध से प्रेरित होकर जब चित्त-सन्तति मरणोपरान्त जन्मान्तर में प्रवाहित होती है तो वहाँ प्रथम क्षण में ही नाम-रूप का प्रादुर्भाव होता है, जो चित्त का आधार बनता है। फिर क्रमशः दूसरी इन्द्रियाँ भी विकसित होती हैं और फिर स्पर्श, वेदना, तृष्णा आदि का क्रम चलता है। इस प्रकार 'चित्त', 'चेतसिक' और रूप' की यह लघु व्याख्या समाप्त हुई, कर्म के साथ उनके संबंध की 'कुशल', 'अकुशल' और अव्याकृत' रूपों में किंचित् व्याख्या के सहित।

उपसंहार

वास्तव में यह एक सत्य है कि 'चेतना' की गहराई तक जितना बौद्ध अभिधर्म पहुँचा है उतने हमारे आधुनिक मनोविज्ञान के गवेषक भी नहीं पहुँचे हैं जो 'अन्तश्चेतना' को लेकर बड़ी बड़ी बातें कहनेवाले हैं। किन्तु इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में हम यहाँ प्रवृत्त न होकर केवल आधुनिक मनोविज्ञान के सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ विचारक प्रोफेसर चार्ल्स गस्टेव जंग के उन शब्दों का उद्धरण कर ही संतोष करते हैं जो उन्होंने बौद्ध मनोविज्ञान से प्रभावित होकर कहे हैं किन्तु जो वैसे सामान्य रूप से समग्र बौद्ध दर्शन के लिए ही सुप्रयुक्त हैं: 'एक तुलनात्मक धर्म के विद्यार्थी के नाते मैं विश्वास करता हूँ कि बौद्ध धर्म ही सबसे अधिक परिपूर्ण धर्म है जिसे संसार ने देखा है। बुद्ध का दर्शन, विकासवाद का सिद्धान्त, कर्म का नियम, ये किसी भी सिद्धान्त से बहुत अधिक श्रेष्ठ हैं।'[1] उनके चेतना-विज्ञान का तो कहना ही क्या?

९—कर्म और पुनर्जन्मवाद

कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त भारतीय दार्शनिक नय की सामान्य सम्पत्ति हैं। परन्तु भगवान् बुद्ध के लिए कर्म और पुनर्जन्म दार्शनिक सिद्धान्त मात्र न

(१) अंग्रेजी उद्धरण के लिए देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, केसियस ए पेरिरा का प्राक्कथन, पृष्ठ ४

बुद्ध-शासन में कर्म का स्वरूप और महत्व

थे। बोधि प्राप्त करते समय उन्होंने स्वयं अपने पुनर्जन्मों को स्मरण किया था और कर्म-संचालित प्राणियों को नाना योनियों में आते-जाते प्रत्यक्ष देखा था[1]। भगवान् बुद्ध को प्रति-समय प्राणियों के कर्मानुसार सुगति-दुर्गतियों में जाने का ज्ञान रहता था। वत्सगोत्र (वच्छगोत्त) नामक परिव्राजक से उन्होंने कहा था, "वत्स! मैं जब चाहता हूँ अपने अनेक पूर्वजन्मों को स्मरण कर सकता हूँ। शरीर और नाम के सहित अपने अनेक पूर्वजन्मों को मैं स्मरण करता हूँ। वत्स! मैं जब चाहता हूँ अ-मानुष, विशुद्ध, दिव्यचक्षु से, मरते, उत्पन्न होते, नीच, ऊँच सुवर्ण, दुर्वर्ण, सुगत, दुर्गत, कर्मानुसार गति को प्राप्त प्राणियों को जानता हूँ[2]।" इस प्रकार कर्मानुसार पुनर्जन्म की प्राप्ति का ज्ञान भगवान् बुद्ध के लिए एक स्वसंवेद्य अनुभव था। वे अपने को त्रैविद्य (तेविज्ज) अर्थात् तीन विद्याओं का जाननेवाला मानते थे और इन तीन विद्याओं में से दो विद्याओं का सम्बन्ध अपने और अन्य प्राणियों के कर्मानुसार पूर्वजन्मों के स्मरण से था। पारिभाषिक शब्दों में इन्हें पूर्वनिवासानुस्मृति और प्राणियों की उत्पत्ति और च्युति सम्बन्धी ज्ञान कहा गया है[3]। भगवान् बुद्ध के अनेक शिष्य-शिष्याओं को भी पूर्व-जन्म सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त था। 'तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता', (तीनों विद्यायें प्राप्त कर लीं),' तिस्सो विज्जा सच्छिकता' (तीनों विद्यायें साक्षात्कार कर लीं), ऐसे अनेक उद्‌गार 'थेरीगाथा' में भिक्षुणियों ने किये हैं। भिक्षुणी ऋषिदासी (इसिदासी) ने 'थेरीगाथा' में अपने पूर्वजन्मों का जो वर्णन किया है[4], वह तो अत्यन्त मार्मिक ही है। आर्य महाकाश्यप और धर्मसेनापति सारिपुत्र जैसे भगवान् के महाप्रज्ञ शिष्य पूर्व-जन्म सम्बन्धी ज्ञान से

---

(१) देखिये विनय-पिटक—महावग्ग; बोधिराजकुमार-सुत्तन्त (मज्झिम० २।४।५) वेरंजक ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)। मिलाइये पोतलिय-सुत्त (मज्झिम० २।१।४)

(२) तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

(३) तीसरी विद्या थी आस्रवों के क्षय से आस्रव-रहित चित्त की विमुक्ति। देखिये तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त (मज्झिम० १।३।१)

(४) देखिये गाथाएँ ४००-४४७

सम्पन्न थे। यह एक अनुभव था, जो उन्हें अन्तर्ज्ञान के परिणामस्वरूप प्राप्त था।

हेतु और प्रत्ययों से संचालित भव-प्रवाह में भगवान् ने 'कम्म' (कर्म) को ही सम्पूर्ण भौतिक और मानसिक व्यापारों का नियामक तत्व पाया था। यही वह 'गहकारक' (गृहकारक) था जिसे उन्होंने बोधि प्राप्त करते समय देखा था। "हे गृहकारक! तुम्हें देख लिया! अब तू घर नहीं बना सकेगा[1]।" यह 'कम्म' के लिये ही कहा गया था। ईश्वरवादी दर्शनों में जो स्थान ईश्वर का है वही स्थान बुद्ध-दर्शन में कर्म ने ले लिया है। परम तत्व के विषय में भगवान् का मौन है, वह केवल इसलिए कि कर्म ही प्रधान है। ईश्वर को वे सृष्टिकर्ता नहीं मानते, वह केवल इसलिये कि दुःख की सृष्टि भी ईश्वर-कृत माननी पड़ेगी और फिर ईश्वर कारुणिक कैसे हो सकेगा? ईश्वर को दुःख का कर्ता या स्रष्टा मान लेने पर उसके प्रहाण के लिये पुरुषार्थ को पूर्ण अवकाश भी कैसे मिल सकेगा? दुःख के लिये इस प्रकार क्या मनुष्य ईश्वर को ही उत्तरदायी नहीं ठहरायेगा? उसकी स्वतंत्र संकल्प शक्ति का ह्रास हो जायगा। इसलिये पुरुषार्थ की अव्यर्थता के लिये यही कहना पड़ेगा कि 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' और यही भगवान् बुद्ध की भी दृष्टि थी। अपने कर्म के अनुसार ही प्राणी दुःख-सुख भोगते हैं, अतः विश्व की योजना में कर्म ही प्रधान है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। कोई प्राणी किसी दूसरे को दुःख-सुख का देने वाला नहीं है, सब अपने कर्म के अनुसार फल भोगते हैं। ईश्वर को या किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है। यह विचार द्वेष का प्रहाण करता है। कर्म का सिद्धान्त जीवन और जगत् की संगति बैठाता है, इसलिये वह प्रायः सब भारतीय दर्शनों को मान्य है।

जीवन में जो भयंकर विषमता दिखायी पड़ती है, उसका कारण क्या है, इसका उत्तर पूछा जाने पर भगवान् का केवल कहना था 'कम्म'। शुभ नामक माणवक (ब्राह्मण विद्यार्थी) ने भगवान् बुद्ध से एक बार पूछा था, "हे गोतम! क्या हेतु है, क्या प्रत्यय है कि मनुष्य ही होते मनुष्य रूपवालों में

(१) गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि। धम्मपद ११।९

हीनता और उत्तमता दिखायी पड़ती है ? हे गोतम ! यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने में आते हैं और दीर्घायु भी, बहुरोगी-अल्परोगी, कुरूप-रूपवान्, असमर्थ-समर्थ, दरिद्र-धनवान्, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान् मनुष्य यहां दिखायी पड़ते हैं। हे गोतम ! क्या कारण है कि यहाँ प्राणियों में इतनी हीनता और प्रणीतता (उत्तमता) दिखाई पड़ती है[१]।" इसका उत्तर जो भगवान् ने दिया वह बुद्ध-शासन में कर्म के स्थान को पूर्णतः विनिश्चित कर देता है। भगवान् का उत्तर था, "माणवक ! प्राणी कर्मस्वक (कर्म ही है अपना जिनका) हैं, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्मप्रतिशरण हैं। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है[२]।" इस प्रकार इन स्मरणीय शब्दों में भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि वे जीवन की विषमता का मूल कारण कर्म को मानते हैं। कर्म ही प्राणियों को हीन और उत्तम में बाँटता है। जिसका जैसा कर्म है, वैसा उसका फल है। कोई स्त्री या पुरुष, यदि वह प्राणातिपाती है, क्रोधी है, ईर्ष्यालु है, लोभी है, अभिमानी है, पाप-कर्मों में चित्त को लगानेवाला है तो वह उस काया को छोड़, मरने के बाद, दुर्गति में उत्पन्न होता है और यदि मनुष्य योनि में आता है तो हीन होता है, दरिद्र, और निर्बुद्धि होता है। इसी प्रकार जिसके कर्म शुभ हैं, वह सुगति में जन्म लेता है और यदि मनुष्य योनि में आता है तो उत्तम, स्वस्थ, समृद्ध और प्रज्ञावान् होता है[३]। सुगति या दुर्गति का पाना इस प्रकार कर्म के शुभ या अशुभ होने पर निर्भर है।[४] सदाचार से सुगति और दुराचार से दुर्गति प्राप्त होती है[५]। किसी व्यक्ति के चित्त को अपने चित्त से जानकर और उसके कर्मों का अपनी ज्ञान-दृष्टि से प्रत्यक्ष

---

(१) चूल कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।५)

(२) "कम्मस्सका माणव सत्ता कम्मदायादा कम्मयोनी कम्मबन्धू कम्मपटिसरणा, कम्मं सत्ते विभजति यदिदं हीनपणीततायाति।" चूल-कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।५)

(३) देखिये चूल कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।५)

(४) महा कम्म विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।६)

(५) देखिये सालेय्य-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।१); वेरंजक-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।२)

कर भगवान् यह जान जाते थे कि मरने के बाद यह अमुक शुभ या अशुभ योनि में उत्पन्न होगा[१]। इसी प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर भगवान् का भिक्षुओं के सामने जामिन बनते हुए यह कहना था, "भिक्षुओ ! क्रोध को छोड़ो........लोभ को छोड़ो,...द्वेष को छोड़ो...मैं तुम्हारा जामिन होता हूँ, तुम्हें फिर इस आवागमन में आना नहीं पड़ेगा[२]।" कर्म के नियम की अबाधता में भगवान् का जीवित विश्वास था और अनेक बार उन्होंने मार्मिक शब्दों में कहा है कि उनके समान यदि अन्य प्राणी भी यह जान जायें कि दुष्कर्म और सुकर्म के परिणामस्वरूप दुर्गति और सुगति प्राप्त होती हैं तो वे दुष्कर्मों को छोड़कर सुकर्म करने लग जायें[३]। जन्म नहीं किन्तु कर्म ही प्रधान है। कर्म से ही ब्राह्मण बनता है, जन्म से नहीं। बुद्धोपदिष्ट 'चातुर्वर्णी शुद्धि' का आधार कर्म ही है। चाहे शूद्र हो या अन्य कोई प्राणी, यदि वह स्मृति-प्रस्थान आदि की भावना करता है तो निर्वाण को साक्षात्कार करता है[४]। कर्म मनुष्य-मनुष्य में भेद नहीं करता। पुण्य कर्म से आयु की वृद्धि होती है[५] और बत्तीस महापुरुष लक्षण भी मनुष्य पूर्व जन्म के किये कर्मों के परिणामस्वरूप पाता है[६]। सारांश यह कि विश्व की व्यवस्था में कर्म ही प्रधान है। इसीलिये भगवान् ने कहा है 'कर्म-प्रतिशरण बनो।' कर्म की शरण लो, अन्य किसी की शरण मत लो। कर्म ही यहाँ तुम्हारा अपना है। बुद्ध की शरण जाना भी अन्ततः कर्म की ही शरण जाना है। बुद्ध-शरण और कर्म-शरण में कोई भेद नहीं है। जिसका कर्म अच्छा है, वह बुद्ध के समीप है चाहे वह उनसे सौ योजन की दूरी पर भी है और जिसका कर्म बुरा है, वह बुद्ध से दूर है चाहे वह उनकी संघाटी के छोर को पकड़कर उनके पैरों के पीछे पैर रखता हुआ ही चल रहा है[७]। बुद्ध को तो वस्तुतः

---

(१) देखिये चित्त सुत्त (इति वुत्तक); दुट्ठ चित्त सुत्त (इति वुत्तक); सक्कार सुत्त (इति वुत्तक)
(२) देखिये इतिवुत्तक (पाटिभोग वग्ग)
(३) देखिये दिट्ठ-सुत्त (इति वुत्तक)
(४) अग्गञ्ञ-सुत्त (दीघ० ३।४)
(५) चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त (दीघ० ३।३)
(६) देखिये लक्खण-सुत्त (दीघ० ३।७)
(७) देखिये संघाटि-सुत्त (इतिवुत्तक)

वही देखता है जो धर्म को देखता है[१] और धर्म को देखने का अर्थ है कर्म करना। भगवान् बुद्ध की हम पर अनुकम्पा है और इस अनुकम्पा का अर्थ केवल यह है कि हम उनके धर्म-दायाद बनें, कर्म करें[२]। "भिक्षुओ ! तुम पर मेरी अनुकम्पा है। वह क्या ? यही कि तुम मेरे धर्म-दायाद बनो[३]।" जो धर्म-दायाद बनना है, वही कर्म-दायाद बनना है। इसलिये भगवान् ने यह भी कहा है कि कर्म-दायाद बनो। जिसकी बुद्ध के बुद्धत्व और करुणा में श्रद्धा है, उससे भगवान् यही अपेक्षा करते हैं कि वह कर्म करे, धर्म का अभ्यास करे, अकुशल कर्मों का उन्मूलन कर कुशल कर्मों की वृद्धि करे। "भिक्षुओ ! यदि तुम्हें मेरे विषय में यह होता है कि भगवान् हितैषी, अनुकम्पक शास्ता हैं, अनुकम्पा करके धर्म उपदेश करते हैं, तो भिक्षुओ ! मेरे उपदिष्ट धर्मों का अभ्यास करो।"[४] कर्म ही भगवान् बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद की आधार-शिला है। कर्म ऐसा अव्यर्थ नियम है जिसकी अवहेलना स्वयं भगवान् बुद्ध भी नहीं कर सकते। भगवान् इसे जानते हैं। इसीलिये वे अपने शिष्यों से अपने सम्पूर्ण उपदेश को देने के बाद कहते हैं, "अनुकम्पक शास्ता को तो तुम्हारे हित की दृष्टि से जो कुछ करना चाहिये था, वह कर दिया ! अब भिक्षुओ। ये वृक्ष-मूल हैं, ये सूने घर हैं, ध्यान करो, प्रमाद मत करो।"[५] गवान् जानते हैं कि कर्म ही उद्धार करेगा, उपदेश नहीं। इसलिये वे अपने धर्म का मूल अभ्यास में ही मानते हैं और यह कर्म की प्रधानता स्वीकार करना ही है। बोधिपक्षीय धर्म कर्म-स्वरूप हैं, और प्रतीत्य समुत्पाद का चक्र कर्म के नियम के कारण ही चलता है। कर्म और विपाक के पारस्परिक सम्बन्ध और अन्योन्याश्रित भाव से यह संसार-चक्र चलता है, यह कर्म के सिद्धान्त की धुरी है, जिसे तथागत ने सिखाया है:

---

(१) उपर्युक्त के समान, देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १२० (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण) भी ।

(२) देखिये धम्मदायाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।३)

(३) धम्मदायाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।१।३)

(४) किन्ति-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।३)

कम्मा विपाका वत्तन्ति वपाको कम्म सम्भवो ।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती'ति ॥

(५) इन्द्रिय-भावना-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।१०)

कम्मा विपाका वत्तन्ति विपाको कम्म सम्भवो ।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तती'ति ।[१]

कर्म से विपाक प्रवर्तित होते हैं और स्वयं विपाक कर्म-सम्भव हैं। कर्म से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार यह संसार प्रवर्तित होता है ।

इस प्रकार बुद्ध-शासन की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा कर्म के सिद्धान्त पर आधारित है। परन्तु भगवान् बुद्ध निर्मम कर्मवाद के उपदेष्टा होने के साथ-साथ कारुणिक शास्ता भी थे। एक बार भिक्षुओं को आमन्त्रित कर भगवान् ने उनसे कहा था 'भिक्षुओ ! चिरकाल तक माता के मरने का दुःख सहा है, पिता के मरने का दुःख सहा है, पुत्र के मरने का दुःख सहा है, लड़की के मरने का दुःख सहा है, रिश्तेदारों के मरने का दुःख सहा है, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहा है, रोगी होने का दुःख सहा है........संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण रो-पीट कर आँसू बहाए हैं ।...... तो क्या भिक्षुओ ! मानते हो कि चारों महा समुद्रों में जो पानी है, वह अधिक है अथवा यह जो इस संसार में बार-बार जन्म लेने वालों ने प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग के कारण रो पीट कर आँसू बहाए हैं ?' 'भिक्षुओ !.....जो रो पीटकर आंसू बहाए हैं वे ही अधिक हैं, इन चारों समुद्रों का जल नहीं[२] ।' इस प्रकार उन शास्ता ने कहा। पुनः भगवान् ने यह भी कहा 'इस प्रकार भिक्षुओ ! दीर्घ काल तक दुःख का अनुभव किया है, तीव्र दुःख का अनुभव किया है, बड़ी बड़ी हानियाँ सही हैं, श्मशान भूमि को पाट दिया है। अब तो भिक्षुओ ! सभी संस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति प्राप्त करो[३] ।' किन्तु यह सब करें कैसे ? व्यथित हृदय को लिये जब 'उपसीव माणव' भगवान् से पूछता है 'हे शक्र ! मैं अकेले महान् ओघ को निराश्रित हो तरने की हिम्मत नहीं रखता। हे समन्त चक्षु ! अवलम्ब बताओ' तो कठोर नियम में विश्वास रखने वाले बुद्ध ने उसके प्रति यही मात्र कहा 'आकिंचन्य को देख....रात दिन तृष्णा के क्षय को देख'[४] इसी प्रकार अन्य व्यक्तियों से भी उनका यही उपदेश था,

---

(१) विभंग, पृष्ठ ४२६, विसुद्धिमग्ग (कंखावितरणविसुद्धिनिद्देसो) में उद्धृत।
(२) संयुत्त-निकाय १४.२, भदन्त आनन्द कौसल्यायन का अनुवाद 'बुद्धवचन' पृष्ठ ९-१० में।
(३) देखिए 'बुद्धवचन', पृष्ठ १०
(४) देखिये सुत्तनिपात (पारायण वग्ग)

"तुम्हें ही परिश्रम करना पड़ेगा, तथागत तो केवल मार्ग दिखानेवाले हैं[१] ।" 'आत्मा ही आत्मा का स्वामी है[२]', यह कर्म की निर्बन्ध प्रधानता को दिखाने के लिये ही कहा गया था। तथागत ने अपने शिष्यों को अपनी शरीर-पूजा करने की अनुमति नहीं दी, यह भी कर्म पर उनके अधिक जोर देने के कारण ही था। महापरिनिर्वाण में प्रवेश करने के लिए तैयार तथागत से आनन्द ने पूछा 'भन्ते ! तथागत के शरीर को हम क्या करेंगे ? 'कथं मयं भन्ते तथागतस्स सरीरे पटि-पज्जामा'ति'। तथागत ने कहा कि तथागत की शरीर-पूजा करने वाले तो अनेक ब्राह्मण, क्षत्रिय, गृहपति, पण्डित होंगे, आनन्द ! तुम्हें इसके विषय में पर्वाह करने की क्या जरूरत है ? (अव्यावटा मा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीर पूजाय) 'तुम तो आनन्द ! केवल सदर्थ के लिए प्रयत्न करो, सदर्थ के लिए उद्योग करो, सदर्थ में अप्रमादी, उद्योगी, आत्म-संयमी हो विहरो। 'इंव तुम्हे आनन्द सदत्थे घटथ, सदत्थमनुयुञ्जथ, सदत्थे अप्पमत्ता आतापिनो पहितत्ता विहरथ'[३]। इसी प्रकार भगवान् ने अपने बाद किसी व्यक्ति-विशेष को संघ का नेता नहीं चुना, यह भी 'कर्म' की प्रधानता के कारण ही था। अपने महापरिनिर्वाण के बाद तथागत ने भिक्षुओं को 'धम्मदायाद के रूप में ही छोड़ा, 'आमिषदायाद' बनाकर नहीं[४]। भगवान् परिनिर्वृत हो गए हैं। आनन्द से लोग पूछते हैं 'भो आनन्द ! क्या आप सब में एक भिक्षु को भी उन गौतम ने यह कहकर स्थापित किया है 'मेरे बाद यह तुम्हारा प्रतिशरण होगा' जिसका कि आप इस समय अनुसरण करते हैं।

'नहीं ब्राह्मण !'

'भो आनन्द ! इस प्रकार प्रतिशरण रहित होने पर एकता का क्या हेतु है ?'

---

(१) तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता। धम्मपद २०।४
(२) अत्ताहि अत्तनो नाथो। धम्मपद १२।४, २५।२१
(३) महापरिनिब्बाण सुत्त (दीघ० २।३); मिलाइए, 'अकम्मं हेतं महाराज जिनपुत्तानं यदिदं पूजा। सम्मसनं संखारानं, योनिसो मनसिकारो, सति-पट्ठानानुपस्सना, आरम्मणसारग्गाहो, किलेसयुद्धं, सदत्थमनुयुञ्जना, एतं जिनपुत्तानं करणीयं। अवसेसानं देवमनुस्सानं पूजा करणीया'। मिलिन्द पञ्हो, मेण्डक पञ्हो।
(४) देखिए धम्म दायाद सुत्त (मज्झिम० १।१।३)

'ब्राह्मण ! हम प्रतिशरण रहित नहीं हैं, हम धर्म प्रतिशरण हैं'[१]

संसार का कोई भी ऐसा धर्म संस्थापक या शास्ता नहीं है जिसने एक संघबद्ध धर्म को इस प्रकार केवल 'कर्म' या 'धर्म' मात्र प्रतिशरण छोड़ा हो और फिर भी जिससे संसार की सब से अधिक आत्माएँ शान्ति पाती हों अथवा जिसका शासन वे मानती हों। निश्चय ही दुर्दमनीय अंगुलिमाल की तरह यह पथभ्रष्ट सारा जगत् ही शाक्यमुनि को शास्ता पाकर उद्गार कर सकता है :

'कोई दण्ड से दमन करते हैं,
कोई शस्त्र और कोड़े से भी,
किन्तु तथागत के द्वारा बिना दण्ड और
बिना शस्त्र के ही मैं दमन किया गया हूँ[२]।'

कर्म के तीन स्वरूप अथवा मार्ग हैं, कायिक, वाचसिक और मानसिक, अर्थात् शरीर संबंधी, वाणी सम्बन्धी और मन सम्बन्धी। इनमें मन-सम्बन्धी कर्मों को तथागत ने प्रधान माना है। कर्म को वस्तुतः उन्होंने चेतनामय ही कहा है, यह हम पहले देख चुके हैं। कर्म कुशल हो सकते हैं, अकुशल हो सकते हैं और अव्याकृत भी। कर्म के स्थूल परिणाम के अनुसार नहीं, बल्कि उसे उत्पन्न करने वाली मानसिक चेतना के अनुसार, कर्म का वर्गीकरण बौद्ध दर्शन में किया गया है। कर्म के मूल में लोभ, द्वेष और मोह हो सकते हैं (अकुशल) और अलोभ, अद्वेष और अमोह भी (कुशल)। इस तथ्य को हम बौद्ध 'मनोवैज्ञानिक आचारतत्त्व' के विवेचन में देख चुके हैं। कर्मों का शील के रूप में क्या व्यापक स्वरूप होना चाहिए, इसे 'बोधिपक्षीय' धर्मों के विवेचन में दिखा चुके हैं। यहाँ अत्यन्त साधारण दृष्टि से मन, वाणी और शरीर के दस कुशल और अकुशल कर्मों का कुछ निर्देश करना आवश्यक है। ये दस अकुशल कर्म हैं:—

(१) प्राणातिपात—प्राणि-हत्या करना।
(२) अदन्नादान—चोरी करना। } शरीर के कृत्य
(३) कामेसु मिच्छाचार—काम भोग सम्बन्धी दुराचार।
(४) मुसावाद—असत्य भाषण।
(५) पिसुना वाचा—पिशुन वचन। } वाणी के कृत्य
(६) फरुसा वाचा—कठोर वचन।
(७) सम्फलाप—व्यर्थ आलाप।

(१) गोपकमोग्गल्लान सुत्त (मज्झिम० ३।१।८)
(२) अंगुलिमाल सुत्त (मज्झिम० २।४।६)

(८) अभिज्जा—लोभ
(९) व्यापाद—मानसिक हिंसा ।
(१०) मिच्छादिट्ठि—मिथ्या दृष्टि ।
} मन के कृत्य

ये लोभ, द्वेष और मोह के कारण उत्पन्न होते हैं। इनके विपरीत 'कुशल' कर्म वे हैं जो अ-लोभ, अ-द्वेष और अ-मोह से उत्पन्न होते हैं। लोभ, द्वेष और मोह हमारी भाषा में बड़े साधारण शब्द हैं, किन्तु बौद्ध दर्शन में इनकी जो गम्भीर मनोवैज्ञानिक व्याख्या की गई है, उसे हम 'मनोवैज्ञानिक आचारतत्व' के विवेचन में स्पष्ट कर आए हैं। हम पहले इस बुद्ध-वचन को उद्धृत कर चुके हैं कि सभी प्राणियों की कर्म से ही उत्पत्ति है अथवा वे कर्म रूपी योनिवाले हैं। निश्चय ही यह बुद्ध-वचन दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। बुद्ध ने इस तथ्य को बड़ी मार्मिकता के साथ प्रकट किया है कि हमारे पूर्व के कर्म, विचार तथा अनुभव के परिणाम स्वरूप ही हमारा आज का व्यक्तित्व है। जो कुछ हमने अनुभव किया है, जो कुछ हमने सोचा है, जो कुछ हमने किया है, वही हमारे वर्तमान व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाला है। हम कर्म के ही उत्तराधिकारी हैं। मन इसमें कितना बड़ा भाग लेता है, यह हम 'मनोवैज्ञानिक आचारतत्व' के विवेचन में दिखा आए हैं। तथागत ने सब सत्ता 'कर्म' को ही अर्पित कर दी है, अतः कुछ को उनके 'निरीश्वरवादी' होने का आभास मिलता है। इस प्रश्न पर हम इसी प्रकरण में 'क्या बुद्ध अनीश्वरवादी हैं?' पर विचार करते समय आएँगे। अन्य भारतीय दर्शनों के साथ 'कर्म' के विषय को लेकर भगवान् तथागत की क्या असमानता या समानता है, इस पर हम पांचवें प्रकरण में आएँगे। कर्म से ही स्वभावतः पुनर्जन्म की सिद्धि है। तथागत ने भी अन्य भारतीय विचारकों की तरह पुनर्जन्म को एक स्वयं-सिद्ध सत्य के रूप में ही स्वीकार किया है, सकारण सिद्ध करने की तो न्याय ने ही अपूर्ण चेष्टा की है, जैसी कि 'ईश्वर कर्तृवाद' की भी।

इस प्रकार हमने देखा कि कर्म का भगवान् ने उपदेश दिया और पुनर्जन्म को उन्होंने स्वीकार किया। किन्तु पुनर्जन्म किसका? स्थिर आत्मा तो है ही नहीं, कर्ता भोक्ता किसे मानते हो? कौन कर्म के फिर फल पावेगा? सभी 'संस्कारों' को तो अनित्य बतलाते हो, फिर नित्य क्या रहेगा? 'मैं क्या होकर क्या होऊँगा?' जब 'मैं' ही नहीं है, तो निर्वाण का उपदेश किसके लिए करते हो? कर्म का दायाद किसे बनाते हो, जब कर्म का देनेवाला ही कोई नहीं?

'अत्त दीप' क्यों कहते हो जब 'अत्ता' को मानते ही नहीं? 'कुशल', और 'अकुशल' कर्मों के फल की क्या संगति बैठाते हो, जब कहते हो कि एक क्षण में ही पुद्गल परिवर्तित हो जाता है ? निश्चय ही प्रश्नों की संख्या बहुत दूर तक बढ़ाई जा सकती है। सच बात तो यह है कि इनमें से किसी एक के सफल उत्तर में ही समग्र भारतीय दर्शन अच्छी तरह व्याख्यात किया जा सकता है। हमें यहाँ केवल बुद्ध-मन्तव्य को ही जानने से प्रयोजन है। अन्य दर्शनों की बात पर हम बाद में आएँगे। बुद्ध ने सभी संस्कारों को अनित्य बताया है और उनके प्रतीत्य समुत्पन्न भाव को दिखाया है। इससे स्पष्ट है कि जन्म और मरण की क्रियाएँ अपने वास्तविक रूप में प्रतिक्षण चला करती हैं। आचार्य बुद्ध-घोष कहते हैं 'यथार्थ रूप से देखा जाय तो प्राणियों का जीवन-काल एक चित्त-क्षण मात्र है। जिस प्रकार रथ का पहिया जब चलता है तब पहिए का एक ही भाग पृथिवी पर टिकता हुआ चलता है। जब खड़ा होता है तब भी एक ही भाग पृथिवी पर टिकते हुए खड़ा होता है। उसी प्रकार प्राणियों का जीवन-काल एक ही चित्त-क्षण मात्र है। उस चित्त-क्षण के निरोध होने पर 'प्राणी मर गया, निरुद्ध हो गया, कहा जाता है'[१]। इसलिये 'बीते चित्त-क्षण की अवस्था में प्राणी जीता था, न जीता है, न जीएगा; भविष्य के चित्त-क्षण की अवस्था में प्राणी जीएगा, न जीता था, न जीता है; वर्तमान चित्त-क्षण की अवस्था में प्राणी जीता है, न जीता था, न जीएगा[२]।

पुनर्जन्म की समस्या को सुलझाने के लिए हमें भदन्त नागसेन का सहारा लेना पड़ेगा। स्थविर नागसेन से राजा मिलिन्द ने पूछा—

'भन्ते नागसेन! कौन उत्पन्न होता है? क्या वह वही रहता है या अन्य हो जाता है? 'यो उप्पज्जत्ति सो एव सो उदाहु अञ्ञो'ति ?[३]

(१,२) अभिधम्मत्थ संगहो (स्वर्गीय भिक्षु श्री धर्म सम्बोधि जी द्वारा अनुवादित) पृष्ठ १६ में उद्धृत।

(३) राजा के इस प्रश्न में क्षणिकवाद और अनात्मवाद की समस्याएँ कितनी गम्भीरता से छिपी पड़ी हैं, इसे बताने की यहां जरूरत नहीं। नागसेन का मत साक्षात् बुद्ध का मत न होने पर भी यहां निरूपण करने के योग्य है, क्योंकि न केवल बुद्ध के (जो स्थविरवादियों की परम्परा से ही अन्ततः गम्य हैं) ही किन्तु स्थविरवाद परम्परा के दृष्टिकोण से भी हमें इस प्रकरण में उससे प्रयोजन है।

स्थविर कहते हैं (निश्चय ही 'विभज्यवादी' बुद्ध की वास्तविक शैली पर जिसे हम बुद्ध-मन्तव्य की परिचायक कह सकते हैं,) 'न तो वही और न अन्य ही' 'नच सो नच अञ्ञो'ति' । राजा की समझ में यह उत्तर नहीं आया तो महास्थविर उसे इस प्रकार उदाहरण देकर समझाते हैं कि जब पुरुष एक बच्चा होता है और जब वह एक तरुण युवा होता है तब क्या वह बालक और युवा एक ही होता है ? नहीं, ऐसा नहीं होता । बालक अन्य होता है और वह तरुण युवा अलग होता है । किन्तु यदि यही मान लिया जाय कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य होता है, तब तो फिर न किसी की कोई माता रहेगी, न पिता रहेगा, न आचार्य रहेगा..... महाराज ! फिर तो ऐसी ही प्रतीति होगी कि यह गर्भ की प्रथम अवस्था की माता है, यह दूसरी अवस्था की, यह तीसरी अवस्था की, जो सब आपस में भिन्न-भिन्न हैं, अन्य से अन्य हो गए हैं। क्या एक बच्चे की माँ विभिन्न है, एक युवा की माँ से 'अञ्ञा खुद्दकस्स माता अञ्ञा महन्तस्स माता ?' ऐसा होने पर तो महाराज ! विद्यार्थी जब पाठशाला में पढ़ने जाता है तब वह अन्य ही है और जब अपना विद्याध्ययन समाप्त करता है, अन्य ही है ? 'अञ्ञो सिप्पं सिक्खति, अञ्ञो सिक्खितो भवति'—अन्य ही शिल्प सीखता है और अन्य ही शिक्षित होता है ! अन्य ही पाप करता है और अन्य ही के दण्ड-स्वरूप हाथ पैर काटे जाते हैं ? राजा घबरा जाता है क्योंकि पहले वह स्वयं ही कह आया है कि बालक अन्य होता है और तरुण अन्य, अतः वह कुछ समझ नहीं सकता कि वह क्या कहे ? विवश होकर वह नागसेन से कहता है कि भद्र, आप ही मुझे बताइए कि क्या बात है 'त्वं पन भन्ते एवं वुत्ते किं वदेय्यासीति' । स्थविर ने उसे उदाहरण देते हुए समझाया कि 'धर्मों के लगातार प्रवाह से, उनके संघात रूप में आजाने से, एक उत्पन्न होता है, दूसरा निरुद्ध होता है, और यह काम इस प्रकार होता है जैसे मानो युगपत् । इसलिए न तो (सर्वथा) 'उसी' की तरह और न (सर्वथा) अन्य की तरह, वह जीवन की अन्तिम चेतनावस्था पर आता है[1] । फिर भी नागसेन

---

(१) एवमेव खो महाराज धम्मसन्तति सन्दहति, अञ्ञो उप्पज्जति, अञ्ञो निरुज्झति, अपुब्बं अचरियं विय सन्दहति, तेन न च सो न च अञ्ञो पुरिसविञ्ञाणे पच्छिम विञ्ञाणं संगहं गच्छतीति । मिलिन्दपञ्हो, लक्खण पञ्हो, पृष्ठ ४३

मिलिन्द को पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं कर सकते, और वह पूछता है 'भन्ते नागसेन ! यह क्या है जो जन्म ग्रहण करता है ?' (भन्ते नागसेन को पटिसन्दहतीति) । भदन्त नागसेन उत्तर देते हैं 'नाम-रूपं खो महाराज पटिसन्दहतीति'—'हे महाराज ! नाम रूप जन्म ग्रहण करता है ।'

क्या यही नामरूप जन्म ग्रहण करता है ?' राजा पूछता है। भदन्त उत्तर ते हैं कि यह नाम-रूप ही जन्म ग्रहण नहीं करता किन्तु, इस नामरूप के द्वारा शुभ या अशुभ कर्म किए जाते हैं और उन कर्मों के द्वारा एक अन्य नाम-रूप उत्पन्न होता है, वही संसरण करता है 'न खो महाराज इमं येव नाम-रूपं पटिसन्दहति इमिना पन महाराज नामरूपेन कम्मं करोति सोभनं वा पापकं वा, तेन कम्मेन अञ्ञं नामरूपं पटिसन्दहतीति'। यह तत्व भी राजा मिलिन्द की समझ में नहीं आया और वह 'कृतप्रणाश' (इस प्रमार के उद्धरण को क्षम्य माना जाए—देखिए आगे बौद्ध क्षणिकवाद का विवेचन) की आपत्ति उठाता है जिसका सफलतापूर्वक निरसव करते हुए विचित्र उपमाओं से उस का समाधान करते हुए (जो उनकी एक बड़ी विशेषता है, ज्ञानेश्वर की तरह ही) वे राजा को यह तथ्य बतलाते हैं, जो हमारे दृष्टिकोण से यहाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण है और जिसकी ओर निदर्शन करने के लिये ही हमने इतने प्रसंगान्तर को छेड़ा है', इसी प्रकार है राजन् ! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नाम-रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य । किन्तु द्वितीय (नामरूप) प्रथम (नाम-रूप) में से ही निकलता है'[1] । अतः हे महाराज धर्म-सन्तति ही संसरण करती है ।' 'एवमेव खो महाराज धम्म सन्तति सन्दहति'[2] । इस प्रकार उपयुक्त रूप से भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद की भूमि को बिना क्षति पहुंचाये हुयेपुनर्जन्म की संगति लगाने का प्रयत्न किया है। यह निश्चित है कि भदन्त नागसेन की यह व्याख्या बुद्ध-मन्तव्य के सर्वथा अनुकूल है ।

---

(१) एवमेव खो महाराज किंचापि अञ्ञं मारणान्तिकं नामरूपं अञ्ञं पटिसन्धिस्मि नामरूपं अपि च ततोयेव तं निब्बत्तंति । मिलिन्दपञ्हो (लक्खणपञ्हो)

(२) मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो)

भगवान् बुद्ध के समय में साति केवट्टपुत्र नामक भिक्षु को यह मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई थी कि वही एक विज्ञान आवागमन करता है। इस पर भगवान् ने उसे समझाया था कि विज्ञान तो प्रतीत्यसमुत्पन्न है। चक्षुरादि के प्रत्यय से वह उत्पन्न होता है। वह तो भौतिक पदार्थों की अपेक्षा भी अधिक क्षणिक है[१]। वह शाश्वत रूप से संसरण करने वाला नहीं हो सकता[२]। वस्तु स्थिति यह है कि एक जन्म के अन्तिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है। इस कारण न तो वही जीव रहता है और न दूसरा ही हो जाता है। यही बौद्ध दर्शन की स्थिति है। साति भिक्षु विज्ञान को औपनिषद आत्मा की शाश्वत स्थिति देना चाहता था। ऐसा लगता है कि साति भिक्षुकी मिथ्या धारणा दूर नहीं हुई और आठवीं शताब्दी में वह शंकर बनकर भारत में जन्मा। पूर्व-जन्म के संस्कार के कारण वह अपने बौद्ध रूप को नहीं भुला सका और साथ ही जन्म-जन्म के अभ्यास से प्राप्त अपनी धारणा को भी नहीं छोड़ सका। क्षणिक और प्रतीत्यसमुत्पन्न विज्ञान को उसने शाश्वत आत्मवादी रूप प्रदान कर दिया, जिसके सम्बन्ध में बाद में। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनात्मवाद के आधार पर पुनर्जन्म की व्यवस्था बौद्ध दर्शन में की गई है और वह कर्म के उत्तरदायित्व पर पूर्ण बल देती है। 'कभी भी पीछा न छोड़ने वाली छाया के समान कर्म मनुष्य का पीछा करते हैं[३]' यही कारण है कि बौद्ध आचारतत्व सार्थकता पाता है और हम कह सकते हैं:—

'अनुपवादो अनुपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता च भत्तस्मिं पन्तञ्च सयनासनं॥
सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं[४]॥

---

(१) "चारों महाभूतों की यह काया एक-दो-सात वर्ष तक भी विद्यमान देखी जा सकती है, किन्तु यह चित्त, मन या विज्ञान तो रात और दिन में भी दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही विनष्ट होता है।" संयुत्त-निकाय १२।७

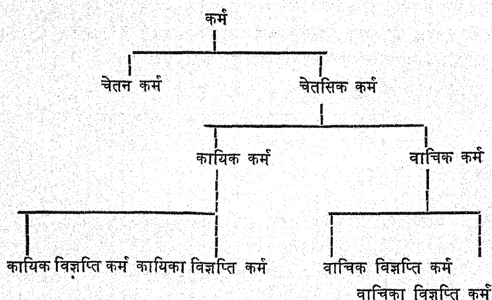
(२) महातण्हा संखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)

(३) मिलिन्द पञ्हो (लक्खण पञ्हो)

(४) धम्मपद। (बुद्धवग्गो)

(निन्दा न करना, घात न करना, प्रतिमोक्ष द्वारा अपने को सुरक्षित रखना, परिमाण जानकर भोजन करना, एकान्त में सोना-बैठना, सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना, यही बुद्धों की शिक्षा है)।

बुद्ध-शासन एक स्वतः परिपूर्ण दर्शन है, जिसे न किसी आदि की आवश्यकता है और न किसी अन्त की। वह सत्य के आधार पर निरपेक्ष खड़ा है, अनादि- और अनन्त! बुद्ध की सम्यक् सम्बोधि इसकी साक्षी है और विशुद्धि का यही एक मात्र मार्ग है। यद्यपि हमें यहां विशुद्ध स्थविरवाद परम्परा के अनुसार ही 'कर्म' का निरूपण इष्ट है और वैसा हमने कर भी दिया है, किन्तु यहाँ सर्वास्तिवादियों के द्वारा 'कर्म' के विभाजन का कुछ निर्देश करना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि उस में वास्तव में कोई नवीनता नहीं है, केवल विभाजन सर्वास्तिवादियों का है और मूल बातें सब स्थविरवादियों की हैं। इस विभाजन का यदि पहले हमारे द्वारा किए गये मनोवैज्ञानिक विवेचन से तथा वहीं कर्म के किए हुए त्रिविध विभाग से मिलान करेंगे तो बौद्ध दर्शन में कर्म का जो महत्व है वह कुछ स्पष्टता के साथ विदित हो जायगा। 'सर्वास्तिवादी' कर्म का विभाजन इस प्रकार करते हैं[1] :—



(१) विशेष विस्तार के लिए देखिए यामाकामी सोजन: सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ १५०-१५२

कर्म का सिद्धान्त सभी बौद्ध दार्शनिकों को मान्य है और यह उन सबकी विशेषता है। किन्तु निर्वाण-प्राप्ति की अवस्था में कर्म और पुनर्जन्म नहीं रहते। भव का प्रवाह वहाँ रुक जाता है, तृष्णा का निरोध हो जाता है, कर्म के निवेशनों में प्राणी नहीं पड़ता, बल्कि करणीय कर लिया, ऐसी उसकी भावना जगती है। ज्ञानी के सम्बन्ध में गीता में जो यह कहा गया है 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः' यही बात अक्षरशः अर्हत् के लिये भी ठीक है। अर्हत् के चित्त की अवस्था का नाम 'क्रिया-चित्त' है, अर्हत् का चित्त क्रिया मात्र करता है, वस्तुतः वह 'निष्क्रिय' रहता है। सक्रिय चेतनात्मक होते हुए भी अर्हत् का कार्य विपाक की दृष्टि से निष्क्रिय होता है। आगे उसका कोई विपाक नहीं बनता। ज्ञानाग्नि उसे विदग्ध कर देती है। तभी उसे मोक्ष की सिद्धि है और तभी फिर माता के गर्भ में विज्ञान बनकर जाना नहीं होता, वह अपगर्भ हो जाता है और सभी प्रकार के संयोजनों से विमुक्ति पाता है। संक्षेप में वह निर्वाण-प्राप्त हो जाता है। उस समय उसके लिए धर्म भी उसी प्रकार की चीज़ रह जाती है जैसे नदी पार करने के बाद नाव, अतः उससे भी अभिनिवेश छोड़ देता है और क्लेश के क्षय हो जाने से केवल शान्ति को प्राप्त करता है। किन्तु, जब तक यह हालत न हो तब तक तो अदम्य वीर्य उत्पादित करना ही पड़ेगा, और भिक्षुणी तिष्या (तिस्सा) की तरह अपने को सम्बोधित करना ही पड़ेगा—

निर्वाण में कर्म और पुनर्जन्म का निःशेष

'तिस्से युञ्जस्सु धम्मेहि खनो तं मा उपच्चगा।
खनातीता हि सोचन्ति निरयम्हि समीप्पता ॥' (थेरी-गाथा)

'हे तिष्ये! धर्म में लग। क्षण को मत बीतने दे। क्षण जिनके बीत गए, वे सोच करते हैं और नरक में गिरते हैं।,

१०—निब्बाण

जहाँ तक भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों का सम्बन्ध है, निब्बाण (निर्वाण) आध्यात्मिक अनुभव की एक अवस्था का नाम है। कुछ विशिष्ट अर्थों में उसे चित्त की अवस्था-विशेष भी कहा जा सकता है। बौद्धिक ऊहापोह का तो वह स्थविरवादी तत्त्व दर्शन में कभी विषय बनाया नहीं गया, जैसा प्रायः बौद्ध दर्शन के उत्तरकालीन विकास में किया गया। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण का उपदेश अवश्य

निब्बाण अनुभव की एक अवस्था है, बुद्धिगत चिन्तन का परिणाम नहीं

दिया । परन्तु निर्वृत्त होकर वे यहाँ, इस जीवन में, रहे। यही उनका सर्वोत्तम उपदेश था। निर्वाण का आधार जीवन में है। वह एक वास्तविकता है, दिट्ठ धम्म (दृष्ट-धर्म) है, देखी हुई वस्तु है। जीवन की विशुद्धि ही विमुक्ति के रूप में साधक के लिये प्रकटित होती है। यही निर्वाण है। विशुद्धि और निब्बाण दोनों एक हैं[1]। साधन और साध्य की यह एकता ही बुद्ध-धर्म का मूल उपदेश है। अतः निब्बाण के लिये प्रयत्न करना होगा; उसे जीवन में साक्षात्कार करना पड़ेगा। बुद्धि के चिन्तन से वह प्राप्य नहीं। इसीलिये कहा गया है, "निर्वाण का समझना आसान नहीं है[2]।" वह 'अतर्कावचर' धर्म है। भगवान् बुद्ध ने जिस परम अवस्था को प्राप्त किया वह उनकी उच्चतम साधना से सम्भूत थी न कि बौद्धिक चिन्तन से। 'श्रमण गोतम विमर्श से सोचे, अपने प्रतिभा से जाने, तर्क से प्राप्त, धर्म का उपदेश करता है'[3] यह तो भगवान् पर सुनक्षत्र लिच्छविपुत्र जैसे व्यक्तियों द्वारा लगाया गया आरोप था, जो मिथ्या था। वस्तुतः भगवान् आर्य-ज्ञान-दर्शन की पराकाष्ठता से युक्त थे, उत्तर-मनुष्य-धर्म से सम्पन्न थे। आस्रवों (चित्तमलों) के क्षय के द्वारा आस्रव रहित चित्त की विमुक्ति का, या दूसरे शब्दों में, प्रज्ञा की विमुक्ति का, उन्होंने अपने जीवन में साक्षात्कार किया था। इसी का उपदेश साधकों के जगत् को निर्वाण के रूप में मिला है।

निब्बाण—जैसा भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों ने अनुभव किया—अत्यन्त सुख—परम शान्ति

निब्बाण वस्तुतः अहंभाव को विसर्जित करनेवाले पुरुष की महासुख अवस्था का ही नाम है। ब्रह्मचर्य का वह अन्तिम फल है। इस फल में प्रतिष्ठित एक साधक भिक्षु को देखकर भगवान् बुद्ध ने उल्लास पूर्वक कहा था, "ऊपर, नीचे सभी ओर से मुक्त हो गया। 'यह मैं'" इस भ्रम में नहीं पड़ता। इस प्रकार मुक्त हो भवसागर को पार कर जाता है,

(१) आचार्य बुद्धघोष ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है "विसुद्धीति सब्बमल-विरहितं अच्चन्तपरिसुद्धं निब्बानं वेदितब्बं।" विसुद्धिमग्ग १।५; चूल वियूह-सुत्त (सुत्त-निपात) में निर्वाण को अन्तिम शुद्धि कहा गया है।

(२) उदान (पाटलिगामिय वग्गो)

(३) महासीहनाद-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।२)

जिसे पहले पार नहीं किया था। वह उसमें फिर नहीं पड़ता[१]।" एक दूसरे मुक्त पुरुष को देखकर भगवान् ने उद्गार किया था, "निर्दोष, शुद्ध, श्वेत आसनवाला एक ही धुरा वाला रथ आ रहा है। इस निष्पाप को आते हुए देखो, जिसका स्रोत बन्द हो गया है, जो बन्धन से छूट गया है[२]।' निब्बाण दुःख-विमुक्ति की अवस्था तो है ही, उसे निश्चिततम अर्थों में परम सुख की अवस्था भी कहा गया है[३]। निर्वाण 'अमानुषी रति' है, जो धर्म का सम्यक् दर्शन करने से उत्पन्न होती है[४]। वह निर्विषय मन का आनन्द है। ऐसा सुख है, जो निरामिष है, आलम्बन की अपेक्षा से रहित है, अतीन्द्रिय है। इसी सुख का अनुभव करते हुए बिना हिले-डुले, खाये-पिये, तथागत कई सप्ताहों तक एक आसन से समाधि अवस्था में बैठे रहे थे[५]। यही आनन्द था जिसके कारण वे अपने को राजा मागध श्रेणिक बिम्बिसार से भी अधिक सुखी मानते थे[६]। उनके शिष्यों में से भी अनेक ने इस रस को चक्खा था। 'अहो सुख! 'अहो सुख'! कहनेवाले भद्दिय स्थविर ने इसी अवस्था का साक्षात्कार किया था[७]। 'अहो मैं कितनी सुखी हूँ, मैं कितने सुख से ध्यान करती हूँ[८], यह कहनेवाली भिक्षुणी ने भी इस अमृत को पाया था, यह निःसन्देह है। 'जान लिया', 'जान लिया' का उद्गार करनेवाले ज्ञानी कौण्डन्य ने इसी परम सुख की अनुभूति की थी[९]। परन्तु निर्वाण-सम्बन्धी कुछ अत्यन्त संप्रहर्षक उद्गार तो भगवान् बुद्ध की औरस कन्याओं स्वरूप कुछ भिक्षुणी-साधिकाओं ने किये हैं, जिन्होंने इस अभूतपूर्व

---

(१) उदान, पृष्ठ १०१ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)
(२) उदान (चुल्लवग्ग)
(३) निब्बाणं परमं सुखं। मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५) धम्मपद १५।८; मिलाइये, निब्बाण सुखा परं नत्थि। थेरी गाथा, गाथा ४७६
(४) अमानुसी रती होति सम्मा धम्मं विपस्सतो। धम्मपद २०।१४; मिलाइये विसुद्धिमग्ग २०।११६
(५) देखिये उदान (बोधि वर्ग)
(६) देखिये चूल दुक्ख क्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४)
(७) देखिये विनय-पिटक—चुल्लवग्ग।
(८) देखिये थेरीगाथा, २४वीं गाथा
(९) देखिये धम्म चक्क पवत्तन-सुत्त (संयुत्त-निकाय)

विरासत को अपने शास्ता से पाया था। 'थेरीगाथा' में सात भिक्षुणियों ने अलग-अलग अपनी निर्वाण-प्राप्ति की सूचना देते हुए उल्लासपूर्वक कहा है 'मैं निर्वाण प्राप्त कर परमशान्त हुई हूँ। निर्वृत्त होकर मैं शीतलता स्वरूप हो गई हूँ, 'सीति भूतम्हि निब्बुता[१]।' परम शान्ति ही इन भिक्षुणियों के लिये निर्वाण है। दो अन्य भिक्षुणियों ने भी अपने सम्बन्ध में अलग-अलग कहा है 'उपसन्तम्हि निब्बुता[२]' अर्थात् 'मैं निर्वाण प्राप्त कर उपशान्त हो गई हूँ'। यहाँ भी निर्वाण की प्राप्ति स्वरूप परम शान्त होने की सूचना दी गई है। अतः निर्वाण और उत्तम शान्ति दोनों एक हैं, यह निर्विवाद है। भिक्षुणी वड्ढमाता ने निर्वाण-सुख का अनुभव करते हुए कहा था 'अफुसिं सन्तिमुत्तमं[३]' अर्थात् 'मैंने उत्तम शान्ति में प्रवेश किया है।' इसी प्रकार सुत्त-निपात के मेत्त-सुत्त में निर्वाण के लिये 'शान्त पद' (सन्तं पदं) शब्द का व्यवहार किया गया है[४]।

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जिस प्रकार महासमुद्र का केवल एक रस है—लवण-रस, उसी प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट धम्म-विनय का भी केवल एक रस है और वह है विमुक्ति-रस[५]।

निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक विवेचन-निर्वाण बुद्ध शासन का सार है— वह चित्त की मुक्ति है एवं ब्रह्मचर्यवास का अंतिम उद्देश्य भी

विमुक्ति का अर्थ यहाँ चित्त की विमुक्ति है जिसका कोई परिमाण नहीं। चेतो-विमुक्ति को भगवान् ने ब्रह्मचर्य का अन्तिम उद्देश्य माना है[६]। जीवन-विशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग और चार स्मृति प्रस्थानों आदि के अभ्यास सब चित्त की अचल विमुक्ति

(१) थेरी गाथा, गाथाएँ १५,१६,३४,६६,७६ तथा १०१
(२) थेरी गाथा, गाथाएँ १८ तथा ८६
(३) थेरी गाथा, गाथा २१२
(४) करणीयं अत्थ कुसलेन यं तं सन्तं पदं।
(५) सेय्यथापि भिक्खवे महासमुद्दो एकरसो लोणरसो, एवमेव खो भिक्खवे अयं धम्मविनयो एक रसो विमुत्ति रसो। विनय-पिटक—चुल्ल वग्ग।
(६) "भिक्षुओ! यह जो न च्युत होनेवाली चित्त की मुक्ति है, इसी के लिये यह ब्रह्मचर्य है। यही सार है, यही अन्तिम निष्कर्ष है।" महा-सारोपम सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।९); चूल सारोपम-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।१०)

के लिये ही है[१]। जब साधक भिक्षु ने अशुभ-भावना के द्वारा राग-प्रहीण हो जाने पर कहा था 'ततो चित्तं विमुच्चि मे[२]', अर्थात् मेरा चित्त विमुक्त हो गया, तो उसने जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करते हुए निर्वाण के रस को ही चक्खा था। अतः विमुक्ति और निर्वाण दोनों एक हैं। भगवान् ने स्वयं कहा भी है, "राध ! विमुक्ति का अर्थ है निर्वाण[३]।" भगवान् के इस वचन की पुष्टि एक भिक्षुणी ने अपने अनुभव का वर्णन करते हुए बड़े सुन्दर ढंग से की है। पटाचारा ने कहा है "दीपक का बुझना (निब्बाणं) था कि उसके साथ मेरे चित्त का भी विमोक्ष (निब्बाण) हो गया। पदीपस्सेव निब्बाणं विमोक्खो अहु चेतसो[४]।" अतः निर्वाण और विमुक्ति दोनों एक हैं। एक अन्य जगह भगवान् ने निर्वाण को विमुक्ति का आधान भी बताया, है,[५] किन्तु निर्वाण के आधान को 'अतिप्रश्न' बताते हुए केवल यह कहा है, "ब्रह्मचर्य निर्वाण-पर्यन्त है, निर्वाण-परायण है, निर्वाण-पर्यवसान है[६]।" पुनरुक्ति करते हुए भगवान् ने धातु-विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०) में भी कहा है, "भिक्षु ! यही परम आर्य सत्य है जो कि यह अविनाशी निर्वाण"।

निर्वाण अमृत-पद है

भगवान् बुद्ध जन्म, जरा, मरण, दुःख-शोक से विमुक्ति के खोजी थे। उसे उन्होंने निर्वाण के रूप में ही पाया था। निर्वाण आत्यन्तिक दुःख-विमुक्ति की अवस्था थी। वह तथागत की मृत्यु पर विजय थी। पालि त्रिपिटक में अनेक बार निर्वाण

(१) रथविनीत-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।४) में आयुष्मान् मैत्रायणी-पुत्र और धर्मसेनापति सारिपुत्र के बीच आध्यात्मिक संलाप का निष्कर्ष यह है कि शील-विशुद्धि, दृष्टि-विशुद्धि, चित्त-विशुद्धि, ज्ञान-विशुद्धि आदि विशुद्धियां सब निर्वाण के लिये ही हैं।

(२) थेरगाथा, गाथा ३०१

(३) संयुत्त-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ १८७ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(४) थेरीगाथा, गाथा ११६

(५) "भिक्षुओ ! विमुक्ति का आधान निर्वाण है।" संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवी, पृष्ठ २१८ (पालि टैक्सट् सोसायटी का संस्करण)

(६) संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ २१८; जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८७; चूल वेदल्ल सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४)

को अमृत-पद कहा गया है, जो बड़ा सार्थक है। 'मैंने अमृत को पा लिया है' इन शब्दों में भगवान् ने अपनी सत्य प्राप्ति की सूचना सर्व प्रथम संसार को दी थी[१]। धर्मसेनापति सारिपुत्र ने भी इन्हीं शब्दों में अपनी सत्य-प्राप्ति की सूचना अपने मित्र महामोग्गल्लान को दी थी[२]। भगवान् ने अमृत की ओर ले जाने वाले मार्ग के रूप में ही मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था[३]। उसी के सम्बन्ध में उनका कहना था "भिक्षुओ! ध्यान दो! मैंने अमृत को पाया है। मैं उसका तुम्हें उपदेश करता हूँ" और "मैं अमृत की दुन्दुभी बजाऊँगा[४]।" बोधि-प्राप्ति के बाद भगवान् का पहला उद्गार था 'अमृत के द्वार खुल गये हैं[५]।' वस्तुतः बुद्ध-शासन अमृत का द्वार ही है, जिसमें ज्ञान से स्नान किये हुए पुरुष प्रवेश करते हैं। परन्तु यह अमृत क्या है? बुद्ध शासन-की परिभाषा में राग, द्वेष और मोक्ष का जो क्षय है वही अमृत कहा जाता है[६]। यही अमृत जिसने पा लिया है, उसे भगवान् 'ब्राह्मण' कहते हैं। "जिसमें तृष्णा नहीं है, जो संशय नहीं करता, जिसने अमृत को पा लिया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।"[७] चार स्मृति प्रस्थानों की भावना से इस अमृत की प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् ने संयुत्त निकाय में कहा है।[८] भगवान् ने बताया है कि तपस्सु नामक उनके गृहस्थ शिष्य ने (जो भल्लिक के साथ उनका सर्व प्रथम उपासक शिष्य बना था) बुद्ध, धर्म, संघ, आर्य-शील, आर्य-ज्ञान और आर्य-विमुक्ति में अचल श्रद्धा के कारण अमृत का

(१,२) देखिये विनय-पिटक—महावग्ग।

(३) देखिये संयुत-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ ८ तथा ३९-४० (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

(४) अरिय परियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६) मिलाइये बहुधातुक-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।२।५) भी, जहां भगवान ने अपने उपदेश को 'अमृत-दुन्दुभि' कहा है।

(५) विनय-पिटक—महावग्ग; अरिय परियेसन-सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।६)

(६) देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ ८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(७) धम्मपद ४।१

(८) देखिये जिल्द पांचवीं, पृष्ठ १८१-१८२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

दर्शन किया था[१]। एक दूसरी जह भगवान् ने अशुभ-भावना, मृत्यु-स्मरण, स्वाद-त्याग, वैराग्य, अनित्य, दुःख और अनात्म, इन सात वस्तुओं की जानकारी को अमृत की ओर ले जानेवाला मार्ग कहा है[२]। एक सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने निब्बाण को एक रमणीय भूमि-भाग कहा है, जहां जाने के मार्ग को तथागत जानते हैं। वहाँ जाने का जो सीधा मार्ग है, वही आर्यअष्टाङ्गिक मार्ग है[३]। इसी प्रकार एक अन्य सुन्दर उपमा के द्वारा भगवान् ने शरीर को एक राजा का नगर बताया है जिसके छः इन्द्रिय-आयतन छः दरवाजों के समान हैं। इस नगर का द्वार-रक्षक स्मृति है और राजा मन है। इस मन रूपी राजा के पास शथम और विपश्यना रूपी दो सन्देशवाहक आते हैं जो सत्य का सन्देश लाते हैं। जिस मार्ग से ये सन्देश-वाहक आते-जाते हैं, वह आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग है और सत्य के जिस सन्देश को वे लाते हैं, वह है निर्वाण[४]। इस उपमा के द्वारा भगवान् ने यही दिखाया है कि स्वयं उनका सन्देश निर्वाण का ही है और उसका मार्ग है आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग। निर्वाण-रूप अमृत उसकी प्राप्ति का उपाय, इसमें सम्पूर्ण बुद्ध-शासन आजाता है। निर्वाण के सिद्धान्त का प्रख्यापन बुद्ध-शासन की ऐसी कोई भारी विशेषता नहीं है। उसकी सबसे बड़ी विशषता तो है निर्वाण और उसकी प्राप्ति के उपाय स्वरूप आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का पारस्परिक समन्वय-विधान। निर्वाण के अनुरूप मार्ग है और मार्ग के अनुरूप निर्वाण है। साधन और साध्य में एकरूपता है। यही तात्पर्य है बुद्ध-धर्म को स्वाख्यात कहने का[५]। "जिस प्रकार गंगा की धारा यमुना में मिलती है और मिलकर

---

(१) देखिये अंगुत्तर-निकाय, जिल्द तीसरी, पृष्ठ ४५०-४५१ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(२) अंगुत्तर-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ४६ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(३) देखियेसंयुत्त-निकाय,- जिल्द तीसरी, पृष्ठ १०६ (पालि टैक्स्टसोसायटी का संस्करण)

(४) देखिये संयुत्त-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ १९४ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)

(५) निब्बानानुरूपाय पटिपत्तिया, पटिपदानुरूपस्स च निब्बानस्स अक्खातत्ता स्वाक्खातो। विसुद्धिमग्ग ७।७४

दोनों एक हो जाती हैं, उसी प्रकार निर्वाणगामिनी प्रतिपदा निर्वाण के साथ मेल खाती है, मिलकर एक हो जाती है[1]। निर्वाण के मार्ग का इस जीवन में शीघ्रतापूर्वक विशोधन करना चाहिये[2], इसके लिये बुद्ध-शासन हमें उत्साहित करता है। आस्रवों के क्षय से अपने मन को जब तक पूर्ण विशुद्ध न बनालो, तब तक चैन मत लो, यही उन कल्याणकारी शास्ता का हमारे लिये उपदेश है[3]। अतः अप्रमाद की बड़ी आवश्यकता है निर्वाण-साधना के लिये। इसीलिये कहा गया है "अप्पमादरतो भिक्खु निब्बानस्सेव सन्तिके'[4]। अर्थात् वीर्य-रत भिक्षु निर्वाण के समीप ही है। एक दूसरी जगह साधन-पक्ष को ही ध्यान में रखकर कहा गया है 'जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं वह निर्वाण के समीप है'[5]। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि एकान्त चिन्तन करनेवाला भिक्षु निर्वाण के समीप है[6]। जैसे-जैसे साधक पञ्चस्कन्धों की उत्पत्ति और विनाश पर विचार करता है, वह ज्ञानियों की प्रीति और प्रमोद रूपी अमृत को पाता है[7], जिसका ही दूसरा नाम निर्वाण है। भगवान् बुद्ध अमृत पद रूपी निर्वाण का उपदेश करते थे, इसका सर्वोत्तम साक्ष्य भिक्षुणी चापा ने दिया है जिसने अपने पति उपक के बुद्ध-दर्शन के सम्बन्ध में कहा है, 'उसने सम्यक् सम्बुद्ध को अमृत पद का उपदेश करते देखा[8]।' कृशा गौतमी (किसा गोतमी) ने अपने निर्वाण-प्राप्ति के उल्लास में गाया था 'अमतमभिगच्छि[9]' अर्थात् मैंने अमृत को प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार भिक्षुणी सुजाता ने कहा था कि उसने निर्मल धर्म रूप 'अमृत पद' को पाया है[10]। खुद्दक-पाठ के रतन-सुत्त में

(१) सेय्यथापि नाम गंगोदकं यमुनोदकेन सन्सन्दति समेति, एवमेव...... संसन्दति निब्बानञ्च पटिपदा चाति। महागोविन्द-सुत्त (दीघ० २।६)
(२) निब्बानगमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये। धम्मपद २०।१७
(३) भिक्खू विस्सास मापादि अपत्तो आसवक्खयं। धम्मपद १९।१७
(४) धम्मपद २।१२
(५) यम्हि झानञ्च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके। धम्मपद २५।१३
(६) विवेकं येव सिक्खेथ......स वे निब्बानसन्तिके। सुत्त-निपात ५
(७) देखिये धम्मपद २५।१५
(८) सो अद्दसासि सम्बुद्धं देसेन्तं अमतं पदं। थेरीगाथा, गाथा ३०९
(९) थेरी गाथा, गाथा २२१
(१०) तन्येव विरजं धम्मं फुसयिं अमतं पदं। थेरी गाथा, गाथा १४९

भी निब्बाण के लिये अमृत शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया है "जो तृष्णा रहित हो दृढ़ चित्त से गोतम (बुद्ध) के धर्म में लग गये हैं, वे प्राप्ति को प्राप्त कर अमृत में पैठ अनायास ही विमुक्ति रस का आस्वाद लेते हैं[1] ।" अतः इतने अधिक प्रमाणों से यह कहना कुछ अधिक नहीं है कि बुद्धोपदिष्ट निर्वाण अमृत-पद है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि निर्वाण परमसुख, परम शान्ति, चित्त की विमुक्ति और 'अमृत-पद' है, जिसकी प्राप्ति के लिये भगवान् ने मार्ग का उपदेश दिया है। वस्तुतः यह मार्ग ही हमारे लिए अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका अभ्यास स्वयं निर्वाण-स्वरूप है। हम पहले बुद्ध-वचन के आधार पर कह चुके हैं कि जिसे अमृत कहा जाता है,

निर्वाण राग, द्वेष और मोह का क्षय है

वह राग, द्वेष और मोह का क्षय ही है। राग-द्वेष और मोह, ये तीन अकुशल-मूल हैं। संसार में जितनी बुराइयाँ हैं उन सबकी जड़ भगवान् ने राग, द्वेष और मोह को माना है। राग, द्वेष और मोह से अनुविद्ध चित्त कभी सुखी नहीं रह सकता, कभी शान्त नहीं रह सकता। इनसे विमुक्ति प्राप्त करना अमृत है, और वही निर्वाण है। साधन ही साध्य बन जाता है। इसीलिये सारिपुत्र ने जब अपने साथी भिक्षुओं से कहा था, "आवुसो! यह जो राग का क्षय, द्वेष का क्षय और मोह का क्षय है, यही कहलाता है निर्वाण[2]" तो इसे हम निर्वाण की सर्वोत्तम परिभाषा मान सकते हैं, क्योंकि इसमें जीवन के साथ निर्वाण का सर्वोत्तम संयोग और समीकरण है। भगवान् ने तो केवल यह कहा था कि 'राग, द्वेष और मोह के क्षय से निर्वाण को पाता है[3] ।' अथवा 'राग और द्वेष को छेदन कर तुम निर्वाण को प्राप्त करोगे[4]'

(१) ये सुप्पयुत्ता मनसा दल्हेन निक्कामिनो गोतमसासनम्हि । ते पत्तिपत्ता अमतं विगय्ह लद्धा मुधा निब्बुतिं भुञ्जमाना ॥

(२) यो खो आवुसो! रागक्खयो, दोसक्खयो, मोहक्खयो इदं वुच्चति निब्बाणं। जम्बुखादक-संयुत्त (संयुत्त-निकाय) । मिलाइये "हे हेमक ! यहां, इष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में, छन्द, राग का हटाना ही अच्युत निर्वाण पद है।' हेमक माणव पुच्छा (सुत्त-निपात ५।८)

(३) उदान (पाटलिगामिय वग्गो)

(४) छेत्वा रागं च दोसं च ततो निब्बाणमेहिसि । धम्मपद २५।१०

परन्तु धर्मसेनापति सारिपुत्र ने स्वयं राग, द्वेष और मोह के क्षय को ही निर्वाण बताकर बुद्ध के नैतिक शासन को एक ऐसी ठीक दिशा में बढ़ाया जो उन जैसे महाप्रज्ञ शिष्य के लिये सर्वथा अनुरूप ही था।

इसीलिये तृष्णा के क्षय को भी निर्वाण कहा जाता है। तण्हाय विप्प-हानेन निब्बाणं इति वुचति[1]।

स्वभावतः तृष्णा के क्षय के कारण भव रुक जाता है। स्वयं भगवान् ने कहा है "भव का रुक जाना ही निर्वाण है[2]।" 'उदान'
में उन्होंने भावनामय शब्दों में कहा है "मार्ग
और इसीलिये भव कट गया, आशाएँ मिट गईं। सूखी हुई धाराएँ
का निरोध भी नहीं बहती हैं। लता कट जाने पर और नहीं
फैलती। दुःखों का अन्त यही है।"

निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति के लिये कुछ करणीय शेष नहीं रह जाता। प्राप्तव्य को वह पा चुकता है। 'निर्वेद को प्राप्त कर वह विरक्त होता है।
विरक्त होने से विमुक्त होता है। विमुक्त होने
वह परम कृतकृत्यता है पर 'मैं विमुक्त हूँ यह ज्ञान उसे उत्पन्न होता है।
वह जानता है, जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यवास
पूरा हुआ, कर्त्तव्य कर्म कर लिया गया। अब यहां और कुछ करने को बाकी नहीं है।"[3] वह सुखमय शान्त पद को प्राप्त करता है।[4] उसका यह अन्तिम देह है।[5] उसका पतन होना सम्भव नहीं है।[6]

भगवान् ने अनेक बार पुनरुक्ति पूर्वक कहा है कि निर्वाण का साक्षात्कार यहीं, इस जीवन में, होता है। वह कालान्तर में प्राप्त होनेवाली वस्तु

---

(१) सुत्त-निपात (पारायण वग्ग)
(२) संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ११७ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण)
(३) संयुत्त० ४३।३।६; मिलाइये उदान-सुत्त (संयुत्त० २१।१।३) भी, देखिये, बुद्धचर्या, पृष्ठ ३९२-३९३
(४) अधि गच्छे पदं सन्तं संखारूपसमं सुखं। धम्मपद २५।२२
(५) अन्तिमोयं समुस्सयो। धम्मपद २४।१८; मिलाइये थेरीगाथा, गाथाएँ २२, १६०
(६) अभब्बो परिहाणाय। धम्मपद २।१२

निर्वाण का साक्षात्कार इसी जीवन में होता है

नहीं है। "इस प्रकार भिक्षुओ ! आदमी जीते जी निर्वाण को प्राप्त करता है, जिसके बारे में कहा जाता है आओ और देख लो। जो ऊपर उठानेवाला है तथा जिसे प्रत्येक बुद्धिमान् आदमी स्वयं साक्षात् कर सकता है[1]। इसी जन्म में निर्वृत्त होने (दिट्ठधम्माभिनिब्बुता) की बात सुत्त-निपात में भी आई है[2]।

निर्वाण अद्वितीय योगक्षेम है

भगवान् बुद्ध ने इस लोक को अशरण कहा है। इसमें कहाँ त्राण है, कहां क्षेम है, इसकी खोज उन्होंने स्वयं की थी और इसे निर्वाण के रूप में उन्होंने पाया था। उन्होंने कहा है 'धीर पुरुष निर्वाण में प्रवेश करते हैं जो अद्वितीय योगक्षेम है[3]।' धीरा नामक भिक्षुणी को उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा था 'धीरे! तू उस निर्वाण की आराधना कर, जो अद्वितीय योगक्षेम है।'[4] इसी प्रकार एक दूसरी भिक्षुणी को निर्वाण साधना में अग्रसर होने के लिये उत्साहित करते हुए शास्ता ने कहा था, 'योगक्षेम की प्राप्ति के लिये तू कुशल धर्मों की वृद्धि कर!'[5]

निर्वाण अच्युत पद है

अमृत और शान्ति कहने के साथ-साथ भगवान् ने निर्वाण को 'अच्युतपद' भी कहा है।"छन्दरागविरतो सो भिक्खु पञ्ञाणवा इधत। अञ्ञगा अमतं सन्ति निब्बाणपदमच्चुतं[6]।" इसका अर्थ यह है कि इच्छा और राग से विरत प्रज्ञावान् भिक्षु अमृत, शान्ति, अच्युतपद निर्वाण को प्राप्त करता है। इसी का साक्ष्य देते एक साधक भिक्षु ने कहा है 'मैंने उत्तम अच्युत पद में प्रवेश किया है'।[7] सकुला नामक भिक्षुणी ने भी स्वसंवेद्य अनुभव के आधार पर

---

(१) अंगुत्तर-निकाय, तिक-निपात। देखिये बुद्ध-वचन, पृष्ठ १७
(२) देखिये हेमक माणव पुच्छा (सुत्त-निपात—पारायण वग्गो)
(३) फुसन्ति धीरा निब्बानं योगक्खेमं अनुत्तरं। धम्मपद २।३
(४) आराधयाहि निब्बाणं योगक्खेमं अनुत्तरं। थेरी गाथा, गाथा ६
(५) भावेहि कुसले धम्मे योगक्खेमस्स पत्तिया। थेरी गाथा, गाथा ८, देखिये गाथा ९ भी।
(६) सुत्त-निपात (पारायण वग्ग)
(७) फुसाहितं उत्तममच्चुतं पदं। देखिये थेरीगाथा, गाथाएँ २११-२१२

कहा है "मैंने निर्मल धर्म निर्वाण को देखा है, जो अच्युत पद है।" 'अद्दस्सं विरजं निब्बाणं पदमच्चुतं[1]।' भगवान् ने ब्राह्मण बावरि के शिष्य हेमक से कहा था, "हे हेमक! यहां इष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में छन्द (राग) का हटाना ही अच्युत निर्वाण पद है। इसे जान, स्मरणकर, इसी जन्म में निर्वाण-प्राप्त, उपशान्त होते हैं और लोक में तृष्णा को पार कर जाते हैं।'[2]

निर्वाण 'शिव पद' है

निर्वाण शिवत्व का स्थान है। भिक्षुणी वाशिष्ठी ने कहा है, 'मैंने शिव-पद का साक्षात्कार किया है।' 'सच्छाकासि पदं सिवं।[3] धर्मसेनापति सारिपुत्र ने अपने शरीर के अन्तिम समय को जानकर भगवान् से निर्वाण प्राप्ति के लिये इन शब्दों में आज्ञा मांगी थी, "भन्ते! मैं अनेक शत-सहस्र बुद्धों के प्रवेश-स्थान अजर, अमर, क्षेम, सुख, शीतल, अभय, निर्वाण-पुर जाऊँगा।[4]" धर्म-सेनापति ने यहां निर्वाण की पूरी विशेषताओं को संक्षिप्ततम रूप में रख दिया है।

निर्वाण जन्म, जरा, मरण और शोक से विमुक्ति है

भगवान् ने अत्यन्त सार्थकतापूर्वक कहा है, 'जरा और मरण के विनाश को मैं निर्वाण कहता हूँ[5] जन्म और जरा-मरण के विनाश को प्राप्त विर्वृत्त पुरुष का लक्ष्य क्या है, इसके सम्बन्ध में उन्होंने कहा है, "जिस ब्राह्मण को तू ज्ञानी, अकिंचन, कामभव में अनासक्त जाने, अवश्य ही वह इस काम-भव को पार कर गया है! पार हो वह सबसे निरपेक्ष है। भव-अभव में आसक्ति को छोड़कर वह विचरता है। वह तृष्णा-रहित, राग-रहित और आशारहित है। वह जन्म-जरा से पार हो गया है, मैं कहता हूँ।"[6] इसी प्रकार भगवान् ने कहा है, "लोक

---

(१) थेरीगाथा गाथा ९७; मिलाइये निब्बाणपदमच्चुतं। हेमक माणव-पुच्छा (सुत्त-निपात—पारायण वग्गो)
(२) सुत्त-निपात ५।८ (हेमकमाणव-पुच्छा)
(३) थेरीगाथा, गाथा १३७
(४) देखिये बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१३
(५) सुत्त-निपात ५।१० (कप्पमाणव-पुच्छा)
(६) सुत्त-निपात (पारायण-वग्ग)

में वार-पार को जानकर, जिसे लोक में कहीं भी तृष्णा नहीं है, जो शान्त, धूम-रहित, आशा-रहित है, वह जन्म-जरा को पार हो गया है, मैं कहता हूँ।"[१] भिक्षुणी सुमेधा ने भी निर्वाण के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्व-पूर्ण शब्दों में कहा है—

"यह अजर है, यह अमर है, जरा और मरण से विमुक्त यह स्थान है। यह शोक-रहित है। यहाँ कोई विरोध नहीं, कोई बाधा नहीं, यहाँ स्खलन नहीं, भय नहीं, ताप नहीं। बहुतों ने इस अमृत को प्राप्त किया है और आज भी यह प्राप्त किया जा सकता है। जो सम्यक् ध्यान करेंगे, वे इसे प्राप्त करेंगे। बिना प्रयत्न करनेवाले पुरुष के द्वारा यह प्राप्त करने योग्य नहीं है।"[२]

निर्वाण भव-बाढ़ के बीच सुरक्षित द्वीप है

निर्वाण इस भव-सागर के बीच सुरक्षित द्वीप है। इसी अर्थ को लेकर भगवान् ने कहा है "अकिंचन, अनादान, यह सर्वोत्तम द्वीप है। इसे मैं जरा-मृत्यु-विनाश रूप निर्वाण कहता हूँ।"[३]

वह भव-बाढ़ (ओघ) का निस्तरण भी है

भगवान् ने निर्वाण को ओघ का निस्तरण भी कहा है। "जो मनुष्य दृष्ट, श्रुत, स्मृत और विज्ञात में राग हटा चुके हैं, जो तृष्णा रहित और राग-रहित हैं, उन्हें मैं ओघ-पार कहता हूँ।"[४] एक ऐसे ही ओघ-तीर्ण पुरुष को देख कर भगवान् ने उल्लास में कहा था, "जो पुल बाँधकर ऊपर-ही-ऊपर सागर और नदी सभी को पार कर जाते हैं, वे ज्ञानी जन तो पार कर चुके। अन्य लोग बेड़ा बाँधते रह गये।"[५]

---

(१) सुत्त-निपात (पारायण-वग्ग)

(२) इदमजरं इदमरमिदमजरामरण पदमसोकं। असपत्तं असम्बाधमक्खलित-मभयं निरपतापं॥ अधिगतमिदं बहूहि अमतं अज्जापि च लभनीयमिदं। यो योनिसो पयुञ्जति न च सक्का अघटमानेन। थेरी गाथा, गाथाएँ ५१२-५१३

(३) सुत्त-निपात ५।१० (कप्पमाणव-पुच्छा)

(४) सुत्त-निपात (नन्दमाणव पुच्छा)

(५) उदान (पाटिलिगामिय वग्गो)

क्षेम-रूप निर्वाण को भगवान् ने अविवाद-भूमि कहा है। खेमाभिपस्सं अविवादभूमिं।[1] निर्वाण-प्राप्त मुनि विवाद से परे हो जाता है। उसी के सम्बन्ध में कहा गया है, "जिसमें सम-विषम नहीं हैं, वह किसके साथ विवाद करे ?[2]

निर्वाण अविवाद-भूमि है

निर्वाण क्या है, इसका संक्षिप्ततम उत्तर दिया जाय तो वह केवल यह होगा 'एसेवन्तो दुक्खस्साति' अर्थात् यह दुःखों का अन्त है। ऋणी पुरुष को जो प्रसन्नता ऋण चुकाकर होती है, बीमार को जो सुख आरोग्य प्राप्त करने पर होता है, बन्धन और दासता से छूटने पर जो उल्लास बन्दी और दास को होता है, किसी बड़े रेगिस्तान को पार कर जो सुख किसी पथिक को होता है, वही सुख तृष्णा-विमुक्त पुरुष को भव-बन्धन से पार होने पर होता है।[3] वह निर्वाण का सुख ही है। भगवान् ने कहा है 'सब कुछ जल रहा है।' 'सब्बं आदित्तं'[4]। क्या सब कुछ जल रहा है? रूप जल रहा है। चक्षु जल रही है। चक्षु-विज्ञान जल रहा है। सुख-दुःख वेदनाएँ जल रही हैं। श्रोत्र, घ्राण, काय, नासिका, शब्द, गन्ध, स्पर्श, रस सब जल रहे हैं। पाँचों उपादान-स्कन्ध जल रहे हैं। किसकी आग से? रागाग्नि से, द्वेषाग्नि से, मोहाग्नि से। जिसे इन्द्रियों का आस्वाद हम कहते हैं, वह वास्तव में जलना ही है। चित्त की शान्ति वहां नहीं है। ज्ञानी की दृष्टि में सब कुछ दुःख है। इस सब दुःख को छोड़कर[5], अनित्य, दुःख और अनात्म से दृष्टि को हटाकर जिसने अमृत-पद की ओर चित्त को एकाग्र किया है, वही शीतल हुआ है (सीतिभूत) और उसने निर्वाण के सत्य का साक्षात्कार किया है। राग, द्वेष और मोह की अग्नि के शान्त हो जाने से जो शीतलता मिलती है, वही निर्वाण है। और यह निर्वाण है, यह बुद्ध-शासन का एक निश्चिततम आश्वासन है।[6] इसी निर्वाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'यही शान्ति

निर्वाण संक्षेप में दुःखों का अन्त है—सर्वतः आदीप्त भव में एकमात्र शीतलता है

(१) सुत्त-निपात (महावियूह-सुत्त)
(२) सुत्त-निपात (मागन्दिय-सुत्त)
(३) देखिये महा-अस्सपुर-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।९)
(४) आदित्तपरियाय-सुत्त (संयुत्त-निकाय); विनय-पिटक—महावग्ग ।
(५) सब्बदुक्खं पहाय । धम्मपद २४।१४
(६) देखिये "यथापि उण्हे विज्जन्ते अपरं विज्जति सीतलं । एवं तिविधग्गी

उत्तम है जो कि संस्कारों का शमन, सारी उपाधियों का परित्याग, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोध रूपी निर्वाण।'[1] इसी निर्वाण को हमें सीखना है सब कामनाओं से निर्वेद प्राप्त कर[2], जिसकी ही इच्छा करते हुए साधक पुरुष घर से बेघर हो प्रव्रज्या ले लेते हैं।[3]

इस प्रकार उपर्युक्त कुछ उद्धरणों के द्वारा हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रारम्भिक बौद्ध साधना में निर्वाण आध्यात्मिक अनुभव का उच्चतम स्वरूप था और उसे ब्रह्मचर्यवास का अन्तिम उद्देश्य समझा जाता था। इसी अर्थ में भगवान् ने उसका उपदेश दिया था और उसके मार्ग का अभ्यास वे अपने शिष्यों को सदा सिखाया करते थे।

परन्तु परमार्थ, परम, अतीत सत्य के रूप में भी भगवान् ने निर्वाण का उपदेश दिया था। 'निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धा[4]।' उनका यह उपदेश तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका विवरण अब हम प्रस्तुत करेंगे।

दीपक के बुझ जाने के समान वेदनाओं का ठंडा पड़ जाना ही निर्वाण है

'जिस प्रकार भिक्षुओ! तेल के रहने से, बत्ती के रहने से, दीपक जलता है, और उस तेल तथा बत्ती के समाप्त हो जाने तथा दूसरी के न रहने से (अनुपादाना) दीपक बुझ जाता है, (निब्बायति) निर्वाण को प्राप्त होता है, उसी प्रकार भिक्षुओ! शरीर छूटने पर, मरने के बाद, जीवन के परे, अनासक्त रह कर अनुभव की गई ये वेदनाएँ यहीं ठण्डी पड़ जाती हैं[5]।

विज्जन्ते निब्बानं इच्छितब्बकं।" जातकट्ठकथा (निदान कथा)। इसका अर्थ यह है, "जैसे कि जहां एक ओर गर्मी है तो दूसरी ओर ठंडक भी है। इसी प्रकार जहां तीन प्रकार की अग्नियां रागाग्नि, द्वेषाग्नि, और मोहाग्नि हैं तो वहां (इनके शमन-स्वरूप) निर्वाण को भी अवश्य विद्यमान होना चाहिये। उसको पाने की इच्छा करनी चाहिये (अवश्य मिलेगा)।

(१) महामालुंक्य-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।४)

(२) निब्बिज्ज सब्बसो कामे सिक्खे निब्बानमत्तनो। सुत्त-निपात (पारायणवग्ग)

(३) निब्बाणपदाभिपत्थयमानो सम्मा सो लोके परिब्बजेय्य। सुत्त-निपात (पारायण-वग्ग)

(४) धम्मपद १४।६

(५) चूल हत्थिपदोपम—सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।७); मिलाइये धातु-

निर्वाण वह आयतन है जहाँ न 'आना' है न 'जाना' जहाँ 'स्थिति' और 'च्युति' नहीं हैं— वहाँ लोक, परलोक, सूर्य-चन्द्रमा नहीं हैं

"भिक्षुओ! वह एक आयतन है, जहाँ न तो पृथ्वी, न जल, न तेज, न वायु, न आकाशनञ्चायतन, न विज्ञानानञ्चायतन, न आकिञ्चन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वहाँ, न तो यह लोक है, न परलोक है और न चाँद सूर्य है। भिक्षुओ! न तो मैं उसे 'अगति' और न 'गति' कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ; उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता। वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दुःखों का अन्त है[1]।"

निर्वाण है, इसीलिये इस जगत् की अनुभूति होती है—असीम की सत्ता का सब से बड़ा प्रमाण ससीम का होना है—यदि अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत न होता तो जात, भूत, कृत और संस्कृत से निस्सरण कैसे होता ?

'भिक्षुओ ! अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत है । भिक्षुओ ! यदि वह अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत नहीं होता तो जात, भूत, कृत, और संस्कृत का व्युपशम नहीं हो सकता। भिक्षुओ ! क्योंकि वह अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है, इसीलिए जात, भूत, कृत, और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है[2]।

विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०) देखिये अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय) भी।

(१) "अत्थि भिक्खवे ! तदायतनं, यत्थ नेव पठवी न आपो न तेजो न वायो न आकासानञ्चायतनं न विञ्ञाणानञ्चायतनं न आकिञ्चञ्जायतनं न नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं नायं लोको न परलोको उभो चन्दिमसुरिया, तदाहं भिक्खवे ! नेव आगतिं वदामि न गतिं न ठीतिं न चुतिं न उपपत्तिं, अप्पतिट्ठं अपावत्तं अनारम्मणमेव तं एसेवन्तो दुक्खस्साति।" उदान, पाटलिगामिय वग्गो

(२) "अत्थि भिक्खवे ! अजातं, अभूतं, अकतं, असंखतं, नो चे तं भिक्खवे ! अभविस्स अजातं, अभूतं, अकतं, असंखतं, न यिध जातस्स भूतस्स

'लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं, सो तुरन्त ही बुझ जाती हैं—कहाँ गईं कुछ पता नहीं चलता । इसी प्रकार काम, काम-बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाए हुए, तथा अचल सुख पाए हुए जन की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता[१] ।' 'वायु के वेग से क्षिप्त अर्चि (लौ) जैसे अस्त हो जाती है और इस दिशा में गई, उस दिशा में गई, आदि व्यवहार को प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार मुनि नाम-काम से मुक्त हो अस्त हो जाता है, व्यवहार को प्राप्त नहीं होता।......... अस्तंगत (निर्वाण प्राप्त) के रूप आदि प्रमाण नहीं हैं जिससे इसे कहा जा सके कि यह अस्तंगत हैं या नहीं या वह हमेशा के लिए अरोग है। सभी धर्मों के नष्ट हो जाने पर, कथन मार्ग से भी सब धर्म नष्ट होगए[२] ।'

निर्वाण अनिरुक्त अवस्था है

निर्वाण का उपदेश भगवान् ने उस अतीत सत्य के रूप में दिया था जो सम्पूर्ण साधना का आश्रय है परन्तु स्वयं जिसके आश्रय के सम्बन्ध में कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। निर्वाण अन्तिम सत्य है। उसके आगे 'नेति नेति' है। 'अथ त आदेशो नेति नेति' औपनिषद दर्शन में तो ब्रह्म के अधिष्ठान के सम्बन्ध में होती है। वही बात बौद्ध दर्शन में निर्वाण के सम्बन्ध में है। भिक्षुओं को उपदेश देते हुए भगवान् ने संयुत्तनिकाय में कहा है, "भिक्षुओ ! चक्षु,श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और शरीर का आश्रय मन है। मन का आश्रय योनिशः मनसिकार या सम्यक् स्मृति है। विमुक्ति सम्यक् स्मृति का आश्रय है। विमुक्ति का आश्रय निर्वाण है। परन्तु यदि तुम पूछो कि निर्वाण का आश्रय क्या है, तो यह एक अति प्रश्न है जिसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह ब्रह्मचर्य का जीवन

निर्वाण वह परम अतीत सत्य है जिसका कोई अधिष्ठान नहीं

कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायेथ। यस्मा च खो भिक्खवे ! अत्थि अजातं, अभूतं, अकतं, असंखतं, तस्मा जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायतीति।" उदान, पाटलिगामिय वग्गो।

(१) उदान, पृष्ठ १२७ (भिक्षु जगदीश काश्यप का अनुवाद)

(२) सुत्त-निपात (उपसीवमाणव-पुच्छा)

निर्वाण में प्रवेश के लिये ह, निर्वाण तक जाने के लिये है, निर्वाण में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिये है[१]"। यही उपदेश कुछ रूपान्तर के साथ भगवान् ने राध को भी दिया था। "राध! सम्यक् दृष्टि निर्वेद के लिये है। निर्वेद विराग के लिये है, विराग विमुक्ति के लिये है और विमुक्ति निर्वाण के लिये है। परन्तु यदि तुम पूछो कि निर्वाण किसके लिये है तो तुम प्रश्न का अतिक्रमण करते हो और उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। राध! ब्रह्मचर्य का जीवन निर्वाण में प्रवेश के लिये है, निर्वाण तक पहुँचने के लिये है, निर्वाण में परिपूर्णता प्राप्त करने के लिये है[२]।" इसी प्रकार हम देखते हैं कि जब उपासक विशाख ने भगवान् बुद्ध की शिष्या भिक्षुणी धम्मदिन्ना से पूछा था, "आर्ये! निर्वाण का प्रतिभाग (सपक्षी) क्या है"? तो उसने यही उत्तर दिया था, 'आवुस विशाख! तुम प्रश्न का अतिक्रमण कर गये। प्रश्नों की सीमा को पकड़ कर नहीं रख सके। आवुस विशाख! ब्रह्मचर्य निर्वाण-पर्यन्त है, निर्वाण-परायण है, निर्वाण-पर्यवसान है।" बाद में शास्ता ने भिक्षुणी धम्मदिन्ना के इस कथन का अनुमोदन किया था और उसे ठीक बताया था।[३] इस प्रसंग में हम गार्गी और याज्ञवल्क्य के उस संवाद को याद किये बिना नहीं रह सकते जिसमें गार्गी के यह पूछने पर कि 'ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत है?' याज्ञवल्क्य ने कहा था "गार्गी अतिप्रश्न मत कर[४]" अतः अतीत सत्य के सम्बन्ध में उपनिषदों का जो 'ब्रह्मलोक' है वही बुद्ध-शासन का निर्वाण है, यह निर्विवाद है। और यह कितना आश्चर्यजनक है कि चार ब्रह्म-विहारों (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) को भगवान् ने ब्रह्मा की सहव्यता (ब्रह्मलोक) का मार्ग बताया था[५]। चार ब्रह्म-विहार तो निर्वाण की प्राप्ति के लिये हैं। इसी तथ्य को जब भगवान् ब्राह्मणों को सिखाते थे तो अपनी उदार समन्वयात्मक वृत्ति के अनुरूप ब्राह्मणों की

---

(१) संयुत्त-निकाय, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ २१८ (पालि टैक्स्ट सोसायटी कान संस्करण)

(२) संयुत्त-निकाय, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १८९ (पालि टैक्स्ट् सोसायटी का संस्करण)

(३) चूलवेदल्ल-सुत्तन्त (मज्झिम० १।५।४)

(४) बृहदारण्यक ३।६।१

(५) सुभ-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।९)

भाषा का ही प्रयोग उनको समझाने के लिये करते थे।[१] इसीलिये उन्होंने कहा था कि चार ब्रह्म विहार ब्रह्मा की सलोकता (सहव्यता) के मार्ग हैं। अतः हम आज भी कह सकते हैं कि उपनिषदों का जो ब्रह्मलोक है (ब्रह्म ब्रह्मा से ही उत्पन्न हुआ है) वही बौद्ध दर्शन का निर्वाण है, यद्यपि बुद्ध शासन में जिस प्रकार निर्वाण और मार्ग का मेल है, उस प्रकार ब्रह्मलोक ने कोई जीवन का मार्ग नहीं दिखाया। कम से कम मार्ग पर उसमें जोर नहीं है, वह केवल एक आध्यात्मिक दर्शन है। फिर भी दोनों अन्तिम सत्य हैं, एक उपनिषदों का दूसरा बुद्ध-शासन का, नाम से अलग-अलग वस्तुतः एक।

निर्वाण असंस्कृत, सत्य, पार, अजर, ध्रुव, निष्प्रपञ्च, अमृत, शिव, क्षेम, अद्भुत, विशुद्धि, द्वीप और त्राण है

जो विद्वान् एकांश रूप से यह मानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने तो इस भव में केवल अनित्य, दुःख और अनात्म को ही देखा था, प्रतीत्यसमुत्पन्न, शून्य और संस्कृत धर्मों तक ही उनकी पहुँच थी और यहीं तक उन्होंने अपनी सीमा बना ली थी, जो यह कहते है कि भगवान् बुद्ध ने किसी परिनिष्ठित वस्तु विषयक कोई उपदेश नहीं दिया है, उन्हें भगवान् बुद्ध के एक महत्वपूर्ण उपदेश को नहीं भूल जाना चाहिये। वह उपदेश यह है। भगवान् बुद्ध ने एक बार अपने भिक्षु-शिष्यों को संबोधित कर कहा था, "भिक्षुओ! अब मैं तुम्हें असंस्कृत का उपदेश दूंगा। सत्य का...पार का...अजर का...ध्रुव का...निष्प्रपंच का...अमृत का....

---

(१) धर्मसेनापति सारिपुत्र का भी यही ढंग था। बीमार धानंजानि ब्राह्मण को जब वे उपदेश करने गये तो उन्होंने सोचा, "यह ब्राह्मण ब्रह्मलोक का श्रद्धालु है। क्यों न मैं धानंजानि ब्राह्मण को ब्रह्मा की सहव्यता का मार्ग उपदेश करूँ।" फिर धानंजानि ब्राह्मण से कहा, "धानंजानि! ब्रह्मा की सहव्यता के मार्ग का तुझे उपदेश करता हूँ, उसे सुन, अच्छी तरह मन में कर, कहता हूँ।" धानंजानि को आश्चर्य होना ही था, "ब्रह्मलोक सारिपुत्र कह रहे हैं। ब्रह्मलोक आप सारिपुत्र कह रहे हैं!" धानंजानि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।५।७)। इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि 'ब्रह्मलोक' शब्द का प्रयोग स्वयं बुद्ध और प्रारम्भिक बौद्ध साधकों ने चार ब्रह्म विहारों के द्वारा प्राप्तव्य सत्य के रूप में ही किया था, जिसका ही दूसरा नाम निर्वाण है।

शिव का....क्षेम का...अद्भुत का....विशुद्धि का....द्वीप का...त्राण का उपदेश करूँगा[1]।" यहाँ 'ध्रुव' शब्द से क्या तात्पर्य है? क्या यह परिनिष्ठित सत्य का पर्याय नहीं माना जा सकता ? फिर यहीं निर्वाण को अ-संस्कृत भी तो कहा है। इसका अर्थ है कि वह एक संस्कार नहीं है । निर्वाण अनित्य नहीं है। वह अत्यन्त सुख है। अनित्य कैसे होगा ? अनित्य तो दुःखरूप होता है। फिर वह संस्कारों की पहुँच से बाहर है। अतः निर्वाण नित्य है, ध्रुव हैं। अजर पहले निर्वाण को कह ही चुके हैं और अमृत भी। जन्म और मरण वहाँ नहीं रहते। ऊपर निर्वाण-सम्बन्धी जितने भी उद्धरण दिये गये हैं उनमें से एक भी ऐसा नहीं जो निर्वाण को अभावात्मक बताने की ओर संकेत भी कर सके, उसे एक अनिरुक्त अवस्था अवश्य कहा जा सकता है, जहाँ द्वैतमयी व्यवहार-भाषा की गति नहीं। निर्वाण सत्य है और वह अविनाशी तत्त्व है। भगवान् ने स्पष्टतम शब्दों में कहा है, "वह मृषा है जो कि नाशवान् है। जो नाशवान् नहीं है, वह निर्वाण है[2]।" निर्वाण अमोषधर्मा है, अविनाशी तत्त्व है। 'अमोसधम्मं निब्बाणं[3]। निर्वाण उच्छेदवाद नहीं है, यह केवल तृष्णा की आग का उच्छेद हो जाना है, काम की आग का बुझ जाना है। काम तृष्णा और भव तृष्णा मुक्त होने पर प्राणी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता। क्योंकि तृष्णा के सम्पर्ण निरोध से उपादान निरुद्ध हो जाता है, उपादान निरुद्ध हुआ तो भव निरुद्ध, भव निरुद्ध हुआ तो जन्म निरुद्ध, जन्म निरुद्ध हुआ तो बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, पीड़ित होना, चिन्तित होना, परेशान होना यह सब निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस सारे के सारे दुःखस्कन्ध का निरोध होता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद निर्वाण में समाप्त हो जाता है। निश्चय ही

---

(१) "असंखतं वो भिक्खवे देसिस्सामि सच्चञ्च...... पारञ्च........ अजरञ्च......धुवञ्च.....निप्पपञ्चञ्च.....अमतञ्च........ सिवञ्च.....खेमञ्च......अब्भुतञ्च....विसुद्धिञ्च......दीपञ्च ......ताणञ्च वो भिक्खवे देसिस्सामीति। संयुत्त-निकाय, जिल्द चौथी, पृष्ठ ३६०-३७२ (पालि टैक्स्ट सोसायटी का संस्करण), विसुद्धिमग्ग ८।२४८ में उद्धृत ।

(२) धातु विभंग-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।४।१०)

(३) सुत्त-निपात (पारायण वग्ग)

आचार्य नागार्जुन ने मूल बुद्ध-दर्शन को चाहे जो कुछ निषेधात्मक व्याख्यायें दी हों किन्तु सब प्रतीत्यसमुत्पन्न भावों का निर्वाण में अशेष निरोध हो जाता है और वास्तव मे निर्वाण का अर्थ ही है सभी प्रत्यय और हेतुओं से उत्पन्न और निरुद्ध होनेवाले धर्मों का अशेष निरोध, तृष्णा के बीज का अन्तिम उच्छेद, इस भगवान् बुद्ध के मन्तव्य को उन मनीषी ने सम्य रूप से दिखाया है जो यहाँ उनके (नागार्जुन के) दर्शन के रूप में नहीं बल्कि बुद्ध-मन्तव्य की विशुद्ध व्याख्या के रूप में ही उद्धृत किया जा सकता है। ऊपर समुद्धृत बुद्ध-वचन को ही वह स्पष्ट पूर्वक दिखाता है, कारणवाद की भाषा में:—

अप्रतीतमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेव निर्वाणमुच्यते ॥
या आजवंजवीभाव उपादाय प्रतीत्य वा।
सोऽप्रतीत्यानुपादाय निर्वाणमुपदिश्यते ॥

हम यहाँ स्थविरवाद तक ही सीमित रह कर यह कहना चाहते हैं कि निर्वाण में कारणवादों की गति नहीं चलती। जो प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म हैं वे वहाँ नहीं रहते। निर्वाण असंस्कृता धातु है। वह परम सत्य है। वह अभाव से व्यतिरिक्त अवस्था है, अत्थि धम्म है। 'संस्कृत' और 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' धर्मों से व्यतिरिक्त भी अस्तित्व है, इसे भगवान् ने स्वीकार किया है! और यही निर्वाण है। 'अत्थि भिक्खवे अजातं अभूतं, अकतं, असंखतं' अर्थात् हे भिक्षुओ! है वह निब्बाण जो जात, भूत, कृत और संस्कृत से व्यक्तिरिक्त है। 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते'। यदि वह नहीं होता तो इस जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम ही नहीं हो सकता था? 'नोचे तं भिक्खवे, अभविस्स अजातं अभूतं, अकतं असंखतं न यिध जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायेथ'। 'इसलिए भिक्षुओ है वह अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत जिससे ही जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है। 'यस्मा च खो भिक्खवे! अत्थि अजातं अभूतं अकतं असंखतं तस्मा जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायतीति'। निश्चय ही इस 'अजात् अभूत, अकृत, असंस्कृत' को माने बिना न तो बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद की ही सङ्गति लग सकती है, जैसा कि हम पहले अनात्मवाद के विवेचन में विस्तार से दिखा आए हैं, और न निर्वाण की ही। 'अजात', 'अभूत' तत्त्व की विद्यमानता की ही दूसरी अभिव्यक्ति भगवान् बुद्ध के द्वारा इन शब्दों में हुई है 'अत्थि भिक्खवे तदायतनं, यत्थ नेव पठवी

न आपो न तेजो न वायो न आकासानञ्चायतनं, न विञ्ञाणानञ्चायतनं, न आकिञ्चञ्ञायतनं नेव सञ्ञानासञ्ञायतनं नायं लोको व परलोको उभो चन्दिमसुरिया, तदाहं भिक्खवे ! नेव आगतिं वदामि न गतिं न ठितिं न चुतिं न उपपत्तिं, अपतिट्ठं अपावत्तं अनारम्मणमेव तं एसेवन्तो दुक्खस्साति[1] ।' अर्थात् 'हे भिक्षुओ ! वह एक आयतन है जहाँ न पृथ्वी है न जल है, न तेज है, न वायु है । भिक्षुओ ! न आकाशानञ्चायतन है, न विज्ञानानञ्चायतन है, न अकिञ्चन्यायतन है, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है। वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है और न चन्द्रमा सूर्य हैं। भिक्षुओ ! न तो मैं उसे 'अगति' कहता हूँ और न 'गति' कहता हूँ । न 'स्थिति' और न 'च्युति कहता हूँ। उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता। वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है । यही दुःखों का अन्त है।' उस अनिरुक्त अवस्था को भगवान् ने स्वीकार अवश्य किया है, किन्तु उस अनिरुक्त को उन्होंने अनिरुक्त ही रहने दिया है, उसे वाणी का विषय बनाकर बिगाड़ा नहीं, सिवाय उपशान्त होने के उसके विषय में और उन्हें कुछ सूझा नहीं। जो 'गति' नहीं है और जो 'अगति' नहीं है, जो 'स्थिति' नहीं है और साथ ही जो 'च्युति' नहीं है, उस अविज्ञात को किन शब्दों में वर्णित किया जाय ? उसके विषय में औपनिषद ऋषि भी 'क' से अधिक क्या कह सके हैं ? तथागत ने तो केवल कहा है 'एसेवन्तो दुक्खस्साति' यह दुःख का अन्त है, 'दिट्ठे धम्मे दुक्खस्स अन्तकरो होति[2]' 'धर्म के देखलेने पर दुःख का अन्त करने वाला होता है । इसके अतिरिक्त जो भी कुछ भगवान् ने कहा है वह निषेधात्मक भाषा में ही कहना पड़ा है। व्यावहारिक जीवन से निर्वाण की स्थिति इतनी विभिन्न है कि मानवीय भाषा के निर्बल उपकरणों से उसको किसी भी प्रकार निरुक्त किया ही नहीं जा सकता। यहाँ सभी कुछ सापेक्ष है सविकल्प, निर्वाण अनपेक्ष है, निर्विकल्प है। यहाँ सभी कुछ प्रतीत्य समुत्पन्न ही है। निर्वाण में प्रत्यय नहीं है। 'वह अजात, अभूत,

---

(१) उदान, पाटलिगामियवग्गो; मिलाइए 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकौ' उपनिषद्, देखिए पांचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन ।

(२) समादिट्ठि सुत्त (मज्झिम० ११९) मिलाइए 'भिद्यते हृदय ग्रन्थिः .... दृष्टे तस्मिन् परावरे' कठोपनिषद्; देखिए पाँचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन ।

अकृत और असंस्कृत है'। इससे अधिक विधानात्मक और निषेधात्मक कहा ही क्या जा सकता है। उस परम तत्व के विषय में 'अत्थि' भगवान् ने कहा है। इतना ही हमारे लिए पर्याप्त है। इससे हम अपना काम चला लेंगे। देखिए :

'जातं भूतं समुप्पन्नं कतं संखतमद्धुवं।
जरामरण संखतं रोगनीलं पभंगुरं॥
आहार नेत्तिप्पभवं नालं तदभिनन्दितुं।
तस्स निस्सरणं सन्तं अतक्कावचरं धुवं॥
अजातं असमुप्पन्नं अशोकं विरजंपदं[1]।
निरोधो दुक्ख धम्मानं संखारूपसमो सुखो॥'

(इतिवुत्तक, अञ्ञात सुत्त)

भव-धम्म है जीवन 'जो पैदा हुआ, जो बनाया हुआ, जो संस्कृत (संघात), अध्रुव, जरामरणशील, रोगों का घर, क्षण भंगुर, आहार पर स्थित है, उसका अभिनन्दन करना युक्त नहीं।' यह विनाशी है।

अत्थि-धम्म है अभूत, अजात, असंस्कृत—निब्बाण 'उससे मुक्ति, शान्त, अतर्कावचर, ध्रुव, अजात, असमुत्पन्न, शोक रहित पद है, वही दुःख धर्मों का निरोध है, संस्कारों का उपशमन है, सुख है।' वह अविनाशी है।

ऊपर उद्धृत 'उदान' और 'इतिवुत्तक' के बुद्ध-वचनों से (जिनकी विस्तृत व्याख्या में यहाँ नहीं जाया जा सकता) यह लेखक यह विनम्र प्रस्ताव रखता है (विशेषतः अनात्मवाद के पूरे रास्ते पर जानेवाले बौद्ध विद्वानों और साधकों से) कि क्या उपर्युक्त 'अजात, अभूत, अकत, असंखत' तत्व (जब तक कि इसकी भी अभावात्मक व्याख्या करके न उड़ा दी जाय; उस हालत में 'अस्ति' का बल ही क्या रहेगा 'अत्थि भिक्खवे अजातं अभूतं ......) के प्रकाश में बुद्ध का 'अनात्मवाद' निरुक्त अवस्था को ही उद्दिष्ट कर सिखाया हुआ सिद्धान्त उपपन्न नहीं होता, अर्थात् क्या उसका क्षेत्र जात, भूत, कृत संस्कृत धर्मों पर ही परिसमाप्त नहीं हो जाता (जिस प्रकार कि प्रतीत्य समुत्पाद का हो जाता है, देखिए ऊपर निर्वाण की स्थिति में प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त का

(१) मिलाइए ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः ; तरति शोकमात्मविद्; आदि आदि, देखिये पांचवें प्रकरण में उपनिषदों के दर्शन का विवेचन।

अभाव)। अतः जब 'जात, भूत, कृत, और संस्कृत', पदार्थों से व्यतिरिक्त 'अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत' तत्व की स्वीकृति 'अत्थि' के रूप में भगवान् के द्वारा हुई है तो क्या उस 'अजात' की अपेक्षा में ही, उस 'सन्तं' 'असोकं' 'विरजं पदं' की अपेक्षा में ही, भगवान् बुद्ध ने इस समग्र 'जात, भूत, कृत और संस्कृत' को अनित्य, अनात्म और दुःख बताया, ऐसा क्या निष्पक्ष रूप से सोचा नहीं जा सकता? उस हालत में भगवान् के इस प्रकार के वाक्य

'यथा हि अंग सम्भारा होति सद्दो रथो इति ।
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोति सम्मुति ॥'

अर्थात् 'जिस प्रकार अलग अलग अंगों के आधार पर 'रथ' की उसी प्रकार पाँच स्कन्धों के आधार पर व्यक्तित्व के व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है।' (जिसकी पूर्ण निषेधात्मक रूप से नागसेन के द्वारा की हुई व्याख्या हम देख आए हैं) और ये वाक्य ही नहीं किन्तु भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सभी पंचस्कन्धों और अनात्मवाद सम्बन्धी वाक्य जिनको सभी को त्रिपिटक में से छान छान कर निकाल लिया जाय तो क्या ये सब वाक्य पूर्ण संगति के साथ ही बुद्ध की मूल भावना को बिना आघात पहुंचाएँ हुए (अर्थात् अनात्मवाद के प्रकाश में ही) उपर्युक्त 'अजात' अभूत अकृत, असंस्कृत' तत्व की अपेक्षा में ही व्याख्यात नहीं किए जा सकते? निश्चय ही भगवान् तो कहते हैं कि यदि 'वह' अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत न होता तो जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम ही कैसे संभव हो सकता? 'नो चेतं भिक्खवे अभविस्स अजातं अभूतं, अकतं, असंखतं नयिध जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायेथ'। यह लेखक यह कहने का साहस कर सकता है कि इससे अधिक एक शब्द भी शंकर ने बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के विषय में नहीं कहा है। उनके समग्र प्रतिभाशाली और प्रभावशाली (और ऐसे वे होने ही चाहिए जब शंकर जैसे आचार्य हों, नैरात्म्यवादी जैसा दर्शन हो, व्यवस्थामय जैसा यह जगत् हो) तर्कों का जोर इसी एक प्रधान तर्क पर है कि 'भवेदुपपन्नः संघातो यदि संघातस्य किंचिन्निमित्तमवगम्येत । न त्ववगम्यते'। यह सब हम विस्तृत और निष्पक्ष रूप से पांचवें प्रकरण में देखेंगे। यदि शंकर के कान में कोई यह बुद्ध-बचन डाल देता 'क्योंकि वह अजात, अभूत, अकृत असंस्कृत है, अतः जात, भूत, कृत और संस्कृत का व्युपशम जाना जाता है' (अत्थि अजातं अभूतं अकतं असंखतं तस्मा जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायतीति) तो वे 'अजातिवाद' के व्याख्यानकर्ता (गौडपाद) के प्रशिष्य (गोविन्द भगवत्पूज्यपाद) के शिष्य

शंकर कम से कम 'न त्ववगम्यते' तो किसी भी प्रकार कह ही नहीं सकते थे, अन्य चाहे जो कुछ कहते, क्योंकि जो कमी वे बुद्ध के दर्शन में दिखाना चाहते हैं उसका परिहार तो भगवान् बुद्ध पहले ही कर चुके हैं। किन्तु यह सब होता कैसे ? बौद्ध आचार्यों ने भी तो पहले से ही निषेधात्मक दृष्टि पर अधिक जोर दे दिया है। विसुद्धिमग्गकार का यह उद्धरण कि

दुक्खमेव हि न च कोपि दुक्खितो
न कारको क्रिया च विज्जति ।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुम
मग्गं अत्थि गमको न विज्जति ॥

'दुःख ही यहाँ है किन्तु दुःखित कोई नहीं, क्रिया ही मात्र है, कारक को नहीं, निर्वाण है किन्तु निर्वृत मनुष्य कोई नहीं, मार्ग है किन्तु उसपर चलने वाला ही नहीं'।

यह उद्धरण यदि आत्यन्तिक रूप से व्याख्यात किया जाय तो यह कब अवकाश देता है कि किसी 'अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत' तत्व को माना जाय ? यहाँ तो मार्ग ही मार्ग है, निर्वाण ही निर्वाण है, क्रिया ही क्रिया है, मार्ग पर चलनेवाले का, निर्वाण का 'उपभोग' (अर्थात् अनुभव) करने वाले का अथवा क्रिया के करनेवाले का कहीं पता ही नहीं, वह कहीं मिलता ही नहीं। यदि आत्यन्तिक रूप से ऐसा ही है तो शंकर क्या गलती करते हैं यदि वे कहते हैं 'यद्भोगार्थः संघातः स्यात् स नास्ति स्थिरो भोक्तेति तवाभ्युपगमः। ततश्च भोगो भोगार्थ एव स नान्येन प्रार्थनीयः। तथा मोक्षो मोक्षार्थ एवेति मुमुक्षुणा नान्येन भवितव्यम्। अन्येन चेत् प्रार्थ्येतोभयं भोगमोक्ष कालावस्थायिना तेन भवितव्यम्[1]।' यह तो निश्चय ही एक स्वाभाविक निष्कर्ष है। आत्यन्तिक रूप से ही अनात्मवाद का निदर्शन न केवल स्थविरवाद परम्परा के कुछ और आचार्यों ने ही किया है, बल्कि उनसे भी बढ़कर उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने किया है। उन्होंने तो किसी 'अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत' तत्व की पंचस्कन्धों या प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों से व्यक्तिरिक्त सत्ता ही नहीं मानी। इस प्रकार संस्कृत बौद्ध धर्म में भगवान् बुद्ध कहते हुए दिखाये गए हैं—

---

(१) देखिए पांचवें प्रकरण में शांकर दर्शन का विवेचन। हिन्दी अनुवाद और विवेचन वहीं उपलब्ध हैं।

'इति हि भिक्षवोऽस्ति कर्म अस्ति फलं कारकस्तु नोपलभ्यते य इमान् स्कन्धान् विजहाति अन्यांश्च स्कन्धान् उपादत्ते अन्यत्र धर्मसंकेतात्। अथायं धर्मसंकेतो यदस्मिन् सति इदं भवति अस्योत्पादादिदमुत्पद्यत इति[1]'। (हे भिक्षुओ ! कर्म और फल हैं, किन्तु कारक की कहीं उपलब्धि नहीं होती कोई ऐसा कारक नहीं जो इन स्कन्धों को छोड़े अथवा अन्यों का ग्रहण करे सिवाय धर्म संकेत के। और 'धर्म संकेत' यह है कि 'इसके होने से यह होता है, उसके उत्पाद से यह उत्पन्न हो जाता है'।

अब इन दोनों उपर्युक्त उत्तरकालीन आचार्यों के मन्तव्यों की इस बुद्ध-वचन से हम तुलना करें 'अजातं असमुप्पन्नं असोकं विरजं पदं। निरोधो दुक्खधम्मानं संखारूपसमो सुखो'। यदि निर्वाण तत्व या परम तत्व 'अजात' है तो वह कहाँ से आ गया? जो कुछ भी उत्पन्न होता और निरुद्ध होता है वह तो सभी प्रतीत्य समुत्पाद का विषय है और आप कहते हैं कि प्रतीत्य-समुत्पाद या धर्म संकेत से अन्य कोई है नहीं जो इन स्कन्धों को ग्रहण करे या छोड़े (य इमान् स्कन्धान् विजहाति अन्यांश्च स्कन्धान् उपादत्ते अन्यत्र धर्मसंकेतात्)। तो फिर यह 'अजात' कहाँ से आ गया ? फिर यही बात निर्वाण के असमुत्पन्न स्वरूप के विषय में भी है। इसी प्रकार जितना भी भूत-भौतिक और चित्त-चेतसिक व्यवहार है वह तो दुःख-अनित्य और अनात्म रूप ही है और इस भूत, भौतिक और चित्त और चेतसिक व्यवहार से व्यतिरिक्त तुम कुछ मानते नहीं हो, तो फिर भदन्तो ! 'अजात, असमुत्पन्न, अशोक, विरज पद, संस्कारशम, सुख' की तुम कल्पना कहाँ से करते हो जब तक कि विश्व के शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध के इन शब्दों को ध्यानपूर्वक न सुनो जो तुम्हारे सब नैरात्म्यवादों और वेदान्तियों के नैरात्म्यवाद सम्बन्धी सभी प्रत्याख्यानों को भेदन करते हुए, दुःखों के अन्त और उसकी संगति को इन महनीय शब्दों में उपस्थित करते हैं जिनकी व्यापक विस्मृति ही हमें यहाँ उन्हें अनेक बार उद्धृत करने को उत्साहित करती है—

'अत्थि भिक्खवे अजातं, अभूतं, अकतं, असंखतं नो चे तं भिक्खवे। अभविस्स अजातं, अभूतं अकतं असंखतं न यिध जातस्स भूतस्स कतस्स संखतस्स

---

(१) 'बोधिचर्यावतारपञ्जिका' तथा 'माध्यमिकवृत्ति' में उद्धृत। देखिए विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सेन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ९०, पद संकेत ४४

निस्सरणं पञ्ञायेथ। यस्मा च खो भिक्खवे। अत्थि अजातं, अभूतं, अकतं, असंखतं तस्मा जातस्य भूतस्स कतस्स संखतस्स निस्सरणं पञ्ञायतीति'।

अतः निष्पक्ष भाव से देखने पर इस लेखक को ऐसा मालूम पड़ता है ('ऐसी मेरी श्रद्धा है', 'ऐसा मैं जानता हूँ' ऐसा कहते हुए सत्य का आघात नहीं किया जाता'। बुद्ध वचन के अनुसार ही मैं जानता हूँ कि अच्छी प्रकार से श्रद्धा किया हुआ भी, अच्छी प्रकार से सोचा हुआ भी, गलत हो सकता है और ठीक भी। अतः अपने भी मत में मैं अभिनिवेश कैसे रख सकता हूँ—'तान् असाध्यान् वभाषिरे') कि भगवान् तथागत ने अपने को चूंकि अनुभव जगत् से ही अधिक सम्बद्ध रक्खा है, दुःखी प्राणियों के दुःख को ही अधिक देखा है, सम्यक् सम्बुद्ध होकर भी मनुष्य को केवल उतना ही बताया है जितना कि उसे जरूरत है (जिसके विवेचन में हम पहले 'अनात्मवाद' के प्रसंग में प्रवृत्त हो चुके हैं) अतः नाम-रूपात्मक अथवा यों कहिए कि पञ्च-स्कन्धात्मक जगत् में से किसी भी स्कन्ध की व्यष्टि या समष्टि रूप में एकात्मतः अपने साथ करने की भावना (जो कि सब दुःखों का कारण है,—'सभी संस्कार दुःख हैं—रूप दुःख है, वेदना दुःख है, संज्ञा दुःख है, संस्कार दुःख है, विज्ञान दुःख है' बुद्ध-वचन—'दृष्ट्रदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः'—योगसूत्र) का उन्होंने निषेध किया है। अतः 'रूप आत्मा नहीं है' रूपवान् आत्मा नहीं है, रूप में आत्मा नहीं है, रूप आत्मा में नहीं है' ऐसा उन कारुणिक शास्ता ने सिखाया है, और इसी को अनात्मवाद कहा है अथवा इसी से द्योतित किया है 'आत्मवाद', 'आत्मग्राह', 'आत्मदृष्टि' 'आत्माभिनिवेश' अथवा 'सत्काय दृष्टि' इन सबका उच्छेद भी। जो 'आत्मवाद' का उच्छेद है, वही अनात्मवाद है। किन्तु निश्चय ही यहाँ 'आत्मवाद' से तात्पर्य 'आसक्ति' से ही है, गीता में जिसे 'संग' कहा है उससे ही है, ऐसा हम कह सकते हैं। 'आत्मावाद-उपादान' शब्द से यही अर्थ स्पष्ट है। 'आसक्ति' ही बन्धन का कारण होती है, 'मैं, मेरा और मुझमें' ही मनुष्य को बाँधते हैं। किसमें ? रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में। ये रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार, विज्ञान किस स्वभाववाले हैं ? अनित्य, दुःख। उनमें 'मैं, मेरा, मुझमें' करने से क्या सुख मिलेगा ? 'नहीं' ! 'तस्माद्दुःखं स्वभावेन' (सांख्य के शब्द यहाँ क्षम्य हों)। इसलिए दुःख तो दुःख ही हुआ। किन्तु तथागत तो दुःख-निवृत्ति के लिए अवतरित (साधारण प्रयोग) हुए हैं, अतः दुःख निवृत्ति का मार्ग उन्होंने बताया है। और यह है वही जो अनात्मवाद अर्थात् पञ्चस्कन्धों में 'न मेरा, 'न मैं' आदि की भावनाएँ। किन्तु यदि पञ्चस्कन्धों को ही अन्तिम

तत्व मान लिया जाय और प्रतीत्य समुत्पाद को ही अन्तिम व्यवस्था, तो इन दोनों की विद्यमानता होने पर हम 'अशोक, शान्त, संस्कारशम, सुख' रूप निर्वाण की बात कहने का भी अधिकार नहीं रखते और चूंकि तथागत ने अधिकार पूर्वक उपर्युक्त लक्षणों से विशिष्ट निर्वाण पद का उपदेश दिया है, अतः उसके साथ-ही-साथ हम उसके 'अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत,' तत्व को भी नहीं भुला सकते जो एक ही साथ उनके द्वारा उपदिष्ट निर्वाण का स्वरूप है तथा उन दोनों अर्थात् निर्वाण और अनात्मवाद की संगति भी। अतः जब हम भगवान् के इस प्रकार के वचन देखते हैं 'भिक्षु समझता है कि मेरी क्रियाओं के पीछे कोई करनेवाला नहीं है, कोई आत्मा नहीं, क्रिया मात्र हैं' तो हम उनके इस वचन को विना उनके द्वारा उपदिष्ट अनात्मवाद की मूल भावना पर आघात किए हुए बिलकुल उसी अर्थ का द्योतक मान सकते हैं जिस अर्थ में कि गीताकार ने 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते[1]', नाहं किञ्चित् करोमीति', 'मूढ़ः. . . .कर्ताऽहमिति मन्यते' आदि कहा है[2], या सांख्यकार ने 'नास्मि न मे नाहं' आदि कहा है[3]। इस अर्थ को लेकर भगवान् के द्वारा उपदिष्ट तृष्णा का निरोध बड़ी अच्छी तरह से व्याख्यात है और इसीलिए स्वभावतः दुःख की निवृत्ति भी जिसको छोड़ भगवान् तथागत ने और कुछ सिखाने का दावा ही नहीं किया। किसी अतीत सत्यता के निषेध को दिखलानेवाला तथागत का 'अनात्मवाद' सिद्ध नहीं किया जा सकता, यही सब हमारे कहने का सारांश है। जिस कारण से तथागत ने इसे प्रख्यापित नहीं किया है उसे हम 'अनात्मवाद' के विवेचन में दिखा चुके हैं और कुछ यहाँ भी। किन्तु निर्वाण के उपदेश के प्रसंग में भगवान् उस बात को दिखा गए हैं जिसे वे अनात्मवाद के प्रसंग में नहीं दिखा सके, अथवा इसी बात को यों कहना चाहिए कि साधन-पक्ष के प्रसंग में जिस बात पर उन्होंने मौन रक्खा है, साध्य-पक्ष पर आते समय 'अस्ति' केवल इस एक विधानात्मक शब्द से प्रज्ञापित कर अन्य सब को यहाँ भी अप्रज्ञप्त छोड़ दिया है क्योंकि सिवा 'अस्ति' के और कुछ कहा ही नहीं जा सकता और जो कुछ कहा भी जायेगा वह निषेधात्मक भाषा में ही होगा, इसलिए 'अत्थि भिक्खवे!

(१) जैकोबी ने सांख्य 'गुणों' की बौद्ध 'संस्कारों' से समानता दिखाई है। देखिये पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन' का विवेचन।
(२) देखिए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और गीता-दर्शन' का सम्बन्ध-विवेचन।
(३) देखिए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शन' का सम्बन्ध-विवेचन।

अजातं अभूतं अकतं असंखतं'। केवल यही कहा गया यही निर्वाण है और दुःखों का अन्त भी है यही 'एसेवन्तो दुक्खस्साति'। हमें इस सार्थक तथ्य को सदा ध्यान में रखना चाहिये कि निर्वाण के भावात्मक और निषेधात्मक रूपों में जिन शब्दों का प्रयोग बौद्ध परिभाषा में किया गया है वे प्रायः पूरी तरह से वेदान्त के ब्रह्म के लिये भी लागू होते हैं। बुद्धोपदिष्ट निर्वाण के सम्बन्ध में हम पहले उद्धरण के आधार पर दिखा चुके हैं कि वह विमुक्ति है, अमृतपद है, योगक्षेम है, अच्युत पद है, शान्त है, शिव है, ध्रुव है, त्राण है, द्वीप है, सत्य है, अत्यन्त सुख है, परम अतीत है, निष्प्रपंच है, अस्ति-धर्म है, सत् है। यही सब विशेषण वेदान्त ने ब्रह्म के संबंध में भी प्रयुक्त किये हैं। निषेधात्मक रूप में निर्वाण अकृत है, असंस्कृत है, राग, द्वेष, मोह का विनाश है, तृष्णा और आस्रवों का निःशेष है, असंस्कृता धातु है, और अभिधम्म की पदावली में अव्याकृत है, असंस्कृत है, न स्वयं विपाक है और न विपाक को उत्पन्न करनेवाला है (विपाक-न-विपाक धम्म) 'अनुपादिन्न' और अप्रमाण (असीम), अहेतु, अपरामृष्ट, चित्त-विप्रयुक्त, चित्त-विसंसृष्ट, अ-चेतसिक, अनालम्बन, अ-प्रीतिक, अ-परियापन्न, अनुत्तर और अनिय्यानिक आदि है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब विशेषण वेदान्त के निर्गुण-निर्विशेष के लिये भी उसी प्रकार लागू हैं।

यहाँ हमने निर्वाण के प्रसंग में ब्रह्म और अनात्मवाद का प्रसंग छेड़ दिया जो कुछ को अनपेक्षित-सा जान पड़ सकता है। किन्तु वास्तव में बात ऐसी बिलकुल नहीं है। निर्वाण में अनात्मवाद का सवाल अपने आप अभिव्याप्त है। निर्वाण के स्वरूप को समझने के लिए अनात्मवाद के स्वरूप को समझना अत्यन्त आवश्यक है और बिना 'अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत' स्वरूप निर्वाण को समझे हम अनात्मवाद को कभी समझ ही नहीं सकते। निर्वाण की ब्रह्म से तुलना करने पर अनात्म तत्त्व के दो स्वरूप की अवगति होती है। इन्हीं दो दृष्टिकोणों को सामने रखकर हमने इन दोनों के सम्बन्ध को उपर्युक्त रूप से निरूपित किया है। वास्तव में बात तो यह है कि अनात्मवाद और निर्वाण दोनों का समझना ही कठिन है। 'अनत्त' तो दुर्दर्श है ही, सत्य रूप निर्वाण भी सुख से दर्शन करने योग्य नहीं है[1]। निश्चय ही जितना वह साक्षात्कार करने में कठिन है उतना ही वर्णन करने में भी[2]। किन्तु यहाँ

---

(१) दुद्दस्सं अनत्तं नाम न हि सच्चं सुदस्सनं। उदानं, पाटलिगामिय वग्गो।
(२) प्रसिद्ध जापानी बौद्ध पंडित यामाकामी सोजन ने भी यही अनुभव किया है।

यदि सांख्यकार की एक उक्ति को स्मरण करने लग जायँ जिससे भगवान् तथागत भी असहमत नहीं हो सकते, अर्थात् यह कि 'विमुक्ति प्रशंसा तो मन्दों की ही होती है' 'विमुक्ति-प्रशंसा मन्दानाम्' तो हम इन सब बौद्धिक विवेचनों को छोड़ केवल इसी अनुत्तर सत्य पर डटते हैं कि—

'पटिविद्धा तण्हा जानतो पस्सतो किञ्चनंति ।

अर्थात् ज्ञानी की तृष्णा जब नष्ट हो जाती है तब उसे रागादि क्लेश कुछ नहीं होते। यही निर्वाण है । 'एतद्वै तत्' । क्या ? वही जो 'अजात अभूत, अकृत, असंस्कृत', जिससे निस्सरण जाना जाता है जात, भूत, कृत और संस्कृत का । हमारा बार-बार उसी बिन्दु पर लौटकर आना अशेष नैरात्म्यवाद की पाठशाला में पढ़े हुए व्यक्तियों को 'सत्काय दृष्टि' पर ही बार-बार लौट आने का आभास दे सकता है और वे निश्चय ही कह सकते हैं कि हमने केवल मिलिन्द राजा के उठाए हुए कुछ पूर्वपक्षों को ही गलत रूप से रक्खा है[1]। यह हो सकता है क्योंकि लेखक की वर्णन-शक्ति और चिन्तन-शक्ति बहुत अल्प है और जब आनन्द जैसे शिष्य को तथागत ने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के विषय में एक साधारण दृष्टि लेने से रोका तो हम बपुरे कौन हैं जो अनात्मवाद या निर्वाण के विषय में एक शब्द भी साधिकार कह सकें, जिन्होंने न आचरण से और न सम्यक् विचार से कभी यह देखा कि निर्वाण-मार्ग का प्रथम पद भी क्या होता है ? जो कुछ कहा है वह अध्ययन के आधार पर ही कहा है और इसकी सम्यक् अनुभूति है कि जब औपनिषद अर्थ में भी 'आत्मा' जैसी कोई परिनिष्ठित वस्तु बुद्ध के विचार (बौद्ध दर्शन बिलकुल बिचार के बाहर है) में देखी जाती है तो वह केवल अर्थापत्ति से ही वहाँ आती है अर्थात् बुद्ध के निर्वाण

'This description of निर्वाण is, I acknowledge, almost as difficult to understand as निर्वाण itself is to realize', सिस्टम्स ऑफ़ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ ४२

(१) निश्चय ही कुछ तो वात्सीय पुत्रियों का ही प्रत्यावर्तन यहां देख सकते हैं (जिन्होंने बौद्ध धर्म के पूर्व विकास में बुद्ध के शब्दों को तोड़-मरोड़ कर 'आत्मा' और 'पुद्गल' वादों को सिद्धि करने की कोशिश की थी— देखिए आगे बौद्ध धर्म और दर्शन का विकास) । किन्तु हम 'वात्सीयपुत्रिय' नहीं हैं !

आदि के उपदेशों को देखकर यह अनुमान लगाना पड़ता है कि यदि इनकी संगति मिलानी है तो निरुक्त जगत को छोड़कर (जहाँ अनात्म ही अनात्म है) अनिरुक्त अवस्था में कोई तत्व अवश्य ऐसा होना चाहिए जो उनकी प्रतिष्ठा स्वरूप हो। इसका अर्थ यह है कि जब बुद्ध अनित्य और दुःख के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि यह 'अत्ता' नहीं हो सकता, तो जिसे वे स्वयं 'अत्यन्त सुख' और 'अच्युत' 'ध्रुव', 'सत्य' और परम शान्त कहते हैं क्या उसे 'अत्ता' कहना ठीक न होगा ? किन्तु यह बुद्ध ने भाषित नहीं किया है। अतः दोनों ही अर्थ निकल सकते हैं अर्थात् 'है' भी और 'नहीं' भी। बौद्ध धर्म और दर्शन के इतिहास में दोनों अर्थ निकाले भी गए हैं, किन्तु उनके विरोधियों ने उन्हें 'न' कहने का ही पक्षपाती अधिक ठहराया है। चूंकि यहाँ निर्वाण के प्रसंग में हमें स्पष्टतः 'अत्थि' कहा हुआ मिलता है इसलिए हमने उसको जैसा समझा है प्रकट किया है। जो बौद्ध ग्रन्थ (और वे 'मिलिन्द प्रश्न' जैसे स्थविरवादी ग्रन्थ से लेकर अन्य बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों में अनेक हैं) निषेधात्मक रूप से बुद्ध-मन्तव्य को प्रकट करते हैं उनसे निश्चय ही हमारा मत अनुकूल नहीं पड़ता है और इस दृष्टि से हम बुद्ध की मूल भावना को समझने में ही भ्रमित समझे जा सकते हैं, किन्तु हमारा विचार यह है कि अनेक बौद्ध आचार्य ऐसे भी हैं, जिनमें अश्वघोष का नाम सर्वप्रथम स्मरणीय है, जो हमें अपने चिन्तन में उत्साहित करते हैं और नागार्जुन की भी यदि परम्परायुक्त व्याख्या न ली जाय तो वे भी हमें काफी आश्वासन दे सकते हैं। किन्तु इन आचार्यों का तो यहां कुछ सवाल ही नहीं। हमें शंकर, अश्वघोष या नागार्जुन से इस समय क्या करना है ? हमें तो बुद्ध-मन्तव्य ही यहां विवेचनीय है। और स्थविरवाद की परम्परा में होने से स्थविर नागसेन हमें अपना साक्ष्य सुना सकते हैं, किन्तु अन्य मनीषियों का तो आह्वान (शंकर भी एक बार तो बुलाए गए !) हमें अपनी एक विशेष व्याख्या को सुस्पष्ट करने के लिए ही करना पड़ा, जिसको भी उनके साथ ही साथ चले जाना चाहिए। 'साऽपि पश्चात् प्रहीयते।'

स्थविरवाद-परम्परा में निर्वाण दो प्रकार का माना गया है, (१) सोपाधिशेष निर्वाण और (२) अनुपाधि शेष निर्वाण[1]। लोभादि दस

(१) यह विभेद अन्य बौद्ध सम्प्रदायों को भी मान्य है। देखिए सोजन : सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ ३६

क्लेशों के अत्यन्त विनाश होने को सोपाधिशेष निर्वाण कहत हैं। 'क्लेश'. (पालि किलेस) शब्द स्थविरवाद बौद्ध धर्म में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जिसके द्वारा मन मलिन किया जाता है (किलिस्सति), जलाया जाता है (उपतप्पति) दुःखित किया जाता है (वाधियति) या प्राणियों को साधारणतः जो मलिन भाव (मलिन भावं विहीण भावं) को प्राप्त कराता है, वह क्लेश कहलाता है[1]। ये क्लेश दस हैं[2], यथा लोभ (लोभ), द्वेष (दोसो) मोह (मोहो) मान, दृष्टि (दिट्ठि) विचिकित्सा (विचिकिच्छा) स्त्यान (थीनं) औद्धत्य (उद्धच्चं) अह्री (अहीरिकं) तथा अनुत्ताप (अनोत्तप्पं) हम पहले देख चुके हैं कि भगवान् तथागत ने 'एहिपस्सक धम्म' का उपदेश दिया है और उनका निर्वाण भी सर्वप्रथम 'एहिपस्सक धम्म' ही है। सोपाधिशेष निर्वाण जीवन की अवस्था का निर्वाण है और निरुपाधि-शेष जीवन की अवस्था के बाद का। निर्वाण का साधारण अर्थ है 'निर्गतं वानं गमनं यस्मिन् तत् निर्वाणम्' अर्थात् जिसमें गमन या संसरण निवृत्त हो जाए वह निर्वाण है[3]। यह निर्वाण की अवस्था जीवन के पहले भी प्राप्त की जा सकती है और वही वास्तव में बाद में पुनर्जन्म को हटानेवाली भी होती है। सोपाधि-शेष निर्वाण और निरुपाधि-शेष निर्वाण को ही हम क्रमशः निर्वाण और परिनिर्वाण कह सकते हैं। सोपाधिशेष निर्वाण अनुभव जगत् से सम्बन्ध रखता है और निरुपाधि-शेष अतीत जगत् से। इसी दृष्टि से दोनों के स्वरूपों में भी और वर्णनों में भी विभेद है। तथागत के लिए इस जीवन का निर्वाण कम महत्वपूर्ण नहीं था और उसीसे हम बाद के निर्वाण को भी अनुमेय कर सकते हैं, अन्य कोई मार्ग उसे समझने

---

(१) 'क्लेश' शब्द के योग में व्यवहार के लिए देखिए पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध-दर्शन और सांख्य-योग' पर विवेचन ।

(२) कभी क्लेश का द्विविध विभाग भी किया जाता है यथा 'भावना हेय क्लेश' तथा 'दर्शन हेय क्लेश' स्थविरवाद परम्परा को दशविध क्लेश ही अधिक मान्य है और 'धम्म संगणि' में वह वैसे ही दिया है ।

(३) यूआन-चुआङ के द्वारा दिए हुए चार अर्थों (अशेष भव-विमुक्ति, क्लेश कर्म निर्वृत्ति, पञ्चस्कन्धों आदि के गहन कान्तार में से निकलना, कर्म-सूत्र का नितान्त अभाव या उच्छेद) के लिए देखिए, यामाकामी सोजन : सिस्टम्स ऑव बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ ३०-३१;

का नहीं है। सोपाधिशेष निर्वाण प्राप्त करने की चार सीढ़ियाँ हैं, यथा स्रोतापन्न होना, सकृदागामि होना, अनागामि होना तथा अर्हत् होना। 'जो कुछ समुदय-धर्म है, वह सब निरोध-धर्म है' (यं किंचि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोध धम्मंति') ऐसा विमल ज्ञान अर्हत् को होना चाहिए। सोपाधिशेष निर्वाण की अवस्था, जिसे हम जीवन्मुक्ति की अवस्था कह सकते है, निश्चय ही आनन्द से भरी हुई होती है। 'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्' यह गीता की भावना एक अर्हत् के लिए सर्वथा चरितार्थ होती है। वह आनन्द से भरा रहता है और इसमें तनिक भी हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। भगवान् बुध इस प्रकार की अवस्था को 'ब्रह्म प्राप्ति' की अवस्था कहकर पुकारते हैं और निर्वाण-सुख रूपी चेतोविमुक्ति-सुख का अनुभव कर विहरते हुए अर्हत् को 'ब्रह्मभूत' कहकर पुकारते हैं। सर्वत्र ही अर्हतों को हम इस प्रकार, 'ब्रह्मानन्द' में डूबते हुए देखते हैं:—

'सुसुखं वत जीवाम येसं नो नत्थि किञ्चन।
पीतिभक्खा भविस्साम देवा आभस्सरा यथा' ॥

'जिन हम लोगों के पास कुछ नहीं, अहो! हम कितने सुख से जीवन बिता रहे हैं। हम 'आभस्सर' देवों की तरह प्रीति भक्षक हैं।' गौतम बुद्ध तो अत्यन्त 'सुख विहारी' योगी थे। देखिए मुक्त अर्हतों के उद्‌गार—

'ठिते मज्झन्तिके काले
सन्निसिन्नेसु पक्खिसु।
सनतेव ब्रह्मारञ्ञं
सा रत्ती पटिभाति मं'

'मध्याह्न काल में महावन में जब पशु-पक्षी तक नीरवता पूर्वक विश्राम कर रहे हैं, उस समय मेरा आनन्द अपार होता है।'

विसाख ने जब धम्मदिन्ना से पूछा कि निर्वाण क्या है, तो धम्मदिन्ना ने उसके 'अतिप्रश्न' का उत्तर न देकर केवल यही कहा कि धर्म में ही निर्वाण की शाखा प्ररूढ़ है, धर्म का उद्देश्य और आदि तथा अन्त सब कुछ निर्वाण ही है। विसाख ने जब बुद्ध से यही प्रश्न पूछा तब उन्होंने भी धम्मदिन्ना की प्रशंसा करते हुए यही बताया। निश्चय ही तथागत के लिए इस जीवन का निर्वाण ही अधिक प्रयोजन रखता है। उनके मन्तव्य में भी निश्चय ही 'अद्यैव

समवनीयन्ते' 'अत्र ब्रह्म समक्षुते' आदि औपनिषद वाणियाँ इसी जीवन में चरितार्थ होनी ही चाहिए। 'ब्रह्मविद् इव सौम्य ते मुखं भाति' की बातें सारिपुत्र आदि अनेक जीवन्मुक्त महात्माओं के प्रति बौद्ध साधना के क्षेत्र में कही गई हैं। निरुपाधि-शेष निर्वाण के विषय को लेकर हम पहले ही कह चुके हैं। यहाँ दीपक की ज्योति की उपमा ही अधिक दी जाती है। इस प्रकार 'रतनसुत्त' में

'खीनं पुराणं नवं नत्थि सम्भवं विरत्तचित्ता आयतिके भवस्मि। ते खीणबीजा अविरूल्हिछन्दा निब्बन्ति धीरा यथायं पदीपो।'

'पुराना (कर्म) क्षीण हो गया, नवीन की उत्पत्ति नहीं है, पुनर्जन्म में चित्त विरक्त है, पुनर्जन्म के बीज सब नष्ट हो गए, कोई इच्छा शेष नहीं रही, तो ये धीर (बुझे हुए) प्रदीप की तरह निर्वाण को प्राप्त होते हैं।' यह दीपक का बुझ जाना क्या है? यह है द्वेष, लोभ, मोह का दग्ध हो जाना। इनके समाप्त हो जाने पर वह सामग्री ही नहीं रहती जिससे दूसरा जन्म धारण करना पड़े। यह एक बौद्ध प्रयोग मात्र है जो इस तथ्य को सूचित करता है। अभाव का यह पर्यायवाचक नहीं है क्योंकि उस हालत में 'दीपस्स इव निब्बानं विमोक्खो अहु चेतसो' 'अर्थात् मेरे चित्त का विमोक्ष दीपक के बुझने के समान था' ऐसे त्रिपिटक के वचनों का कोई मतलब ही नहीं निकलेगा। अनुपाधि शेष निर्वाण निश्चय ही एक अनिरुक्त अवस्था है और समुद्र के समान वह गम्भीर, अथाह तथा अगम्य है। यही तथ्य भिक्षुणी खेमा ने कोशलराज प्रसेनजित् को बतलाया था। आनन्द ने भी एक बार यमक नामक भिक्षु को इस मिथ्यादृष्टि से निकाला था कि तथागत (जीव) मृत्यु के बाद नहीं रहते और स्वयं बुद्ध ने कहा था कि इन बातों का वर्णन नहीं किया जा सकता, किन्तु ये अज्ञेय और अननुवेद्य 'अननुवेज्जो' हैं (अलगद्दूपम सुत्त)। यह निर्वाण का अनिर्वचनीय स्वरूप त्रिपिटक में अनेक बार प्रख्यापित किया गया है और निश्चय ही उस पद के विषय में जिसके लिए गति और अगति, स्थिति और च्युति एक ही हैं, भगवान् का यह उदान 'अत्थि भिक्खवे तदायतनं, यत्थ नेव पठवी न आपो न तेजो न उभो चन्दम सुरिया...... एसेवन्तो दुखस्साति' सर्वथा ठीक ही था। ऐसी ही वह अनिरुक्त अवस्था है। तेल और बत्ती जब समाप्त हो गए तो दीपक को बुझ जाना ही चाहिए, वेदनाओं को ठंडी पड़ ही जाना चाहिए, यहां पर समाप्ति हो ही जानी चाहिए। निर्वृत्त पुरुषों के प्रज्ञापन के

लिये मार्ग नहीं है 'वट्टं तेसं नत्थि पञ्ञापनाय'[1]। यह अनिरुक्त अवस्था का ही सूचक है, आत्मविनाश का नहीं। इसी प्रकार बुद्ध-वचन का आश्रय लेकर जब नागसेन निर्वाण को निरोध कहते हुए परिनिर्वृत्त पुरुष के सम्बन्ध में कहते हैं 'वह लपट तो बुझ गई' तो हमें बुझने से तात्पर्य या तो राग, द्वेष और मोह की अग्नि के बुझने से लेना चाहिये या उस अनिरुक्त अवस्था से, जिसके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि सत्त्वच्छेद अभिप्राय होता तो तथागत स्पष्ट क्यों नहीं कह देते 'मरने के बाद तथागत नहीं रहते।' ऐसा उन्होंने नहीं कहा है। इसलिये लपट बुझ जाने में उसी अद्वय अनिरुक्त अवस्था का चिह्न है जिसके संबंध में मैत्रेयी को मोह में डालते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा था, 'न प्रेत्य संज्ञास्ति'। चरम सत्य निषेधात्मक भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि वहां दूसरा नहीं रहता। यह अनिरुक्त अवस्था हमारे लिये अनिरुक्त अवस्था के रूप में ही समझने योग्य है और निश्चय ही माध्यमिकों के दर्शन में भले ही अभाव की कल्पना हम कर लें (जो भी यद्यपि नहीं करनी चाहिए) किन्तु तथागत के अमृत, शान्त, अतर्कावचर, अशोक विरज, सुखप्रद रूप निर्वाण में तो अभाव की कल्पना कर हमें कभी अपने विचार को कलुषित नहीं बनाना चाहिए क्योंकि बुद्धों का गलत समझना अकुशलमूल होता है। उन तथागत के लिए 'वाद' जैसी कोई वस्तु रह ही नहीं गई थी क्योंकि उन्होंने यह सब देख लिया था और सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर ली थी। डा० राधाकृष्णन् के ब्रिटिश अकादमी में दिए गए अभिभाषण के इस अंश से हम सहमत हैं जिसमें उन्होंने कहा है कि हमें गौतम बुद्ध के संबंध में उच्छेदवाद पर आग्रह नहीं करना चाहिए[2]।

---

(१) उदान ६।८

(२) 'It is unwise to insist on seeing nihilism or agnosticism in teachings where another explanation is not merely possible but probably more in accordance with Buddha's ideas and the spirit of the times. ,.........
—'गौतम दि बुद्ध' (पुस्तक के रूप में प्रकाशित, ब्रिटिश एकेडमी के द्वारा, १९३८) पृष्ठ ४६

हमें भगवान् बुद्ध के मन्तव्य को ठीक प्रकार से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। 'अभावं न विकल्पयेत्'। 'निर्वाण' का एक बड़ा लम्बा इतिहास है, किन्तु हम तो यहाँ इसके विकास का किञ्चिन्मात्र रूप भी नहीं दिखा सकते । जहाँ तक स्थविरवाद परम्परा का सम्बन्ध है,! 'मिलिन्द प्रश्न' और 'विशुद्धिमार्ग' के एतत्सम्बन्धी विचारों से अवगति प्राप्त कर लेना हमारे लिये आवश्यक है।

निर्वाण के सम्बन्ध में 'मिलिन्द प्रश्न' और 'विशुद्धिमार्ग' के विचार

नागसेन ने निर्वाण के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है और इतना अधिक कहा है कि उसका संक्षिप्त स्वरूप भी यहाँ देना अत्यन्त कठिन है। फिर नागसेन की विचित्र उपमाओं की बड़ी कठिन समस्या है। वे इतनी मनोहर और प्रसंगानुकूल हैं कि उन्हें बिना उद्धृत किए जी नहीं मानता, किन्तु साथ ही विस्तार में वे बड़ी लम्बी भी हैं। वर्णन-शक्ति वाण के समान, सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टि वाचस्पति की-सी, और शंकर का-सा प्रशस्त गद्य, यही हैं हमारे भदन्त नागसेन और उनके कलात्मक वर्णन। यदि निर्वाण के गुण ही गिनाने हैं तो एक गुण उसमें कमल का. दो गुण जल के, तीन गुग दवा के, चार गुण समुद्र के, पाँच गुण अन्न के, दस गुण आकाश के, पाँच गुण पर्वत की चोटी के......कोई इयत्ता ही नहीं दीखती कि न जाने ज्ञानेश्वर जी के समान एक ही उच्छ्वास में वे जाने क्या-क्या न कह जायंगे ! केवल इतने सूक्ष्म निर्देश से ही हम समझ सकते हैं कि सोपाधि-शेष निर्वाण को किस स्पष्टता के साथ नागसेन ने देखा है। दूसरी बात जो उनके निर्वाण के वर्णन के विषय में है, वह है उनके द्वारा उसके अनिर्वचनीय स्वरूप पर जोर देना। वे निर्वाण को 'अकम्मज', 'अहेतुज', 'अनुतुज', 'अनुप्पादनीय' और 'असंखत' कहते हैं[१], जो निश्चय ही भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट 'अजात', 'अकत', 'अभत' और 'असंस्कृत' की ही व्याख्यायें हैं। शांकर दर्शन से इस प्रकार के निर्वाण का क्या सम्बन्ध है, यह पाँचवें प्रकरण में निरूपित करेंगे। यहां यह और कह देना चाहिए कि भदन्त नागसेन की रुचि निर्वाण के बौद्धिक विश्लेषण में होते हुए भी वे अपने शास्ता के महान् नैतिक उद्देश्य को नहीं भूले हैं और यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि निर्वाण के साक्षात्कार के लिए आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया गया है, फिर भी आर्यअष्टांगिक

(१) निब्बाणं महाराज अकम्मजं अहेतुजं अनुतुजं। मिलिन्द पञ्हो, पृष्ठ २६३ (बम्बई विश्वविद्यालय संस्करण)

मार्ग निर्वाण की उत्पत्ति का हेतु नहीं है[1]। निर्वाण तो अ-कर्मज है, अ-हेतुज है। हम निश्चय पूर्वक वेदान्त की ओर बढ़ रहे हैं, जिसके संबन्ध में पाँचवें अध्याय में लिखेंगे।

आचार्य बुद्धघोष की निर्वाण-सम्बन्धी व्याख्या पर भी हमें दृष्टिपात कर लेना चाहिये। बुद्धघोष ने निर्वाण को 'सन्तिलक्खणं' कहा है। उसका लक्षण शांति है। अच्युति या आश्वासन प्रदान करना उन्होंने निर्वाण का सार माना है। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात जो आचार्य बुद्धघोष ने निर्वाण के सम्बन्ध में कही है वह यह है कि निर्वाण शश-विषाण के समान अभावात्मक नहीं है। 'नत्थेव निब्बाणं ससविसाणमिव'। वह सत् है, विद्यमान है। उपाय के द्वारा उसकी उपलब्धि होती है। उपायेन 'उपलब्भनीयतो'। निर्वाण के अनुरूप उपाय का आश्रय लेने से वह प्राप्त होता है। 'उपलब्भति हि तदनुरूपं पटिपत्तिसंखातेन उपायेन'। इसलिये निर्वाण अभावमात्र (अभावमत्त) नहीं है। यदि निर्वाण न हो तो आर्यअष्टांगिक मार्ग और शील, समाधि और प्रज्ञा के अभ्यास व्यर्थ हो जायेंगे[2]। आर्य मार्ग (बुद्ध-धर्म) की सार्थकता के लिये यह आवश्यक है कि निब्बान भाव-रूप हो। परमार्थतः दुःखनिरोध रूपी आर्य-सत्य ही निर्वाण है[3], यही स्थविरवाद परम्परा को अन्त में निर्वाण के सम्बन्ध में वक्तव्य है।

बौद्ध साधना के प्राथमिक और मौलिकतम स्वरूप में निर्वाण को किस रूप में देखा गया है, यह यहां हमने निरूपित किया है। उसके उत्तर-कालिक विकास में निर्वाण को क्या स्वरूप मिला और अन्य भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों के मोक्ष सम्बन्धी सिद्धांतों से उसका क्या संबंध है, इसका विवेचन तो हम आंशिक रूप से इस परिच्छेद के उत्तरार्द्ध और अन्त में पांचवें परिच्छेद में करेंगे।

---

(१) सच्चं महाराज भगवता...... निब्बानस्स सच्छिकिरियाय मग्गो अक्खातो, न च पन निब्बानस्स उप्पादाय हेतु अक्खातो'ति। मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ २६३ (बम्बई विश्वविद्यालय का संस्करण)

(२) असति हि निब्बाने ... ..सीलादिक्खन्धत्तय संगहाय सम्मा-पटिपत्तिया बंझुभावो आपज्जति। विसुद्धिमग्ग १६।६८।

(३) परमत्थतो हि दुक्ख निरोधं अरियसच्चं ति निब्बानं वुच्चति। विसुद्धि-मग्ग १६।६५

११—क्या सम्यक् सम्बुद्ध दुःखवादी, अनीश्वरवादी और उच्छेदवादी हैं ?

बुद्ध के समय में ही उनपर अनेक प्रकार के आक्षेप और तथागत के द्वारा उनका स्पष्टीकरण

बुद्ध-धर्म सु-आख्यात था और उसके शास्ता सम्यक् सम्बुद्ध थे। फिर भी बुद्ध का युग अनेक दार्शनिक विचिकित्साओं का युग था, यह हम पहले देख चुके हैं। अनेक अतिवादों से बचकर तथागत ने अपने अविवाद नैतिक धर्म का उपदेश दिया था जो यहीं जीते जी, प्रति-शरीर, साक्षात्करणीय था और जिसके निर्मम बौद्धिक विवेचन और परीक्षण का मार्ग स्वयं उन्होंने प्रशस्त कर दिया था। फिर भी भगवान् बुद्ध के उपदेश के विषय में उनके जीवन-काल में ही अनेक भ्रांतियाँ लोगों में फैलने लगीं और बाद में तो इस अस्पष्टता को लेकर उनके समग्र धर्म में ही अनेक विवाद उठ खड़े हुए जिनका विवरण हम बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास के इतिहास के समय देंगे। महापुरुषों की वाणी साधारण जनता को, जो अल्प वैराग्य और अल्प साधनावाली होती है, शीघ्र ही समझ में नहीं आती। भगवान् बुद्ध भी पृथग्जनों की इस प्रवृत्ति के शिकार हुए। उनके जीवन-काल में विशेषतः ब्राह्मणों, परिव्राजकों और निगंठों (निर्ग्रन्थों) में उनके संबंध में अनेक भ्रमात्मक विचार प्रचलित थे। उदाहरणतः एक ब्राह्मण ने भगवान् से आकर पूछा था, "हे गौतम! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम वृद्ध, वयःप्राप्त ब्राह्मणों के आने पर न अभिवादन करता है, न आसन के लिये कहता है। हे गौतम! क्या यह ठीक है?"[१] परिव्राजक भी पूर्वान्त और अपरान्तकल्पिक दृष्टियों को लेकर तथा अन्य दृष्टियों से अनेक प्रकार के मिथ्यारोप भगवान् तथागत पर करते थे।[२] निर्ग्रन्थ साधुओं की दृष्टि भी बुद्ध और बुद्ध-धर्म के प्रति सहानुभूतिपूर्ण न थी।[३] बुद्ध के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर उनका कहना था "श्रमण गौतम मायावी है, आवर्तनी (आवत्तनि) माया जानता है, जिससे दूसरे मतों के

(१) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।१); विनय-पिटक-पाराजिका १

(२) देखिये मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५); दिट्ठिवज्ज-सुत्त (अंगुत्तर निकाय)

(३) देखिये सीहसुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।२)

शिष्यों को अपनी ओर फेर लेता है[१]।" भगवान् बुद्ध निरभिमानी थे और स्वयं साक्षात्कृत धर्म की सत्यता पर उनका गहरा विश्वास था। उनके जीवन में कोई ऐसी बात नहीं थी जिसके लिये उन्हें कोई लज्जित कर सकता। इसलिये विनम्र किन्तु दृढ़ शब्दों में वे कहते थे "मेरे विषय में जो तुम्हें संशय या विमति हो, वह प्रश्न करो। मैं उसे उत्तर से दूर करूँगा[२]।" हम पहले देख चुके हैं कि उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था कि उन्हें इस बात की परीक्षा करनी चाहिये कि तथागत सम्यक् संबुद्ध हैं या नहीं। सत्य की यह अपरोक्षानुभूति और तज्जनित अधिकारपूर्ण वाणी ही तथागत के संदेश को तब से लेकर आज तक सत्य-खोजियों के लिये परम आकर्षण और आश्वास का विषय बनाये हुए है।

जो आरोप भगवान् बुद्ध पर उनके जीवन-काल में लगाये गये थे, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं 'गौतम अ-रसरूप है,' 'गौतम अक्रियावादी है,' 'गौतम उच्छेदवादी है,.....जुगुप्सु है.....वैनयिक (खंडन करने वाला) है....... तपस्वी है..... अपगर्भ है, आदि[३]। एक आरोप यह भी था कि गौतम 'अप्रज्ञप्तिक' है, अर्थात् किसी बात का प्रतिपादन न करने वाला है[४]। इसी प्रकार एक परिव्राजक ने कहा था, "श्रमण गौतम सभी तपों की निंदा करता है, तपस्वियों को भला बुरा कहता है।"[५] कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सभी आरोप बुद्ध-शासन को ठीक प्रकार से न समझने के परिणाम स्वरूप ही थे। फिर भी कारुणिक शास्ता को उनका निराकरण करना पड़ा ताकि यह उन लोगों के लिये और आगे आनेवाली जनता के लिए चिर कल्याण के लिये हो। आरोपों के निराकरण करने का भगवान् का तरीका भी कितना समन्वयात्मक था! उन्होंने उन सब आरोपों को स्वीकार कर लिया जो आरोपकर्ता उन पर लगाते थे। केवल आरोप के शब्दों को दूसरे अर्थ देकर उन्होंने यह दिखला दिया कि इन नये अर्थों में तो उन्हें ऐसा कहा भी जा

---

(१) उपालि-सुत्त (मज्झिम० २।२।६); निर्ग्रन्थ साधुओं के बुद्ध और बुद्ध-धर्म पर अन्य आक्षेपों के लिये देखिये पाँचवें प्रकरण में बौद्ध और जैन दर्शन का विवेचन।

(२) अम्बट्ठ-सुत्त (दीघ० १।३)

(३) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर ८।१।२।१); विनय-पिटक—पाराजिका १

(४,५) दिट्ठिवज्ज-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)

सकता है। जिसकी सहानुभूति सर्वात्मबोधसम्पन्न थी वह ऐसा ढंग क्यों न स्वीकार करता ?

कहा गया था कि गौतम अ-रसरूप हैं, जिसका अभिप्राय था कि गौतम नीरस हैं। इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा था, 'ब्राह्मण, जो वह रूप-रस, शब्द-रस, गन्ध-रस, रस-रस, स्पर्श-रस है, वे सभी तथागत के जड़ मूल से कटे, सिर कटे ताड़ से, नष्ट और आगे उत्पन्न न होनेवाले हो गए हैं। ब्राह्मण यही कारण है जिससे मुझे 'श्रमण गौतम अ-रस-रूप है' ऐसा कहा जा सकता है'। 'सत्य ही सबसे स्वादिष्ट रस है। सच्चं हवे सादुतरं रसानं' कहनेवाले तथागत को यदि लोग नीरस या अ-रस रूप कहते थे तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार 'आप गौतम निर्भोग हैं' इस आक्षेप का उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा था, ब्राह्मण! ऐसा कारण है जिससे ठीक कहते हुए मुझे 'श्रमण गौतम निर्भोग है' ऐसा कहा जा सकता है। ब्राह्मण ! जो वे शब्द-भोग, रूप-भोग, रसभोग, गन्धभोग, स्पर्श-भोग हैं, वे सभी तथागत के नष्ट हो गए हैं...... जड़मूल से कटे ताड़ से।' 'आप गौतम अक्रियावादी हैं' इसके उत्तर में, 'मैं काया के दुराचार ('प्राणि-हिंसा, चोरी, व्यभिचार) वचन के दुराचार (झूठ, चुगली, कटु वचन, प्रलाप); मन के दुश्चरित (लोभ, द्रोह, मिथ्यादृष्टि) को अक्रिया कहता हूँ, अनेक प्रकार के पापों (अकुशल धर्मों) को मैं अक्रिया कहता हूँ, इसलिये मुझे अक्रियावादी कहा जा सकता है', इसी प्रकार "आप गौतम उच्छेदवादी हैं' के उत्तर में 'ब्राह्मण ! मैं राग-द्वेष, मोह का उच्छेदन करना चाहिए कहता हूँ। अनेक प्रकार के अकुशल धर्मों (पापों) का उच्छेद कहता हूँ'। 'आप गौतम जुगुप्सु हैं' के उत्तर में 'मैं कायिक, वाचिक और मानसिक दुराचारों से घृणा करना कहता हूँ, अनेक प्रकार के पापों को घृणा करना कहता हूँ'। 'आप गौतम वैनयिक हैं,' के उत्तर में 'मैं राग' द्वेष, मोह के विनयन (हटाने) के लिए धर्म उपदेश करता हूँ, अनेक प्रकार के पापों को हटाने के लिए उपदेश करता हूँ'; 'आप गौतम तपस्वी हैं'— 'ब्राह्मण! मैं अकुशल धर्मों (पापों) को काय, वचन, मन के दुराचारों को, तपानेवाला कहता हूँ। ब्राह्मण ! जिसके अकुशल धर्म, काय-वचन-मन के दुराचार तपानेवाले धर्म नहीं हो गए, जड़ मूल से चले गए, सिर कटे ताड़ जैसे हो गए, अभाव को प्राप्त हो गए, भविष्य में न उत्पन्न होने वाले हो गए, उसको मैं तपस्वी कहता हूँ। तथागत के काय......तपाने

वाले धर्म नहीं रह गए, भविष्य में उत्पन्न न होने लायक हो गए। ब्राह्मण यही कारण है जिससे मैं तपस्वी हूँ।' 'आप गौतम अपगर्भ हैं'। 'ब्राह्मण! जिसका गर्भशयन, आवागमन नष्ट हो गया, जड़ मूल से चला गया, उसको मैं अपगर्भ कहता हूँ। तथागत का भविष्य का गर्भशयन, आवागमन नष्ट हो गया[1]'। 'ब्राह्मण ! अविद्या में पड़ी, अविद्या रूपी अण्डे से जकड़ी इस प्रजा में मैं अकेला ही अविद्या के अण्डे के खोल को फोड़कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जाननेवाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण ! लोक में ज्येष्ठ हूँ, श्रेष्ठ हूँ[2]'। 'श्रमण गौतम अप्रज्ञप्तिक है' इस आरोप के उत्तर में भगवान् बुद्ध के एक गृहस्थ शिष्य ने कहा था," भगवान् ने यह कुशल है, यह प्रतिपादन किया है, 'यह अकुशल है' यह प्रतिपादन किया है। इस प्रकार कुशल, अकुशल का प्रतिपादन करने के कारण भगवान् सप्रज्ञप्तिक हैं, अप्रज्ञप्तिक नहीं"।[3] इसी प्रकार इस आरोप का कि भगवान् सब तपस्याओं की निन्दा करते हैं, भगवान् ने स्वयं उत्तर देते हुए कहा था कि वे सब तपस्याओं और व्रतों की निन्दा नहीं करते बल्कि उनका मत है कि जिन तपों या व्रतों को करते किसी मनुष्य के अकुशल धर्म बढ़ते हैं, कुशल धर्म घटते हैं, तो वे उसे नहीं करने चाहिये और यदि इसके विपरीत किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हैं और अकुशल धर्म घटते हैं तो वे उसे अवश्य करने चाहिये[4]। एक परिब्राजक (मागन्दिय) ने भगवान् पर यह आरोप भी लगाया था कि वे भ्रूणहा' (भूनहु) हैं[5]। इससे उसका तात्पर्य कदाचित् यह था कि अपनी पत्नी के साथ सम्भोग छोड़कर उन्होंने भ्रूण-हत्या का पाप कमाया है। ऋतु के समय जो अपनी पत्नी के साथ सहवास नहीं करता, वह भ्रूणहत्या का पापी होता है[6]। इस प्राचीन परम्परा के आधार पर मागन्दिय ने भगवान् पर यह आरोप लगाया

(१,२) वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।१) विनय-पिटक पाराजिका १
(३,४) दिट्ठिवज्ज-सुत्त (अंगुत्तर-निकाय)
(५) मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)
(६) देखिये महाभारत, आदि पर्व ७८।३२-३३; मनु० ८।३२७; इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन के लिये देखिये विसुद्धिमग्ग (आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १३-१४ (प्रस्तावना); धर्मदूत, मई-जून १९५३, पृष्ठ ४-५ (त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित लिखित 'पालि अट्ठकथा और उनके लेखक' शीर्षक निबन्ध का अंश)

था। परन्तु भगवान् ने इस आरोप को भी एक दूसरे अर्थ में स्वीकार करते हुए कहा कि इन्द्रिय-विषयों में आसक्ति छोड़ देने के कारण वे 'भ्रूणहा' (भूनहू) हैं[1]। अब हम दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उन तीन आरोपों पर विचार करें जो भगावन् पर प्रायः लगाते जाते हैं। उन पर विशेषतया दुःखवादी, अनीश्वरवादी और उच्छेदवादी होने के आरोपों को भारतीय तत्व-शास्त्र की भावनाओं के प्रकाश में देखकर हम समीक्षा करेंगे कि कहाँ तक उनके विषय में ये आरोप ठीक हैं या नहीं।

उत्तरकालीन प्रायः निषेधात्मक व्याख्या-कारों के कारण स्थिति और अधिक गम्भीर

किन्तु ऐसा करने से पूर्व हम एक और बात पर अपनी दृष्टि डालें। उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों ने प्रायः परम तत्व के विषय में मौन को निषेधात्मक दिशा में बढ़ाया है। अतः आत्मवाद और ईश्वरवाद जैसे प्रश्नों को लेकर इन मनीषी व्याख्याकारों की व्याख्याओं के प्रकाश में हम स्वयं बुद्ध के मन्तव्यों को उनके प्रकृत स्वरूप में नहीं देख सकते। स्वयं नागसेन और आचार्य बुद्धघोष तक बुद्ध-मौन को निषेधात्मक दिशा की ओर ले जाते हैं और बाद के आचार्यों ने ईश्वरवाद का कितना तीव्र खण्डन किया है, इसे भी हम जानते ही हैं, अतः इन प्रसिद्ध बौद्ध आचार्यों के पद-चिन्हों पर ही चलकर हम सत्य का पूर्ण गवेषण नहीं कर सकते। अतः मूल त्रिपिटक के अंशों द्वारा जो कि वास्तव में अन्य किसी वस्तु से अधिक प्रमाण कोटि में आते हैं हम अपने प्रकाश के अनुसार देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनकी विचार-प्रणाली पर जो आक्षेप लगाए गए या प्रायः लगाए जाते हैं वे कहाँ तक ठीक अथवा गलत हैं।

दुःख-समुदय के द्वारा दुःख-निरोध और दुःख-निरोध-मार्ग को दिखाने वाले सुख विहारी शाक्यमुनि दुःखवादी कैसे ?

अक्सर कहा जाता है कि बुद्ध दुःखवादी हैं। इससे अधिक निराधार भ्रांति भारतीय दर्शन में और कोई नहीं हो सकती। वास्तव में भारतीय वातावरण में और अन्य प्रकार केआरोप तो बौद्ध दर्शन पर लगाए गए, किन्तु उसके उद्भावक को दुःखवादी तो कभी नहीं बताया गया। सम्भवतः यह इसके हेतु स्वरूप हो कि यहाँ के सब विचारक ही प्रायः दुःखवादी हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। बुद्ध को अथवा सामान्य रूप से समग्र भारतीय दर्शन को दुःखवाद का प्रचारक कहना पश्चिमी भौतिकवाद

(१) मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)

की हमारी विचार-प्रणाली क प्रति एक अत्यन्त स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। इसमें तथ्य कुछ भी नहीं है, अतः इसके निराकरण में भी यहाँ विशेष प्रयत्न करना व्यर्थ होगा क्योंकि हमारे देश में सम्यक् सम्बुद्ध को कोई दुःखवादी कहने का साहस नहीं कर सकता, अल्पज्ञों अथवा अज्ञों की बात दूसरी है! दुःखवाद है क्या? जीवन में दुःख ही दुःख है, यह कहना दुःखवाद है। निश्चय ही बुद्ध कहते हैं कि यहाँ सभी जल रहा है। 'सब्बं आदित्तं'। चक्षु भी और रूप भी और रूप का विज्ञान भी, वेदनाएँ भी, सब संस्कार भी यहाँ जल रहें हैं।[1] उनके अनुसार यहाँ सभी 'संस्कार' (कृत वस्तुएँ) अनित्य और प्रतीत्य समुत्पन्न हैं। 'अनिच्चा वत संखारा' और 'वयधम्मा संखारा' की ध्वनि बौद्ध धर्म में प्रधान है। भव या जीवन के यहाँ तीन लक्षण (तिलक्खण) बतलाये गये हैं और वे हैं अनित्य, दुःख और अनात्म। सम्पूर्ण संसार और उसकी प्रत्येक वस्तु अनित्य है, दुःख है, अनात्म है। वह सब जल रही है। इसके जलते रहते कहाँ का हँसना और कहाँ का आनन्द! 'को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति'। मनुष्य ने आवागमन के चक्कर में जितने अश्रु बहाए हैं, वे चारों महा समुद्रों के जल से भी अधिक हैं। जितने गंगा के सम्पूर्ण प्रवाह में बालुकण नहीं हैं, उनसे अधिक जन्म लिये जा चुके हैं और यदि एक पुरुष की पूर्वजन्म की हड्डियों को इकट्ठा किया जाय तो गिरिव्रज से अधिक विशाल शिलोच्चय बनेगा। जन्म, जरा और मृत्यु, यहां सब दुःख ही दुःख है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने जीवन की सबसे प्रथम और बड़ी सच्चाई दुःख को बताया है।

इस अर्थ में यदि बुद्ध को दुःखवादी कहना अपेक्षित हो तो हम निश्चय ही ऐसा कह सकते हैं। किन्तु इस प्रकार दुःखवादी की परिभाषा नहीं होती। दुःख के तत्व को स्वीकार करना दुःखवाद नहीं है, किन्तु उसको अन्तिम तत्त्व मानना ही दुःखवाद है। बुद्ध ने तो दुःख को प्रथम आर्य सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए उसके उदय के कारण, उसके निरोध और उसके निरोध के मार्ग को न केवल सम्भव ही माना है बल्कि स्पष्टतः प्रख्यापित भी किया है। बुद्ध का दुःख-दर्शन अतृप्ति से उत्पन्न होनेवाला दुःख नहीं है। बुद्ध ने दुःख को विश्व-व्यवस्था के मूल में देखा है। इसलिये उसको देखने पर अशेष जीव-जगत् के लिये करुणा का क्रियात्मक विचार उत्पन्न

---

(१) **देखिये आदित्त परियाय-सुत्त (संयुत्त-निकाय); विनय पिटक—महावग्ग**

होता है। दुःख का अधिक वर्णन तथागत ने इसीलिये किया है कि अज्ञानी पुरुष, जो भोगवाद में फँसे हैं, उसे देखकर भी नहीं देखते। भगवान् बार-बार स्मरण दिलाते हैं कि अनेक पूर्वजन्मों में मर-मरकर तुमने श्मशान को पाट दिया है, अब तो सस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, निर्वाण के लिये प्रयत्न करो। इसलिये दुःख का दर्शन केवल दुःख-निरोध के लिये है, दुःख-निरोध के मार्ग में प्रतिष्ठित होने के लिये है। भगवान् ने स्पष्टतापूर्वक कहा है "भिक्षुओ! जो दुःख को देखता है, वह उसके समुदय को भी देखता है, दुःख निरोध को भी देखता है और देखता है दुःख निरोधगामी मार्ग को भी।"[१] अतः तथागत का मार्ग दुःख का नहीं, दुःख-निरोध और दुःख-निरोधगामी मार्ग का है। उसी में उसकी परिणति है। और वह भी बिना किसी देव-विशेष की शरण में गए ही, बिना किसी को आत्मसमर्पण किए ही। इतना वीर्यशाली और आशावादी दर्शन और कहाँ सम्भव हो सकता है? यदि तथागत दुःख का कोई निदान नहीं करते, हमारी व्यथाओं को इच्छा मात्र अथवा ईश्वर के द्वारा निर्मित मानते तो किसी अर्थ में यह कहा जा सकता था कि उनकी विचार-प्रणाली में मनुष्य को आश्वासन नहीं है। किन्तु उन्होंने तो सभी आश्वासनों से पूर्ण आश्वासित होकर ही दुःख-निवृत्ति के लिए उपदेश किया है।[२] और वही उनके मन्तव्य का पर्यवसान भी है। फिर उन्हें दुःखवादी कहने को किस मनीषी की जिह्वा प्रवृत्त हो सकती है? इस जड़वाद के युग में मनुष्य विशेषतः सुख की बात बहुत कहता है और उसकी वह गवेषणा करता है उन अनित्य, अनात्म और संस्कृत पदार्थों में जहाँ उसे सिवाय दुःख के और कुछ मिलने की सम्भावना कल्पशत में भी नहीं हो सकती। यदि कारुणिक शास्ता ने ऐसा कह दिया कि जो कुछ अनात्म है, वह अनित्य है और जो अनित्य है, वह दुःख है[३] तो क्या

(१) यो भिक्खवे दुक्खं पस्सति दुक्खसमुदयं पि सो पस्सति, दुक्खनिरोधं पि पस्सति, दुक्ख-निरोधगामिनिपटिपदं पि पस्सति। संयुत्त-निकाय ५।४३७, विसुद्धिमग्ग १६।८४ में उद्धृत।

(२) 'सिंह! मैं परम आश्वास से आश्वासित हूँ, आश्वास के लिए धर्म उपदेश करता हूँ, आश्वास के मार्ग से ही श्रावकों को ले जाता हूँ,' सिंह सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।२।२); बुद्धचर्या, पृष्ठ १४९

(३) 'जो अनित्य है वह दुःख है। जो दुःख है वह अनात्म है। जो अनात्म है वह न मेरा है, न वह मैं हूँ, न वह मेरा आत्मा है।' संयुत्त० २१।२

बुरा काम किया? साधक जनों के लिए इसी में आश्वासन और मूढ़जनों को इसी में विमोह है। विमूढ़ को अत्यन्त महान् दुःख भी नहीं दीखता क्योंकि उसके पापों का नाश नहीं हुआ होता किन्तु मनीषी चिन्तक थोड़े ही दुःख से विचार के पंखों पर उड़कर उसके प्रतीकार का मार्ग खोजते हैं।[1] प्राकृत जन जीते हैं, मरते हैं, दुःख भोगते हैं और उसके समाप्त होने पर हँसने लगते हैं और हँसकर फिर दुःख पड़ने पर रोने लगते हैं—इसी प्रकार जीवन जाता है, किन्तु दुःख-समुदय या उसके निरोध के चिंतन में प्रवृत्त नहीं होते। ऐसों के लिए तथागत के दर्शन का उपयोग नहीं है, उनके लिए तो 'जियो और मरो' यही तीसरा पन्थाः है। फिर तथागत के दुःखवादी होने का तात्पर्य यह भी लिया जा सकता है कि तथागत शरीर को दुःख देने के पक्षपाती थे, किन्तु इस अर्थ में तो बौद्ध विचार का अत्यन्त प्रारम्भिक विद्यार्थी भी बुद्ध को दुःखवादी स्वीकार न करेगा। भगवान् वास्तव में सुख विहारी थे, दुःख विहारी नहीं। वे तो यह मानते थे कि वे मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार से भी अधिक सुखी हैं और इसका माप वे यह मानते थे कि बिना बाह्य उपकरणों के वे सप्ताहों तक रह सकते थे जब कि बिम्बिसार के लिये यह असम्भव था[2]। भगवान् के शिष्य भी सुखी जीवन बिताते थे और प्रसन्न चित्त रहते थे। प्रसेनजित् ने बौद्ध भिक्षुओं का वर्णन करते हुए उनकी इस विशेषता पर जोर दिया था।[3] बौद्ध भिक्षुओं पर तो यह आरोप भी लगाया गया था कि वे आरामपसन्द हैं[4]। अतः दुःखवादी होने का

---

(१) मिलाइये, ऊर्णापक्ष्म यथैव हि करतल संस्थं न विद्यते पुंभिः। अक्षिगतं तु तदेव हि जनयत्यरतिं च पीड़ां च। करतल सदृशो बालो न वेत्ति संस्कार-दुःखतापाक्ष्म। अक्षिसदृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्विजते गाढम्। माध्यमिक कारिका वृत्ति में चन्द्रकीर्ति। देखिये प्रथम प्रकरण में भारतीय दर्शन के अधिकारी पर विवेचन भी; मिलाइये, ज्ञान कि होइ विराग विनु। —तुलसीदास

(२) देखिये चूलदुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४)

(३) "भन्ते! मैं यहां भिक्षओं को प्रहृष्ट, प्रसन्न इन्द्रिय....... मृदु-चित्त से विहार करते देखता हूं।" धम्म-चेतिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।२।९)

(४) पासादिक-सुत्त (दीघ० ३।६)

आरोप उन पर कैसे लगाया जा सकता है? भगवान् ने एक भिक्षुणी साधिका से कहा था 'भिक्षुणी! तू सुखपूर्वक सो'। 'सुखं सुपाहि थेरिके।' दुःखवादी होने की हालत में वे किस प्रकार ऐसा कह सकते थे? बौद्ध मनोविज्ञान के मर्मज्ञ विश्लेषक अनागारिक बी॰ गोविन्द ने कहा है कि बौद्ध मनोविज्ञान में चित्त की १२१ श्रेणियों में से ६३ सुख सहगत हैं जबकि केवल ३ दुःख और दौर्मनस्य से युक्त हैं। "दुःखवाद का इससे अधिक प्रभावशाली प्रत्याख्यान असम्भव है।"[१] तपस्या उनकी मध्यमा प्रतिपद् पर प्रतिष्ठित थी, यह हम सब देख ही चुके हैं। सभी मलों के नष्ट होने पर भगवान् ने वह प्रसन्नता हासिल की थी जिसे हम 'ब्राह्मी स्थिति' की अवस्था कह सकते हैं और वहां दुःख कहां से रह सकता है? महाराज अजातशत्रु को इसी विमुक्ति-सुख की एक झलक दिखाते हुए भगवान् ने कहा था, 'महाराज! भिक्षु इन पांच नीवरणों के न प्रहीण होने पर अपने में ऋण की तरह, रोग की तरह, बन्धनागार की तरह, दासता की तरह, कान्तार मार्ग की तरह देखता है। और महाराज! इन पांच नीवरणों के प्रहीण होने पर भिक्षु अपने में ऋण से उऋणता, आरोग्य, बन्धन से मोक्ष, अदासता, क्षेमयुक्त भूमि सा देखता है। अपने भीतर से इन पांच नीवरणों को प्रहीण देखकर उसे प्रामोद्य उत्पन्न होता है, प्रमुदित पुरुष को प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीतियुक्त मन वाले की काया प्रश्रब्ध होती है। प्रश्रब्धकाय सुख का अनुभव करता है, सुखी का चित्त समाहित होता है[२]'। यह सब सुखवाद है कि दुःखवाद? जिसका चित्त

---

(१) दि साइकोलोजीकल एटीट्यूड ऑव अर्ली बुद्धिस्ट फिलॉसफ़ी, पृष्ठ ८७

(२) सामञ्ञफल सुत्त (दीघ॰ १।२); मिलाइये 'शान्ति को प्राप्त पुरुष जय-पराजय छोड़ सुख से सोता है'। सामगाम सुत्त (संयुत्त॰ ३।२।४; मिलाइये 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते...... पर्यवतिष्ठति' [illegible]। मिलाइये तेविज्ज [illegible]त्त (दीघ॰ १।१३) 'वह अपने को इन प[illegible]वरणों......प्रमुदित होता है, प्रमुदि[illegible] प्रीति प्राप्त करता है', आदि; 'निर्वाण प्राप्त ब्राह्मण सदा सुख से सोता है, शीतल हुआ [illegible] जो कि काम वासनाओं में लिप्त नहीं होता। सारी आसक्तियों को खंडित कर हृदय से डर को हटाकर....शान्त हो वह सुख से सोता है' विनय-पिटक—चुल्लवग्ग ६।२; बुद्धचर्या, पृष्ठ ६९

सुखी है उसी को तो समाधि लग सकती है। 'सुखिनो चित्तं समाधियति'। जिसका चित्त दुःखी है, वह क्या ध्यान करेगा? दुःखी चित्त का होना तृष्णाभिभूत होने का सूचक है, सुखी उससे विमुक्ति का। 'तण्हाभिभूतस्स हि दुक्खा पटिपदा अनभिभूतस्य सुखा'। सुखी चित्त का होना बौद्ध साधना की प्रथम आवश्यक शर्त है। उसके विना प्रथम ध्यान में भी प्रवेश नहीं किया जा सकता, आगे की तो बात क्या? फिर भगवान् अपने जीवन में भी तो सुखविहारी ही थे। किस प्रकार! भगवान् पत्तों पर ही शय्या बना कर घोर शीत के दिनों में सो रहे हैं। 'भन्ते, भगवान् सुख से तो सोए?' हस्तक आलवक का यह प्रश्न होता है। 'हां कुमार! सुख से सोया। जो लोक में सुख से सोते हैं उनमें से मैं एक हूँ'। 'भन्ते, यह हेमन्त की रात, हिमपात का समय अन्तराष्टक (माघ के अन्त के चार दिन और फागुन के आदि के चार दिन) है, गोकण्टक-हत कड़ी भूमि है, पर्णासन पतला है, वृक्ष के पत्र विरल हैं, काषायवस्त्र शीतल है, चौवाई वायु शीतल है, तब भी भगवान् कहते हैं कि 'मैं सुख से सोया। जो लोक में सुख से सोते हैं उनमें से मैं एक हूँ।' 'हां कुमार!' क्योंकि—

'परिनिर्वृत्त ब्राह्मण सर्वदा सुख से सोता है

जो कि शीतल स्वभाव, उपधि (राग) रहित कामों में लिप्त नहीं है, सब आसक्तियों को छिन्नकर, हृदय से भय को हटाकर, मन में शान्ति प्राप्त कर, उपशान्त हो वह सुख से सोता है।'[१]

यह था भगवान् का सुख सम्बन्धी विचार जिसके कारण वह संयत मुनि कठिन-से-कठिन शारीरिक दुःखों को भी बिना शोक करते स्मृतिसंप्रजन्य से सहन करते थे[२]। तथागत के 'अहं' और 'मम' सभी निःशेष हो चुके थे। लौकिक भाषा में उनका 'प्रिय' कोई अवशेष नहीं रह गया था, फिर उन्हें दुःख होता कहां से? 'प्रिय जातिक (प्रिय से उत्पन्न होनेवाला) है गृहपति!

---

(१) आलवक सुत्त (अंगुत्तर० ३।४।५); बुद्धचर्या, पृष्ठ ३५०-३५१

(२) देखिये देवदत्त के द्वारा पैर में घायल कर दिए जाने पर भगवान् की मानसिक स्थिति, सकलिक सुत्त (संयुत्त० १।४।८), मिलाइये सारिपुत्र-मौद्गल्यायन के निधन पर उनके उद्गार 'दिशाएं शून्य सी जान पड़ती हैं, किन्तु आश्चर्य है भिक्षुओ! तथागत को दुःख नहीं है।' उक्काचेल सुत्त (संयुत्त-निकाय)

शोक, परिदेव, दुःख, उपायास'[1]। जिनको प्रिय नहीं होता उनको दुःख नहीं होता। वे शोक रहित, रज (राग) रहित, उपायास रहित हैं, कहता हूं[2]'। लोक में जो शोक, परिदेव नाना प्रकार के दुःख हैं, वे प्रिय के कारण होते हैं, प्रिय वस्तु न होने पर वे नहीं होते[3]। फिर जिसे ममता नहीं, उस दुःख कैसे हो? वह तो अक्षय सुख का अधिकारी होता है। 'सुखमक्षयमश्नुते'।

सन्तुष्ट देखन हार श्रुतधर्मा सुखी एकान्त में
निर्द्वन्द्व सुख है लोक में संयम जो प्राणी मात्र में
सब कामनाएँ छोड़ना वैराग्य है सुख लोक में
है परम सुख निश्चय यही जो साधना अभियान का[4]।

इस आनन्द को भगवान् ने भरपूर पाया था। सुजाता की खीर को खाकर भगवान् का वही ४९ दिनों के लिए आहार हुआ था। इतने काल तक न उन्होंने कोई दूसरा आहार किया और न किन्ही बाह्य उपादानों को ही प्रयुक्त किया। केवल ध्यान-सुख, फल-(दुःख-क्षय) सुख से ही भगवान् ने सात सप्ताहों को बिताया। यह वस्तुतः निर्विषय मन का सुख ही था, निरामिष सुख ही था। भगवान् ने अनेक बार कहा है कि यह सुख बिना काम-सुख को छोड़े नहीं मिल सकता।[5] काम-सुख तो हीन और अनार्य है। उसे जब साधक छोड़ देता है, उस पर विजय प्राप्त कर लेता है, तो उसके हृदय

---

(१) पियजातिक सुत्त (मज्झिम० २।४।७); मिलाइये, पेमतो जायते सोको पेमतो जायते भयं। पेमतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं। धम्मपद।

(२) विसाखा सुत्त, उदान ८।८

(३) विसाखा-सुत्त (उदान० ८।८)

(४) विनय-पिटक-महावग्ग (राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद)

(५) "तो क्या मानते हो मागन्दिय! क्या तुमने कभी देखा या सुना है किसी को विषय-भोगों में लिप्त, विषयों को बिना छोड़े, काम-दाह बिना त्यागे, काम-तृष्णा बिना छोड़े, पिपासा रहित होकर अपने अन्दर शान्ति अनुभव करते हुए?" "नहीं, भो गोतम!" "साधु मागन्दिय! मैंने भी नहीं देखा, न सुना। किन्तु मागन्दिय! जो श्रमण-ब्राह्मण पिपासा-रहित बन, अपने अन्दर उपशान्त चित्त हो विहरे हैं, विहरते हैं या आगे विहरेंगे, वे सभी कामों के समुदय, आस्वाद, दोष, निकलने के

में एक निर्मल आध्यात्मिक सुख उत्पन्न होता है।[१] यह सुख पाने पर फिर मनुष्य किसी सांसारिक सुख की तृष्णा में नहीं पड़ सकता। भिक्षु का सुख यही है। "भिक्षुओ! भिक्षु पाप-कर्म और भोगों से अलग रहकर विवेकज प्रीति सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरता है...यही भिक्षु का सुख है।"[२] भगवान् ने कहा है कि जब तक भिक्षु को इस आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति नहीं होती तब तक वह फिर काम-सुख में लौट सकता है, परन्तु जब यह आनन्द मिल गया, फिर कोई कामनाओं में लौटकर नहीं आ सकता। स्वानुभव से भगवान् ने कहा है, "महानाम! मुझे भी पहले, संबोधि प्राप्त करने से पूर्व, बोधिसत्त्व होते समय, यह अप्रसन्न करने वाली, बहुत दुःख देने वाली काम-वासना होती थी। तब मैं सोचता था इसमें दुष्परिणाम बहुत हैं। ऐसा मैं यथार्थतः जानकर उससे विरत होता था। परन्तु कामों से अलग प्रीति-सुख, या उनसे श्रेष्ठतर सुख को मैं नहीं पा सका। इसलिये उतने से कामों की ओर न लौटनेवाला मैंने अपने को नहीं माना। किन्तु जब महानाम! कामों से अलग ही प्रीति-सुख, उनसे श्रेष्ठतर सुख, को मैंने अनुभव किया, तब मैंने अपने को कामों की ओर न लौटनेवाला जाना।"[३] यही वह सुख है जो राजाओं के राज-सुख और देवताओं के देवत्व सुख से बढ़कर है। यही आर्य-सुख है, समाधि-सुख है, जिसे जिस किसी क्षण इच्छा होने पर फलसमाधि में प्रवेश कर आर्य प्राप्त करते हैं।[४] अतः स्पष्ट है कि न केवल दुःख से विमुक्ति बल्कि भावात्मक सुख की प्राप्ति बौद्ध साधना का लक्ष्य है। 'दुःख, दुःख'! कहना महाश्रमण का वाद नहीं है। वे तो सुख का मार्ग सिखाते हैं। 'सुखा सामञ्ञाता लोके' (सुखा श्रमणता लोके)

उपाय को ठीक से जानकर, काम-विषयक तृष्णा को छोड़कर, काम विषयक जलन को हटाकर, काम प्यास से मुक्त होकर, अपने अन्दर चित्त की शान्ति को प्राप्त कर विहरते थे, विहरते हैं और आगे भी विहरेंगे।" मागन्दिय-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।५)

(१) देखिये महातण्हा संखय-सुत्तन्त (मज्झिम० १।४।८)

(२) चक्कवत्तिसीहनाद-सुत्त (दीघ० ३।३)

(३) चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम० १।२।४)

(४) "यथा हि राजा रज्जसुखं देवता दिब्बसुखं अनुभवन्ति, एवं अरिया अरियं लोकुत्तरं सुखं अनुभविस्सामीति...इच्छितिच्छितक्खणे फलसमापत्तिं समापज्जन्ति। विसुद्धिमग्ग २३।८

का आदर्श राग-द्वेष विमुक्त भिक्षुओं ने समाज के आगे रक्खा था। जैसे चिकित्सा-शास्त्र में रोगों के वर्णन होने से वह दुःखवादी नहीं हो जाता क्योंकि उसका मन्तव्य तो रोगों को ठीक करने में ही होता है। इसी प्रकार प्रथम आर्यसत्य से समग्र बुद्ध-मार्ग दुःखवादी नहीं हो जाता क्योंकि उसका अन्तिम पर्य-वसान तो दुःख के निरोध एवं उसके मार्ग में है। निर्वाण सुख-रूप है। धर्म सेनापति सारिपुत्र ने कहा है, 'सुखमिदं आवुसो निब्बाणं' अर्थात् 'आयुष्मानो ! निर्वाण सुख है'।[1] रोग से यदि विमुक्ति मिल जाय, ऋण यदि चुका दिया जाय, तो क्या यह दुःख होगा? तो फिर बुद्ध को किसी भी अर्थ में दुःखवादी कहने का साहस क्यों किया जाता है? अपने शुभ कर्मों का इस प्रकार विनाश करने से क्या प्रयोजन है? भगवान् बुद्ध दुःखवादी नहीं किन्तु वे तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हैं और उनके मार्ग की एकमात्र विशेषता ही यह है कि जो उस पर चलता है वह यहीं पर अपने दुःख के क्षय को देखता है। उनके उपदेश के अनुसार आचरण करने पर, जिसके लिए कुलपुत्र घर से बेघर हो प्रव्रजित होते हैं, उस अनुत्तर ब्रह्मचर्य फल को इसी जन्म में स्वयं जानकर, उपलाभ कर, बौद्ध साधक विचरते हैं।

फिर आरोप है कि भगवान् अनीश्वरवादी अथवा निरीश्वरवादी हैं। यह आरोप ईश्वरवादियों के द्वारा अक्सर किया गया है किन्तु ईश्वरवाद की समस्या न केवल भारतीय दर्शन में ही बल्कि विश्व के विचार के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सम्यक् सम्बुद्ध के विषय में ही क्या, संसार के किसी भी व्यक्ति के विषय में पूर्ण निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह ईश्वर-वादी है या नहीं। जो ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करता है वह भी तो एक तरह से उसके अस्तित्व को स्वीकार करता ही है और जो ईश्वरवाद के ही गुण गाया करते हैं वे भी श्रुति-प्रामाण्य या ग्रन्थ-प्रामाण्य के अतिरिक्त अन्त में उसके विषय में

एक दुर्धर्ष विश्वव्यापी नियम का माननेवाले, नैतिक आदर्शवाद की अनुपम स्थापना करने वाले, मैत्री भावना का सर्वत्र प्रसार करनेवाले, परमतत्व के विषय में औपनिषद् परम्परा के अनुसार ही मौन साधने वाले, उन सम्यक् सम्बुद्ध, शान्त, निर्वाण-प्राप्त मुनि को अनीश्वरवादी कैसे कहा जाय ?

(१) मिलाइये पीछे पृष्ठ ४८९, पद-संकेत ३

क्या जानते हैं? ईश्वरवादी अथवा अनीश्वरवादी होने की कसौटी क्या है? क्या किसी के कहने या न कहने मात्र से ही हम इसका अनुमान लगा सकते हैं अथवा इसको जानने के अन्य भी कुछ तात्विक उपादान हैं, ये विषय विचारणीय हैं। अधिक विस्तार में न जाकर हमें इतना तो पहले ही कहने में नहीं झिझकना चाहिए कि बुद्ध ने सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर को नहीं माना है[1], स्वयं अपने को, निगण्ठ नाटपुत्त को और इसी प्रकार वैदिक ऋषियों को भी शाक्यमुनि ने सर्वांश में सर्वज्ञ नहीं माना है[2], और न दिया है अपने विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद में उसे कोई स्थान ही, यह स्थिति समझ कर ही हमें आगे चलना है।

ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्न वैसे तो बहुत विस्तृत और विवादग्रस्त है, किन्तु धर्म और दर्शन के वैज्ञानिक ढंग के विद्यार्थी के लिए जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि क्या एक व्यक्ति जो एक दुर्धर्ष विश्व-व्यापी नियम में विश्वास रखता है, नैतिक आदर्शवाद की जिसने अनुपम स्थापना की है, मैत्री भावना का जिसने सर्वत्र प्रसार किया है एवं औपनिषद ऋषियों की परम्परा में ही जिसके लिए 'जिसे अविज्ञात है उसे ज्ञात है, जिसे ज्ञात है उसे अविज्ञात है' ऐसी वाणी परम तत्व के विषय में उद्देश्य कर निश्चय रूप से ही कही जा सकती है, वह परम ज्ञानी, सम्यक् सम्बुद्ध, शान्त, निर्वाण-प्राप्त मुनि, क्या ईश्वरवादी कहे जा सकते हैं या अनीश्वर-वादी? निश्चय ही, जैसा कि हमने 'अनात्मवाद' के विवेचन में भी देखा, भगवान् ने परम तत्व के विषय में, उस प्रत्यगात्मा के विषय में जिसे औपनिषद ऋषियों ने निरूपित किया था, मौन साधा किन्तु साथ ही उस 'अभूत' 'अजात' तत्व के विषय में 'अत्थि' ऐसा निश्चयात्मक निर्घोष भी किया और औपनिषद परम्परा में भी तो है 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते'। है, ऐसा कहने के सिवाय उसकी उपलब्धि ही कैसे है? यदि यह भी मान लिया जाय कि 'आत्मा' के औपनिषद अर्थ को अर्थात् किसी एक कारणों के

(१) देखिये ब्रह्मनिमन्तनिक सुतन्त (मज्झिम० १।५।९); पाथिक सुत्त (दीघ० ३।१); ऐसा तो आचार्य कुमारिल ने भी किया है, जैसा कि हम पांचवें प्रकरण में 'पूर्वमीमांसा दर्शन' के विवेचन में देखेंगे।
(२) देखिए तेविज्ज सुत्त (दीघ० १।१३) कण्णत्थलक सुत्त (मज्झिम० २।४।१०), तेविज्जवच्छगोत्त सुत्त (मज्झिम० २।३।१)

कारण तत्त्व को तथागत ने किसी भी अर्थ में स्वीकार नहीं किया है, तो फिर जैसा कि हम पहले भी सूचित कर चुके हैं, उनके द्वारा भद्रवर्गियों को 'आत्म-गवेषणा' का उपदेश करने का तात्पर्य ही क्या था? 'अत्तदीपो भव अत्तसरणो अनञ्ञसरण' इसमें 'अत्त' (आत्मा) का तात्पर्य क्या है? यदि कहा जाय कि यहां 'अत्त' से तात्पर्य 'आत्मा' से न होकर 'अपने' से है तो फिर बौद्ध अर्थ में वह 'अपना' भी तो कहीं नहीं है। सभी तो प्रतीत्य समुत्पन्न पञ्चस्कन्धों का खेल है, जो अनात्म हैं, दुःख हैं और अनित्य हैं। 'अपना' की उपलब्धि यहां कहां है? तो क्या फिर तथागत ने भ्रमित करने के लिए ही उपदेश दिया था? सम्यक् सम्बुद्ध के विषय में ऐसा सोचना उनकी निन्दा करना है और अपने पुण्य कर्मों का क्षय। अतः तथागत के उपदेशों की संगति मिलाने के लिए हमें यह अवश्य मानना पड़ेगा कि तथागत किसी विश्वव्यापी नियम को अवश्य मानते थे जिसे उन्हीं के शब्दों में कम्म, धर्म-स्थिति (धम्मट्ठितता) या धर्म नियामता (धम्म नियामता) कहा जा सकता है। यदि इस नियम को ही हम ईश्वर की संज्ञा दें तो निश्चय ही हमें यह मानना पड़ेगा कि इस अर्थ में तथागत 'ईश्वरवादी' हैं। किन्तु, चूंकि 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग जन-साधारण में इतना अस्पष्ट और व्यक्तिगत भावनामय है कि एक दर्शन के विद्यार्थी के लिए बुद्ध के विषय में 'ईश्वरवादी' कहना भय से खाली नहीं है और न वह तथ्यों पर ही आधारित है। हमारा विचार है कि जो विचारक (महात्मा गांधी, रायस डेविड्स आदि) भगवान् बुद्ध को किन्हीं भी अर्थों में 'ईश्वरवादी' सोचने का प्रस्ताव करते हैं वे प्रायः अविद्यमान से ही विद्यमान को प्रख्यापित करते हैं। तथागत पर लांछन लगाते हैं, ऐसा तो सम्भवतः हम नहीं कहेंगे। पुनः राहुल सांकृत्यायन आदि, जिनके लिए ईश्वर 'मनुष्य के मानस पुत्र' होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, जब बुद्ध को 'अनीश्वरवादी' कहते हैं तो वे सत्य बात कहते हुए भी बुद्ध को ऐसी भूमि पर ले जाना चाहते हैं जो उनकी नहीं है। बुद्ध के लिए ईश्वर की समस्या ही नहीं है। वह तो पृथग्जनों के लिए ही है। ईश्वर यदि है तो भी अच्छा है, यदि नहीं है तो भी अच्छा है। जीवन और कर्म अच्छे होने चाहिये। यदि वे अच्छे हैं तो भगवत्कृपा ही है। अन्यथा ईश्वर को मानकर भी क्या लाभ? 'भिक्षुओ! यदि प्राणी पूर्व किए कर्मों के कारण सुख-दुःख भोगते हैं, तो अवश्य भिक्षुओ! तथागत पूर्व में पुण्य कर्म करनेवाले हैं जो कि इस समय आस्रव-विहीन सुख-वेदना को

अनुभव करते हैं। यदि भिक्षुओ! प्राणी ईश्वर-निर्माण के कारण सुख-दुःख भोगते हैं, तो अवश्य भिक्षुओ! तथागत अच्छे ईश्वर के द्वारा निर्मित किये गये हैं जो इस समय आस्रव-विहीन सुख-वेदना को अनुभव करते हैं। यदि भिक्षुओ! भवितव्यता के कारण, अभिजाति के कारण, इसी जन्म के उपक्रम के कारण...सुखवेदना को अनुभव करते हैं—तथागत इस वाद को माननेवाले हैं।'[१] इस बुद्ध-वचन पर विचार करें तो हम कहाँ पहुँचते हैं? तथागत के लिए यह प्रश्न ही महत्वपूर्ण नहीं है कि हम किसके द्वारा निर्मित हुए हैं अथवा यह सृष्टि कहाँ से आई है? हमारे सामने प्रत्यक्ष जीवन है और उसकी विशुद्धि हमें करनी है। अपने पुरुषार्थ से हम इसे कर सकते हैं। किसी ईश्वर की शरण लेना आवश्यक नहीं। तथागत ने अपने बल से ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें किसी भागवती कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ हो, या उसमें किसी ईश्वर की सहायता मिली हो, ऐसा उन्होंने नहीं कहा है। इस अर्थ में यदि हम चाहें तो उन्हें अनीश्वरवादी कह सकते हैं। 'ईश्वर', 'ईश्वर' कहना तथागत का काम नहीं है, 'कम्म', 'कम्म' कहना तथागत का काम है। जितने भी हेतु से उत्पन्न हमारे रोग होंगे, हमारी समस्याएं होंगी, उनका तथागत समाधान और प्रतिकार करेंगे, किन्तु यदि हम अपनी सन्निपातमय बकवादों और असंगत प्रश्नों के भी उत्तर उनसे चाहेंगे तो हम यों ही मर जाएँगे, दुःख का शल्य तो हमारे हृदय से निकलेगा नहीं। कुछ विचारक ऐसे हैं जो बिना 'ईश्वर' नाम की वस्तु पर आलम्बित हुए नीति तत्व की सिद्धि नहीं कर सकते और फिर निश्चय ही जहाँ वे उच्चतम आचरण अथवा पवित्र जीवन की प्राप्ति देखते हैं, वहाँ निश्चय ही वे 'ईश्वर' का भी आरोप उस व्यक्ति के ऊपर कर देते हैं। इस दृष्टि से देखने पर तथागत उच्चतम 'ईश्वरवादी' ही कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका-सा आचरण, उनका-सा शील इस जगत् में आज तक किसी का हुआ नहीं है। किन्तु तथागत का दृष्टिकोण दूसरा है। उनका शील, उनकी समाधि, उनकी प्रज्ञा ईश्वर प्रदत्त नहीं है जिस प्रकार कि कोई भक्त अपने विषय में कह सके 'तिहारोई नाम गयन्द चढ़ायो'। तथागत ने जो कुछ भी प्राप्त किया उसे अपने अदम्य वीर्य से ही उद्भूत बताया और निर्वाण को भी उन्होंने किसी दूसरे की सहायता से नहीं बल्कि अपने ही पुरुषार्थ से प्राप्तव्य बताया। फिर 'ईश्वर' की व्याख्या इतनी विस्तृत भी की जा सकती है कि उसे 'कर्म' का प्रतीक

(१) देवदह सुत्तन्त (मज्झिम० ३।१।१)

भी माना जा सकता है। उस अर्थ में 'कर्म' के सिद्धान्त का तथागत से अधिक और किसने निरूपण किया है? वैदिक ऋषियों के भी वरुण को 'ऋत' के रक्षक मानने का अन्य क्या तात्पर्य था? फिर बुद्ध ने यदि कवित्व का निषेध करके विशुद्ध तत्व को ही स्वीकार किया तो यह तो दार्शनिक विकास की ही एक अवस्था हुई, इसे 'निरीश्वरवाद' का परिचायक कैसे माना जाय? किन्तु ईश्वरवाद का प्रख्यापन या निरूपण करना भी तो तथागत का काम नहीं था, सम्भवतः इसलिए नहीं कि वे स्वयं 'ईश्वर' थे, किन्तु केवल इसीलिए कि उनका मार्ग ही ऐसा स्वतः सिद्ध और स्वतः परिपूर्ण था कि उसके लिए सत्ता सम्बन्धी प्रश्न में पड़ना निरर्थक था। अनेक बातों को 'अव्याकृत' करने का तथागत का तात्पर्य ही यही था। शिंशपा वन के जो कुछ पत्ते उन्होंने हमें अपने हाथ में लेकर दिखाये हैं उनसे हम यही तात्पर्य क्यों निकालें कि पूरे शिंशपा-वन में कुल उतने ही पत्ते हैं। तथागत के पास कुल उतना ही ज्ञान है जितना उन्होंने शब्दों में व्यक्त किया है। जो कुछ तथागत ने व्यक्त नहीं किया है, वह उससे बहुत अधिक है जो उन्होंने व्यक्त किया है, यह तो स्वयं बुद्ध ने ही कहा है और हम उसको वैसा क्यों न मानें? वैसे यदि 'ईश्वरवाद' के रूप में बुद्ध-मन्तव्य को देखने की लालसा भारतीय हृदय में अधिक जाग ही रही हो तो 'ईश्वरवाद' का बुद्ध पर आरोपण करके ही क्यों किया जाय? (ईश्वरवाद के भी तो धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि से अनेक दोष ठहरे!) उन शब्दों के द्वारा ही क्यों न किया जाय जो भगवान् ने प्रजापती गोतमी से, कालामों से या अपने समय के अनेक अभिमानी और वादी ब्राह्मणों से भिन्न-भिन्न प्रकार से कहे। ईश्वर में श्रद्धा किस लिए की जाती है? विराग के लिए कि संग्रह के लिए, संयम के लिए कि इन्द्रिय-लिप्सा के लिए, अशान्ति के लिए कि शान्ति के लिए, बन्धन के लिए कि मोक्ष के लिए? क्या भक्त भी अन्त में यही नहीं गाता "हों अपनायो तब जानिहों.... जब मन परिहरिहै..... हरखि है न अति आदरे निदरे न जरि मरि है....." क्या निराश होकर वह कभी उपालम्भ नहीं कर बैठता '... प्रभु नाम हु पाप न जार्‌यो' तो क्या ईश्वर का उपकरण लेकर वह भी जीवन की विशुद्धि के लिए लालायित नहीं है और यदि अपने उपास्य देव को वह उपकरण न मानकर अनन्य और निष्काम भाव से ही उपासना करता है तो भी क्या उसकी कसौटी भी वह केवल जीवन की पवित्रता ही नहीं बनाता 'कबहुँक हों यहि रहनि

रहोंगो' ऐसी ही विकलतामय वाणी नहीं कहता ? फिर यदि यही जीवन की सर्वोत्तम विशुद्धि एक व्यक्ति में विद्यमान है तो क्या उसके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसने उसी मार्ग का प्रकारान्तर से साक्षात्कार किया है जिसके लिए सभी आस्तिकवाद या ईश्वरवाद का उपयोग है। फिर बुद्ध जैसे सम्यक् सम्बोधि सम्पन्न पुरुष के विषय में, जिसने न तो शाश्वतवाद, न अशाश्वतवाद और न उच्छेदवाद से ही अपने विचार की एकात्मता दिखाई, न ईश्वरवाद और न अनीश्वरवाद के ही प्रख्यापन में कोई प्रवृत्ति दिखाई, न किसी देव की उपासना और न फिर देवों के अनस्तित्व का ही प्रचार किया।[1] और सबसे अधिक तो स्वयं जानकर और साक्षात्कार कर ही उपदेश देने का दावा किया, न कि अनुश्रव और केवल तर्क के द्वारा (जिन्हें उन्होंने 'अनाश्वासनिक ब्रह्मचर्य' कहा) ही, ऐसे उस 'अच्छरिय पुरिस' के मत के विषय में भी 'तथागत इस वाद के माननेवाले थे' ऐसा इदमित्थं रूप से क्यों कहा जाय, और वह भी 'ईश्वर' की समस्या को लेकर जिसके प्रति उनके दर्शन की उदासीनता का भाव स्पष्ट है। भगवान् ने एक स्थान पर ऐसा भाव दिखाया है कि यदि यह सृष्टि ईश्वर के द्वारा ही निर्मित की गई है तो वह ईश्वर अवश्य ही अत्यन्त निर्दय होगा जिसने ऐसे दुःख-पूर्ण संसार को उत्पन्न किया है[2]। भगवान् का यह वाक्य उनके अनीश्वर-वादी होने के प्रमाण स्वरूप अक्सर उद्धृत किया जाता है और हम भी उसे प्रायः वैसा ही मानते हैं। ईश्वर या ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता नहीं हो सकता, यह बुद्ध ने इतनी अधिक बार कहा है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वयं वेदान्त ने भगवान् के इस विचार को प्रकारान्तर से ग्रहण किया है, ऐसा हम कह सकते हैं। ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मानने पर कर्म का उत्तरदायित्व मनुष्य पर नहीं रहता। पुरुषार्थ की आवश्यकता जाती रहती है। मनुष्य अपने दुर्भाग्य को ईश्वर के मत्थे मढ़ सकता है। इस प्रवृत्ति की निन्दा गीताकार जैसे ईश्वरवादी ने भी की है 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति विभुः...तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इस प्रकार अपने पापों को ईश्वर पर लादने की प्रवृत्ति की निन्दा भक्तों की परम्परा

(१) संगारव सुत्त (मज्झिम० २।५।१०) में बुद्ध ने देवताओं के अस्तित्व को स्पष्टतः स्वीकार किया है।

(२) देखिए राधाकृष्णन : इण्डियन फ़िलॉसफ़ी, जिल्द पहली, पृष्ठ ४५६, पदसंकेत १

ने भी की है। 'कोउ न काहु सुख दुःख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता।' भगवान् बुद्ध भी जो नितान्त कर्मवादी थे, इसी प्रवृत्ति को लेकर ईश्वर कर्तृत्व के प्रत्याख्यान में प्रवृत्त हुए थे, ऐसा कहा जा सकता है। जब अपने कर्म के द्वारा ही हम सुख-दुःख भोगते हैं तो फिर सृष्टि-कर्तृत्व का किसी 'ईश्वर' पर आरोप कर उसे ही अपने दुःखों का उत्तरदायी क्यों ठहराया जाय? बुद्ध का तो मत है कि तुम जहाँ आज हो वह अपने 'कर्म' के ही कारण हो और 'प्राणी जाता भी वहाँ है, जहाँ उसका कर्म ले जाता है'। तो फिर ईश्वर की निष्पत्ति अथवा उसकी मध्यस्थता की यहाँ क्या आवश्यकता है? हाँ, यदि इसी 'कर्म' को 'ईश्वर' को संज्ञा देना अभिप्रेत हो तो शब्दों के विषय में किसी को झगड़ना नहीं है, जो जैसा चाहे मान सकता है।

इस प्रकार 'ईश्वरवाद' के प्रश्न को लेकर हमने बुद्ध के विचार को उसके सम्बन्ध में देखा। हमने देखा कि तथागत का अनुत्तर विशुद्धिमार्ग स्वतः परिपूर्ण और सभी 'वादों' से निरपेक्ष है। 'ईश्वरवाद' भी स्वभावतः एक वाद है। बुद्ध को 'ईश्वरवादी' कहना उनके विचार में जो अविद्यमान है उसे विद्यमान दिखाना है, किन्तु उनको 'अनीश्वरवादी' कहना तो उनके विचार में जो विद्यमान है उसे ही अविद्यमान कर देना है। जो अनिरुक्त है उसे अनिरुक्त ही रहने देना चाहिए। जो विचार से अतीत है उसे विचार का विषय बनाकर अनादृत नहीं करना चाहिए। किन्तु सभी ने उसे 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई' के अनुसार कुछ-न-कुछ विचार का विषय बनाकर अनादृत ही किया है। केवल सम्यक् सम्बुद्ध ही समग्र भारतीय दर्शन-साधना में एक ऐसे अपवाद हैं जो कहे बिना रह गए हैं और इसीलिए सम्भवतः वह तत्व उनका ही सबसे अधिक जाना हुआ था, ऐसा हम कहने का प्रस्ताव करते हैं, यद्यपि कहना यह भी नहीं चाहिए। तथागत सभी 'वादों' से परे हो गए थे, सभी 'अस्ति' और 'नास्ति' की कोटियों से विमुक्त हो चुके थे, उन मुनि को किसी भी 'अस्ति' या 'नास्ति' का प्रख्यापक बनाकर उनकी निन्दा नहीं करना चाहिए। हां, उनकी ध्यानमय अवस्थाओं के वर्णनों से ही पता लगा लेना चाहिए कि उनके हृदयगत विचार कैसे रहे होंगे और उनका साक्ष्य लेना चाहिए विशुद्ध स्वानुभूति से ही, तर्क इसमें कितना असफल होता है यह तो इस विषय (ईश्वर कर्तृवाद) को लेकर नैयायिकों और बौद्ध आचार्यों की वाद-परम्परा से ही पता लग जाता है। वे अपने

समग्र महान् तर्कों और प्रज्ञानों के बाद भी मूल समस्या से एक तिलमात्र भी आगे नहीं बढ़ पाए हैं। हमारे लिए तो समस्या का समझ लेना मात्र ही पर्याप्त है। इसका हल मानवीय बुद्धि नहीं कर सकती। हाँ, निष्कर्ष रूप में यही एक बात कहना जरूरी है कि यदि ईश्वरवाद निश्चय ही विराग के लिए है, निरोध के लिए है, उपशम के लिए है, अभिज्ञा के लिए है, शान्ति के लिए है, तो निश्चय ही उस मात्रा में वह शास्ता का अभिप्राय भी है अथवा ठीक यों कहिए कि उनके अभिप्राय में संनिविष्ट भी हो सकता है, क्योंकि जो कुछ भी उपर्युक्त उद्देश्यों को लेकर किया जाता है वह सब तथागत का सम्मत ही मार्ग है और उसके करने में तथागत को कोई इन्कार नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त रूप से ईश्वरवाद तथागत के मन्तव्य में आश्वासन पा सकता है। 'प्रपत्ति' का पर्यवसान 'प्रतिपद्' में हो सकता है। 'ईश्वरवाद' यदि निर्बलता का भी निशान हो तो भी सबल अर्थात् अपने ही वीर्य से सब कुछ सम्पादन करने का गर्व करनेवाले संसार में अधिक नहीं हो सकते! इसी तथ्य में ही लोकधर्म के रूप में 'स्थविरवाद' की 'महायान धर्म' के सामने 'हीनता' का सारा तत्व स्पष्ट रूप से समाया हुआ है। किन्तु बुद्ध का विशुद्धि मार्ग तो सबलों के लिए है, निर्बलों के लिए नहीं। उपनिषदों ने कहा था कि उनके आत्मा को समझने के लिए बल चाहिए। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। बुद्ध के 'अनात्मा' को समझने के लिये कितने बल की आवश्यकता पड़ेगी, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। कुछ भी हो, निर्बलों को अपनी भावना के अनुसार उन अदम्य वीर्य का आरम्भ कर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करनेवाले 'दशबल' (बुद्ध) के प्रति स्वकल्पित 'ईश्वरवाद' जैसी किसी बात का आरोप नहीं करना चाहिए। परन्तु दूसरी ओर उन सबल शास्ता के निर्बल अनुयायियों को भी सब काम अपने ही वीर्य से सम्पादित करने का निर्घोष नहीं करना चाहिए। हमें तो विनम्रता पूर्वक इतना ही कहना है कि जो 'ईश्वर' में विश्वास करते हैं वे 'कर्म' को ही पूजते हैं और जो 'कर्मवादी' हैं वे 'ईश्वर' से दूर नहीं होते यदि 'ईश्वर' का तात्पर्य एक जगन्नियामक तत्व से है। महात्मा बुद्ध 'कर्म' को ही यहाँ प्रतिशरण और कर्म को ही केवल अपना बताते थे, अतः उन्हें दूसरा नाम लेने की आवश्यकता ही नहीं थी। कुछ भी हो 'नत्थि' कहनेवाला उन्हें नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि वे ऐसा कहनेवाले होते तो वे 'अजित केस कम्बली' ही होते, सम्यक् सम्बुद्ध नहीं। शाश्वतवादी

भी उन्हें नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा होने पर वे आलार कालाम के पास ही रह जाते उससे आगे नहीं बढ़ते, सन्देहवादी, अधीत्य समुत्पादवादी अथवा उच्छेदवादी भी उन्हें नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि वे ऐसे होते तो 'बुद्ध' पदवी धारण नहीं करते, सभी आश्वासनों से आश्वासित होकर उपदेश करने का दावा नहीं करते, कर्म और पुनर्जन्मवाद नहीं सिखाते, बोधिपक्षीय धर्मों का प्रख्यापन न करते, हेतु से उत्पन्न होनेवाले धर्मों की सकारणता न बताते। यदि उन्हें ईश्वरवादी कहें तो किसी भी देव या ईश्वर की उपासना के विधान का नाम तक भी उनकी विचार-प्रणाली में नहीं है, यहाँ तक कि 'तथागत की शरीर पूजा' से भी विरत रहने का उपदेश है, यदि अनीश्वरवादी उन्हें कहें तो संसार के विचारक्षेत्र का सबसे अधिक विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद यहाँ उपस्थित है, यदि अनिर्वचनीयतावादी उन्हें कहें तो कहा जा सकता है कि उन्होंने 'आचार्य मुष्टि' जैसी कोई बात नहीं रक्खी और यदि यह कहा जाय कि उनका तो दृष्टिकोण सदा व्यावहारिक प्रयोजनवादी ही रहा तो याद रखना चाहिए कि भगवान् का दिया हुआ समग्र उपदेश तो शिंशपा-वन की पत्तियों के समान है जिनको भगवान् ने दिखाया है और जितना उन्होंने दिखाया है उसके अतिरिक्त भी तथागत बहुत कुछ जानते हैं जिसको उन्होंने प्रख्यापित नहीं किया है, अपनी सम्यक् सम्बोधि के बाद होनेवाली प्रथम आशंका के परिणामस्वरूप ही। तो फिर साधक गवेषक इस 'मेण्डक पण्ह' के उत्तर के लिए कि क्या बुद्ध ईश्वरवादी हैं अथवा अनीश्वरवादी, कहां जाय? निश्चय ही बुद्ध के पास तो जाना ही बेकार है क्योंकि सिवाय सन्निपात के प्रवाद के समान 'न कल्लोयंपञ्हो' अर्थात् यह प्रश्न ही गलत है, ऐसा कहने के अलावा उनका तो और कुछ उत्तर होगा ही नहीं, और सम्भवतः 'वह देव जो परम व्योम में है' यदि उसके पास भी जाया जाय तो कदाचित् वेद की यह वाणी ही एक अर्थ में ठीक न हो जाय कि सम्भवतः 'वह भी इसे जानता है या नहीं'। 'सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद'। अतः अधिक वाग्जाल न बढ़ाकर हमें भी उसे सम्यक् सम्बुद्ध की तरह अनिरुक्त ही रहने देना चाहिए, क्योंकि जहाँ देवों तक को विचिकित्सा है वहाँ हमारी क्या गति? और फिर सबको छोड़ हमें तो केवल यही स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् सभी उपाधियों को विच्छिन्न कर विमुक्त होगए हैं (अनुपादा विमुत्ता भिक्खवे तथागतो)। और वे देव-मनुष्यों के अनुपम शास्ता, पुरुष दम्य-सारथी हैं जिनके मार्ग पर जो चलेगा वह

यहीं दुःख के अन्त को देखेगा। इससे परम और कोई धर्म नहीं है। अन्त में धर्म-साधना के एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत कर हमें इस प्रसंग को समाप्त करना चाहिए। स्वीडेन के प्रसिद्ध विद्वान् आर्चबिशप नाथन सोडर-ब्लोम ने, जिनका बौद्ध धर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं, 'एन्साइक्लोपेडिया ऑव रिलिजन एण्ड एथिक्स' में 'होली' (पवित्र) शब्द के अन्तर्गत विवेचन करते हुए यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि "धर्म का आधारभूत विचार ईश्वर का विचार नहीं है, बल्कि 'पवित्र' का विचार है। ... 'विशुद्धि' धर्म में एक महान् शब्द है। ईश्वर के विचार से यह अधिक महत्वपूर्ण है। देवत्व के निश्चित विचार के अभाव में धर्म विद्यमान रह सकता है, किन्तु अच्छे और बुरे के भेद के अभाव में धर्म की विद्यमानता नहीं है[१]।" क्या कुशल है क्या अकुशल, क्या विशुद्धि क्या अविशुद्धि, क्या सेवनीय है क्या असेवनीय, यह तथागत से अधिक विश्व के किस तथोक्त 'ईश्वरवादी' शास्ता ने बताया है? तथागत से अधिक पवित्र (होली) और कौन है?

उन महाश्रमण को उच्छेदवादी कहना तो अपने ही शुभ का उच्छेद करना है

फिर कहा जाता है कि बुद्ध उच्छेदवादी हैं। इसका प्रत्याख्यान हम इसी प्रसङ्ग में पहले और कुछ निर्वाण के विषय में विचार करते समय कर आए हैं। अब इस शंका को लेकर कोई विचारक प्रवृत्त नहीं होता। अतः विस्तार से इसमें जाने की आवश्यकता नहीं। केवल भगवान् के ही इस विषयक एक वाक्य को उद्धृत कर हम मनस्तृप्ति करेंगे। जो लोग कहते हैं कि श्रमण गौतम उच्छेदवादी है, उच्छेदवाद का उपदेश करता है, शिष्यों को उच्छेदवाद की शिक्षा देता है, यदि वे इन अर्थों में कहते हैं तो ठीक कहते हैं; 'भिक्षुओ! मैं राग, द्वेष, मोह तथा अनेक प्रकार के पाप कर्मों के उच्छेद का

(१) "Holiness is the great word in religion, it is even more essential than the notion of God. Religion may exist without a definite conception of divinity, but there is no religion without a distinction between good and profane". **नाथन सोडरब्लोम : दि लिविंग गॉड, पृष्ठ १९ (भूमिका) में उद्धृत। देखिये इसी सम्बन्ध में नाथन सोडरब्लोम की महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'ऑरीजन ऑव दि बिलीफ इन गॉड', आक्सफर्ड, १९१४ भी।**

उपदेश करता हूँ[1]।' भगवान बुद्ध 'उच्छेदवादी' तो किसी भी अर्थ में नहीं हैं। न जाने आजीवकों आदि ने उनके समय में ही और निर्वाण के प्रश्न को लेकर यूरोप में भारतीय प्रज्ञान के अध्ययन के प्रारम्भिक युग में कुछ आधुनिक विद्वानों ने भी इस विषय में भ्रान्ति किस प्रकार फैलादो ! जिन शास्ता ने यह स्थापन किया है कि यह दुःख है, यह दुःख का समुदय है, यह दुःख का निरोध और यह दुःख-निरोध का मार्ग है, वह उच्छेद अथवा विनाश के उपदेष्टा किस प्रकार हो सकते हैं? जिन कारुणिक शास्ता ने यह प्रख्यापन किया है कि ये धर्म कुशल हैं और ये धर्म अकुशल, ये धर्म शान्ति और उपशम के लिए हैं और ये धर्म बन्धन और अशान्ति के लिए, वे भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध उच्छेदवादी किस प्रकार हो सकते हैं ? जिन्होंने कर्म के आधार पर विश्व की व्यवस्था आधारित मानी है, जिन्होंने पुनर्जन्म को स्वीकार किया है, वे शास्ता उच्छेदवादी किस प्रकार हैं ? जिन्होंने प्रतीत्य-समुत्पाद को सिखाया है, जिन्होंने सार्वभौमिक आचार-तत्त्व को प्रथम बार मनुष्यता को सुनाया है, वे सम्यक् सम्बुद्ध उच्छेदवादी किस प्रकार हैं ? जिन्होंने विचारों की क्रान्ति में मानवता की स्थापना की, मनुष्यों को विनीत बनाया, कुशल और सेवनीय की स्थापना की, उन्हें उच्छेदवादी कहना तो अपने ही पुण्य का उच्छेद करना होगा। परन्तु फिर भी विश्व गुणदोषमय, अमृत-विषमय है। आरोप झूठे भी लगाये जाते हैं और महान् लोकोत्तर पुरुषों पर भी। तथागत की खिन्नता को हम अच्छी प्रकार समझ सकते हैं जब वे इस आरोप का प्रत्याख्यान करते हुए करुण गम्भीरतापूर्वक कहते हैं, "भिक्षुओ ! कोई-कोई श्रमण-ब्राह्मण असत्य, तुच्छ, मृषा, अभूत (अविद्यमान) से मुझ पर मिथ्या आरोप लगाते हैं—श्रमण गौतम वैनयिक (उच्छेदवादी) है, वह विद्यमान सत्व (जीव) के उच्छेद, विनाश, विभव, का उपदेश करता है। भिक्षुओ ! जो कि मैं नहीं कहता, उसका ये श्रमण-ब्राह्मण मुझ पर आरोप करते हैं, असत्य, मृषा, अभूत कथन से मुझ पर झूठा आरोप लगाते हैं—श्रमण गौतम उच्छेदवादी है, उच्छेद का उपदेश करता है[2]।'

सत्य अन्त में ठहरता है। तथागत को आज उच्छेदवादी कोई नहीं मानता। वे विश्व में सत्य और धर्म की प्रतिपदा के अद्वितीय स्थापक हैं, लोक और परलोक के कल्याण के मार्ग का उपदेश करनेवाले हैं।

(१) अंगुत्तर-निकाय, दुकनिपात; देखिये वेरंजक-ब्राह्मण-सुत्त (अंगुत्तरनिकाय) भी।
(२) अलगद्दूपम सुत्तन्त (मज्झिम० १।३।२)

'उत्तर' बौद्ध दर्शन अथवा उत्तरकालीन बौद्ध दार्शनिक विकास

भारत में बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास का संक्षिप्त इतिहास

पूर्व निर्दिष्ट स्थविरवाद के अतिरिक्त बौद्ध विचार के विकास की अन्य परम्पराएँ

बौद्ध धर्म और दर्शन के विकास में उस परम्परा के स्वरूप और दर्शन के विकास को हमने इस प्रकरण के पूर्वार्द्ध में देखा है जिसे 'स्थविरवाद' कहा जाता है और जो बौद्ध धर्म और दर्शन के एक पूर्वतम अतः विशुद्धतम स्वरूप का प्रतीक माना जा सकता है। अब हम उत्तर-कालीन बौद्ध धर्म और दर्शन की परम्पराओं के उद्भव और विकास पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे। जैसा कि हमने बौद्ध संघ की द्वितीय बैठक का वर्णन करते समय पहले संकेत किया था, इस संगीति के परिणाम-स्वरूप महासांघिकों का एक प्रभावशाली सम्प्रदाय स्थविरवाद परम्परा से अलग उत्पन्न हो गया था जिसने अपनी एक अलग संगीति 'महासंगीति' के नाम से की थी और जिसने अपने एक अलग स्वतंत्र साहित्य का भी उद्भावन किया था। उत्तर-कालीन बौद्ध धार्मिक और दार्शनिक सम्प्रदायों के स्वरूप और विकास को समझने के लिए हमें इन्हीं महासांघिकों से शुरू करना होगा। अतः हम वैशाली में होनेवाली द्वितीय संगीति की ओर लौटते हैं।

बुद्ध के परिनिर्वाण-काल तक का बौद्ध धर्म स्थविरवाद; साथ ही द्वितीय सङ्गीति के बाद से ही महासांघिकों का उदय

यश काकण्डपुत्र ने वज्जिपुत्तक भिक्षुओं को उनके विनय-विरोधी आचार और विशेषतः उनकी स्वर्ण-रजत के प्रति लोलुपता के लिए फटकारा, यहाँ तक कि वैशाली के उपासकों को 'मत आवुसो संघ को कार्षापण दो। शाक्यपुत्रीय श्रमणों को सोना और चाँदी विहित नहीं है, शाक्यपुत्रीय श्रमण जातरूप-रजत उपभोग नहीं कर सकते, जात-रूप-रजत स्वीकार नहीं कर सकते, वे जातरूप-रजत त्यागे हुए हैं।' इस प्रकार समझाया, और अनाथपिण्डिक द्वारा निर्मित प्रसिद्ध जेतवनाराम में एक प्रारंभिक सभा कर अभिभाषण देते हुए बुद्ध के उन अनुत्तर शब्दों की याद दिलाई कि 'गामणी ! जिसे जातरूप-रजत कल्पित

हैं उसे पाँच कामगुण भी कल्पित हैं। जिसको पाँच काम-गुण कल्पित हैं गामणी! तुम उसको बिल्कुल ही अ-श्रमणधर्मी, अशाक्यपुत्रीय-धर्मी समझना, गामणी! मैं ऐसा कहता हूँ। तृण का चाहनेवाला तृण को खोजनेवाला होता है, शकटार्थी को शकट खोजना होता है, पुरुषार्थी को पुरुष, किन्तु गामणी! किसी भी प्रकार मैं जातरूप-रजत को स्वादितव्य, पर्येषितव्य नहीं मानता।' इस प्रकार वज्जिपुत्तक भिक्षुओं के विरुद्ध एक महान् आंदोलन का प्रवर्तन और प्रसार करते हुए जब उन्होंने अपने आंदोलन को आगे बढ़ाया तो वज्जिपुत्तक (वृज्जिपुत्रक) भिक्षु भी चुपचाप नहीं बैठे रहे। दोनों ओर से एक महान् विवाद उत्पन्न हो गया और निर्णय के लिए पक्ष संग्रह होने लगा। यश काकण्डपुत्त, जो इस सभा के संयोजक थे, वैशाली से कौशाम्बी गये और वहाँ से उन्होंने अपने दूत पाठेय्य और अवन्ति-दक्षिणापथ के भिक्षुओं के पास भेजे, जहां से उन्हें सहयोग मिला। यह पश्चिम के भिक्षुओं का दल था। प्राचीन के (पूर्व के) भिक्षुओं के समर्थकों में वैशाली के वृज्जिपुत्रक मुख्य थे। पाठेय्यक (पच्छिमवाले) और प्राचीनक (पूर्ववाले) ये दो पक्ष हो गए। पाठेय्यक भिक्षु यश काकण्डपुत्र के समर्थक थे और प्राचीनक वृज्जिपुत्रकों के। प्रथम पक्ष के समर्थक भिक्षुओं में यश के अलावा अहोगंग पर्वत (हरिद्वार के पास) के निवासी उस समय के प्रसिद्ध साधक भिक्षु, सम्भूत साणवासि और सोरेय्य के निवासी रेवत भिक्षु तथा एक अन्य भिक्षु सुमन मुख्य थे। दूसरे पक्ष के मुख्य भिक्षु थे सब्बकामि, जो आनन्द के शिष्य थे, और साल्ह, जो सहजात के प्रसिद्ध भिक्षु थे। डाक्टर एस० बील का अनुमान है कि वृज्जिपुत्रक भिक्षु वास्तव में ट्यू-रेनियन जाति की यूची शाखा के थे, और इस प्रकार यह झगड़ा ट्यूरेनियन बौद्ध भिक्षुओं और भारतीय बौद्ध भिक्षुओं के बीच हुआ था[1]। चूंकि यही वृज्जिपुत्रक भिक्षुबाद में महासांघिकों के रूप में परिणत होकर अन्त में उस महायान शाखा में परिवर्तित हो गए, जिसका प्रचार उत्तरी तूरानी देशों यथा चीन, जापान आदि में है, यह मत कुछ अवकाश ग्रहण कर सकता है, किन्तु हमें इस संबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि

---

(१) एस० बील : बुद्धिज्म इन चाइना, पृष्ठ ४३; देखिए रमेशचन्द्र दत्त : हिस्ट्री ऑव सिविलिजेशन इन एन्शियन्ट इन्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ ३३६, ३६९

'महावंस' और 'दीपवंस' के अनुसार वृज्जिपुत्रक भिक्षु महासांघिक सम्प्रदाय के संस्थापक नहीं थे, बल्कि वे केवल दुष्ट अनाचारी भिक्षु थे जिन्हें संघ से निष्कासित कर दिया गया था। वसुमित्र और भव्य के साक्ष्य पर भी महासांघिक सम्प्रदाय का उदय बिलकुल स्वतंत्र रूप से हुआ था और उनका वृज्जिपुत्रकों से कोई संबंध न था। अन्त में कथावत्थु की अट्ठकथा के अनुसार भी वृज्जिपुत्रक स्थविरवादी शाखा के ही एक अंग थे, न कि 'महासांघिक शाखा के[1]। अतः वृज्जिपुत्रकों का महासांघिक सम्प्रदाय से कोई संबंध न होने के कारण हम उन्हें महायान धर्म के पूर्व रूप के साथ नहीं जोड़ सकते और इस प्रकार उनको तूरानी जाति के भिक्षु मानने का भी कोई आधार नहीं रहता। द्वितीय संगीति में प्राचीनक भिक्षु अधर्मवादी और पाठेय्यक धर्मवादी निश्चित किए गए। प्राचीनकों को यश काकण्डपुत्र के पक्षपातियों (पाठेय्यकों) ने अधर्मवादी कहा और प्राचीनकों ने पाठेयकों को 'बुड्ढे लोग' या बुड्ढे लोगों का मत मानने वाले (स्थविरवादी)। स्वयं प्रगतिशील महासंघ के निर्माता 'महासांघिक' बने जिनकी एक अलग बैठक कौशाम्बी में उन्हीं के पक्ष के दस हजार भिक्षुओं की उपस्थिति में हुई। वैशाली की संगीति में तो सात सौ ही भिक्षु बैठे थे, और महासांघिकों की इस बैठक में भाग लेनेवाले भिक्षुओं की संख्या थी दस हजार, अतः उनकी 'महासांघिक' संज्ञा ठीक ही थी। इस प्रकार वैशाली की संगीति में हम बौद्ध संघ को दो भागों यथा स्थविरवाद और महासंघ में बँटते देखते हैं। महासांघिकों ने यहीं से अपने एक स्वतंत्र साहित्य का भी उद्भावन करना आरंभ कर दिया, जिसकी निन्दा और आलोचना स्थविरवादी दृष्टिकोण से 'दीपवंस' में की गई है[2]।

---

(१) देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७

(२) महासंगीतिका भिक्खू विलोमं अकंसु सासनं।
भिन्दित्वा मूलसंघं अञ्ञं अकंसु संघं।
अञ्ञथा संगहितं सुत्तं अञ्ञथा अकरिंसु ते।
अत्थं धम्मञ्च भिन्दिंसु ये निकायेसु पञ्चसु।
परियायदेसितं चापि अथो निप्परियाय देसितं।
नीतत्थंचेव नेय्यत्थं अजानित्वान भिक्खवो।
अञ्ञं संधाय भणितं अञ्ञत्थं थापयिंसु ते।
व्यञ्जनच्छायाय ते भिक्खू बहु अत्थ विनासयुं।

वैशाली की उपर्युक्त संगीति के बाद से अशोक के समय तक बौद्ध संघइन दो उपर्युक्त सम्प्रदायों की शाखाओं के स्वरूप अनेक सम्प्रदायों या निकायों में बंट गया। वैशाली की संगीति के अवसर पर वृज्जिपुत्रकों

अष्टादश निकाय की अनियमितता के कारण जो दो सम्प्रदाय महासांघिक और स्थविरवाद (थेरवाद) बन चुके थे, वही अब सम्राट् अशोक के समय तक आते-आते १८ भागों में बंट गए। इनमें से महासांघिकों के (स्वयं उनको भी शामिल करके) ६ सम्प्रदाय थे और स्थविरवादियों के (स्वयं उनको भी शामिल करके) १२ सम्प्रदाय थे। कथावत्थु-अट्ठकथा के अनुसार यह शाखा-भेद इस प्रकार है[1]:—

महासांघिक (कुल ६)
(१)

(२) एकव्यावहारिक (एकब्बोहारिक) (३) गोकुलिक (गोकुलिक) (४) प्रज्ञप्ति-वादिन् (पञ्ञतिवादी) (५) बाहुलिक (बाहुश्रुतिक)

(६) चैत्यवादी (चेतियवादी)

छड्डेत्वा एकदेसं च सुत्तं विनयं च गंभीरं।
पटिरूपं सुत्तविनयं तं च अञ्ञं करिंसु ते।
परिवारं अत्थुधारं अभिधम्मप्पकरणम्।
पटिसम्भिदां चं निद्देसं एकदेसं च जातकं।
एत्तकं निस्सज्जेत्वान अञ्ञानि अकरिंसु ते।
नामं लिगं परिक्खारं आकप्पकरणाणि च
पकतिभावं विजहेत्वा तं च अञ्ञं अकंसु ते। दीपवंस

(१) देखिए ज्ञानातिलोक: गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृष्ठ ३६, राहुल सांकृत्यायन; विनयपिटक (हिन्दी अनुवाद) भूमिका, पृष्ठ १; उन्हीं की पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १२१, 'दीपवंस' के अनुसार भी बिलकुल यही विभाग है, देखिए राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित अभिधर्म कोश, भूमिका, पृष्ठ ४, देखिए जर्नल आॅव रोयल एशियाटिक सोसायटी १८९१ एवं जर्नल आॅव पालि टैक्सट् सोसायटी (१९०४-१९०५) (दि सैक्ट्स् आॅव दि बुद्धिस्ट्स्)

थेरवादी (कुल १२)
(१)

(२) महीशासक (महिंसासक)

(८) वात्सीपुत्रीय या वृज्जिपुत्रक (वज्जिपुत्तक)

(३) सर्वास्तिवादी (सब्बत्थिवादी)

(४) काश्यपीय (कस्सपिक)

(५) सांक्रांतिक (संक्रन्तिक)

(६) सूत्रवादी या सौत्रान्तिक (सुत्तवादी)

(७) धर्मगुप्तिक (धम्मगुत्तिक)

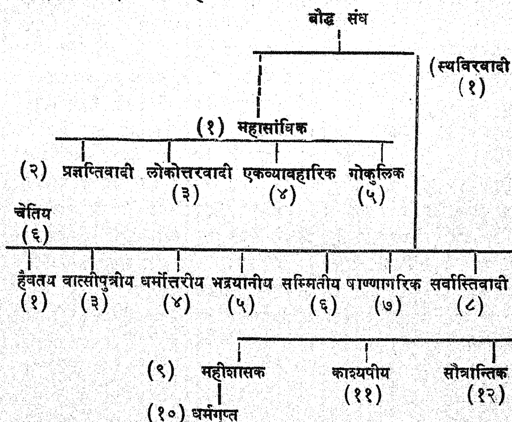
(९) धर्मोत्तरीय

(१०) छन्नागारिक

(११) भद्रयानिक

(१२) साम्मित्तिय

वसुमित्र-प्रणीत 'अटादश-निकाय' शास्त्र के अनुसार १८ सम्प्रदायों का विभागीकरण इस प्रकार है[1]:—



(१) देखिए राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित 'अभिधर्मकोश', भूमिका, पृष्ठ ५ एवं उन्हीं का विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, भूमिका पृष्ठ १–२

इस प्रकार सम्राट् अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेने के समय तक ये १८ बौद्ध सम्प्रदाय विद्यमान थे। अशोक के द्वारा पूजित किए जाने पर ये और भी बढ़ने लगे। शास्ता का वास्तविक उपदेश क्या था, यह कुछ जान ही न पड़ता था। परिणामतः पाटलिपुत्र में एक संगीति बुलाई गई। इस सभा के सभापति थे मोग्गलिपुत्त तिस्स। उन्होंने उपयुक्त सम्प्रदायों में से केवल विशुद्ध स्थविरवाद को तो बुद्ध का वास्तविक मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' माना और शेष को बुद्ध के मत से बाहर माना। इसी समय से सर्वास्तिवाद आदि सम्प्रदाय जो अब तक स्थविरवादियों की ही शाखा माने जाते थे, अलग हो गए। अतः हम कह सकते हैं कि अशोक के समय तक बुद्ध-मन्तव्य अथवा 'विभज्यवाद' जिस नाम से व्यवहृत होता रहा वह और उसकी परम्परा 'स्थविरवाद' में निहित है। अब हमें विरोधी प्रवृत्तियों के इतिहास पर आना चाहिए।

अशोक-युग में अथवा उसके कुछ पहले से ही महायान-प्रवृत्तियों का उदय और विकास

अशोक-संगीति के सभापति मोग्गलिपुत्त तिस्स ने विरोधी १७ सम्प्रदायों का निराकरण करने के लिए 'कथावत्थु' ग्रंथ की रचना की, जो अभिधर्म पिटक के सात ग्रंथों में से एक है। इस महाग्रंथ में न केवल अशोककालीन सिद्धांतों का ही खंडन-मंडन मिलता है, बल्कि कुछ बाद के सम्प्रदायों और सिद्धांतों का भी इसमें खंडन किया गया है। अतः राहुल सांकृत्यायन तथा अन्य विद्वानों का यह मत है कि इस ग्रंथ में कई अंश ईसा की पहली शताब्दी तक जोड़े जाते रहे[1]। इस ग्रंथ में प्राचीन अर्थात् अशोक के समय तक प्रचलित सिद्धांतों में से तो आठ का खंडन प्रस्तुत किया गया है, जिनमें से दो तो महासांघिकों के सम्प्रदाय हैं, यथा महासांघिक (चतुर्थ शताब्दी ईसवी पूर्व) और गोकुलिक (चौथी शताब्दी ई० पूर्व) तथा छः सम्प्रदाय स्थविरवादियों के हैं, यथा स्वयं स्थविरवादी, भद्रयाणिक (तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व), महीशासक (चौथी शताब्दी ई० पूर्व), वात्सीपुत्रीय (चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व), सर्वास्तिवादी (चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व) और साम्मितिय (चतुर्थ शताब्दी ई० पूर्व)[2]।

---

(१) देखिए राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०; मिलाइये ज्ञानातिलोक: गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक, पृष्ठ ३७–३८

(२) देखिए ज्ञानातिलोक : गाइड थ्रू दि अभिधम्मपिटक, पृष्ठ ३८

इन उपर्युक्त ८ प्राचीन सिद्धांतों या सम्प्रदायों का खंडन कथावत्थु में उसकी अट्ठकथा के अनुसार उपलब्ध होता है। अब कुछ अर्वाचीन सिद्धांतों के भी खंडन में कथावत्थु प्रवृत्त होती है। ये सम्प्रदाय भी आठ हैं, यथा खंधक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक, वैपुल्य (वेतुल्ल), उत्तरापथक और हेतुवादी। इन सब सम्प्रदायों के पारस्परिक सैद्धांतिक भेदों का निरूपण हम यहाँ नहीं कर सकते[१]। ऐतिहासिक रूप से यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये प्रायः सभी सम्प्रदाय महासांघिकों (चैत्यवादियों) और साम्मितियों के ही भेद हैं[२], यद्यपि उत्तरापथक और हेतुवादियों के विषय में तो अभी कुछ कहा नहीं जा सकता। इन सब सम्प्रदायों में से वेतुल्ल (वैपुल्य) वादियों से ही हमें यहाँ विशेष प्रयोजन है और इनके विषय में एक विशेष बात लक्ष्य करने की यह है कि ये 'महाशून्यतावादी' (महासुञ्ञतावादी) कहे गए हैं। इसलिए यह एक निश्चित सिद्धांत के रूप में कहा जा सकता है कि महायान के वैपुल्य सूत्र इसी सम्प्रदाय की ओर संकेत करते हैं[३]। अथवा महापंडित राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि 'वैपुल्य ही वह नाम है जिससे महायान आरंभिक काल में प्रसिद्ध हुआ[४]।' ये वैपुल्यवादी मानते थे कि बुद्ध तो तुषित लोक में ही रहे, वे न तो मनुष्य-लोक में आए और न उन्होंने उपदेश ही दिया[५]। यह सिद्धांत आगे चलकर महायान ने ग्रहण कर लिया था[६]।

(१) इसके लिये देखिये लेखक का पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२८—४४९

(२) देखिए राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १२६–१२७

(३) मिलाइये "According to my opinion, Vaitulya is a distortion of Vaipulya, and the Vaipulya Sutras of the Mahayan refer to the above-mentioned heretics, whose ideas, too, apper to be perfectly Mahayanistic". स्थविर ज्ञानातिलोक अपनी 'गाइड थ्रू दि अभिधम्म पिटक' पृष्ठ ६० में।

(४) पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १३१

(५) देखिए कथावत्थु १८।१; १८।२

(६) मिलाइये, न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः मलमाध्यमिक कारिका, १५।२४; मिलाइये न मौनैः तथागतैः भाषितम्॥ मौना हि भगवन्तस्तथागताः। लंकावतार सूत्र।

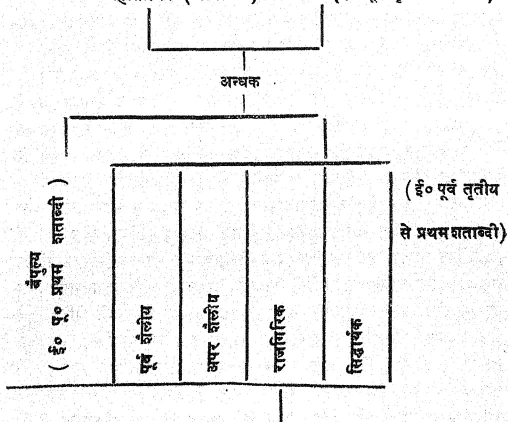
फिर वैपुल्यवादी और अंधक एकाभिप्राय से किए मैथुन में भी दोष नहीं देखते थे[1]। इस प्रवृत्ति में तो हम बौद्ध दर्शन में घुसी हुई बाद की तांत्रिकता तक के पूर्वतम रूप के दर्शन करते हैं। फिर 'उत्तरापथक' लोग 'तथता' में भी विश्वास रखते थे। 'तथता' अर्थात् भाव, रूप, वेदना, संज्ञा-संस्कार आदि का एक स्थिर स्वभाव[2]। 'तथता' या 'भूततथता' का सिद्धांत बाद में आचार्य अश्वघोष के द्वारा अपने महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है जो महायान धर्म के अन्तर्गत 'विज्ञानवाद' सिद्धांत का प्रख्यापन करनेवाला और शून्यवाद के साथ उसकी संगति स्थापित करनेवाला ग्रंथ है। अतः इन सब बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि महायान सम्प्रदाय का उदय सबसे पहले उन महासांघिक सम्प्रदायों में हुआ जो अशोक के बाद प्रचलित हुए और जिनमें न केवल अश्वघोष और नागार्जुन के ही प्रतिपादित सिद्धांतों की पूर्व झलक हम पाते हैं, बल्कि बज्रयान और तन्त्रयान के भी बीज जहाँ विद्यमान हैं। महायान धर्म की उपर्युक्त क्रम से उत्पत्ति को समझने के लिए महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी की दी हुई यह तालिका उपयोगी सिद्ध होगी[3]:

---

(१) देखिए कथावत्थु २३।१

(२) देखिए ज्ञानातिलोकः गाइड थ्रू दि अभिधम्मपटिक, पृष्ठ ६२

(३) पुरातत्व निबंधावली, पृष्ठ १२७; डब्लू मैकगवर्न के अनुसार महायान मत का धार्मिक स्वरूप ईसवी-सन् के शुरू होने से कुछ ही दिनों पहले दिखाई दिया। के० सांडर्स ५० ई० पूर्व से ५० ई० तक का समय महायान मत के शुरू होने का निश्चित करते हैं। स्वर्गीय लाला हरदयाल दूसरी शताब्दी ई० पूर्व को बोधिसत्व-मत के विकास का प्रारंभ काल मानते थे ।



महायान (ई० प्रथम शताब्दी)

हीनयान और महायान— भदन्त नागार्जुन के द्वारा महायान धर्म और दर्शन को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करना

इस प्रकार महायान धर्म की उत्पत्ति का अस्पष्ट क्रम है। लगभग प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से तीसरी और चौथी शताब्दी ईस्वी तक अनेक महायान-सूत्र अथवा वैपुल्य-सूत्र संस्कृत अथवा अर्द्ध संस्कृत में लिखे गये जिनके लेखकों के विषय में कुछ विशेष रूप से ज्ञात नहीं है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता प्राचीनतम ग्रंथ है जिसमें हमें महायान के उपदेशों का वर्णन मिलता है और इस ग्रंथ की रचना-तिथि प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है।

ईसवी शताब्दी के लगभग सर्वास्तिवादी आचार्य अश्वघोष की रचनाओं में हमें महायानी शिक्षाओं के पूर्वरूप के दर्शन होते हैं, जिनको व्यवस्थित रूप देने का कार्य युगविधायक आचार्य नागार्जुन ने किया। आचार्य नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी ईसवी है। लामा तारानाथ

ने अपने ग्रंथ 'भारत में बौद्धधर्म का इतिहास' में लिखा है कि आचार्य नागार्जुन अपने जीवन के अंतिम दिनों में दक्षिण भारत के श्री पर्वत (श्री-शैलम्) पर रहे थे। इस तिब्बती परम्परा को आज प्रायः सभी प्रामाणिक विद्वान् मानते हैं। डा० बर्गेस का मत है कि श्री पर्वत के समीप धान्यकटक के अमरावती स्तूपों का निर्माण मौलिक रूप से द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व हुआ था और नागार्जुन का घनिष्ठ संबंध इस स्थान के बौद्ध मठ से था। अब हमें यहाँ इस महत्वपूर्ण तथ्य को ध्यान में रखना चाहिये कि धान्यकटक, चेत्यक (चेतिय), पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का प्रधान केन्द्र था और ये तीनों सम्प्रदाय महासांघिक सम्प्रदाय की शाखाएँ मात्र थे, जिससे महायान धर्म का उद्भव हुआ। अतः भौगोलिक दृष्टि से भी हमारे इस निष्कर्ष को बल मिलता है कि महायान की उत्पत्ति महासांघिक सम्प्रदाय और उसकी शाखाओं से ही हुई। प्रथम महायानिक आचार्य नागार्जुन का निवास-स्थान श्री पर्वत और धान्यकटक का होना जो चेतिय, पूर्व-शैलीय और अपरशैलीय सम्प्रदायों का प्रधान केन्द्र रह चुका था, इस बात की सूचना देता है कि महायान का उदय इन सम्प्रदायों से हुआ और साथ ही इस बात की ओर भी इंगित करता है कि महायान की जन्मभूमि दक्षिण भारत ही है। ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सुप्रमाणित है कि ईसवी सन् के करीब कृष्णा नदी के किनारे पर दक्षिण भारत के गुन्टूर जिले में महासांघिकों का एक प्रभावशाली केन्द्र था। महासांघिकों के एक सम्प्रदाय का नाम 'अन्धक' होना इस बात को प्रमाणित करता है कि यह सम्प्रदाय आंध्रदेश में अत्यन्त लोकप्रिय था। अमरावती-अभिलेखों से भी यह भली प्रकार विदित है कि आंध्र देश के राजाओं और जनता का संरक्षण 'अन्धक' भिक्षुओं को प्राप्त था, जो महासांघिक सम्प्रदाय की एक शाखा थे[१]। अतः हम कह सकते हैं कि महायान का उदय दक्षिण भारत में हुआ जहाँ महासांघिकों का प्रभाव अधिक था। परन्तु उसका विकास प्रधानतः पूर्वी भारत में हुआ जहाँ सर्वास्तिवादियों का भी प्राबल्य था। लामा तारानाथ ने हमें बताया है कि प्रज्ञापारिमता का सर्वप्रथम उपदेश मंजु श्री बोधिसत्व द्वारा आदिविस (उड़ीसा) में दिया गया था। संपूर्ण प्रज्ञापारमिताओं में पुनरावृत्तिपूर्वक कहा गया है कि महायान धर्म की उत्पत्ति दक्षिणापथ

(१) देखिए नलिनाक्ष दत्त : ऐस्पैक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २३

में होगी और वहाँ से वह पूर्वी देशों में (वर्तन्याम्) फैलेगा एवं उत्तरी भारत में विशेषरूप से समृद्ध होगा[१]। नालन्दा महायानी शिक्षाओं का पूर्वतम केन्द्र था। यहीं उसका सर्वास्तिवादी विचार-धारा से संघर्ष और संगम हुआ था। नालन्दा में कुछ दिनों तक आर्य नागार्जुन ने भी निवास किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान की उत्पत्ति कनिष्क के काल से कुछ पूर्व अर्थात् प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व में दक्षिण भारत में हुई एवं नागार्जुन का समर्थन पाकर धीरे-धीरे उसका विकास पूर्व और उत्तर में भी हुआ। नागार्जुन के शिष्य नाग और आर्यदेव ने, जो दक्षिण भारत के निवासी थे, तृतीय शताब्दी के पूर्वार्द्ध में महायान के प्रचार में काफी योग दिया। बाद में मैत्रेयनाथ (परम्परानुसार योगाचार सम्प्रदाय के संस्थापक), असंग और वसुबन्धु जैसे प्रभावशाली आचार्य महायान परम्परा में हुए, जिन्होंने उसके उपदेशों का प्रचार किया। अश्वघोष और नागार्जुन को हम महायान के प्रथम आचार्य और शांतिदेव (सातवीं शताब्दी) को अंतिम आचार्य मान सकते हैं। इनके बीच में आचार्यों की एक महती परम्परा है। सातवीं शताब्दी के बाद के बौद्ध धर्म के विकास को हमें तान्त्रिक बौद्ध धर्म कहना चाहिये और उसे प्रकृत महायान से भिन्न समझना चाहिए।

महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति का जो विवरण हमने ऊपर दिया है, उससे स्पष्ट है कि उसका जन्म महासांघिकों से हुआ। महायान बौद्ध धर्म की साधना अत्यन्त विशाल और विस्तृत है, उसकी दार्शनिक आधार-शिला कई महनीय विचार-धाराओं को अपने अन्दर छिपाये हुए है, जिनका विकास अनेक युगों में सामाजिक और धर्म-प्रचार संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये बौद्ध धर्म की चिन्ताओं के स्वाभाविक विकास के परिणाम-स्वरूप हुआ, इस सब पर हम अभी बाद में विचार करेंगे। यहाँ हमें यही समझ लेना चाहिये कि महासांघिकों में महायान धर्म के जो बीज विद्यमान थे उनका संबंध मुख्यतः दो बातों से था। एक था बुद्ध-संबंधी विचार और दूसरा था पारमिताओं पर आधारित बोधिसत्व-सिद्धांत। महासांघिकों ने, जैसा हम पहले भी कह चुके हैं, पहली बार कहा था कि बुद्ध लोकोत्तर हैं, वे सदा समाधि में रहते हैं और वे उपदेश नहीं करते। दूसरी बात महासांघिकों ने बोधित्सव के सिद्धांत के संबंध में कही थी, जिसमें पारमिताओं के अभ्यास की बात सम्मिलित थी। प्रधानतः इन दो बातों के लिए ही

(१) देखिए नलिनाक्ष दत्त: एस्पैक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ४१

महायान महासांघिकों का ऋणी है। वस्तुतः महासांघिक भी 'हीनयानी' ही थे, केवल बुद्ध के संबंध में उनके विभिन्न विचार थे।

३५० ईसवी पूर्व से लेकर १०० ईसवी पूर्व तक उत्पन्न और विकसित १८ बौद्ध निकायों या सम्प्रदायों का हमने ऊपर उल्लेख किया है। इनमें सबसे मुख्य तीन थे, स्थविरवाद (थेरवाद), सर्वास्तिवाद और महासांघिक। स्थविरवाद बौद्ध धर्म का प्रचार विशेषतः मध्य और पूर्वी-भारत में था। सर्वास्तिवादियों के मुख्य केन्द्र मथुरा और काश्मीर थे। महासांघिकों के संबंध में हम पहले कह ही चुके हैं कि उनके मुख्य केन्द्र आंध्र देश में धान्यकटक और श्री पर्वत थे। वैशाली में भी उनका कुछ प्रभाव था। किस प्रकार महासांघिकों से महायान की उत्पत्ति हुई, इसपर तो हम काफी प्रकाश डाल चुके हैं। अब हमें यह भी देखना चाहिये कि सर्वास्तिवादियों ने भी उसके विकास में काफी सहयोग दिया है, यद्यपि एक विपरीत दिशा में। सर्वास्तिवादियों के अस्तित्ववाद का कड़ा प्रतिवाद महायान-धर्म ने किया है। इसे महायानी आचार्य बौद्ध धर्म का अत्यन्त विकृत रूप मानते थे। सर्वास्तिवादी आचार्य यदि एक ओर कहते थे 'सब्बं अत्थि' (सब है) तो महायानी आचार्यों का दूसरे छोर पर बुद्ध तक के संबंध में कहना था 'नाममात्रं इदं यदुत बुद्ध ति'।[1] इस प्रकार महायान सर्वास्तिवादियों के प्रतिक्रिया स्वरूप भी उठ खड़ा हुआ धर्म था जिसने 'सर्वम् अस्ति' के स्थान पर कहा 'सर्वं शून्यम्'। "अतः हम कह सकते हैं कि एक ओर तो महायान ने महासांघिकों और उनसे उत्पन्न शाखाओं के बुद्ध संबंधी विचारों को आगे बढ़ाया और दूसरी ओर वह सर्वास्तिवादियों के अस्तित्ववाद के सिद्धांत के विरुद्ध, जिसे महायानी आचार्य बुद्ध-उपदेशों की आत्यन्तिक तोड़-मरोड़ और विकृति मानते थे, एक विद्रोह था[2]"। इस प्रकार सर्वास्तिवाद और महायान में भी काफी

(१) शत साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, पृष्ठ १२०

(२) "We may say that Mahayan is a continuation of the Buddhological speculations of the महासंघिकऽ and their offshoots and a revolt against the अस्तित्व-वाद of the सर्वास्तिवादिन्ऽ–a dogma which appeared to the Mahayanists as an utter distortion of Buddha's teachings." नलिनाक्ष दत्त : एस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २७

संपर्क रहा और एक के बाद एक सर्वास्तिवादी आचार्य महायानी होते गये। आर्य अश्वघोष के संबंध में यही बात है और बाद में असंग और वसुबन्धु के संबंध में भी यही बात घटी। हम पहले कह चुके हैं कि नालन्दा में सर्वास्तिवाद और महायान का सम्मिलन हुआ और काफी पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ। 'ललितविस्तर' जो महायानी साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रंथ माना जाता है, वस्तुतः सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार बुद्ध की जीवनी ही है। इसी प्रकार दिव्यावदान मूलतः सर्वास्तिवादी ग्रंथ है, जिसकी मान्यता महायान में भी है। अधिक क्या कहें, स्वयं आचार्य अश्वघोष के ग्रंथ 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' सर्वास्तिवादी परम्परा के हैं, जिनमें महायान की शिक्षाओं का प्रथम बार उपदेश दिया गया है। वस्तुतः तथोक्त हीनयान और महायान में जहाँ तक जीवन का संबंध था अधिक भेद था भी नहीं। चीनी यात्री इ-चिङ ने चित्तवर्मा नामक भिक्षु का उल्लेख किया है जो स्वयं महायान को माननेवाला था, किन्तु जिसका गुरु हीनयानी था। चीनी यात्री युआन् चुआङ ने अनेक संघारामों का वर्णन किया है जहाँ हीनयानी और महायानी भिक्षु अत्यन्त प्रेम से साथ-साथ रहते थे। उनके विनय-नियमों में छोटे-मोटे अन्तर थे। हीनयान और महायान नामों की अनुपयुक्तता के विषय में हम पहले कुछ कह चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना अपेक्षित होगा कि 'हीनयान' और 'महायान' शब्द दोनों 'मार्ग' या 'यान' के द्योतक हो सकते हैं और इस प्रकार 'हीन' शब्द से अवमानना का भाव भी द्योतित हो सकता है। वस्तुतः भगवान् बुद्ध ने तो एक ही 'यान' सिखाया था और वह था आर्य अष्टांगिक मार्ग। उसे उन्होंने विशुद्धि का एकायन (एकमात्र) मार्ग कहा था। परन्तु बाद में महायानियों ने उद्भावना की कि स्वयं भगवान् बुद्ध ने अनेक 'यानों' की बात कही थी[1]। उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन में तीन यान प्रसिद्ध हैं, यथा श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान, और महायान[2]। हम जानते हैं कि भगवान् बुद्ध अनेक पर्यायों से उपदेश दिया

(१) देवयानं ब्रह्मयानं श्रावकीयं तथैव च। तथागतं च प्रत्येकं यानानेतान् वेदाम्यहम्। लंकावतार सूत्र; उपायकौशल्य ममैवरूयं यत् त्रीणि यानानि उपदर्शयामि। सद्धर्मपुण्डरीक; मिलाइए अभिधर्मकोश ६।६२; ३।९४; ७।६ आदि (तीन यानों के लिए)

(२) त्रीणि यानानि—श्रावकयानं प्रत्येकबुद्धयानं महायानञ्चेति। धर्म-संग्रह (नागार्जुन कृत, मैक्समुलर द्वारा सम्पादित) पृष्ठ १; मिलाइये,

करते थे। उनकी शिक्षा में क्रमिक विधान भी था। वे सुननेवाले की योग्यता के अनुसार उपदेश देते थे। इस एक बात के आधार पर महायानिकों ने यह कल्पना की कि भगवान् बुद्ध के समीपी शिष्य (श्रावक) जिनका उल्लेख स्थविरवाद परम्परा में है साधारण योग्यता के व्यक्ति थे, इसलिये उन्हें चार आर्य सत्यों और नीतिवाद का उपदेश दिया गया। जो प्रत्येक बुद्ध थे, अर्थात् अपने पुरुषार्थ से जिनमें बुद्धत्व प्राप्त करने की क्षमता थी परन्तु दूसरों को उपदेश देकर उन्हें बुद्धत्व के लिये अग्रसर करने में जो अक्षम थे, उन्हें तथागत ने कुछ और ऊपर का उपदेश दिया। परन्तु उन्होंने अपना गुह्य-तम उपदेश तो कुछ चुने हुए योग्यतम उन अल्प शिष्यों को ही दिया जो बोधिसत्त्व थे, जिनकी परम्परा को प्रवर्तन करने का दावा 'महायान' करता है। उपर्युक्त तीन यानों के अलावा बाद में अनेक यान कल्पित किये गये।[१] सभी 'पुरुषोत्तमों' ने अनेक प्रकार के यानों का प्रवर्तन किया है[२]।' ऐसा महायानिकों का कहना था। साथ ही उन्होंने इन यानों की एकात्मता की भी कल्पना कर ली थी। यानों में भेद नहीं है। वास्तव में परमार्थतः देखने पर एक ही यान रह जाता है, भिन्न-भिन्न कहना तो अज्ञों को आकृष्ट करने के लिए ही है[३]। लोगों को लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए ही भगवान् ने तीन प्रकार के यानों का वर्णन किया है, अन्यथा एक से अधिक यान नहीं हैं[४]। भगवान् के 'वैद्यराज'

बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता। मार्गास्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता शास्त्र।

(१) यथा, देवयान, ब्रह्मयान, श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान, हीनयान, महायान, मन्त्रयान, वज्रयान आदि; मिलाइये, यानानां नास्ति वै निष्ठा यावच्चित्तं प्रवर्तते। लंकावतार सूत्र।

(२) सर्वेहि तेहि पुरुषोत्तमेहि प्रकाशिता धर्म बहू विशुद्धाः। दृष्टान्तकैः कारण-हेतुभिश्च उपायकौशल्यशतैरनेकैः। लंकावतार सूत्र।

(३) यानव्यवस्था नास्ति यानभेदं वेदयाम्यहम्। परिकर्षणार्थम् बालानां यान-भेदं वेदाम्यहम्। लंकावतार सूत्र; मिलाइये, सर्वे च ते देशयि एक-यानम् एकं च यानमवतारयन्ति। नागार्जुन कृत निरौपम्य स्तव; कं तु यानं हि नयश्च एक एका इयम् देशना नायकानाम्। सद्धर्मपुण्डरीक।

(४) धर्मधातोरसम्भेदाद् यानभेदोऽस्ति न प्रभो। यानत्रितयमाख्यातं त्वया सत्वावतारतः। अद्वयवज्रसंग्रह।

स्वभाव को प्रायः सभी बौद्ध आचार्यों ने भली प्रकार समझा है, और उनका कहना है कि साधकों की भिन्न श्रेणियों के अनुसार तथागत ने उपदेश के मूलभूत रूप के एक होते हुए भी अनेक प्रकार से उसका उल्लेख किया है, अतः अनेक यान संभव हो ही सकते हैं। किन्तु फिर भी मूलभूत सत्य जो उनमें निहित है, वह एक है[१]। बौद्ध दर्शन के इतिहास में हम देखते हैं कि प्रायः महायानिकों ने ही इस मूलभूत सत्य को अपने सिद्धांत में पर्यवसित करने का प्रयत्न अधिक किया है, और श्रावक यान और प्रत्येक बुद्ध-यान को अपने मार्ग तक पहुँचने के लिए केवल सीढ़ियों के रूप में ही माना है[२]। कहने की आवश्यकता नहीं कि यही बात षड्दर्शनों की परम्पराओं को लेकर अद्वैत वेदान्त ने भी की है और सीढ़ी रूप से सभी के मन्तव्य को अपने में ही पर्यवसित होता हुआ दिखाया है। और फिर इसके लिए अधिक दोष हम उन्हें (माध्यमिकों को) क्यों दें? प्रकारान्तर से अद्वैत वेदान्त की ही तरह यह उन्मुक्त निर्घोष भी तो माध्यमिकों ने ही किया है 'चित्ते तु वै परावृत्ते न यानं न तु यायिनः'। इससे अधिक 'हीन' और 'महा' के निराकरण में और क्या कहा जा सकता

(१) वैद्या यथातुरवशात् क्रियाभेदं प्रकुर्वते। न तु शास्त्रस्य भेदोऽस्ति दोषभेदात्तु भिद्यते ॥ तथाहं सत्वसन्तानं क्लेशदोषैः विदूषितम्। इन्द्रियाणां बलं त्वा नयं देशेमि प्राणिनाम् ॥ न क्लेशेन्द्रियभेदेन शासनं भिद्यते मम। एकमेव भवेद् यानं मार्गमष्टाङगिकं शिवम्। लंकावतार सूत्र; मिलाइये वहीं, देशनापि यथा चित्रा देश्यतेऽव्यभिचारिणी। देशना हि यदन्यस्य तदन्यस्याप्यदेशना ॥ आतुरे आतुरे यद्वत् भिषग् द्रव्यं प्रयच्छति। आतुरि आतुरि भैषज्यं यद्वद् भिषक् प्रयच्छति। चित्तमात्रं तथा बुद्धाः सत्वानां देशयन्ति वै। मिलाइये बोधिचित्त-विवरण भी (यथा सर्वदर्शन संग्रह में उद्धृत) देशना लोकनाथानां सत्वाशयवशानुगाः। भिद्यते बहुधा लोक उपायैः बहुभिः पुनः ॥

(२) यथा, 'ननु यदि महायाननिर्णीत एवार्थः परमार्थोऽस्ति अर्थ किमर्थं तर्हि श्रावकप्रत्येकयाने भगवान् देशितवान्। तन्न। महायानप्राप्यप्रापणार्थमेव श्रावकप्रत्येकयाननिर्माणात्। तदुक्तम्—आदिकर्मिकसत्वस्य परमार्थावतारणे। उपायस्त्वयं सम्बुद्धैः सोपानमिव निर्मितः ॥ अद्वयराजकृत तत्वरत्नावली, विधुशेखर भट्टाचार्य, दि सेन्ट्रल कन्सेप्शन ऑव बुद्धिज्म, पृष्ठ ३२ में उद्धृत।

है? परमार्थ की साधना महायान ने भी की। 'ब्रह्मावसान' और 'अभावावसान' का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, ब्रह्म भी अभाव हो सकता है और अभाव भी भाव हो सकता है। यह तो परिभाषाओं और निरुक्तियों का सवाल है। हमें तो यही देखना है कि परमार्थ के अस्तित्व की स्वीकृति है या नहीं। और हम कह कसते हैं कि अद्वैत वेदान्त के समान माध्यमिकों की 'शून्यता' में भी उसकी उपलब्धि होती है। किन्तु इसके विषय में बाद में। अस्तु, इस प्रकार हमने 'यान' शब्द की दार्शनिकता पर कुछ कहा, कुछ तो संभवतः अप्रासंगिक भी। अब हमें 'हीनयान' और 'महायान' के ऐतिहासिक स्वरूपों और विभेदों पर संक्षिप्त रूप से आना चाहिये। आचार्य असंग ने अपने 'महायान भिधर्मसंगीति-शास्त्र' में महायान की सात विशेषताओं का उल्लेख किया हैं। उन्होंने बताया है कि (१) महायान वस्तुतः महान् और विशाल है, क्योंकि उसमें जीव-मात्र की मुक्ति का संदेश है। (२) महायान में प्राणिमात्र के लिये त्राण का विधान है। (३) महायान का लक्ष्य बोधि-प्राप्ति है। (४) महायान का आदर्श बोधिसत्व है जो समस्त प्राणियों के उद्धारार्थ सतत उद्योगशील रहता है। (५) महायान की मान्यता है कि भगवान् बुद्ध ने अपने उपाय-कौशल्य से नाना प्रकार के प्राणियों को नाना प्रकार से उपदेश दिया है, जो पारमार्थिक रूप से एक है। (६) बोधिसत्व की दस भूमियों का महायान में विधान है, और (७) महायान के अनुसार बुद्ध सब मनुष्यों की आध्यात्मिक आवश्यकताएं पूर्ण करने में समर्थ हैं[१]। सातवीं शताब्दी में भारत में आने वाले चीनी यात्री इ-त्सिग ने इसी प्रकार की प्रवृत्तियों का उल्लेख महायान के संबंध में किया है[२]। हम आगे हीनयान-महायान के भेद की विस्तृत समीक्षा करते हुए इस विषय पर अधिक प्रकाश डालेंगे। यहां दार्शनिक दृष्टि से अभी केवल इतना कह दें कि महायान बौद्ध धर्म के दो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, विज्ञानवाद (अथवा योगाचार) और शून्यवाद (अथवा माध्यमिक)। इनकी अलग-अलग आचार्यों, साहित्य और सिद्धांतों की परम्पराएं हैं, जिनपर हम अलग इसी प्रकरण में विचार करेंगे। इसी प्रकार हीनयानियों के भी दो दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, सौत्रान्तिक और वैभाषिक (जिन दोनों का अन्तर्भाव भगवान् शंकर ने ठीक रूप से ही 'सर्वास्तित्ववादियों' में कर दिया है)। इनकी भी

---

(१) देखिये सुजुकीः आउटलाइन्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ६२-६५
(२) देखिए आचार्य ताकाकुसु 'इत्सिग', पृष्ठ १५

अलग-अलग आचार्यों, साहित्य और सिद्धांतों की परम्पराएं हैं, जिनपर हम बाद में आयेंगे। अभी हम ऐतिहासिक विकास में आगे बढ़ें।

उपर्युक्त चार बौद्ध सम्प्रदायों के उद्‌भव और विकास के परिणामस्वरूप भारतीय दर्शन के इतिहास में एक नए युग का प्रवर्तन हुआ। बौद्ध आचार्यों के वैदिक परम्परा के आचार्यों के साथ महान् वाद विवाद होने लगे। बौद्धों की तरफ से वैसे चारों सम्प्रदायों ने, किन्तु विशेषतः विज्ञानवाद और शून्यवाद के आचार्यों ने, दर्शन के महत्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर श्रौतपरम्परा के विचारकों से विचार-विनिमय किए जिनके परिणामस्वरूप चौथी, पाँचवीं और छठवीं शताब्दयों में भारतीय दार्शनिक मण्डल अनेक मानसिक क्रियाओं से व्याप्त रहा। इस सब पर हम विस्तार से अभी विचार करेंगे। हमें अभी कुछ और आगे बढ़ना चाहिए। आठवीं शताब्दी तक आते-आते बौद्ध-विचार अपनी मौलिकता को खो बैठता है। वह मन्त्रों, धारणियों और योगिनियों का शिकार हो जाता है। तान्त्रिकता का उसमें अदम्य समावेश हो जाता है। यहीं महायान बौद्धधर्म तांत्रिक रूप धारण कर लेता है, मध्यमा प्रतिपदा का कहीं नाम भी नहीं सुनाई पड़ता। आटानाटियसुत्त (दीघ० ३।९) में जिन प्रवृत्तियों का बीज हम स्वयं स्थविरों के द्वारा बोया हुआ पाते हैं उसी का अदृष्ट परिणाम बाद में हमें अलौकिक चमत्कारवाद की उन प्रवृत्तियों में मिलता है जो बौद्ध धर्म के पवित्र मन्दिर में प्रवेश कर गईं और जिन्होंने उसके मौलिक लोककल्याणकारी स्वरूप को लोक-कल्याण की भावना के बिलकुल विपरीत बना दियाँ। अलौकिक बुद्ध की कल्पना के साथ-साथ अन्य अनेक देवी-देवता भी आ धमके। वैपुल्यवादी और बाद में महायान धर्म के आचार्य भी बुद्ध की ऐतिहासिकता का कुछ निषेध तो पहले ही कर चुके थे, अब उसे पूर्ण स्वरूप दे दिया गया। बड़े लम्बे सूत्रों और फिर मन्त्रों की रचना होने लगी। यही बौद्ध धर्म का मन्त्रात्मक स्वरूप था जिसे 'मन्त्रयान काल' कहा जा सकता है और इसका विकास-क्रम महापंडित राहुल सांकृत्यायन के मतानुसार इस प्रकार है[१]।

सूत्ररूप में मन्त्र—ई० पू० ४००—१०० ई० पूर्व
धारणी मन्त्र— ई० पू० १००—४००ई०

---

(१) पुरातत्व निबन्धावली में 'वज्रयान और चौरासी सिद्ध' शीर्षक निबन्ध, पृष्ठ १३७

यन्त्र-मन्त्र— ई० ४००—७००

इसी समय अविलोकितेश्वर और अन्य बोद्धिसत्वों के नाम पर भैरवीचक्र का निर्माण और स्त्री-सम्भोग का प्रारम्भ भी बौद्ध धर्म में हुआ। सारांश यह है कि मन्त्र, हठयोग और मैथुन ये तीनों ही तत्व बौद्ध धर्म में इस समय प्रतिष्ठित होगए। यही 'मन्त्रयान' बौद्ध धर्म था (यदि इसके साथ हम कभी भी 'बौद्ध' या उसी अर्थ में 'यान' शब्द का व्यवहार कर सकें!) इस मन्त्रयान में भी हम दो प्रवृत्तियाँ देख सकते हैं (१) मन्त्रयान (नरम) ई० ४०० से ७०० तक तथा (२) वज्रयान (गरम) ई० ८०० स १२०० तक[1]! इन दोनों कालों में तथाकथित बौद्ध धर्म की प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर रूप से लोक के लिए अनिष्टकारी होती गईं। सिद्ध नागार्जुन को भी वज्रयान के साथ अक्सर जोड़ा जाता है, परन्तु महापंडित राहुल सांकृत्यायन का विचार है कि सम्भवत: ऐसा हम नहीं कर सकते[2]। नागार्जुन की शिक्षाओं में मन्त्रों का कुछ अंश अवश्य था, किन्तु वज्रयान की मुख्य प्रवृत्तियाँ तो यन्त्र, मद्य, हठयोग और स्त्री ये चार ही थीं जो नागार्जुन का मन्तव्य कभी नहीं हो सकती थीं। वज्रयान ने निश्चय ही बौद्ध धर्म के स्वरूप को विकृत कर दिया और आश्चर्य और दु:ख तो यह कि उसे ये अपने साहित्य में भी रखना नहीं भूले[3]। बुद्धों (और एक ही बुद्ध का नहीं, सब भूत, वर्तमान और भविष्यत् के बुद्धों—जगे हुए लोगों) का परम शाश्वत उपदेश इन वाममार्गियों ने निश्चित किया—प्राणियों का मारना, झूठ बोलना, चोरी करना, पराई स्त्रियों का सेवन करना आदि। 'प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वच:। अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि.....एषो हि सर्वबुद्धानां समय: परमशाश्वत:[4] !' इस प्रकार हमने बौद्ध धर्म(?) के भारत में अन्तिम परिणामस्वरूप घोर तान्त्रिक मत वज्रयान के कुछ दर्शन किए। तथागत का विशुद्ध नैतिकवाद

(१) देखिए पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३९

(२) देखिए पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १४१

(३) वज्रयान-सम्प्रदाय के साहित्य के लिए देखिए, पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १४२-१४३

(४) गुह्यसमाज तन्त्र (गायकवाड़-ओरियन्टल-सीरीज़-बड़ौदा से प्रकाशित) पुरातत्व निबन्धावली में पृष्ठ १४३-१४४ पद संकेत १ में उद्धृत।

महायान धर्म का स्वरूप ग्रहण करता हुआ मन्त्रयान में से गुजरकर अन्त में वज्रयान के रूप में सामने आया। यह वज्रयान ही भारत में बौद्धधर्म के प्रति अश्रद्धा का प्रधान कारण हुआ, यद्यपि बौद्ध धर्म के आर्य सनातन धर्म में नाम-रूप खोकर विलीन होने के बीज तो उसी समय बोये जा चुके थे जब महायान धर्म का उदय हुआ था और भगवान् बुद्ध को कुछ-कुछ अवतार का स्वरूप प्रदान कर दिया गया था। शंकर ने एक जगह कहा है कि मन जब एक बार आदर्श से गिर जाता है तो सीढ़ियों पर से गिरी हुई गेंद के समान वह निरन्तर पतन को ही प्राप्त होता जाता है। माहायानिक आचार्य एक बार भक्ति और मन्त्र का समावेश तथागत के नैतिकवाद में कर उसके निश्चित परिणामों से उसे बचा नहीं सकते थे। सम्भवतः यह महायान धर्म के महत्व और मूल्य का ठीक अंकन न हो। किन्तु इसके विषय में तो अभी बाद में। भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यान के उपसंहार में स्वयं बुद्ध पर भी लोक के विद्वेषी और अकल्याणकर्त्ता होने का आरोप लगाया है। उसे यदि मनीषी पाठक उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर पढ़ेंगे तो वे सम्भवतः आचार्य शंकर को उनके अज्ञान के लिये अधिक दोष न दे सकेंगे। आठवीं शताब्दी में उत्पन्न होनेवाले शङ्कर (जिन्हें सम्भवतः पालि त्रिपिटक उपलब्ध नहीं था) अपनी आँखों के सम्मुख बौद्ध धर्म के नाम से कहे जानेवाले उस घोर वज्रयान रूप को प्रत्यक्ष देख रहे थे जिसकी घोर अकल्याणकर प्रवृत्तियों का कुछ प्रदर्शन हम ऊपर कर चुके हैं। वस्तुतः बौद्ध धर्म इस समय भारत में अपने मौलिक सन्देश को खो चुका था और अपने शास्ता के मार्ग से भ्रष्ट होकर वह स्वतः अपनी मौत मर गया। इस बात पर हम बौद्ध दर्शन के शाङ्कर वेदान्त के साथ सम्बन्ध को प्रख्यापन करने के समय बाद में आयेंगे। इस प्रकार वज्रयान के विनाश के साथ-ही-साथ बौद्ध धर्म भी अत्यन्त स्वाभाविक तौर पर अपने पृथक् नाम-रूप को छोड़कर उसी आर्य सनातन धर्म रूपी महासमुद्र में मिल गया जिससे कि वह निकला था। किन्तु यह बौद्ध धर्म के विकास और प्रसार की पूरी कहानी नहीं है। भारत से इतर देशों में भी बौद्ध धर्म गया और यद्यपि उसका निदर्शन हमारा यहाँ विषय नहीं है, किन्तु उसकी प्रतिच्छाया को न देखना बौद्ध धर्म की देन को पूरी तरह से उसका वास्तविक महत्व न देना होगा। अतः अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उसमें हम प्रवृत्त होते हैं।

विदेश में भी बौद्ध धर्म और दर्शन के गमन की संक्षिप्त कथा

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के समय मुख्यतः मध्य-देश में (मज्झिमेसु पदेसु) बुद्ध-धर्म का प्रचार था। मज्झिम-जनपद की सीमाएं पूर्व में कजंगला निगम तक, दक्षिण-पूर्व में सललवती नदी तक, दक्षिण में सेतकण्णिक निगम तक, पश्चिम में थूण ब्राह्मण-ग्राम तक और उत्तर में उशीर पर्वत तक थीं। बाद में दिव्यावदान में पूर्वी सीमा कजंगला के बजाय पुण्ड्रवर्धन कर दी गई है जो उत्तरी बंगाल में एक स्थान से मिलाया गया है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि बुद्ध-निर्वाण के समय उत्तर में श्रावस्ती से लेकर दक्षिण में अवन्ती तक और पश्चिम में थूण ब्राह्मण-ग्राम से लेकर पूर्व में राजगृह तक, बुद्ध-धर्म का प्रचार था। कजंगला, चम्पा, राजगृह, गया, वाराणसी, नालन्दा, पाटलिपुत्र, वैशाली, श्रावस्ती, कौशाम्बी, संकाश्य, उज्जयिनी, अवन्ती, मधुरा, वेरंजा आदि नगरों में बुद्ध-धर्म का बहुत प्रचार था और लिच्छवि, वज्जि, विदेह, मल्ल, भग्ग और कोलिय आदि अनेक जातियों के लोग उसके अनुयायी थे। उत्तर के मद्दरट्ठ (मद्रराष्ट्र) के भी कुछ बुद्ध-अनुयायी शिष्य थे और इसी प्रकार कुरु-प्रदेश के दो ब्राह्मण ग्रामों के भी। पतिट्ठान जैसे दक्षिणी नगरों के भी कुछ लोग बुद्ध-अनुयायी थे। गोदावरी के तट तक भी बुद्ध का कीर्ति-शब्द पहुंच चुका था और उस समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मण बावरि बुद्ध से प्रभावित हुआ था और अपने शिष्यों के सहित उसने बुद्ध-शरणागति प्राप्त की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक बिहार, उत्तर-प्रदेश और मध्य-प्रदेश में बुद्ध-निर्वाण के समय बुद्ध-धर्म विद्यमान था, यद्यपि काफी मनुष्य नाना दूरवर्ती जनपदों से भी बुद्ध के पास दर्शनार्थ आते थे और उनके शिष्य भी बन जाते थे। चंकि ब्राह्मण ने भगवान् बुद्ध के विषय में कहा था, "श्रमण गौतम को देश के बाहर से, राष्ट्र के बाहर से भी, लोग पूछने आते हैं"।[1] इसी प्रकार रोहिणी ने अपने पिता से बौद्ध भिक्षुओं की प्रशंसा करते हुए कहा था कि स्मृतिमान् भिक्षु दूर-दूर तक उपदेश के लिये जाते हैं[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि बुद्ध की ख्याति बाहर जाने लगी थी, परन्तु उनके धर्म

---

(१) चंकि सुत्तन्त (मज्झिम २।५।५)
(२) दूरंगता सतिमन्तो। थेरीगाथा २८१

का प्रचार विशेषतः मध्य-देश में ही था। गन्धार और तक्षशिला का वर्णन तो पालि निकायों में है, परन्तु बौद्ध धर्म के प्रचार की दृष्टि से उनका उल्लेख नहीं किया गया है। राजा बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त वेणुवन-विहार, श्रावस्ती में विशाखा द्वारा निर्मित पूर्वाराम विहार, कौशाम्बी का घोषिताराम और अनाथपिण्डिक द्वारा श्रावस्ती में प्रभूत धन व्यय कर बनवाया हुआ जेतवनाराम बुद्ध-धर्म के प्रचार के केन्द्र बन गये थे। अन्य कई विहार भी, जिनमें एक भिक्षुणी-विहार भी था, भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में ही बन गये थे।

भारत के अन्य सुदूर भागों और विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का व्यापक कार्य प्रियदर्शी राजा अशोक ने बद्ध परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद किया। पाटलिपुत्र में हुई तृतीय संगीति के बाद बौद्धधर्म के प्रचारक न केवल अशोक के विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में ही बल्कि सीमान्त देशों में बसनेवाली यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि जातियों में और केरलपुत्र, सत्यपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में भी धर्म प्रचारार्थ भेजे गए। स्वयं अशोक के पुत्र और पुत्री महेन्द्र और संघमित्रा लंका में धर्मप्रचारार्थ गये। दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका में उन भिक्षुओं की नामावली सुरक्षित है, जिन्हें भिन्न-भिन्न देशों में धर्म-प्रचारार्थ भेजा गया था[1]। इतना ही नहीं अशोक ने अपने धर्म प्रचारक अपने समकालिक सिरिया-बैक्ट्रिया, मिश्र, मेसिडोनिया, सिरीन और एपीरस, इन पाँच यूनानी शासकों के पास भी भेजे थे। उसके द्वितीय शिलालेख में इन राजाओं के नामों का उल्लेख है।[2] स्थविर महेन्द्र और संघमित्रा के प्रयत्न से सद्धर्म लंका में सुप्रतिष्ठित हो गया और तब से वह आज तक प्रायः उसी प्रकार चलता आ रहा है। लंका से बौद्ध धर्म बरमा में गया जहाँ स्थविर सोण और उत्तर नामक दो भिक्षुओं ने उसका प्रचार किया। ये दोनों भिक्षु तृतीय संगीति के बाद सुवर्ण-भूमि (दक्षिणी बर्मा) में धर्म-प्रचारार्थ भेजे गये थे। तब से बरमा

(१) इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८८-८९

(२) विस्तृत विवरण के लिये देखिये भरतसिंह उपाध्याय : पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८९

में बौद्ध धर्म प्रायः राष्ट्रीय धर्म के रूप में आज तक चला आ रहा है और सद्धर्म के प्रति श्रद्धा प्रदर्शन में बरमी लोग किसी अन्य देश से पीछे नहीं हैं। मध्य-बरमा की १६ वर्गमील भूमि केवल पेगोडाओं से भरी पड़ी है, इससे बड़ा साक्ष्य वहां बौद्ध धर्म की समृद्धि का और क्या होगा। लंका और बरमा में सदा धर्म-सम्बन्ध बना रहा और एक दूसरे से संकट-काल में प्रेरणा और आश्वासन ये दोनों देश ग्रहण करते रहे हैं। इन दोनों देशों में बौद्ध धर्म का वही रूप प्रचलित है जिसे स्थविरवाद कहते हैं, यद्यपि बरमा में कुछ प्रचार संस्कृत बौद्ध धर्म का भी रहा है। सम्राट् अशोक के ही समय में स्थविरवाद बौद्ध धर्म का प्रवेश स्याम में हो गया था जहाँ स्थविर सोण और उत्तर ने ही उसका प्रचार किया था। तब से लगातार स्याम की जनता बौद्ध धर्म की अनुयायिनी रही है और उसका राष्ट्रीय धर्म बौद्ध धर्म ही है। स्याम के विधान के अनुसार वहाँ का राजा बौद्ध धर्म का अनुयायी ही हो सकता है। स्याम के इतिहास के सुखोदय-काल में बौद्धधर्म की वहां अत्यधिक उन्नति हुई और नागोर श्री धर्मराज नामक स्थान बौद्ध धर्म का प्रचार केन्द्र बन गया। अयोध्या-काल के अनेक राजा भी प्रसिद्ध बुद्ध-भक्त हुए, जिनके विस्तार में जाना यहाँ ठीक न होगा। राजा त्रैलोक्य-नाथ (१५वी शताब्दी) तो बौद्ध धर्म के प्रचार में अत्यधिक रुचि रखते थे और स्वयं भावुक कवि भी थे। आज भी स्याम में बौद्ध धर्म एक जीवन्त धर्म के रूप में है जिस प्रकार लंका और बरमा में। भारत-चीन (हिन्द-चीन) में बौद्धधर्म का प्रचार प्रायः लंका, बरमा और स्याम के साथ ही हुआ। आज वहां स्थविरवाद और महायान दोनों ही रूपों में बौद्ध धर्म विद्यमान है। कम्बोदिया और लाओस के निवासी अधिकतर स्थविरवाद बौद्ध धर्म को मानने वाले हैं जबकि अन्नामी लोग बौद्ध धर्म के महायानी रूप को मानते हैं। अन्नाम का प्राचीन नाम चम्पा था और उन्नीसवीं शताब्दी तक उसका यही नाम रहा। भारतीय नगर चम्पा (भागलपुर के समीप चम्पापुर और चम्पानगर) की स्मृति में इस नगर का नामकरण भारतीयों ने किया था। यहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार था। इस चम्पा (अन्नाम) की भूमि में बौद्ध और शैव साधनाओं का समन्वय साधन शिव और बुद्ध का एक संयुक्त मन्दिर बनवाकर नवीं शताब्दी ईसवी में किया गया था, जिस पर खुदा हुआ समर्पण वाक्य था 'जिन शंकरयोः'। नवीं शताब्दी के बाद महायान का प्रभाव अन्नाम प्रान्त में बढ़ने लगा था। लोकेश्वर बोधिसत्त्व की अनेक

मूर्तियां यहां मिली हैं। तेरहवीं शताब्दी का एक भग्न अभिलेख यहां मिला है जिसके आदि में लिखा हुआ है, 'ओम् नमो बुद्धाय'। अन्नाम के उत्तरी भाग की गुफाओं में बुद्ध, लोकेश्वर और प्रज्ञापारमिता की अनेक प्रतिमाएं मिली हैं। इन्दोनेशिया के प्राचीन द्वीप समूहों में भी बौद्धधर्म का प्रचार था, जिसके साक्ष्य स्वरूप सैकड़ों भग्न स्तूप, शिलालेख आदि वहां प्राप्त हैं। 'जजुर्वेद बुद्धस्तुति' नामक ग्रन्थ जो बाली द्वीप में मिला है, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के सम्मिश्रण का साक्ष्य देता है। 'बुद्धवेद' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ बाली में पाया गया है, जो वैदिक और बौद्ध धर्म के सम्मिलन की सूचना देता है। डा० सिलवां लेवी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। मलाया में बौद्धधर्म का प्रचार कब हुआ, यह अभी तक निश्चयपूर्वक निर्णीत नहीं हो सका है। परन्तु सम्भव है अशोक के काल में ही यहां बुद्ध-धर्म का संवाद पहुंचा हो। आज वहां कई प्रसिद्ध संघाराम हैं और बौद्ध जनता की संख्या काफी है।

बौद्ध धर्म के प्रचार की दो धाराएं भारत से अशोक के काल में चली थीं। एक लंका, स्याम, बरमा, जावा, सुमात्रा आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में समुद्री मार्ग से गई और दूसरी हिन्दुकुश और हिमालय को पार कर मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, कोरिया और जापान आदि में गई। 'महावंस' के वर्णनानुसार अशोक के समय में बौद्ध धर्म काश्मीर, गन्धार, महिषमण्डल, वनवासी, योन, महारट्ठ, हिमवन्त-प्रदेश, स्वर्णभूमि (बर्मा) और लंका द्वीप में फैल गया था। इतना ही नहीं, अशोक के द्वारा भेजे गए दूत सारी पश्चिमी एशिया में भी फैल गये। इस ओर के उनके कार्य को आगे चलकर सम्राट् कनिष्क ने आगे बढ़ाया और उन्हीं को इसमें अधिक सफलता भी मिली। 'महावंस' और 'सासनवंस' में हमें भारत में बौद्ध धर्म की प्रगति के सम्बन्ध में अशोक के कुछ काल बाद तक की सूचना मिलती है और उसके बाद इन ग्रन्थों का उद्देश्य लंका में बौद्ध धर्म के इतिहास का वर्णन करना हो जाता है। पालि का 'वंस' साहित्य प्रायः समग्ररूप से लंका में बौद्ध धर्म के इतिहास से सम्बन्धित है। अशोक के बाद हम ईसवी शताब्दी के लगभग भदन्त नागसेन को ग्रीक राजा मेनान्डर (मिलिन्द) को बौद्ध धर्म में दीक्षित करते देखते हैं।

सर्वास्तिवादी परम्परा के अनुसार लामा तारानाथ ने हमें बताया है कि अशोक के गुरु उपगुप्त (जिन्हें स्मिथ ने मोग्गलिपुत्त तिस्स से मिलाया

है) ने मथुरा में धर्म-प्रचार किया था तथा मध्यन्तिक नामक भिक्षु ने काश्मीर में। सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के दो प्रधान केन्द्र मथुरा और काश्मीर में थे। उपगुप्त के शिष्य दीधिक ने, जिनकी उपसम्पदा मथुरा में हुई थी, तुखार देश के राजा मीनार और उसके पुत्र इम्हास को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। उनके समय के अन्य अनेक भिक्षु काश्मीर से तुखार देश में गये और उन्होंने वहां बौद्ध धर्म का प्रचार किया। दीधिक ने तुखार देश में धर्म-प्रचार कर कामरूप की ओर गमन किया और वहां भी धर्म-प्रचार किया। उसके बाद उन्होंने मालवा में आकर धर्म-प्रचार किया और अपने जन्मस्थान उज्जयिनी में कुछ दिन वे रहे। दीधिक के शिष्य कृष्ण या काल नामक भिक्षु थे और उनके शिष्य थे भरुकच्छ के सुदर्शन नामक भिक्षु। इन दोनों भिक्षुओं ने भी काश्मीर में धर्म-प्रचार का कार्य किया। कृष्ण ने दक्षिण-भारत, लंका और महाचीन में भी धर्म-प्रचार किया। द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व में, जैसा हम पहले देख चुके हैं, आन्ध्र देश के श्रीपर्वत और धान्यकटक स्थान महासांधिकों के प्रधान केन्द्र थे। महासंधिक विनय के चीनी संस्करण से हमें सूचना मिलती है कि महासांधिकों का एक प्रधान केन्द्र वैशाली भी था और इन महासांधिकों ने ही सर्व प्रथम अफगानिस्तान में भी धर्म-प्रचार किया था और दक्षिण-भारत में भी। बाद में प्रभावशाली आचार्य नागार्जुन भी द्वितीय शताब्दी ईसवी में श्रीपर्वत पर रहे थे। यहां अभी हाल में एक प्राचीन शिलालेख पाया गया है जिसमें कहा गया है कि इस स्थान पर कुछ उपासकों ने गन्धार, चीन, अपरान्त, वंग, वनवासी और ताम्रपर्णी द्वीप से आने वाले यात्रियों की सुविधा के लिये चैत्य और विहार बनवाये थे और कुएं खुदवाये थे।[१]

महाराज कनिष्क ने ईसवी सन् के करीब जालन्धर में बौद्ध भिक्षुओं की एक संगीति बुलाई जिसमें लामा तारानाथ के वर्णनानुसार ५०० बोधिसत्वों ने भाग लिया। इस सभा के परिणामस्वरूप तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया, अफगानिस्तान और मध्य-एशिया में धर्म प्रचार के कार्य की अत्यधिक प्रगति हुई और यहां बौद्ध धर्म ने अपने पैर जमा लिये।

सर्वास्तिवाद का विशेष प्रचार तिब्बत में हुआ। छठी शताब्दी से लेकर आज तक तिब्बत में बौद्ध धर्म का क्रमिक इतिहास है और संस्कृत बौद्ध

---

(१) देखिये नलिनाक्ष दत्तः एस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ २३

धर्म के अनुवादों की जो विशाल सामग्री तिब्बत में भरी पड़ी है वह अननुमेय है। नालन्दा के आचार्य शान्त रक्षित (आठवीं शताब्दी, और विक्रमशिला महाविहार के आचार्य दीपंकर श्री ज्ञान (ग्यारहवीं शताब्दी) ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया। तिब्बती अनुवादों में विशाल बौद्ध संस्कृत साहित्य की जो सम्पदा बिखरी पड़ी है, उसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि कितने सहस्र भिक्षुओं ने कितनी शताब्दियों के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप यह कार्य शाक्यमुनि के उपदेशों के प्रचारार्थ सम्पादन किया होगा। इसी प्रकार चीन में जिस गौरवपूर्ण ढंग से बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया उसी का यह परिणाम था कि यूआन्-चुआङ् (६२९–६४५ ई०), इ-चिङ् (६७१–६९५ ई०) और बीसियों अन्य चीनी मनीषियों की ज्ञान-पिपासा और बुद्ध की जन्मभूमि को देखने की उनकी लालसा ने उन्हें सैकड़ों मील लम्बे दुर्गम रेगिस्तानों, पर्वत-उपत्यकाओं और समुद्रों को पार करने के लिये विवश किया। जितना परिश्रम शाक्यमुनि ने ज्ञान-प्राप्ति के लिये किया था, उससे कम परिश्रम चीनी यात्री युआङ्-चुआङ् ने बुद्ध द्वारा प्राप्त ज्ञान को जानने के लिये नहीं किया था। इस श्रद्धा को उत्पन्न करने के लिये बौद्ध भिक्षुओं को कितने महान् ब्रह्मचर्य, कितने महान् ज्ञान और कितनी महती साधना की आवश्यकता पड़ी होगी, इसे आज कौन बता सकता है। केवल चीन, तिब्बत, जापान और कोरिया के इतिहास इसके प्रमाण हैं। कुमारजीव (चौथी-पांचवीं शताब्दी ईसवी) जैसा चीनी भाषाविद् मर्मज्ञ अनुवादक बौद्धधर्म ने उत्पन्न किया, जिसकी महिमा आज भी चीनी भाषा और साहित्य के इतिहास में सुरक्षित है। कुमारजीव के समान ही मालवा के भिक्षु परमार्थ (छठी शताब्दी) का नाम है जिन्होंने संस्कृत के विशाल साहित्य के चीनी अनुवाद में सहायता दी। इनके अतिरिक्त बुद्धभद्र, बुद्धयशस्, धर्मरक्ष, गुणवर्मा, गुणभद्र, संघपाल, बोधिरुचि, परमार्थ आदि सैकड़ों आचार्यों के नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्होंने धर्म-प्रचार के लिये अपने जीवन का उत्सर्ग कर चीन में शाक्यमुनि के शासन को प्रतिष्ठित किया। हरिवर्मा (तृतीय शताब्दी ईसवी) ने, जो मध्यभारत के निवासी थे, चीन में 'सत्यसिद्धि' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की जो 'हीनयान' और महायान में मध्यस्थता करता है। दक्षिण भारत के महान् साधक भिक्षु बोधिधर्म (छठी शताब्दी) को भी तो नहीं भूलना होगा जिन्होंने बिना किसी एक पुस्तक को भी छुए, बिना किसी को कभी कोई मौखिक उपदेश दिये, चीन,

कोरिया और जापान में उस विशाल प्रभावशाली साधनात्मक आंदोलन को जन्म दिया जो आज भी वहां करोड़ों साधक-साधिकाओं के लिये आश्वासन बना हुआ है। उन्होंने ज़ैन (ध्यान) बौद्ध धर्म की स्थापना चीन में की, जहां से यह साधनात्मक सम्प्रदाय कोरिया में गया और वहां से जापान में, जहां वह आज भी जीवित रूप में विद्यमान है।

चीन से बौद्ध धर्म कोरिया में गया और कोरिया से जापान में। जापान में छठी शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग में बौद्ध धर्म के साथ ही सभ्यता का प्रवेश हुआ। थोड़े ही समय में उसने जनता के हृदय में जड़ें जमालीं और वह जापान का राजधर्म हो गया। ५०० ई० से ८००ई० तक का समय जापान में बौद्धधर्म के स्थापित होने का समय है। सन् ८०० ई० से लेकर १००० ई० तक बौद्ध धर्म के अनेक सम्प्रदायों की वहां उत्पत्ति हुई। बारहवीं शताब्दी तक मुख्य चार बौद्ध सम्प्रदाय जापान में उत्पन्न हो चुके थे, (१) शिङ्गोन् सम्प्रदाय, जो गुह्य मन्त्रवादी सम्प्रदाय था। (२) जोदो सम्प्रदाय या सुखावती सम्प्रदाय, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं (३) रित्शु सम्प्रदाय, जो विनयवादी सम्प्रदाय था (४) ज़ैन सम्प्रदाय, जिसका उल्लेख हम अभी चीन में बौद्ध धर्म के प्रसंग में कर चुके हैं। यह ध्यानवादी सम्प्रदाय था जिसके उद्भावक भारतीय साधक भिक्षु बोधिधर्म थे। उसके बाद अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव होता रहा है। आज अनेक सम्प्रदाय जापान में विद्यमान हैं और उनके द्वारा शिक्षा की प्रगति में काफी योग मिला है। आज जोदो सम्प्रदाय के अनुयायियों के मुख से 'नमः अमित बुद्धाय' (नमो अमिता बुत्सु), निचिरेन् सम्प्रदाय वालों के मुख से 'नमः सद्धर्म पुण्डरीकाय' (नमु हो रेंगे क्यो) सुनकर भारतवासी कुछ गौरवान्वित अपने को अनुभव कर सकते हैं। 'सो प्रभाउ केहि केरे!'

बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने जो महनीय कार्य इस दिशा में किया उसे देखकर कल्पना आज भी स्थगित रह जाती है। अफगानिस्तान, ईरान, मिश्र, कोई देश उनके कार्य से अछूता न रहा था। मुस्लिम यात्री अलबेरुनी ने लिखा है, "पूर्वकाल में खुरासान, परसीस, ईराक, मोसल एवं सिरिया की सीमा तक फैले हुए प्रदेश बौद्ध थे.....बाद में इस्लाम आया।"[१] पर्शिया (पो-लि-स्सु) के विषय में सातवीं शताब्दी के चीनी धर्म-यात्री युआन्-चुआङ् ने लिखा है कि वहां उस समय दस से अधिक संघाराम थे जहां पांच सौ से अधिक

(१) सचाऊ : एलबेरुनीज़ इन्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ २१

भिक्षु हीनयान के सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय के सूत्रों का अध्ययन करते थे[1]। लङ्-की-लो अथवा लङ्-क-लो नामक प्रदेश के बारे में, जो पर्शिया के अधीन था, वह लिखता है कि वहां १०० बौद्ध विहार थे, जिनमें ६००० से अधिक भिक्षु हीनयान और महायान के अनुसार अपने धर्म-ग्रन्थों का पाठ करते थे।[2] अफगानिस्तान की बामियान घाटी की दो विशाल-काय बुद्ध-मूर्तियां जिनमें एक ११५ फुट और दूसरी १७५ फुट ऊँची है, आज भी स्मृति दिला रही हैं कि वहां कभी बौद्ध साधकों ने ध्यान किया था। इसी प्रकार गोबी के उस महान् तुङ्ग-हूआन् बौद्ध मठ के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, चीनी तुर्किस्तान और कूचा के बौद्ध साधना-केन्द्रों के सम्बन्ध में क्या कहा जाय, पश्चिमी एशिया में गये भिक्षुओं के द्वारा जिस प्रकार एस्ने लोगों के माध्यम द्वारा प्रारम्भिक ईसाई धर्म की साधना को प्रभावित किया, उसकी क्या चर्चा की जाय, जिस प्रकार बोधिसत्व ग्रीक रोमन चर्च में सन्त 'जोसफत' बन गये, उसका क्या विवरण दिया जाय, जातकों के यूरोपीय साहित्य पर प्रभाव की क्या समीक्षा की जाय, यह तो एक अनन्त कहानी है, एक पूरा इतिहास है। अन्य देशों के विषय में तो कहना क्या, माइक्रो-नेसिया में स्थित लार्डनार्थ के द्वीप तक भिक्षु शाक्यमुनि का सन्देश लेकर पहुंचे थे।[3] कितना महान् था विश्व को बुद्ध-सन्देश को सुनाने का यह उद्योग जिसे आप्तकाम, अनागार, अकिंचन भिक्षुओं ने केवल विश्व-हित के लिये न कि अपने या अपने देश के किसी स्थूल या सूक्ष्म स्वार्थ के लिये किया!

२—महायान का धार्मिक स्वरूप और हीनयान और महायान का ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक सम्बंध

महायान के विकास का संक्षिप्त सिंहावलोकन

महायान बौद्ध धर्म का विकसित स्वरूप है, यह हम पहले देख चुके हैं। शताब्दियों में उसका स्वरूप परिनिष्पन्न हुआ। काल और स्थान की विशाल विभिन्नताओं को लिये हुए नाना युगों और देशों की साधनाएं महायान के रूप में एकत्र हुई हैं जिनको एकरूपता में बांधना अक्सर सम्भव नहीं होता। उसकी साहित्य-सम्पत्ति

(१) वाटर्स : ऑन युआन्-चुआङ, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २८५
(२) वहीं पृष्ठ २५७
(३) जर्नल ऑव दि ओरियन्टल सोसायटी, जिल्द पांचवीं, पृष्ठ १९४

इतनी विशाल है, इतने युगों और देशों में बिखरी हुई है कि उसका पूर्ण अध्ययन अभी तक किसी विद्वान् के द्वारा सम्भव नहीं हो सका है। चीन, तिब्बत, कोरिया, और जापान की भाषाओं में जो विशाल ग्रन्थ सम्पत्ति अनुवादों और मौलिक ग्रन्थों के रूप में पड़ी हुई है उसके शतांश का भी सम्पादन, अनुवाद आदि अभी तक नहीं हो पाया है। यही कारण है कि महायान के इतिहास का अध्ययन अभी तक पूर्णरूप में सम्भव नहीं हो सका है। जहां तक भारत का सम्बन्ध है, हमने पहले देखा है कि ३५० ई० पूर्व से लेकर १०० ई० पूर्व के युग में बौद्ध संघ अनेक भागों में बँट गया था और इस युग की सबसे प्रधान आवश्यकता यह थी कि बुद्ध की शिक्षाओं की किस प्रकार ऐसी नई व्याख्या की जाय जो युग की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल हो और जिससे बौद्ध धर्म के प्रचार को एक नया जीवन मिले। विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का कार्य आरम्भ हो गया था और नई संस्कृतियों, नई भाषाओं और नई विचार-दृष्टियों के लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उनकी अपनी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ थीं। जिस धर्म को उन्होंने स्वीकार किया था, उसे वे अपनी प्रवृत्ति और जलवायु के अनुसार अपनाना चाहते थे, अपनी संस्कृति के प्रकाश में उस पर अभ्यास करना चाहते थे, तभी वह पूरी तरह उनके जीवन में घुल-मिल सकता था। हम जानते हैं कि बौद्ध धर्म के मौलिक रूप ने चीन और जापान की जनता को पहले आकृष्ट नहीं किया था। बाद में महायानी रूप में वह उन्हें पसन्द आया। अतः यह असंदिग्ध है कि नये देशों में प्रचार की आवश्यकता ने भी महायान बौद्ध धर्म के स्वरूप-निर्णय में काफी योग दिया। इस युग में हीनयानी और महायानी प्रवृत्तियों का हमें प्रायः मिश्रित रूप दिखाई पड़ता है। १०० ई० पूर्व से लेकर ३०० ईसवी तक महायान की प्रवृत्तियां स्पष्ट रूप में प्रकाश में आती हैं और सातवीं शताब्दी तक उनका निर्बाध विकास होता है जिसके बाद महायान का प्रवेश भारत में तान्त्रिक बौद्ध धर्म में हो जाता है। इस प्रकार भारत में बौद्ध धर्म के महायानी रूप के विकास की यह संक्षिप्त रूपरेखा है।

महायान धर्म के सिद्धान्तों और हीनयान से उसके भेद और अभेद पर आने से पूर्व हम उन परिस्थितियों पर विचार करें जिन्होंने महायान के विकास में योग दिया। उनकी अधिगति प्राप्त करने पर हमारे

महायान के विकास में कारणभूत परिस्थितियाँ

लिये महायान की धार्मिक मान्यताओं का समझना आसान हो जायगा और हीनयान के साथ उसके भेद को भी हम उनकी पृष्ठभूमि में अच्छी तरह समझ सकेंगे। डा० हरदयाल ने इस विषय पर विस्तृत विचार उपस्थित करते हुए हमें बताया है कि भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद कई शताब्दियों के विचार के विकास के परिणामस्वरूप जो महायान बौद्ध धर्म हमें मिला उसके स्वरूप-निर्माण में ये छः प्रवृत्तियां कार्य कर रही थीं—

(१) बौद्ध संघ के भीतर की प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास।

(२) भगवद्गीता और शैव सम्प्रदाय का प्रभाव।

(३) पारसी धर्म और संस्कृति का प्रभाव ।

(४) ग्रीक कला का प्रभाव ।

(५) अर्द्ध-बर्बर जातियों में धर्म-प्रचार की आवश्यकताओं के कारण परिवर्तन ।

(६) ईसाई धर्म का प्रभाव ।[1]

उपर्युक्त प्रवृत्तियों और युग-जनित आवश्यकताओं ने महायान के स्वरूप निर्माण में योग दिया। डा० हरदयाल ने इन परिस्थितियों पर विस्तार से विचार किया है, अतः हमारे लिये इनका विस्तृत विवेचन आवश्यक न होगा। हमें यही कहना है कि महायान वस्तुतः बौद्धधर्म की चिन्ताओं का स्वाभाविक विकास था जिसके स्वरूप-निर्माण में विभिन्न युगों और देशों की परिस्थितियों ने योग दिया। महायान का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसका मूल बीज बौद्ध धर्म के मौलिक रूप में न दिखाया जा सके। महायान ने उनको लेकर युग और देश की परिस्थितियों के अनुसार उनका विकास किया है। युग-धर्म की भाषा में उनकी नई व्याख्या की है। यही तथोक्त हीनयान और महायान में भेद समझना चाहिये। वस्तुतः दोनों भगवान् बुद्ध के जीवन और उपदेशों पर आधारित हैं। कुछ पश्चिमी विद्वानों ने महायान की ईसाई प्रोटेस्टेन्ट धर्म से तुलना की है और हीनयान की केथोलिक धर्म से, जो बिलकुल गलत है। महायान ने मौलिक बौद्धधर्म को गलत नहीं बताया, उसका विरोध नहीं

---

(१) देखिये उनका ग्रन्थ दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३०-४९

किया। उसने बुद्ध-वचनों को केवल एक नई श्रेष्ठतर अर्थवत्ता दी, उनकी एक नई सामाजिक व्याख्या की। अतः महायान बौद्ध धर्म वस्तुतः मौलिक बौद्धधर्म का ही अपना विकास है, यह आधारभूत दृष्टि महायान को समझने में हमें सदा रखनी चाहिये। भगवद्गीता और शैव सम्प्रदाय का बौद्ध धर्म पर क्या पारस्परिक प्रभाव पड़ा है, इसकी समीक्षा हम अभी करेंगे। ईरान में बौद्धधर्म का प्रचार हुआ था और ग्रीस में भी। अतः इन दोनों देशों की संस्कृतियों के तत्वों की अभिव्याप्ति महायान में स्वभावतः हो गई। तभी वह वहां लोकप्रिय हो सका। डा० हरदयाल का अनुमान है कि पारसी सूर्य-पूजा ने बोधिसत्वों की कल्पना पर अपना प्रभाव डाला है।[१] गान्धार-कला ग्रीक जाति पर बौद्ध धर्म के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुई। वह ग्रीक प्रतिभा का बुद्ध-धर्म के प्रति अर्घ्यदान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म के रूप में स्वल्प परिवर्तन होते गये जिनका संकलित नाम ही महायान है। यहां यह कह देना भी अनावश्यक न होगा कि महायान की अनेक देनों में से एक मूर्तिपूजा भी है जिसे भारतीय धर्म-साधना को उसने दिया है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में मूर्ति-पूजा का विधान न था। सांची और भारहुत के स्तूपों में प्रतीकों के द्वारा बुद्ध-धर्म की अभिव्यक्ति की गई है। बुद्ध के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति मूर्ति के रूप में सर्वप्रथम ग्रीक कला में ही हुई और इससे धर्म-प्रचार के कार्य में काफी सफलता मिली। भारतीय धर्म-साधना में मूर्ति-पूजन का उपयोग सर्वप्रथम बौद्ध धर्म ने ही किया है, ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है।[२] तिब्बत, चीन और मध्य-एशिया की तातार जातियों में बौद्धधर्म के प्रचार के कारण बौद्ध धर्म में विशेषतः तान्त्रिक धर्म का समावेश हुआ जो वहां प्रचलित था। तिब्बत,चीन और जापान के स्थानीय देवी-देवताओं ने किस प्रकार धर्म-प्रचार के परिणामस्वरूप बौद्ध परिधान ग्रहण कर लियें, यह देखते ही बनता है। पह्लव, शक, कुषाण, ग्रीक, पार्थियन और सिथियन आदि जातियों के कुछ देवताओं को बोधित्सव का रूप दे दिया गया है। यह महायान की विराट् समन्वय-भावना

---

(१) दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८-३९।

(२) देखिये यदुनाथ सरकार : इण्डिया थ्रू दि एजेज में 'दि गिफ्ट्स ऑव बुद्धिज्म' सम्बन्धी विवरण।

के परिणामस्वरूप ही था। अनेक प्रकार के विश्वास और पूजा-विधान जिनका आदिम बौद्ध धर्म से कुछ सम्बन्ध न था, इस प्रकार बौद्ध धर्म में प्रवेश पा गये और इन्हीं का समन्वित नाम 'महायान' था। इस प्रकार महायान ने शास्ता के उपदेश के मूल रूप में कुछ परिवर्तन स्वीकार कर और नाना प्रकृतियों और संस्कृतियों के लोगों के लिये उसे सुगम और अनुकूल बनाकर बौद्ध धर्म को वास्तविक अर्थों में एशिया का धर्म और विश्व का धर्म बनाया। इस कार्य में कितने शत-सहस्र धर्म प्रचारकों, अनुवादकों और विचारकों की सेना का संगठन महायान ने किया, इसे देखकर आज भी आश्चर्यान्वित रह जाना पड़ता है। डा० हरदयाल ने महायान के उत्तरकालिक विकास पर ईसाई धर्म के प्रभाव की भी बात कही है। उन्होंने शान्तिदेव (सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी) की भक्ति-भावना पर, जो उनकी दो अद्वितीय रचनाओं 'बोधिचर्यावतार' और 'शिक्षा समुच्चय' में प्रस्फुटित हुई है, ईसाई धर्म के प्रभाव की बात कही है। कोई गम्भीर कारण इस अपनी मान्यता का डा० हरदयाल ने नहीं दिया है। आश्चर्य होता है कि डा० हरदयाल जैसे विद्वान् ने इस प्रकार का निराधार मत प्रकट किया है। केवल इसीलिये कि शान्तिदेव ने प्रज्ञा के ऊपर करुणा को स्थान दिया है या अन्य भक्ति से भरे उद्‌गार प्रकट किये हैं, उन्हें ईसाई धर्म-साधना से प्रभावित नहीं माना जा सकता। वस्तुतः हरदयाल ने कोई निश्चित उद्धरण या अपनी मान्यता के आधारस्वरूप कारण न देकर शान्तिदेव पर 'विदेशी प्रभाव के कुछ चिन्ह' होने की बात मात्र कही है[१] जिसके अधिक विवेचन में पड़ना अनावश्यक होगा। किस प्रकार बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म का मिलन मध्य-एशिया और असीरिया में हुआ, इसके अधिक ऐतिहासिक निदर्शन करने की यहां आव श्यकता नहीं है। पहले हम कुछ इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म के विदेश-गमन के प्रसंग में कह चुके हैं और कुछ अन्यत्र भी[२]। अब हम महायान धर्म की विशेषताओं और साथ ही इस सम्बन्ध में तथोक्त 'हीनयान' से उसके भेद की समस्या पर आते हैं।

---

(१) 'Some traces of foreign influence' दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४३

(२) देखिये पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २९४-२९७

महायान को अपने प्रामाण्य का आधार बताना था। यदि महायान बौद्ध धर्म ही है, बुद्धोपदिष्ट धर्म ही है, तो इसमें प्रमाण क्या है ? पालि त्रिपिटक का ऐतिहासिक आधार तो मूल बुद्ध धर्म के पास

दो सत्यों की कल्पना था। महायान ने नये शास्त्रों की रचना संस्कृत और अर्द्ध-संस्कृत में की। परन्तु महायानी आचार्यों के सामने भी यह सवाल आया और आज भी हम पूछते हैं, उनका ऐतिहासिक प्रामाण्य क्या है ? सम्भवतः इसके उत्तर में ही महायानिक आचार्यों ने इतिहास के प्रश्न को ही उड़ा दिया। उन्होंने कहा बुद्ध तो इस लोक में आये ही नहीं, उन्होंने तो कोई उपदेश दिया ही नहीं । जिस बुद्ध महापुरुष का वर्णन पालि त्रिपिटक में है, वह तो वास्तविक बुद्ध का रूप-काय है, निर्माण-क है, निर्मित काया है, मायावी स्वरूप है । रूपकाय बुद्ध नहीं है । वास्तविक बुद्ध न कहीं आता है, न जाता है, न जन्म लेता है, न परिनिर्वाण प्राप्त करता है। वह तो साक्षी रूप से स्थित है । वह तो तथता-रूप है, सत्य-रूप है, धर्मरूपी काया वाला है। बुद्ध लोक में आये, यह एक माया थी। इस प्रकार दो सत्य हैं, एक परमार्थ सत्य और दूसरा, व्यवहार-सत्य या लोकसंवृत्ति-सत्य । व्यवहार रूप में ही बुद्ध उत्पन्न हुए और उन्होंने उपदेश दिया। परन्तु इस उपदेश का विधान भी दो प्रकार का था। बुद्ध ने अपने 'उपाय-कौशल्य' के द्वारा दो प्रकार की धर्म-देशना की है। एक गुह्य और दूसरी प्रकट। गुह्य धर्म-देशना भगवान् ने अपने कुछ चुने हुए अत्यन्त योग्यतासम्पन्न शिष्यों के प्रति की जिन्हें 'बोधिसत्व' कहा जाता है। इन बोधिसत्वों का मार्ग ही महायान है। बोधिसत्व-यान और महायान दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। वास्तविक बुद्ध-मार्ग महायान ही है। इसीलिये इसे 'बुद्ध-यान या 'तथागत-यान' भी कहा जाता है।

गुह्य और प्रकट दो सत्य भगवान् ने सिखलाये, यह बात कुछ चौंकाने वाली है। विशेषतः स्थविरवाद परम्परा से प्रभावित हम आज इस बात को सुनकर कुछ चौंक उठते हैं। पहली बार जब यह बात उठाई गई होगी तो स्थविरवादी मण्डल में कितना गहरा विचार का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ होगा, यह हम आसानी से समझ सकते हैं। महासंगीतिक भिक्षुओं के नव-उद्भावित साहित्य की जो निन्दा स्थविरवादी दृष्टि से की गई थी, उसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं[१]। उससे हम इसका कुछ अनुमान लगा

(१) देखिये पीछे बौद्ध धर्म के विकास का विवरण ।

सकते हैं। वस्तुतः, जैसा हम पहले कह चुके हैं, महायानी धर्म की नींव उसी समय से पड़ गई थी।

जहां तक मूल बुद्ध-धर्म का सम्बन्ध है, जैसा कि वह पालि त्रिपिटक में निहित है, बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दो सत्यों की महायानी कल्पना को अधिक प्रश्रय नहीं मिलता, यद्यपि यह कहना भी उतना ही ठीक है कि महायानी कल्पना अन्ततः मूल बुद्ध-उपदेशों के स्वरूप पर ही आधारित है। यह कैसे? भगवान् बुद्ध के पास कुछ भी गुह्य हो जिसे वे अपने शिष्यों या कुछ शिष्यों से छिपाकर रखते हों, इसका अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में निराकरण भगवान् ने अपने परिनिर्वाण के समय आनन्द से यह कहते हुए कर दिया था "आनन्द! अन्दर और बाहर (का भेद) न करते हुए मैंने धर्म का उपदेश किया है। आनन्द! धर्म के सम्बन्ध में तथागत को आचार्य-मुष्टि (रहस्य) नहीं है।" "देसितो आनन्द मया धम्मो अनन्तरं अबाहिरं करित्वा न तत्थ आनन्द तथागतस्स धम्मेसु आचरियमुट्ठि"[1] सूर्य और चन्द्र के समान भगवान् बुद्ध का उपदेश सबके लिये सुलभ था। प्रकाशित होना उसका स्वभाव था। छिपाने को भगवान् मिथ्या सिद्धान्तों का एक लक्षण मानते थे। छिपाना स्त्रियों का या कूटनीति का धर्म था। बुद्ध-धर्म में सब कुछ उद्घाटित था, सब कुछ स्पष्ट था, सब कुछ सु-आख्यात था। इस प्रकार बुद्ध द्वारा गुह्य उपदेश देने की बात गिर जाती है। परन्तु पालि बौद्ध धर्म में ही कुछ ऐसे बुद्ध-वचन मिलते हैं जिनके आधार पर उनमें गुह्यता होने का आभास भी मिलता है। बोधि प्राप्त करने के बाद भगवान् बुद्ध की उपदेश सम्बन्धी अनिच्छा को हम भली प्रकार जानते हैं। विनय-पिटक के महावग्ग, मज्झिम-निकाय के अरियपरियेसन सुत्तन्त तथा अन्य अनेक स्थलों में भगवान् कहते दिखाये गये हैं कि यह प्रजा तो काम-रत है, काम-प्रसन्न है, और यह धर्म जिसका उन्होंने साक्षात्कार किया है 'गम्भीर', 'दुर्दर्श', 'दुरनुबोध' और 'अतर्कावचर' है, काम-रत जनता इसे किस प्रकार समझेगी? उपर्युक्त चारों विशेषण बुद्ध-उपदेश की गुह्यता का कुछ आभास अवश्य देते हैं। कुछ भी हो, 'सद्धर्मपुण्डरीक' ने, जो महायान बौद्ध धर्म का आधारभूत ग्रन्थ है, उपर्युक्त बुद्ध-वचन को बुद्ध-उपदेशों की गुह्यता के सम्बन्ध में प्रमाण-स्वरूप गृहीत

---

(१) महापरिनिब्बाण-सुत्त (दीघ २।३); देखिये सतिपट्ठान-संयुत्त (संयुत्त निकाय) भी।

किया है। दूसरी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि स्वयं भगवान् बुद्ध सबको एकसा उपदेश नहीं देते थे। वे एक कुशल परचित्तज्ञानसम्पन्न मनोवैज्ञानिक उपदेष्टा थे जो सुनने वाले की योग्यता और जीवन की परिस्थिति पर विचार करके ही उपदेश देते थे। प्रायः प्रत्येक कुशल उपदेष्टा इस प्रकार उपदेश करता है। गृहस्थों को भगवान् दान-कथा, शील-कथा, स्वर्ग-कथा, काम दुष्परिणाम-कथा आदि भी कहते थे। बालिकाओं को उपदेश देते समय उन्हें यही बताते थे कि विवाहोपरान्त उन्हें अपने पति के घर पर जाकर क्या करना चाहिये। जिस पुरुष की योग्यता संन्यास के लिये भगवान् नहीं देखते थे उसे गृहस्थाश्रम से संन्यास की श्रेष्ठता दिखाते हुए भी वे प्रायः यही कहते थे, 'परन्तु तुम्हारे लिये अप्रमाद का जीवन ही श्रेष्ठ है।' योग्यतम भिक्षुओं को देखकर ही भगवान् चार स्मृति-प्रस्थान आदि गम्भीर विषयों का उपदेश करते थे। शील का उपदेश देने के उपरान्त ही वे प्रायः चार आर्य सत्यों का उपदेश देते थे। वे किसी को विवाह करने के लिये नहीं कहते थे, परन्तु यदि विवाहित पुरुष उनके पास जाते तो भगवान् उन्हें गृहस्थ-धर्म के कर्त्तव्यों के पालन करने का उपदेश करते थे, जो भिक्षु संबंधी उपदेश से भिन्न होता था। सारांश यह कि बुद्ध की शिक्षा में आवश्यक रूप से क्रम था, और वे साधक की योग्यता आदि का विचार कर ही उपदेश देते थे। मज्झिम-निकाय में कहा गया है, 'आसयानुसयं विदित्वा भगवा धम्मं देसेति।' इसी बात की पुनरावृत्ति महायानी ग्रन्थ 'दिव्यावदान' में भी की गई है[1]। हम जानते हैं कि अनाथपिण्डिक की बीमारी के समय धर्मसेनापति सारिपुत्र ने उसे अनात्मवाद का गम्भीर उपदेश दिया था। जब आंखों में आसू भरते हुए आध्यात्मिक प्रसन्नता से उच्छ्वसित अनाथ-पिण्डिक ने जो एक गृहस्थ था, सारिपुत्र से पूछा "भन्ते मैंने दीर्घकाल से शास्ता की उपासना की है और ध्यान में तत्पर भिक्षुओं की भी। किन्तु भन्ते! मैंने ऐसी धार्मिक कथा कभी पहले सुनने को नहीं पाई"। इसके उत्तर में धर्मसेनापति ने जो कुछ कहा उसमें महायान के गुह्य सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त के लिये महान् आश्वासन छिपा पड़ा है। "गृहपति! श्वेतवस्त्रधारी गृहस्थों को ऐसी धार्मिक कथा समझ में नहीं

---

(१) अथ भगवा तेषां आशयानुशयं विदित्वा धातुं प्रकृतिंच ज्ञात्वा तादृशीं धर्मदेशनां करोति : पृष्ठ ९७ (कॉवल का संस्करण)

आती, प्रव्रजित को गृहपति! ऐसी धार्मिक कथा समझ में आती है'[१]।' साधना के स्तर का जो तारतम्य गृहस्थ और भिक्षु में हो सकता है, वही भिक्षुओं में एक दूसरे की अपेक्षा से हो सकता है। इस प्रकार यह सम्भव है कि साधारण शिष्यों और प्रत्येक बुद्धों को भगवान् ने साधारण नीति आदि का उपदेश दिया हो जिसकी अभिव्यक्ति पालि त्रिपिटक में हुई है और अपना उच्चतर उपदेश उन्होंने उन महासत्त्व प्राणियों को दिया हो जिनकी संज्ञा बोधिसत्व है और जिनकी परम्परा के प्रवर्तन का दावा महायान का है। स्थविरवादी तत्त्वदर्शन के अनुसार अनात्मवाद का विवेचन करते समय हम शिंशपा-वृक्ष की पत्तियों की उपमा उद्धृत कर चुके हैं। उससे भी यह पता चलता है कि तथागत के पास कुछ गुह्यता अवश्य थी जो कथित सिद्धान्तों से बहुत अधिक थी। इस प्रकार अपेक्षाकृत कम बुद्धि रखने वाले श्रावकों और प्रत्येक बुद्धों के प्रति दिये गये उपदेशों को मानने वाले स्थविरवादी 'हीनयानी' ही ठहरेंगे और महायानी माने जायंगे उस महान गहन और गुह्य उपदेश के उत्तराधिकारी जो भगवान ने उत्कृष्ट बुद्धि और साधना वाले बोधिसत्त्वों को दिया। महायानी आचार्यों का दावा है कि उनके वैपुल्य-सूत्रों में (जिनका दूसरा नाम महायान-सूत्र भी है) भगवान् बुद्ध के ऐसे उपदेशों का संग्रह है जो उन्होंने महाप्राणी बोधिसत्त्वों को दिये थे। हम जानते हैं कि कोई ऐतिहासिक आधार तो महायानिकों की इस मान्यता को प्रमाण मानने का है नहीं। बल्कि महायान-सूत्रों का और महायान के अन्य साहित्य का, जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे, अनैतिहासिक स्वरूप उनकी प्रमाणवत्ता को सन्देह का विषय ही बना देता है। 'सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र' और 'लंकावतार-सूत्र' आदि अनेक महायानी ग्रन्थों में बुद्ध के 'उपाय-कौशल्य' द्वारा उपदेश की बात इतनी अधिक पुनरुक्तिपूर्वक कही गई है कि कभी कभी आभास होने लगता है कि महायानी आचार्यों ने इसका उपयोग कुशलतापूर्वक केवल अपने एक उद्देश्य की सिद्धि के लिये किया है। वह उद्देश्य था बौद्ध धर्म के मौलिक रूप को भी प्रामाणिक मानने के साथ-साथ महायान द्वारा उपदिष्ट सत्य की उच्चतर स्थिति को प्रमाणित करना। यह उन्होंने यह कह कर किया कि चार आर्य सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग आदि संबंधी उपदेश को तथागत ने अपने उपाय-कौशल्य के द्वारा अपनी साधारण योग्यता के शिष्यों (श्रावकों)

(१) अनाथपिण्डिकोवाद-सुत्तन्त (मज्झिम० ३।५।१)

को दिया, जबकि उसके उच्चतर स्वरूप (शून्यता, तथता, धर्मसमता) का उद्‌घाटन उन्होंने अपने केवल कुछ योग्यतम शिष्यों के प्रति किया, जिनकी परम्परा 'महायान' में निहित है[1]। इस प्रकार तथागत के 'उपाय कौशल्य' के सिद्धान्त में महायान का भी 'उपाय-कौशल्य' निहित है, ऐसा हमें जान पड़ता है। वैसे इस उपाय कौशल्य का भी आधार अन्ततः पालि त्रिपिटक ही है। हम जानते हैं कि अनेक पर्यायों से भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया है (अनेक परियायेहि भगवता धम्मो देसितो), उन्हें उपदेश में पारमि, पारमिता, परिपूर्णता, प्राप्त है, वे चार वैशारद्यों और दस तथागत-बलों से युक्त हैं। इसी के आधार पर 'उपाय-कौशल्य' की बात कही गई है। परन्तु इसका उपयोग महायान की प्रमाणवत्ता और महत्ता को स्थापित करने के लिए ही महायानी साहित्य में प्रायः किया गया है। महायानी आचार्य यह नहीं कहते कि 'हीनयान' गलत है या अनावश्यक है, वे केवल यह कहते हैं कि वह आवश्यक होते हुए भी एक निम्न श्रेणी की साधना है, जबकि उच्चतम साधना का रूप महायान है और उसी में 'हीनयान' का पर्यवसान हो जाता है। अनेक सत्यों की बात वस्तुतः महायानी भी नहीं कहते। वे यह नहीं कहते कि भिन्न-भिन्न सत्यों का उपदेश तथागत ने भिन्न-भिन्न लोगों को दिया। उनका कहना केवल यह है कि तथागत ने अपने उपाय-कौशल्य से एक ही सत्य का उपदेश दिया परन्तु उनके स्थविरवादी शिष्य केवल उसके एक स्थूल अंग को समझ सके हैं। जापान में जहाँ महायान धर्म आज भी अपने जीवित रूप में विद्यमान है, यह एक साधारण मान्यता है कि भगवान् ने गुह्य उपदेश बोधिसत्त्वों को दिया था और महायान में वही निहित है। जापानी विद्वान् सुजुकी[2] और किमूरा[3] बुद्ध द्वारा प्रकट और गुह्य दो सत्यों के उपदेश दिये जाने में

---

(१) अश्वघोष ने अपने 'महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र' में इसी प्रकार महायान की प्रामाणिकता स्थापित की है। देखिये सुजुकी : 'दि अवेकनिंग ऑव फेथ इन बुद्धिज्म (महायानश्रद्धोत्पाद का अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ ४७,

(२) जिनके मत के उद्धरण के लिये देखिये नलिनाक्ष दत्त : एस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ६१—६५

(३) देखिये उनका 'ए हिस्टोरिकल स्टडी ऑव दि टर्म्स हीनयान एण्ड महायान', पृष्ठ ५९—६०

विश्वास करते हैं। यह बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि थियो-सोफिकल सोसायटी के उद्भावकों, मादम ब्लेवेत्सकी, श्रीमती एनी बीसेन्ट और कर्नल आलकॉटने, जिन्होंने इस शताब्दी के आदि में बौद्ध धर्म को पुनर्जीवित करने का प्रशंसनीय उद्योग किया, अपनी बौद्ध धर्म की व्याख्या में बुद्ध द्वारा गुह्य उपदेश दिये जाने की स्थिति को स्वीकार किया है, बल्कि उसे कुछ अतिरंजित रूप भी प्रदान किया है। डा० हर दयाल ने बोधिसत्त्व सिद्धान्त का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन किया है, परन्तु बुद्ध के उपदेश में गुह्यता जैसी कोई बात थी, इस सिद्धान्त के प्रति उन्होंने सहमति नहीं दिखाई है।[१] वस्तुतः निश्चय रूप से इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। केवल महापुरुष (बुद्ध) की महासागर के समान गम्भीर प्रज्ञा पर आश्चर्य करके रह जाना पड़ता है, जिसने न केवल कुमारिल और शंकर जैसे अ-बौद्ध दार्शनिकों की ही बुद्धि को भ्रमित किया है, बल्कि जिसके सम्बन्ध में युग-युगों से एक ओर नागसेन, बुद्धघोष, बुद्धदत्त धम्मपाल (स्थविरवादी), वसुमित्र, देवशर्मा, महाकौष्ठिल (वैभाषिक), धर्मपाल, बुद्धदेव, और यशोमित्र (सौत्रान्तिक) जैसे तथोक्त 'हीनयानी' आचार्यों की और दूसरी ओर विश्व-प्रसिद्ध महाप्रज्ञावान् अश्वघोष, मैत्रेय, असंग, वसुबधु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति (विज्ञानवादी), नागार्जुन, चन्द्रकीर्ति और शान्तिदेव (शून्यवादी) जैसे महायानी आचार्यों की बुद्धि भी विमुग्ध होती रही है। महायान की परम्परा में असंग, बसुबन्धु और नागार्जुन जैसे आचार्य हैं जो महायान-सूत्रों में बुद्ध के गुह्य उपदेशों की विद्यमानता मानते हैं और दूसरी ओर पालि-त्रिपिटक मूल बुद्ध-वचन है, इससे कौन इन्कार कर सकता है? महायान को अधिक महत्त्व देने पर तो यही कहना पड़ता है कि 'माया-पुत्र' (दोनों अर्थ लेखक को गृहीत हैं:—माहायानिक भारतीय दर्शन में प्रथम मायावादी थे) की माया कुछ समझ में नहीं आती और उसके 'उपाय-कौशल्य' को धन्य है, जिसने उसके एक, अद्वय और अ-विवाद मन्तव्य को भी 'हीन' और 'महा' इन दो रूपों में विभक्त कर दिया है। 'उपाय-कौशल' की मध्यस्थता के बिना 'हीन-यान' और 'महायान' दोनों एक हैं। सचमुच 'उपाय-कौशल्य' उत्तर कालीन बौद्ध धार्मिक विकास में एक महान् शब्द है। वह तथागत की करुणा का ही अन्ततः परिचायक है।

---

(३) दी बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३०—३१

ऊपर हम महायानी आचार्यों द्वारा बुद्ध के ऐतिहासिक अस्तित्व के निषेध का उल्लेख कर चुके हैं। उसी के सम्बन्ध में उन्होंने अपने त्रिकाय-सम्बन्धी सिद्धान्त का निर्माण किया। बुद्ध के तीन काय हैं रूपकाय, धर्म-काय और सम्भोग-काय। महायान के पूर्व रूप में, जिसकी अभिव्यक्ति अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में हुई है, दो ही कायों (रूप-काय और धर्म-कार्य) की मान्यता थी। बाद में सम्भोग-काय और जोड़ दिया गया। रूप-काय से तात्पर्य भगवान् बुद्ध के भौतिक या ऐतिहासिक रूप से है। पालि-त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध के मानव-रूप का जो चित्र हमें मिलता है वह महायानियों के अनुसार उनका रूप-काय है। इसे ही निर्माण-काय भी कहा जाता है, क्योंकि यह निर्मित काया है, बुद्ध के द्वारा लोकानुवर्तन के लिये छाया रूप में बनाई हुई काया है। शाक्यमुनि के द्वारा यह इसलिये धारण की गई है कि मनुष्य समझ सकें कि बुद्धत्व की प्राप्ति असंभव नहीं है। महायान सूत्रालंकार के वर्णनानुसार निर्माण-काय बुद्ध की वह काया है जिसे वे विभिन्न लोक-धातुओं में प्राणियों के अनुकम्पार्थ धारण करते हैं। परन्तु यह बुद्ध की वास्तविक काया नहीं है। महायानियों ने बुद्ध को धर्म के साथ एकाकार किया। बुद्ध और धर्म को मिलाकर एक कर दिया और इसको उन्होंने कहा धर्म-काय। धर्म-काय ही बुद्ध की वास्तविक काया है। वह उनका आध्यात्मिक शरीर है। इसे ही सद्धर्मकाय, बोधिकाय, बुद्ध-काय, प्रज्ञा-काय और स्वाभाविक काय भी कहा गया है। तथता भी यही है। तथता का अर्थ है सम्पूर्ण सृष्टि में समाई हुई सत्यता। इस प्रकार महायान ने धर्मकाय को तथता के साथ एकाकार करके उसे प्रायः वही रूप दे दिया जो ब्रह्म को वेदान्त में प्राप्त है। सम्भोग-काय बुद्ध की वह काया है जिसे हम उनका आनन्दमय स्वरूप कह सकते हैं। यह उस समय की स्थिति है जब वे तुषित लोक में निवास करते हैं। इस प्रकार इस काय के द्वारा बुद्ध को प्रायः देवताओं का सा स्वर्गीय शरीर दे दिया गया है। सम्भोग-काय सम्बन्धी सिद्धान्त के निर्माण में योगाचारी (विज्ञानवादी) महायानिक आचार्यों का विशेष हाथ था और उन्होंने इसे श्रौत परम्परा के ईश्वर की समानता पर विकसित किया है। निर्गुण-निर्विकार तत्त्व धर्म-काय और नाम-रूप मय ईश्वर सम्भोग-काय है, इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से कहा जा सकता है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, महायान

बुद्ध की तीन कायाएँ अथवा महायान का त्रिकाय-सिद्धान्त

का प्रायः कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसके बीज हमें बौद्ध धर्म के पूर्व रूप में न मिलते हों। यही बात महायान के महत्त्वपूर्ण त्रिकाय-सम्बन्धी सिद्धान्त के विषय में भी है। रूप-काय और धर्म-काय शब्द हमें पालि-त्रिपिटक में मिलते हैं, परन्तु. स्थविरवादी परम्परा का यह बड़ा गौरव ही मानना पड़ेगा कि उन्होंने बुद्ध के मानवीय रूप को सुरक्षित रक्खा और उसका दैवीकरण नहीं किया। परन्तु जहां तक व्यक्तित्व के स्थान पर सत्य की प्रतिष्ठा का सवाल है, इसे तथागत ने स्वयं स्वीकार किया था और इसी अर्थ में वहां बुद्ध के रूप-काय से धर्म-काय को श्रेष्ठतर समझा गया है। पालि त्रिपिटक में बुद्ध के रूप-काय से तात्पर्य है उनका मानवीय अस्तित्व और उनके द्वारा उपदिष्ट धम्म को ही वहां उनका धम्म-काय कहा गया है और रूपकाय से उसकी एकता दिखाई गई है। परिनिर्वाण प्राप्त करते समय भगवान् ने अपने शिष्यों से कहा था, "आनन्द! जिस धर्म और विनय का मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जिसे मैंने तुम्हें बताया है, वही मेरे बाद तुम्हारा शास्ता होगा"। "यो वो आनन्द मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो सो वो ममच्चयेन सत्था"[१]। इसी प्रकार बीमार वक्कलि भिक्षुसे, जिसने भगवान् के दर्शनों की इच्छा प्रकट की थी, और जिसकी इच्छा-पूर्ति के लिये भगवान् स्वयं उसके पास गये थे, भगवान् ने कहा था, "वक्कलि! मेरी इस गन्दी काया के देखने से तुझे क्या लाभ! वक्कलि! जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है[२]।" धर्म और बुद्ध की एकता का यह उपदेश भगवान् ने इतिवुत्तक के संघाटि-सुत्त में भी दिया है और अन्यत्र भी। हम इसे आसानी से महायान के धर्म-काय सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार मान सकते हैं। दिव्यावदान, ललित विस्तर और अभिधर्मकोश के आधार पर हम यहां इस महत्त्वपूर्ण त्रिकाय-सम्बन्धी सिद्धान्त के विस्तृत विवेचन में नहीं जा सकते[३]। अब हम महायान की एक आधार-भूत विशेषता पर आते हैं और वह है उसके अन्दर भक्ति का विकास।

---

(१) महा परिनिब्बाण सुत्त (दीघ २।३)

(२) अलं वक्कलि किं ते पूतिकायेन दिट्ठेन। यो खो वक्कलि धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति। यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति (संयुत्त-निकाय)

(३) जिसके लिये देखिये नलिनाक्ष दत्त: एस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ १०३-१०८

बुद्ध-भक्ति का समावेश

बुद्ध-भक्ति का समावेश महायान बौद्धधर्म की एक आधारभूत विशेषता है। भगवान् बुद्ध को महायान ने एक उपास्य देव के रूप में स्वीकार किया और उसे अपनी साधना का एक विशिष्ट अंग बनाया। उनका ऐसा करना कहाँ तक स्थविरवाद बौद्धधर्म में पाई जानेवाली प्रवृत्ति या प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास था अथवा कहाँ तक वह श्रौत परम्परा की भक्ति-धारा से प्रभावित था, यह एक बड़ी समस्या है जिसके सुलझाने में कम से कम भारतीय विद्वानों को अत्यन्त बौद्धिक वैराग्य की आवश्यकता पड़ेगी। हम जानते हैं कि मूल बुद्ध-धर्म विशेषतः आत्म-विमुक्ति का धर्म था। वहाँ मनुष्य को अपनी विमुक्ति स्वयं खोजनी पड़ती है। शास्ता से वह मार्ग दिखाने वाले व्यक्ति से अधिक अपेक्षा नहीं रख सकता। कम से कम बुद्ध इसके लिये अवकाश नहीं देते। पुरुषार्थ ही वहां मुक्ति प्राप्त करने का प्रधान साधन है और सम्पूर्ण उपदेश देने के बाद शास्ता अपने शिष्यों से यही अपेक्षा रखते हैं कि वे उस पर चलें। मार्ग को बता देना, सु-आख्यात कर देना, यही तथागत की करुणा है। उस पर चलने का काम शिष्यों का है। कर्म के नियम में कोई अपवाद नहीं है। बुद्ध की संघाटी को पकड़कर हम भव से पार नहीं हो सकते, हमें धर्म का अभ्यास करना चाहिये। पालि धर्म की आधारभूत परिस्थिति यही है। न तो भक्त की सी आर्तता और दीनता की भगवान् भिक्षु से अपेक्षा रखते हैं और न उसके समान आत्म-समर्पण की। फिर भी भक्ति के कुछ तत्त्व आदिम बौद्ध धर्म की साधना में भी विद्यमान थे, ऐसा हमें मानना पड़ेगा। सबसे बड़ी बात यह है कि श्रद्धा के महत्त्व की स्वीकृति बुद्ध के मौलिक उपदेशों में है। हम पहले दिखा चुके हैं कि जहाँ तक श्रद्धा का सम्बन्ध है, उसके महत्त्व की स्वीकृति के सम्बन्ध में पालि और संस्कृत बौद्ध धर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं है। श्रद्धा और भक्ति का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसे दिखाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। आचार्य बुद्धघोष ने श्रद्धा को ही भक्ति कहा है। सारिपुत्र आदि शिष्यों की शास्ता के प्रति कितनी गहरी श्रद्धा और पूजा-बुद्धि थी, इसे यहां दिखाने की आवश्यकता नहीं। अतः हम कह सकते हैं कि शास्ता के प्रति श्रद्धा के रूप में भक्ति की साधना के बीज आदिम बौद्ध साधना में भी विद्यमान थे, यद्यपि हमें यहाँ सावधानीपूर्वक स्मरण रखना चाहिये कि बुद्ध में श्रद्धा का होना बुद्धि के द्वारा वहां भली प्रकार सन्तुलित कर दिया गया था। शास्ता ने स्वयं कहा था कि तथागत बोधि-प्राप्त हैं

या नहीं, इसकी सम्यक् गवेषणा साधक को करनी चाहिये। इस प्रकार बुद्धि और श्रद्धा का समन्वय आदिम बौद्ध साधना में था। उसकी श्रद्धा सर्वांश में 'प्रज्ञान्वया' थी। फिर त्रिशरण-गमन की बात है। 'बुद्धं सरणं गच्छामि' में भक्ति का विमल रूप झांक रहा है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं। ऐसा माना जा सकता है कि इसी शरणागति से बाद में उपास्य देवता के रूप में बुद्ध-भक्ति का विकास हुआ जिसके आलम्बन न केवल बुद्ध बल्कि अनेक बोधिसत्व आगे आने वाले युगों में बनाये गये। पूर्व बौद्ध साधना में कर्म ही मनुष्य का सहायक था, वहाँ कोई देवता न था, न ईश्वर, न ब्रह्मा। बाद में बुद्ध ही महायान में ईश्वर बना दिये गये जिनकी पूजा करना और जिनमें श्रद्धा रखना धर्म का एक अंग हो गया। इसमें कोई सन्देह नहीं बुद्ध के मौलिक नैतिक उपदेश और इस नये भक्ति-सन्देश के बीच एक गहरी खाई थी, दोनों में एक न पाटने योग्य व्यवधान था, परन्तु सबसे बड़े संतोष की बात यह है कि इस प्रकार जो व्यक्ति पूजा का आलम्बन बनाया गया वह एक ऐतिहासिक मनुष्य था, कोई पौराणिक देवता नहीं। यही एक ऐसी अतिशय महत्त्वपूर्ण बात है जो महायानी भक्ति-साधना को न केवल हमें स्थविरवादी भक्ति-तत्त्वों के विकास स्वरूप मानने को बाध्य करती है, बल्कि जो यह भी संकेत कर देती है कि राम और कृष्ण को आलम्बन मान कर प्रचलित भक्ति साधना-पद्धतियों का विकास बाद में इसी के अनुकरण पर, देवताओं का आकर्षण कम हो जाने पर, किया गया। हम अपने मन्तव्य को अभी स्पष्ट करेंगे।

महायान बौद्धधर्म में भक्ति और मुक्ति का आश्वासन एक ऐतिहासिक घटना पर आधारित है। बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद भगवान् के मन में निर्वाण सुख का अनुभव करते ही जीवन बिताने की इच्छा हुई थी। उपदेश करना वे नहीं चाहते थे, क्योंकि उनका प्राथमिक विचार यह था कि जनता उसे नहीं समझेगी। परन्तु भगवान् ने अपनी इस उदासीनता को जीत लिया और प्राणियों को विमुक्त करने का संकल्प उन्होंने किया। 'अमृत की दुन्दुभी में बजाऊँगा' ऐसा संकल्प उन्होंने किया। इसी का परिणाम बुद्ध-धर्म हुआ, जिसका इतिहास साक्ष्य देता है। भगवान् बुद्ध का प्राणियों को विमुक्त करने का संकल्प एक ऐतिहासिक तथ्य है और उसीका परिणाम बौद्धधर्म है। महायान के भक्तिवाद की पूरी प्रतिष्ठा भगवान् के उपर्युक्त संकल्प पर ही आश्रित है। मुक्ति का यह आश्वासन जो एक ऐतिहासिक घटना के रूप में

बुद्ध-जीवन में विद्यमान था महायानी भक्तिवाद का आलम्बन बना। भगवान् बुद्ध के पूर्व भक्ति की साधना भले ही विद्यमान रही हो, यह विशेषता उसमें किसी प्रकार नहीं थी। ऋग्वेद में ऋषियों ने वरुण के प्रति भक्ति के उद्गार प्रकट किये थे। वह देवता-भक्ति ही कही जा सकती है। बाद में जब देवताओं का आकर्षण कम हो गया तो यह भक्ति भी निष्प्रभ हो गई। कीथ ने उपनिषदों में भक्ति के बीज होने की बात कही है[1], जो केवल आंशिक रूप में सत्य कही जा सकती है। उपनिषदों में बुद्ध जैसा कोई ऐतिहासिक महापुरुष नहीं है जिसके प्रति सच्चे भक्ति-दर्शन का विकास हो सकता। उनके निर्गुण-निराकार की भक्ति नहीं की जा सकती और देवताओं के लिये न अधिक अवकाश उपनिषदों ने दिया और न उनका कोई विशेष प्रभाव उपनिषदों के युग में रह गया था, जिससे उनकी भक्ति की जा सकती। विष्णु (वेण्हु) और शिव (ईसाण) गौण देवताओं के रूप में पालि बौद्ध साहित्य में वर्णित हैं[2] और उनका स्थान शक्र और ब्रह्मा की अपेक्षा निम्नतर है। बुद्ध-काल में उनकी उपासना-पद्धतियाँ अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती थीं। छान्दोग्य २/१७/१ में कृष्ण देवकीपुत्र (कृष्णाय देवकीपुत्राय) और कौषीतकि ब्राह्मण ३.९ में कृष्ण आंगिरस का वर्णन आने के कारण हम कृष्ण को बुद्ध-पूर्व युग का महापुरुष तो मान सकते हैं, सम्भवतः वासुदेव-पूजा की स्थिति भी ईसा से ६-७ शताब्दी पूर्व मान सकते हैं, परन्तु कृष्ण-भक्ति का प्रचार बुद्ध-पूर्व युग में मानना इतिहास के साक्ष्य के विरुद्ध होगा। कृष्ण-भक्ति का प्रचार बुद्ध-युग के बाद वासुदेव कृष्ण को भागवत सम्प्रदाय के भगवान् के साथ एकाकार करने के परिणाम स्वरूप हुआ। भागवत सम्प्रदाय का उदय पांचवी शताब्दी ईसवी पूर्व उत्तरी भारत में हुआ था। द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व के बेसनगर शिलालेख में ग्रीक हेलियेडोरस को 'भागवत' की उपाधि दी गई है। इससे भागवत सम्प्रदाय की द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व विद्यमानता स्पष्ट प्रकट होती है। छान्दोग्य, ३।१४ में शाण्डिल्य के उपदेश का वर्णन है। यही शाण्डिल्य भक्ति-सूत्रों के भी रचयिता थे या नहीं, यह निश्चित नहीं है। परन्तु हम छान्दोग्य उपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह अवश्य कह सकते हैं कि भक्ति-

---

(१) जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९०६, पृष्ठ ४९३
(२) महासमय-सुत्त (दीघ० २।७)

साधना की धारा किसी न किसी रूप में सातवीं और छठी शताब्दी ईसवी पूर्व प्रचलित अवश्य थी। ईशोपनिषद् में उपास्य के रूप में ईश्वर का वर्णन है। बाद में श्वेताश्वर में भक्ति के सिद्धान्तों की चर्चा है। महेश्वर, शिव और ईश आदि शब्द भक्ति-साधना की विद्यमानता को स्पष्ट करते हैं। ये सब प्राचीन भक्ति धारा के क्षीण विकास के परिचायक हैं। ऊपर हम भागवत सम्प्रदाय के द्वारा कृष्ण वासुदेव के भगवान् के साथ एकाकार कर देने की बात कह चुके हैं। वस्तुतः उसी से कृष्ण को विष्णु का अवतार माने जाने का आधार मिला और कृष्ण-पूजा आरम्भ हुई। छान्दोग्य उपनिषद् के वासुदेव कृष्ण या देवकीपुत्र कृष्ण का दैवीकरण चाहे छठी -सातवीं ईसवी पर्व हो गया हो, परन्तु कृष्ण-भक्ति का प्रचार उनके भगवान् बनने के बाद ही हुआ और इस कार्य में कई शताब्दियाँ लगीं। पालि महानिद्देस में वासुदेव-सम्प्रदाय का उल्लेख है, 'वासुदेववत्तिका वा होन्ति'। इसे हमें साधारण वासुदेव-पूजा के रूप में समझना चाहिये। देवता के रूप में वासुदेव का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है 'वासदेवार्जुनाभ्यां वुं' (४:३:९८)। द्वितीय शताब्दी पूर्व वासुदेव-पूजा का भारत में प्रचार था, यह उस समय के कुछ शिला-लेखों से भी विदित होता है। बेसनगर शिलालेख, जो द्वितीय शताब्दी ईसवी पर्व का है वासुदेव-पूजा का स्पष्ट साक्ष्य देता है। उसका एक अंश है 'देव देवास वासुदेवस गरुड़ध्वजोऽयम्'। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि वासुदेव की प्रतिष्ठा भगवान के अवतार के रूप में उस समय तक हो चुकी थी। इसी प्रकार घसुण्डी शिलाशेख का साक्ष्य है "जना भगवम्या सकषण वासु-देवाम्याम्"। ग्रीक राजदूत मेगेस्थनीज (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व) ने शूरसेन-प्रदेश में हेराक्लीज़ (Herakles) की पूजा की बात कही है। 'हेराक्लीज़' कृष्ण का ही ग्रीक रूपान्तर है। इससे भी स्पष्ट प्रकट होता है कि कृष्ण-पूजा चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व व्रज में प्रचलित हो चुकी थी और मथुरा उसका केन्द्र था[1]। इस प्रकार प्रभूत ऐतिहासिक साक्ष्य हमें इस बात के मिलते हैं कि बुद्ध-धर्म के उदय की शताब्दियों से लेकर वासुदेव-पूजा किसी न किसी रूप में भारत में चली आ रही थी और उससे निश्चित निष्कर्ष किसी न किसी मात्रा में हम यह निकाल ही सकते हैं कि द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व जब महायान में बुद्ध-भक्ति का उदय हुआ तो उसने किसी न किसी प्रकार यज्ञात या अज्ञात रूप से वासुदेव सम्प्रदाय से अवश्य प्रेरणा प्राप्त की।

(१) देखिये मेकक्रिंडल: एन्शियन्ट इन्डिया, पृष्ठ २११

यहाँ कुछ दृष्टिपात हमें शैव सम्प्रदाय की ओर भी करना चाहिये। भागवत धर्म की प्रगति के साथ-साथ प्रायः समानान्तर रूप से शैव साधना का विकास हुआ था। श्वेताश्वतर उपनिषद् में शिव को भगवान् माना गया है। "सर्वव्यापी भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः"[1]। श्वेताश्वतर उपनिषद् निश्चयतः बुद्ध-काल के काफी बाद की उपनिषद् है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में, जिसका प्रणयन-काल लगभग १५० ईसवी पूर्व है, एक शैव सम्प्रदाय का उल्लेख किया है[2]। मिलिन्द-प्रश्न में, जो ईसवी सन् के करीब की रचना है, वासुदेव सम्प्रदाय के साथ-साथ शैव सम्प्रदाय का भी उल्लेख है। 'सिवा वासुदेवा घनिका'। पाशुपत सम्प्रदाय के अनुयायियों की स्थिति द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व थी, ऐसा स्वर्गीय डा० आर० जी० भाण्डारकर ने प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिन युगों में महायान बौद्धधर्म का उदय हो रहा था, भारतीय समाज में भागवत धर्म के साथ-साथ शैव साधना भी विद्यमान थी, यद्यपि उसका इतना प्रभाव बौद्ध धर्म पर उपलक्षित नहीं होता। बाद में चल कर मध्ययुगीन भक्ति-परम्परा में बंगाल, आसाम और विशेषतः नैपाल में शैव धर्म ने महायान बौद्ध धर्म के तत्कालीन रूप को अत्यधिक प्रभावित किया और शिव और बुद्ध दोनों मिलकर किस प्रकार प्रायः एक हो गये, यह हम मध्ययुगीन भक्ति-दर्शन के विकास पर आते समय पाँचवें परिच्छेद में देखेंगे।

अब हमें महायान के उदय की ओर जाकर यह देखना चाहिये कि गीता के भक्तिवाद का उससे क्या सम्बन्ध है? कहाँ तक गीता के भक्तिवाद के प्रभाव को महायान बौद्ध धर्म पर स्वीकार करना चाहिये या नहीं, यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। गीता का काल निर्णय अभी प्रायः निश्चित रूप से नहीं हो सका है, परन्तु महाभारत के एक अंश के रूप में वह महायान के उत्पत्ति काल की अपेक्षा एक अर्वाचीन रचना ही मानी जा सकती है। रिचार्ड गार्बे के मतानुसार गीता के मौलिक स्वरूप का प्रणयन-काल ३००—२५० ईसवी पूर्व है।

---

(१) श्वेताश्वर ३।११

(२) उद्धरण के लिये देखिए हरदयाल : दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८

(३) आर० जी० भाण्डारकर : वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स, पृष्ठ ११६—११७

डा० हरदयाल ने इस संबंध में अत्यन्त सन्तुलित विवेचन के बाद गीता के प्रणयन-काल की सीमा २०० ईसवी पूर्व से लेकर २०० ई० तक निश्चित की है[१]। हम प्राय: डा० हरदयाल के मत से सहमत हैं।

अब प्रश्न यह है कि गीता के भक्तिवाद ने महायान से या महायान के भक्तिवाद ने गीता से कितना लिया है? इस सम्बन्ध में अधिकतर पश्चिमी विद्वान् गीता को अधिक महत्त्व देकर उसके प्रभाव को महायान पर स्वीकार करते हैं। विन्टरनित्ज़ के मतानुसार भगवद्गीता के भक्तिवाद के आधार पर और उसके प्रभाव स्वरूप महायान बौद्ध धर्म का विकास हुआ[२]। एच० कर्न ने भी महायान बौद्ध धर्म पर गीता के प्रभाव को स्वीकार किया है[३]। सेनां का भी प्राय: यही मत है कि भक्ति का विचार महायान ने भागवत धर्म से लिया[४]। के०जे० सांडर्स ने भी प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि सद्धर्म पुण्डरीक ने गीता से बहुत कुछ लिया है[५]। बेल्जियन विद्वान् पूसां ने तो महायान को 'हिन्दू धर्म का एक रूप' (Modality of Hinduism) ......ही कहा है[६]। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्वानों का एक बड़ा समूह भगवद्गीता के ऋण को महायान पर मानने के पक्ष में है। परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि ये प्राय: सब विद्वान् इस शताब्दी के पूर्व भाग के हैं और तब से इस सम्बन्ध में काफी अध्ययन हो चुका है जिससे नये तथ्य प्रकाश में आये हैं। आज हम कह सकते हैं कि गीता के भक्तिवाद ने महायान के विकास में काफी योग दिया है परन्तु स्वयं गीता में कृष्ण जिस प्रकार मुक्तिदाता प्रभु के रूप में चित्रित किये गये हैं, वह बुद्ध के अनुकरण पर है। हम पहले दिखा चुके हैं कि मुक्ति का आश्वासन महायान बौद्ध धर्म में एक ऐतिहासिक तथ्य अर्थात् तथागत की बोधि-प्राप्ति और उनके

---

(१) दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३
(२) सम प्रॉबलम्स इन इंडियन लिटरेचर, पृष्ठ ६३
(३) मैनुअल ऑव इंडियन बुद्धिज्म, पृष्ठ १२२
(४) उद्धरण के लिये देखिये हरदयाल : दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३१
(५) दि गॉस्पल फॉर एशिया, पृष्ठ ५९
(६) देखिये हरदयाल : दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३१

प्राणियों की विमुक्त्यर्थ उपदेश करने के निर्णय पर आधारित है। धार्मिक इतिहास में यह एक महान् बात है, जो श्रौत परम्परा में नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ भक्ति देवताओं पर अवलम्बित थी, जिनमें ऐतिहासिक मानवत्व का लेशमात्र न था। बुद्ध जैसे ऐतिहासिक महापुरुष को भक्ति का आलम्बन बनाकर महायान को अभूतपूर्व सहायता मिली। इसीसे प्रेरणा प्राप्त कर श्रौत परम्परा ने, जिससे मूलतः भक्ति के विचार को महायान ने लिया था, राम और कृष्ण जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों को लाकर उन्हें भगवान विष्णु से एकाकार करने का प्रयत्न किया (जिस प्रकार तथागत के सम्बन्ध में धर्मकाय के रूप में महायान ने किया था) और यह कार्य महायान बौद्धधर्म के उदय हो जाने के बाद और उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप किया गया। श्रौत परम्परा के देवता, निर्गुण या सगुण, शाक्यमुनि के समान प्रभावशाली नहीं थे। इसीलिये राम और कृष्ण भगवान् बनकर सामने आये। ये महापुरुष बुद्ध के बाद ही और उनके अनुकरण पर ही देवता बन कर आये, अपनी शरणागति द्वारा मुक्ति का सन्देश सुनाने लगे, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इनका मुक्ति का सन्देश देने और इनके स्वयं के जीवन में कोई संगति नहीं है, वह तो बुद्ध के अनुकरण पर गढ़ी हुई चीज है, जिसमें उसकी सी मौलिक दृढ़ता नहीं। भगवान् कृष्ण कहते हैं 'मेरी शरण आओ, मैं तुम्हें संसार-सागर से तार दूंगा'। क्या आधार है कृष्ण के जीवन में जो उन्हें ऐसा कहने का अधिकार देता है ? क्या है उनकी जीवन-साधना ? कहां है उनके पुरुषार्थ का, उनकी तपश्चर्या का, उनकी सत्य-प्राप्ति का वर्णन ! प्राणियों को मुक्त करने का उनका गीता में संकल्प तो है, परन्तु कहां है उनके स्वयं जीवन में उसका आधार!? उसका कहीं पता नहीं चलता। केवल यही कह देने भर में गति है 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'। भागवतकार ने इसी की रट लगाई है। परन्तु इसी पर तो सच्चा भक्ति दर्शन खड़ा नहीं हो सकता। सच्ची भक्ति के लिये यह आवश्यक है कि मुक्ति का आश्वासन ऐतिहासिक घटना पर आश्रित हो। उसके लिये एक ऐतिहासिक मुक्तिदाता चाहिये, मनुष्य के आश्वासन के लिये ऐतिहासिक आलम्बन चाहिये। महायान ने यही वस्तु भारतीय साधना को दी। इसलिये जिस भक्ति का विकास महायान ने किया वह उसकी अपनी थी, उसका आलम्बन बुद्ध द्वारा मुक्ति का उपदेश देना था, उसका आधार बुद्ध का जीवन था जहाँ सच्ची भक्ति टिक सकती है। न यह बात राम-भक्ति में मिलती है और न

कृष्ण-भक्ति में। बल्कि, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, इन दोनों महापुरुषों का दैवीकरण किया ही इसलिये गया कि बुद्ध के अनुरूप भक्ति का आलम्बन श्रौत परम्परा के साधकों को मिले। परन्तु इसमें उन्हें पूरी सफलता नहीं मिली। कृष्ण-भक्ति के सम्बन्ध में तो हम कह ही चुके हैं, राम-भक्ति की भी यही दशा है। राम का तो, जहाँ तक उनके प्रत्यक्ष जीवन का सम्बन्ध है, मुक्ति देने का ढंग ही अजीब था। सुबाहु और ताड़का को मार कर मुक्ति दी गई। और तो क्या बेचारे निरपराध मृगों को भी इसलिये मरना पड़ता था क उन्हें करुणासागर राम के द्वारा मुक्ति मिलनी थी। तुलसीदास ने ही लिखा है, "जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे"। इस प्रकार के मुक्तिदाता राम स्वयं अपने जीवन में थे। उन्हीं से मुक्तिदाता प्रभु राम का जन्म हुआ। राम का नाम जपने से भव-सागर सूख जाता है। ठीक है। पर स्वयं राम के जीवन में भव-सागर को सुखाने का क्या आधार है? क्या उन्होंने स्वयं भव-प्रवाह को सुखाने के लिये कोई उद्योग किया? जिस मुक्ति को वे दूसरों को बाँटते फिरते हैं क्या उन्होंने भी अपने जीवन में कभी उसे साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया? क्या उनके रागी और भौतिक जीवन में अध्यात्म-साधना को कुछ अवकाश मिलता है? सिवाय दैवी अधिकार के दाशरथि को प्राणियों को मुक्त करने का क्या अधिकार है? अतः जिस प्रकार कृष्ण के जीवन में उसी प्रकार राम के जीवन में मुक्ति के आश्वासन का कोई ऐतिहासिक आधार हमें नहीं मिलता। वह ऊपर से जोड़ी हुई चीज है, महायान बौद्ध धर्म के प्रभावशाली उपास्यदेव शाक्यमुनि के अनुकरण पर और इसीलिये उसमें अधिक बल नहीं है और आवश्यक असंगति भी वहाँ आ गई है। जहाँ तक राम-भक्ति का सम्बन्ध है, यह बात उस परम्परा के साधकों को भी खटकी थी और इसी अभाव की पूर्ति के लिये उन्होंने छठी शताब्दी ईसवी में राम का एक वह रूप गढ़ डाला जो बाल्मीकि-रामायण के राम से बिलकुल भिन्न था, परन्तु जिसमें मुक्तिदाता राम के रूप के साथ संगति थी और जो अध्यात्म साधकों को भी आकर्षित करने की क्षमता रखता था। राम का यह रूप था योगवासिष्ठ के राम का रूप, जहाँ राम किशोरावस्था से ही विरागी सिद्धार्थ का सा रूप धारण कर लेते हैं और संसार की समस्याओं पर विचार करते हुए पीले पड़ जाते हैं। स्पष्ट है कि इस रूप का प्राचीन ऐतिहासिक आधार कुछ नहीं है और इसका निर्माण बिलकुल बुद्ध-जीवन के अनुकरण पर किया गया

है, राम के जीवन को साधकों के लिये भी आकर्षक बनाने के लिये, जो वह मौलिक रूप में नहीं है। हम इस विषय पर पाँचवें अध्याय में योगवासिष्ठ दर्शन के साथ बौद्ध दर्शन की तुलना करते समय आयेंगे। अतः यहाँ इस सम्बंध में अधिक कहना उचित न होगा।

ऊपर हमने विवेचन की जो दिशा स्वीकार की है उससे हम दो निष्कर्षों की ओर स्वाभाविक तौर पर उन्मुख होते हैं। एक तो यह है कि काफी हद तक महायान का भक्तिवाद भक्ति-सम्बन्धी उन प्रवृत्तियों का स्वाभाविक विकास है जो हमें बुद्ध के मूल उपदेशों या स्थविरवाद बौद्धधर्म में मिलती हैं। मुक्ति का आश्वासन एक ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित होना एक ऐसी ही विशेषता है जो महायान की अपनी है। महायान की इस परम्परा को श्रौत परम्परा की भक्ति-धारा ने भी लेने का प्रयत्न किया है और इसी रूप में कृष्ण और राम के उपास्य रूपों का बहुत कुछ उद्भावन हुआ है, यह हम दिखा चुके हैं। बौद्धधर्म के लिये, जो मूल रूप में एक ज्ञानवादी धर्म था, यह कुछ कम गौरव की बात नहीं है कि अपने पारिभाषिक धार्मिक अर्थ में 'भक्ति' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग हमें बौद्ध-साहित्य में ही मिलता है, किसी वैदिक शास्त्रीय ग्रन्थ में नहीं। थेरगाथा में कहा गया है "सो भत्तिमा नाम च होति पण्डितो ञत्वा च धम्मेसु विसेसि अस्स"। इस प्रकार अत्यन्त सावधानी के साथ हम डा० हरदयाल के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि 'पूर्वतम काल से भक्ति बौद्ध आदर्श का एक आन्तरिक अविभाज्य अंग था'[1] और "इसलिये यह बिलकुल स्वाभाविक था कि भक्ति का विचार पहले बौद्धों में ही उगा और समृद्ध हुआ, न कि हिन्दुओं में"[2]। बौद्ध धर्म में भक्ति के जिस विशिष्ट रूप का विकास हुआ, उसको देखते हुए डा० हरदयाल के ये कथन ठीक हैं।

परन्तु हमारे विवेचन की दिशा और ऊपर उद्धृत तथ्यों का अविवाद प्रभावशाली साक्ष्य हमें एक दूसरे निष्कर्ष की ओर भी उन्मुख करता है, जो तत्त्वतः पहले निष्कर्ष के विरोध में नहीं है। वह निष्कर्ष यह है कि भक्ति की साधना किसी न किसी रूप में बुद्ध-धर्म के आविर्भाव-काल बल्कि उसके कुछ पूर्व से ही प्रचलित थी और उसने अवश्यम्भावी रूप से महायान के

---

(१) दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३२
(२) वहीं पृष्ठ ३३

भक्तिवाद को प्रभावित किया है। आदिम बौद्ध धर्म में भक्ति का जितना तत्त्व था उसका ही विकास महायान में नहीं हुआ है, उससे कुछ अधिक भी वहाँ आगया है और वह निश्चयतः गीता और श्रौत परम्परा के भक्तिवाद की देन है। स्थविरवाद बौद्धधर्म के बुद्ध बड़े निर्मम व्यक्ति हैं। वे कर्म चाहते हैं, शरण नहीं। कर्म-दायाद होना और बुद्ध-दायाद होना या बुद्ध की शरण जाना वहाँ दोनों प्रायः समानार्थक हैं। परन्तु महायान ने शरणागति को अत्यधिक महत्त्व दे दिया है, जो गीता के भक्तिवाद के प्रभाव स्वरूप ही है। स्थविर-वाद के बुद्ध अर्थात् मानव-बुद्ध अपने शरीर को उसी प्रकार गन्दी काया (पूति काय) समझते थे जिस प्रकार किसी अन्य की। इसीलिये उन्होंने वक्कलि से कहा था 'किमिना पूतिकायेन दिट्ठेन' इस गन्दी काया को देखने से क्या लाभ? इस प्रकार कहने वाले बुद्ध कभी यह नहीं चाह सकते थे कि उनके शरीर की मूर्तियाँ बनाई जायं और उनकी पूजा की जाय। प्रसेनजित् भगवान् के पैरों में पड़ कर एक अनुरक्त भक्त की भांति उनकी पूजा करता था, परन्तु निर्मम बुद्ध उससे पूछते थे' तू क्या देखकर इस शरीर में इतना आदर प्रदर्शित करता है'? इस प्रकार पूछने वाले बुद्ध कभी यह अनुमति नहीं दे सकते थे कि उनके शरीर की पूजा की जाय? आनन्द ने जब अन्तिम समय उनसे पूछा था कि उनके शरीर के सम्बन्ध में क्या किया जाय, तो उन्होंने उनसे यही कहा था कि भिक्षुओं के लिये एक उच्चतर कर्त्तव्य है जिसका उन्हें पालन करना चाहिये और वह है बोधि पक्षीय धर्मों का अभ्यास। तथागत की शरीर-पूजा एक निम्नतर कोटि का पुण्य-कार्य है जिसे गृहस्थ उपासक कर सकते हैं। बुद्ध अनुभव करते थे कि मार्ग दिखाने के अतिरिक्त वे अपने शिष्यों के लिये कुछ नहीं कर सकते, इसीलिये कर्म करने के लिये वे उन्हें सदा सजग किया करते थे। कर्म के नियम को तथागत जानते थे कि वह किसी की अपेक्षा नहीं करता, तथागत की भी नहीं। इसीलिये वे 'कर्म', 'कर्म' कहते थे। परन्तु वही तथागत महायान में आकर गीता के कृष्ण की भाँति कहने लगे हैं—मैं इस जगत् का पिता हूँ[1]—मुझसे ही सब कुछ प्रवर्तित हुआ है—मुझमें मन लगाओ—मुझमें बुद्धि को प्रविष्ट करो—मैं तुम्हें मुक्ति दूंगा—मेरा नाम जपो—मुझे प्रणाम करो,

(१) देखिये सद्धर्मपुण्डरीक १३६–४; १०८–१७; ८९–१२; ९०–२; मिलाइये गीता ९–१७ 'पिताहमस्य जगतः'।

आदि। तो ये बातें कहाँ से आईं ? निश्चयतः आदिम बौद्ध साधना में न केवल इनके लिये कोई अवकाश ही नहीं है बल्कि कुछ हालतों में ये उससे मौलिक रूप से विभिन्न भी हैं। पालि निकायों के बुद्ध के रूप को स्मरण करते हुए हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि वे स्वयम्भू भी हैं, जगदीश्वर भी हैं, उनकी मूर्ति की पूजा भी करनी है, उनका नाम भी जपना है, आदि-आदि। निश्चयतः ये बातें भागवत धर्म से ही बौद्ध धर्म को मिली हैं और इनका मिलना अत्यन्त स्वाभाविक था। वह केवल युग की आवश्यकता मात्र न थी, मानव हृदय की वह एक आवश्यकता भी थी। केवल ज्ञानवाद, चाहे वह जितना उच्च हो, मानव को पूरा आश्वासन नहीं दे सकता। बुद्ध के मौलिक उपदेशों को समझने और उन पर अभ्यास करने के लिये आत्मा का महान् बल चाहिये। बुद्ध के व्यक्तित्व के साक्षात् सम्पर्क के परिणाम स्वरूप वह बल उनके प्राथमिक शिष्यों को प्राप्त था। परन्तु बुद्ध-परिनिर्वाण के बाद अधिक आश्वासन की आवश्यकता थी, उससे अधिक जितना बुद्ध की कर्मवादी शरणागति मात्र से मिल सकता था। यह मानव हृदय की आवश्यकता थी, धार्मिक विकास की आवश्यकता थी, फिर चाहे यह मानव की निर्बलता के परिणाम स्वरूप ही क्यों न उत्पन्न हुई हो। महायान ने भक्ति के सिद्धान्त को दूसरी जगह से लेकर उसे बुद्ध में प्रयुक्त कर इस कमी को पूरा कर दिया। बुद्ध परमेश्वर हो गये, उनके नाम-जप से मुक्ति का आश्वासन मिल गया, उनकी पूजा करना, उनको प्रणाम करना पुण्य कार्य हो गया, शरणागति मात्र से मुक्ति का आश्वासन मिल गया। नारकीय जीव भी तरने लगे, बोधि-सत्त्व की करुणा ने कर्म के नियम को मेट दिया। यही तो चाहिये था। बौद्ध धर्म अब सच्चे अर्थों में लोक-धर्म बन गया। यह सब महायान ने भागवत-धर्म के प्रभाव स्वरूप किया, ऐसी हमारी मान्यता है। इसीलिए सर्वांश में हम डा० हरदयाल के इस कथन से सहमत नहीं हो सकते कि 'बौद्धधर्म ने भक्ति के विचार को उत्पन्न किया और हिन्दू धर्म से उसे उधार नहीं लिया'[१]। यदि हम भक्ति की उत्पत्ति बौद्धधर्म में स्वीकार करेंगे तो स्थविरवाद बौद्धधर्म की हम एक ऐसी व्याख्या में जा पड़ेंगे जो अत्यन्त विकृत होगी और जिससे कोई प्राचीन या अर्वाचीन स्थविरवादी बौद्ध विद्वान् सहमत न होगा। इसलिये जब हम बौद्ध धर्म में भक्ति की बात कहें तो हमें

---

(१) दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३-३४

अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। महायान के सम्बन्ध में चाहे जो कहा जाय, स्थविरवाद बौद्ध धर्म में भक्ति की विद्यमानता एक सीमित अर्थ में ही, जैसा हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं, स्वीकृत की जा सकती है। अतः यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि महायान में जो नया है वह बाहर से लिया गया है। जब महायान ने तातार, ईरान, अफगानिस्तान और जापान जैसे दूरस्थ देशों की संस्कृतियों और धार्मिक मान्यताओं से समन्वय स्थापित किया तो यह स्वीकार करने में उसकी कोई गौरव-हानि नहीं है कि उसने भागवत भक्ति से भी काफी ऋण लिया है जो बुद्ध को वह रूप प्रदान करने के लिये उत्तरदायी है, जो उसे महायान में मिला है। सद्धर्म-पुण्डरीक और भगवद्गीता में अनेक समानतायें हैं और बुद्ध के लिए प्रायः उन्हीं विशेषणों का प्रयोग किया गया है जो कृष्ण के लिये गीता में। उनसे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सद्धर्मपुण्डरीक उनके लिये गीता का ऋणी है, न कि यह, जैसा कि डा० हरदयाल ने अत्यन्त भ्रमपूर्वक निकाला है, कि उनका आविष्कार पहले बौद्धों ने किया और बाद में वैष्णव नेताओं ने उनका उपयोग किया[१]। एक बात जो एक जगह परम्परा के रूप में चली आ रही है (जैसा हम उद्धरणों के आधार पर पहले दिखा चुके हैं) और दूसरी जगह अकस्मात् आ टपकती है (जैसा बुद्ध का अपने को स्वयम्भू, जगत्पिता और जगदीश्वर आदि कहने लग जाना) तो इससे यही निष्पक्ष निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि वह परम्परागत विचार धारा से ही ली गई है। गीता और महायान बौद्ध धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देश के लिए इतना विवेचन काफी है। अब हम ऐतिहासिक विवेचन को छोड़ महायानी भक्तिवाद के स्वरूप को कुछ समझना चाहते हैं।

महायान में आकर भगवान् बुद्ध एक प्रकार ईश्वर बन गये जिनकी पूजा करनी है और जिनमें विश्वास करना है। उनके साथ अन्य अनेक देवता भी आये जिन्हें बोधिसत्त्व कहते हैं, जिन पर हम अभी विचार करेंगे। बुद्ध अब स्वयम्भू हो गये, केवल अपनी कृपा के द्वारा, जगत् के सन्तारक[२] या उद्धारक बन गये।.बुद्ध की कृपा अब एक प्रकार भागवती कृपा हो गई।

---

(१) वहीं पृष्ठ ३३–३४

(२) सद्धर्मपुण्डरीक २।११ में बुद्ध को 'सन्तारक' कहा गया है, जो गीता के 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' के प्रायः समान है।

कृष्ण के समान उन्होंने अब अपने भक्तों और शरणागतों के योगक्षेम का भार ले लिया। "जितने दुःखी प्राणी हैं उन सबका भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ" इस प्रकार का संकल्प अवलोकितेश्वर बुद्ध करने लगे, जो बाद में तिब्बत के राष्ट्रीय देवता बने। अपने आप विमुक्ति पाप्त करने का जो धर्म था वह अब न रहा। अब स्वयं स्वयंभू बुद्ध मनुष्यों की विमुक्ति की चिन्ता करने लगे और वह उन्हें मिलने भी लगी। चीन में सुखावती (त्सिङ्ग तु) सम्प्रदाय महायान के अन्तर्गत खूब चला। इस सम्प्रदाय के देवता अमिताभ बुद्ध एक प्रकार देवाधिदेव बन गये। अमिताभ कारुणिक पिता हैं, जिनकी शरण शताब्दियों से सुदूरपूर्व में असंख्य स्त्री-पुरुष लेते रहे हैं, "श्रद्धापूर्वक मैं अमिताभ की शरण जाता हूँ"। अमिताभ को नमस्कार करना मुक्ति का मार्ग है। 'नामु अमिता बुत्सु' (नमः अमित बुद्धाय) इस मन्त्र का करोड़ों की संख्या में प्रतिदिन जाप चीन और जापान में आज भी किया जाता है। वह उन्हें विपत्ति में आश्वासन देता है और दुःख में शान्ति। अमिताभ ने संकल्प किया है, "मैं स्त्रियों को भी तारूँगा।" अतः स्त्रियाँ भी उनके नाम को जप कर मुक्ति प्राप्त कर सकती हैं। स्त्रियों की विमुक्ति अमिताभ के संकल्प में सम्मिलित है। बुद्ध-भक्ति का सबसे अधिक प्रचार जापान में हुआ। वहाँ के मनीषी साधक भिक्षु होनेन् (१२ वीं शताब्दी) ने जोदो-शु (सुखावती सम्प्रदाय) की स्थापना कर बुद्ध-भक्ति को करोड़ों का आश्वासन बना दिया। होनेन् का कहना था कि कोई भी व्यक्ति चाहे मूर्ख हो, या पंडित, किसी भी वर्ग, समाज या देश का हो, यदि वह अमिताभ (जापानी अमिद) बुद्ध की अनन्त करुणा में श्रद्धा रखता है, तो वह संसार के सभी दुःखों और पापों से विमुक्त हो जाता है। ऐसा कहा जाता है कि मनीषी होनेन् ने त्रिपिटक की ५००० जिल्दों का पाँच बार पारायण किया था। जब वे एक दिन एक चीनी भिक्षु जैन्दो (सातवीं शताब्दी ईसवी) की किसी चीनी बौद्ध ग्रन्थ की टीका को पढ़ रहे थे, जिसमें अमिताभ सम्बन्धी उपदेश दिया गया था, तो उनकी अन्तर्दृष्टि इन शब्दों पर जम गई, "सब कुछ छोड़कर अमिताभ के नाम का अपने सम्पूर्ण हृदय से स्मरण करो"। उसी समय से भिक्षु होनेन् ने अपने सम्पूर्ण धार्मिक अध्ययन और अभ्यास को छोड़ दिया और प्रतिदिन बुद्ध अमिताभ के नाम का ६०,००० बार जप करने लगे। यह सन् ११७५ ई० की बात है। इस प्रकार सन् ११७५ में सुखावती सम्प्रदाय (जोदो-शु) की स्थापना हुई। अमिताभ के नाम को जप कर अधम प्राणी भी 'सुखावती लोक' में जन्म लेते हैं, ऐसा

जापान में आज भी दो करोड़ लोगों का जीवन्त विश्वास है। अमिताभ की अनन्त करुणा में मनुष्य को असीम आश्वासन है। उनकी करुणा सब कुछ है। मनुष्य की क्षमता, उसके पुण्य, उसका अभ्यास, उसका पुरुषार्थ, सब नगण्य है। जापान के महायानी साहित्य में, विशेषतः जोदो-शु सम्प्रदाय में, अमिताभ की करुणा का सिद्धान्त बार-बार प्रख्यापित किया गया है। होनेन् के शिष्य शिनरेन् का कहना है "बुद्ध की करुणा की प्रार्थना जितनी अधिक हो सके हमें करनी चाहिये। हम उनकी सहायता से ही, उनकी शक्ति से ही, लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अपनी स्वयं की शक्ति से हम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते, हम चाहे जितना प्रयत्न करें।" इस भावना में मानवीय पुरुषार्थ के ऊपर भागवती करुणा की, अमिताभ की कृपा की, स्थापना की गई है। एक अन्य स्थान पर पुरुषार्थ की अपूर्णता दिखाते हुए उन्होंने कहा है, "जो स्वयं अपनी शक्ति से पुण्य करना चाहता है वह अमिताभ के मुक्ति-सम्बन्धी संकल्प में सम्मिलित नहीं है। परन्तु जो अपनी शक्तियां में विश्वास रखते हुए भी अपने हृदय को अमिताभ की ओर मोड़ता है और विनम्रता-पूर्वक अपने सम्पूर्ण हृदय से सहायक अमिताभ की शक्ति में विश्वास रखता है, उसे अवश्य सच्चे जीवन की प्राप्ति होगी। हम किसी अन्य प्रकार संसार से अपने को मुक्त नहीं कर सकते, क्योंकि हम वासनाओं के बन्धनों से बँधे हुए हैं। चूंकि अमिताभ ने हम पर करुणा कर हमारी विमुक्ति के लिये संकल्प किया है, अनादिकाल से चूंकि उनका उद्देश्य ही रहा है पापी प्राणियों को बुद्धत्व प्राप्त कराना, इसलिये ऐसे पापी लोग जो अमिताभ में अपना विश्वास रक्खेंगे, सर्व प्रथम सच्चे जीवन में प्रवेश करेंगे। इस प्रकार यह वचन सत्य होगा, 'यदि पुण्यात्मा सच्चे जीवन में प्रवेश करेंगे, तो उनसे अधिक पापी भी ऐसा करेंगे"। इस प्रकार पापियों को महान् आश्वासन महायान ने दिया। शिनरेन् ने कहा है कि अमिताभ का नाम-जप ही पर्याप्त नहीं है। हमारे अन्दर गम्भीर श्रद्धा भी जमनी चाहिये। नाम-जाप के साथ आध्यात्मिक प्रामोद्य का अनुभव होना चाहिये। अक्सर ऐसा नहीं होता। इसलिये श्रद्धा को दृढ़ करने और आध्यात्मिक प्रसन्नता को उत्पन्न करने के लिये निम्नलिखित साधनों पर जोर दिया गया है:—

(१) गुरु के समीप जाकर सत्संग करना और बुद्ध-पूजा करना।

(२) धर्म-शास्त्रों का स्वाध्याय और उनके अनुसार आचरण।

(३) धीमी ध्वनि में 'नमु अमिदा बुत्सु' (नमः अमित बुद्धाय) मन्त्र का जप करना।

(४) चित-शुद्धि का उपाय करना।

अमिताभ की भक्ति से आश्वस्त जापानी बौद्धों का यह उद्गार कितना भक्ति-भाव से पूरित है:—

'उनके (अमिताभ) के सुखमय लोक में हम जन्म लेंगे, इसलिये हम आश्वस्त हैं,
हम उनके नाम को जपते हैं और उनमें हमारी श्रद्धा है,
भव-सागर के पार हम किसी अन्य प्रकार नहीं उतर सकते,
सिवाय अमिताभ के हम सबको तारने के संकल्प रूपी नाव में
बैठकर पार उतरने के'[1]।

सचमुच जापानी महायानी धर्म में पापियों के लिये बड़ी सान्त्वना है और महायान के भक्तिवाद ने इस प्रकार वहाँ अपने पूर्ण रूप को प्राप्त किया है।

प्रज्ञा पारमिताओं की बात यदि हम छोड़ दें तो बुद्ध-भक्ति के सर्व-प्रथम आचार्य अश्वघोष हुए हैं। यह एक अत्यन्त सार्थक बात है कि आचार्य अश्वघोष वैदिक साहित्य के एक पारंगत पण्डित थे और उन्होंने प्राचीन पौराणिक ज्ञान सम्बन्धी अपनी बहुज्ञता का जो परिचय दिया है वह तो भारतीय काव्य-साहित्य में अद्वितीय है। इस प्रकार के आचार्य के द्वारा प्रथम बार बुद्ध-भक्ति की साधना की गई, यह इस बात का निर्विवाद सूचक है कि भक्ति श्रौत परम्परा की भक्ति-धारा के परिणाम स्वरूप ही बौद्ध धर्म में आई है। अश्वघोष ने बौद्ध धर्म की जो व्याख्या की वह भी ऐसी थी जो उसे उपनिषदों के दर्शन के समीप ले आई है, यह हम आगे चलकर देखेंगे। यहाँ हमें यही देखना है कि आर्य अश्वघोष प्रथम विचारक थे जिन्होंने बुद्ध-भक्ति को प्रश्रय दिया। उनके बाद प्रायः सभी महायानी ग्रन्थों में तो बुद्ध-भक्ति का प्रख्यापन है ही, महायान के भक्तिवाद का सर्वोत्तम भावुक रूप हमें शान्तिदेव (सातवीं-आठवीं शताब्दी ईसवी) की रचनाओं 'बोधि-चर्यावतार' और 'शिक्षासमुच्चय' में मिलता है। शान्तिदेव तो सचमुच बौद्धों के तुलसीदास जैसे ही लगते हैं। वही दीनता, वही पाप-विमुक्ति के लिये हृदय की व्याकुलता, वही बुद्ध की पूजा और वन्दना, वही भक्त की सी

---

(१) मसाहरु अनेसाकि : हिस्ट्री ऑव जापानीज रिलिजन, पृष्ठ १८५

तल्लीनता, वही आत्मविस्मृति, वही आत्म-समर्पण की महती भावना ! आश्चर्य तो यह है कि इस भिक्षु-महाकवि ने बुद्ध और बोधिसत्त्वों के दास होने की बात भी कही है। बौद्ध धर्म में दास्य-भक्ति का सन्देश लाने वाले यह प्रथम भिक्षु-साधक हैं। वही दास-भक्त की सी दीनता शान्तिदेव में है, वही आत्मोत्सर्ग की प्रवृत्ति, वही अपने उपास्य के साथ तादात्म्य की छटपटाहट और बौद्ध नैतिक आदर्शवाद की पूरी अभिव्यक्ति के साथ। तुलसीदास की भक्ति का भी नैतिक अधिष्ठान है। शान्तिदेव सब प्रकार तुलसीदास के पूर्व रूप जैसे लगते हैं और आश्चर्य यह है कि वे बौद्ध भिक्षु हैं, शून्यवादी ! बौद्ध भक्ति के सर्वोत्त म रूप के उनकी रचनाओं में हमें दर्शन होते हैं। बोधिसत्व की साधना बोधि-चित्त के उत्पाद से आरम्भ होती है। परन्तु स्वयं बोधि-चित्त को उत्पन्न करने के लिये भक्ति आवश्यक है। 'शिक्षा समुच्चय' और 'बोधिचर्यावतार' में बोधि-चित्त की उत्पत्ति के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक मानी गई हैं, जिन्हें हम बौद्ध-भक्ति के अङ्ग कह सकते हैं:—

(१) **वन्दना और पूजा**—बुद्ध और बोधिसत्वों की वन्दना आवश्यक है और उनकी पूजा भी। शान्तिदेव संसार के सारे पदार्थों से बोधिसत्व की पूजा करना चाहते हैं। वे संसार के सारे पुष्प, सारे वृक्ष, सारे फल, भगवान् को अर्पण करते हैं। परन्तु दूसरे क्षण उन्हें ध्यान आता है, ये तो मेरे नहीं हैं। तब वे कहते हैं "मैं अपने आपको जिन (बुद्ध) को समर्पित करता हूँ। मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से बोधिसत्वों के प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ। हे कारुणिक प्राणियो ! मुझ पर अधिकार करो। मैं प्रेम के द्वारा तुम्हारा दास हो गया हूँ[१]।" कितनी व्याकुलता है शान्तिदेव के आत्म समर्पण में ! भिक्षु जैसे वैष्णव भक्त बन गये हैं, केवल उनके प्रभु भगवान् बुद्ध और बोधिसत्व हैं। वे अपने भगवान् की प्रत्येक तुच्छ से तुच्छ सेवा करने को तैयार हैं। पूरा आत्म समर्पण हमें शान्तिदेव की भक्ति-साधना में मिलता है।

(२) **शरण-गमन**—मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस प्रकार की प्रत्येक क्षण अनुभूति साधक को करनी चाहिये। त्रिशरण की योजना में संघ का स्थान बोधिसत्वों ने महायान में ले लिया है, यह याद रखना चाहिये। शरणागति महायान में अधिक महत्वपूर्ण हो गई है, यह बताने की आवश्यकता नहीं।

(३) **पाप-देशना**—भिक्षु-कवि अपने पाप-कर्मों का उद्घाटन करता है। पाप-विमुक्ति के लिये उसकी छटपटाहट किसी वैष्णव भक्त-कवि से

(१) **बोधिचर्यावतार** २।८

कम नहीं है। वह अपने को पापी कहता है। 'मो सो कौन कुटिल खल कामी' उसकी भावना के सम्बन्ध में पूरी तरह कही जा सकती है। वह पूर्व-कृत पाप के लिये प्रायश्चित करता है, आगे पाप न करने के लिये संकल्प करता है। वह सफलता के लिये बोधिसत्व की शरण में जाता है। उसकी आत्मा बिलखती है, "जो भी पाप कर्म मैंने इस जीवन या अतीत जीवनों में किये हैं या दूसरों को करने की प्रेरणा की है, उन सबको मैं स्वीकार करता हूँ। मैं पश्चात्ताप से जल रहा हूँ। मैंने अपने अज्ञान से मृत्यु को प्राप्त किया है। हे मुनियो! मैंने अपने मन और शरीर से त्रिरत्न के विरोध में अनेक पाप किये हैं, मैं उन सबको स्वीकार करता हूँ। मैं अनेक अपराधों को करनेवाला पापी हूँ। मैं कैसे पाप से विमुक्ति प्राप्त करूँगा। मैं अत्यन्त भयभीत हूँ कि पापों का भार फेंकने से पूर्व ही मैं कहीं न मर जाऊँ"[1]। शान्तिदेव पापों से विमुक्ति प्राप्त करने के लिये बोधिसत्व की सहायता की याचना करते हैं। वे कहते हैं कि वे बुद्ध की शिक्षाओं का उसी प्रकार अनुसरण करेंगे जैसे रोगी वैद्य का।

(४) पुण्यानुमोदना—कवि-साधक दूसरों के पुण्यों का अनुमोदन करता है, दूसरों के अच्छे कृत्यों को देखकर उनकी प्रशंसा करता है और प्रसन्नता अनुभव करता है[2]।

(५) अध्येषणा—(प्रार्थना) और याचना—भगवान् बुद्ध से प्रार्थना करता है, याचना करता है, उपदेश देने के लिये। वह चाहता है कि भगवान् स्वयं महापरिनिर्वाण में प्रवेश न कर उसके अनुकम्पार्थ उपदेश करें[3]।

(६) आत्मभावादिपरित्याग—भिक्षु-साधक अहंभाव के निरोध का प्रयत्न करता है। विश्व के साथ तादात्म्य प्राप्त करने की उसकी जितनी व्याकुलता है उतनी तो किसी वेदान्ती की भी नहीं देखी गई। बीमारों के लिये वह औषध बनना चाहता है। जो रोगी हैं उनके लिये वह वैद्य बनकर परिचर्या करना चाहता है, जो आदमी उसे गाली देते हैं या उसकी हानि करते हैं उनके लिये उसकी कामना है कि वे भी निर्वाण प्राप्त करें। सब कुछ का उत्सर्ग कर देना ही निर्वाण है और इसी में भिक्षु-साधक का मन लगा है। उसकी कामना है कि जो कुछ भी पुण्य उसने शुभ कर्मों के द्वारा

(१) देखिये बोधिचर्यावतार २।२८–३२
(२) देखिये बोधिचर्यावतार ३।१–३
(३) देखिये वहीं ३।४–५

कमाया है, उससे सम्पूर्ण दुःखी प्राणियों का दुःख दूर हो, उनके दुःख की शान्ति हो[1]। जबकि शान्तिदेव की विनम्रता, अहंभाव का निरोध, बुद्ध-वन्दना और तल्लीनता सब वैष्णव भक्तों की सी हैं, एक बात उनमें उनसे बढ़कर है। दुःखी प्राणियों के साथ आत्मसात् होने की उनकी व्याकुलता वैष्णव भक्तों की इस सम्बन्धी भावना से काफी बढ़कर है। तुलसीदास जी भी वैसे तो भावना करते हैं कि 'परहितनिरत निरन्तर मनक्रम बचन नेम निबहोंगे', परन्तु यह भक्त साधक कभी-कभी अपनी असमर्थता देखकर 'को करि सोचु मरे तुलसी हम जानकिनाथ के हाथ बिकाने' भी कहने लगते हैं। परन्तु बौद्ध साधक के हृदय में दुःखी प्राणियों के हृदय में पैठकर उनके दुःख को बाँटने की जो अकुलाहट है, वह तो बिल्कुल उनकी अपनी है, बौद्ध साधना की है। एकात्मबोध की अपनी इस अनुभूति में बौद्ध साधक जैसे वेदान्ती और वैष्णव भक्त दोनों को पीछे छोड़ गये हैं। शान्तिदेव की भक्ति-विभोर पंक्तियों को पढ़कर यह निष्कर्ष मन पर अपनी छाप छोड़ जाता है। बौद्ध साधक ने कहा है "जैसे अपने निरात्मक शरीर में अभ्यास से आत्मबुद्धि होती है, वैसे ही दूसरों में भी अभ्यास से आत्मबुद्धि क्यों न हो[2] ?" हम यहाँ देखते हैं कि बौद्ध दर्शन अपनी मौलिक भूमि (अनात्मवाद) को छोड़कर एकात्म बोध रूप अद्वैत-भूमि की ओर प्रगमन कर रहा है और यह सातवीं शताब्दी ईसवी है। । भिक्षु साधक की कामना है, "मुझे दूसरों का दुःख देखकर निजी दुःख की तरह ही उसे दूर करना चाहिये। जैसे मेरे सत्त्व हैं वैसे ही उनके सत्त्व है। इसलिये अपने सत्त्व की तरह मुझे उनपर भी अनुग्रह करना चाहिये[3]।" वह दूसरों के दुःख को अपने ऊपर लेना चाहता है। अपने और पराये के भेद को मिटाने की उसकी साध है[4]।

(१) एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मया साधितं शुभम्। तेन स्यां सर्वभूतानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥ बोधिचर्यावतार ३।६

(२) यथात्मबुद्धिरभ्यासात्स्वकायेऽस्मिन्निरात्मके। परेष्वपि तथात्मत्वं किमभ्यासान्न जायते॥ बोधिचर्यावतार ८।११५

(३) महाऽन्यदुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत्। अनुग्राह्या मयाऽन्येऽपि सत्वत्वादात्मसत्त्ववत्। बोधिचर्यावतार ८।९४

(४) यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्। तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम्॥ कवि-साधक की इस सम्बन्धी पूरी भावनाओं के लिये देखिये बोधिचर्यावतार ३।६–१९

इस प्रकार हमने महायान में गृहीत भक्ति-भाव पर कुछ विचार किया है। इस लेखक का विचार है कि वैष्णव-भक्ति परम्परा में दीनता, निरभिमानिता, भर्त्सना, भय-दर्शन, मनोराज्य, आश्वासन और विचारणा आदि जो विनय के लिये आवश्यक तत्व माने गये हैं और जिन्हें विनयपत्रिका आदि ग्रन्थों में भली प्रकार देखा जा सकता है, शान्तिदेव की भक्ति-विभोर रचनाओं में भी उन्हें पूरी तरह ढूढ़ा जा सकता है। अब हम महायान की प्रतिष्ठा स्वरूप उसके बोधिसत्व-सिद्धान्त पर आते हैं।

महायान ने एक अद्वितीय महिमाशाली सिद्धान्त का उद्भावन किया है और वह है बोधिसत्व-सम्बन्धी सिद्धान्त। वस्तुतः महायान बोधिसत्त्व-यान ही है। अतः उसमें बोधिसत्व सिद्धान्त का आधारभूत

बोधिसत्त्व सम्बन्धी सिद्धान्त और स्थविरवादी अर्हत् आदर्श से उसकी तुलना

महत्त्व आसानी से समझा जा सकता है। 'बोधिसत्त्व' शब्द का प्रयोग पालि निकायों में अनेक बार हुआ है। दीघ-निकाय के महापदान-सुत्त और मज्झिम-निकाय के अच्छरियब्भुतधम्म-सुत्त जैसे अनेक सुत्तों में हम इस प्रकार के वाक्य पढ़ते हैं, 'बुद्ध होने से पूर्व जबकि मैं बोधिसत्त्व ही था।' यहाँ 'बोधिसत्त्व' शब्द का अर्थ बोधि के लिये यत्नशील प्राणी होता है। भगवान् बुद्ध इस प्रकार अपने पूर्व-जन्मों में जबकि वे बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये साधना कर रहे थे, बोधिसत्त्व थे। बोधिसत्त्व ही आगे चलकर बुद्ध बनता है। इसी अर्थ में भगवान बुद्ध अपने पूर्व-जन्मों बोधिसत्त्व कहे गये हैं। जातकों की कहानियाँ बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्धित हैं, अर्थात् वे बोधिसत्त्वों की कहानियां हैं। इस प्रकार बोधिसत्त्व का विचार पालि साहित्य में सुप्रतिष्ठित है, परन्तु महायान ने इसे एक निश्चित और व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में विकसित किया है।

महायान के अनुसार बोधिसत्त्व वह महाप्राणी है जो अपने व्यक्तिगत निर्वाण को प्राप्त होने पर भी तब तक उसे स्वीकार नहीं करता जब तक कि विश्व के अन्य सब प्राणी मुक्त न हो जायँ। वह पर-विमुक्ति के लिये आत्म-विमुक्ति का उत्सर्ग करता है। अपनी मोक्ष की स्पृहा को पर-कल्याण के लिये छोड़ता है। आत्म-विमुक्ति से सेवा उसके लिये बड़ी है। निर्वाण उसके लिये स्वार्थ है, क्षुद्र आदर्श है। पर-सेवा के लिये, दूसरों को दुःख से विमुक्त करने के लिये, अपने परमार्थ का भी उत्सर्ग करदेना, यही

उसके लिये सत्य का महान् मार्ग है, महायान है। वस्तुतः स्वार्थ के ऊपर परार्थ की प्रतिष्ठा ही महायान है, बोधिसत्वों का यान है।

महायान की मान्यता के अनुसार साधकों की तीन श्रेणियाँ हैं, श्रावक प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्त्व। श्रावक (शिष्य) वे साधारण योग्यता के पुरुष हैं जो केवल अर्हत्त्व के आदर्श को प्राप्त कर सन्तुष्ट हो जाते हैं। अर्हत्त्व का आदर्श क्या है, यह हम अभी देखेंगे। प्रत्येकबुद्ध वे प्राणी हैं जो अपने आपके लिये अर्थात् व्यक्तिगत रूप से (प्रत्येक) बुद्ध या ज्ञानी होते हैं और अपने निर्वाण को बिना किसी गुरु की सहायता के (अनाचार्यकम्) खोज लेते हैं, परन्तु जो दूसरों को उपदेश देकर उन्हें निर्वाण प्राप्त करने के लिये सहायता करने में असमर्थ होते हैं। प्रत्येकबुद्ध केवल अपने निर्वाण को जानने वाले हैं; दूसरों को निर्वाण प्राप्त कराने की क्षमता उनमें नहीं होती। बोधिसत्त्व वे महाप्राणी हैं जो सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के लिये उद्योग करते हैं और व्यक्तिगत निर्वाण का निषेध कर पर-सेवा में रत रहते हैं। श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्त्व, साधकों की इन तीन श्रेणियों के अनुरूप तीन प्रकार की बोधियाँ हैं और तीन प्रकार के यान जो साधनावस्था के तीन विभिन्न नहीं बल्कि क्रमिक विकसित होने वाले स्वरूप हैं। श्रावक-बोधि, प्रत्येक-बोधि और अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि ये तीन बोधियां हैं, जो क्रमशः श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्त्व से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार इन्हीं से सम्बन्धित तीन यान हैं, यथा श्रावक-यान, प्रत्येक बुद्धयान और महायान। "त्रीणि यानानि श्रावकयानं, प्रत्येक बुद्धयानं महायानं च"। 'यान' शब्द का अर्थ महायान के प्राथमिक विकास में 'मार्ग' था[1] और फिर बाद में वह 'वाहन' भी हो गया। सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र (तृतीय अध्याय) में इस शब्द का प्रयोग 'वाहन' के अर्थ में ही किया गया है! 'श्रावक' शब्द का प्रयोग महायानी साहित्य में बुद्ध के प्रथम शिष्यों के लिये किया गया है, जिनका वर्णन पालि त्रिपिटक में है। श्रावक और अर्हत् शब्दों का प्रयोग इस प्रकार समान अर्थों में सद्धर्मपुण्डरीक में किया गया है। पहले 'अर्हत्' शब्द का प्रचलन महायानी साहित्य में अधिक था परन्तु बाद में 'श्रावक' शब्द का प्रयोग अधिक हो गया और अर्हत् शब्द बहुत कम व्यवहार होने

(१) उपनिषदों को भी प्रायः यही अर्थ मान्य है। देखिये 'देवयानस्य पितृयानस्य च' आदि छान्दोग्य ५।३।२; देखिये पीछे पृष्ठ ४४ पदसंकेत ३ भी।

लगा। श्रावक-यान और प्रत्येक बुद्ध-यान इन दोनों यानों को महायान ने 'हीन' कहा है क्योंकि ये केवल अपने आस्रवों का क्षय करके निर्वाण की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, परन्तु बोधिसत्त्व का लक्ष्य होता है बोधि या बुद्धज्ञान की प्राप्ति करना। इस प्रकार अर्हत् से ऊपर बोधिसत्त्व है। यह बात यहाँ अत्यधिक ध्यान देने की है कि महायान ने अर्हत् के आदर्श को निर्वाण बताया है परन्तु बोधिसत्त्व के लक्ष्य के सम्बन्ध में उसने सदा 'अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार उसने सम्यक् सम्बोधि को, जिसके लिये बोधिसत्त्व प्रयत्नशील होता है, एक उच्चतर आध्यात्मिक स्थिति माना है अपेक्षाकृत निर्वाण के जो अर्हत् का आदर्श है। निर्वाण के ऊपर बोधि का स्थान महायान ने रक्खा है जिस प्रकार अर्हत् के ऊपर बोधिसत्त्व का। बोधिसत्त्व बोधि के लिये प्रयत्नशील होता है और निर्वाण का निषेध करता है क्योंकि दुःखपूर्ण संसार में जन-सेवा करनी है, लोगों को दुःख विमुक्त करना है। स्वयं निर्वाण की कामना न करते हुए भी बोधिसत्त्व दूसरों को निर्वाण पर लगा सकता है जबकि वह स्वयं केवल अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि के लिये ही प्रयत्नशील होता है। सद्धर्मपुण्डरीक में स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि अर्हत् को, जिसके अस्राव क्षीण हो गये हैं, आगे बढ़ना चाहिये और अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये[1]। निर्वाण अन्तिम नहीं है उसके बाद तथागतज्ञान के द्वारा सम्यक् सम्बोधि की खोज करनी चाहिये[2]। इस प्रकार महायान ने अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि को निर्वाण से भिन्न और उच्चतर स्थिति देदी है, जबकि पालि निकायों के आधार पर उनमें इस प्रकार का विभेद नहीं किया जा सकता।

अर्हत् का आदर्श क्या है? क्यों और किस प्रकार महायान को उसके ऊपर बोधिसत्त्व-सिद्धान्त को स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी? भगवान् बुद्ध के मूल उपदेशों में, जो पालि निकायों में निहित हैं, अर्हत्त्व की प्राप्ति को ब्रह्मचर्य का, जीवन-साधना का, अन्तिम लक्ष्य बताया गया है। इस प्रकार 'अर्हत्' पद की प्राप्ति वहाँ एक बड़ा गौरव है। स्वयं भगवान् बुद्ध 'अर्हत्' कहे गये हैं। हम जानते हैं कि स्वयं भगवान् बुद्ध के चिर उपस्थाक शिष्य आनन्द, जो छाया की तरह भगवान् के पीछे घूमते थे और अत्यन्त उच्च

(१) देखिये ४३।११; १३७।५; १४२।३
(२) सद्धर्मपुण्डरीक २१०।१-४

कोटि के साधक भी थे, भगवान् के परिनिर्वाण-काल तक अर्हत्त्व प्राप्त नहीं कर पाये थे। अतः अर्हत्व प्राप्त करना कोई साधारण कार्य प्राथमिक बौद्ध साधना में नहीं था। जिस उपपद को स्वयं भगवान् धारण करते हैं, वह अल्प न होगा, ऐसा आसानी से समझा जा सकता है। हम प्रति दिन स्मरण करते हैं 'तिपि सो भगवा अरहं'। इस प्रकार अर्हत् रूप में ही हम उन्हें स्मरण करते हैं। अर्हत् शब्द का संक्षिप्त अर्थ है कृत-कार्य पुरुष। 'जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्यवास समाप्त हुआ, जो कुछ करना था वह कर लिया गया, अब आगे कुछ करने को नहीं है,[१]' इस प्रकार की अनुभूति अर्हतों को होती है। अर्हतों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे क्षीणास्रव, ब्रह्मचर्य का पूर्ण जीवन रहे हुए, कृत करणीय, मुक्त-भार, परमार्थ प्राप्त, क्षीण-संयोजन और सम्यक् ज्ञान के द्वारा मुक्त महापुरुष होते हैं[२]। तीनों आस्रव (काम, भव, अविद्या) उनके नष्ट हुए रहते हैं, तीन अकुशल-मूलों (लोभ, द्वेष, मोह) से वे विमुक्त होते हैं, पाँच नीवरण उनके प्रहीण हो गये हैं। अर्हत् वे हैं जिन्होंने सात बोध्यङ्गों की भावना की है, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का पूर्ण अभ्यास किया है, शील, समाधि और प्रज्ञा का आचरण किया है, जिनके सभी चित्त-मल प्रहीण हो गये हैं, जिन्होंने छह अभिज्ञाएं प्राप्त करली हैं, दस संयोजनों को नष्ट कर दिया है, ब्रह्म-विहार में जिनकी नित्य स्थिति है, जो ब्रह्मभूत हैं, धर्मभूत हैं, आदि। अनेक पालि सुत्तों में अर्हत् के लक्षणों पर विचार किया गया है[३] और यह हम जानते हैं कि वहां नैतिक जीवन की दृष्टि ही प्रधान है।

---

(१) खीणाजाति वुसितं ब्रह्मचरियं कतं करणीयं, नापरं इत्थत्तायाति। वत्थूपम सुत्तन्त (मज्झिम १।१।७) तथा त्रिपिटक में अन्य अनेक स्थलों में। अर्हत् की इस कृतकृत्यता सम्बन्धी अवस्था को दिव्यावदान (३७, १४–१६) में भी उद्धृत किया गया है।

(२) ये ते भिक्खू अरहन्तो खीणासवा वुसितवन्तो कतकरणीया, ओहितभारा अनुप्पत्तसदत्था, परिक्खीणभवसंयोजना, सम्मदञ्ञाविमुत्ता अलगद्दूपम-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।२)

(३) अर्हत्-दशा के वर्णन के लिये देखिये मुख्यतः विनय-पिटक-महावग्ग, कस्सपसीहनाद-सुत्त (दीघ, १।८) सब्बासव-सुत्तन्त (मज्झिम, १।१।२); पासादिक-सुत्त (दीघ, ३।६); महा सकुलुदायि-सुत्तन्त (मज्झिम० २।३।७)

विराग की भावना भी अवश्यम्भावी रूप से प्रधानता लिये हुए है। प्रत्येक अर्हत् को यह अनुभूति होती हुई दिखाई गई है कि 'जो कुछ समुदय-धर्म है सब-निरोध धर्म है[१] ।' इस प्रकार के धर्म चक्षु के उत्पन्न होने पर ही अर्हत्त्व की प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार भगवान् ने अर्हत्त्व का उपदेश दिया था और साधना की उच्चतम स्थिति के रूप में उन्होंने उसे स्वीकार किया था। यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् ने अर्हत् का आदर्श एक आत्ममुक्तिगवेषी साधक के रूप में ही रक्खा था। पर-कल्याण की भावना भी उसमें अपना उचित स्थान लिये हुए थी। यह ठीक है कि भगवान् ने बार-बार कहा था कि 'भिक्षुओ! ध्यान करो।' 'झाय भिक्खू'[२]। 'भिक्षुओ समाधि की भावना करो' 'समाधिं भिक्खवे भावेथ।' वृक्ष-मूलों और शून्यागारों में जाकर ध्यान करने की उन्होंने बात अनेक बार कही थी[३]। 'भिक्षु एकान्त-ध्यान की वृद्धि करे'। 'विवेकमनुब्रूहये[४] ऐसा उनका अनेकबार उपदेश था । लोगों की भीड़-भाड़ स्वयं भगवान् बुद्ध को पसन्द नहीं थी। उनका पारिल्लेयक वन में जाना पालि साहित्य के सब विद्यार्थियों को स्मरण है[५]। गैंडे की तरह एकान्तचारी होना स्वयं भगवान् बुद्ध को कभी-कभी पसन्द था[६], यद्यपि लोकानुकम्पावश वे प्राय: जनता के बीच ही रहते थे। अकेला होना प्रारम्भिक बौद्ध साधकों के लिये ब्रह्मा के समान था। दो होने पर वे देवता की कोटि में आजाते थे और तीन होने पर तो गाँव था। इससे अधिक तो

बक्कुल-सुत्तन्त (मज्झिम, ३।३।४) चेतोखिलसुत्तन्त (मज्झिम१।२।६); छब्बिसोधन-सुत्तन्त (मज्झिम, ३।२।२) खन्ध संयुत्त (संयुत्त-निकाय) सडायतन-संयुत्त (संयुत्त-निकाय); वासेट्ठ-सुत्त (सुत्त-निपात), सुमन वग्ग (अंगुत्तर–निकाय), देवता-वग्ग (अंगुत्तर-निकाय) आदि,आदि ।

(१) यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मंति । विनय पिटक-महावग्ग ।

(२) धम्मपद २५।१२

(३) देखिये इन्द्रिय भावना–सुत्तन्त (मज्झिम ३।५।१०); मिलाइये पटिसल्लानसुत्त (इतिवुत्तक २।२।८) भी जहां भगवान् ने भिक्षुओं से कहा है 'ब्रूहेता सुञ्ञागारानं' अर्थात् शून्यागारों में जाकर ध्यान की वृद्धि करो।

(४) सुत्त-निपात

(५) देखिये भिक्खु संयुत्त (संयुत्त-निकाय)

(६) देखिये खग्गविसाण-सुत्त (सुत्त-निपात)

उनके लिये कोलाहल ही था[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकान्त साधना की प्रारम्भिक बौद्ध साधना में प्रमुखता अवश्य थी। परन्तु अत्यन्त सार्थक तथ्य यह है कि यह लोक-सेवा के या जन-कल्याण के विपरीत बात वहाँ कभी नहीं मानी गई थी। बल्कि यह तो उसके लिये एक तैयारी ही थी। एकान्त ध्यान और लोक-कल्याण दोनों में विरोध नहीं है। स्वयं भगवान् तथागत ने कहा था, "भिक्षुओ! दो संकल्प तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को बहुधा हुआ करते हैं—एकान्त ध्यान का संकल्प और प्राणियों के हित का संकल्प[२]।" इसलिये एक ओर जब वे अपने शिष्यों से कहते थे कि 'पविवेकारामा भिक्खवे विहरथ पविवेकरता' (भिक्षुओ! एकान्त ध्यान में सुख लेते हुए बिहरो, एकान्त ध्यान में रत) तो दूसरी ओर उतने ही बलपूर्वक कहते थे 'बहुजनों के हितार्थ भिक्षुओ! घूमो, बहुजनों के सुखार्थ। आत्म-कल्याण और पर-कल्याण में वहाँ कोई विभाजक रेखा नहीं थी।' प्राणियों के हित का संकल्प यदि तथागत में न होता तो वे उपदेश ही क्यों करते? हम देखते हैं कि बोधि प्राप्त करने के बाद भगवान् को उपदेश की इच्छा नहीं हुई थी। ऐसा भी कहा गया है कि यह मार का भगवान् को प्रलोभित करने का अन्तिम प्रयत्न था। मार ने आकर कहा, 'अब तो आपने निर्वाण प्राप्त कर लिया। आपके जीवन की साध पूरी हुई। अब आप परिनिर्वाण में प्रवेश करें।' तथागत सात रात तक बोधि के अनुत्तर सुख का अनुभव करते हुए एक आसन से बैठे रहे। उनके चित्त में भावना उठ रही थी, क्यों न इस अद्वितीय समाधि-सुख का अनुभव करते ही विहरूँ ब्रह्मा की याचना हुई। 'लोक दुःखी है! हे समन्तचक्षु! दुःखी जनताओं को देखो।' बुद्ध-नेत्रों से करुणापूर्वक लोक का अवलोकन किया गया। मार का प्रयत्न विफल गया। सम्यक् सम्बुद्ध ने लोक का शास्ता बनना स्वीकार कर लिया। निर्णय हो गया। लोक के उद्धार का संकल्प किया गया। आत्म-सुख का उत्सर्ग कर, एकान्त समाधि-सुख को छोड़कर, तथागत ने लोक में अमृत-दुन्दुभी बजाने का संकल्प किया। तथागत का यह संकल्प, उनका यह निर्णय, ही वह चट्टान है जिस पर महायान का सम्पूर्ण दर्शन

(१) यथा ब्रह्मा तथा एको यथा देवो तथा दुवे। यथा गामो तथा तयो, कोलाहलं तदुत्तरिं ति। थेरगाथा, गाथा २४५

(२) तथागतं भिक्खवे सम्मासम्बुद्धं द्वे वितक्का बहुलं समुदाचरन्ति खेमो च वितक्को पविवेको च। वितक्क-सुत्त (इतिवुत्तक २।२।९)

आधारित है। आत्मार्थ को छोड़कर परार्थ की सिद्धि तथागत ने अपने जीवन में की, उसी का आधार लेकर सम्पूर्ण महायान-दर्शन विकसित किया गया है। अतः वह अपने सम्पूर्ण अर्थों में बुद्ध-धर्म पर ही आधारित है। ऐसा लगता है कि जिन शताब्दियों में महायान का आविर्भाव हुआ उस युग में बौद्ध भिक्षु एकान्त साधक अधिक हो गये थे और प्रव्रज्या के आदर्श का वे एक संकुचित अर्थ लेने लगे थे। उसी के प्रतिक्रिया स्वरूप महायान का आविर्भाव हुआ जिसने दूसरे छोर पर जाकर लोक-सेवा और परानुकम्पा को अत्यधिक महत्व दिया और आन्तरिक साधना को, जिसके बिना सब छूंछा है, कुछ अल्प स्थान दिया। यही कारण है कि महायान में आध्यात्मिकता के बजाय सामाजिकता कुछ अधिक आगई, वह अन्तर्मुख होने के बजाय बहिर्मुख अधिक हो गया। जैसा हम अभी कह चुके हैं, बुद्ध के मौलिक उपदेशों में आत्म-कल्याण और परकल्याण, आत्मार्थ और परार्थ, ध्यान और सेवा, दोनों का उचित सयोग है। आन्तरिक साधना पर जोर देते हुए भी भगवान् ने भिक्षुओं को बहुजन हितार्थ, बहुजन कल्याणार्थ, लोक की अनुकम्पार्थ, चारों ओर घूमने के लिये कहा था[१]। इससे अधिक महायान ने और क्या कहा है? जातक की निदान-कथा में, जो स्थविरवादी साहित्य का ही अङ्ग है, बोधिसत्व को यह कहते दिखाया गया है, "मुझ शक्तिशाली पुरुष के लिये अकेले तर जाने से क्या लाभ? मैं तो सर्वज्ञता को प्राप्त कर देवताओं सहित इस सारे लोक को तारूँगा[२]" वस्तुतः सम्पूर्ण महायानी बोधिसत्व-सिद्धान्त भी तो इतना ही है।

अब हम बोधिसत्वों की लोककल्याणमयी भावनाओं का कुछ दिग्दर्शन करें। 'मेरा ऐसा कोई कुशल-मूल (पुण्य-मूल) न हो जो दूसरे प्राणियों का उपजीव्य न बने' यह बोधिसत्वों की प्रतिनिधि भावना कही जा सकती है। 'माभूत् तन्मम कुशलमूलं यन्न सर्वसत्वोपजीव्यं स्यात्'। वे अपने सब पुण्य कर्मों को दूसरे प्राणियों का उपजीव्य बनाना चाहते हैं। अपनी साधना का परार्थ उपयोग करना चाहते हैं। "मैं परिनिर्वाण में प्रवेश नहीं करूँगा, जब तक कि विश्व के अन्य सब प्राणी विमुक्ति प्राप्त न करलें[३]" यह बोधिसत्वों

(१) चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। विनय-पिटक—महावग्ग।

(२) किं मे एकेन तिण्णेन पुरिसेन थामदस्सिना सब्बञ्ञुतं पापुणित्वा सन्तारेस्सं सदेवकं। जातकट्ठकथा—निदान कथा।

(३) लङ्कावतार सूत्र ६६।६

की भावना का मूल कहा जा सकता है। प्राणियों को दुःख से मुक्ति दिलवाने में जो आनन्द है वह स्वकीय निर्वाण-प्राप्ति में कहाँ है? निर्वाण-पद या मोक्ष का निषेध तो तुलसीदास जैसे भक्तों ने भी किया है, परन्तु इसलिये कि वे जन्म-जन्म में रामपद-भक्ति का आनन्द लेना चाहते हैं। बौद्ध साधकों ने जब निर्वाण का तिरस्कार किया है तो उनका कारण कुछ दूसरा है। शान्तिदेव कहते हैं, "प्राणियों की विमुक्ति के समय जो आनन्द के सागर उमड़ते हैं वही पर्याप्त हैं, रस विहीन मोक्ष का क्या करना?[१]" सेवा के द्वारा दूसरों को दुःख-विमुक्त करने का आनन्द निर्वाण के आनन्द से बड़ा है। बोधिसत्व का संकल्प है कि, "मैं सब प्राणियों को मुक्ति दिलवाऊँगा। जब तक एक भी प्राणी बाकी है मैं बिना निर्वाण प्राप्त किये ठहरा रहूँगा[२]।" महायान की यह मान्यता है कि सब प्राणी किसी न-किसी दिन अवश्य विमुक्ति प्राप्त करेंगे। सबको अवश्यम्भावी रूप से निर्वाण प्राप्त करना है। सब किसी-न-किसी दिन अवश्य बुद्ध होंगे।[३] सब सत्वों की मुक्ति के अभिलाषी बोधिसत्वों की भावना का निरूपण करते हुए शान्तिदेव ने कितने सुन्दर शब्दों में कहा है "मैं अनाथों का नाथ बनूंगा, यात्रियों का मैं सार्थवाह बनूँगा, पार जाने की इच्छा वालों के लिये मैं नाव बनूंगा, मैं उनके लिये सेतु बनूँगा, घरनियां बनूँगा। दीपक चाहने वालों के लिये मैं दीपक बनूंगा, जिन्हें शय्या की आवश्यकता है उनके लिये मैं शय्या बनूँगा, जिनको दास की आवश्यकता है उनके लिये मैं दास भी बनूँगा। इस प्रकार मैं सब प्राणियों की सेवा करूँगा[४]।" जिस प्रकार पृथ्वी, अग्नि आदि भौतिक वस्तुएँ सम्पूर्ण आकाश (विश्वमंडल) में बसे प्राणियों के सुख का कारण होती हैं। उसी प्रकार आकाश के नीचे रहनेवाले सब प्राणियों का मैं उपजीव्य बनकर रहना चाहता हूँ जब तक कि वे सब मुक्ति प्राप्त

(१) मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ॥ बोधिचर्यावतार ८।१०८

(२) शिक्षासमुच्चय १४।८

(३) देखिये सद्धर्मपुण्डरीक ११६।२; २०३।११; १३१।१२; ३७८।३

(४) अनाथानामहं दासः सार्थवाहश्च यायिनाम्। पारेप्सूनां च नौभूतः सेतुः संक्रम एव च।
दीपार्थिनामहं दीपः शय्या शय्यार्थिनामहं।
दासार्थिनामहंदासो भवेयं सर्वदेहिनाम्॥ बोधिचर्यावतार ३।१७-१८

न करलें[1]। कितनी उदात्त भावना है! विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात् करने की कितनी विह्वलता है! परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है। यही महायान की आत्मा है, जिसकी अभिव्यक्ति केवल कल्पना में ही नहीं, बल्कि लोक-सेवा के साक्षात् रूप में भी हुई है। चीन-जापान आदि देशों में इन भावनाओं का प्रभाव लोकसेवा की धार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में भली प्रकार देखा जा सकता है। यह आकस्मिक नहीं है कि लोकेश्वर बोधिसत्व धर्मशालाओं और आरोग्यशालाओं के अधिष्ठातृदेव माने गये हैं। वे रोगियों पर अनुकम्पा करनेवाले बोधिसत्त्व हैं और उनके प्रति पूजा-बुद्धि से प्रेरित होकर अनेक औषधालय और चिकित्सालय दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में विशेषतः हिन्द-चीन में खोले गये हैं। भिक्षु-धर्म के साथ सेवा-कार्य को मिलाकर निश्चयतः महायान ने बौद्ध धर्म की बड़ी सेवा की और इसके मूर्त रूप को हम आज भी बौद्ध देशों में देख सकते हैं जहां बौद्ध निष्क्रिय जीवन न बिताकर लोक-सेवा के कार्यों में भाग लेते हैं और दुःखी जनता के कष्टों को दूर करने में अपनी प्रव्रज्या के नियमों की हानि नहीं देखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान ने ईसा के पूर्व से उस महान् कार्य को करना शुरू कर दिया था जिसे उसके कम-से-कम दो शताब्दियों बाद ईसाई धर्मप्रचारकों ने करना प्रारम्भ किया। साधना के साथ सेवा को मिलाना यह एक बड़ा कार्य है। वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द ने भी यही कार्य किया। संन्यास के साथ उन्होंने सेवा को मिलाया। और यही कार्य महायान का था जिसे क्रियात्मक रूप भारत और उससे बाहर अन्य अनेक देशों में भी दिया गया।

बोधिसत्वों की लोक-कल्याण-कामना का पर्याप्त चित्र हम पहले दे चुके हैं। फिर भी इन कारुणिक महासत्व प्राणियों की इस सम्बन्धी भावना को छोड़ने का जी नहीं करता। हम यहां 'शिक्षा-समुच्चय' से इस सम्बन्धी केवल एक चित्र और देकर अपनी मनस्तुष्टि करेंगे। अनुवाद आचार्य श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी का है:—

'इस दुःखमय नरलोक में—

---

(१) पृथिव्यादीनभूतानि निःशेषाकाशवासिनाम्। सत्त्वानामप्रमेयाणां यथायोग्यानेकधा। एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा। भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः। बोधिचर्यावतार ३।२०-२१

जितने दलित बन्धन ग्रसित पीड़ित विपत्ति-विलीन हैं;
जितने कि बहुधन्धी विवेक विहीन हैं,
जो कठिन भय से और दारुण शोक सेअति दीन हैं;
वे मुक्त हों निज बन्ध से, स्वच्छन्द हों सब द्वन्द्व से,
छूटें दलन के फन्द से।
जीवन्त हों वे जो कि होने जा रहे—
बलि, भ्रू कुंचित किसी के क्रोध से।
आश्वस्त हों वे जो कि हों भयभीत—
विषम विपत्ति के आक्रमण से—
सबका परम कल्याण हो!
जो पेट पकड़े सो रहे हैं;
प्यास से जो रो रहे हैं,
(धैर्य अपना खो रहे हैं)-
हाय ऐसा हो कि वे—
पावें मधुर भोज्यान्न, शीतल वारि—
सारे दुःख भागें दूर,
पावें नेत्र नयन विहीन,
मृदुल मृदङ्ग मोहक बीन का आनन्द उनको मिले।
जो हैं ललकते चिथड़े लपेटे, रहे नंगे डोल,
वे पावें बसन अनमोल;
जो हैं वित्तहीन दरिद्र, वे पावें अपार निधान,
पावें दूध दधि धन धान,
पावें रत्न-खनि सन्धान—
सबका हो परम कल्याण!
हो ऐसा कि जग में दुःख से बिचले न कोई,
वेदनार्त हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हों सभी सुखशील पुण्याचार—धर्मव्रती—
सबका हो परम कल्याण!
सबका हो परम कल्याण!! [1]

(१) धर्मदूत, मई १९४१, पृष्ठ १०

कितनी सुष्ठु भावना है, कितना महान् आदर्श ! यही महायान बौद्धधर्म की हमारे लिए सर्वोत्तम देन है।

बोधिसत्व के व्रत में ही सम्भवतः भारतीय धर्म-साधना में सर्वप्रथम यह बात कही गई है कि तथागत (ईश्वर) की आराधना और लोकसेवा दोनों एक हैं और वही परमोच्च स्वार्थ भी है। शान्तिदेव ने ही कहा है

"तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधानमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव, तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥ बोधिचर्यावतार ६।१२७

बोधिसत्व जगत् को 'आत्मीकृत' (व्यवहार में 'अद्वैत' की भावना द्रष्टव्य) करते विहरते हैं। लोग चाहे उनके सिर पर पैर रक्खें, या प्रसन्नता से उसे सिर पर धारण करने को उद्यत रहें। निश्चय ही उन कृपावन्तों ने जगत् को अपने समान ही कर लिया है। उन्हें सम्पूर्ण सत्व बुद्ध के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। वे नाथ हैं। वे उनका तिरस्कार किस प्रकार कर सकते हैं। 'निज प्रभुमय देखहिं जगत् कासन करहिं विरोध' यह तो भक्त तुलसीदास ने कहा था, परन्तु यही भावना प्रकृत अद्वैत तत्व के साथ मिलकर अनायास ही कितने सौन्दर्य पूर्ण साम्य के साथ यहां प्रदर्शित हुई है—

'आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत्तैः कृपालुभिर्नैव हि संशयोऽस्ति।
दृश्यन्त एते ननु सत्वरूपास्त एव नाथाः किमनादरोऽत्रि।'[1]

वस्तुतः महायान की बोधिसत्त्व-साधना में भक्ति और सर्वात्मबोध के सर्वोत्तम तत्व समाये हुए हैं। वह धीरे-धीरे अपने साधनात्मक पक्ष में (सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद) अद्वैत और भक्ति की ओर जा रही है।

महायान में भिक्षु-धर्म के ऊपर क्या गृहस्थ की प्रतिष्ठा हुई ?

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि महायान के आन्दोलन के परिणामस्वरूप गृहस्थ-धर्म को भिक्षु-धर्म से ऊपर प्रतिष्ठा मिली।[2] उनका यह अनुमान इस तथ्य पर आधारित है कि दान, शील और पारमिताओं को प्रधानता मिलने के कारण गृहस्थ-धर्म को प्रमुखता मिली और इस तथ्य पर भी कि उत्तरकालिकमहायानी आचार्य प्रायः विवाहित थे। आचार्य पद्मसम्भव, जो

---

(१) बोधिचर्यावतार ६।१२६
(२) देखिये डा० नलिनाक्षदत्त-कृत 'एस्पेक्टस् ऑव महायान बुद्धिज्म' में राजेन्द्रलाल मित्र के कथन का उद्धरण।

तिब्बत में धर्मप्रचारार्थ गये थे, और इसी प्रकार जापान के महामनीषी शिनरेन् भी विवाहित थे। जापान में तो भिक्षुओं के विवाह करने की प्रथा भी चल पड़ी जिसे समझना हमारे लिये कुछ कठिन हो जाता है। परन्तु महायानिक उदारता के यह अनुरूप है, परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन करने की भावना के अविरोध में है और सेवा धर्म के भी अनुकूल है। प्रव्रजित अधिक समाज-सेवा कर सकता है, यह असंदिग्ध है, परन्तु समाज-सेवा के लिये, जिस पर महायान का जोर था, प्रव्रज्या अनिवार्य नहीं है। प्रव्रज्या तो ली जाती है सम्यक् रूप से दुःख का अन्त करने के लिये। ब्रह्मचर्य का यही लक्ष्य है। प्रव्रज्या इसके लिये अनिवार्य है। बिना प्रव्रजित हुए यह लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। भगवान् के शब्द बरबस याद आते हैं। वे साधक भिक्षु से कहते थे—'एहि भक्खु! चर ब्रह्मचरियं सम्मा दुक्खस्स अन्तकिरियायाति'[1] 'आओ भिक्षु! तुम ब्रह्मचर्य का आचरण करो सम्यक् दुःख का अन्त करने के लिये।' इसके लिये प्रव्रज्या अनिवार्य थी, परन्तु लोक-सेवा के लिये उतनी अनिवार्य नहीं। महायान ने चूंकि अन्तर्मुखी साधना को बहुत कुछ बहिर्मुखी कर दिया था इसलिये विद्वानों के उपर्युक्त विचार को कुछ अवकाश मिल सकता है। किन्तु महायान अन्ततः बौद्धधर्म ही था, उसके मनीषी आचार्यों के सामने बुद्ध-वचन थे और वही उनके सब आदर्शों के, चाहे वे जितने नवीन और युग-जनित दिखाई पड़ें, अन्ततः आधार थे। अतः हम डा० हरदयाल के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि प्रारम्भिक काल में चाहे गृहस्थाश्रम की प्रतिष्ठा भिक्षु-पद से भले ही बढ़ गई हो, पर बाद में भिक्षुओं का ही पद गृहस्थों से ऊंचा माना जाने लगा[2] और यही प्रवृत्ति आज तक तिब्बत, चीन, जापान, आदि सब महायानी देशों में पाई जाती है। वस्तुतः भगवान् बुद्ध के मौलिक मन्तव्य के अनुसार तो भिक्षु और गृहस्थ में ऊँच-नीच के भेद का कोई प्रश्न ही नहीं था। वे तो इन दोनों को एक दूसरे पर अन्यो-न्याश्रित मानते थे। भगवान् का कहना था कि गृहस्थ और प्रव्रजित एक दूसरे पर अनुग्रह करनेवाले हैं। गृहस्थ भिक्षुओं को भोजन-दान आदि देकर उनपर अनुग्रह करते हैं और भिक्षु उन्हें आदि-मध्य-पर्यवसान-कल्याणकारी धर्म का उपदेश देकर उनपर अनुग्रह करते हैं। इस प्रकार दोनों एक दूसरे

(१) विनय-पिटक—महावग्ग।
(२) देखिये "दि बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४५

के अनुग्राहक हैं, ऊँच-नीच का कोई प्रश्न नहीं।[१] एक बार जब भगवान् से साफ तौर पर पूछा गया था कि भिक्षु और गृहस्थ में कौन श्रेष्ठ है तो विभज्जवादी शास्ता ने विभज्जवाद की भाषा में ही इसका उत्तर दिया था, एकांशवाद के रूप में नहीं।[२] वस्तुतः कर्म ही ऊँचा या नीचा है, भिक्षु या गृहस्थ नहीं। चूँकि प्रव्रजित संसार के सुखों को छोड़ता है, उच्चतर साधना करता है, ऐसी जीविका (भिक्षाचर्या) को केवल सत्य की प्राप्ति के लिये स्वीकार करता है जो लोक में निकृष्टतर मानी जाती है,[३] इसलिये वह स्वाभाविक रूप से गृहस्थ से श्रेष्ठ है जो इतनी दूर नहीं जा सकता। जैसा अभी कहा गया, श्रेष्ठ उसका कर्म है, गुण है, वह स्वयं नहीं। 'न तेनं सेट्ठो मञ्ञेत' श्रेष्ठता की भावना से अहंभाव आता है, जिसको भिक्षु छोड़े हुए है। गृह-वास को भगवान् ने मलिन मार्ग कहा है। 'रजापथो घरावासो'।[४] वहां पूर्ण विशुद्धि की साधना सम्भव नहीं है। जो पूर्ण विशुद्धिकामी हैं, वे बिना प्रव्रज्या ग्रहण किये नहीं रह सकते। प्रव्रज्या ही खुला मार्ग है, वहीं मनुष्य का निर्बाध आध्यात्मिक विकास हो सकता है। इसलिये कोई भी धर्म-साधना हो, जो प्रव्रजित हैं वे लोक के लिये प्रकाश-स्वरूप होंगे ही, गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के द्वारा पूज्य, सम्माननीय होंगे ही, 'आहुनेय्य', 'पाहुनेय्य' और लोक के लिये पुण्य बोने के अद्वितीय क्षेत्र होंगे ही। कहने की आवश्यकता नहीं कि बौद्ध धर्म के लम्बे इतिहास में तथोक्त 'हीनयान' और 'महायान' दोनों की परम्पराओं में, कभी भिक्षु अपने इस गौरवमय पद से विरहित नहीं किये गये हैं। वे उस वेश को धारण करते हैं जिसे धर्मस्वामी ने धारण किया था। वे बौद्ध धर्म के अनुयायियों के लिये सदा वन्दनीय रहे हैं और रहेंगे।

---

(१) देखिये बहूपकार-सुत्त (इतिवुत्तक)

(२) देखिये धम्मिक-सुत्त (सुत्त-निपात) मिलाइये सुभ-सुत्तन्त (मज्झिम निकाय) भी।

(३) देखिये जीवित-सुत्त (इतिवुत्तक)। चत्तारि-सुत्त (इतिवुत्तक), में भगवान् ने भिक्षान्न की प्रशंसा करते हुए उसे 'अल्प, सुलभ और निर्दोष' भी कहा है।

(४) देखिए संगारव-सुत्तन्त (मज्झिम २।५।१०); महातण्हा संखय सुत्तन्त (मज्झिम १।४।८), चूल हत्थिपदोपम-सुत्तन्त (मज्झिम १।३।७); चातुम- सुत्तन्त (मज्झिम २।२।७)

बोधिसत्त्व आदर्श के विकास की अवस्थाएँ

अब हमें बोधिसत्त्व आदर्श के विकास की अवस्थाओं पर कुछ विचार करना चाहिये । बोधिसत्त्व सम्बन्धी विचार के विकास की मुख्यतः छह अवस्थाएं दृष्टिगोचर होती हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) प्रथम अवस्था में, जब बोधिसत्वों का निर्माण हो रहा था, उनका पद बुद्ध से नीचा था । बोधिसत्व भी इस अवस्था में बुद्ध के समान प्रायः दस बल और चार वैशारद्यों[1] से युक्त थे। सर्व-प्रथम अवलोकितेश्वर बोधिसत्व का आविर्भाव हुआ ।

(२) अवलोकितेश्वर के बाद मंजुश्री बोधिसत्व आये । अवलोकितेश्वर बुद्ध की करुणा के प्रतीक थे और मंजुश्री उनकी प्रज्ञा के। विकास की द्वितीय अवस्था में प्रज्ञा का करुणा से अधिक महत्वपूर्ण स्थान था। इसका अर्थ यह है कि मंजुश्री बोधिसत्त्व की अवलोकितेश्वर से अधिक होती थी ।

(३) बाद में यह क्रम बदल गया। करुणा को प्रज्ञा से अधिक ऊँचा स्थान मिला। यही महायान का प्रकृत विकास था और उसका मूल सन्देश भी ।

(४) योग का प्रचार महायान बौद्धधर्म के योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय के प्रभाव के परिणाम स्वरूप बढ़ा। बोधिसत्व 'महायोगी' कहे गये हैं।

(५) दुःखी पुरुषों की सेवा को निर्वाण-प्राप्ति से ऊँचा बताया गया।

(६) अब तक मुख्य बोधिसत्व उत्पन्न हो चुके थे, मंजुश्री, अवलोकितेश्वर, समन्तभद्र, वज्रपाणि, वज्रगर्भ, क्षितिगर्भ, रत्नगर्भ और मैत्रेय। इनमें करुणा के प्रतीक अवलोकितेश्वर का स्थान सर्वोच्च निश्चित हो गया। यही महायान का अन्तिम विकास था ।

यहाँ यह कह देना आवश्यक होगा कि बोधिसत्त्वों का निर्माण कल्पना से किया गया था और उनके लिये कोई निश्चित ऐतिहासिक आधार नहीं था, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि बोधिसत्वों की कल्पना का आधार अन्ततः बुद्ध का ऐतिहासिक जीवन ही था, जिसके विभिन्न रूपों की अभिव्यक्ति बोधि-सत्वों के प्रतीक के रूप में की गई थी। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने निर्वाण

---

(१) बुद्ध के दस बल और चार वैशारद्यों के लिये देखिये महासीहनादसुत्त (मज्झिम० १।२।२)

प्राप्ति के बाद जिस करुणापूर्ण दृष्टि से लोक का अवलोकन किया था उसी को छोड़ अवलोकितेश्वर बोधिसत्व और कुछ न थे। इसी प्रकार मंजु घोष वाले बुद्ध ही मंजुश्री बोधिसत्व के रूप में प्रतीकबद्ध हो गये थे। इसी प्रकार अन्य बोधिसत्व भी बुद्ध के जीवन और व्यक्तित्व के विभिन्न गुणों के प्रतीक मात्र हैं। बोधिसत्वों की यह कल्पना किस प्रकार श्रौत परम्परा के पौराणिक तत्वों को भी आत्मसात् करती हुई, उनके साथ समन्वय स्थापित करती हुई, वैदिक परम्परा के ही विश्वमय ब्रह्म की ओर चली गई, यह अवलोकितेश्वर के इस वर्णन से स्पष्ट होगा, जहाँ उन्हे ब्रह्मा और ईश्वर के गुण प्रदान कर दिये गये हैं—अवलोकितेश्वर की आंखों से सूर्य-चन्द्रमा उत्पन्न हुए हैं, ब्रह्मा और दूसरे देवता उनके कन्धों से उत्पन्न हुए हैं, नारायण हृदय से और सरस्वती दांतों से उत्पन्न हुई हैं। उनके असंख्य रोम-विवरों में असंख्य बुद्ध समाये हुए हैं—अवलोकितेश्वर का विश्व को दान है यह छह अक्षर का मन्त्र—ऊँ मणि पद्मे हुँ—यह मोक्षदाता है।

इस उद्धरण से हम अच्छी प्रकार देख सकते हैं कि किस प्रकार महायान मन्त्रयान के माध्यम से होकर आर्य सनातन धर्म (हिन्दूधर्म) में प्रवेश करने वाला है। यह महायान का ही कहना था कि बुद्ध एक, दो, दस-बीस नहीं, असंख्य हैं, 'कोटि-नियुत-शत-सहस्राणि' हैं, सम्पूर्ण गङ्गा में जितने रेत के कण नहीं हैं उनसे अधिक बुद्ध हैं[1] और सब बुद्ध एक हैं[2]। इसने उसके हिन्दू धर्म में प्रवेश के मार्ग को अत्यधिक सरल बना दिया।

बोधिसत्त्व के लिये पारमिताओं का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक माना गया है। पारमि या पारमिताओं का वर्णन पालि साहित्य में भी है। सुत्तनिपात, जातक और नेत्तिपकरण आदि ग्रन्थों में पारमिताओं का वर्णन है। उच्चतम साधकों के 'पारमिपत्त' (पारमिता-प्राप्त, पूर्णताप्राप्त) होनेकी बात वहाँ कही गई है। स्थविरवाद बौद्धधर्म में दस पारमियों या पारमिताओं का वर्णन है, जो इस प्रकार हैं, दानशील (सील), निष्कामता (नेक्खम्म), प्रज्ञा (पञ्ञा), वीर्य (विरिय), क्षान्ति (खन्ति), सत्य (सच्च), अधिष्ठान (अधिट्ठान), मैत्री (मेत्ता) और

पारमिताएँ

(१) देखिये ललितविस्तर ३७६।५; सद्धर्मपुण्डरीक २३८।४; लङ्कावतार सूत्र, पृष्ठ २३४; देखिये हरदयाल: दि बोधिसत्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिष्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ २५

(२) महायान सूत्रालंकार ४८।११; ८३।२

उपेक्षा (उपेक्खा)। इनमें से दान, शील, निष्कामता, अधिष्ठान, सत्य, मैत्री और उपेक्षा, इन सात पारमिताओं का भगवान् बुद्ध द्वारा अपने २५ पूर्वजन्मों में पूरा करना पालि ग्रन्थ 'चरियापिटक' में दिखाया गया है। जातकों की कहानियां पारमिताओं के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं। महासांघिकों के सिद्धान्तों में पारमिताओं का स्थान आधारभूत था। उन्हीं के विकास-स्वरूप महायान में पारमिताओं का सिद्धान्त गृहीत हुआ। बोधिसत्त्व पारमिताओं के अभ्यास के द्वारा बोधि को प्राप्त करने का उद्योग करते हैं। अधिकतर महायान संस्कृत साहित्य में प्रथम छह पारमिताओं का ही उल्लेख है। दिव्यावदान, ललित-विस्तर और शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में छह पारमिताओं का ही उल्लेख है। दशभूमिक-सूत्र में छह पारमिताओं की सूची में चार और जोड़कर संख्या पूरी १० करदी गई है। परन्तु जोड़ी हुई पारमिताएँ स्थविरवादी परम्परा के समान न होकर ये हैं, उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान। पारमिताओं के सम्बन्ध में स्थविरवादी और महायानी परम्परा में कोई विशेष अन्तर नहीं दीखता।

बोधिचित्तोत्पाद और आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ

बोधिसत्त्व को सर्वप्रथम अपनी आध्यात्मिक प्रगति पर अग्रसर होने के पूर्व बोधिचित्त का उत्पाद करना होता है, उसे तीव्र संकल्प करना होता है कि मैं बोधि प्राप्त करूँगा,। बोधि प्राप्ति के लिये उसे चित्त को तैयार करना होता है। बोधिचित्तोत्पाद वस्तुतः बोधि प्राप्त करने के लिये संकल्प बल इकट्ठा करने का ही नाम है। वह उसके लिये मनोवैज्ञानिक तैयारी है। उससे पहले भी बोधिसत्व को पूजा-वन्दनादि की तैयारी करनी होती है, जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं। बोधिसत्त्व प्राणी सोचता है—पंच कषायों में संसार जकड़ा हुआ है, जीवन क्षय हो रहा है, मनुष्य पापग्रस्त है, जगत् कष्ट की अवस्था में पड़ा है। इस प्रकार सोचकर वह करुणा और कृपा की अपने अन्दर वृद्धि करता है। उसकी प्रार्थना है "मैं सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करूँ, सब जीवों का हित करूँ और निर्वाण और बुद्ध-ज्ञान में उन्हें स्थित करूँ।" वह कल्याणमित्र की भी खोज करता है जो उसे आध्यात्मिक कठिनाइयों में परामर्श देता है और सहायता करता है। बोधिसत्व प्रणिधान (तीव्र संकल्प) करता है 'मैं भव से पार होकर दूसरों को भव से पार कराऊँगा, स्वयं आश्वस्त होकर मैं दूसरों को आश्वासन प्राप्त कराऊँगा, स्वयं मुक्त होकर मैं दूसरों को मुक्ति दिलाऊँगा।' बोधि-चित्त-ग्रहण का विस्तृत वर्णन शान्तिदेव ने 'बोधिचर्यावतार' के प्रथम

परिच्छेद में किया है। ललितविस्तर, दशभूमिक सूत्र और बोधिसत्वभूमि आदि ग्रन्थों में बोधिचित्तोत्पाद की साधना पर जोर दिया गया है।

प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में आध्यात्मिक विकास की चार अवस्थाएँ थीं, स्रोत आपत्ति, सकृदागामि, अनागामि और अर्हत्त्व। इनके स्थान पर महायान ने दस भूमियों की स्थापना की है, जो इस प्रकार हैं :—

(१) प्रमुदिता
(२) विमला या अधिशिला
(३) प्रभाकरी या अधिचित्तविहार
(४) अर्चिष्मती या बोधिपक्ष्यप्रतिसंयुक्ताधिप्रज्ञाविहार
(५) सुदुर्जया या सत्यप्रतिसंयुक्ताधिप्रज्ञाविहार
(६) अभिमुखी या प्रतीत्यसमुत्पादप्रतिसंयुक्ताधिविहार
(७) दूरंगमा या साभिसंस्कारसाभोगनिर्निमित्तविहार
(८) अचला या अनाभोग-निर्निमित्तविहार
(९) साधुमती या प्रतिसंविद्-विहार
(१०) धर्ममेघा या परम विहार

उपर्युक्त दस भूमियों में से प्रथम ६ स्थविरवादियों की चार अवस्थाओं के प्रायः समान हैं। शेष चार केवल बोधिसत्वों के अभ्यास के लिये हैं, धर्मशून्यता या धर्मसमता का साक्षात्कार करने के लिये।

धर्मशून्यता, धर्मसमता या तथता का विचार

परमार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में महायान का तथोक्त हीनयान से भेद है। जब कि हीनयान के अनुसार पुद्गलशून्यता सत्य है, महायान ने उसके साथ-साथ धर्म-शून्यता को भी स्वीकार किया है। 'शून्यता' (सुञ्ञता) शब्द पालि साहित्य को भी अविदित नहीं है। वहाँ भी बुद्ध 'सुञ्ञता' के उपदेष्टा माने गये हैं, परन्तु स्थविरवाद की यह 'सुञ्ञता' अनात्मवाद की ठीक पर्यायवाची है[1]। महायान ने जिस धर्मशून्यता को परमार्थ माना, वह एक विकसित दर्शन से सम्बन्धित वस्तु है और उसका विवरण हम आगे महायान-दर्शन का विवेचन करते समय देंगे। हम पहले दिखा चुके हैं कि हीनयान में साधक निर्वाण-प्राप्ति से सन्तुष्ट ही

(१) या च अनत्तानुपस्सना या च सुञ्ञतानुपस्सना इमे धम्मा एकत्था ब्यञ्जनमेव नानं। पटिसम्भिदामग्ग २।६३, विसुद्धिमग्ग २०।९१ में उद्धृत।

जाता है, जबकि महयान ने उच्चतम लक्ष्य बुद्ध-ज्ञान, सर्वज्ञता, सर्वाकारज्ञता, अनुत्तर ज्ञान या सम्बोधि को माना है जिसे ही उसने तथता भी कहा है। महायानी बोधिसत्व आदर्श 'सर्वसत्त्वपरिनिर्वाणहेतोः' है जबकि हीनयानी केवल 'आत्म परिनिर्वाण हेतोः' है। हीनयान का 'परमार्थ' (परमत्थ) महायान के लिये केवल संवृत्ति सत्य है, व्यवहारसत्य है। महायान का परमार्थ सत्य या परिनिष्पन्न सत्य तो है केवल धर्मशून्यता या तथता। इस प्रकार परमार्थ के सम्बन्ध में महायान की हीनयान से विभिन्न दृष्टि है।

हम ऊपर महायान की नाना प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए दिखा चुके हैं कि किस प्रकार उसका भी आधार अन्ततः भगवान् बुद्ध का मौलिक उपदेश ही है, जिसकी उसने युग की आवश्यकताओं के अनुसार, कुछ हालतों में लौकिक विश्वासों को अधिक अवकाश देते हुए, व्याख्या की है। नाना बोधिसत्त्वों की कल्पना का उसने विकास किया। उसका आधार बुद्ध का जीवन ही है तथा करुणा और सेवा जैसी उदात्त भावनाओं के विकास के लिये ही यह सिद्धान्त आविर्भूत किया गया। परन्तु लौकिक मिथ्या विश्वासों का बोधिसत्वों की पूजा-पद्धति के साथ जो सम्मिश्रण किया गया, मन्त्रवाद को भी जो कुछ अधिक अवकाश दिया गया, और इस प्रकार लोकानुराधन के लिये बुद्ध के द्वारा साक्षात्कृत सत्य को परिवर्तित किया गया, उसे देखकर तो हमें महायानी आचार्यों से यही कहना पड़ेगा, "मनीषियो! तुमने लोगों की सेवा की है और उनके मिथ्या विश्वासों की भी। सम्पूर्ण प्रसिद्ध मनीषियो! तुमने सत्य की सेवा नहीं की। और इसीलिये तुम पूजित भी हुए[१]।' एक सर्वथा अन्य प्रसङ्ग में कहे हुए महामति नीशे के इन शब्दों को हमने महायानी आचार्यों के प्रति प्रयुक्त किया है, जो कदाचित् उनके प्रति न्याय नहीं कहा जायगा। जिस दृष्टि को स्वयं हमने लिया है और जिस विचार-दिशा को ग्रहण किया है, उसके अनुसार भो सर्वांश में ऐसा नहीं कहा जा सकता। महायानिकों ने सत्य की सेवा अवश्य की, परन्तु उसे युग और देश की आवश्यकताओं के अनुसार,

(१) "Ye have served the people and the superstitions of the people. All ye famous wise men! Ye have not served the truth. And for that very reason ye have been revered." दस स्पेक ज़ेरेथुष्ट्रा (टिली और बॉज़्मैन का अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ ९३

सत्य के ही प्रचारार्थ, कुछ अल्प परिवर्तित स्वरूप दे दिया, जो बुरा नहीं कहा जा सकता। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही, उनकी समन्वय-दृष्टि के फलस्वरूप ही, बौद्ध धर्म एशिया का धर्म बन सका। हम इस बात को भूल नहीं सकते कि महायान की सम्पूर्ण मान्यताओं की आधारभूमि बुद्ध-उपदेश है। हमने इस परिच्छेद में यही दिखाने का प्रयत्न किया है। स्थविरवाद के बोधिपक्षीय धर्मों की, उसके सम्पूर्ण नैतिक आदर्शवाद की, पूर्ण स्वीकृति महायान में है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। अतः महायान बौद्ध धर्म और पालि बौद्ध धर्म में कोई आधारभूत भेद नहीं हैं। जैसा स्वयं महायान ने कहा है, यान तो केवल एक ही है और वह है बुद्ध-यान। 'महायान' और तथोक्त 'हीनयान' दोनों उसी के स्वरूप हैं, जिनके अन्तिम आधार और प्रामाण्य बुद्ध-वचन ही हैं।

महायान का साहित्य

जैसा हम पहले कह चुके हैं, महायान का साहित्य अत्यन्त विशाल है। चीन, तिब्बत, जापान और कोरिया की भाषाओं एवं मध्य-एशिया की अनेक प्राचीन भाषाओं में उसकी जो विशाल साहित्य-सम्पदा बिखरी पड़ी है, उसका अभी कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। संस्कृत और अर्द्ध संस्कृत में जो साहित्य है वह अलग। इस सब साहित्य के केवल नाम-परिगणन के लिये बीसियों जिल्दों की आवश्यकता होगी। बुनियो नंजियो ने चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनुवादों के रूप में प्राप्त महायानी साहित्य के ग्रन्थों की सूची[1] बनाई है, जो काफी लम्बी है। इसके बाहर भी प्रभूत महायानी साहित्य है, जिसको एक व्यवस्थित रूप में बांधना अशक्य सा जान पड़ता है। वस्तुत महायान-धर्म के पास कोई व्यवस्थित धार्मिक साहित्य भी नहीं है जिस प्रकार कि स्थविरवादियों या सर्वास्तिवादियों के पास है। सम्भवतः महायान बौद्ध धर्म के साहित्य की विशालता ही इस अव्यवस्था का कारण है। जबकि स्थविरवादियों के ग्रन्थ पालि में हैं और सर्वास्तिवादियों के अर्द्ध संस्कृत में, महायान आचार्यों ने संस्कृत को ही अपने प्रज्ञानों से गौरवान्वित किया था। उनके प्रायः सब ग्रन्थ संस्कृत (या कुछ मिश्रित संस्कृत) में ही लिखे गये थे। महायान धर्म के नौ ग्रन्थ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, जो उसके दोनों सम्प्रदायों (विज्ञानवाद और शून्यवाद) को मान्य हैं। नैपाली ब)द्ध तो इन ग्रन्थों के अनन्य भक्त ही हैं। वैसे विदेशों में भी जहां

(१) कैटेलाग ऑव दि चाइनीज बुद्धिस्ट त्रिपिटक, बुनियो नंजियो द्वारा संकलित।

बौद्ध धर्म का प्रचार है, इनमें से बहुत से ग्रन्थों का अत्यन्त आदरणीय स्थान है। ये नौ ग्रन्थ हैं (१) अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, (२) गण्डव्यूह, (३) दशभूमीश्वर, (४) समाधिराज, (५) लंकावतार सूत्र, (६) सद्धर्म-पुण्डरीक, (७) तथागत गुह्यक, (८) ललित विस्तर तथा (९) सुवर्ण प्रभास। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[१] में हमें सर्व प्रथम महायान की शिक्षाओं के दर्शन होते हैं और यह प्रथम शताब्दी ईसवी,पूर्व की रचना है[२]। इस रचना में आठ सहस्र श्लोक हैं, इसलिये इसका नाम 'अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता' पड़ा है। यह रचना भगवान् बुद्ध की छः पारमिताओं का वर्णन करती है, विशेषतः उनकी प्रज्ञापारमिता का, जो, सर्वश्रेष्ठ पारमिता है। शून्य को ही इस ग्रन्थ में प्रज्ञापारमिता कहा गया है। वस्तुतः शून्यता-दर्शन इस ग्रन्थ का आधारभूत विषय है। 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' के अतिरित अन्य अनेक 'प्रज्ञा पारमिता' नाम से पुकारी जाने वाली रचनाएं संस्कृत, चीनी और तिब्बती भाषाओं में उपलब्ध हैं। इन सब का विवरण नंजियो ने अपने 'केटेलाग' में दिया है। 'अष्ट- साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता' के अतिरिक्त अन्य मुख्य प्रज्ञा पारमिताएं हैं (१) शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[३] (२) पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता[४] (३) अष्टादशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (४) दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता (५) सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता, आदि[५]। तिब्बती परम्परा के अनुसार अष्टसाहस्रिका प्रज्ञा पारमिता ही प्राचीनतम है। प्रोफेसर नंजियो के अनुसार दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता अष्टसाहस्रिका का ही रूपान्तर है। नैपाली परम्परा की मान्यता है कि मौलिक रूप में प्रज्ञा पारमिता में एक लाख पचीस हजार श्लोक थे, जिनका पहला संक्षेप शतसाहस्रिका के रूप में किया गया और फिर क्रमशः पंच विंशति साहस्रिका, अष्टादश

(१) एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित।
(२) नलिनाक्ष दत्त : एस्पेक्ट्स ऑव महायान बुद्धिज्म, पृष्ठ ४०
(३) एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित।
(४) गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज द्वारा प्रकाशित।
(५) महाव्युत्पत्ति (पृष्ठ ६५) में छह प्रज्ञापारमिताओं का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं (१) शतसाहस्रिका (२) पंच विंशति साहस्रिका (३) अष्ट साहस्रिका (४) पंचशतिका (५) त्रिशतिका और (६) सप्त शतिका।

साहस्रिका और अष्ट साहस्रिका के रूप में संक्षेप किये गये[1]। इस परम्परा के बजाय अक्सर तिब्बती परम्परा ही अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। यद्यपि अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता ही प्राचीनतम पारमिता है, परन्तु प्राचीनतम चीनी अनुवाद दशसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का हुआ, जो सन् १४८ ई० के लगभग लोकरक्ष द्वारा किया गया। इस प्रज्ञापारमिता का मूल संस्कृत आज उपलब्ध नहीं है। पंचविंशति साहस्रिका २६५ से ३१६ ई० के बीच और शतसाहस्रिका ६५९ ई० के लगभग चीनी भाषा में अनुवादित की गई। शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता का रचना-काल प्रायः पाँचवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है। सम्पूर्ण प्रज्ञापारमितों का आधारभूत विषय है शून्यता-दर्शन का विवेचन। शून्यता, समाधि पारमिता, बोधिपाक्षिक धर्म, स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय आदि विषयों का उन्होंने निरूपण किया है, जो स्थविरवादी परम्परा के अनुसार अभिधम्म के विषय हैं। इन प्रज्ञापारमिताओं का बौद्ध दर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुन का शून्यता-दर्शन इन प्रज्ञापारमिताओं पर ही आधारित है। उन्होंने अपने 'महाप्रज्ञापारमिता शास्त्र' को उपर्युक्त प्रज्ञापारमिताओं में से किसी एक की व्याख्यास्वरूप ही लिखा था, परन्तु किस विशिष्ट 'प्रज्ञापारमिता' को उन्होंने अपनी रचना का आधार माना था, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। असंग ने अपने विज्ञानवादी दर्शन को व्यवस्थित स्वरूप देने में प्रज्ञा पारमिताओं से सहायता ली थी। वस्तुतः सम्पूर्ण महायानी विज्ञानवादी और शून्यवादी आचार्यों के सामने प्रज्ञापारमिताएँ प्रामाणिक आधारभत ग्रन्थों के रूप में उपस्थित थीं, जिनका उन्होंने भरपूर उपयोग किया है। वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, जिसका अनुवाद ४०० ई० के लगभग चीनी भाषा में हुआ, सम्भवतः चौथी शताब्दी ईसवी की रचना है और प्रज्ञा पारमिताओं पर आधारित है। यह नागार्जुन की रचना बताई जाती है, परन्तु यह बात प्रमाणसिद्ध नहीं है[2]। 'गण्डव्यूह' मञ्जुश्री बोधिसत्व की प्रशंसा में लिखा गया है और 'धर्मकाय' तथा 'शून्यता' सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी निरूपण करता है। इस ग्रन्थ का

---

(१) देखिये राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की भूमिका, पृष्ठ ४ (एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल)

(२) देखिये हरदयाल : दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८३

चीनी अनुवाद ३१७ और ४२० ई० के बीच किया गया। 'दशभूमीश्वर' बुद्धत्व प्राप्त करने की दस भूमियों का वर्णन करता है। इसी का दूसरा नाम दश-भूमिक सूत्र भी है। इसका चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने २९७ ई० में और कुमारजीव ने ३८४–४१७ ई० में किया[१]। इस ग्रन्थ की मौलिक रूप में रचना तृतीय शताब्दी ईसवी के आदिम भाग में हुई। 'समाधिराज' में यह बताया गया है कि समाधि की अन्तिम अवस्था किस प्रकार प्राप्त की जाती है। 'लङ्कावतार सूत्र' (४००ई०) में योगाचार सिद्धान्तों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में (बिलकुल अनैतिहासिक रूप में[२]) बुद्ध के द्वारा लङ्काधिपति रावण को योगाचार सिद्धान्तों का उपदेश देते हुए दिखाया गया है। चीन और जापान के ध्यान (ज़ेन)—बौद्ध धर्म का आधारभूत ग्रन्थ यही है। इसका गुणभद्र ने ४४३ ई० में और बोधिरुचि ने ५५३ ई० में चीनी भाषा में अनुवाद किया। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र (२५० ई०) महायान -धर्म की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्राचीनतम भाग (प्रथम अध्याय से लेकर इक्कीसवें तक) प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की रचना माना जाता है, और उत्तर भाग (अध्याय २१–२६) तृतीय शताब्दी ईसवी की। साहित्यिक दृष्टि से भी यह एक बहुमूल्य ग्रन्थ है और जो प्रवृत्तियाँ महायान धर्म की लक्षण-स्वरूप मानी जाती हैं उनका यह सम्भवतः सर्वोत्तम परिचायक है। इसमें बुद्ध भगवान् को देवातिदेव तथा अनादि, अजन्मा और सृष्टिकर्ता कहा गया है। जो बुद्ध की धातुओं की पूजा करें और स्तूपों का निर्माण करें, उनके लिए भी यहां निर्वाण का आश्वासन है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने २६५-३१६ ई० के बीच और कुमारजीव ने ३८४–४१७ के बीच किया। 'तथागत गुह्यक' में तथागत के ज्ञान और गुणों का वर्णन है। 'ललित विस्तर' बुद्ध को स्वयम्भू परमपुरुष मानकर कुछकुछ 'लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र ३।३।३४) की भावना में बुद्ध की लीलाओं का वर्णन करता है। यह ग्रन्थ मिश्रित संस्कृत में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का चार बार चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। सन् २२१–६३, ३०८, ४२०–७९ और ६८३ ई० में।

---

(१) एशियाटिक सोसायटी ऑव बंगाल द्वारा प्रकाशित।

(२) अपनी मूल वस्तु में अनैतिहासिक होने पर भी इस ग्रन्थ में हूणों के नायक तोरमाण और मिहिरकुल का भी वर्णन आया है, अतः प्राचीन भारतीय इतिहास के गवेषकों के लिए ऐतिहासिक रूप से भी यह ग्रन्थ गवेषणीय है।

इस ग्रन्थ के प्राचीनतम अंश तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व के हैं। इस ग्रन्थ का अन्तिम सम्पादन डा० विन्टरनित्ज् के मतानुसार दूसरी शताब्दी ईसवी में और डा० हरदयाल के मतानुसार छठी शताब्दी ईसवी में हुआ[1]। 'सुवर्ण प्रभास' का अधिकतर रूप तान्त्रिक है और पौराणिक तत्व का भी इसमें आधिक्य है। उपर्युक्त सभी नौ ग्रन्थ अपने समष्टि रूप में 'महायान सूत्र' कहलाते हैं जिनके आधार पर ही और जिनके संक्षेप स्वरूप ही, जैसा कि हम आगे देखेंगे, नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक कारिका' लिखी। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'सुखावतीव्यूह' में बौद्धों के स्वर्ग का वर्णन उपलब्ध होता है और 'अमिताभ' बुद्ध का भी । इस ग्रन्थ का जापान आदि देशों में बहुत आदर और प्रचार है । सन् १४८—१७० के बीच इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया। इसके दो रूप आज प्राप्त होते हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व है। 'कारण्डव्यूह' नामक ग्रन्थ तो बिलकुल पौराणिक स्वरूप ही ग्रहण करता है और अविलोकितेश्वर बोधिसत्व के आत्मोसर्ग का वर्णन करता है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद दसवीं शताब्दी में हुआ। सम्भवतः यह आठवीं-नवीं शताब्दी ईसवी की रचना है। सम्पूर्ण विश्व की विमुक्ति के बिना व्यक्तिगत विमुक्ति का कोई अर्थ नहीं है, यह तत्व इस ग्रन्थ में बड़ी अच्छी तरह दिखाया है। 'महावस्तु' ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में अत्यन्त स्मरणीय है। अपने प्राचीनतम रूप में यह तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व विद्यमान था। विन्टरनित्ज् और कीथ के मतानुसार चतुर्थ शताब्दी में और डा० हरदयाल के मतानुसार छठी या सातवीं शताब्दी में इस ग्रन्थ का अन्तिम सम्पादन किया गया। यह ग्रन्थ अर्द्ध-संस्कृत में लिखा गया है। वास्तव में यह ग्रन्थ हीनयान-सम्प्रदाय के 'लोकोत्तरवादी' भिक्षुओं का है, जो बुद्ध को अलौकिक या लोकोत्तर पुरुष मानते थे। किन्तु इसमें सर्वत्र ही महायान धर्म के दृष्टिकोण का बाहुल्य है, अतः यह महायान-सम्प्रदाय का भी ग्रन्थ माना जा सकता है। पौराणिक तत्व का इस ग्रन्थ में अत्यन्त बाहुल्य है। दशभूमि, बुद्धानुस्मृति, बुद्धार्चन, स्तूप-परिक्रमा और पुष्पसमर्पण आदि के विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में भरे पड़े हैं। इस ग्रन्थ में कहा गया है कि जब बुद्ध हँसते

---

(१) 'ललित विस्तर' अपने वर्तमान स्वरूप में महायान-सम्प्रदाय का ही एक ग्रन्थ है, परन्तु आरम्भ में यह सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की बुद्ध-जीवनी थी। बाद में रूपान्तरित होकर यह महायान-सम्प्रदाय का ग्रन्थ बन गया।

थ तो सम्पूर्ण लोकों में प्रकाश हो जाता था। यह भी कहा गया है कि बुद्ध की न माता थीं, न पिता थे, बल्कि वे स्वयम्भू थे। आर्यशूर-रचित 'जातक-माला' (चौथी शताब्दी ईसवी) ग्रन्थ भी इस सम्बन्ध में स्मरणीय है। यह गद्य और पद्य दोनों में लिखा गया है और काव्य-शैली पर इसकी रचना हुई है। इसमें बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं का वर्णन है और इसके अतिरिक्त अन्य कई उपदेशात्मक कथानक भी हैं जिनका उपयोग भिक्षु अपने उपदेशों में अक्सर करते थे। लामा तारानाथ ने आर्यशूर को अश्वघोष और मातृचेट से मिलाया है, जो ठीक नहीं माना जा सकता। आर्यशूर का समय सम्भवतः पाँचवीं शताब्दी ईसवी है। सम्भवतः उनका समय चौथी शताब्दी ईसवी भी हो, क्योंकि उनकी एक रचना का अनुवाद ४३४ में चीनी भाषा में हो गया था, परन्तु उसे हरदयाल ने प्रामाणिक नहीं माना है[१]। अवदान-साहित्य का भी यहाँ कुछ वर्णन कर देना चाहिए। 'अवदान' शब्द का अर्थ है धार्मिक कार्य, किन्तु आत्म-बलिदान, संस्था-स्थापन, स्तूप या चैत्य-निर्माण तथा द्रव्य या पुष्प-फल-दान आदि के विस्तृत अर्थ में भी 'अवदान' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'अवदान' ग्रन्थों में बुद्ध स्वयं अपने मुख से अपने पूर्व जन्मों की कथा कहते हैं और उसके आधार पर उपदेश देते हैं। अवदान-साहित्य का मुख्य ग्रन्थ है 'अवदानशतक' जो दस विभागों में विभक्त है। इस ग्रन्थ का प्रथम चीनी अनुवाद सन् २२३–२५३ ई० के बीच हुआ। इस रचना में 'दीनार' शब्द का प्रयोग है, अतः यह द्वितीय शताब्दी की कृति मानी जा सकती है। इसकी कहानियों में केवल प्रथम दस का रूप महायानी है, बाकी हीन-यानी रूप की हैं। इसके अतिरिक्त दिव्यावदान, अशोकावदान, कल्पद्रुमावदान, बोधिसत्त्वावदान कल्पलता (ग्यारहवीं शताब्दी) और व्रतावदान आदि अन्य अवदान-साहित्य के ग्रन्थ हैं। दिव्यावदान के प्राचीनतम अंश द्वितीय शताब्दी ईसवी पूर्व के हैं। यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में महासर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का था। मुख्यतः यह ग्रन्थ हीनयान परम्परा का है। इसका महायानी संस्करण विन्टरनित्ज़ के मतानुसार तृतीय शताब्दी ईसवी में किया गया। अवदान-साहित्य अंशतः तो सर्वास्तिवादी है और अंशतः महायानिक, किन्तु मुख्य तत्व उसमें महायान धर्म के ही हैं, अतः यहाँ उसका इसी रूप में वर्णन किया गया है।

महायान के सिद्धान्तों को संकलनात्मक रूप देने वाली एक प्रसिद्ध

---

(१) देखिये दि बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३८४

रचना 'धर्म संग्रह' है जो गलत रूप से नागार्जुन की कृति बताई जाती है। वस्तुतः यह सातवीं या आठवीं शताब्दी के किसी लेखक की रचना है। इस रचना का चीनी अनुवाद दसवीं शताब्दी में हुआ । इसी प्रकार की एक दूसरी रचना 'महाव्युत्पत्ति ' है जिसका सम्बन्ध मुख्यतः पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या से है। यह नवीं शताब्दी ईसवी की रचना है।

जैसा हम पहले कह चुके हैं, महायान का साहित्य व्यवस्थित रूप में नहीं है। उसका विनय उसके विशाल साहित्य में ही संग्रथित है, उसका पृथक् अस्तित्व नहीं है। वस्तुतः जहाँ तक विनय-पिटक का सम्बन्ध था, हीनयानियों से महायानियों का अधिक पार्थक्य नहीं था। दोनों के विनय-नियम, उपसम्पदा-नियम, प्रातिमोक्ष-नियम, प्रायः एक से ही थे, छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ। चीनी और तिब्बती अनुवादों में जो विशाल महायानी साहित्य सुरक्षित है, उसमें निम्नलिखित विनय-सूत्र बुनियो नंजियो ने खोजे हैं:—

(१) बोधिचर्यानिर्देश
(२) बोधिसत्त्व प्रातिमोक्ष सूत्र
(३) भिक्षु-विनय
(४) आकाश गर्भ सूत्र
(५) उपालि परिपृच्छा
(६) उग्रदत्त परिपृच्छा
(७) रत्नमेघ सूत्र
(८) रत्नराशि-सूत्र

सम्भवतः और अधिक विनय-सूत्र महायानी साहित्य के अन्तर्गत प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि शान्तिदेव ने 'शिक्षा-समुच्चय' में कहा है 'उक्तानि च सूत्रान्तेषु बोधिसत्त्वशिक्षापदानि' । पालि साहित्य में निहित बुद्ध-वचनों का वर्गीकरण नौ अंगों में किया गया गया था । महायानी आचार्यों ने अपने साहित्य का वर्गीकरण बारह अंगों के रूप में किया है । अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता को उन्होंने रक्खा है, सूत्र की श्रेणी में और गण्डव्यूह, समाधिराज और सद्धर्म पुण्डरीक को व्याकरण (वेय्याकरण) के रूप में। अन्य साहित्य का भी इस प्रकार वर्गीकरण किया है। परन्तु उसमें सुव्यवस्था नहीं आने पाई है। वस्तुतः पालि साहित्य के नवांग वर्गीकरण में भी सुव्यवस्था नहीं थी, क्योंकि उसके अनुसार भिन्न-भिन्न ग्रन्थों का निर्देश करना कठिन था।

उपर्युक्त विवरण महायानी साहित्य की पूरी कहानी नहीं है। नागार्जुन,

असंग, वसुबन्धु, शातिदेव आदि बीसियों आचार्यों ने महायान साहित्य को समृद्ध किया है। उनके विरण पर हम महायान-दर्शन का विवेचन करते समय आयेंगे।

३—हीनयान : सम्प्रदाय, साहित्य और सिद्धान्त

वैशाली की संगीति के बाद बौद्ध संघ जिन नाना शाखाओं में विभक्त हो गया था, उनमें तीन मुख्य थे। उनके नाम हैं थेरवाद (स्थविरवाद), सब्बत्थिवाद (सर्वास्तिवाद) और महासंघिक (महासांघिक)। महासांघिकों से आगे चल कर महायान का विकास हुआ। अतः महायान ने अन्य दो प्रमुख सम्प्रदायों को 'हीनयान' कहा'। इस प्रकार 'हीनयान' की परिधि में थेरवाद और सब्बत्थिवादी दोनों ही सम्मिलित हैं। महायान ने स्थविरवाद के नैतिक उपदेशों को तो बुद्ध के 'उपाय कौशल्य' के रूप में स्वीकार किया, किन्तु सब्बत्थिवादियों के सब्बं अत्थि' 'सब है' के सिद्धान्त को तो वह बुद्ध-उपदेशों की तोड़-मरोड़ ही समझता था। इस सब्बत्थिवाद (सर्वास्तिवाद) ने आगे चल कर अपने स्वतंत्र शास्त्रों का विकास किया। मध्य-देश में मथुरा और उत्तर में काश्मीर सर्वास्तिवादियों के प्रधान केंद्र हो गये। तिब्बत में उन्होंने बौद्ध धर्म का विशाल प्रचार किया। कनिष्क के समय में जो संगीति बुलाई गई वह सर्वास्तिवादियों की ही थी। इस प्रकार ईसवी सन् के लगभग यह समुदाय अत्यन्त प्रभावशाली हो गया। यहाँ 'हीनयान' के नाम से जिस सम्प्रदाय का वर्णन करेंगे, वह सर्वास्तिवाद ही है जिसके सर्वास्तित्ववाद के विरोध-स्वरूप महासंघिक और उनके बाद महायान का जन्म हुआ था। यहाँ पर हमारा तात्पर्य 'हीनयान' स्वरूप सर्वास्तिवाद के दो उत्तरकालीन सम्प्रदाय अर्थात् 'सौत्रान्तिक' और 'वैभाषिक' के साहित्य और सिद्धान्तों का निरूपण करना ही है, जिनका विकास प्रायः महायान के समानान्तर रूप से उसके प्रतिपक्ष रूप में हुआ।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदायों का अन्तर्भाव, जैसा हम अभी कह चुके हैं, एक ही बौद्ध सम्प्रदाय में होता है जिसे हम सर्वास्तिवादी अथवा "अनात्मा सर्वास्तिवादी' भी कहते हैं। जैसा कि हम आगे पाँचवे प्रकरण में 'शाङ्कर दर्शन' का विवेचन करते समय देखेंगे, आचार्य शङ्कर ने इन दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का अन्तर्भाव एक ही सिद्धान्तवादी 'सर्वास्तित्ववादिनः' के रूप में किया है जो दार्शनिक रूप से बिलकुल समुचित है। जैसा कि हम अभी देखेंगे, ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह बिलकुल ठीक है। आर्य कात्यायनी-पुत्र-विरचित 'ज्ञानप्रस्थान शास्त्र' सर्वास्तिवादियों का प्रथम और अत्यन्त महत्व-

पूर्ण ग्रन्थ है और बौद्धधर्म का संस्कृत में लिखा हुआ सम्भवतः प्रथम ग्रन्थ भी यही है। कनिष्क के संरक्षण में, आचार्य वसुमित्र की प्रधानता में, पाँच सौ भिक्षुओं की एक बड़ी सभा हुई और उन्होंने 'ज्ञानप्रस्थान शास्त्र' पर 'विभाषा' नाम की टीका लिखी। यह 'विभाषा' नाम की टीका जिन्हें मान्य हुई वे तो 'वैभाषिक' कहलाने लगे और जिन्होंने इसका प्रामाण्य स्वीकार न कर केवल 'सुत्त पिटक' पर ही जोर दिया वे 'सौत्रान्तिक' कहलाने लगे। काश्मीर और गान्धार के सर्वास्तित्ववादियों ने 'विभाषा' को प्रमाण माना, अतः वे इसी समय से 'वैभाषिक' नाम से प्रख्यापित हो गए और मथुरा के सर्वास्तिवादियों से भेद दिखाने के लिए इन्हीं को 'मूल सर्वास्तिवादी' भी कह कर पुकारा जाने लगा। आचार्य वसुबन्धु ने आगे चल कर काश्मीर के वैभाषिकों के सिद्धान्तों के अनुसार ही अपने प्रसिद्ध 'अभिधर्म कोश' की रचना की और इसीलिए इस ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने कहा भी है 'काश्मीर वैभाषिक नीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः'। अस्तु, यहाँ हम पहले सर्वास्तिवादियों के साहित्य का कुछ विवरण देकर फिर उनके सम्प्रदायों की परम्परा पर आएँगे।

जैसा कि हमने पहले कहा, 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थानशास्त्र' सर्वास्तिवादियों का सबसे प्रथम और अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है और यह सर्वास्तिवाद परम्परा के प्रवर्त्तक आर्य कात्यायनीपुत्र ने, जो सर्वास्तिवादियों के मतानुसार बुद्ध के चतुर्थ प्रधान शिष्य थे, लिखा। इस महाग्रन्थ को युआन्-चुआङ ने ६५७–६० ई० में बीस भागों में चीनी भाषा में अनुवादित किया, यह सूचना भी देना यहाँ अनावश्यक न होगा[१]। इस महाग्रन्थ के साथ ही छह अन्य महाग्रन्थ हैं जिनको सर्वास्तिवादी प्रामाणिक मानते हैं और जो इनके लिए एक प्रकार से वेद के षडंगवत् हैं[२]। इसीलिए इन्हें 'षट्पादशास्त्र'

(१) देखिए र्यूकन किमूरा : 'दि ओरीजनल एण्ड डैवैलप्ड डॉक्ट्रिन्स आफ इण्डियन बुद्धिज्म', अध्याय ३ (दि डॉक्ट्रिन्स आफ सर्वास्तिवादिन्स); डा० विमलाचरण लॉ ने इस चीनी अनुवादकर्ता को काश्मीरी भिक्षु गौतम संघदेव नामक बतलाया है, देखिए उनकी हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३३७

(२) देखिए अभिधर्मकोश (राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित), पृष्ठ १२ (भूमिका), देखिए आचार्य ताकाकुसु : जर्नल ऑफ पालि टैक्स्ट सोसायटी १९०४–१९०५ पृष्ठ ७४

भी कहते हैं। ये ग्रन्थ इस प्रकार हैं (१) अभिधर्मसंगीतिपर्यायपादशास्त्र, शारिपुत्र (अथवा महाकौष्ठिल) विरचित। इस महाग्रन्थ का अनुवाद सन् ६५९ ई० में युआन् चुआङ् ने २० भागों में किया। (२) अभिधर्मस्कन्ध-पादशास्त्र मौद्गल्यायन-रचित जिसको भी युआन्-चुआङ ने सन् ६५९ ई० में १२ भागों में अनुवादित किया। (३) अभिधर्मविज्ञानकायपादशास्त्र, जिसके रचयिता स्थविर देवशर्मा कहे जाते हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को, परम्परा के अनुसार, बुद्ध के महापरिनिर्वाण के १०० वर्ष बाद रचा। यह महाग्रन्थ भी युआन्-चुआङ् के द्वारा सन् ६४९ ई० में १६ भागों में अनुवादित किया गया। (४) अभिधर्मप्रज्ञप्तिपादशास्त्र—कात्यायनीपुत्र-विरचित, जिसके चीनी अनुवादकर्ता का नाम ज्ञात नहीं है (५) अभिधर्मधातुकायपादशास्त्र आचार्य वसुमित्र रचित[1], युआन्-चुआङ् के द्वारा सन् ६६३ ई० में तीन भागों में अनुवादित किया गया। (६) अभिधर्मप्रकरणपाद शास्त्र, आचार्य वसुमित्र रचित, जिसका भी अनुवाद २० भागों में चीनी भाषा में किया गया। उपर्युक्त सात ग्रन्थ सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म- पिटक कहलाते हैं, जो एक प्रकार से स्थविरवादियों के उतने ही ग्रन्थों की संख्या वाले 'अभिधम्म पिटक' के प्रतिरूप कहे जा सकते हैं। उनमें आपस में नाम-साम्य भी है जो इस प्रकार ज्ञात होगा—

सर्वास्तिवाद के अभिधर्म पिटक के ग्रन्थ	स्थविरवाद के अभिधम्म पिटक के ग्रन्थ
१. ज्ञानप्रस्थान शास्त्र	पट्ठान
२. धर्मस्कन्ध पाद	धम्मसंगणि
३. विज्ञानकाय पाद	विभंग
४. प्रज्ञप्ति पाद	पुग्गल पञ्ञत्ति
५. धातुकायपाद	धातुकथा
६. प्रकरण पाद	कथावत्थुप्पकरण
७. संगीतिपर्यायपाद	यमक

परन्तु इनमें केवल नामसाम्य ही है और विषयों के निरूपण में दोनों में कोई साम्य नहीं[2]। इनमें से प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'ज्ञानप्रस्थान शास्त्र' का

(१) आचार्य यशोमित्र ने इसे पूर्ण-विरचित बताया है, देखिए डा० लाहा : हिस्ट्री ऑफ़ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ३४३

(२) द्रष्टव्य डा० ताकाकुसु : अभिधर्म लिटरेचर, जनरल ऑफ रौयल एशियाटिक सोसायटी, १९०५, पृष्ठ १६१

अभी पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित नहीं हो पाया है, इसी से जाना जा सकता है कि इस विषय में विद्वानों को भी कितनी कम अभिज्ञता है। यहाँ मध्यस्थ स्रोतों का ही आश्रय लेकर, यथा डाक्टर ताकाकुसु, डा० वाड्आ और डा० विमलाचरण लॉ के निबन्धों और लेखों का कृतज्ञता पूर्वक उपयोग कर, सर्वास्तिवादियों के उपर्युक्त सात अभिधर्म-ग्रन्थों की विषय-वस्तु के विषय में कुछ निवेदन किया जाता है। 'ज्ञान प्रस्थान शास्त्र' आठ विभागों में विभक्त है, यथा लोकुत्तर धम्मवग्गो, ञानवग्गो, पुग्गलवग्गो, अहिरिकानोत्तप्प वग्गो, रूपवग्गो, अनत्थवग्गो, चेतना, वग्गो तथा पेमगारववग्गो। लोकोत्तर धर्म क्या है? लोकोत्तर धर्म का २२ सत्काय दृष्टियों से क्या सम्बन्ध है? अकुशल मूल क्या है? ज्ञान के कारण क्या हैं? स्मृति क्या है? संशय क्या है? कितने प्रतीत्य समुत्पाद के प्रत्यय भूतकाल के जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, कितने वर्तमान काल के जीवन से और कितने भविष्यत् काल के जीवन से? चित्त, वितर्क, विचार, अविद्या और मन क्या हैं? संयोजन क्या हैं? अनुशय क्या हैं? निरोध-परिज्ञान क्या है? निरोध-साक्षात्कार क्या है? समाधि क्या है? अनागामियों की पाँच अवस्थाएँ क्या है? सकृदागामियों की अवस्थाएँ क्या हैं? आदि बातें इस महाग्रन्थ में निरूपित की गई है। 'संगीतिपर्याय पाद' का विषय है कि एक धर्म क्या है? (आहार) द्विधर्म क्या हैं? (नाम और रूप), त्रिधर्म क्या हैं? (तीन अकुशल मूल, तीन कुशल मूल, तीन दुश्चरित-काय, वाक्, मन, तीन धातु, तीन पुद्गल, तीन वेदनाएँ, तीन विद्याएँ आदि) चतुर्धर्म क्या हैं? (चार आर्य सत्य, चार श्रामण्य फल, चार स्मृत्युपस्थान इत्यादि) पंचधर्म क्या हैं? (पाँच स्कन्ध, पाँच बल, पाँच इन्द्रिय, पाँच गति आदि) षड्धर्म क्या है? (छः विज्ञानकाय, छः वेदनाकाय, छः धातु, छः अभिज्ञान, छः अनुत्तर धर्म आदि) सप्त धर्म क्या है? (सात सम्बोध्यंग, सात अनुशय आदि) अष्ट धर्म क्या हैं? (आर्य अष्टांगिक मार्ग, आठ पुद्गल, आठ विमुक्ति) नव धर्म क्या हैं? (नौ सत्वावास) दस धर्म क्या हैं? (दस अशैक्ष्य धर्म आदि) आदि रूप से विषयों का इस ग्रन्थ में निरूपण किया गया है। अतः स्वभावतः ही दीघ निकाय के संगीति सुत्त से इसकी विषय वस्तु और शैली दोनों ही बिलकुल पूरी तरह से मिलती हैं और इस प्रकार की शैली का व्यवहार स्थविरवाद के त्रिपिटक में निश्चय ही अनेक बार किया गया है। 'प्रकरणपाद शास्त्र' में पाँच स्कन्ध, पाँच धर्म (रूप, चित्त, चित्तधर्म, चित्त-विप्रयुक्त-संस्कार, असंस्कृत धर्म) इस प्रकार के ज्ञान

(धर्म ज्ञान, अन्वय ज्ञान, परचित्त ज्ञान, संवृति ज्ञान, दुःख ज्ञान, समुदय, निरोध-मार्ग, क्षय, अनुत्पाद) बारह इन्द्रियाँ और उनके विषय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, मनस्, रूप, गन्ध, शब्द, रस, स्प्रष्टव्य, धर्मायतन) सात धर्म (१८ धातु, १२ आयतन, ५ स्कन्ध, १० महाभूमिकधर्म, १० कुशल महा-भूमिक, १० क्लेश महाभूमिक, १० उपक्लेशभूमिक) आदि विषय इस ग्रन्थ में निरूपित हैं। 'विज्ञानकायपादशास्त्र' में महामौद्गल्यायन के इन विषयों सम्बन्धी विचारों का प्रकाशन है, यथा पुद्गल, इन्द्रिय, चित्त, क्लेश, विज्ञान, बोध्यंग, इत्यादि। 'धातुकायपादशास्त्र' में दस महाभूमिक धर्मों, १० क्लेशमहाभूमिक धर्मों, १० उपक्लेश भूमिक धर्मों, काम लोभ, रूप लोभ, अरुप्यलोभ, द्वेष, विचिकित्सा पर, पांच दृष्टियों पर, सत्काय, अन्तग्राह, मिथ्या दृष्टि परामर्श, शील व्रत परामर्श तथा पाँच धर्मों (वितर्क, विचार, विज्ञान, आह्लिक्य, अनपत्राप्य) आदि पर विचार है। 'स्कन्धपाद शास्त्र' में पंच शीलों पर, बुद्ध, धर्म, संघ पर, चार स्रोतापन्न फलों पर, समाधि, वीर्य, स्मृति और अच्छन्द पर तथा चार आर्य सत्यों आदि पर विचार है। 'प्रज्ञप्ति-पाद' शास्त्र में मुख्यतः बत्तीस महापुरुष लक्षणों पर (दीघ निकाय के लक्खण सुत्तन्त की बिलकुल समानता पर) तथा राग, द्वेष, मोह आदि पर विचार है। इस प्रकार सर्वास्तिवादियों के अभिधर्म पिटक का संक्षिप्त विवरण हमने दिया। वस्तुतः सर्वास्तिवादियों और स्थविरवादियों में अभिधर्म के सम्बन्ध में ही अधिक भेद था। सुत्त और विनय दोनों के प्रायः समान थे।

सूत्र-पिटक का विभाजन दोनों का इस प्रकार है[1] :

स्थविरवाद	सर्वास्तिवाद
दीघ निकाय	दीर्घागम
मज्झिम निकाय	मध्यमागम
संयुत्त निकाय	संयुक्तकागम
अंगुत्तर निकाय	अंकोत्तरागम
खुद्दक निकाय	क्षुद्रकागम

यहाँ इन दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में नाम-साम्य ही नहीं, पूरा विषय-साम्य भी है। सर्वास्तिवादी केवल 'निकाय' शब्द का प्रयोग न कर, उसके लिए 'आगम शब्द का व्यवहार करते हैं, दोनों की विषय-वस्तु में कोई

(१) देखिए राहुल सांकृत्यायन : विनय-पिटक—हिन्दी-अनुवाद की भूमिका।

विभेद नहीं है। सर्वास्तिवादी सर्व प्रथम चार निकायों को ही प्रधानता देते हैं, किन्तु उनके यहाँ 'क्षुद्रकागम' भी है, जिसमें, धर्मपद, उदान, सूत्रनिपात, विमानवस्तु और बुद्धवंश यही पाँच ग्रन्थ हैं, जबकि स्थविरवादीय 'खुद्दक-निकाय' में, जैसा कि हम उसके साहित्य पर विचार करते हुए पहले देख चुके हैं, १५ ग्रन्थ हैं। सर्वास्तिवादियों के विनय-पिटक का विभाजन एक सम्प्रदाय के अनुसार पाराजिक और प्रायश्चित्तिक (स्थविरों के पाराजिक और पाचित्तिय) एवं अवदान के रूप में हुआ है, और एक दूसरे सम्प्रदाय के अनुसार विनय-वस्तु, प्रातिमोक्ष सूत्र, विनय-विभाग, विनय-क्षुद्रक-वस्तु और विनय-उत्तर ग्रन्थ आदि के रूप में, जिनके नियमों की संख्या आदि-में अल्प विभेद हैं, किन्तु इतनी सूक्ष्मता में जाने की हमें यहां आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः मथुरा के सर्वास्तिवादियों और तिब्बत की सर्वास्तिवादी परम्परा में छोटे-मोटे विनय-सम्बन्धी विभेद थे और कहीं-कहीं दोनों के विनय के वर्गीकरण में भी अन्तर था। परन्तु मोटी बातों में न केवल स्थविरवादी और सर्वास्तिवादी विनय ही समान हैं, बल्कि महायान के भिक्षु भी प्रायः उन्हीं नियमों का साधारणतः अनुसरण करते हैं। सब्बत्थिवादी और महासंघिक जब स्थविरवाद से अलग हुए थे उस समय अभिधर्म के स्वरूप के संबंध में झगड़ा चल रहा था, और उसी में प्रधानतः इन दोनों सप्रदायों की स्थविरवाद से विभिन्नता थी। इस प्रकार सर्वास्तिवादियों के सामान्य साहित्य का निर्देश कर अब हम उनके दो उत्तरकालीन सम्प्रदायों के साहित्य और आचार्यों की परम्परा आते हैं, जो भारतीय दर्शन के सम्प्रदायों के साथ सीधे सम्बन्ध में आए हैं, अतः हमारे दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण हैं। पहले हम सौत्रान्तिकों को लेते हैं।

'सौत्रान्तिकों' का यह नाम क्यों पड़ा, इसके विषय में हम पहले ही कह चुके हैं। 'सूत्र पिटक' पर ही अधिक जोर देने और उसीको प्रमाण मानने के कारण ये 'सौत्रान्तिक' कहलाए[1]। माधवाचार्य ने इस नाम की एक स्वकल्पित व्याख्या दी है[2] जो अनैतिहासिक होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती। किन्तु यदि उसका भी तात्पर्य केवल सौत्रान्तिकों की 'सूत्र पिटक' विषयक

(१) द्रष्टव्य हेस्टिंग्स एन्साईक्लोपैडिया ऑफ़ रिलीजन एण्ड एथिक्स, जिल्द ९, 'सौत्रान्तिक' शीर्षक में; मिलाइए कीथ : बुद्धिस्ट फिलॉसफ़ी पृष्ठ १५५ भी।

(२) देखिए 'सर्वदर्शन संग्रह' (गवर्नमेन्ट ओरियन्टल सीरीज पूना) पृष्ठ १९

प्रामाणय-बुद्धि को ही दिखाने का है तो उस अर्थ में वह ठीक है। सौत्रान्तिक मत की स्थापना करने वाले कुमारलब्ध या कुमार लात नामक आचार्य माने जाते हैं। युआन्-चुआङ् ने भी उन्हें ऐसा ही माना है[1]। इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा तीसरी शताब्दी का प्रथमार्द्ध माना जाता है। कोई कोई इन्हें नागार्जुन का समकालिक भी मानते हैं। इनका विरचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। कुमार लब्ध के दो शिष्य भी इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य हैं, यथा श्रीलब्ध और हरिवर्मा। श्रीलब्ध का 'विभाषा शास्त्र' नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। हरिवर्मा का 'सत्यसिद्धि शास्त्र' सर्वधर्मशून्यता के सिद्धान्त का वर्णन करता है। अतः दार्शनिक दृष्टि से इन्हें माध्यमिकों की परम्परा में ही रखना ठीक है। किन्तु धार्मिक सम्प्रदाय की दृष्टि से वे सौत्रान्तिक हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे, बौद्ध आचार्यों का अपने सम्प्रदायों में उलट-फेर बहुत हुआ है और कभी-कभी तो हम निश्चय ही नहीं कर पाते कि एक ही आचार्य को किस विचार सम्प्रदाय में रक्खा जाय क्योंकि एक ग्रन्थ में जो किसी एक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करता है वही दूसरे ग्रन्थ में अन्यत्र प्रवणता दिखाता है। हरिवर्मा ने 'सर्वधर्मशून्यता' का वर्णन 'हीनयानी' (यदि ऐसा हम कह सकें) दृष्टिकोण से ही किया है[2], अतः उन्हें यहीं रखने के हम पक्षपाती हैं। इनके ग्रन्थ 'सत्यसिद्धिशास्त्र' का चीनी अनुवाद सन् ४०३ ई० में कुमारजीव के द्वारा किया गया। धर्मत्रात और बुद्धदेव दो अन्य इस सम्प्रदाय के आचार्य हैं। इसी प्रकार वसुबन्धु के 'अभिधर्म कोश' पर 'स्फुटार्था' नाम की टीका लिखने वाले आचार्य यशोमित्र भी इसी सम्प्रदाय के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। यही सौत्रान्तिक मत के साहित्य और आचार्यों की संक्षिप्त परम्परा है।

---

(१) द्रष्टव्य : टी वाटर्स : औन यून्-चुआङ् जिल्द दूसरी, पृष्ठ २२५

(२) देखिए रयूकन किमूरा : दि ओरीजिनल एण्ड डिवैलप्ड डॉक्ट्रिन्स आफ इण्डियन बुद्धिज्म, अध्याय ६; हरिवर्मा का 'सत्यसिद्धि' सिद्धान्त एक प्रकार से 'हीनयानी' और 'महायानी' सम्प्रदायों की मध्यस्थता सी करता है। सर्वास्तिवादियों के 'स्कन्ध' सम्बन्धी सिद्धान्त के ये प्रबल विरोधी हैं। इनका 'सत्यसिद्धि शास्त्र' नामक ग्रन्थ कुमार जीव के द्वारा चीनी भाषामें अनुवादित मिलता है। मूल अभी अप्राप्त है। इनके सिद्धान्त के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, सोजन : सिस्टम्स ऑव बुद्धिष्ट फ़िलॉसफी, पृष्ठ १७२-१८५

अब हम वैभाषिक मत पर आते हैं। वैभाषिक मत के विषय में हम, उनके अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ' 'अभिधर्म विभाषा शास्त्र' (आर्य कात्यायनी पुत्र विरचित 'अभिधर्म ज्ञान प्रस्थान शास्त्र' पर कनिष्क के समय में लिखी हुई व्याख्या) का तो वर्णन कर ही चुके हैं। चौथी शताब्दी में लिखा हुआ आचार्य वसुबन्धु का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश', जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, 'काश्मीर वैभाषिक' परम्परा का ही अनुवर्तन करता है और उसीके दृष्टिकोण से लिखा गया है, यद्यपि जैसा कि हम जानते हैं अपने अग्रज असंग की प्रेरणा से इसके लेखक ही बाद में विज्ञानवाद की परम्परा में चले गए थे। आचार्य वसुबन्धु अपने ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश' के आधार पर बौद्ध विचार के क्षेत्र में अमर ख्याति के अधिकारी हैं। एक समय था जब कि बाण के साक्ष्य पर शुक और सारिकाओं के द्वारा भी इस 'अमर' कोश का पाठ होता था 'शुकैरपि शाक्य शासन कुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः'। निश्चय ही ऐसा सम्मान किसी भी बौद्ध आचार्य की कृति को इस देश में नहीं मिल सका है। आचार्य वसुबन्धु को 'द्वितीय बुद्ध' कहा जाता है। यशोमित्र ने 'स्फुटार्था' (अभिधर्मकोश की टीका) में वसुबन्धु के सम्बन्ध में लिखा है 'यं बुद्धिमतामग्र्य' द्वितीयमिव बुद्धमित्याहुः। इससे जाना जा सकता है कि बौद्ध साधना के क्षेत्र में वसुबन्धु को कितना उच्च स्थान दिया गया है[1]। 'अभिधर्मकोश' वस्तुतः बौद्ध दार्शनिक ज्ञान का भाण्डार है और वैभाषिक मत से विशेषतः सम्बन्धित होते हुए भी वह सामान्यतः सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। स्थविरवाद में जो स्थान 'विसुद्धिमग्ग' का है उसे ही बौद्ध दर्शन के उत्तरकालिक विकास में 'अभिधर्मकोश' का मानना चाहिये। चीन, तिब्बत, जापान आदि में बौद्ध धर्म के प्रचार के कार्य में 'अभिधर्मकोश' ने बड़ी सहायता की है। वसुबन्धु गंधार प्रदेश के पुरुषपुर (पेशावर) के निवासी थे। युवावस्था में वे अयोध्या भी आये थे। कहा जाता है कि विन्ध्यवासी नामक प्रसिद्ध सांख्याचार्य ने इनके गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। वसुबन्धु से शास्त्रार्थ करने के पूर्व ही विन्ध्यवासी का देहान्त होगया। यह विन्ध्यवासी ही सांख्य ग्रन्थ 'सांख्य सप्तति' के लेखक थे, ऐसा माना जाता है। वसुबन्धु ने 'सांख्यसप्तति' के खण्डन क रूप में अपना ग्रन्थ 'परमार्थसप्तति' लिखा। आचार्य वसुबन्धु का सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिधर्म कोश' ही है। अभिधर्मकोश का

(१) मिलाइए चेरवास्की : बुद्धिस्ट लॉजिक, भाग प्रथम, पृष्ठ ३२

दो बार चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। परमार्थ द्वारा छठी शताब्दी में और युआन्-चुआङ् द्वारा सातवीं शताब्दी में। यह महाग्रन्थ आठ परिच्छेदों में विभक्त है और बौद्ध दर्शन सम्बन्धी किसी महत्त्वपूर्ण विषय को इसमें छोड़ा नहीं गया है। स्थिरमति, गुणमति, दिङ्नाग और यशोमित्र जैसे बाद के बौद्ध विद्वानों द्वारा इस ग्रन्थ की टीकाएँ लिखी गईं। अभिधर्म कोश और परमार्थ सप्तति के अतिरिक्त तर्कशास्त्र और वादविधि नामक ग्रन्थ भी वसुबन्धु ने लिखे थे। वसुबन्धु के समकालिक दो प्रसिद्ध आचार्य थे मनोरथ और संघभद्र। संघभद्र ने अपने दो प्रसिद्ध ग्रन्थों 'अभिधर्म न्यायानुसार' और 'अभिधर्मसमय प्रदीपिका' में में वैभाषिक मत का प्रतिपादन किया है। 'अभिधर्म-न्यायानुसार' में इन्होंने 'अभिधर्मकोश' की कुछ मान्यताओं को वैभाषिक मत से विपरीत मानकर उनका प्रतिवाद किया है। अतः इस ग्रन्थ को 'कोशकरका' भी कहा जाता है। सर्वास्तिवादियों के अन्य अनेक ग्रन्थों का परिचय डा० तकाकुसु ने दिया है जिनके विस्तार में जाना यहाँ उपयुक्त न होगा। यहां यह और कह देना चाहिए कि आचार्यों के विषय में सर्वास्ति-वादियों के उपर्युक्त दो सम्प्रदायों में विशेष विभिन्नता नहीं है और जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कुछ अन्य बौद्ध सम्प्रदायों के आचार्य भी अपने कुछ विशिष्ट ग्रन्थों (सम्पूर्ण नहीं) के आधार पर सर्वास्तिवाद के एक या अन्य सम्प्रदाय की परम्परा में आते दिखाई देते हैं। इस दृष्टि कोण से देखने पर आचार्य स्थिरमति अपने 'तत्वार्थ' के कारण, दिङ्नाग[1] अपने 'मर्म प्रदीप' के कारण, और संघभद्र अपनी 'कोशकरका' के आधार पर सर्वास्तिवादी परम्परा में ही दिखाई पड़ते हैं। आचार्य अश्वघोष और आर्यशूर कुछ विद्वानों के अनुसार 'सर्वास्तिवादी' नहीं हैं, किन्तु उनके क्रमशः 'बुद्ध चरित' और 'जातक माला' के कुछ अंश सर्वास्तिवादी सिद्धान्तों का प्रख्यापन करते

(१) चित्सुख की 'तत्त्वप्रदीपिका' पर 'न्याय प्रसादिनी' आचार्य दिङ्नाग को वैभाषिक मत के प्रवर्तक होने का महत्त्व देना चाहती है 'वैभाषिकानां सूत्रकृतो दिङ्नागस्य' (पृष्ठ २४४ निर्णय सागर संस्करण)। चूंकि धर्मकीर्ति दिङ्नाग के व्याख्याकार हैं, अतः इस प्रकार वे भी इसी पर-म्परा में आते हैं। इसी प्रकार धर्मकीर्ति के व्याख्याकार धर्मोत्तर भी। किन्तु हम इनको सौत्रान्तिक मत के मुख्य व्याख्याता नहीं मान सकते, जैसा कि आचार्य हिरियण्ण मानते हैं, देखिए उनकी आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफी में (बौद्ध दर्शन का विवेचन)।

हैं[1]। इसके अतिरिक्त भदन्त घोषक और धर्मोत्तर भी 'सर्वास्तिवाद' सम्प्रदाय के ही एक-न-एक विभाग में आते हैं। अब हम सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदायों (जिनकी ही सम्मिलित संज्ञा सर्वास्तिवादी, अनात्मा-सर्वास्तिवादी अथवा हेतुवादी है) के सिद्धांतों पर आते हैं।

'तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मतः' ऐसा अभिधर्मकोश का कहना है (५।२५)। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मों (वस्तु, विषय, अर्थ पदार्थ, प्रमेय[2]) के तीनों कालों में अस्तित्व को जो कहता है, वह सर्वास्तिवादी है।' इस प्रकार धर्मों का तीनों कालों में अस्तित्व है। सर्वास्तिवादियों का तर्क भगवान् बुद्ध के ही एक वचन को लेकर इस प्रकार चलता है। भगवान् बुद्ध ने कहा (जैसा कि वह सर्वास्तिवादियों के 'संयुक्तागम' में अंकित है—पालि त्रिपिटक के अनुकूल भी है) कि 'हे भिक्षुओ! अतीत और अनागत रूप अनित्य हैं। प्रत्युत्पन्न रूप के विषय में तो कहना ही क्या? इस प्रकार दर्शन को जानने वाला, श्रुतवान्, आर्य श्रावक अतीत रूप में अपेक्षा से रहित होता है। अनागत रूप का वह अभिनन्दन नहीं करता और प्रत्युत्पन्न रूप से निर्वेद प्राप्त कर लेने पर वह विराग और निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है[3]।' इस बुद्ध-वचन का आश्रय लेकर और भगवान् बुद्ध के शब्दों का प्रवर्तन करते हुए सर्वास्तिवादी कहते हैं कि 'अतीत रूप यदि नहीं होता तो श्रुतवान् आर्यश्रावक अनपेक्ष ही किसमें होता? विज्ञान की तो दो हेतुओं

सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त

(१) देखिए, राधाकृष्णन्: इण्डियन फिलॉसफी, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ६१३, पद-संकेत १; हमारी विनम्र धारणा के अनुसार तो आचार्य अश्वघोष निश्चयतः सर्वास्तिवादी थे। हां, उनकी रचनाओं में महायानी तत्त्व अवश्य मिलते हैं। हमने उनका उल्लेख महायानी आचार्यों के अन्तर्गत आगे चल कर किया है। ऐसा करने के कारण भी वहां निर्दिष्ट कर दिये गये गये हैं।

(२) देखिए आगे पांचवें प्रकरण में आचार्य गौडपाद के द्वारा इस शब्द के प्रयोग पर विचार। द्रष्टव्य अभिधर्म कोश १।६ पर स्फुटार्था भी।

(३) 'रूप अनित्यं अतीतं अनागतम्, कः पुनर्वादः प्रत्युत्पन्नस्य? एवं दर्शी श्रुतवान् आर्य श्रावकोऽतीते रूपेऽनापेक्षो भवति। अनागतं रूपं नाभिनन्दति। प्रत्युत्पन्नस्य रूपस्य निर्विदे विरागाय निरोधाय प्रतिपन्नो भवति। संयुक्तागम—३।१४; देखिए अभिधर्म कोश (राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित) ५।२४ (पृष्ठ १३८)

से ही उत्पत्ति होती है, चक्षु-इन्द्रिय और रूप से। इसी प्रकार श्रोत्र इन्द्रिय और शब्द, मन इन्द्रिय और धर्म[1]।' यदि अतीत और अनागत हैं ही नहीं, तो मनोविज्ञान कहां से उत्पन्न हो जायगा ! क्या विज्ञान कभी निरालंबन (बिना किसी आलम्बन के) या निर्विषय हो सकता है ? 'सालम्बनम् हि विज्ञानम्'। विज्ञान के लिए सदा कोई आलंबन चाहिए ही। अतीत का यदि अभाव ही हो तो फल का उत्पादन कहां से होगा ? क्योंकि फल की उत्पत्ति-काल ही में तो विपाक-हेतु अतीत हो जाता है[2]। अतः धर्मों का तीनों कालों में अस्तित्व है ही। सर्वास्तिवादियों का सत्ता संबंधी विषय को लेकर विभज्यवादियों से विभेद है। जो अतीत उत्पन्न तो हो गया है, किन्तु जिसने अभी फल नहीं दिया, उसके अस्तित्व को जो स्वीकार करते हैं तथा उस अनागत के अतीत अंश को, जो फल दे चुका है, उसके अस्तित्व को जो स्वीकार करते हैं, वे विभज्यवादी हैं, सर्वास्तिवादी नहीं। सर्वास्तिवादी तो तीनों ही कालों में अस्तित्व मानते हैं[3]। सर्वास्तिवादियों के अनुसार इस प्रकार धर्मों के अस्तित्व के तीनों ही काल हैं, यथा अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत[4]। हम कह सकते हैं कि पालि-त्रिपटक में भी इस स्थिति को प्रख्यापित करने वाले अनेक बुद्ध-वचन हैं। 'तीनि इमानि भिक्खवे कथावत्थूनि। कतमानि

(१) 'अतीतं चेत् भिक्षवः। रूपं नाभविष्यन्न श्रुतवानार्यश्रावकः........ विज्ञानं द्विहेतुनोत्पद्यते, चक्षुरिन्द्रियं रूपं च, श्रोत्रेन्द्रियं शब्दश्च, मन इन्द्रियं धर्मश्च'। संयुक्तागम ३।१४; ३।३२; अभिधर्मकोश-नालन्दिका व्याख्या (राहुल सांकृत्यायन कृत) में उद्धृत।

(२) यदि अतीतानागता न भवेयुः मनोविज्ञानं (यस्य ते विषया :) न द्वाभ्यामुत्पद्येत। अतीतानागतवस्त्वभावे विज्ञानं निरालम्बनं स्यात्। सावलम्बनं (सद्विषयम्) हि विज्ञानम्। अतीताभावे न फलोत्पादः। फलोत्पत्तिकाले हि विपाकहेतुरतीतो भवति। 'नालन्दिका' ५।२४; पृष्ठ १३८ (अभिधर्म कोश)

(३) ये हि प्रत्युत्पन्नस्य अतीतैकांशस्य (अदत्तफलं कर्म) चास्ति चास्तित्वं अनागतस्य अतीतैकांशस्य (दत्तफलं कर्म) च नास्तित्वं मन्यन्ते ते विभज्यवादिनः न सर्वास्तिवादिनः। 'नालन्दिका' ५।२४; पृष्ठ १३८ (अभिधर्म कोश)

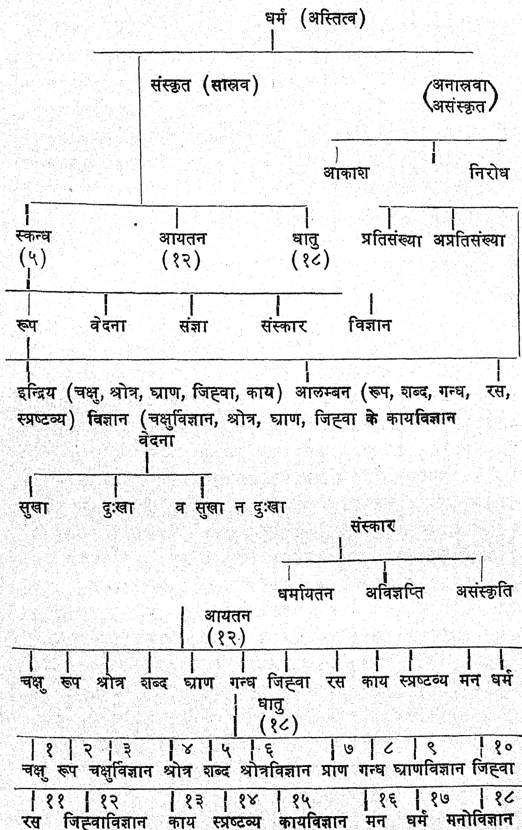
(४) मिलाइए, त्र्यध्वकास्ते तदुक्तेः द्वयात् सद्विषयात् फलात्। अभिधर्म कोश ५।२४; त एवाऽध्वा कथावस्तुसनिः साराः सवस्तुकाः। अभिधर्म कोश १।७

तीनि। अतीतं वा भिक्खवे, अद्धानं आरब्भ कथं कथेय्य। अनागतं...... पच्चुप्पन्नं (अंगुत्तर ३।७।७) 'एवमिदं, दीघमद्धानं सन्धावितं संसारितं मम चेव तुम्हाकं च (अंगुत्तर ४।१।१) 'यस्मा च भिक्खवे, अत्थि लोको निस्सरणं' (अंगुत्तर ३।११।२) आदि वाक्य सर्वास्तिवादी परिस्थिति को ही स्पष्ट करते हैं। सर्वास्तिवादियों के चार प्रकार आचार्य वसुबन्धु ने गिनाए हैं 'चतुर्विधाः' (अभिधर्मकोश ५।२५)। इनमें से भदन्त धर्मत्राता 'भावान्यथात्व' को स्वीकार करते हैं जिसका अर्थ है कि अस्तित्व के अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न, ये तीन काल भाववैसादृश्य के कारण ही होते हैं। और द्रव्य में अन्यथात्व नहीं होता, जिस प्रकार कि दही भाव को प्राप्त हुए दूध में रसादि भावों के अन्यथात्व होने पर शुक्लता। भदन्त घोषक मानते हैं कि अतीत धर्म अतीतलक्षण होता है किन्तु वह प्रत्युत्पन्न और अनागत लक्षणों से वियुक्त नहीं होता। इसी प्रकार अनागत अनागतलक्षण होता है किन्तु प्रत्युत्पन्न और अतीत लक्षणों से वह वियुक्त नहीं होता और इसी तरह प्रत्युत्पन्न प्रत्युत्पन्नलक्षण होता है किन्तु अतीत और अनागत लक्षणों से वह विप्रयुक्त नहीं होता। यही सिद्धांत 'लक्षणान्यथात्व' कहलाता है और भदन्त घोषक इसको मानते हैं। तीसरे प्रकार के सर्वास्तिवादी वे हैं, जो 'अवस्थान्यथात्व' को स्वीकार करते हैं। इनमें मुख्य आचार्य वसुमित्र हैं जो कनिष्क के समकालिक थे। 'अवस्थान्यथात्व' का तात्पर्य यह है कि अवस्था भेद से ही काल का भेद होता है। धर्मों में अवस्था से ही भेद है, द्रव्यतः नहीं। चौथा सर्वास्तिवादी मत है भदन्त बुद्धदेव का जो 'अन्यथान्यथात्व' को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार धर्म ही काल का अतिक्रमण करते हुए उन-उन नामों को ग्रहण करते हैं। 'अतीत' जब हम कहते हैं तो केवल प्रत्युत्पन्न और अनागत की अपेक्षा से ही। इसी तरह अनागत को प्रत्युत्पन्न और अतीत की अपेक्षा से ही। यही 'अन्यथान्यथात्व' है। इस प्रकार 'भावान्यथात्व' 'लक्षणान्यथात्व' 'अवस्थाऽन्यथात्व' और 'अन्यथान्यथात्व' ये सर्वास्तिवाद सिद्धांत के चार प्रकार हैं[1], जिनके विषय में अभिधर्मकोश अपनी सूत्रात्मक शैली में कहता है 'एते भावलक्षणावस्थान्यथान्यथिकाह्वयाः' (५।२६), इन सबमें से आचार्य वसुबन्धु ने वसुमित्र के सिद्धांत (अन्यथाऽन्यथात्व) को 'शोभन 'अध्वान' माना है 'तृतीयः शोभनोऽध्वानः' ५।२६। अब हम सर्वास्तिवादियों के अस्तित्व-निरूपण पर आते हैं जो उनके दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धांत है। इसके विषय में सौत्रान्तिकों

(१) जिनके विस्तृत वर्णन के लिए देखिए 'अभिधर्मकोश', पृष्ठ १३९

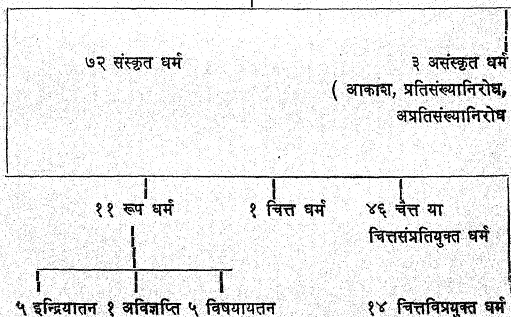
और वैभाषिकों में कोई विशेष विभेद नहीं है, क्योंकि दोनों ही सर्वास्तिवादी हैं। वसुबन्धु ने कहा है कि धर्मों अर्थात् बाह्य और आन्तरिक पदार्थों के सम्यक् ज्ञान के बिना क्लेशों के, रागादि मलों के, उपशमन करने का और कोई उपाय नहीं है (धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानां यत उपशान्तयेऽभ्युपायः अभिधर्मकोश १।३)[१] निश्चय ही समग्र अभिधर्म कोश का विषय ही धर्म अर्थात् बाह्य और आन्तरिक पदार्थों (अथवा यों कहिए कि बाह्य और आन्तर सत्ता) का विवेचन करना है। 'सास्रवाऽ- नास्रवा धर्माः' (अभिधर्म कोश १।४) से लेकर अभिधर्मकोशकार ने धातुओं, इन्द्रियों, लोक-धातुओं, अनुशय, पुद्गल आदि के विस्तृत विवरण उपस्थित करते हुए विश्लेषण-प्रियता का अन्त ही कर दिया है। हम यहां सर्वास्तिवादियों ने अस्तित्व का जो विश्लेषण किया है उसका एक शतांश भी उपस्थित नहीं कर सकते। केवल कुछ निर्देश मात्र कर सकते हैं। सर्वास्तिवादी अस्तित्व अथवा धर्म को दो भागों में बांटते हैं, 'संस्कृत धर्म' और 'असंस्कृत धर्म'। हेतु-प्रत्यय-जनित सभी धर्म 'संस्कृत', धर्म हैं। (उत्पत्ति और निरोध धर्म वाले) यही 'संस्कृत धर्म' 'सास्रव धर्म' भी कहलाते हैं, क्योंकि इनमें आस्रव अर्थात् रागादि मल आश्रय ग्रहण करते हैं ('सास्रवा आस्रवास्तेषु यस्मात्समनुशेरते' (अभिधर्म कोश १।४)। 'असंस्कृत धर्म' 'अनास्रव' होते हैं और वे समष्टि रूप में 'मार्ग सत्य' कहलाते हैं और वे तीन प्रकार के होते हैं 'अनास्रवा मार्गसत्यं त्रिविधं चाऽप्यसंस्कृतम्' (अभिधर्म कोश १।५)। अनास्रव (अथवा असंस्कृत) धर्मों का यह त्रिविध विभाग इस प्रकार है, आकाश, प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध। 'आकाशं द्वौ निरोधौ च' (अभिधर्म कोश १।५) : इनमें से आकाश अनावरण स्वरूप है, सब सास्रव धर्मों का जो पृथक्-पृथक्-वियोग है, वह प्रतिसंख्यानिरोध है। प्रतिसंख्या प्रज्ञा है, उसके द्वारा जो निरोध होता है, वह 'प्रतिसंख्या निरोध' है। धर्मों की उत्पत्ति का अत्यन्त विरोधी जो अन्य स्वरूप-वियोग है, वही अप्रतिसंख्या-निरोध कहलाता है। 'संस्कृत' धर्मों के विषय में हमें इस प्रकार समझना चाहिए कि स्कन्धों (५) आयतनों (१२) और धातुओं (१८) में वे सब संगृहीत हैं। 'एकेन स्कन्धाऽऽयतन धातुना सर्वसंग्रहः' (अभिधर्म कोश १।१८)। किन्तु इन सबका अलग-अलग विवेचन करना और अलग-अलग स्वरूप निर्देश करना तो 'अभिधर्म कोश' की ही एक विस्तृत व्याख्या करना होगा, अतः सिवाय तालिका के द्वारा निर्देश करने के और कोई चारा ही नहीं है—

(१) मिलाइए न्यायसूत्र का प्रथम सूत्र।


धर्म (अस्तित्व)
संस्कृत (सास्रव)
(अनास्रवा
असंस्कृत)
आकाश
निरोध
स्कन्ध
(५)
आयतन
(१२)
धातु
(१८)
प्रतिसंख्या
अप्रतिसंख्या
रूप
वेदना
संज्ञा
संस्कार
विज्ञान
इन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय)
आलम्बन (रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य)
विज्ञान (चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा के कायविज्ञान
वेदना
सुखा
दुःखा
व सुखा न दुःखा
संस्कार
धर्मायतन
अविज्ञप्ति
असंस्कृति
आयतन
(१२)
चक्षु
रूप
श्रोत्र
शब्द
घ्राण
गन्ध
जिह्वा
रस
काय
स्प्रष्टव्य
मन
धर्म
धातु
(१८)
१ चक्षु
२ रूप
३ चक्षुर्विज्ञान
४ श्रोत्र
५ शब्द
६ श्रोत्रविज्ञान
७ घ्राण
८ गन्ध
९ घ्राणविज्ञान
१० जिह्वा
११ रस
१२ जिह्वाविज्ञान
१३ काय
१४ स्प्रष्टव्य
१५ कायविज्ञान
१६ मन
१७ धर्म
१८ मनोविज्ञान

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका में हमने पांच स्कन्धों, बारह आयतनों (अर्थात् पांच इन्द्रियायतन + मन आयतन तथा पांच विषयातन + धर्मायतन) तथा अठारह धातुओं (अर्थात् छः इन्द्रिय धातु + छः इन्द्रियविज्ञान-धातु + छः इन्द्रिय विषय धातु,) को देखा। यह धर्म अथवा अस्तित्व का 'आन्तर' विभागीकरण है जिसे सर्वास्तिवादी करते हैं। इसका भी फिर अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण है ।जसे जिज्ञासु पाठक महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी की 'अभिधर्म कोश' के अन्त में दी हुई विस्तृत और अत्यन्त सूचनामय तालिकाओं में देख सकते हैं। सर्वास्तिवादियों के द्वारा किया गया 'धर्म' या सत्ता का बाह्य निरूपण और विश्लेषण भी हमें समझ लेना चाहिए। उन्होंने जो भूत और भौतिक तथा चित्त और चैत्त दो प्रकार का अस्तित्व दिखाया है उसके समग्र रूप को हमें यहां समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वह स्वतः तो अपनी महत्ता रखता ही है, उसके बिना समझे हमारे लिए शंकर के इस विषयक प्रत्याख्यानों को भी उनके ठीक दृष्टिकोण में समझना कठिन होगा, जिन पर हमें पांचवें प्रकरण में आना होगा। चित्त और चैत्त जगत् में तो धर्मों के विश्लेषण (अर्थात् आन्तर अस्तित्व का विभागीकरण) को हम पूर्व दिखा चुके हैं, अब हम धर्मों के बाह्य विश्लेषण पर आते हैं। इसको भी विना तालिका के प्रकट करना यहां असम्भव होगा। अतः उसी का सहारा लेना पड़ता है।

धर्म



इनके विशेष व्याख्यान में हम नहीं जा सकते और केवल नाम-परिगणन मात्र से कुछ लाभ नहीं होगा। अतः सर्वास्तिवादियों की सामान्य बातों का विवेचन समाप्त कर अब हम उनके सम्प्रदायों अर्थात् सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों के तत्वज्ञान एवं प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी विचारों को देखें जो एक दूसरे से मिले हुए हैं।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत—तत्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा के क्षेत्र में

सौत्रान्तिक और वैभाषिक मत दोनों ही सर्वास्तित्ववादी हैं अर्थात् दोनों ही बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु उन दोनों में महान् विभेद यह है कि वैभाषिक तो प्रत्यक्ष के द्वारा बाह्य पदार्थों के अनुभव को मानते हैं और सौत्रान्तिक मानते हैं उन्हें अनुमेय। इसी अर्थ को लेकर 'सर्वदर्शनसंग्रहकार' ने कहा है 'अर्थो ज्ञानान्वितो वैभाषिकेण बहु मन्यते। सौत्रान्तिकेन प्रत्यक्षग्राह्यार्थो न बहिर्मतः'। वैभाषिक कहता है कि बाह्य पदार्थ चित्त में अपने आकार अथवा अपने आकार के विज्ञान को उत्पन्न करते हैं। इन विज्ञानों और बाह्य पदार्थों की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसके विपरीत सौत्रान्तिक कहता है कि बाह्य पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं किन्तु अनुमान से होता है। बाह्य पदार्थों के केवल हमारे मन पर चित्र खिचते हैं जिनकी सहायता से हम यह अनुमान करते हैं कि बाह्य वस्तुएँ हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं को अनुमेय बताकर भी सौत्रान्तिक विज्ञानवाद के पक्ष में प्रवेश नहीं करते। वे कहते हैं कि जब बाह्य वस्तुओं के हमारे मन पर चित्र खिचते हैं और उन चित्रों से हम बाह्य पदार्थों का अनुमान करते हैं, तो हम बाह्य पदार्थों का ही अपलाप नहीं कर सकते क्योंकि बाह्य पदार्थों का अनुमान होते समय हमें निश्चय ही यही अनुभव होता है कि 'ये बाह्य पदार्थ हैं'। 'बाह्यता' की अनुभूति अनुमान का एक विशेष अंग होती है, अतः उसको हटाया नहीं जा सकता। बाह्यता विज्ञानों में नहीं किन्तु पदार्थों में है। वैभाषिकों का यह भी तर्क है (जिसे ही मीमांसकों ने विज्ञानवाद के विरुद्ध प्रयुक्त किया है—देखिए पाँचवें प्रकरण में मीमांसा दर्शन का विवेचन) कि बिना बाह्य पदार्थों को माने विज्ञानों की विचित्रता और विविध स्वरूपता की संगति नहीं लगाई जा सकती। अतः बाह्य पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करके भी सौत्रान्तिक उन्हें केवल अनुमेय मानते हैं और यह सिद्धान्त उनका वैभाषिकों के द्वारा आलोचित किया गया है। सौत्रान्तिक कहते हैं कि किसी वस्तु को देखने से पहले हम उसके मानसिक विकार को देखते हैं और फिर उसके द्वारा बाह्य

वस्तु की ओर संकेत करते हैं। वैभाषिक प्रत्यक्ष के द्वारा ही उसका अनुभव मानते हैं। इस बात को छोड़कर अन्य बातों में दोनों में विभेद नहीं है। क्षणिकवाद दोनों स्वीकार करते हैं, किन्तु चूंकि क्षणिकवाद प्रायः चारों बौद्ध सम्प्रदायों को ही मान्य है, अतः उसका निरूपण हम अलग करेंगे। इसी प्रकार नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त का पूर्ण रूप शून्यवाद मत में ही प्रकाशित हुआ है, अतः उसका विवेचन वहीं करेंगे। सर्वास्तिवादियों के परमाणुवाद के विषय में भी यहाँ विशेष वक्तव्य नहीं है, क्योंकि पाँचवें प्रकरण में जब हम आचार्य शंकर के द्वारा किए गए बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों के प्रत्याख्यानों को देखेंगे तो सर्व प्रथम हम बौद्ध परमाणुवाद का ही निरूपण वहाँ देखेंगे। किन्तु यहाँ भी संकेत रूप से इतना कह देना चाहिए कि सर्वास्तिवादियों के मतानुसार 'परमाणु' शब्दायतन रहित अर्थात् अशब्द तथा इन्द्रिय-प्रवेश के अयोग्य होता है। वह अष्ट-द्रव्यात्मक होता है, यथा चार महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु) तथा चार भौतिक (यथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श)। अशब्द, कायेन्द्रिय और कायायतन प्रवेश के योग्य परमाणु नव द्रव्यात्मक होता है (नवाँ द्रव्य 'स्प्रष्टव्य' होता है)। इसी प्रकार चक्षु के सहित परमाणु दश द्रव्यात्मक भी होता है (कामेऽष्ट द्रव्यकोऽशब्दः परमाणुरनिन्द्रियः। कायेन्द्रियो नवद्रव्यो दशद्रव्योऽपरेन्द्रियः) ॥ (अभिधर्म कोश २।२२)। पृथ्वी धातु, आपोधातु, तेजो धातु, वायु-धातु, ये चार भूत हैं। धारण करने से यही धातुएँ हैं। अन्य सभी के ये आश्रय हैं, इसीलिए ये महाभूत कहलाते हैं। धृति (स्थैर्य) संग्रह (समूह में लाना) पक्ति (पाक क्रिया) और व्यूहन (वृद्धि) से क्रमशः पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चारों धातुओं की सिद्धि होती है जिनमें क्रमशः पृथिवीधातु खर (कठिन) स्वभाव, जल धातु स्नेह (आर्द्री करण)—स्वभाव, तेजोधातु उष्णता-स्वभाव तथा वायुधातु ईरण-(गति)स्वभाव है 'धृत्यादि-कर्म संसिद्धाः खरस्नेहोष्णतेरणाः' अभिधर्मकोश १।१२। इस संघात की अपर्याप्तता कैसे है, इसका विवेचन आगे पांचवें प्रकरण में उपलब्ध हो जायगा।

सौत्रान्तिक और वैभाषिक दोनों मत आचार तत्व की दृष्टि से हीनयान-परम्परा का ही अवलम्बन करने वाले हैं जिसका आदर्श 'अर्हत्' पद की प्राप्ति करना है। अर्हत् पुरुष तीन प्रकार के माने गए हैं, यथा 'बुद्ध' 'प्रत्येक बुद्ध' और 'श्रावक अर्हत्'। जो पुरुष बिना किसी गुरु की सहायता के स्वयं अपने ही पुरुषार्थ या 'प्रधान' से बोधि-ज्ञान को प्राप्त करते हैं और अन्त में निर्वाण-प्राप्त होते हैं, वे बुद्ध और 'प्रत्येक

आचार तत्व

बुद्ध' कहलाते हैं। 'बुद्ध' और 'प्रत्येक बुद्ध' (पालि पच्चेकबुद्ध) में यह अन्तर है कि जिनमें असंख्य अप्रमेय प्राणियों को उद्बोधन करने की प्रतिभा होती है वे बुद्ध कहलाते हैं और जो अपने बल से अन्यों का उद्बोधन नहीं कर सकते, किन्तु स्वयं निर्वाण-लाभ कर सकते हैं वे 'प्रत्येक बुद्ध' कहलाते हैं। जो पुरुष बुद्ध-प्रदर्शित मार्ग पर चलकर निर्वाण को लाभ करते हैं, वे 'श्रावक अर्हत्' कहलाते हैं। इस 'अर्हत्' आदर्श को जिन बौद्धों ने अपना आदर्श बनाया वे अपने विरोधियों के द्वारा 'हीनयान' का अवलम्बन करने वाले दिखाए गये, अशोक के समय के बाद से, जैसा कि हम देख ही चुके हैं। निश्चय ही उपर्युक्त रूप से परिभाषित 'अर्हत्' के आदर्श में कुछ तो 'हीनता' है ही। यहाँ सभी जोर व्यक्तिगत निर्वाण-लाभ पर ही है। इसके विपरीत इनके विरोधियों ने 'बोधिसत्व' को अपना आदर्श बनाया। जो लोग निर्वाण-विद्या को सर्वसाधारण में वितरण करने के लिए करुणा-वश होकर जन्म-जन्मान्तरों तक दूसरों के हित और कल्याण के लिए प्राण-विसर्जन करते और तब तक निर्वाण स्वीकार नहीं करते जब तक सभी प्राणी विमुक्त न हो जायँ, वे 'बोधिसत्व' कहलाते हैं। यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त 'महायान'-सम्प्रदाय का है, जिस पर हम विस्तार से पहले विचार कर चुके हैं। वस्तुतः 'अर्हत्' आदर्श इतना स्वार्थमय नहीं है जितना कि उसे अक्सर दिखाया जाता है। महायान-आचार्यों के प्रभाव में आकर हमें हीनयानियों के आचार-तत्त्व को हीन नहीं समझना चाहिए। स्वयं भगवान् बुद्ध के समय में जितने 'अर्हत्' पद को प्राप्त भिक्षु थे, सभी ने लोक सेवा की थी। आनन्द ने तो अपने को भिक्षुओं की संगीति में बैठने के योग्य ही नहीं समझा जब तक कि उन्होंने 'अर्हत्' पद प्राप्त नहीं कर लिया। 'खग्गविसाणसुत्त' की एकान्त साधना की भावनाएँ ही 'अर्हत्' आदर्श की एक मात्र प्रतिनिधि स्वरूप नहीं हैं। आश्चर्य है कि महामति डा० राधाकृष्णन् भी, जो बड़ी व्यवस्थित शैली के लेखक हैं, 'अर्हत्' आदर्श के प्रति काफी अन्याय कर गए हैं। अर्हत्-आदर्श को उन्होंने इब्सन के शब्दों का प्रयोग करते हुए उस आदमी की मनोदशा से व्यक्त किया है जो एक जहाज के टूट जाने पर सबसे पहले यह चिन्ता करता है कि मैं स्वयं कैसे बचूं[1] ? इस

(१) महामति डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं "The Hinayan ideal may be justly summed up in the statement of Ibsen 'There are actually moments when the whole history of the world appears to me like one great ship-

दुःखमय संसार में उसे केवल आत्म-त्राण की इच्छा रहती है, यह कहना अर्हत् के प्रति अन्याय करना है। निश्चय ही ऐसी कोई बात हीनयान के 'अर्हत्' आदर्श के प्रति नहीं कही जा सकती। व्यक्तिगत साधना का यह आशय कदापि नहीं कि सभी सामाजिक कर्तव्यों को तिलाञ्जलि दे दी गई है। फिर चेतना के निरोध से ही सब हीनयानी निर्वाण का तात्पर्य लेते हों, ऐसी भी बात नहीं है। हीनयान मत वाले अपने ही पुरुषार्थ से निर्वाण पाने की आशा रखते हैं। क्षणिक-वाद तो सभी बौद्ध सम्प्रदायों का सामान्य सिद्धान्त है, फिर उसके लिए हीनयान वालों को ही क्यों दोष दिया जाय! इसी प्रकार निषेधात्मकता भी हीनयानियों की अपेक्षा महायानिकों में ही अधिक है, फिर चाहे धर्म के क्षेत्र में महायानिकों ने भले ही बोधिसत्व-धर्म की कल्पना का कुछ सरसता के साथ प्रख्यापन कर दिया हो। सर्वास्तिवादियों ने प्रधानतः बुद्ध के मानुष रूप को ही स्वीकार किया है और निश्चय ही विचारकों को तो माहायानिकों के 'बोधिसत्व' आदर्श से वही अधिक आश्वासन की वस्तु हो सकता है, क्योंकि उसमें सबसे बढ़कर ऐतिहासिकता तो है। यह ठीक है कि विज्ञान-प्रवाह के विनाशक स्वरूप प्रतिसंख्या निरोध को ही 'हीनयान' निर्वाण मानता है, किन्तु 'सुखावती व्यूह' की कल्पना करने वाले महायानिकों ने भी तो अपने शास्ता का अनुसरण नहीं किया है। अधिक विस्तार में न जाकर हमें यही कहना इष्ट है कि 'हीनयान' की व्यक्तिगत-साधना का हमें तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यद्यपि वह अपने कारुणिक शास्ता के मार्ग का पूरी तरह अनुगमन नहीं करती, वह 'बहुजन हित, बहुजन सुख' को अपनी विचार प्रणाली में अधिक स्थान नहीं देती और सब प्रकार से नीति-वाद को शुष्क बनाने की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करती है, किन्तु अपने मनोरम 'बोधिसत्व' आदर्श का ढिंढोरा पीटकर महायानिकों ने ही कोई कोई अधिक लोक-सेवा कर ली हो, ऐसा हम नहीं कह सकते। कम-से-कम माहायानिकों के द्वारा दिए गए 'हीनयान' नाम के कारण ही हमें हीनयान के आदर्शों में हीनता की कल्पना नहीं कर लेना चाहिए, जैसा कि अक्सर होता है। जगत् केउद्धार का दावा लेने वाले बहुत हैं, किन्तु अपने उद्धार का भी कोई सोचने वाला होना चाहिए। जिसने पहले आत्मोद्धार नहीं किया, वह पर-उद्धार क्या कर सकेगा! वस्तुतः, जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, दोनों में विरोध नहीं है और एक के लिये

---

wreck and the only important thing seems to be to save oneself." **इंडियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ५८६-८७**

दूसरे की स्थिति आवश्यक है । लोक-सेवकों के लिए भी हीनयान आदर्श एक आकर्षक वस्तु होगा, और उसके उद्देश्य में स्वार्थपरता ही हो, ऐसा कभी कहा नहीं जा सकता । फिर भी हीनयानी कुछ अरस-रूप हैं, इसमें सन्देह नहीं और ऐसा स्वीकार करते हुए हम उनकी निन्दा नहीं करते । उनकी तीन प्रकार की बोधि यथा श्रावक बोधि, प्रत्येक बोधि, अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि; दस बोधिपक्षीय धर्म यथा श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, शान्ति, प्रज्ञा, प्रीति, उपेक्षण, प्रश्रब्धि, शील, संकल्प (जिनमें ही वे स्थविर ाद के संतीस बोधिपक्षीय धर्मों का अन्तर्भाव कर लेते हैं) सात प्रकार के श्रावक यथा श्रद्धानुसारी, धर्मानुसारी, श्रद्धाधिमुक्त, दृष्टि प्राप्त, कायसाक्षी, प्रज्ञाविमुक्त, उभयतो भाग-विमुक्त, इसी प्रकार आठ विमुक्ति-मार्ग, दस प्रकार के ज्ञान (लोकसंवृति ज्ञान, धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, दुःख ज्ञान, समुदय-ज्ञान, मार्गज्ञान, परचित्त ज्ञान, क्षय-ज्ञान तथा अनुत्पाद ज्ञान) तथा चार आर्य सत्यों के सोलह प्रकार के आकार तथा दुःख सत्य के अनित्य, दुःख, शून्य और अनात्म; समुदय सत्य के हेतु समुदय, प्रभव और प्रत्यय; निरोध सत्य के निरोध, शान्त, प्रणीत और निःसरण तथा मार्ग सत्य के मार्ग न्याय, प्रतिपद् और नैर्याणिक आदि भेद, प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के ही कुछ परिवर्तित वर्गीकरण हैं जिनमें विशेषरूप से बौद्ध विचार में रुचि रखने वाले कुछ व्यक्ति प्रवृत्ति भले ही दिखा सकें, अन्य जनों के लिए यहाँ आकर्षण नहीं है । महायान आचार्यों का सा यहाँ कोई व्यक्तित्व नहीं, है (वसुबन्धु को छोड़कर), कोई बाह्य उपचार भी नहीं, किन्तु हीनयानियों के प्रति हमें फिर भी न्याय करना चाहिए । उनके साथ, पुष्य के समान एक पैर पर खड़े होकर, रात-दिन, महाश्रमण के प्रति यह स्तुति करने का प्रस्ताव रखते हुए हम विराम लेते हैं—

'न दिवि भुवि वा नास्मिन् लोके न वैश्रवणालये ।
न मरुभवने दिव्ये स्थाने न दिक्षु विदिक्षु च ।।
चरतु वसुधां स्फीतां कृत्स्नां सपर्वतकाननाम् ।
पुरुषवृषभ ! त्वत्तुल्योऽन्यो महाश्रमण कुतः ।।

(अभिधर्म कोश ४।११)

साथ ही हे खड्गविषाणकल्प ! आपको भी प्रणाम । आप भी तो अपने ही प्रयत्न से बुद्ध बनते हैं। हे एकान्त साधक ! 'प्रधान' परायण भावी बुद्ध ! सम्यक् सम्बुद्ध की अपेक्षा से ही तो तुम हीन हो, अन्यथा आपके आदर्श को कौन हीन कहता है ? हे 'खड्गकल्प' ! कल्पशत पुण्यों के साधन-सञ्चय से ही तो आपका जन्म होता है—

'खड्‌गः कल्पशतान्वयः' (अभिधर्म कोश ३।९४)

आपकी साधना भी तो ब्रह्म फल फलती है—'महाब्रह्मत्वं तत्फलम्' (अभिधर्मकोश ८।२३)

४—महायान : साहित्य और सिद्धांत

महायान बौद्ध दर्शन के दो सम्प्रदाय हैं। (१) विज्ञानवाद (योगाचार) और (२) शून्यवाद (माध्यमिक)। विज्ञानवाद या योगाचार मत के प्रवर्तक आचार्य मैत्रेय या मैत्रेयनाथ कहे जाते हैं।

विज्ञानवाद : आचार्य और साहित्य

इनके द्वारा लिखित ये पाँच ग्रंथ बताये जाते हैं (१) मध्यान्त विभाग या मध्यन्त विभंग-सूत्र जो अपूर्ण रूप में प्राप्त है। इसका सम्पादन पं० विधुशेखर भट्टाचार्य तथा डा० तुशी ने किया है[1] (२) अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र, जिसका सम्पादन डा० चेरवास्की ने किया है।[2] (३) सूत्रालंकर या महायानसूत्रालंकार (४) महायान उत्तर-तंत्र, तथा (५) धर्मधर्मताविभंग। प्रथम ग्रंथ 'मध्यान्त विभाग' या 'मध्यन्तविभंग सूत्र' पाँच प्रकरणों में विभक्त है। इसमें कारिका भाग मैत्रेय का है और गद्यांश उनके शिष्य असंग का। इस ग्रंथ पर वसुबन्धु ने भाष्य लिखा तथा उस भाष्य पर स्थिरमति ने टीका लिखी। मैत्रेयनाथ के द्वितीय प्रसिद्ध ग्रंथ 'अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र' पर आर्य विमुक्ति सेन (चौथी शताब्दी) ने, जो वसुबन्धु के शिष्य थे, टीका लिखी। उसके बाद इसी ग्रंथ पर भदन्त विमुक्तिसेन (छठी शताब्दी) ने, जो आर्य विमुक्तिसेन के शिष्य थे, और हरिभद्र (नवीं शताब्दी) ने अपनी टीकाएं लिखीं। मैत्रेयनाथ के बाद उनके शिष्य आर्य असंग विज्ञानवाद के दूसरे प्रसिद्ध प्रभावशाली आचार्य हैं। असंग वसुबन्धु के अग्रज थे। हम पहले कह चुके हैं कि आर्य असंग ही अपने अनुज वसुबन्धु को वैभाषिक मत से योगाचार मत में लाने के लिये उत्तरदायी थे। असंग की महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं (१) महायान सूत्रालंकार (२) योगाचारभूमि शास्त्र (जो सप्तदशभूमि शास्त्र भी कहलाता है) और (३) अभिसमया-लंकार-टीका। जैसा हम पहले कह चुके हैं, महायान सूत्रालंकार आर्य असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना है। कारिका भाग मैत्रेयनाथ

---

(१) कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज, संख्या २४ (१९३२)

(२) बिबलियोथेका बुद्धिका, संख्या २३ (१९२९)

का है और व्याख्या भाग आर्य असंग का । यह ग्रंथ २१ परिच्छेदों (अधिकारों) में विभक्त है और इसमें प्रज्ञापारमिताओं के आधार पर विज्ञानवाद की विद्वत्तापूर्ण व्याख्या उपलब्ध होती है । 'योगाचार भूमिशास्त्र' को उसके मौलिक संस्कृत रूप में खोजने का श्रेय महापंडित राहुल सांकृत्यायन को है। तिब्बत से उन्होंने इसके संस्कृत रूप को प्राप्त किया है, जो भारतीय दर्शन तथा संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों के लिये एक भारी देन है। यह महाग्रंथ १७ भूमियों में विभक्त है।[1] आचार्य वसुबन्धु के जीवन का परिचय हम पहले दे चुके हैं। विज्ञानवाद की दृष्टि से इनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं,

(१) विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि[2], जो अपने दो पाठों में आज उपलब्ध होती है (१) विंशिका, जिसमें बीस कारिकाएँ हैं। वसुबन्ध ने इस पर स्वयं भाष्य लिखा है। (२) त्रिंशिका जिसमें ३० कारिकाएं हैं और जिसपर वसुबन्धु के शिष्य स्थिरमति ने अपना भाष्य लिखा। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का युआन् चुआङ् ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का आंशिक अनुवाद चीनी से मूल संस्कृत में किया है।

(२) सद्धर्मपुण्डरीक-सूत्र की टीका, जिसका चीनी अनुवाद छठी शताब्दी ईस्वी में किया गया ।

(३) वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता की टीका, जिसका अनुवाद छठी शताब्दी में किया गया।

बसुबन्धु के शिष्य आचार्य स्थिरमति विज्ञानवाद के एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने अधिकतर अपने गुरु के ग्रंथों की टीकाएँ लिखी हैं। कुछ अन्य आचार्यों के ग्रंथों की भी टीकाएँ लिखी हैं। इनके ग्रंथों में सूत्रालंकारवृत्ति-भाष्य और त्रिंशिका-भाष्य अधिक प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त आचार्यों और उनके साहित्य के बाद अब हम योगाचार मत के एक सम्प्रदाय-विशेष का उल्लेख करना चाहते हैं जिसका नाम है 'स्वातन्त्रिक' योगाचार मत। इस मत के संस्थापक हैं आचार्य वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग। दिङ्नाग को मध्यकालीन भारतीय न्याय का पिता कहा गया है । दिङ्नाग के बाद धर्मकीर्ति, शांतरक्षित और कमलशील आदि आचार्यों ने, जो स्वतंत्र-विज्ञानवादी थे, इस मत का विकास किया। विज्ञानवाद की आधारभूत मान्यता

(१) इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु के विस्तृत विवेचन के लिये देखिये राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ७०५-७१४

(२) डा० सिलवाँ लेवी द्वारा सम्पादित, पेरिस १९२५

ह कि 'विज्ञान ही तत्व है।' इस आधारभूत मान्यता का अनुसरण करने के कारण उपर्युक्त आचार्य विज्ञानवादी हैं। परन्तु आचार्य वसुबन्धु की इस मान्यता का कि विज्ञप्तिमात्रता नित्य है, खंडन करते हुए इन आचार्यों ने परमार्थसत् क्षणिक विज्ञान की स्थापना की। उन्होंने 'सत्' को क्षणिक कहा। इस प्रकार वसुबन्धु से स्वतंत्र मार्ग का अवलम्बन लेते हुए विज्ञानमात्र नित्यत्व का प्रतिवाद कर इन आचार्यों ने विज्ञान को क्षणिक कहा और स्वतंत्र रीति से अपने विचार को रक्खा। आचार्य दिङनाग कांचीपुरम् के पास सिंहचक्र नामक ग्राम के निवासी थे। जाति से ये ब्राह्मण थे। नालन्दा भी आचार्य दिङ्नाग गये थे और उड़ीसा तथा महाराष्ट्र का भी उन्होंने भ्रमण किया था। उड़ीसा के वन में दिङ्नाग ने निर्वाण प्राप्त किया। दिङ्नाग का समय ३४५ ई० से लेकर ४२५ ई० तक प्रायः मान जाता है। आचार्य दिङ्नाग का सबसे अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है प्रमाण समुच्चय। आज यह अपने मौलिक संस्कृत रूप में प्राप्त नहीं है। तिब्बती अनुवाद इस ग्रंथ का प्राप्त है जिसे हेमवर्मा नामक भारतीय विद्वान् ने एक अन्य तिब्बती विद्वान् के सहयोग से किया था। इस ग्रंथ में छह परिच्छेद हैं और विषय प्रायः न्याय संबंधी है। दिङ्नाग के अन्य ग्रंथों में प्रमाणसमुच्चय-वृत्ति, न्याय-प्रवेश, हेतुचक्र हमरु (जिसका दूसरा नाम हेतुचक्रनिर्णय भी है), प्रमाण-शास्त्र, न्याय प्रवेश, आलम्बन परीक्षा, आलम्बनपरीक्षा वृत्ति, त्रिकालपरीक्षा, और मर्मप्रदीप वृत्ति मुख्य हैं। ये सब ग्रंथ प्रायः तिब्बती और चीनी अनुवादों में ही मिलते हैं। बौद्ध न्याय को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने का श्रेय अश्वघोष, नागार्जुन और वसुबंधु के बाद प्रायःआचार्य दिङनाग को ही है। दिङनाग ने अक्ष-पाद गौतम और वात्स्यायन के प्रत्यक्ष और अनुमान संबंधी सिद्धांतों का खंडन इतनी विद्वत्ता पूर्वक किया था कि दिङनाग के विचारों का खंडन करने के लिये ही उद्योतकर को 'न्यायवार्तिक' और कुमारिल भट्ट को 'श्लोक वार्तिक' लिखने की आवश्यकता पड़ी। दिङनाग के शिष्य दक्षिण निवासी आचार्य शंकर स्वामी ने 'हेतुविद्यान्याय शास्त्र' और 'न्यायप्रवेश तर्कशास्त्र' नामक ग्रंथ लिखे जिनका युआन् चुआङ ने चीनी भाषा में अनुवाद किया। काञ्चीपुरम् के आचार्य धर्म-पाल (सातवीं शताब्दी), जो नालन्दा के कुलपति थे, प्रसिद्ध विज्ञानवादी आचार्य थे। युआन्-चुआङ् के गुरु शीलभद्र धर्मपाल के ही शिष्य थे। प्रसिद्ध माध्यमिक आचार्य चन्द्रकीर्ति भी धर्मपाल के शिष्यों में से थे। आचार्य धर्म-पाल की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। (१) आलम्बन प्रत्यय ध्यान शास्त्र व्याख्या (२) विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि व्याख्या और (३) शतशास्त्र व्याख्या। अंतिम ग्रंथ

का चीनी भाषा में अनुवाद युआन-चुआङ् ने किया । स्वातंत्रिक विज्ञानवाद के प्रसिद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का नाम उनकी अलौकिक प्रतिभा के कारण भारतीय दार्शनिक क्षेत्र में सदा अमर रहेगा। प्रतिपक्षी विद्वानों ने भी उनकी विद्वत्ता की धाक मानी है। जयन्त भट्ट (१०००ई०) ने अपनी 'न्यायमंजरी' में धर्मकीर्ति को 'जगदभिभवधीर' माना है। वस्तुतः इतनी ही अदम्य तार्किक शक्ति धर्मकीर्ति की थी। धर्मकीर्ति चोल देश के निवासी थे और जन्म से ब्राह्मण थे।.कुछ विद्वानों के मतानुसार ये कुमारिल के भागिनेय (भानजे) थे। धर्मकीर्ति का समय सातवीं शताब्दी का आरंभिक भाग है। इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ, जो प्रायः न्याय-शास्त्र सम्बन्धी हैं, ये हैं (१) प्रमाणवार्तिक,जो इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने इस महाग्रंथ को खोजकर और रूसी विद्वान् चेरवास्की के साथ सम्पादन कर भारतीय विद्या को एक ऐसी महती देन दी है जिसके महत्व का पूरा अनुमान नहीं लगाया जा सकता। धर्मकीर्ति के अन्य ग्रंथ हैं। (२) न्यायबिन्दु (३) प्रमाण विनिश्चय (४) संबंध-परीक्षा (५) हेतुबिन्दु (६) वाद-न्याय और (७) सन्तानान्तर सिद्धि। आचार्य शान्तरक्षित और कमलशील के संबंध में, जो स्वातंत्रिक विज्ञानवादी आचार्य होने के साथ-साथ मुख्यतःशून्यवादी थे, हम शून्यवाद के प्रसंग में विवरण देते समय कहेंगे। स्वातंत्रिक विज्ञानवादी आचार्यों और उनकी लंबी शिष्य-परम्परा ने बौद्ध न्याय-परम्परा का प्रवर्तन किया, जिसने क्षणिकवाद ,प्रतीत्यसमुत्पाद आदि के संबंध में अपने सिद्धांत तो निश्चित किये ही, साथ ही ईश्वरवाद, आत्मवाद, वेदप्रामाण्यवाद और बाह्यार्थवाद आदि के खंडन भी किये। विशेषतः न्याय और वैशेषिक की अनेक मान्यताओं का स्वतंत्र विज्ञानवादियों ने खंडन किया। इसी प्रकार बौद्ध दर्शन के अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों ने भी यह कार्य किया। हम अलग से इस परिच्छेद में बौद्ध न्याय का विवरण न देकर गौतमीय न्याय से उसकी तुलना करते हुए पंचम प्रकरण में ही उसका विवरण देंगे, क्योंकि दोनों की परम्पराएँ एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबद्ध हैं।

प्रज्ञापारमिताओं और अन्य प्राचीन महायानी साहित्य (जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं) के आधार पर शून्यता-दर्शन की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा करनेवाले और उसे व्यवस्थित स्वरूप देने वाले बौद्ध दर्शन के युग-विधायक आचार्य नागार्जुन ही हैं। नागार्जुन का नाम भारतीय साहित्य और दर्शन के इतिहास में प्रसिद्ध है। शून्यवादी आचार्य के रूप में उनकी

शून्यवाद : आचार्य और साहित्य

कीर्ति-कथा भारत में ही नहीं, चीन, तिब्बत और मंगोलिया के इतिहास-पृष्ठों में लिखी जाती है। उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के वे एक रहस्यमय साधक और विचारक हैं। महायान बौद्ध धर्म की माध्यमिक शाखा के वे प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। वैद्य और तांत्रिक, उद्भट विचारक और तार्किक, कवि और सार्वभौम विद्वान्, साधक और मानवताप्रेमी, नागार्जुन की सर्वतोमुखी प्रतिभा से भारत और अन्य कई देशों की साधना-भूमियाँ आलोकित हुई हैं।

युआन्-चुआङ् (सातवीं शताब्दी) ने उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के चार प्रतिभाशाली आचार्यों का उल्लेख किया है, जिन्हें उन्होंने 'संसार को आलोकित करने वाले चार सूर्य' कहा है। इनमें एक आचार्य नागार्जुन हैं। शेष तीनहैं अश्वघोष, आर्यदेव और कुमारलब्ध या कुमारलात। आचार्य नागार्जुन के जीवनवृत्त के संबंध में हमें निश्चित सामग्री नहीं मिलती। उनके काल और निवासस्थान के संबंध में जो सूचनायें मिलती हैं उनमें भारी विविधता है। नागार्जुन की जीवनी का कुमारजीव ने चीनी भाषा में सन् ४०५ ई० में अनुवाद किया। वाटर्स के मतानुसार इस जीवनी के लेखक भी संभवतः कुमारजीव ही थे। नागार्जुन के जीवनवृत्त को जानने का सबसे अधिक प्रामाणिक और आधारभूत ग्रंथ यही है। इसके अलावा अनेक चीनी और तिब्बती ग्रंथों में नागार्जुन के जीवन के संबंध में प्रभूत सूचना मिलती है, जो अधिकांशतः अलौकिक तथ्यों से भरी हुई है। इतनी भारी जटिलता नागार्जुन के बहुमुखी व्यक्तित्व को लेकर उठ खड़ी हुई है कि विद्वान मानने लगे हैं कि 'नागार्जुन' नाम से विख्यात बौद्ध दार्शनिक, तांत्रिक, वैद्य और रासायनिक, ये चार भिन्न-भिन्नव्यक्ति थे जिन्हें गलती से मिला दिया गया है। रासायनिक और तांत्रिक नागार्जुन का समय सातवीं या आठवीं शताब्दी ईसवी माना जाता है। फिर भी बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के स्वयं तान्त्रिक और रासायनिक होने की बात तिब्बती परम्परा में इतनी सुप्रतिष्ठित है कि उस पर सहसा अविश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं होती। कुमारजीव द्वारा चीनी-भाषा में अनुवादित नागार्जुन की जीवनी के अनुसार नागार्जुन का जन्म विदर्भ (बरार) में ब्राह्मण-वंश में हुआ था। युआन्-चुआङ् ने दक्षिण कोसल को नागार्जुन का जन्मस्थान माना है[१]। भौगोलिक दृष्टि से दोनों वर्णनों में कोई भेद नहीं है। चारों वेदों का गंभीर ज्ञान प्राप्त कर तरुणावस्था में नागार्जुन ने भिक्षु-पद की दीक्षा ली।

---

(१) देखिये वाटर्स : औन युआन्-चुआंग, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २०१, २०४

इसके बाद उनका अधिकांश समय दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म का प्रचार करते हुए श्री पर्वत (नागार्जुनीकोंड्, गुन्टूर) में बीता। लामा तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन ने अपनी आयु का अधिक भाग नालन्दा में बिताया। कुमारजीव ने हमें बताया है कि भिक्षु होने के बाद केवल ९० दिनों में नागार्जुन ने त्रिपिटक का संपूर्ण अध्ययन कर लिया और उसके बाद उन्होंने हिमालय के एक वृद्ध भिक्षु से महायान-सूत्रों को पढ़ा। तिब्बत और चीन के अनेक विद्वानों ने नागार्जुन के जीवन काल को बुद्ध-परिनिर्वाण के ३०० ,६०० या ८०० वर्ष बाद बताया है[१]। एक अन्य तिब्बती परम्परा के अनुसार जिसका उल्लेख वाटर्स ने किया है, नागार्जुन का जीवन काल ४८२–२१२ ई० पू० है। तारानाथ के मतानुसार नागार्जुन कनिष्क के समकालीन थे। इसी के आधार पर संभवत: डा० कीथ ने कल्पना की है कि वे अश्वघोष के शिष्य थे और उनका समय प्रथम शताब्दी ईसवी है[२]। परन्तु अन्य अनेक प्रमाणों से यह निश्चित है कि नागार्जुन आंध्र-राजा यज्ञश्री गोतमीपुत्र (१६६–१९६ई०) के समकालिक थे। आंध्र राजाओं की पदवी 'सातवाहन' (श-तो-पो-ह) थी। इन राजाओं ने ईस्वीपूर्व-दूसरी शताब्दी से तृतीय शताब्दी ईस्वी तक राज्य किया। जैसा हम अभी देखेंगे, अपने 'सुहृद्' सातवाहन राजा के लिये पत्र के रूप में नागार्जुन ने अपनी एक रचना 'सुहृल्लेख' लिखी थी। नागार्जुन के विषय में अनेक आश्चर्यजनक घटनाएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि चिरायुष्य का रहस्य उन्हें ज्ञात था। कुमारजीव के वर्णनानुसार वे ३०० वर्ष तक जीवित रहे, जबकि तिब्बती वर्णनों ने उन्हें ६०० वर्ष की आयु दी है। एक अन्य परम्परा के अनुसार उनकी आयु ५२९वर्ष बताई जाती है। चट्टानों को स्वर्ण में परिवर्तित कर देने का श्रेय भी नागार्जुन को दिया जाता है। नेत्र चिकित्सक के रूप में उनकी ख्याति उनके जीवनकाल में ही चीन में पहुँच गई थी। नेत्र रोगों पर लिखी हुई उनकी पुस्तक 'येन्लुन्' चीनी भाषा में पाई जाती है। 'नागार्जुन बोधिसत्व के नुसखे' ('लुंग्-शु-पु-स-यओ-फेंग्) नामक पुस्तक भी चीनी भाषा में मिलती है। नागार्जुन के जीवन

---

(१) देखिये वाटर्स : ऑन युआन्-चुआङ, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०३; सम्भवत: इन्हीं वर्णनों के आधार पर कुछ विद्वानों ने कल्पना की है कि नागार्जुन का समय प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व है। देखिये राधाकृष्णन् : इंडियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६४३-६४४, पद-संकेत १

(२) देखिये उनकी 'बुद्धिस्ट फिलॉसफी', पृष्ठ २२९

की एक स्मरणीय घटना देव या आर्यदेव का उनसे मिलना है, जो बाद में उनके शिष्य और उनके दर्शन को आगे बढ़ाने वाले प्रसिद्ध आचार्य हुअे। आर्यदेव सिंहल (या उत्तरभारत में सिंहपुर) के निवासी थे। नागार्जुन की ख्याति सुनकर उनके पास मिलने आये। नागार्जुन ने मिलने से पूर्व अपने एक शिष्य के हाथ अपने भिक्षापात्र को जल से भरकर आर्यदेव के पास भिजवा दिया। आर्यदेव ने उसमें एक सुई डालकर लौटा दिया। नागार्जुन बहुत प्रसन्न हुए। बाद में आर्यदेव से मिले और उन्हें शिष्यत्व प्रदान किया। नागार्जुन का जल से भरा पात्र इस बात का द्योतक था कि उनका ज्ञान जल से भरे बर्तन की तरह पूर्ण है। आर्यदेव ने उसमें सुई डालकर यह जतला दिया कि वे उस सबका अवगाहन कर चुके हैं। इस 'मौन व्याख्यान' की पद्धति पर अनेक व्यंजनात्मक घटनाएँ हमें कबीर आदि संतों की जीवन स्मृतियों में मिलती हैं और चीन तथा जापान के जैन (ध्यान) बौद्ध धर्म के साधकों की तो यह एक आकर्षक और मौलिक परिपाटी ही रही है, जिसका अध्ययन हमें एशियाव्यापी सन्त-परम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिये करना चाहिये।

नागार्जुन के नाम से लिखे हुए अनेक ग्रंथ हमें मिलते हैं, परन्तु निश्चित रूप से उनके लिखे २०ग्रंथ चीन अनुवादों में सुरक्षित हैं, जिनमें से १८ का उल्लेख बुनियो नंजियों ने अपने प्रसिद्ध 'केटेलॉग' में किया है। उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाएं बारह हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(१) माध्यमिक-कारिका या माध्यमिक शास्त्र (चुंग-कुआम-लुन्) महायान बौद्ध धर्म की माध्यमिक शाखा का यह आधारभूत ग्रंथ है और इसमें शून्यता के दर्शन का गहन विवेचन किया गया है। नागार्जुन की यह सर्वोत्तम कृति है। २७ प्रकरणों में विभक्त है।

(२) दशभूमिविभाषा-शास्त्र (शिह्-चु-पि-पो-शु-लुन्) इसमें बोधिसत्त्व की दस भूमियों में से प्रमुदिता और विमला नामक प्रथम दो भूमियों का विवरण है।

(३) महाप्रज्ञापारमितासूत्र-कारिका शास्त्र (मो-ह-पो-यो-पो-लो-मि-चिंग-शिह्-लुन्) कुमारजीव ने इस ग्रंथ का चीनी अनुवाद सन् ४०५ ई० में किया।

(४) उपाय कौशल्य—न्यायसंबंधी ग्रंथ।

(५) प्रमाण विध्वंसन—यह भी न्याय संबंधी ग्रंथ है।

(६) विग्रह-व्यावर्तनी—शून्यवाद का खंडन करने वाली युक्तियों का खंडन। इसमें ७२ कारिकाएँ हैं।

(७) चतुःस्तव—चार स्तोत्रों का संग्रह।

(८) युक्ति षष्टिका—शून्यवाद के समर्थन में साठ युक्तियाँ।

(९) शून्यता-सप्तति—शून्यता पर सत्तर कारिकाएँ।

(१०) प्रतीत्य समुत्पाद-हृदय—प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन।

(११) महायानविंशक—शून्यवाद का विवेचन।

(१२) सुहृल्लेख—जिसे उन्होंने अपने 'सुहृद्' यज्ञश्री गोतमीपुत्र को पत्र-रूप में लिखा था और जिसमें नैतिक शिक्षाओं का वर्णन है।

खेद है कि नागार्जुन की उपर्युक्त रचनाओं में से केवल माध्यमिक कारिका (माध्यमिक शास्त्र) और विग्रह व्यावर्तनी ही अपने मूल्य संस्कृत रूप में सुरक्षित हैं। बाकी सब काल कवलित हो गई हैं, और केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों में ही सुरक्षित हैं। यही हाल नागार्जुन की प्रसिद्ध रचना 'सुहृल्लेख' का है। 'सुहृल्लेख' का पूरा नाम है 'आर्य-नागार्जुन-बोधिसत्व-सुहृल्लेख'। 'सुहृल्लेख' के तीन चीनी और एक तिब्बती अनुवाद उपलब्ध हैं। चीनी भाषा में 'सुहृल्लेख' का पहला अनुवाद गुणवर्मा ने ४२४–४३१ ई० में किया। दूसरा अनुवाद संघवर्मा द्वारा सन् ४३३ ई० के लगभग किया गया। इचिंग् ने इस ग्रंथ का चीनी अनुवाद सन् ७०० ई० के लगभग किया। इस प्रकार चीनी भाषा में 'सुहृल्लेख' के तीन अनुवाद किये गये। इ-चिंग् ने लिखा है कि उसकी भारत यात्रा के समय इस देश के प्रत्येक बालक को 'सुहृल्लेख' कण्ठस्थ था और बड़ी आयु के पुरुष बड़ी श्रद्धा से इसका अध्ययन-मनन करते थे। इतने प्रभूत नैतिक महत्व वाली रचना आज अपने मूल संस्कृत रूप में सुरक्षित नहीं है, यह कितने दुःख की बात है। तिब्बती अनुवाद के आधार पर एच० वेंज़ल ने 'जर्नल ऑव पालि टैक्सट् सोसायटी', १८८६, में इस रचना का अंग्रेजी अनुवाद किया था। जर्मन अनुवाद भी इस महत्वपूर्ण रचना का सन् १८८६ में हो गया है। क्या ही अच्छा हो यदि कोई भारतीय विद्वान् सीधे तिब्बती या चीनी अनुवाद से 'सुहृल्लेख' का संस्कृत और हिन्दी रूपान्तर करे।

शून्यवाद के दूसरे प्रधान आचार्य आर्यदेव (२००–२२४ ई०) हैं जिनके सम्बन्ध में हम अभी कह चुके हैं। इनका 'चतुःशतक' शून्यवाद का एक प्रसिद्ध और प्रामाणिक ग्रंथ है। इसमें ४०० कारिकाएँ हैं जो १६ अध्यायों में बँटी हुई हैं, जिनमें प्रत्येक में २५ कारिकाएँ है। इसमें स्वमतस्थापन प्रथम २०० कारिकाओं में तथा परमतदूषण अंतिम २०० कारिकाओं में है। अंतिम २०० कारिकाएं महामहोपाध्याय पं० विधुशेखर जी भट्टाचार्य के द्वारा सम्पादित की जा चुकी हैं। कुछ अन्य रचनाएँ भी आर्यदेव की मिलती हैं। आर्यदेव को 'काणदेव'

भी कहा जाता है, क्योंकि इनके एक आंख थी। परन्तु इनका दावा था कि अपनी एक आंख से उन्होंने इतना (ज्ञान) देखा है जितना सहस्राक्ष (इन्द्र) अपनी हजार आंखों से नहीं देख सका है। स्थविर बुद्धपालित (पांचवीं शताब्दी ईस्वी) भी माध्यमिक सम्प्रदाय के एक प्रसिद्ध आचार्य हैं। उनकी प्रधान कृति माध्यमिक-कारिका के ऊपर एक वृत्ति है। भव्य, भावविवेक या 'भाविवेक' (चीनी अनुवादों के अनुसार) 'माध्यमिक कारिका' पर 'प्रज्ञाप्रदीप' नामक वृत्ति के लेखक हैं। इसके अतिरिक्त मध्यम हृदय कारिका, मध्यमार्थ संग्रह तथा हस्तरत्न उनके अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। चन्द्रकीर्ति (६००–६५० ई०) माध्यमिक परम्परा के एक अत्यन्त प्रसिद्ध विचारक हैं। 'माध्यमिक कारिका' पर 'प्रसन्नपदा' नामक टीका लिखने के कारण ये भारतीय दर्शन में अमरता के अधिकारी हैं। इनको एक प्रकार से नागार्जुन का 'वाचस्पति' ही कहना चाहिए। आर्यदेव के 'चतुःशतक' पर भी उन्होंने एक वृत्ति लिखी है—जो 'चतुः शतक वृत्ति' कहलाती है। 'माध्यमिकावतार' नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ भी उनका उपलब्ध है। शांतरक्षित भी इस सम्प्रदाय के एक अन्य प्रसिद्ध आचार्य हैं। उनका 'तत्वसंग्रह' और उसपर कमलशील की 'तत्वसंग्रहपञ्जिका' टीका भारतीय दर्शन के माध्यमिक दृष्टिकोण से विवेचन के लिए अत्यन्त पठनीय ग्रंथ है[1]। शांतिदेव (सातवीं शताब्दी) कभी माध्यमिक मत के और कभी विज्ञानवाद के आचार्य माने जाते हैं। इनके दो ग्रंथ बोधिचर्यावतार और शिक्षासमुच्चय हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। शांतिदेव की भक्ति-भावना का हम पहले काफी वर्णन कर चुके हैं। महायान धर्म के विज्ञानवाद और शून्यवाद के साहित्य का जो विवरण यहां दिया गया है वह एक अत्यन्त संक्षिप्त उपलक्षण मात्र है, विस्तार से उसकी परम्परा अत्यन्त विशाल है। उसका अधिकतर भाग तो अभी भी चीनी और तिब्बती अनुवादों में ही पड़ा है और बहुत कुछ अप्राप्य भी है, किन्तु जो कुछ अवशिष्ट है वह भी अत्यन्त महनीय और बौद्ध दार्शनिक चिन्तन की गंभीरता और व्यापकता के अनुकूल ही है।

इस प्रकार हमने महायान बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत उसके दो सम्प्रदायों विज्ञानवाद और शून्यवाद के साहित्य और आचार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया है। हीनयान सम्प्रदाय के आचार्यों और साहित्य का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यहां हमें एक ऐसे आचार्य के संबंध में अपनी कठिनाई व्यक्त

---

(१) गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज में प्रकाशित।

करनी है जो यद्यपि धार्मिक दृष्टि से हीनयानी सर्वास्तिवादी हैं, संभवतः 'वैभाषिक' भी, क्योंकि 'विभाषा' लिखने के लिये जो संगीति बुलाई गई थी, उसके वे संयोजक ही थे, परन्तु दूसरी ओर जिनके विचारों की एक बड़ी विशेषता उनका महायानी स्वरूप है। हमारा तात्पर्य आचार्य अश्वघोष से है। इसमें कोई संदेह नहीं दीखता कि आचार्य अश्वघोष सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के भिक्षु थे, परन्तु उसी के समान प्रायः यह भी सुनिश्चित है कि उनके विचार महायान के अन्तर्गत योगाचार (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय के विचार हैं। और यह बात विशेषतः उनके ग्रंथ 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' के आधार पर है, जिसे कई विद्वान् उनकी रचना मानने को उद्यत नहीं। इस प्रकार दो अश्वघोषों की उद्भावना की गई है। अश्वघोष प्रथम 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' के लेखक हैं, और अश्वघोष द्वितीय 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' के[1]। 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को अश्वघोष रचित न मानने का प्रधान क रण यह दिया गया है कि इस ग्रंथ में विज्ञानवाद और शून्यवाद का जो विवेचन किया गया है उसका रूप अत्यन्त विकसित है और वह नागार्जुन (शून्यवाद के प्रथम प्रतिपादक आचार्य–द्वितीय शताब्दी ईसवी) और असंग और वसुबन्धु (विज्ञानवाद के आचार्य–चौथी शताब्दी ईस्वी) से पहले का नहीं हो सकता। जिन्होंने अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के शून्यता-दर्शन को पढ़ा है और जो यह जानते हैं कि वह निर्विवाद रूप से प्रथम शताब्दी ईसवी पूर्व की रचना है, वे 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को कनिष्ककालीन रचना मानने में विशेष आनाकानी नहीं कर सकते। यद्यपि एक ओर ताका-कुसु, विन्तरनित्ज और राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वानों की परम्परा 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को अश्वघोष की रचना न माननेवाली है। परन्तु दूसरी ओर महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र के चीनी अनुवाद (मौलिक संस्कृत प्राप्त नहीं है) का अंग्रेजी अनुवाद करनेवाले प्रसिद्ध जापानी विद्वान् डा० डी० टी० सुज़ुकी ने चीनी परम्परा का आश्रय लेते हुए उसे अश्वघोष की ही रचना माना है। यहां हम उनका ही अनुसरण करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

---

(१) देखिये र्‍यूकन किमूरा, दि ऑरीजनल एण्ड डिवैलप्ड डॉक्ट्रिन्स ऑव इण्डियन बुद्धिज्म, पृष्ठ ३० एवं ६५; महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र के अश्वघोष-रचित होने के विषय में सन्देह के लिये देखिये राधाकृष्णन् : इंडियन फिलॉसफी, जिल्द पहली, पृष्ठ ६२४, पद संकेत १ भी।

दार्शनिक होने के साथ-साथ अश्वघोष संस्कृत साहित्य के अमर कवियों में भी हैं। आदि कवि वाल्मीकि के वे परवर्ती और महाकवि कालिदास और भास के पूर्ववर्ती हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्य-परम्परा में उनका स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वर्तमान शताब्दी से पूर्व आर्य अश्वघोष के नाम से भी इस देश में कोई परिचित न था। परन्तु आज उनके मुख्य ग्रंथों का प्रकाशन हो चुका है[1] और कवि और विचारक के रूप में उनकी महिमा दिन-दिन बढ़ रही है।

अश्वघोष के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में हमारी जानकारी अधिक नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार, जो प्रायः प्रामाणिक मानी जाती है, वे कुषाण-वंशीय महाराज कनिष्क के समकालीन और उनके गुरु थे। इस प्रकार उनका जीवन-काल ५० ई० पूर्व से लेकर १०० ई० तक के लगभग माना जाता है। अन्य चीनी और तिब्बती परम्पराओं के अनुसार उनका जीवन-काल बुद्ध-परिनिर्वाण के ३००, ६०० या ८०० वर्ष बाद बताया गया है[2]। महाकवि अश्वघोष ने अपनी रचनाओं के अन्त में अपने जीवन-संबंधी जो अल्प सूचना दी है, उससे ज्ञात होता है कि उनका जन्म साकेत (अयोध्या) में हुआ था और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। अपनी तीन प्रसिद्ध कृतियों 'बुद्ध-चरित', 'सौन्दरनन्द' और 'शारिपुत्र-प्रकरण' के अन्त में उन्होंने कहा है 'आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महा-वादिनः कृतिरियम्।' महाकवि होने के साथ-साथ अश्वघोष अपने समय के प्रतिष्ठित आचार्य, प्रतिभाशाली विद्वान् भिक्षु, महान् तार्किक और गंभीर प्रज्ञासम्पन्न दार्शनिक भी थे।

महाकवि का नाम 'अश्वघोष' क्यों पड़ा, इसके संबंध में अनेक मनोरंजक कल्पनाएँ मिलती हैं। एक परम्परा का कहना है कि जिस दिन अश्वघोष का जन्म हुआ था, उस दिन घोड़े हिनहिनाये थे, इसलिये उनका यह नाम पड़ा। एक दूसरी परम्परा का कहना है कि एक दिन जब अश्वघोष धर्मोपदेश कर रहे थे तो

---

(१) यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी में श्री सूर्यनारायण चौधरी ने महाकवि अश्वघोष के दो काव्य-ग्रन्थों 'बुद्ध-चरित' और 'सौन्दरनन्द' को सुसम्पादित कर सानुवाद प्रकाशित किया है। संस्कृत भवन, कठौतिया (बिहार)।

(२) थॉमस वाटर्स : ऑन यूआन् चुआङ्स् ट्रेविल्स इन इण्डिया, जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०३

उनके मधुर स्वर को सुनकर भूखे घोड़े दाना-घास खाना भूल गये और उनके उपदेश को सुनते हुए आध्यात्मिक उल्लास में हिनहिनाने लगे। तब से उनका यह नाम पड़ा। एक जगह अश्वघोष के लिये 'घोरविन्' नाम का प्रयोग किया गया है, जिसके अन्दर भी यही भाव निहित है कि वे अपनी वीणा के मधुर वादन से घोड़ों (घोर) को मन्त्रमुग्ध करने की अपूर्व शक्ति रखते थे। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि भदन्त अश्वघोष संगीतज्ञ भिक्षु थे और संगीत को उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन बनाया था। तिब्बती भाषा में लिखी हुई उनकी जीवनी से विदित होता है कि अनुगामी गायक-गायिकाओं के समूह को लिये हुए यह वीणावादक भिक्षु काश्मीर और पेशावर की गलियों में वैराग्य के गीत गाता फिरता था और सहस्रों को बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट करता था। चीनी यात्री इ-चिङ ने ६७१–६९५ ईसवी के बीच भारत में भ्रमण करते हुए लिखा है कि उस समय भारत के बौद्ध विहारों में अश्वघोष के गीतों का संगायन होता था। इसमें संदेह नहीं कि संगीतात्मकता अश्वघोष की कविता का प्रधान गुण है और बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओं के प्रसार के लिये जबकि तूलिका और छेनी का आश्रय तो उसके इतिहास में अनेक बार लिया गया है, वीणा के तारों में बुद्ध-जीवन के उदात्त स्वरूप को झंकृत करने वाले कवि और मनीषी दार्शनिक के रूप में अश्वघोष का अकेला ही उदाहरण रहेगा। वे बौद्ध धर्म के गायक हैं, लोकोत्तर और अपनी गंभीर दार्शनिक महिमा में मण्डित !

अयोध्या में जन्म लेकर महाकवि ने अपना जीवन-कार्य प्रायः काश्मीर और गंधार में पूरा किया। आचार्य अश्वघोष ब्राह्मण-कुलीन थे और उन्होंने वैदिक वाङमय का विधिवत् अध्ययन किया था, जिसका साक्ष्य उनकी रचनाएं देती हैं। पेशावर में उनका पार्श्व नामक वृद्ध भिक्षु के साथ शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें पराजित होकर उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। अश्वघोष को भिक्षु-पद की उपसम्पदा इन वृद्ध भिक्षु पार्श्व से ही मिली थी। कुछ के मतानुसार अश्वघोष के गुरु पार्श्व के शिष्य पुण्ययशस् नामक भिक्षु थे। पार्श्व गंभीर विद्वान्, तार्किक और अनेक शास्त्रों के रचयिता थे। यह खेद है कि उनकी कोई रचना आज नहीं मिलती। पार्श्व का जन्म उत्तर-भारत में ब्राह्मण-वंश में हुआ था। अस्सी वर्ष की अवस्था में उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षा प्राप्त की थी और तीन वर्ष तक, जब तक उन्होंने त्रिपिटक का पूर्ण अनुशीलन नहीं कर लिय,ा उन्होंने अपनी पसलियों (पार्श्व) से चटाई को नहीं छुआ। इसीलिये इन उत्साही वृद्ध भिक्षु को

'पार्श्व' (पसली) नाम से पुकारा जाने लगा। यूआन्-चुआङ (सातवीं शताब्दी) ने अपने भारत-भ्रमण के समय पेशावर (पुरुषपुर) में 'कनिष्क महाविहार' के अवशेष देखे थे, जहां आर्य पार्श्व रहते थे। यूआन्-चुआङ ने लिखा है कि उनके समय में भी हीनयानी सम्प्रदाय के कुछ भिक्षु वहां रहते थे। थाँमस वाटर्स का अनुमान है कि आज पेशावर नगर में 'घोर खत्री' या 'कारवां सराय' के नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है वह कदाचित् प्राचीन 'कनिष्क महा-विहार' ही है[1]। पार्श्व की कोठरी के पूर्व में एक पुराना घर भी यूआन्-चुआङ ने देखा था, जहां बैठकर पार्श्व से करीब ३५० वर्ष बाद आर्य वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश-शास्त्र (अपि-तो-मो-कु-शि-लुन्) की रचना की थी[2]।

अश्वघोष बौद्ध धर्म के किस रूप के अनुयायी थे, इस संबंध में विद्वानों में कुछ मतभेद प्रचलित है। जापान में अश्वघोष को अवतंसक सूत्र सम्प्रदाय का प्रथम और ध्यान (ज़ैन) बौद्ध धर्म का बारहवां गुरु माना गया है। ये दोनों सम्प्रदाय महायान से संबंधित हैं। 'सुखावती' सम्प्रदाय से भी अश्वघोष का नाम जोड़ा जाता है, जो महायान का ही एक रूप है। अश्वघोष की एक संदिग्ध रचना 'महायान श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' है, जिसके आधार पर उन्हें मुख्यतः जापान में महायानी आचार्य माना जाता है। इस ग्रंथ में महायानी सिद्धांतों की आधार-भूमि पर विज्ञानवाद और शून्यवाद में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। हम जानते हैं कि शून्यवाद (माध्यमिक मत) के आद्य आचार्य नागार्जुन अश्वघोष से करीब पौने दो सौ वर्ष बाद हुए और विज्ञानवाद के आचार्य असंग और वसुबन्धु का समय अश्वघोष से प्रायः साढ़े तीन सौ वर्ष बाद है। अतः अधिकतर विद्वानों की प्रवृत्ति 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र' को महाकवि अश्वघोष की रचना मानने की नहीं होती। यह संभव है कि इन सम्प्रदायों से संबंधित कुछ सिद्धांतों का प्रचलन अश्वघोष के युग में भी रहा हो, परन्तु 'महायान श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' में उनके जिस विकसित रूप का परिचय हमें मिलता है वह अश्वघोष के युग की कृति नहीं हो सकता, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। सौन्दरनन्द (१४।१८; २०।६८) में 'योगाचार' शब्द का प्रयोग अश्वघोष ने किया है, जिसका अर्थ योगाचार

---

(१) ऑन यूआन् चुआङस् ट्रेविल्स इन इण्डिया, जिल्द पहली, पृष्ठ २०८

(२) उपर्युक्त, पृष्ठ २१०

सम्प्रदाय वहां न होकर सामान्यतः योगाभ्यास ही है[1]। पालि त्रिपिटक में भी 'योगावचर' शब्द का प्रयोग योग के अभ्यासी के लिये किया गया है। अश्वघोष बौद्ध धर्म के किस रूप के अनुयायी थे, इसका विवेचन करते हुए डा० ई० एच० जांस्टन ने उन्हें महासंघिक या बाहुश्रुतिक सम्प्रदाय का अनुगामी बताया है[2]। डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त और सुशीलकुमार दे ने अपने 'हिस्ट्री ऑव क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर' में उनके इस मत को स्वीकार किया है[3]। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने कुछ नये तिब्बती स्रोतों से अनुसंधान कर अश्वघोष को सर्वास्तिवादी स्थविर बताया है[4]। वस्तुतः यह बात महत्वपूर्ण है कि कनिष्क के समय में सर्वास्तिवादी आचार्यों की जो संगीति बौद्ध शास्त्रों पर 'विभाषा' नामक व्याख्या लिखने के लिये बुलाई गई थी, उसका संयोजन आर्य अश्वघोष ने ही किया था। अतः अश्वघोष को सर्वास्तिवादी भिक्षु मानना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है। हां, इसमें संदेह नहीं कि महायानी प्रवृत्तियां सर्वप्रथम हमें उनकी रचनाओं में मिलती हैं। बुद्ध-भक्ति, जो महायान की एक बड़ी विशेषता है, हमें सर्वप्रथम अश्वघोष की रचनाओं में मिलती है। भगवान् बुद्ध को उन्होंने 'स्वयम्भू', 'जगत्पति' और 'लोकाधिप प्रभु' कहा है।[5] यह स्पष्टतः महायान की प्रवृत्ति है। अन्यत्र भी उन्होंने अपनी महायानी प्रवृत्ति दिखाते हुए कहा है, 'इस उत्कृष्ट महायान धर्म का सब लोगों के कल्याण के लिये सब बुद्धों ने प्रचार किया है'[6]। वस्तुतः हीनयान और महायान में आधारभूत विभिन्नताएं हैं ही नहीं। उन दोनों के आधार बुद्ध के जीवन और उपदेश ही हैं। बुद्ध-जीवन दोनों की प्रतिष्ठा है। एक

---

(१) देखिये विन्टरनित्ज : हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २६४, पद-संकेत १; दासगुप्त और दे : हिस्ट्री ऑव क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ७० पद-संकेत २

(२) देखिये उनके द्वारा सम्पादित एवं अनुवादित बुद्ध-चरित, जिल्द दूसरी, पृष्ठ ३१ (भूमिका)

(३) जिल्द पहली, पृष्ठ ६९

(४) दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५६९।

(५) देखिये बुद्ध-चरित १६।६४-७५

(६) इदमार्षं महायानं सम्बुद्धधर्मसाधनम्।
सर्वसत्त्वहिताधानं सर्वबुद्धैः प्रचारितम्॥ बुद्धचरित १६।८५

ही व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक अवस्थाओं के अनुरूप हीनयानी और महायानी हो सकता है। अश्वघोष के संबंध में यूआन-चुआङ ने लिखा है कि वे एक बहुज्ञ विद्वान् थे और उनके आध्यात्मिक ज्ञान की पहुँच श्रावक-यान, प्रत्येक-बुद्ध-यान और बोधित्सव-यान (जिसे महायान भी कहा जा सकता है) इन तीनों यानों तक थी।[३] अश्वघोष अत्यन्त उदार दृष्टि के विद्वान् भिक्षु थे, जिन्हें बौद्ध-धर्म की अनेक व्याख्याओं के साथ सहानुभूति थी। यही कारण है कि तथोक्त हीनयानी और महायानी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ उनके काव्य में मिलती हैं।

महाकवि अश्वघोष की प्रामाणिकतम तीन रचनाएं हैं बुद्ध-चरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्र-प्रकरण। बुद्ध-चरित एक महाकाव्य है, जिसमें बुद्ध की जीवनी और उनके उपदेश वर्णित हैं। यह ग्रंथ अपने मौलिक रूप में २८ सर्गों में था। इ-चिङ ने लिखा है कि उसके भारत- भ्रमण के समय (सातवीं शताब्दी) इस ग्रंथ का पाठ और संगायन भारतवर्ष के पांचों भागों और सुमात्रा, जावा और उनके पास के द्वीपों में किया जाता था। सन् ४१४ और ४२१ के बीच, इस ग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद धर्मरक्ष ने किया और सातवीं या आठवीं शताब्दी में मूल संस्कृत से इस ग्रंथ का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। यह अत्यन्त खेद की बात है। कि 'बुद्ध-चरित' का पूर्ण संस्कृत संस्करण अभी हमें नहीं मिलता। जो रूप हमें प्राप्त है उसमें केवल १७ सर्ग हैं। और उनमें भी केवल प्रथम १३ ही पूर्ण प्रामाणिक माने जा सकते हैं। 'सौन्दरनन्द' काव्य में भगवान् बुद्ध के मौसेर भाई नन्द की प्रव्रज्या का वर्णन है। 'शारिपुत्र-प्रकरण' जो एक नाटकीय रचना है शारिपुत्र और मौद्गल्यायन की प्रव्रज्या से संबंधित है। इन तीन ग्रंथों के अलावा 'महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र', का निर्देश हम पहले कर चुके है। 'वज्र सूची' जिसमें वज्र की सुई की तरह पैनी दृष्टि से वर्ण-भेद की समीक्षा की गई है, अश्वघोष की रचना बताई जाती है, परन्तु अश्वघोष की-सी शैली इस ग्रंथ में नहीं मिलती। वेद और मनु-संहिता से अनेक उद्धरण यहां दिये गये हैं, जिससे लेखक के गंभीर वैदिक ज्ञान का पता लगता है। मानव-जाति की एकता का प्रतिपादन करने वाला यह ग्रंथ अपनी तर्क-पद्धति के कारण बिलकुल आधुनिक युग की-सी रचना लगता है, 'वज्रसूची' को अश्वघोष की रचना न मान सकने का सबसे बड़ा कारण यही है कि इ-चिङ ने अश्वघोष-रचित ग्रंथों की सूची

(३) थॉमस वाटर्स : ऑन यूआन्-चुआङ; जिल्द दूसरी, पृष्ठ १०२

में इसका उल्लेख नहीं किया है और न तिब्बती 'तंजुर' में ही इसे अश्वघोष की रचना बताया गया है। 'वज्रसूची' का चीनी अनुवाद सन् ९७३ और ९८१ के बीच किया गया और वहां इस रचना को धर्मकीर्ति नामक व्यक्ति की रचना बताया गया है। 'गण्डीस्तोत्रगाथा' २९ स्रग्धरा छंदों में लिखी हुई एक गेय रचना है। विषय और शैली दोनों दृष्टियों से विन्टरनित्ज़ ने इसे अश्वघोष के अनुरूप रचना माना है[1], 'परन्तु जान्स्टन ने इसके अश्वघोष-कृत होने में संदेह प्रकट किया है।[2] 'सूत्रालङ्कार'. नामक एक अन्य रचना जिसका सन् ४०५ ई० में कुमारजीव ने चीनी भाषा में अनुवाद किया, अश्वघोष-कृत बताई जाती है। परन्तु लूउर्स के मतानुसार यह कुमारलात या कुमारलब्ध की रचना है, जो तक्षशिला के निवासी और सौत्रान्तिक मत के संस्थापक आचार्य थे।

अश्वघोष के ग्रंथों के अनुशीलन से पता लगता है कि वैदिक ज्ञान के अक्षय भाण्डार का निवास उनके हृदय में था। वैदिक और पौराणिक इतिहास का जितना सूक्ष्म परिचय अश्वघोष ने दिया है उतना कालिदास के विषय में भी नहीं कहा जा सकता। कालिदास की रचना चातुर्वर्ण्य की पृष्ठभूमि पर और उसकी पुष्टि के लिये हुई थी। अश्वघोष ने अपनी काव्य-साधना को बौद्ध धर्म की उदात्त विश्वजनीनता और नैतिक गंभीरता का वाहक बनाया है। कवि-रूप में कालिदास ने अश्वघोष से बहुत कुछ पाया है, इसकी समीक्षा अनेक पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वान् कर चुके हैं। कालिदास की लोकोत्तर प्रेम-भावना, उनके सौन्दर्यातिशय मानव-जीवन के चित्र, उनका सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण, इन सबमें अश्वघोष उनकी तुलना नहीं कर सकते। कवि-कर्म की कुशलता में कालिदास अवश्य अश्वघोष से बढ़कर हैं, यद्यपि कला-पक्ष शबल अश्वघोष का भी नहीं है और कालिदास के समान महाकाव्य (बुद्ध-चरित), खंड-काव्य (सौन्दरनन्द), नाटक (शारिपुत्र-प्रकरण) और गीति-काव्य (गण्डीस्तोत्रगाथा) जैसी विविध काव्य-शैलियों पर उनका पूर्ण अधिकार है। अश्वघोष का-सा नाद-सौन्दर्य तो कालिदास की कविता में भी प्रायः नहीं मिल सकता। परन्तु कालिदास की तुलना में सबसे बड़ी बात जो हमें अश्वघोष में मिलती है

(१) हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, जिल्द दूसरी, पृष्ठ २६६
(२) देखिये दास गुप्त और दे : हिस्ट्री ऑव क्लासीकल संस्कृत लिटरेचर, जिल्द पहली, पृष्ठ ७१, पद-संकेत ४

यह है उनका विचारक और साधक का रूप। कवि होने के साथ-साथ अश्वघोष विचारक हैं, जीवन के दार्शनिक हैं, एवं साधना के शिक्षक भी। यह बात उतनी हद तक हमें कालिदास में नहीं मिलती। संभवतः बुद्ध-जीवन का वर्णन करने के कारण यह बात स्वतः भिक्षु-महाकवि के काव्य में आ गई है। कालिदास के सामने इतना गौरवातिशय कोई पात्र चित्रण करने को नहीं था, जितना बुद्ध के रूप में अश्वघोष को प्राप्त था। स्वभावतः गम्भीरता की दृष्टि से अश्वघोष कालिदास से बढ़कर हैं। आध्यात्मिक प्रभाव अश्वघोष की रचना का कालिदास की अपेक्षा अधिक है। और इसीलिये मानव-कल्याण का उसे अधिक सीमा तक साधक माना जा सकता है। अश्वघोष के सामने जो कवि-कर्म का लक्ष्य था, वह कालिदास से कहीं ऊपर था। जब कि कालिदास की रचना प्रधानतः शृंगारात्मक है अश्वघोष ने साफ तौर पर कहा है कि 'मनुष्यों के हित व सुख के लिये यह काव्य (बुद्ध-चरित) लिखा गया है, न कि विद्वत्ता या काव्य-कौशल दिखाने के लिये[1]।" इसी प्रकार सौन्दरनन्द-काव्य के अन्त में उन्होंने लिखा है 'यह कृति आध्यात्मिक शांति देने के लिये है न कि मनोरंजन के लिये। काव्य-कर्म के अनुरोध से जो कुछ सरस भी मैंने यहां कहा है वह केवल कटु औषधि को पीने के योग्य बनाने के लिये मधु मिलाने के समान है[2]।" वस्तुतः काव्य के व्याज से सत्य का ही उदघाटन कवि ने किया है। परन्तु एक विशेष बात जिसकी ओर हम यहाँ ध्यान देना चाहते हैं वह है महाकवि अश्वघोष द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति और आदर्शों का चित्रण। इस दृष्टि से भी वे कालिदास से किसी प्रकार कम नहीं है। बौद्ध कवि ने बुद्ध के जीवन और उपदेशों को उनकी प्रकृत ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठभूमि से अलग कर नहीं देखा है। उसने उसे संपूर्ण प्राचीन भारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चेतना के अंगभूत रूप में चित्रित किया है। अतः उसने स्वभावतः बुद्ध-जीवन के प्रसंग में आने वाले अनेक तथ्यों और घटनाओं का वर्णन करते हुए उन्हें प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों और पौराणिक परम्पराओं से मिलाया है और इस प्रकार अपने प्राचीन इतिहास संबंधी अगाध ज्ञान का परिचय दिया है, जो अपनी परिधि की विशालता और व्यापकता में अद्वितीय है। किसी भी भारतीय कवि ने प्राचीन इतिहास संबंधी इतने उद्धरण अपने काव्य में नहीं दिये जितने अश्वघोष ने।

(१) बुद्ध-चरित २८।७४
(२) सौन्दरनन्द १८।६३

अश्वघोष ने अपनी प्राचीन साहित्य और इतिहास-विषयक अपूर्व अभिज्ञा अनेक स्थलों में दिखाई है। शाक्यकुमार के जन्म होने के साधारण दृश्य का वर्णन करते हुए वे उपमाओं की एक माला-सी लगाकर अनेक प्राचीन महापुरुषों के जन्म की बात को कह डालते हैं[1]। इसी प्रकार शाक्य कुमार आगे चलकर कुछ नवीन अभूतपूर्व कार्य कर सकेंगे या नहीं, इसका उत्तर 'हां' में शुद्धोदन के प्रति दिलवाने के लिए वे प्राचीन इतिहास की एक झड़ी सी लगा देते हैं, केवल यह दिखाने के लिए कि पूर्वजों के द्वारा अकृत कर्म भी उनके पुत्रों के द्वारा किए ही गए हैं और इस विषय में आयु और वंश प्रमाण नहीं हैं[2]। इसी प्रकार शाक्यकुमार के वन चले जाने पर शुद्धोदन का मंत्री जब उनके पास जाकर प्राचीन इतिहास सुना सुना कर उन्हें गृह लौटाने का प्रयत्न करता है[3] तो वह भी एक अद्भुत आर्मिक दृश्य है। सारांश यह कि अश्वघोष के केवल एक 'बुद्धचरित' काव्य में अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम कह सकते हैं कि वैदिक ज्ञान और परम्परा का वे पूर्ण

---

(१) देखिये, 'ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मान्धातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्नः। कक्षीवतश्चैव भुजांसदेशात्तथाविधं तस्य बभूव जन्म। बुद्धचरित १।१० (जोह्नस्टन का संस्करण)

(२) 'यद्राजशास्त्रं भृगुरंगिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी तौ। तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च ॥ सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यं ददृशुर्न पूर्व। व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवानशक्तिः॥ वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः। चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेय ऋषिर्जगाद ॥ यच्च द्विजत्वं कुशिको न लेभे तद्गाधिनः सूनुरवाप राजन्। वेलां समुद्रे सगरश्च दध्रे नेक्ष्वाकवो यां प्रथमां बबन्धुः ॥ आचार्यकं योगविधौ द्विजानामप्राप्तमन्यैर्जनको जगाम। ख्यातानि कर्माणि च यानि शौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः ॥ बुद्ध चरित १।४१-४५

(३) 'आर्तां सनाथामपि नाथहीनां त्रातुं वधूर्मर्हसि दर्शनेन' इस प्रकार विनय करते हुए 'पूर्वेऽपि जग्मुः स्वगृहान् वनेभ्यः इस' प्रकार प्रस्ताव करते हुए मन्त्री शाक्यकुमार को याद दिलाते हैं 'तपोवनस्थोऽपि वृतः प्रजाभिर्जगाम राजा पुरमम्बरीषः। तथा महीं विप्रकृतां अनार्यैस्तपोवनादेत्य ररक्ष रामः॥ तथैव शाल्वाधिपतिर्द्रुमाख्यो वनात्ससूनुर्नगरं विवेश। ब्रह्मर्षिभूतश्च

अवगाहन कर चुके थे[१], और उसके बाद जब उन्होंने बुद्ध-वचनामृत पान किया तो उसे अपने पूर्व ज्ञान की संगति में ही उन्होंने देखा, जैसा कि हम आगे देखेंगे। अश्वघोष सबसे पहले तो एक दार्शनिक हैं और उसके बाद कवि। उन्होंने आधुनिक समालोचकों की इस उक्ति को मिथ्या बनाया है कि कलाकार कलाकार ही नहीं रहता जब वह उपदेशक का बाना पहन लेता है। समग्र 'सौन्दरनन्द' को आप प्रारंभ से अन्त तक पढ़ जाइए, आप नन्द के विलासमय-जीवन से, 'शाक्यमुनि के भिक्षापात्र लेकर उसकी सीढ़ियों पर चढ़ने के दृश्य से, नन्द-पत्नी के गवाक्षमार्ग में अवलम्बन कर विलाप करते हुए करुण स्वर से, बुद्ध के साधना-उपदेश से, निरन्तर रस-आप्लावित ही होते जाएंगे और अन्त में जब कवि अपनी 'मोक्षार्थगर्भाकृति' के विषय में आपसे यह कहेगा[२]—

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः ।
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता ॥
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृता ।
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिहि" ॥

मुनेर्वसिष्ठाद्दधा्रो श्रियं सांकृतिरन्तिदेवः ।......बुद्धचरित ९।६९-७०; देखिए काम-सुख भोग करने के लिए भी क्या-क्या उदाहरण देकर शाक्यकुमार को बहकाया जा रहा है। कामं परमिति ज्ञात्वा देवोऽपि हि पुरन्दरः। गौतमस्य मुनेः पत्नीमहल्यां चकमे पुरा ॥ अगस्त्यः प्रार्थयामास सोमभार्यां च रोहिणीम् ...... ॥ उतथ्यस्य च भार्यायां ममतायां महातपः। मारुत्यां जनयामास भरद्वाजं बृहस्पतिः ॥ बृहस्पतेर्महिष्यां च जुह्वत्यां जुह्वतां वरः। बुधं विबुधकर्माणं जनयामास चन्द्रमाः। कालीं चैव पुरा कन्यां जलप्रभवसम्भवाम् । जगाम यमुनातीरे जातरागः पराशरः ॥ मातंयामक्षमालायां गर्हितायां रिरंसया। कपिञ्जलादं तनयं वसिष्ठोऽजनयन्मुनिः । ययातिश्चैव राजर्षिर्वयस्यपि विनिर्गते। विश्वाच्यापरसा सार्धं रेमे चैत्ररथे वने।...... पाण्डुर्ज्ञात्त्वापि कौरवः... सिषेवे कामजं सुखम्। करालजनकश्चैव ...... आदि। कवि के पौराणिक ज्ञान का कोई अन्त ही नहीं है। बुद्धचरित ४।७२–८०

(१) देखिए सर्ग ९ (बुद्धचरित) में लोकायतिक सिद्धान्त का वर्णन तथा १२ वें अध्याय में सांख्य दर्शन का विवेचन।

(२) सौन्दरनन्द, अध्याय १८, श्लोक ६३–४६

'प्रायेणाऽऽलोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतम् ।
काव्यव्याजेन तत्वं कथितमिदं मयाऽद्य मोक्षपरमिति ।।
तद् बुद्ध्वा शमिकं यत्तदवहितमितो ग्राह्यं न ललितम् ।'
पांसुभ्यो धातुजेभ्यो नियतमुपकरं चामीकरमिति ।।"

निश्चय ही कवि ने अपना पूर्ण दार्शनिक स्वरूप प्रकट कर दिया है और उनके काव्य की महिमा का साक्षी आज समग्र विश्व है। समग्र भारतीय विचार की और विशेषत: महायान धर्म की यह निश्चय ही एक अपूर्व विजय है। अश्वघोष जैसे मनीषियों ने ही बौद्धधर्म को उस स्थिति पर पहुंचा दिया जिसमें वह एक अत्यन्त हृदयग्राही रूप से साधारण जनों को भी आकृष्ट करने लगा। महायान धर्म के आचार्यों द्वारा बुद्ध धर्म को "बोधिसत्व-धर्म' के रूप में बदल देने का सारा तत्व हमें अश्वघोष के छोटे से वाक्यांश में ही मिल सकता है 'प्रायेणाऽऽलोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतम्', जिसमें ही हम भक्ति आंदोलन के प्रारम्भ के सारे तत्व को देख सकते हैं। बुद्ध का बोधिपक्षीय मार्ग ठीक है, किन्तु मनुष्य विषयरतिपर है, मोक्ष से प्रतिहत है, वह मार्ग पर नहीं चलना चाहता। अत: उसके लिए एक सरल मार्ग का उद्भावन करना पड़ता है, जैसे बुद्ध-पूजा, नाम स्मरण आदि। इस प्रकार की भावनाओं से ही 'महायान' धर्म का, जो बद्ध-धर्म में भक्ति का ही एक प्रकार से आंदोलन था, प्रादुर्भाव हुआ और आचार्य अश्वघोष ने उसमें एक बड़ा योग दिया।

वर्णभेद के विरुद्ध वज्र की सुई के समान तीव्र भेदन करने वाली रचना 'वज्रसूची' लिखते हुए भी आचार्य अश्वघोष के अपने प्राचीन साहित्य और इतिहास सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन का परिचय दिया है जैसे कि'सौन्दरनन्द' में भी।

अब हम विज्ञानवाद और शून्यवाद के तात्विक विवेचनों पर आते हैं। पहले हम विज्ञानवाद को लें। 'चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्'। अर्थात् हे जिनपुत्र ! जो कुछ भी यह त्रिधातुमय (जगत्) है, सब चित्तमात्र ही है । यह दशभूमीश्वर सूत्र का वाक्य[1] विज्ञानवाद की मुख्य मान्यता को स्पष्टतम शब्दों में रख देता हैं। 'त्रिशिका' में आचार्य वसुबन्धु भी

विज्ञानवाद का सामान्य विवेचन

(१) देखिये : विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन आफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ३३

कहते हैं'आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते। विज्ञान 'परिणामोऽसौ'। अर्थात् विभिन्नतामय जो यह जगत् प्रवर्तित हुआ दीखता है वह केवल आत्म-धर्म का उपचार ही है, विज्ञान का परिणाम ही है। संपूर्ण जगत् विज्ञान का परिणाम है, चिन्मय है, मनः प्रसूति है। विज्ञान, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, चित्त का ही पर्यायवाची शब्द ह। ज्ञान और ज्ञेय अभिन्न हैं, अर्थात् ज्ञान ही ज्ञेय होकर भासता है, यह तत्व विज्ञानवादियों ने बड़ी विस्तृत युक्तियों से प्रतिपादित किया है। उनकी ज्ञान की परिभाषाएँ भी इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं।'असंगलक्षणं ज्ञानम्, (लंकावतारसूत्र) "विषयवैचित्र्यसंगलक्षणं च विज्ञानम्' (लंकावतारसूत्र)।'विज्ञानमनुत्पन्नप्रध्वंसि ज्ञानम्। (लंकावतारसूत्र) 'अप्राप्तिलक्षणं ज्ञानम् (वोधिचर्यावतार पञ्जिका), आदि वाक्य बाह्य पदार्थों को आन्तरिक ज्ञान से अभिन्न एवं उसके परिणाम स्वरूप मानने के पक्ष-पाती हैं। इसी एक विचार को विज्ञानवादियों ने अनेक प्रज्ञप्तियों से अपने विशालकाय ग्रंथों में एक अभिनव मौलिकता के साथ प्रकट किया है। दिङ्नाग अपनी 'आलम्बन परीक्षा' में कहते हैं---'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वद् भासते।', अर्थात् भीतर जो ज्ञेय रूप से अवस्थित है, वही बाहर जैसा अवभासन करता है! इसी प्रकार धर्मकीर्ति अपने 'प्रमाणविनिश्चय' में कहते हैं कि नील और नील-बुद्धि दोनों नियम से एक साथ पाए जाते हैं, अतः इनमें कोई अन्तर नहीं दीखता 'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः'[२]। इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञान-बादी आचार्यों के मतानुसार प्रत्यक्ष केवल हमारे अन्दर स्थित विज्ञानों का ही होता है, अतः बाह्य पदार्थों की कोई अलग स्थिति नहीं है। बाह्य पदार्थ विज्ञानों को उत्पन्न नहीं करते, बल्कि विज्ञानों के कारण स्वयं विज्ञान उठ खड़े होते हैं। एक क्षणिक विज्ञान दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है और इस प्रकार यह विज्ञानों की उत्पत्ति और निरोध का क्रम चलता रहता है। विज्ञानों का यह निरन्तर उत्पन्न होना और विनष्ट होना ही परम तत्व है। इस विज्ञान-सन्तान के सिवा अन्य कोई तत्व उपलब्ध नहीं होता। विज्ञानों की धारा के अतिरिक्त और किसी बाह्य वस्तु की सत्ता नहीं है, अन्दर भी स्थिर 'आत्मा' जैसे किसी पदार्थ की उपलब्धि तो होगी ही कहां से? किन्तु फिर भी विज्ञानवादियों की विज्ञप्ति का मतलब सर्वथा नैरात्म्य से

(२) द्रष्टव्य आचार्य विधुशेखर भट्टाचार्य का लेख 'गौडपाद' शीर्षक, 'प्रवासी' आस्विन् १३४४, पृष्ठ १७५।

नहीं है। इसी को 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' में इस प्रकार दिखाया गया है 'तथा पुद्‌गलनैरात्म्यप्रवेशो ह्यन्यथा पुनः। देशनाधर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना' जिस प्रकार सौत्रान्तिक विज्ञानवाद की स्थिति तक आने में डरते हैं, उसी प्रकार विज्ञानवादी भी जानबूझ कर शून्यवाद के पक्ष में प्रवेश करना नहीं चाहते। उनके लिए तो बस यही पर्याप्त है कि सब जगत् को वे 'मनोमय' दिखादें, 'विज्ञप्ति' मात्र की सिद्धि कर दें और चेतनाद्वैत के डिण्डिम से सभी दार्शनिक नयों को भरदें—'पुद्‌गलः सन्ततिः स्कन्धाः प्रत्ययाः अभावस्तथा। प्रधानमीश्वरः कर्ता चित्तमात्रं वदाम्यहम्'। (बोधिचर्यावतार)। बाह्य अर्थ नहीं और केवल चित्तमात्र ही प्रकाशित हो रहा है, यही विज्ञानवादियों की मूल भावना है। भारतीय दर्शन के प्रत्येक दर्शन-सम्प्रदाय को प्रायः इस महत्वपूर्ण सिद्धांत के विषय में कुछ अवश्य कहना है जिसे हम उन-उन दर्शनों का विवेचन करते समय देखेंगे। स्वप्न आदि के दृष्टातों को लेकर तथा अनुभव की विविध रूपता आदि को लेकर जो आक्षेप विज्ञानवाद के सिद्धांत के विरुद्ध किये गए हैं, उन पर इस समय विचार करने से पांचवें प्रकरण में पुनरुक्ति करनी पड़ेगी, अतः उससे इस समय विराम लेते हैं और केवल विज्ञानवाद के केन्द्रीय विचार को ही प्रदर्शित कर उसकी कमजोरियों की ओर नहीं जाते। विज्ञानवाद के ही प्रसंग में हमें अश्वघोष के भूततथता के सिद्धांत का निर्देश करना चाहिये, क्योंकि यह एक अत्यन्त महनीय विचार है।

संसार विज्ञान का ही विकार है, यह विज्ञानवाद का एक सामान्य विचार है, जैसा कि हम अभी कह आए हैं। किंतु इस विज्ञान के लिए विज्ञानवाद के आचार्यों ने भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग किए हैं, जिसके कारण विज्ञानवाद संबंधी उनके विचारों में कुछ विभेद उत्पन्न हो जाता है। असंग और वसुबन्धु 'विज्ञप्तिमात्र' शब्द का व्यवहार करते हैं, लंकावतार सूत्र में 'आलयविज्ञान' शब्द का प्रयोग है और अश्वघोष ने 'भूततथता' शब्द का प्रयोग किया है। असंग और वसुबन्धु 'विज्ञप्ति मात्र' को अनुभव से परे की वस्तु बतलाते हैं। उनके अनुसार वह विशुद्ध चैतन्य, आनन्दस्वरूप, अपरिवर्तनीय तथा अनिर्वचनीय है। शंकर ने सर्वास्तिवादियों के जिस क्षणिक 'आलय' के खिलाफ तर्क उठाए हैं। (ब्रह्मसूत्रभाष्य २।२।१८) वे हम देखते हैं कि असंग और वसुबन्धु के 'विज्ञप्तिमात्र' के विषय में नहीं उठाए जा सकते, क्योंकि उसने क्षणिक विज्ञान की स्थिति से उठकर वेदांत की आत्मा की कुछ-कुछ स्थिति प्राप्त कर ली है। एक क्षणिक विज्ञान दूसरे को उत्पन्न करता है।

पहले विज्ञान का जहां निरोध होता है वहीं दूसरे विज्ञान की उत्पत्ति शुरू हो जाती है। निर्वाण की अवस्था में सिर्फ किसी विशेष चेतना-केन्द्र से संबद्ध विज्ञानों का रुकना ही होता है। उस समय विज्ञान सक्रिय नहीं रहता क्योंकि वह विशुद्ध आनन्द में निमग्न हो जाता है। वैसे संसरण की अवस्था में तो कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जाने वाली चित्तधारा के साथ यदि कोई किसी प्रकार की स्थिरता नहीं मानी जाय तो, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, कर्म और पुर्नजन्म की कोई समझने के योग्य व्यवस्था नहीं रह जाती। आत्यन्तिक क्षणिकवाद के सिद्धांत के परिणामस्वरूप कर्म और पुनर्जन्म की व्यवस्था की संगति लगाना कठिन है, अतः विज्ञानवादी आचार्य उसका यही उत्तर देते हैं कि यद्यपि चित्तधारा स्वयं सतत परिवर्तनशील है किन्तु जैसे ही एक चित्तधारा का निरोध होता है वैसे ही दूसरा चित्त-प्रवाह उठ खड़ा होता है, अतः यह विज्ञान का प्रवाह या सन्तान ही उस संसरण की परम्परा को एकता प्रदान करता है। हम जानते हैं कि इस प्रकार कठिनाई से निकलने का प्रयत्न विज्ञानवादियों का प्रवर्तित किया हुआ नहीं है। उसके पूर्व लक्षण हम मिलिन्द और नागसेन के संवाद में स्थविरवाद-परम्परा के दर्शन का विवेचन करते समय देख आए हैं।[1] यह कहना कि यद्यपि चित्त-धारा प्रत्येक क्षण उत्पन्न होती और निरुद्ध होती है, किन्तु प्रत्येक उत्तरोत्तर चित्तधारा अपने पूर्व-पूर्व के स्वभावों से उपरक्त होती जाती है, आखिर किसी न किसी स्थिर भोक्ता के विश्वास में ही पर्यवसित होती है और फिर तब तो आत्मवादियों का और अनात्मवादी चेतनाद्वैतवादियों (विज्ञानवादियों) का केवल 'नाममात्रे विवादः' रह जाता है। किन्तु अश्वघोष ने तो इतना भी नहीं छोड़ा है।

'लङ्कावतार सूत्र' ने विश्व के चरम तत्व का 'आलय-विज्ञान' के नाम से प्रयोग किया है। सृष्टि के सभी पदार्थ मिथ्या हैं, निःसत्व हैं। ज्ञाता और ज्ञेय एक ही है। सभी विज्ञान ज्ञाता भी है, और ज्ञेय भी। 'मैं हूं' (अहमास्पद)[2] की अनूभूति में ज्ञाता और ज्ञेय दो भिन्न-भिन्न पदार्थ नहीं, किन्तु एक ही हैं। ज्ञाता रूप से देखने पर विज्ञान-सन्तान या आलय-विज्ञान 'मैं' रूप 'अहमास्पद' दीखता है

आलयविज्ञान—विज्ञप्तिमात्रता—भूततथता—अलग-अलग विवेचन।

(१) देखिए इसी प्रकरण के पूर्व भाग में 'कर्म और पुनर्जन्म' पर विवेचन।

(२) तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥

और ज्ञेय रूप देखने पर पदार्थ समूह के रूप में। तत्त्वतः विज्ञानों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। 'बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैःविकल्प्यते। ......वासनैः चित्तमर्थाभासं प्रवर्तते' ॥ (लंकावतार सूत्र)। किन्तु वैसे 'लंकावतार सूत्र' विज्ञानवाद और शून्यवाद के बीच में चक्कर सा लगाता है। उसके अन्दर असंग और वसुबन्धु की-सी विज्ञानवाद के प्रति अनन्य भक्ति नहीं है' हम पहले 'विज्ञप्तिमात्रता सिद्धि' का उद्धरण देकर यह दिखा चुके हैं कि आचार्य असंग विज्ञानवाद को शून्यवाद में मिला देने के पक्षपाती नहीं, किन्तु 'लंकावतार सूत्र' के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसकी तो भक्ति संभवतः 'आलयविज्ञान' से 'शून्य' के लिए ही अधिक समर्पित है, अतः अब हम उसे छोड़ कर अश्वघोष के भूततथता दर्शन पर आते हैं।

अश्वघोष ने अभिज्ञापूर्वक औपनिषद आत्मवाद के शाश्वतत्व को विज्ञानवादियों की चित्त-धारा के प्रति समर्पित किया है।[1] साथ ही उन्होंने विशुद्ध औपनिषद आत्म-तत्त्व का खण्डन भी किया है। अतः आचार्य गौड़पाद तथा शङ्कर की तरह इन विज्ञानवाद के प्राचीन आचार्य का दर्शन भी बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचार्य अश्वघोष और आचार्य शंकर ने अनुलोम और प्रतिलोम से एक ही कार्य किया है। दोनों ने ही विज्ञानवाद के चित्त की एक विशिष्ट व्याख्या स्वीकृत हो जाने पर उसके विषय में नाममात्र के लिए विवाद नहीं किया है, किन्तु जबकि आचार्य शङ्कर विज्ञानवादियों के क्षणिक विज्ञान में कमियां दिखाकर उनकी परिशुद्धि करने अथवा उन्हें सही रूप प्रदान करने की कोशिश नहीं करते (स्वयं एक वैदिक आचार्य होने के कारण उनका कार्य वैदिक दर्शन की स्थापना है, बौद्ध दर्शन की व्याख्या नहीं। अश्वघोष जिनकी भक्ति बौद्धधर्म के प्रति समर्पित हुई है, एक अनन्यसाधारण रचनात्मक

---

(१) अपने ग्रन्थ (महायानश्रद्धोत्पाद शास्त्र) के प्रारम्भ में वे कहते हैं— 'महायान क्या है? यह सर्वसत्व है। आत्मा सभी दृश्य और अदृश्य जगत् को आवरण करके ठहरता है'। सुजुकी का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है— 'What is the Mahayan? It is the soul of all sentient beings. The soul embraces everything in this world, phenomenal and super-phenomenal' देखिए सोजन : सिस्टम्स ऑफ़ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५३-२५४

कार्य में प्रवृत्त होते हैं और इसी का परिणाम उनका 'भूततथता' का दर्शन है। निश्चय ही औपनिषद ज्ञान से भरपूर होकर और उनकी ज्ञान-वीथियों में स्वच्छंद रस लेकर ही जिन मनीषियों की प्रवृत्ति और श्रद्धा की धारा बुद्ध-धर्म के प्रति प्रवाहित हुई हैं, उनके विचारों में जो क्रान्ति हुई है और बुद्धि मन्थन के परिणाम स्वरूप जिन निष्कर्षों पर वे पहुंचे हैं उन्हीं में संभवतः हम बौद्ध-दर्शन और औपनिषद दर्शन के संबंध की सर्वोत्तम झांकी कर सकते हैं, ऐसा इस लेखक का विनम्र अभिप्राय है। अतः आचार्य अश्वघोष हमारे दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनके 'बुद्धिचरित' और 'सौन्दरनन्द' पढ़ते समय यह कदापि मालूम नहीं पड़ता कि इनका लेखक सिवाय एक महान् प्राचीन वैदिक पंडित होने के अन्य कोई हो सकता है। प्राचीनतम भारतीय सांस्कृतिक इतिहासों और पौराणिक तथ्यों के विषय में इस प्रकार वर्णन करते हैं कि मानो उनके साथ ही वे रह रहे हों। शुद्धोदन की चिन्ताओं में, यशोधरा के विलापों में, उदायी, मन्त्री और पुरोहित के शाक्यकुमार के साथ संवादों में हमें एक आर्यसनातन धर्म में जीवित विश्वास रखनेवाले कवि के दर्शन होते हैं। अंग्रेज लेखकों का यह रिवाज है कि वैदिक परम्परा या श्रौत परम्परा की कोई बात दिखाना चाहते हैं तो उसके लिए 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग करते हैं और बौद्धों के लिए 'बौद्ध'। हमारे भारतीय विद्वानों में डा० दासगुप्त और राधाकृष्णन् इन शब्दों का विमोह नहीं छोड़ सके हैं, अन्य की तो बात ही क्या? आश्चर्य और दुःख है कि सर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे भाषा का स्वामित्व करनेवाले मनीषी विद्वान् को भी ठीक शब्द उपयोग के लिए नहीं मिल सके! किन्तु शब्दों के पीछे हम लड़ते नहीं, फिर इन महारथियों के सामने तो, जिनके दिखाए मार्ग के ही किञ्चित् पिछलगे हम हैं, निश्चय ही शब्द निकालना भी पाप है। किन्तु अश्वघोष और वैदिक परम्परा के अन्य दार्शनिकों के साथ-साथ विवेचन के समय जब एक के लिये 'बौद्ध' और दूसरे (अथवा दूसरों,) के लिये 'हिन्दु' शब्द का प्रयोग देखते हैं, तो हृदय दुखता है। दर्शन विचार ही तो है, अनुभूति का प्रकाशन ही तो है। अतः जब एक दार्शनिक कवि भी होता है तो इस लेखक का विनम्र विचार है कि वह अपनी कविता में ही अपने विचार और अनुभूति को अधिक स्पष्टता और अभिव्याप्ति के साथ रखता है अपेक्षाकृत अपने दार्शनिक ग्रन्थों के यदि उसने उनकी रचना की हो। जो इस दृष्टिकोण को स्वीकार करेंगे वे भी अश्वघोष के विचारों या उनके दर्शन को 'बुद्ध-

चरित' और 'सौन्दरनन्द' के आधार पर व्याख्यात करने की इस लेखक को कितनी स्वतंत्रता देंगे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ भी हो, ऐसा करना हमारा यहां उद्देश्य भी नहीं है, किन्तु जिस बात को हम 'महायान श्रद्धोत्पाद' से अस्पष्टता से दिखा सकते हैं उसकी स्पष्टता के लिए तो निश्चय ही हम 'सौन्दरनन्द' और 'बुद्धचरित' से सहायता ले ही सकते हैं, और इसीलिए हम कहते हैं कि 'भूततथता' (जिसका विवरण हम अभी देंगे) दर्शन के उद्‌भावक की मानसिक प्रतिष्ठा गम्भीर औपनिषद ज्ञान के मनन और अनुशीलन पर ही हो सकती है, जिसे उनके 'बुद्ध चरित' तथा 'सौन्दरनन्द' काव्य भली प्रकार प्रख्यापित करते हैं। सुवर्णाक्षीपुत्र भदन्त अश्वघोष (ब्राह्मण वंश में उत्पन्न साकेतक, वैसे अकिंचित्कर, किन्तु हमारे यहाँ दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण तथ्य) बौद्ध धर्म और दर्शन के तो अप्रतिम आचार्य हैं ही, उनका बौद्ध-धर्म में जाना तथागत के गौरव से ही है और औपनिषद ज्ञान के प्रति वे अपनी श्रद्धा-बुद्धि कभी नहीं भूले हैं और इसी क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम हमें उन मनीषी के 'भूततथता' सिद्धान्त में मिलता है। फिर ये आचार्य केवल औपनिषद ज्ञान को लेकर ही बौद्ध स्रोत में नहीं पड़े किन्तु और भी चीजें अपने साथ ले गए जिनका आश्चर्यजकक प्रभाव बौद्धधर्म की समग्र विकास-परम्परा पर ही पड़ा जिसका कुछ दिग्दर्शन हम कर ही आए हैं। ईसवी शताब्दी के करीब यह महापुरुष आविर्भूत हुए। ब्राह्मण वंश के तो थे ही। पौराणिक ज्ञान भी भरपूर था, तथागत के प्रति श्रद्धा भी अपार थी। खूब तथागत की सेवा कराई, राजाओं से, महाराजाओं से, धनिकों से, निर्धनों से, श्रमणों से, ब्राह्मणों से, तथाकथित हीन-वर्णवालों से (जिनका पक्ष इन मनीषी ने बड़ी अच्छी तरह से लिया)। तथागत ने जो अपने परिनिर्वाण के समय कहा था कि भिक्षुओं को तो बोधि-पक्षीय धर्मों की ही भावना करनी चाहिए और तथागत की शरीर-सेवा से विरत रहना चाहिए, क्योंकि तथागत की शरीर-सेवा करनेवाले तो अनेक श्रमण-ब्राह्मण और गृहस्थ होंगे जो तथागत की अनेक प्रकार से पूजा करेंगे[1], तो हम कह सकते हैं कि इस प्रकार की पूजा करनेवालों के समूह को प्रथम बार जुटानेवाले और उसे प्रोत्साहन देनेवाले सुवर्णाक्षीपुत्र ब्राह्मण महाशाल आर्य अश्वघोष ही थे,

(१) द्रष्टव्य महापरिनिब्बाण सुत्त। (दीघ० २।३)

जिनकी वाणी का प्रथम घोष हमें संयोजक के रूप में कनिष्क के समय में हुई बौद्ध धर्म की संगीति में सुनने को मिलता है और जब तक तथागत की पूजा करने वाले लोग संसार में रहेंगे (आचरण करने-वाले अर्थात् बुद्ध के द्वारा कथित भिक्षुओं की कोटि में आनेवाले तो निश्चय ही सब को छोड़ अभ्यास में ही लगे रहेंगे) तब तक वे अपनी भावना-शुद्धि के लिए सम्भवतः 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' से अधिक सहायक वस्तुएं प्राप्त नहीं कर सकेंगे। और ये ग्रन्थ 'स्थविरवाद' या 'सर्वास्तिवाद' परम्परा की देन न होकर विशुद्ध वैदिक परम्परा की ही देन हैं जो भक्ति और बुद्ध के महत्व की भावना से संनिविष्ट और अभिव्याप्त होकर काव्य और दर्शन की महत्व पूर्ण देन हो गये हैं। इस प्रकार व्यापक रूप से वैदिक परम्परा का उनके ऊपर प्रभाव दिखाकर और इसका भी कुछ दिग्दर्शन कराकर कि किस प्रकार उन मनीषी आचार्य ने अपनी ज्ञान सम्पदा के द्वारा बौद्ध धर्म को एक अभिनव स्वरूप प्रदान करने में योग दिया, अब हम उनके तत्व-सम्बन्धी विचार पर आते हैं जो भी एक भिन्न कथा नहीं कहता। विज्ञानवादियों के आलय विज्ञान पर आचार्य अश्वघोष का यह संशोधन है अथवा यों कहिए कि परिवर्द्धन है कि उसी की प्रतिष्ठा में एक अनिवर्चनीय तत्व है जो भावात्मक है और जिसको 'भूततथता' के नाम से पुकार सकते हैं। परि-वर्तनशील जितका भी विज्ञान प्रवाह है, उसकी प्रतिष्ठा में भूततथता छिपी हुई पड़ी है, जो परिवर्तित होनेवालों में अपरिवर्तित है और स्पन्दित होने-वालों में अस्पन्द है। भूततथता न सत् कही जा सकती है, न असत्, न एक, न अनेक[१]। वह भावात्मक भी है और अभावात्मक भी[२]। अविद्या के हट जाने पर ही भूततथता का प्रकाश होता है और एकता की अनुभूति जागने लगती है। 'भूततथता' के इतने भावात्मक वर्णन उपलब्ध होते हैं कि हम उसके स्वरूप के विषय में भ्रमित नहीं हो सकते। उसको

(१) मिलाइये, न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते। न वर्द्धते नापि विशुद्धते पुनर्विशुद्धचते तत्परमार्थलक्षणम् ।। महायान सूत्रालंकार (असंग-कृत) ६।१

(२) भूततथता के दोनों भावात्मक और अभावात्मक वर्णनों के लिए देखिए सोजन : सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५७-२५८

निर्वाण भी, कुशलमूल भी, धर्मकाय भी, और शान्ति-रूप भी कहा गया है[1]। इसमें आश्चर्य नहीं कि अश्वघोष के द्वारा प्रस्तावित इस औपनिषद आत्मा के बौद्ध संस्करण को बौद्ध आचार्य बड़ी अच्छी तरह से पी गए हैं। निश्चय ही उनके प्रज्ञान इतने विस्तृत, व्यापक और अभावात्मक हैं कि यदि शङ्कर ने ठीक चिन्ता न की होती, (ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधः नाभावसान इति) तो वे उसे भी निगल जाते (और ऐसा करने पर भी तो वे अंशतः उसे निगल गए हैं) तो फिर अश्वघोष के प्रज्ञानों का तो कहना ही क्या? भूततथता, भूतकोटि, धर्म-धातु आदि सभी शून्य के पर्याय बना दिए गए हैं। केवल 'लङ्कावतार सूत्र' ही 'भूततथता' को कुछ अच्छी तरह नहीं पचा सका है। इस ग्रन्थ में कभी भूततथता के प्रति कुछ स्वीकृति सी ध्वनि है, तो कभी उसका खण्डन। फिर भी अन्त में बहुत विमर्श के बाद वह अभावात्मक शून्य की ओर ही प्रवण होता हुआ दिखाई देता है। वास्तव में 'क्षणिकवाद' भी बौद्धों के लिए एक बड़ी समस्या रही है। इस सिद्धान्त को लेकर वे कभी किसी भी स्थिर तत्व में विश्वास नहीं कर सकते और उसके किए बिना वे कर्म और पुनर्जन्म की भी संगति लगाना कठिन अनुभव करते हैं। 'भूततथता' के सिद्धान्त ने इस विषय में कुछ स्पष्ट दृष्टिकोण रक्खा हो, ऐसा अभी गम्भीर विद्वान् भी निश्चित नहीं कर पाए हैं। किन्तु यह सोचा जा सकता है कि 'भूततथता' की स्थापना में निश्चय ही आत्यन्तिक क्षणिकवाद का तो अपलाप किया ही गया होगा अन्यथा

---

(१) "It is निर्वाण when it brings absolute peace to a heart egoistic and afflicted with conflicting passions; it is bodhi (बोधि) or perfect wisdom, when we regard it as the source of intelligence; it is धर्मकाय when we call it the fountain head of love and wisdom; it is कुशलमूलम् or the summum bonum when its ethical phase is emphasised—it is बोधिचित्तम्; it is परमार्थसत्यम्....... it is मध्यम मार्गम्..... is the भूतकोटि... तथागतगर्भ...... महायान."....सर्वसत्व—Soul of all seintent beings" सोजन : सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५३-२५४

उसका कोई तात्पर्य ही नहीं रह जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अश्वघोष ने 'भूततथता' के रूप में औपनिषद शाश्वत आत्मा को ही बौद्ध दर्शन में प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है[१]। यह सिद्धान्त निश्चय ही विज्ञानवाद के ऊपर एक विकास है और एक तरफ विज्ञानवाद और शून्यवाद की यह मध्यस्थता करता है तो दूसरी तरफ विज्ञानवाद की ही दिशा में 'आत्मा' के सदृश किसी अनिवर्चनीय तत्व की ओर संकेत करता हुआ यह कहता है, 'यह वही है'। 'इदमेवेति ब्रुवत्'। 'एतद्वैतत्'। 'यह वही है' क्या ? अनिवर्चनीय भूततथता[२]। 'अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते'। अश्वघोष ने यह सब बौद्ध दृष्टिकोण से भी बड़ी अच्छी तरह दिखाया। विज्ञानवाद के विषय में विशेष हम पांचवें प्रकरण में (शाङ्कर दर्शन के विवेचन में) देखेंगे। विज्ञानवाद के धर्म और आचार-तत्व एवं प्रमाण मीमांसा के विषय में अलग यहां कुछ कहना अपेक्षित नहीं है। संवृतिसत्य और परमार्थ सत्य इसका शून्यवाद के समान ही है, अतः उसे वहीं आगे विवेचित करेंगे। 'योगाचार' विज्ञानवाद की संज्ञा होने के कारण यह स्पष्ट ही है कि ये लोग योग पर अधिक जोर देते हैं। ऐतिहासिक बुद्ध को ये 'धर्मकाय' की अभिव्यक्ति मानते हैं। कहते हैं कि 'यस्यां रात्रौ तथागतोऽभिसम्बुद्धो वभूव यस्यां च परिनिर्वृत्तः। अत्रान्तरे तथागतेन एकमप्यक्षरं नोदाहृतम् (बोधिचर्यावतार)। अर्थात् जिस रात्रि में तथागत अभिसम्बुद्ध हुए और जिस रात्रि में उन्होंने परिनिर्वाण प्राप्त किया, उसके बीच

---

(१) 'भूततथता implies oneness of the totality of things or धर्मधातु—the great all-including whole, the quintessence of the doctrine. For, the essential nature of the soul is uncreated and eternal; सुजुकी का 'महायान श्रद्धोत्पाद' का अंग्रेजी अनुवाद (The Awakening of Faith in Buddhisn) पृष्ठ ५५-५६

(२) "Thus the very state of the absolute world or the realm of the soul is indescribable as the sight of a terrible battle-field or a beautiful landscape. This is technically termed suchness beyond language." सोजन : सिस्टम्स ऑफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृष्ठ २५६

उन्होंने एक अक्षर भी नहीं कहा। इसी प्रकार लङ्कावतार सूत्र में भी 'यस्यां रात्र्यामधिगमः यस्यां च परिनिर्वृत्तिः। एतस्मिन्नन्तरे नास्ति किञ्चित् प्रकाशितम्।' अर्थात् भगवान् बुद्ध कहते हैं (!) कि 'जिस रात्रि में मैंने (बोधि का) अधिगम पाया और जिसमें मेरा निर्वाण हुआ इसके बीच मैंने कुछ प्रकाशित नहीं किया'। हम जानते हैं कि माध्यमिकों ने भी इस प्रकार बुद्ध की इतिहासवत्ता का निषेध किया है, किन्तु उससे हमें यहां प्रयोजन नहीं[1]। 'धर्मकाय' के नाम-रूप ग्रहण कर लेने पर ही उसकी 'सम्भोग काय' संज्ञा होती है, जिसे अद्वैतवादियों का हम माया विशिष्ट चैतन्य कह सकते हैं। देवभावापन्न अवस्था में जब बोधिसत्व संसार में जन्म ग्रहण करते हैं तो उन्हें निर्माण काय कहा जाता है। धार्मिक क्षेत्र में 'धर्मकाय' को स्वीकार कर महायानिकों ने (जिनमें विज्ञानवादी भी सम्मिलित हैं) देश और काल से अतीत एक आदि तत्व को स्वीकार किया है जो ब्रह्मवादियों के ब्रह्म से बहुत समानता रखता है। प्रमाण मीमांसा के क्षेत्र में विज्ञानवादियों का 'आत्मख्याति' का सिद्धान्त बहुत महत्व रखता है। इस सिद्धान्त के द्वारा वे मिथ्या दर्शन की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। शुक्ति में रजत क्यों दिखाई पड़ता है, इसका कारण वे यह बताते हैं कि मानसिक विज्ञान ही बाहर रजताकार में परिणत हो जाता है। विज्ञान सन्तान का प्रवाह ही, जो एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, रजत रूप अवभासित होकर दिखाई देने लगता है और रजत की अन्य कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। इसके विरुद्ध शंकर ने तर्क उठाए हैं, जिन पर हम पाँचवें प्रकरण में शाङ्कर दर्शन पर विवेचन उपस्थित करते समय विचार करेंगे। विज्ञानवाद भारतीय दर्शन की एक अत्यन्त प्रभावशाली विचार-प्रणाली है। यह सिद्धान्त संशोधित होकर औपनिषद आत्मवाद का कुछ कुछ स्वरूप धारण कर लेता है जिसकी झलक हमें अश्वघोष के दर्शन में मिलती है और प्रकारान्तर से शङ्कर के दर्शन में भी-जिस पर हम पाँचवें प्रकरण में ही विचार करेंगे।

---

(१) फिर भी द्रष्टव्य, नोदाहृतं त्वया किञ्चित् एकमप्यक्षरं विभो। कृत्स्नश्चैव वैनेयजनः धर्मवर्षेण वर्षितः। 'चतुस्तव' में नागार्जुन; सर्वोपलम्भोशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः। न क्वचित् कस्यचित् कश्चित् धर्मो बुद्धेन देशितः। माध्यमिक वृत्ति।

शून्यवाद न केवल भारत की ही अपितु विश्व की एक प्रभावशाली दर्शन-प्रणाली है। सौत्रान्तिकों और विज्ञानवादियों के स्वाभाविक विकास स्वरूप यह दर्शन प्रवृत्त हुआ है। सौत्रान्तिकों ने बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष अनुभव से ज्ञेय नहीं माना था और विज्ञान-वादियों ने उनकी सत्ता स्वीकार की थी केवल 'चित्तमात्र' के रूप में, किन्तु माध्यमिकों ने उसका आधार वहाँ से भी तोड़ कर सब बाह्य और आन्तरिक अस्तित्व को 'गन्धर्वनगर' के समान कर दिया। किन्तु इसमें विरुद्धार्थ प्रतिपत्ति हो सकती थी। जिस प्रकार सभी मनीषी दार्शनिक (जिनमें शङ्कर भी शामिल हैं) अपनी कमियों और विरोधाभासों से अभिज्ञ रहते हैं, उसी प्रकार माध्य-मिक आचार्य भी अवश्य थे। शास्ता का उपदेश तो एक ही हो सकता था अर्थात् या तो पदार्थों के अस्तित्व को ज्ञापित करना या उनको 'चित्तमात्र' बताना या 'गगनोपम' करार देना। एक ही साथ वे तीनों बातें तो नहीं सिखा सकते थे। कुछ तो उपाय निकालना ही चाहिए। अधिकारियों के सवाल ने समस्या को हल कर दिया। शून्यवाद का उपदेश करने से मनुष्य डर जायेंगे क्योंकि उन्हें सत्ता सम्बन्धी ठीक ज्ञान नहीं, अतः कारुणिक शास्ता ने मन्द अधिकारियों को तो सौत्रान्तिक और विज्ञानवाद के सिद्धान्त सिखाए किन्तु वास्तविक मन्तव्य तो उनका उच्च अधिकारियों के लिए शून्यवाद ही था, जिसके माध्यमिक ही उत्तराधिकारी हैं। 'शिक्षा समुच्चय' की यह उक्ति इसी तथ्य को प्रमाणित करती है—

शून्यता का उपदेश— धर्म-नैरात्म्य

'चित्तमात्रं जगत् सर्वं इति या देशना मुनेः।
उत्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्वतः॥
अस्ति खलु इति नीलादि जगदिति जडीयसे।
भावग्राह ग्रहावेश गम्भीर नय भीरवे॥
विज्ञान मात्रं एवेदं चित्रं जगदुपाहृतम्।
ग्राह्य ग्राहक भेदेन रहितं मन्द मेधसे॥
गन्धर्व नगराकारं सत्यद्वितयलाञ्छनम्।
अमेयानन्त कल्पौघ भावना शुद्ध मेधसे॥

'शून्य एव धर्माः' यह माध्यमिकों का मूल सिद्धान्त है और इसकी सिद्धि (यदि किसी की भी सिद्धि नागार्जुन ने की है!) मूल माध्यमिककारिकाकार ने अभिनव तर्क के साथ की है। तत्व को नागार्जुन ने निःस्वभाव, निरभिलप्य और

दुर्निरूप कहा है। न तो किसी वस्तु की, न चित्त की और न प्रमाण, प्रमेय प्रमाता अथवा प्रमा की ही कोई स्थिति माध्यमिकों ने छोड़ी है। उनके लिए इनका प्रतिषेध रूप 'शून्य' ही परम तत्व है। इस शून्य का किसी भी शब्द या प्र ाण से बोध नहीं किया जा सकता क्योंकि वहां न भाव है न अभाव, न इन दोनों का संघात और न विघात। वह एक बिलकुल अनिरुक्त अवस्था है। 'शून्य' के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए हमें पहले नागार्जुन की विचार-प्रणाली और शैली से अभिज्ञ होना चाहिए। नागार्जुन का समग्र शून्यवाद एक प्रकार से 'प्रतीत्य समुकत्पाद' की व्याख्या है और उसी से उन्होंने अपने समस्त सिद्धान्त को निकाला भी है। अपनी 'मूल माध्यमिक कारिका' के प्रारम्भ में ही वे कहते हैं:—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशमामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्।

इस प्रतिज्ञा को लेकर वे वस्तुओं के स्वरूप की परीक्षा करने को निकले हैं और उन्होंने जो पाया है वह माध्यमिकों के ही स्मरणीय शब्दों में सुनिए—

बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
तस्मादनभिलप्यास्ते निःस्वभावेन देशिताः[1] ॥

(लङ्कावतार सूत्र)

'बुद्धि से विवेचित किए जाने पर (वस्तुओं के) स्वभाव का अवधारण नहीं होता। अतः वे अनभिलप्य हैं और निःस्वभाव कह कर ही उनका आदेश किया जाता है।' नागार्जुन ने अपने तर्क-बल से किसी की भी सत्ता नहीं छोड़ी है, पदार्थों का जैसे-जैसे उन्होंने विश्लेषण किया है वैसे ही वैसे वे विशीर्ण होकर पृथ्वी पर गिरते गए हैं 'यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा'। इसलिए शून्यता का लक्षण उन्होंने 'निःस्वभाव' होना ही किया है और इसको मिला दिया है अभिन्न रूप से प्रतीत्य समुत्पाद से 'यः प्रतीत्य समुत्पादः शून्यता

(१) 'निःस्वभावेन' की जगह 'निःस्वभावाश्च' भी पाठ है। लंकावतार सूत्र के इस वाक्य का ही अनूदन न्यायसूत्र ४।२।२६ में उपलब्ध होता है। बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिः। तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः'। देखिए लक्ष्मीपुरं श्रीनिवासाचार्य : 'दर्शनोदय' (शून्यता दर्शनम्)

सैव ते मता'। किसी भी पदार्थ को 'यह ऐसा है' या 'यह वैसा है', इस प्रकार नहीं कहा जा सकता :—

'इदं वस्तु वलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथाऽयथार्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा ॥

अतः परम सत्य तो माध्यमिकों के अनुसार 'चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त तत्व' ही है जिसके विषय में न 'हां' न 'नहीं' और न इन दोनों का संयोग या वियोग ही कहा जा सकता है। यही मध्यम मार्ग है और इसी के कारण उन्होंने अपनी माध्यमिक संज्ञा पाई है—

'न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥

अतः अभाव और भाव आदि कोटियों से विलक्षण तत्व ही 'शून्य' है। इसी के विषय में माध्यमिक वृत्ति भी कहती है—अपरप्रत्ययं शान्तं प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्। निर्विकल्पमनानार्थम् एतत्तत्वस्य लक्षणम्'॥ इस प्रकार शून्यता को मान लेने पर सत्वों के उत्पन्न होने अथवा निरुद्ध होने का सवाल नहीं रहता जिसको पहले उद्धृत की हुई 'मूल माध्यमिक कारिका' की प्रथम पंक्तियाँ ही सूत्रात्मक रूप से द्योतित करती हैं 'अनिरोधमनुत्पादम्' आदि। इसी अर्थ को लंकावतार सूत्र ने इस प्रकार प्रपंचित किया है—

'तथता शून्यता कोटी निर्वाणं धर्म धातुकम्।
अनुत्पादश्च धर्माणां स्वभावः पारमार्थिकः॥
अथ वैचित्र्यसंस्थानं विकल्पो यदि जायते।
आकाशे शशश्रङ्गे च अर्थाभासं भविष्यति'॥

सभी भौतिक और मानसिक पदार्थ माया से कल्पित हैं, 'मृग तृष्णिका' के समान हैं, अथवा आकाश, शशश्रृङ्ग, या वन्ध्या के पुत्र के समान। वासना का ही किया हुआ यह लोक है और सभी पदार्थ 'अलातचक्र' के समान हैं, 'अद्वय' 'वितथ' और 'शून्य' हैं। 'निरोध' और भाव वहां कहाँ हैं, सभी तो 'स्वप्नोपम' हैं, 'कदली सम' हैं[1], वहां 'विशेष' ही क्या रहा, इस प्रकार के अभावात्मक विचार माध्यमिक साहित्य में भरे पड़े हैं, जिनकी अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को लेकर पुनरावृत्ति की गई है। देखिए 'लङ्कावतार सूत्र' में—

(१) मिलाइए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध और वेदान्त दर्शन' पर विचार।

'स्वप्नं केशोण्ड्रुकं माया गन्धर्वं मृगतृष्णिका।
अहेतुका ऽपि दृश्यन्ते तथा लोक विचित्रता॥
आकाशं शशश्रङ्गश्च वन्ध्याया पुत्र ,एव च।
असन्तश्चाभिलप्यन्ते तथा भावेषु कल्पना॥
वासना हेतुको लोकः नासन्न सदसत्त्वचित्।
ये पश्यन्ति विमुच्यन्ते धर्मं नैरात्म्य कोविदाः॥
अलात चक्र गन्धर्वं प्रतिश्रुत्का समोद्‌भवाः।
अद्वया वितथा शून्या भूतकोटिश्च धर्मता॥
स्वप्नं केशोण्ड्रुकं माया गन्धर्वं मृगतृष्णिका।
सर्वदृष्टि प्रहाणं च तदनुत्पादलक्षणम्॥
अस्वभावा अनुत्पन्नाः प्रकृत्या गगनोपमाः[1]॥

बोधिचर्यावतार में भी यही भावः—

'निः स्वभावा अमी भावा तत्वतः स्वपरोदिताः।
एकानेक स्वभावेन वियोगाद्वियदब्जवत्॥
एवं च न निरोधोऽस्ति न च भावोऽस्ति तत्वतः।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात् सर्वमिदं जगत्॥
स्वप्नोपमास्तु गतयः विचारे कदलीसमाः।
निर्वृत्तानिर्वृत्तानां च न विशेषोऽस्ति वस्तुतः[2]॥
निरीहा वशिकाः शून्याः मायावत्प्रत्ययोद्‌भवाः।
सर्वे धर्मास्त्वया नाथ निः स्वभावाः प्रकाशिताः॥

उपर्युक्त उदाहरणों से हम भली प्रकार देखते हैं कि माध्यमिकों के लिए किसी भी वस्तु का कोई 'स्वरूप' जैसी वस्तु नहीं है बल्कि सभी कुछ आरोपित है अथवा वन्ध्यापुत्र आदि की तरह है और केवल नाम के लिए बोला जाता है 'असन्तश्चाभिलप्यन्ते'। इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक बाह्य वस्तुओं की सत्ता नहीं मानते अथवा यों कहिए कि उन्हें 'निःस्वभाव' और 'निरभिलप्य' मानते हैं, इसलिए उनका यह सिद्धान्त 'धर्म नैरात्म्य' अथवा 'धर्मशून्यता' भी कहा जाता है। वे आन्तरिक जगत् में भी किसी स्थिर पुद्‌गल की सत्ता नहीं पाते, अतः वे 'पुद्‌गलनैरात्म्य'वादी या 'पुद्‌गल शून्यता' वादी भी कहलाते हैं।

(१-२) मिलाइए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त'।

अनात्मवाद को निषेधात्मक दिशा में ले जाने का प्रयत्न माध्यमिकों में ही आकर अपनी परिपूर्ण दीप्ति के साथ और अन्तिम रूप में प्राप्त हुआ है और इसी को लेकर हमारे 'आस्तिक' विचारकों के द्वारा वे समालोचना के विषय भी बनाए गए हैं। माध्यमिक कहते हैं कि अतीत और अनागत सम्बन्धी चित्त नहीं है, 'मैं' भी नहीं है। यदि चित्त उत्पन्न होता या नष्ट होता तो 'मैं' भी उसके साथ उत्पन्न होनेवाला तथा मरने वाला होता, किन्तु जब वह चित्त ही नहीं है, तो उत्पन्न होना और मरना किस 'मैं' का?

अतीतानागतं चित्तं नाहं तद्धि न विद्यते।
अथोत्पन्नमहं चित्तं नष्टेऽस्मिन् नास्त्यहं पुनः॥

बोधिचर्यावतार।

कदली स्तम्भ को काटते-काटते कौन उसके सार को निकाल सका है? इसी प्रकार सभी जगह खोजते खोजते कहीं भी तो 'मैं' मिलता नहीं—

'यथैव कदलीस्तम्भः न कश्चित् भागशः कृतः।
तथाऽहमप्यसद्भूतः मृग्यमाणो विचारतः'॥ बोधिचर्यावतार।

माध्यमिकों का यह भी कहना है कि इस प्रकार का 'पुद्गल नैरात्म्य' या पुद्गलशून्यता' मनुष्यों के त्रास का कारण नहीं, किन्तु उनके भय के क्षय का कारण ही होनी चाहिए। जो दुःख को उत्पन्न करनेवाली वस्तु है उससे त्रास होना चाहिए, किन्तु शून्यता तो दुःखों का शमन करनेवाली है, उससे भय कैसा?

'यद्दुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात् प्रजायताम्।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम्''

—बोधिचर्यावतार।

किस प्रकार? माध्यमिक उत्तर देते हैं कि भय तो किसी 'वस्तु' से ही होगा, जो 'अवस्तु' है, वास्तव में है ही नहीं, उससे क्या भय हो सकता है? और इसी तरह जब कोई होगा, उसे ही तो भय होगा, किन्तु यहाँ 'मैं' जो डरा करता है, जब वह ही नहीं है, तो भय किसको होगा? न तो भय करानेवाला है और न भय करनेवाला, तो फिर भय किसको और कैसा? 'तत्वं माध्यमिका विदुः',

'यतस्ततो वाऽवस्तु भयं यद्यहम् नाम किञ्चन।
अहमेव न किञ्चित् चेत्भयं कस्य भविष्यति॥
नास्त्यहं न भविष्यामि न मेऽस्ति न भविष्यति।
इति बालस्य संत्रासः पण्डितस्य भयक्षयः॥

बोधिचर्यावतार।

माध्यमिकों को जानना चाहिए था कि सिद्धांतों के प्रख्यापन से 'भय' नहीं छूटता। गोपिकाएं (जो साधारण लौकिक मनुष्यों की प्रतीक हैं) तो उद्धव के उस साधारण योग से ही उतनी भयभीत हो उठीं, यदि नागार्जुन अपना 'उद्धव' और उनके पास भेज देते तो भारतीय साहित्य और दर्शन के लिए यह एक अद्‌भुत चीज होती ! कृष्ण के विश्व-रूप दर्शन से अर्जुन भयभीत हो गया था। माध्यमिकों की शून्यता उससे कम भय पैदा करने वाली नहीं है। फिर भी, नैरात्म्यवाद भय का हरण करनेवाला है, यह माध्यमिकों ने दिखाया है। साथ ही इन्हीं मनीषी आचार्यों ने मञ्जु श्री और अविलोकितेश्वर बोधिसत्वों की उपासना भी की है। इसीलिए तो हम कहते हैं कि गोपियों और उद्धव का प्रस्ताव यहां भी फब सकता है। शंकर और मधुसूदन सरस्वती जैसे अद्वैत वेदान्ताचार्य भी, 'निर्विशेष' ब्रह्म का प्रतिपादन करनेवाले मायावादी भी, अपने व्यावहारिक जीवन में माया की उपाधि से विशिष्ट चैतन्य की उपासना करनेवाले न रहे हों, ऐसी कोई बात नहीं है। भारतीय विचारक किसी भी सिद्धान्त में आपस में न मिलकर जीवन की विधि में सब एक-दम मिलते हैं। नैरात्म्य का प्रतिपादन कर माध्यमिक आचार्य कहते हैं कि यही निर्वाण है। मनोविज्ञान की निवृत्ति हो जाना ही निर्वाण है। और तभी 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' तत्व का ज्ञान होता है तथा प्राणी 'नैरात्म्य' को प्राप्त होता है।

'नाहं निर्वामि भावेन क्रियया लक्षणेन च।
विकल्पहेतुविज्ञाने निर्वृत्ते निर्वतोऽप्यहम् ॥
न सन्नासन्न सदसत् यदालोकं प्रपश्यति।
तदा व्यावर्तते चित्तं नैरात्म्यं चाधिगच्छति ॥

—लंकावतार सूत्र।

किन्तु माध्यमिकों की समन्वय-भावना भी बड़ी प्रबल है और कहीं कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वेदान्तियों से भी अधिक। नैरात्म्यवाद का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन करके भगवान् नागार्जुन ऐसा भी स्वीकार करते हैं कि तथागत ने आत्मवाद, अनात्मवाद और न आत्मवाद, न अनात्मवाद सभी सिखाए हैं। 'आत्मा' ऐसा भी उन्होंने प्रज्ञापित किया है और 'अनात्मा' ऐसा भी उन्होंने आदेश दिया है। बुद्धों ने न 'आत्मा' का उपदेश दिया है और न "अनात्मा' का ही उपदेश दिया है।

'आत्मेत्यपि प्रज्ञापितम् अनात्मेत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्' ॥

'आत्मवादियों की ओर से नैरात्मवादियों पर जो आक्षेप किए जा सकते हैं', उनसे भी माध्यमिक आचार्य अनभिज्ञ नहीं दीखते। लंकावतार सूत्रमें—

'सांख्या वैशेषिका नग्नाः तार्किकाः ईश्वरोदिताः।
सदसत्पक्षपतिताः विवक्तार्थ विवर्जिताः॥
इतस्ततः प्रधावन्ति ह्यात्मवादचिकीर्षया।
प्रत्यात्मगतिगम्यारश्च ह्यात्मा वै शुद्धि लक्षणः॥
गर्भस्तथागतस्यादौ तार्किकाणममगोचर॥
कांतिर्यथा सुवर्णस्य जातरूपारच शर्कराः॥
परिकर्मेण पश्यन्ति सत्वं स्कन्धायैस्तथा।
निधयो मणयश्चापि पृथिव्यामुदकं यथा॥
विद्यमाना न दृश्यन्ते तथा स्कन्धेषु पुद्गलम्।
यथाहि गर्भो गर्भिण्यां विद्यते न च दृश्यते॥
आत्मा हि तद्वत् स्कन्धेषु ह्ययुक्तिज्ञो न पश्यति॥
अनित्यतां च भावेषु शून्यतां च यथा वुधाः।
विद्यमाना न पश्यन्ति तथा स्कन्धेषु पुद्गलम्॥
नैरात्म्यवादिनोऽभाष्या भिक्षुकर्माणि वर्जयेत्।
बाधका बुद्धधर्माणां सदसत्पक्षदृष्टयः॥
तीर्थ्यदोषैर्विनिमुक्तं नैरात्म्यवनदाहकम्।
जाज्वलत्यात्मवादोऽयं युगान्ताग्निरिवोत्थितः॥
पौराणिकमिदं वर्त्म अहं ते च तथागताः।
त्रिभिःसहस्रैःसूत्राणां निर्वाणमिति देशिकाः॥ आदि—

किस प्रकार माहायानिक आचार्यों की ही एक शाखा (अश्वघोष के 'भूत-तथता' सिद्धांत के रूप में) एक स्थिर चैतन्य अधिष्ठान के स्वीकार करने तक की सीमा तक आ जाती है, यह हम पहले देख ही चुके हैं। माध्यमिकों का शून्य भी नितान्त 'अभाव' स्वरूप ही नहीं, इस पर भी हम अभी आगे कहेंगे। अभी तो हम माध्यमिकों की निषेधात्मक दिशा का ही कुछ और अनुसरण करें। समग्र बाह्य और आन्तरिक जगत् का 'नैरात्म्य' प्रख्यापन कर वे कार्य कारण भाव का भी अपलाप करते हैं। निःस्वभाव भावों

कार्य-कारण भाव का अपलाप

की कोई सत्ता नहीं है। 'इसके होने पर यह होता है' यह भी तो यहां उपपन्न होता नहीं। प्रतीत्य समुत्पाद भी तो 'शून्य' में अन्तर्भावित हो जाता है। अन्यत्र

से तो यह कहीं न आता है, न ठहरता है, न जाता है ,इसका माया से विशेष ही क्या है ? मूढ़ों ने ही तो इसे सत्य बनाया है । जो माया से निर्मित है और जो हेतुओं से निर्मित है, वह कहां से कहां को आता है और जाता है, इसका जरा निरूपण करो ? इस प्रतिबिम्ब सम जगत् में सत्यता कहां है ? न तो स्वतः ही और न दूसरों के द्वारा ही, न दोनों के द्वारा ही, और न अकारण ही, भाव कभी कोई उत्पन्न होते हैं, अतः क्या उत्पत्ति की धारणा ही विरोध मूलक नहीं होती ? किसी भी प्रकार भावों की उत्पत्ति ही नहीं दिखाई जा सकती।

'भावानां निःस्वभावानां न सत्ता विद्यते यत :।
सतीदमस्मिन् भवतीत्येतन्नैवोपपद्यते ॥
अन्यतो नापि चायातं न तिष्ठति न गच्छति ।
मायातःको विशेषोऽस्य यन्मढ़ैः सत्यतः कृतम् ॥
मायया निर्मितं यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितम् ।
आयाति तत् कुतःकुत्र याति चेति निरूप्यताम् ॥
यदन्यसन्निधानेन दृष्टं न तदभावत : ।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथम् ॥
न स्वतो नापि परतः न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाःक्वचन केचन ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि माध्यमिक विचारक पुद्गल-नैरात्म्य, धर्मनैरात्म्य, कार्यकारण भाव का अपलाप, आदि का प्रख्यापन करते हुए निषेधात्मक दिशा में बढ़े चले जाते हैं । इतना ही नहीं, भदन्त नागार्जुन ने तो किसी भी ऐसे ज्ञेय या ज्ञाता या ज्ञान संबंधी विषय को नहीं छोड़ा है जिसका 'निःस्वभाव' रूप उन्होंने न दिखा दिया हो। 'दुःख' नाम की वस्तु को उन्होंने मिथ्या बताया, 'निर्वाण' को उन्होंने मिथ्या बताया, बन्धन और मोक्ष की असम्भवता उन्होंने दिखाई, कर्मफल की धारणा तक को विरोध ग्रस्त उन्होंने बताया, यहां तक कि सिद्धांतों के प्रख्यापन के आवेश में नैतिक आदर्शवाद की भी भ्रमपूर्णता उन्होंने दिखाई। उनके इन सब विषयों संबंधी सिद्धांतों का तो हम यहां दिग्दर्शन भी नहीं करा सकते, और ऐसा करने की जरूरत भी नहीं है। यह सब काम हमारे लिए पहले ही से उन जैन और वैदिक परम्परा के आचार्यों ने कर दिया है जिन्होंने नागार्जुन को पहले से ही अभाववादी कह कर इसके लिए कोई अवकाश ही नहीं छोड़ा। शङ्कर जैसे दार्शनिक ने तो माध्यमिक

दर्शन को 'सर्व प्रमाणविप्रतिषिद्ध' कहकर उस पर विचार करने का आदर भी नहीं दिखाया। यह अच्छा ही है कि उन मनीषी आचार्य ने नागार्जुन या किसी माध्यमिक आचार्य का नाम न लेकर केवल 'अभाववाद' के सिद्धांत का ही ठीक रूप से प्रत्याख्यान किया है। हमारा विनम्र अभिप्राय है कि नागार्जुन आदि माध्यमिकों का दर्शन न तो 'अभाव' है और न 'सर्व-प्रमाण विप्रतिषिद्ध' किन्तु वह एक प्रभावशाली विचार -प्रणाली है जो सतत अध्ययन और विचार की अपेक्षा रखती है। हम शङ्कर के द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रत्याख्यानों के जटिल प्रश्न में यहा नहीं पड़ रहे (वैसा तो हम पांचवें प्रकरण में करेंगे)। यहां केवल शून्यवाद के गौरव प्रदर्शन में ही कुछ कहना चाहते हैं, इसलिए स्वभावतः ही उसका तथाकथित 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' स्वरूप दृष्टि पथ में आ गया है। हां, तो जैन और वैदिक पम्परा के अधिकतर प्राचीन आचार्य नागार्जुन और अन्य माध्यमिकों के शून्य से तात्पर्य अत्यान्ताभाव ही लेते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक ढंग से गवेषणा करने वाले बहुत से विद्वान् नागार्जुन के अभाव को अत्यन्ताभाव के अर्थ में न लेकर कुछ श्री हर्ष के 'निर्वचनीय' के अर्थ में लेते हैं और कुछ यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि नागार्जुन जब विश्वतत्व को शून्य कहते हैं तो उसका तात्पर्य केवल यही है कि वह बुद्धि के उपकरणों से नहीं जाना जा सकता और सभी मानवीय ज्ञान एक विरोध का ही आभास देता है। महापंडित राहुल सांकृत्यापन ने शून्यता-दर्शन की सापेक्षतावाद के रूप में सुन्दर और मननशील व्याख्या की है। निष्पक्ष रूप से देखने पर माध्यमिक अत्यन्ताभाव के पोषक नहीं दीखते। अत्यन्त व्यावहारिक रूप से भी देखिए तो शून्यवादी नागार्जुन को उनकी मृत्यु के बाद स्वयं शून्यवादियों ने ही 'शून्य' में मिल जाते हुए या 'शून्य' रूप हो जाते हुए कभी नहीं दिखाया, किन्तु 'सुखावती' लोक में ही उनका अधिवास कराया[1] जो एक भावात्मक वस्तु ही हो सकती है। किन्तु यह तो कुछ नहीं है, हमें दार्शनिक तथ्यों पर आना चाहिए। तो सबसे पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार शंकर को यह आशंका

(१) मिलाइए, 'दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः। नागाह्वयस्य नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः ॥ प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तमम्। आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्। लंकावतार गाथिका, श्री लक्ष्मीपुरं निवासाचार्य विरचित 'दर्शनोदय', पृष्ठ ७५ में उद्धृत।

हुई है कि उनका मायावाद और 'निर्विशेष' ब्रह्मवाद किन्हीं-किन्हीं बातों में सौगत मत में ही पर्यवसित हुआ दीखता है (फिर चाहे इस प्रकार दिखाई देने का आरोप उन्होंने भले ही मूढ़ बुद्धियों पर ही किया हो!) और उसके लिए उन्होंने आवश्यक बांध भी बांधे हैं, उसी प्रकार नागार्जुन आदि को भी इस बात की आशंका अवश्य हुई थी कि यह तो हमारा सब दर्शन अभावात्मक ही हो गया, हमने अपनी तीव्र युक्तियों से सबको गिराया ही तो, स्थापन तो किसी का भी नहीं किया, फिर हमारे दर्शन की सत्य के जिज्ञासुओं के लिए महत्ता ही क्या रही ? निश्चय ही इस प्रकार की अनुभूति नागार्जुन आदि को हुई थी और उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य की बात यह की है कि इसके प्रतिकार के लिए जो आवश्यक बांध बांधे हैं उन्हीं का आश्रय लेकर तो बाद में भगवान् शंकर ने अपने 'निर्विशेष' ब्रह्म और मायावाद की रक्षा की है। हमारा तात्पर्य यहां माध्यमिकों के 'संवृति सत्य' और 'परमार्थ सत्य' से है।

संवृति सत्य और परमार्थ सत्य

माध्यमिकों ने यह अच्छी तरह अनुभव किया है कि सर्वधर्मशून्यता के स्वीकार कर लेने पर लोक-व्यवहार ही संभव नहीं रहता। जब सब कुछ शून्य-ही-शून्य है, तब कौन किसके लिए क्या करे? सब धर्म (परार्थ) ही जब निःस्वभाव हो गए, प्रत्यवेक्षमाण जगत् ही जब स्वप्नमायादिवत् हो गया, बहुना किं, जब सम्यक् सम्बुद्धत्व ही मायोपम हो गया, निर्वाण भी मायोपम हो गया, तब इस लोक-व्यवहार को चलाने में प्रयोजन ही क्या रहा? जब किसी के विषय में कुछ कहा ही नहीं जा सकता और जब 'शून्यता' शब्द का प्रयोग भी लोक-व्यवहार-सिद्ध है तो सबसे पहले अपने को निगृहीत होने से बचाने के लिए हमें अन्त में अपनी इस 'शून्यता' को ही छोड़ देना पड़ेगा (जैसा कि माध्यमिकों ने किया भी है) और दूसरे यदि हमारे दर्शन का मनुष्य जीवन के लिए कोई उपयोग हो सकता है तो हमें 'शून्यता' की व्यावहारिकता और उपयोगिता भी बतानी ही चाहिए। माध्यमिकों ने यह काम भी किया है। उन्होंने कहा है कि जो शून्यता में प्रतिष्ठित है, उसी ने प्रज्ञापारमिता प्राप्त की है—योऽनुपलम्भःसर्वधर्माणं सा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते।
(अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता)

जब यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावों की उत्पत्ति न स्वतः होती है, न परतः होती है, न उभयतः होती है, और न अहेतुतः होती है, तभी प्रज्ञा-

पारिमता की प्राप्ति होती है।[1] उस समय व्यवहार कहां रहता है। 'न तत्र रथा न रथयोगा न रथपन्थानो भवन्ति'। उस समय तो समस्त माया, स्वप्न, अलीक तथा मिथ्या के सदृश ही भासता है। जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वह 'सांवृत' ही होता है। व्यवहार दशा में ही प्रतीत्य समुत्पन्न पदार्थ ठहरते हैं, परमार्थ दशा में तो प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मशून्य है। परमार्थ में तो भावों का स्वकृतत्व, परकृतत्व या उभयकृतत्व कुछ बनता ही नहीं। इस ज्ञान के उदय होने पर ही विमुक्ति होती है। इस परमार्थ अवस्था का व्यवहार की अवस्था के साथ संबंध मिलाने के लिए माध्यमिकों ने योजना की है संवृति सत्य और परमार्थ सत्य इन दो सत्यों की। यदि इन दो सत्यों को वे न मानते तो पूर्ण 'समुच्छित्तिधर्मा' तो उनका दर्शन होता ही उसमें विरुद्धत्व का भी एक बड़ा दोष आ जाता और वे किसी प्रकार उसकी उपयोगिता सिद्ध नहीं कर सकते। यदि वास्तव में उत्पत्ति और निरोध किसी का है नहीं, तो फिर 'वयधम्मा संखारा' यह भगवान् की वाणी तो बिलकुल वितथ ही नहीं हुई? यदि सभी कुछ शून्य है, तो सुगति और दुर्गति भी तो कहाँ रहीं? साधना का भी क्या प्रयोजन रहा? किन्तु माध्यमिक विचारक सफलतापूर्वक उत्तर देते हैं कि परमार्थ दृष्टि से हम विचार करें तो दुर्गति स्वभाव-शून्य दिखाई देती है, किन्तु व्यवहार-दशा में तो वह सत्य है। जिनको यथाभूत दर्शन अभी नहीं हुआ है उनको तो तत्वाभ्यास करते हुए व्यवहार-दशा में बरतना ही चाहिए जब तक कि प्रत्ययों का समुच्छेद न हो जाय। संवृति का अर्थ है 'आवरण' अर्थात् 'अविद्या का आवरण' अथवा 'अज्ञान का आवरण'। (संव्रियते आव्रियते यथाभूतपरिज्ञानं स्वभाववरणादावृत्तप्रकाशनाच्चानयेति संवृतिः)। 'बोधिचर्यावतार' में भी,

'अभूतं ज्ञापयत्यर्थं भूतमावृत्य वर्तते।
अविद्या जायमानेव कामलातंकवृत्तिवत्॥

..............तदुपदर्शितं च प्रतीत्य समुत्पन्नं वस्तुरूपं च संवृतिरुच्यते'।

अविद्या से ही स्वभाव का आवरण होता है और सांवृतिक सत्य का उद्भावन होता है। अविद्या से ही असत् का सत् में आरोप होता है और वह असत् सत् के समान दिखाई देने लगता है। जो दृश्यमान् है वह 'सत्' नहीं है। क्योंकि उत्तर-

(१) मिलाइए पांचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' के प्रसंग में गौडपाड के दशन का विवेचन।

काल में उसकी स्थिति नहीं है। किन्तु फिर भी हम विकल्पित पदार्थों को सत्य ग्रहण करते हैं। यही संवृति है। 'विनोपघातेन यदिन्द्रियाणां षण्णामपि ग्राह्यमवैति लोकः। सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं विकल्पितं लोकत एव मिथ्या।' इसी प्रकार संवृति के आवरणात्मक रूप पर प्रकाश डालते हुए 'लंकावतार सूत्र' में भी कहा गया है—

'मोहस्वभावावरणाद्धि संवृतिः सत्यं तथा ख्याति पदेन कृत्रिमम्। जगाद तत्संवृति सत्यमित्यसौ मुनिः पदार्थं कृतकं च संवृतिम्'।

व्यवहार दशा में तो यह 'संवृति' सत्य रहेगी ही (अन्यथा इसको संवृति सत्य ही क्यों कहा जाता?) किन्तु परमार्थ सत्य की प्राप्ति होने पर तो संवृति सत्य मृषा सिद्ध ही हो जायगा। (तो फिर दो सत्यों की कल्पना ही क्यों करते हो? इस प्रकार के तर्क के लिए देखिए कुमारिल के विचार पांचवें प्रकरण, पूर्वमीमांसा दर्शन के विवेचन में) जब तक परमार्थ सत्य का अधिगम नहीं हुआ है, तब तक व्यावहारिक जगत् की अप्रामाणिकता प्रख्यापित की नहीं जा सकती। जब तक लोक है, तब तक संवृति सत्य लोक का अवितथ रूप है।[1] अतः सभी पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का है, सांवृतिक और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है, वह संवृति सत्य कहलाता है। सम्यक् दर्शी का जो विषय है, वह तत्व या परमार्थ सत्य कहलाता है—

'सम्यक्मृषादर्शन लब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः।
सम्यक्दृशां यो विषयः स तत्वं मृषादृशां संवृति सत्यमुक्तम्'।:
बोधिचर्यावतार

इस प्रकार हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार सत्य का संवृति सत्य और परमार्थ सत्य, यह द्विविध विभाग कर माध्यमिक विचारक अपने दर्शन को सर्वथा 'अभाव' से बचा कर ले गए हैं और साथ ही मनुष्य-जीवन के लिए उसकी उपयोगिता को भी सिद्ध करने में समर्थ

---

(१) और उसे मानना चाहिए, क्योंकि 'उपायभूतं व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थ सत्यम्'। माध्यमिकावतार ६।८०। व्यवहार सत्य उपाय है। (हेतुरूप) और परमार्थ सत्य उपेय (फलस्वरूप) है। मिलाइए 'व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते। परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते।। मूलमाध्यमिक कारिका २४।१०; मिलाइए पांचवें प्रकरण में शांकर दर्शन का विवेचन।

हुए हैं। इस तथ्य का हमारे दार्शनिक मंडल में कभी पूरी तरह से प्रख्यापन नहीं किया गया और सदा माध्यमिकों को पूर्ण रूप से अभाववादी ही कहा गया, जो ठीक नहीं है। फिर माध्यमिकों ने अपने सत्य-द्वय के सिद्धांत से एक और बड़ा काम निकाला है। उन्होंने इस के प्रकाश में ही अपने सिद्धांत की सर्वोच्चता बुद्ध के उपदेशों के आधार पर दिखाने का प्रयत्न किया है। जहां दो वचनों की संगति उन्हें मिलती नहीं दिखाई दी है, वहां अपने मत को परमार्थ सत्य विषयक (ज्ञान के विकास की दृष्टि से भी शून्यवाद ही बौद्ध आचार्यों के प्रज्ञानों की परम्परा में अन्त में आता है) दिखाकर उसकी सर्वोच्यता दिखाई है और दूसरे मत वालों के सिद्धांतों को को प्रख्यापन करने वाले बुद्ध-वचनों के विषय में उन्हें व्यवहार सत्य को दृष्टि में रखकर दिए गये उपदेशों के रूप में दिखाया है और इस प्रकार उनके प्रामाण्य की भी रक्षा कर दी है। (ठीक यही काम बाद में आचार्य शङ्कर ने व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य के सवाल को उठाकर श्रुतियों की अपने मतानुसार व्याख्या की है। स्वाभिमत सिद्धांतों को दिखानेवाली श्रुतियाँ परमार्थ ज्ञान विषयक हैं (जो ज्ञान के विकास की दृष्टि से वहां भी ठीक है—यदि साम्प्रदायिकता का सवाल न उठाया जाय) और अन्य मतों का प्रख्यापन करनेवाली श्रुतियां (जो निर्विशेषाद्वैत का निरूपण नहीं करतीं) व्यवहार ज्ञान विषयक हैं, आदि द्रष्टव्य पांचवें प्रकरण में)। माहायानिक आचार्यों का मत है कि बुद्ध के उपदेश 'संवृति सत्य' और 'परमार्थ सत्य' इन दो सत्यों के आधार पर ही प्रवर्तित हुए हैं।

'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः।
संवृतिपरमार्थश्च तृतीयं नास्ति हेतुकम्।
कल्पितं संवृति इंचुक्ता तच्चेदादर्शगोचरम्'॥

बोधिचर्यावतार।

प्रमाण-मीमांसा

नैयायिक क्षेत्र में नागार्जुन की क्या स्थिति है और उन्होंने प्रमाणपरीक्षण में न्याय-विद्या को क्या दान दिया है और बौद्धों और नैयायिकों में होनेवाले संघर्ष में कहाँ तक और क्या भाग उन्होंने लिया है, यह हम पाँचवें प्रकरण में 'बौद्ध दर्शन और न्याय-वैशेषिक' के संबंध-निरूपण के प्रसंग में देखने का प्रयत्न करेंगे। यहां सामान्य रूप से माध्यमिकों की प्रमाणमीमांसा पर कुछ कहना अपेक्षित है,

जिसके सर्वोत्तम परिचायक नागार्जुन और उनके अनुगामी आचार्य ही हैं। जिस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद, कार्यकारण भाव, पुद्गलात्मा, बाह्य धर्म आदि का निःस्वभावत्व आचार्य नागार्जुन ने दिखाया है उसी प्रकार उन्होंने ज्ञान के उपकरणों का भी स्वाभाविक विरुद्धत्व बड़ी अच्छी तरह दिखाया है। नैयायिकों के स्थूल दृष्टिकोण को तो उन्होंने पहले ही यह कह कर पराभूत कर दिया है :

'इन्द्रियैरुपलब्ध यत्तत्तत्वेन भवेद्यदि ।
जातास्तववविदो बाला स्तत्वज्ञानेन किं तदा ।।

'मूलमाध्यमिक कारिका'

यद्यपि नागार्जुन तत्वज्ञान की सम्भावना तो मानते हैं, किन्तु प्रमाण प्रमेयादि व्यवहारों का विश्लेषण कर उन्होंने केवल यही देखा है, जैसा आज भी ज्ञान के अंतिम गवेषण के परिणाम स्वरूप विचारक देखते हैं, कि सभी ज्ञान विरोधात्मक हैं, सभी ज्ञान अन्ततोगत्वा स्वतः रूप में एक विरुद्धत्व पर प्रतिष्ठित है। वह एक वृत्ताकार रूप में घूमता है, जहां उसका कोई आदि नहीं, अन्त नहीं, किन्तु सर्वत्र अनवस्था ही अनवस्था है। मानवीय मस्तिष्क, जो स्वयं एक उसी कार्य कारण भाव से सीमित और परिच्छिन्न है जिससे बाह्य दृश्य वस्तु, ज्ञेय वस्तु के साथ संबंध में आता हुआ अपनी स्वात्मीयता कायम कैसे रख सकता है, क्योंकि वह भी तो दृश्य से उपरक्त होता ही है। फिर वह उसके याथात्म्य का निर्णय कैसे कर सकता है? यदि मस्तिष्क, मन, बुद्धि अथवा अन्तःकरण अपनी स्वात्मीयता भूलते हैं तो ज्ञान को अनुभव करने वाला कोई नहीं रहता है और यदि नहीं भूलते हैं तो वे केवल वस्तुओं के अपने पर पड़े चित्रों को दर्शित करते हैं वस्तुओं के स्वभाव को नहीं। सभी ज्ञान मात्र ज्ञेय और ज्ञाता के बीच का संबंध है। नागार्जुन कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों के ही कल्पित होने से वास्तविक ज्ञान कहां से आवेगा? देखिए उनके अनन्य साधारण शब्दों और तदनुवर्तिनी तर्क में :

'कल्पना कल्पितं चेति द्वयमन्योन्यमिश्रितम् ।
यथाप्रसिद्धमाश्रित्य विचारः सर्व उच्यते ।।
विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते ।
तदाऽनवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात् ।।
यदि ज्ञानवशादर्थः ज्ञानास्तित्वे तु का गतिः
अथ ज्ञेयवशात् ज्ञानं ज्ञेयास्तित्वे तु का गतिः ।।

अथान्योन्यवशात् सत्वमभावः स्यात् द्वयोरपि।
पिता चेन्न विना पुत्रात् कुतः पुत्रस्य सम्भवः।।
अङ्कुरो जायते बीजात् बीजं तेनैव सूच्यते।
ज्ञेयात् ज्ञानेन ज्ञातेन तत्सत्ता किं न गम्यते ।।
अङ्कुरादन्यतो ज्ञानात् बीजमस्तीति गम्यते।
ज्ञानास्तित्वं कुतो ज्ञातं ज्ञेयं यत्तेन गम्यते[1]' ।।

'मूलमाध्यमिक कारिका'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के विचारों को ही नागार्जुन ने अपूर्ण सिद्ध कर दिया है। इसी प्रकार उन्होंने गमन, गन्ता और गत की धारणाएं भी सर्वथा निराकृत करदी हैं[2] जिन पर हम यहाँ नहीं जा सकते। प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को तो शङ्कर ने भी 'अविद्यावद्विषय' कहा है और निश्चय ही 'तत्केन कं पश्येत्', 'विज्ञातारमरे केन विजानीयाः' आदि अवस्थाओं में भी जहाँ कार्यकारण भाव का अपलाप होता है, कर्ता, क्रिया और कारक कहीं पता भी नहीं चलता, प्रमाण-प्रमेय व्यवहार कहीं नहीं रह जाता, क्योंकि सभी ज्ञान के लिए ज्ञाता और ज्ञेय तो चाहिए ही, किन्तु वहां परमावस्था में तो दो (ज्ञाता और ज्ञेय) न रहकर केवल एक ही शेष रह जाता है जिसकी अपेक्षा में ही प्रमाण प्रमेय व्यवहार 'अविद्यावद्विषय' रह जाता है। ऐसी कोई बात हम नागार्जुन या अन्य माध्यमिक आचार्यों में नहीं देखते। वे केवल तर्क से ही कार्य कारण भाव का अपलाप करते हैं जो अन्त में (केवल निःस्वभाव होते हुए) भी अभाव सा दीखता है, जबकि वेदान्ती आचार्यों की दृष्टि में सबकी प्रतिष्ठा रूप सत्य 'ब्रह्म' अवस्थित रहता है और उसकी अपेक्षा में ही वे बाह्य जगत् या प्रमाण प्रमेय व्यवहार को 'अविद्याव-

---

(१) कुछ कुछ इसी अर्थ का अनूदन न्याय सूत्र 'स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः । मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा' ४।२।३२ में (निराकरण के लिए) किया गया है।

(२) कितनी पेचीदगी के साथ, 'गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते । गतागत विनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ।। गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति । अन्यो गन्तुरगन्तुश्च कस्तृतीयो हि गच्छति...... गते नारभ्यते गन्तुं गन्तुं नारभ्यते ऽगते । नारभ्यते गम्यमाने गन्तुमारभ्यते कुतः'। मूलमाध्यमिक कारिका ।

द्विषयक' कहते हैं। यही दोनों का विभेद है। अब हम माध्यमिकों के आचारतत्त्व पर आते हैं, जो उन्होंने अपने शून्यवाद से बड़े प्रयास के साथ और सम्यक् अभिज्ञा के साथ निकाला है।

शून्यवाद के आचार्य जबकि बुद्ध के मन्तव्य की निषेधात्मक व्याख्या करते-करते बहुत दूर चले गए हैं, उससे उन्होंने नैतिक निष्कर्ष वही निकाले हैं जो बुद्ध को सम्मत हैं। किन्तु यह तो प्रयत्न से ही साध्य है और ऐसा ही हुआ भी है। तर्क के क्षेत्र में माध्यमिकों को क्या असाध्य है? जो रास्ता चल चुके हैं उस पर तो चलने न दें और जिस पर अभी नहीं चले हैं उसे 'अगत' कह दें तो फिर गन्ता विचारा कहां जाय? यह सब सामर्थ्य माध्यमिकों को है! कुछ भी हो, शून्यवाद से जो उन्होंने आदर्शवाद निकालने की नैतिक चेष्टा की है उससे एक लाभ उनके दर्शन को अवश्य हुआ है।

आचार तत्व

उन्हें अपने कदम कुछ पीछे हटाने पड़े हैं, और यह अच्छा हुआ है कि आत्यन्तिक अभाव के अन्धकार मय कुएं में झांककर फिर वहां से वे लौटआए हैं। जो उनको 'अभाव' वादी करते हैं वे भी एक प्रकार से गलत नहीं कहते क्योंकि वे नागार्जुन को निश्चयतः अन्धे कुएँ में झाँकते देखते हैं। किन्तु उनका लौटना भी तो देखना चाहिए। उनके लौटने का श्रेय बुद्ध के नैतिक आदर्शवाद को है, जिसके प्रति अपने सब विध्वंसक तर्कों को करके भी आचार्य नागार्जुन अपनी भक्ति नहीं छोड़ते, अन्यथा बौद्ध आचार्य ही आज हम उन्हें क्यों कहते? नागार्जुन के जब हम शून्यता के नैतिक प्रयोजनों को देखते हैं तभी संम्भवतः हम चन्द्रकीर्ति के साथ सुर-में-सुर मिलाकर कह सकते हैं 'अभावं न विकल्पयेत्'—'अभावं न विकल्पयेत्'। शून्यता के दर्शन का उपदेश, निश्चय ही नागार्जुन ने इसलिए किया कि उसके द्वारा राग-द्वेषादि की निवृत्ति होकर जन्म, मरण रूप प्रपंच का उपशम होता है। चन्द्रकीर्ति के मार्मिक शब्दों में,

'अभावं न विकल्पयेत्'

'प्रपंचोपशमायैव शून्यता सोपदिश्यते।
तस्मात् प्रपंचोपशमः शून्यतायां प्रयोजनम्'॥

जो इस तरह शून्यता को नहीं जानते और उसे अभाव या नास्तिकता-रूप में परिकल्पित करते हैं वे माध्यमिकों के साथ न्याय तो करते ही नहीं, उनके प्रयोजन को भी नहीं जानते—

"शून्यत्वं नास्तितारूपं भवांस्तु परिकल्पयन्।
प्रपंचं वर्धयन्नेव न च वेत्ति प्रयोजनम्॥'

सब संकल्पों के विनाश के लिए ही यह अमृत रूप शून्यता का उपदेश दिया गया है और फिर शून्यता में भी अभिनिवेश उसके प्रतिपादनकर्ताओं को अभीष्ट नहीं है

सर्वसंकल्पहानाय शून्यताऽमृतदेशना।
यश्च तस्यामपि ग्राहः त्वया ऽसाववसादितः।

सभी 'नास्ति' अस्तित्व पूर्वक ही हुआ करती हैं और सभी 'अस्ति' नास्तिपूर्वक, अतः 'नास्ति' को मत गमन करो और न करो कल्पना अस्तित्व की ही!

अस्तित्वपूर्वकं नास्ति अस्ति नास्तित्वपूर्वकम्।
अतो नास्ति न गन्तव्यं अस्तित्वं न च कल्पयेत्॥

यह विशुद्ध 'अनिर्वचनीयवाद' के के सिवा और क्या है? अनुत्पाद, तथता, भूतकोटि और शून्यता ये सब रूप के ही नाम हैं, अतः अभाव की कल्पना नहीं करनी चाहिए—

अनुत्पादश्च तथता भूतकोटिश्च शून्यता।
रूपस्य नामान्येतानि अभावं न विकल्पयेत्॥

माध्यमिक न तो 'शून्य' कहकर ही परम तत्व को पुकारे जाने के आग्रही हैं और न अशून्य कहकर। न वे इन दोनों अथवा इनसे भिन्न नामों से ही परम तत्व को पुकारने के पक्षपाती हैं। वे तो परम तत्व को अनिर्वचनीय मात्र मानने के पक्षपाती हैं:—

शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

जब माध्यमिकों ने यह अनुभव किया कि निश्चय ही उनके द्वारा प्रतिपादित कुछ सिद्धान्त अभाव की ओर चले गए हैं और जब उन्होंने लौटना शुरू कर दिया तभी सम्भवतः उन्होंने 'शून्यता' की कोटियाँ कायम कीं, जो लंकावतार सूत्र के अनुसार सात हैं, यथा भाव-स्वभाव-शून्यता, अप्रचरित शून्यता, प्रचरितशून्यता,-सर्वधर्मनिःस्वभाव शून्यता, परमार्थ-ज्ञान शून्यता, महाशून्यता और इतरेतर शून्यता। इन सब शून्यताओं के द्वारा माध्यमिकों को यही प्रयोजन दिखाना अभीष्ट है कि शून्यत्व न तो भावरूप है, न अभाव रूप, न उभय रूप, न अनुभयरूप, न धर्म, न धर्मी, किन्तु सर्वथा अनिर्वचनीय!

शून्यता ने जब मनुष्य को बोधि मार्ग पर लगा दिया तो (सांख्य की प्रकृति की तरह) उसे भी रंगमंच से चले जाना चाहिए, क्योंकि उसका प्रयोजन समाप्त हुआ—

'मुक्तिस्तु शून्यता दृष्टेस्तदर्थाशेष भावना।
इति तस्मात् शून्यतैव बोधिमार्ग इति स्थितम्[1] ।।
शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निस्सरणं जिनैः।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् वभाषिरे।।
शून्यतावासनाधानात् हीयते भाववासना।
किंचिन्नास्तीति चाभ्यासात् सापि पश्चात् प्रहीयते।।

निश्चय ही यह माध्यमिकों का एक अत्यन्त आश्चर्यकारी व्यापार है और इस विषय में स्वभावतः ही वे भगवान् बुद्ध की परम्परा में ही गए हैं. जिन्होंने भव के तरने के बाद धर्म में भी अभिनिवेश हटाने का उपदेश दिया है। वास्तविक प्रयोजन के लिए माध्यमिकों ने स्वयं अपने आप खड़े किए हुए प्रासाद को अन्त में जाकर ढाह दिया है, तो स्वयं उनसे भी बढ़कर उनके दर्शन का प्रत्याख्यान और कौन कर सकता है? निश्चय ही 'साऽपि पश्चात् प्रहीयते' उनके ये शब्द स्पष्टतः दिखाते हैं कि शून्यता को वे अन्तिम वस्तु नहीं समझते। अन्तिम वस्तु तो उनके लिए प्रज्ञा पारमिता है और जब उसमें शून्यता की अनुभूति ने हमारा अनुप्रवेश करा दिया तो बाद में वह भी स्वयं प्रहीण हो जाती है 'साऽपि पश्चात् प्रहीयते'। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य 'शून्यता' से अपने नैतिक तत्व को निकालते हैं। किन्तु यह तो उनके मन्तव्यों का केवल उपलक्षण मात्र है। न केवल नागार्जुन ने ही किन्तु अन्य आचार्यों ने भी, जिनकी पूर्ण भक्ति शून्यवाद के प्रति नहीं भी समर्पित हुई है, शून्याद और उसी के अंगभूत 'पुद्गलनैरात्म्य'[2] के सिद्धान्त के नैतिक महत्व को प्रख्यापन करने में बड़ी तन्मयता दिखाई है। उनकी अप्रतिहत वाणी है कि जब हम सभी धर्मों को शून्य समझते हैं तभी तो उनके आने और जाने पर हम

---

(१) मिलाइये, 'प्रपञ्च विनिवृत्येकस्वभावा या च शून्यता। यस्यां तु शून्यता दृष्टिरसलायां न शोभते'। माध्यमिक वृत्ति।

(२) मिलाइये, पञ्चधर्माः त्रिस्वभावाः विज्ञानान्यष्ट चैव हि। द्वे नैरात्म्ये भवेत् कृत्स्नः महायान परिग्रहः। लंकावतार-सूत्र।

सदा अनासक्त रह सकते हैं क्योंकि हम समझते हैं कि उनमें हमारा लाभ हानि कुछ नहीं है और फिर हम सत्कार और परिभव में भी तो समचित्त रह सकेंगे, क्योंकि सब शून्य होने पर कौन सत्कृत या असत्कृत होगा[१]? 'कदली स्वप्न मायाभ' लोक को देखकर ही माध्यमिक राग और द्वेष की निवृत्ति का उपदेश करते हैं और इसीलिए स्कन्धों का भी उनके द्वारा 'स्वप्नसन्निभ' कहा जाना है[२]। जो शून्यता-वादी है, वह सांसारिक वस्तुओं में आसक्त नहीं होता। लाभ से उसे प्रसन्नता नहीं होती, अलाभ से वह विमन नहीं होता। 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त' (गीता के शब्द) वह होता है। यश पाकर वह विस्मय से आकृष्ट नहीं हो जाता, अयश से संकुचित नहीं होता। निन्दा से वह दुःखित नहीं होता, प्रशंसा में वह सुख नहीं मानता (तुल्यनिन्दा स्तुतिः—तथा मानापमानयोः-गीता)। सुख में राग नहीं करता, दुःख में द्वेष नहीं दिखाता (दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। शीतोष्ण सुख-दुःखेषु समः—नाभिनन्दति न द्वेष्टि—न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्—सुख दुःखे समे कृत्वा, आदि—गीता)। जो इस प्रकार वस्तुओं में आसक्त नहीं होता, वही जानता है कि शून्य क्या है। अतः शून्यवादी के राग-द्वेष नहीं रहते। जो राग-द्वेष रखता है अथवा विवाद करने के योग्य है, वह शून्य को नहीं जानता[३]। पुद्गल नैरात्म्य का जब अनुभव होता है तो आत्मा

---

(१) शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृतं भवेत्। सत्कृतः परिभूतो वा केन किं सम्भविष्यति॥ माध्यमिक वृत्ति। इस प्रकार तो शून्यवाद गीता के 'समवृत्तित्व' का ही पालन करने का योग होगा!

(२) कदली स्वप्न मायाभं लोकं पश्येद्विकल्पितम्। रागो न विद्यते तेषां मोहश्चापि न पुद्गलः। तृष्णायाः ह्युदिताः स्कन्धाः विद्यन्ते स्वप्नसन्निभाः। प्रत्यात्म धर्म स्थितितां सन्धाय कथितं मया। तैश्चैव बुद्धैर्मया चैव न यत् किञ्चित् विशेषितम्। बोधिचर्यावतार। यदि शून्यवाद 'परिपन्थी' 'राग द्वेष' के प्रहाण के लिए ही है, तो उससे इतना द्वेष क्यों?

(३) देखिए, 'न शून्यतावादी लोकधर्मैः संह्रियते न स लाभेन संहृष्यति अलाभेन वा विमना भवति। यशसा न विस्मयतेऽयशसा न संकुचति। निन्दया नावलीयते प्रशंसया नानुनीयते। सुखेन न रज्यते दुःखेन न विरज्यते। यो ह्येवं लोकधर्मैं नं संह्रियते स शून्यतां जानाति। तथा शून्यवादिनो न क्वचित् अनुरागो न विरागः। यस्मिन् रज्यते तत् शून्य-

और आत्मीय नहीं रहते और प्राणी स्वभावतः ही निर्मम और निरहंकार होता है। (निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति—गीता) निर्मम और निरहंकार होने से उसके उपादान, काम दृष्टि, शीलव्रतपरामर्श (बाह्य यागादि की संस्कृति में विश्वास) आत्मवाद आदि सभी क्षय हो जाते हैं और वह कर्म और क्लेश रूप कषाय से मोक्ष पाता है[1]। अतः 'सत्कायदृष्टि, जब तक बनी है तब तक तो अशेष क्लेश और दोष रहेंगे ही, फिर इनसे विमुक्ति पाने के लिए तो योगी को आत्मा का निषेधक या नैरात्म्यवादी होना ही ठहरा[2]। यदि अहंकार है तो पुनर्जन्म भी होगा और यदि वास्तव में 'आत्मवाद' है ही तो अहंकार मिटेगा भी कैसे ? अतः नैरात्म्यवाद या शून्यवाद के उपदेष्टा को छोड़कर और कौन मोक्ष के मार्ग को बतानेवाला है[3] ? अहंकार के विनाश की बात तो अन्य सिद्धान्त वाले भी कहते हैं, किन्तु 'आत्मा' की शाश्वत स्थिति

मेव जानाति, शून्यमेव पश्यति । नासौ शून्यं जानाति यः क्वचित् धर्मे रज्यते वा विरज्यते वा । तथा नासौ शून्यतां जानाति यः केनचित् सार्धं विग्रहं विवादं वा कुर्यात् शून्यमेव जानीते शून्यमेव पश्यत्यादि । 'आर्य धर्म संगीति सूत्रं', शिक्षा समुच्चय में उद्धृत; पं० विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन आफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ७९, पदसंकेत ३२ में उद्धृत ।

(१) आत्मन्यस्ति चात्मीयं कुत एव भविष्यति । निर्ममो निरहंकारःशमादात्माऽऽत्मनीनयोः ।। ममेत्यहमिति क्षीणे बहिर्धाऽध्यात्ममेव च । निरुध्यत उपादानं तत्क्षयाज्जन्मनः क्षयः ।। कर्म क्लेश कषायान्मोक्षः ।। मूल माध्यमिक कारिका; पं० विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ८० में उद्धृत ।

(२) मिलाइए, सत्कायदृष्टिप्रभवान् अशेषान् क्लेशांश्च दोषांश्च धिया विपश्यन् । आत्मानमस्या विषयं च बुद्ध्वा योगी करोति आत्मनिषेधमेव । माध्यमिक वृत्ति; भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ७२ में उद्धृत ।

(३) साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो नाहंकारश्चलति हृदयादात्मदृष्टौ च सत्याम् । नान्य शास्ता जगति भवतो नास्ति नैरात्म्यवादी नान्य स्तस्मादुपशम विधेस्त्वन्मतादस्ति मार्गः । तत्वसंग्रहपञ्जिका में मातृचेटि के वाक्य के रूप में उद्धृत । देखिए विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन ऑफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ७२

मानते हुए वे अहंकार कैसे छोड़ सकते हैं ? अतः मोक्ष के लिए आत्म-निषेध तो करना ही चाहिए। बिना आत्म निषेध किए दूसरों का भी तो विभिन्न रूप में ज्ञान होगा और इस प्रकार राग-द्वेष उत्पन्न होंगे ही। बिना अहंकार के छूटे कामना कैसे छूट सकती है और कामना के छोड़ने के लिए आत्मा का छोड़ना ही जरूरी है[1]। सारांश यह है कि माध्यमिकों ने यह बड़े परिश्रम से दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'शून्यवाद' के सिद्धान्त का प्रयोजन केवल 'मैं' और 'मेरा' से मनुष्य को मुक्ति दिलाकर उसे राग और द्वेष से हटाना[2] तथा बोधि के मार्ग पर लगा देना है जिसके लिए आत्म-निषेध के अलावा और कोई मार्ग नहीं है। निश्चय ही इस प्रकार के उनके प्रयोजन से प्रत्येक भारतीय दर्शन का विद्यार्थी और वैसे कोई विचारक भी सहानुभूति ही रख सकता है क्योंकि फिर तो शून्यवाद भी बौद्ध धर्म और दर्शन के आदि शास्ता के मन्तव्य के अनुसार ही सत्वों की शान्ति, विराग, उपशम, निरोध और विमोक्ष के लिए ही है, अतः उसका स्वागत ही किया जा सकता है। माध्यमिकों के शून्य को जो 'अभाव' का पर्यायवाची समझता है वह चाहे उसे ठीक समझता हो या गलत, किन्तु यह निश्चत है कि वह माध्यमिक आचार्यों के वास्तविक प्रयोजन को कहीं जानता। निश्चय ही 'प्रपंचं वर्धयन्नेव न स वेत्ति प्रयोजनम्'। कम-से-कम हमारा विनम्र विचार यही है और इसीलिए

(१) मिलाइये, 'यः पश्यति आत्मानं तस्याहमिति शाश्वतस्नेहः। स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषान् तिरस्कुरुते ।। गुण दर्शी परितृसन् ममेति तत्साधन-मुपादत्ते । तेनात्माधिनिवेशो यावत् तावत् तु संसारः ।। आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ । अनयोः सम्प्रति-बद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते । बोधिचर्यावतार पञ्जिका में 'आचार्यपाद' (नागार्जुन) के वचन के रूप में उद्धृत; देखिए पं० विधुशेखर भट्टाचार्य : दि सैन्ट्रल कन्सैप्शन आॅफ बुद्धिज्म, पृष्ठ ७१, पद-संकेत २१; लक्ष्मीपुर श्री निवासाचार्य : दर्शनोदय, पृष्ठ

(२) देखिए एक और उदाहरण भी, 'आध्यात्मिकबाह्य शेषावस्त्वनुपलम्भेन अध्यात्मं बहिश्च यः सर्वथाऽहंकार ममकार परिक्षय इदमत्र तत्वम्। कायदृष्टिमूलकमेव संसारम् अनुपश्यन् तस्याश्च सत्कायदृष्टेरालम्बनमा-त्मानमेव समनुपश्यन्नात्मानुपलम्भाच्च सत्कायदृष्टिप्रहरणं तत्प्रहा-णाच्च सर्वक्लेशव्यावृत्तिं समनुपश्यन् प्रथमतरम् आत्मानमेवोपपरीक्षते' माध्यमिक वृत्ति ।

हमने ऊपर इतने उद्धरण भी श्री पं० विधुशेखरजी भट्टाचार्य के पदचिन्हों का अनुसरण कर दिए हैं, ताकि माध्यमिक आचार्यों का वास्तविक मन्तव्य सुप्रकाशित हो। अतः हमारा निश्चित विचार है (माध्यमिकों के प्रयोजन को देखकर) कि शून्यवाद उच्छेद वादी दर्शन कभी नहीं है और उसके विषय में कभी भी 'अभाव' की कल्पना नहीं करनी चाहिए। 'अभावं न विकल्पयेत्'। नागार्जुन की 'मूल माध्यमिक कारिका' के सोलहवें प्रकरण (बन्धनमोक्षपरीक्षा नामक, जिसमें अन्य विषयों के साथ नीति-तत्व की भी 'मायोपमता' आचार्य नागार्जुन ने दिखाई है) को पढ़कर उनके 'सुहृल्लेख' (जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं) को जब कोई पढ़े तो उसकी समझ में नहीं आ सकता कि एक 'सर्ववैनाशिक' की यह नीति-स्थापना कैसी? यदि उन्हें 'सर्ववैनाशिक' मानते हैं तो उनकी नीतितत्व की बात ठहरती नहीं और यदि नीति-तत्व उनका ठीक है तो उनको 'सर्ववैनाशिक' समझकर हम ही भ्रमित हो रहे हैं। ये सब बातें विनम्र, निष्पक्ष और श्रद्धामय अध्ययन की अपेक्षा रखती हैं जो सम्भवतः आधुनिक काल से पूर्व कभी भी माध्यमिकों को नहीं दिया गया[१]।

अस्तु, इस प्रकार हमने माध्यमिकों के शून्यवाद का संक्षिप्त विवेचन उपस्थित किया। इसमें हमने केवल शून्यवाद का ही विवेचन किया और अन्य दर्शनों के साथ उसके सम्बन्ध दिखाने के लोभ का प्रायः सर्वत्र ही संवरण किया। शून्यवाद के स्वरूप को सामने रख कर और प्रायः उसी के प्रकाश में हम उसके संबंध को अन्य दर्शनों के साथ दिखाने का प्रयत्न करेंगे, अथवा उन-उन दर्शनकारों ने जिस जिस प्रकार शून्यवाद को समझा है उसका ही निरूपण साक्षी रूप से करेंगे। तरफदारी तो किसी की लेनी न होगी और न निर्णायक ही बनना होगा। ऐतिहासिक रूप से उनके सम्बन्ध को निरूपित कर देने में ही हमारी इतिकर्त्तव्यता सिद्ध होगी।

५—क्षणिकवाद और अर्थक्रियाकारित्व

भव अनित्य, दुःख और अनात्म है, इस प्रकार का उपदेश बुद्ध भगवान् ने दिया था। संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो इन तीन लक्षणों से बरी हो,

(१) यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि रामानुज मत के प्रतिष्ठित विद्वान् श्री लक्ष्मीपुरं निवासाचार्य महोदय ने भी अपने संस्कृत ग्रन्थ 'दर्शनोदय' में 'शून्यता-दर्शन' का बड़ी सहानुभूति पूर्वक अध्ययन किया है। सत्य के गवेषकों की यह रीति ही है।

उपोद्‌घात अर्थात् जो अनित्य न हो, दुःख न हो, अनात्म न हो। सम्पूर्ण भव त्रिलक्षणात्मक है। वह अनित्य, दुःख और अनात्म है। उसका यह लक्षण अविचल है, किसी प्रकार बदला नहीं जा सकता। तथागत चाहे उत्पन्न हों या न हों, यह धर्मता, यह सत्यता, तो सदा रहती ही है। यह बुद्ध-धर्म का एक आधारभूत सिद्धान्त है।

'अनिच्चा वत संखारा' (संस्कार अनित्य हैं), यह बुद्ध-धर्म की एक ऐसी वाणी है जिसकी आवृत्ति अनेक बार पालि साहित्य में हुई है। भगवान् बुद्ध अनेक बार अपने शिष्यों को याद दिलाया करते थे—'सब्बे भवा अनिच्चा दुक्खा विपरिणामधम्मा'[१]। अर्थात् 'सम्पूर्ण भव अनित्य, दुःख और परिवर्तनशील हैं।' उनके अन्तिम शब्द ही थे। 'वयधम्मा संखारा' अर्थात् संस्कार व्ययधर्मा हैं, नष्ट हो जाने वाले हैं।

उपर्युक्त बुद्ध-वचनों में क्षणिकवाद को अवकाश मिल सकता है। परन्तु यह क्षणिकवाद उसी प्रकार का है जिसका उपदेश औपनिषद मनीषियों, गीताकार, योगवासष्ठिकार और अन्य अनेक ज्ञानी-विरागी महात्माओं ने लोक-कल्याणार्थ दिया है। बुद्ध ने मनुष्य को याद दिलाया था कि तुम्हारा यह जीवन कुछ क्षणों की सम्पत्ति भर है। इस क्षण-सम्पद् का सदुपयोग करो। बीता समय वापस नहीं आता। 'देख तेरा क्षण निकल न जाय'[२]। उन्होंने कहा था कि संसार को पानी के बुलबुले की तरह देखो, मृग मरीचिका की तरह देखो, तो फिर मृत्युराज तुम्हें नहीं देखेगा[३]। इस प्रकार के उपदेश अनेक सन्तों और ज्ञानियों ने दिये हैं। अप्रमाद (वीर्य-साधन) के लिये उत्साहित करते हुए अक्सर भगवान् जीवन की अनित्यता का स्मरण कराया करते थे। सारिपुत्र के निधन के बाद भिक्षुओं को सान्त्वना देते हुए भगवान् ने कहा था, "वह कहां से रहेगा जो विनष्ट हो जानेवाला है। इसलिये भिक्षुओ! आतमदीप होकर विहरो, आत्म-शरण, अनन्यशरण"। अपनी अन्तिम वाणी में भी उन्होंने यही लक्ष्य कर कहा था, 'संस्कार व्ययधर्मा हैं, अप्रमाद से सम्पादन करो"। इसलिये अनित्यता का स्मरण मनुष्य को जागरूक बना

---

(१) अंगुत्तर-निकाय ४।१९।५

(२) थेरी गाथा, गाथा ५

(३) यथा बुब्बूलकं पस्से यथा पस्से मरीचिकं। एवं लोकमवेक्खन्तं मच्चुराजा न पस्सति॥ धम्मपद १३।४

कर उसे 'प्रधान' में लगाने के लिये ही था। अनित्यता का स्मरण आते ही मनुष्य जीवन के अवश्यम्भावी दुःख को स्मरण करता है, उसे निर्वेद प्राप्त होता है और उसकी चित्तवृत्ति का झुकाव विशुद्धि की ओर होता है। इसीलिये धम्मपद में कहा गया है :—

'सब संस्कार अनित्य हैं, यह जब प्रज्ञा से मनुष्य देखा है, तो वह दुःखों में निर्वेद प्राप्त करता है—यही मार्ग विशुद्धि का है'[1]। भगवान् बुद्ध ने जब अनित्यता या भव की क्षणिकता की बात कही, तो उनका प्रयोजन इतना ही था।

सैद्धान्तिक रूप से क्षणिकवाद की ओर भगवान् बुद्ध की क्या दृष्टि होगी, इस पर यहां कुछ विचार कर लेना आवश्यक होगा। हम जानते हैं कि शाश्वतवाद और अशाश्वतवाद दोनों को भगवान् ने मिथ्या दृष्टि कहा था। अतः क्षणिकवाद की पूर्ण अनित्यतावादी व्याख्या हम नहीं कर सकते। वस्तुतः क्षणिकवाद का प्रश्न प्रतीत्यसमुत्पाद, अनात्मवाद, पुनर्जन्म और निर्वाण इन चारों की समस्या से सम्बद्ध है, जिनका पूर्ण विवेचन बुद्ध-मन्तव्य के अनुसार हम पहले कर चुके हैं। विवेचित समस्याओं को पुनः यहां न उठाकर हम केवल यह कहना चाहेंगे कि बुद्ध ने क्षणिकता या अनित्यता का नियम 'निब्बाण' के सम्बन्ध में लागू नहीं किया था। भव तक उन्होंने उसे सीमित रक्खा था और भव का निरोध निर्वाण में हो जाता है। निब्बाण को उन्होंने अच्युत कहा था, ध्रुव कहा था, 'अविनाशी' कहा था, 'अमृत' कहा था। अतः अनित्यता या क्षणिकता वहां किस प्रकार प्रवेश पायेगी? भगवान् के ही तर्क के अनुसार जो अनित्य है, वह अवश्यम्भावी रूप से दुःख है। परन्तु 'निब्बाण' तो उन्हीं के शब्दों में 'अत्यन्त सुख' है, दुःख के ठीक विपरीत है। तो क्या फिर उसे अनित्य कहना ठीक होगा? क्षणिक कहना उपयुक्त होगा? क्षणिक तो संस्कार हैं, जो व्ययधर्मा हैं। परन्तु निब्बाण तो असंस्कृता धातु है, वह तो संस्कार नहीं है। फिर वहाँ क्षणिकता का क्या काम? वह तो भगवान् के ही शब्दों में 'अविनाशी' पद है। अतः स्पष्ट है कि क्षणिकता का उपदेश भगवान् ने मनुष्य के अहंभाव को गलाने के लिये, उसे दुःख की स्मृति कराकर विषय विमुख करने और विशुद्धि मार्ग पर लगाने के लिये ही, दिया गया था। परमार्थ सत्य के रूप में उसका उपदेश भगवान ने नहीं दिया था, क्योंकि वह निब्बाण पर लागू नहीं है। वस्तुतः क्षणिक-

---

(१) २०१५

वाद की दार्शनिक चर्चा ही भगवान् बुद्ध को रुचिकर न होती, ऐसा हम कह सकते हैं। वे तो प्रयोजनवादी थे, ज्ञान में प्रयोजन देखने वाले थे । सम्भवतः क्षणिकवाद की निष्क्रिय चर्चा करनेवाले किसी 'मोघ पुरुष' के सम्बन्ध में ही उन्होंने कहा था, "लोक क्षणकृत्य है, क्षणकृत्य है, ऐसा अज्ञ जन कहता है, परन्तु वह क्षण और अक्षण को नहीं जानता"[१] ।

परन्तु बौद्ध दर्शन के उत्तरकालिक विकास में क्षणिकवाद ने एक पूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त का रूप ले लिया, जिसे उसकी अन्तिम परिणति तक पहुँचाया गया। भारतीय दर्शन के इतिहास में सातवीं शताब्दी ईसवी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक क्षणिकवाद की बड़ी चर्चा रही । बौद्धों ने इसका प्रतिपादन किया और श्रौत परम्परा के आचार्यों ने खण्डन। बौद्धों में जिन्होंने क्षणिकवाद या क्षणभंगवाद का उसकी अन्तिम परिणति तक समर्थन किया और अर्थक्रियाकारित्व के सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपादन किया उनमें 'स्वातन्त्रिक' विज्ञानवादी आचार्य दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील मुख्य हैं। इन्होंने विज्ञानवादी आचार्य वसुबन्धु के विज्ञानमात्रनित्यत्व का खण्डन कर क्षणभंगवाद को परमार्थ के क्षेत्र तक लागू कर दिया। वैसे बौद्ध दर्शन के चारों सम्प्रदायों को प्रायः क्षणिकवाद मान्य है और आस्तिक दर्शनों में शायद ही कोई ऐसा बचा हो जिसके सूत्रकार या व्याख्याकारों ने क्षणिकवाद के विरोध में कुछ न कहा हो। न्याय ने तो इस विषय में एक परम्परा ही कायम कर दी है। इन सब पर विस्तृत विवेचन तो हम पाँचवें प्रकरण में ही कर सकेंगे। यहां हमें सबसे पहले यही देखना चाहिए कि दार्शनिक दृष्टि से 'क्षणिकवाद' है क्या वस्तु ? 'क्षणिकवाद' का मूल सिद्धान्त यही है कि कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, सभी एक चंचल अवस्था में हैं। जिन्हें हम स्थिर समझते हैं वे भी प्रत्येक क्षण अज्ञात रूप से गतिशील रहती हैं और प्रत्येक ही क्षण उत्पत्ति और निरोध को प्राप्त करती हुई अपने स्वरूप को खोती और नवीन रूप से प्राप्त करती रहती हैं। यह सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक है और सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ के विषय में लग जाता है, जिसकी विस्तृत मीमांसा में हमें यहां जाने की आवश्यकता नहीं है। न तो हमारे ही पास और न बौद्ध आचार्यों के ही पास वे सूक्ष्म गणित-विज्ञान संबंधी यन्त्र हैं या थे जिनके द्वारा हम महामति आयँस्टन की भांति (जिन के सापेक्षतावाद

---

(१) अक्खण-सुत्त (अंगुत्तर० ८।१।३।८)

के सिद्धान्त में बौद्ध क्षणिकवाद की एक अद्वितीय सिद्धि है) संसार के प्रत्येक पदार्थ को एक चल अवस्था में देख सकें, जहां सापेक्षता को छोड़ परिपूर्णता कहीं नहीं है। बौद्ध आचार्यों के पास तो केवल यही एक छोटा-सा किन्तु अमोघ उपकरण था, यही 'यत्सत् तत्क्षणिकम् यथा जलधरः सन्तश्च अमी भावाः' अनुमान-वाक्य। इसी छोटे से उपकरण से उन्होंने न केवल आयंस्टन की भांति बाह्य सृष्टि की ही बल्कि सभी बाह्य और आन्तरिक जगत् की नाप कर डाली है और निश्चय ही यह एक बड़ा अद्भुत कार्य था उनका! यह सब कैसे हुआ, इस पर अब हम आयेंगे।

बौद्धों के क्षणिकवाद को समझने के लिए पहले हमें उनके सत्ता सम्बन्धी विचार को समझना चाहिए। बौद्ध आचार्यों के अनुसार 'सत्' पदार्थ वह है जो कुछ करे, जिसमें 'अर्थक्रियाकारिता' हो। 'अर्थक्रियाकारित्वं सत्यम्'।

अर्थक्रियाकारित्व

जिससे संसार में कोई प्रयोजन निष्पन्न नहीं होता, जिसकी कोई उपयोगिता नहीं होती, वह पदार्थ 'असत्' ही होता है, यथा आकाश के फूल, वन्ध्या का पुत्र, खरहे का सींग, आदि। (ये उदाहरण नैयायिकों और बौद्ध आचार्यों को बड़े प्रिय हैं!) इनसे आज तक कोई अर्थक्रिया नहीं निकली, कोई प्रयोजन निष्पन्न नहीं हुआ और न आगे होगा भी, अतः अर्थक्रियाकारी अथवा प्रयोजन निष्पादक न होने से ये सब 'असत्' कहलाते हैं, क्योंकि जो अर्थक्रिया-कारी है वही सत् है, और जो सत् है वही अर्थक्रियाकारी है। यही सिद्धान्त 'अर्थक्रियाकारित्व' कहलाता है।

क्षणिकवाद की सिद्धि

इस प्रकार 'अर्थक्रियाकारित्व' के प्रकाश में सत्' का स्वरूप समझ लेने पर हमारे लिए बौद्धों के 'क्षणिकवाद' के सिद्धान्त का भी समझना कठिन नहीं रह जाता। 'सत्' पदार्थ प्रत्येक क्षण अपने कार्यों को उत्पन्न करता रहता है। अन्यथा वह 'सत् ही नहीं रहेगा। कार्यों को उत्पन्न करने का तात्पर्य है अपने स्वरूप का परिवर्तन और जहां परिवर्तन है वहाँ क्षणिकता है। इस प्रकार प्रत्येक 'अर्थक्रियाकारी' पदार्थ (अर्थात् सत्) क्षणिक ही है। बौद्ध नैयायिकों ने इस तथ्य को बड़ी अच्छी तरह समझाया है। उनका कहना है कि यदि पदार्थों को हम क्षणिक न मानें और उन्हें स्थिर ही समझ लें तो उनमें अर्थक्रियाकारिता' या 'सत्ता' सम्भव नहीं हो सकती। किस तरह? अर्थक्रियाकारिता जहाँ कहीं भी रहती है, वहां 'क्रम' और 'यौगपद्य' अवश्य रहते हैं। 'अर्थक्रियाकारित्व' 'क्रम' और 'यौगपद्य' से व्याप्त है, अर्थात् नैयायिक

भाषा में क्रम और यौगपद्य व्यापक हैं और अर्थक्रियाकारित्व व्याप्य। साधारण भाषा में इस तथ्य को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं कि जितनी भी अर्थक्रिया करनी है, जितने भी प्रयोजन साधने हैं, वे या तो एक ही साथ एक ही क्षण में 'युगपत्' साधे जा सकते हैं या फिर क्रमशः। यह नहीं हो सकता कि अर्थक्रियाकारित्व सम्पादन हो जाय और वह एक ही साथ (युगपत्) अथवा क्रमशः सम्पादित न होकर किसी अन्य ही प्रकार से हो जाय। कोई भी क्रिया सम्पादन करनी होगी तो फिर या तो वह एक ही क्षण या क्रमशः सम्पादित हो सकती है। अन्य मार्ग क्या है ? अब यदि स्थिर पदार्थों को ही यह 'क्रियाकारित्व' सम्पादित करना है तो निश्चय ही उन्हें भी या तो यह 'युगपत्' ही करना होगा या फिर 'क्रम' से ही। यदि कोई स्थिर पदार्थ 'अर्थ क्रिया' (जो सत्ता का एक विशिष्ट लक्षण है) को एक ही साथ अर्थात् 'युगपत्' ही कर डाले तो एक क्षण तो उसमें 'अर्थक्रियाकारित्व' अवश्य रहेगा किन्तु उसके बाद वह क्या करेगा ? उसके करने का तो कोई काम शेष ही नहीं रहा, क्योंकि उसने सभी कुछ एक ही क्षण में कर लिया। अतः निश्चय ही दूसरे क्षण में तो अकर्ता ही रह जायगा। ये कर्तृत्व और अकर्तृत्व दो विरोधी धर्म एक ही पदार्थ में नहीं रह सकते। अतः स्थिर पदार्थों में युगपत् रूप से अर्थक्रिया कारित्व मानने से उनकी स्थिरता नहीं ठहरती, क्योंकि उनमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दो विरोधी गुण आ जाते हैं, जो एक ही जगह नहीं रह सकते। स्थिर पदार्थों का 'क्रम' से भी अर्थक्रियाकारित्व नहीं बनता यदि यह मान लिया जाय कि स्थिर पदार्थ किसी काम को एक साथ न कर क्रमशः करते हैं तब तो उनमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दो विरोधी धर्म अवश्य ही मानने पड़ेंगे, क्योंकि 'क्रम' के बीच के क्षण में तो स्थिर पदार्थ अकर्ता ही रहेंगे, अतः कर्तृत्व और अकर्तृत्व दो विरोधी धर्मों की प्रसक्ति तो यहां भी नहीं छूटती। अतः 'युगपत्' और 'क्रम' दोनों ही रूप से 'अर्थक्रिया-कारित्व' स्थिर पदार्थों में सम्भव नहीं है। 'युगपत्' और 'क्रम' को छोड़ कर 'अर्थक्रियाकारिता' को करने का और कोई ढंग नहीं है। अर्थक्रियाकारिता वही है जो सत्ता है, अतः जब अर्थक्रियाकारिता स्थिर पदार्थों निकल जाती ह तो सत्ता को भी तो निकलना ही चाहिए। व्यापक की निवृत्ति होने पर व्याप्य की भी तो निवृत्ति होनी ही चाहिए। 'व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्यापि निवृत्तिः'। जिस समय अर्थक्रियाकारिता स्थिर पदार्थों की चली गई, उसी समय उनकी सत्ता भी चली गई। अतः स्थिर पदार्थ नहीं हैं। पदार्थों की सत्ता

ही उनकी क्षणिकता को सिद्ध करती है। बिना क्षणिक माने पदार्थों की सत्ता ही सम्भव नहीं बनती। हम क्या करें? बौद्ध नैयायिक कुछ-कुछ धर्मकीर्ति के शब्दों में कहते हैं, यदि पदार्थों के स्वरूप को यही क्षणिकत्व होना रुचता है, तो हम इसमें क्या करें। 'तत्र के वयम्'।

इस प्रकार तात्त्विक निष्पक्षता दिखाकर बौद्ध आचार्य 'क्षणिकवाद' या क्षणभंगवाद का निरूपण तो कर जाते हैं, किन्तु इतने से ही उनका पीछा नहीं छूटता। ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर ठीक ग्यारहवीं शताब्दी तक क्षणिकवाद और निरीश्वरवाद आदि प्रश्नों को लेकर महान् वाद और प्रतिवाद की परम्पराएँ बौद्ध और श्रौत परम्परा के आचार्यों में चलती रहीं। इन परम्पराओं का निरूपण हम पांचवें प्रकरण में करेंगे। क्षणिकवाद को लेकर यहां कुछ कहना अवश्य अपेक्षित है। बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणभंगवाद को सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों का आश्रय लिया है। किन्तु प्रत्यक्ष की अपेक्षा अनुमान पर ही उन्होंने अधिकतर जोर दिया है। अतः अनुमान प्रमाण को लेकर ही पहले तो बौद्ध आचार्यों में और श्रौत परम्परा के आचार्यों, विशेषतः नैयायिकों, में एक महान् संघर्ष हुआ। 'अनुमान' प्रमाण-विषयक इस संघर्ष को हम पांचवें प्रकरण में बौद्ध दर्शन और न्याय वैशेषिक के प्रसंग में दिखायेंगे। उदयन ने अपने 'आत्मतत्वविवेक में (जो 'बौद्धधिक्कार' भी कहलाता है!) इस क्षणभंगवाद का ही मुख्यतः निरसन किया है। सिद्धान्तों के खण्डन और मण्डन से किन्हीं भी व्यक्तियों को (चाहे फिर वे 'बौद्ध' हों या अन्य) धिक्कार देने से क्या तात्पर्य है, यह समझ में नहीं आता! किन्तु यदि उस समय के बौद्ध आचार्यों की ही प्रतिवादमयी भाषा की तीव्रता को हम देखें तो हम नैयायिकों को भी उनके इस प्रकार बौद्धों के प्रति 'धिक्कार' शब्द का प्रयोग करने के लिए विशेष दोषी नहीं ठहरा सकते। वह युग ही ऐसा था। न्याय को हम दर्शन की भूमिका मानते हैं, किन्तु उपसंहार तो उसको नहीं मान सकते। बौद्ध आचार्यों और नैयायिकों ने उसे उपसंहार मानने की गलती की। इसीलिए न्यायविद्या की बहुत कुछ सेवा करते हुए भी उन्होंने अध्यात्मविद्या का कोई उपकार नहीं किया। अस्तु, उदयन के उपर्युक्त ग्रन्थ के अलावा जयन्त ने अपनी न्यायमंजरी में तथा वाचस्पति मिश्र ने अपनी 'न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका' में भी बौद्धों

क्षणिकवाद पर बौद्ध और उनके प्रतिवादी आचार्यों की पारस्परिक प्रतिक्रिया

के क्षणभंगवाद का खण्डन किया है। इन सबका एक प्रधान तर्क बौद्ध क्षणिकवाद के विरुद्ध यह है कि 'क्षणिकवाद' को स्वीकार कर लेने पर प्रत्यभिज्ञा की संगति नहीं बैठती। किसी पूर्व दृष्ट वस्तु के पुनः दिखाई पड़ने पर उसके विषय में हमें 'यह वही वस्तु है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति का नाम नैयायिक भाषा में 'प्रत्यभिज्ञा' है। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यभिज्ञा पूर्व और उत्तर काल में स्थित एक ही वस्तु को ग्रहण कर प्रवर्तित होती है। 'यह वही देवदत्त है, जिसे मैंने कल मथुरा में देखा था' इस प्रतीति में देवदत्त तो एक ही पदार्थ है, जो कल भी अवस्थित था और आज भी अवस्थित है, और चूंकि मैंने उसे कल (पूर्वकाल में) देखा था, इसलिए उसे ही जब मैं आज (उत्तरकाल में) देखता हूँ तो 'सोऽयं देवदत्तः' 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार की प्रतीति मेरी जाग पड़ती है। नैयायिक कहते हैं कि यदि देवदत्त जैसी कोई वस्तु ऐसी है ही नहीं जो कल भी वैसी ही अवस्थित थी जैसी कि आज, तो फिर हमें यह प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है कि 'सोऽयं देवदत्तः' 'यह वही देवदत्त' है। 'क्षणिकवाद' के ठीक सिद्धान्त होने पर तो देवदत्त को बदल जाना चाहिए और आज उसे देखने पर इस प्रकार का ज्ञान नहीं होना चाहिए कि 'यह वही देवदत्त है'। चूंकि सामान्य मानवीय अनुभूति ऐसी है कि ऐसा ज्ञान होता है, अतः क्षणिकवाद स्वानुभूति के ही विपरीत जाता है, और ठीक सिद्धान्त नहीं है। प्रत्यभिज्ञा, जो स्वानुभूति के द्वारा ठीक ज्ञान है, पदार्थों के स्थिर स्वभाव वाले होने पर ही सम्भव हो सकता है, अतः पदार्थ वास्तव में स्थिर ही होने चाहिए, क्षणिक नहीं। बौद्ध आचार्यों ने अपने विरोधियों के इस तर्क का उत्तर यह कह कर दिया है कि जिस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर नैयायिक उनके मत का निरसन करना चाहते हैं, वह स्वयं ही वास्तव में एक ज्ञान नहीं है। वह तो केवल सादृश्य ही उत्पन्न होता है, अतः अप्रामाणिक भी हो सकता है। प्रत्यभिज्ञा का यदि हम विश्लेषण करें तो उसे हम एक ज्ञान नहीं बल्कि वास्तव में दो ज्ञान पाते हैं, जिनमें से एक को हम प्रत्यक्ष कह सकते हैं और दूसरे को स्मरण। जब हम 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार कहते हैं तो इस प्रत्यभिज्ञा में 'यह देवदत्त' अंश तो इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न है, अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान है और 'वही' इस अंश में उस काल और उस काल से विशिष्ट देवदत्त का स्मरण है, जो संस्कार, जन्म और अतीत विषयक है। ये दोनों ही ज्ञान

दो भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न हुए हैं और उनके विषय भी दो भिन्न भिन्न स्थिति की वस्तुएँ हैं। अतः वे दोनों ज्ञान भिन्न ही तो रहे और उन्होंने वस्तुओं की क्षणिकता का ही तो प्रख्यापन किया न कि उनकी स्थिरता का। अतः क्षणिकवाद ही ठीक सिद्धान्त है और प्रत्यभिज्ञा उसकी साधक ही होती है बाधक नहीं, इस प्रकार बौद्ध आचार्य अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हैं। यदि इस विवाद की परम्परा को हम आगे यहां बढ़ाते जायँ तो समग्र न्याय दर्शन के इतिहास को ही इस विषय में केंद्रित किया जा सकता है क्योंकि इन दर्शनों के सभी सिद्धान्त एक दूसरे से इस प्रकार संश्लिष्ट हैं कि एक का निरूपण दूसरे के निरूपण को आवश्यक बना ही देता है। किन्तु इस प्रकार के यथाभूत केन्द्रीकरण की न तो लेखक में शक्ति ही है और न यह उसके लिए उपयुक्त स्थल ही। अतः यहां तो क्षणिकवाद के विषय में जैन दर्शन के कुछ और विरोधी तर्कों का निर्देश कर हम इस विषय को समाप्त करेंगे। जैन-दर्शन (जैसा कि वह सर्वदर्शनसंग्रह में उद्धृत है) बौद्ध नैयायिक को सम्बोधन कर उससे इस प्रकार का सिंहनाद करता है (यह भारतीय दर्शन की एक सामान्य शैली है)—किए हुए कर्मों (के फल) का नाश, न किए हुए कर्मों के फल का भोग, भव, मोक्ष और स्मृति का भंग—इतने दोषों की उपेक्षा करके भी हे प्रतिपक्षिन् ! तू महासाहसिक है कि फिर भी क्षणभंगवाद की स्थापना की इच्छा करता ही जाता है।

'कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग भवप्रमोक्ष स्मृतिभंगदोषात् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकः परोऽसौ' ॥

निश्चय ही क्षणिकवाद के सर्वांश में मान लेने पर जब एक स्थिर कर्ता की स्थिति ही नहीं रहती, तो फिर कृत कर्म के विनाश और अकृत की फलप्राप्ति का दोष आता ही है और इसी प्रकार वर्तमान काल में जो सुख-दुःख हम भोग रहे हैं, उसकी भी संगति बैठती नहीं। सारांश यह कि 'कर्म' का सिद्धान्त ही, जो बौद्धों का आधारभूत सिद्धान्त है, इस 'क्षणिकवाद' के सिद्धान्त से आघात पाता है। इसी प्रकार जन्म-मरण और मोक्ष की भी संगति नहीं मिलती, क्योंकि जब कोई स्थिर तत्व है ही नहीं, तब किसके कर्म से किसका बन्धन और किसका मोक्ष ? मोक्ष या निर्वाण भी तो फिर क्षणिक रहा और उसका क्या प्रयोजन ? यह तो दुःख निरोध रूप निर्वाण का ही अपलाप नहीं हो गया, बल्कि उसके मार्ग का भी ! दर्शन अपने लक्ष्य को भूल गया। स्मृति भी क्षणिकवाद को मानने पर नहीं बन सकती, इसको तो हम

पहले देख ही चुके हैं और बौद्ध आचार्यों का उसके प्रति उत्तर भी। उपर्युक्त आक्षेपों के उत्तर भी बौद्ध आचार्यों के द्वारा दिए गए हैं। किन्तु उनमें अब हम यहां नहीं जा सकते। यहां यही कहना पर्याप्त जान पड़ता है कि विज्ञानवादियों ने चित्त-धारा के संसरण को स्वीकार कर और एक ही विज्ञान के समाप्त होने पर दूसरे विज्ञान का उठ खड़ा होना दिखा कर अपनी कठिनाई और सम्भवतः उसके उत्तर को भली प्रकार समझा है और वे भी अनुभव करते हैं कि बिना किसी प्रकार के स्थिर सत्व को माने स्वयं उनके अपने सिद्धान्तों की संगति नहीं लग सकती। अश्वघोष का 'भूततथता' का सिद्धान्त इसी प्रकार की चिन्ता का परिणाम है और वसुबन्धु की विज्ञप्तिमात्रता भी। नैयायिकों को छोड़ कर सांख्यादि दर्शनों ने भी बौद्ध क्षणिकवाद के विरुद्ध आपत्तियां उठाई हैं और सांख्य दर्शन का तर्क विशेषतः यह है कि क्षणिकवाद को सत्य सिद्धान्त मान लेने पर कार्य-कारण भाव ठीक तरह से नहीं समझा जा सकता[1]। यह तर्क उपर्युक्त जैन दर्शन के तर्कों में ही निहित है। इसके अतिरिक्त षड्दर्शन परम्परा के आचार्यों ने अनेक प्रकार से बौद्ध क्षणिकवाद के विरुद्ध अपने-अपने तर्क उठाये हैं, जिनका वर्णन हम उन-उन दर्शनों का बौद्ध दर्शन के साथ सम्बन्ध दिखाते हुए पांचवें प्रकरण में, पुनरुक्ति न करते हुए, करेंगे। यहां भी क्षणिकवाद के सम्बन्ध में बौद्ध दर्शन से इतर दर्शन-सम्प्रदायों के एतद्विषयक विचारों का जो कुछ निरुपण किया गया, वह वास्तव में हमारे द्वारा स्वीकृत शैली के अनुसार पांचवें प्रकरण में करना चाहिए था। यहाँ केवल इसीलिए किया गया कि बौद्ध दृष्टिकोण से भी क्षणिकवाद के सिद्धान्त का समझना कठिन है, जब तक कि उसके विरोधी तर्कों के द्वारा उसे प्रकाश में न लाया जाय और चूंकि ये तर्क प्रायः प्रतिपक्षी वर्ग की ओर से ही आये, अतः स्पष्टता के लिए उनका भी निर्देश करना यहां आवश्यक हुआ है। विषय की पूर्णता के लिए पांचवे प्रकरण को मिलाकर ही देखा जाय, ऐसी विनम्र प्रार्थना है।

६—बुद्ध और बौद्ध धर्म की भारतीय विचार को देन

इस प्रकार हमने बौद्ध धर्म और दर्शन के उद्भव और विकास का कुछ अध्ययन प्रस्तुत किया। शास्ता के आविर्भाव-काल से लेकर ठीक दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी तक के बौद्ध दर्शन के विकास को हमने देखने का प्रयत्न

(१) पूर्वापाये उत्तरायोगात्। सांख्यसूत्र १।३९

बुद्ध और बौद्ध धर्म की भारतीय विचार को देन

किया। मूल बुद्ध-दर्शन पर हमने कुछ अधिक बल दिया और विशेषतः पालि-त्रिपिटक के आधार पर बुद्ध के मन्तव्य को समझने का प्रयत्न भी हमने किया। तथागत के महापरिनिर्वाण-काल से लेकर अनेक शताब्दियों बाद तक जो-जो प्रवृत्तियां बौद्ध धर्म और संघ में उत्पन्न होती गईं, उनका भी निर्देश हमने किया। चार बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों का, उनके आचार्यों और साहित्य की परम्परा के साथ, वर्णन भी किया गया, किन्तु उनके विचारों की पूर्ण समीक्षा हमारे लिये सम्भव नहीं हो सकी, क्योंकि ऐसा करने पर हमें दूसरे भारतीय दर्शनों के क्षेत्र में अवश्यम्भावी रूप से जाना पड़ता, जिसके लिए हमने पांचवे प्रकरण को सुरक्षित रक्खा है। फिर भी कहीं-कहीं हमें समीक्षा में भी जाना पड़ा है और उसका कारण भारतीय दर्शनों का आपस में आत्यन्तिक रूप से निबद्ध होना ही है। बुद्ध-विचार के समान उत्तरकालीन बौद्ध आचार्यों की विचार-प्रणालियां भी न केवल भारतीय दर्शन में ही अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, बल्कि विश्व के लिए भी उनका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे हम यथास्थान देखने का प्रयत्न करेंगे। यहां इतना तो फिर भी कह देना चाहिए कि विशुद्ध नैतिक तत्ववाद के शास्ता होने के कारण तथागत विश्व के विचार में एक विशेष स्थान ग्रहण करते हैं और धार्मिक और दार्शनिक तथा सबसे अधिक तो मानवीय दृष्टिकोणों से वे मनुष्य के आश्वासन के विषय बने हुए हैं। जिस प्रकार तथागत सभी जगत् की उपाधियों से विमुक्त हो गए हैं, उसी प्रकार उनकी दर्शन-प्रणाली भी सदा आकाश के समान स्वच्छ और निर्मल है, हिमालय की चोटियों के समान मनुष्य की तुच्छ धारणाओं से अस्पृष्ट और अनपेक्ष है। भविष्य में चाहे तत्वचिन्तक कितने ही अभिनव और महनीय सिद्धान्त निकाल लें, जीवन और जगत् की कितनी ही व्याख्याएं कर लें और चाहे जितने ही पुराने सिद्धान्तों का निराकरण कर नये सिद्धान्तों की स्थापना कर लें और अपने ज्ञान की परिधि बढ़ालें, परन्तु तथागत ने जिस 'कल्याणवर्त्म' को स्थापित किया है, उसकी मनुष्य के लिए आश्वासनकारी शक्ति तो कभी कम नहीं होगी, ऐसा निष्पक्ष रूप से उसके विषय में कहा जा सकता है। 'हे श्रमण ! तुम्हारी छाया भी सुखकर है' ऐसा कह कर अशान्त विश्व सदा तथागत की ओर देखेगा। जो उनको शास्ता मानकर प्रबुद्ध होने का प्रयत्न करेंगे, जीवन की गम्भीरतम समस्याओं

के समाधान खोजेंगे, और रक्खेंगे अपने अन्दर शक्ति स्वतंत्र गम्भीर विचार और साहसपूर्वक समस्या को देखने की, वे कभी निराश न होंगे। उत्तरकालीन बौद्ध दर्शन और दार्शनिकों की देन भी हमारे लिये कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। अश्वघोष, नागार्जुन, असंग और वसुबन्धु जैसे विचारक; धर्मकीर्ति, दिङ्नाग, शान्तरक्षित और कमलशील जैसे तार्किक, बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल जैसे अर्थकथाकार; बोधिधर्म और शान्तिदेव जैसे साधक और कुमारजीव, बुद्धयशस्, पुण्ययशस् और देवशर्मा जैसे अनुवादक और विदेशी भाषा-मर्मज्ञ बौद्ध धर्म ने हमें दिये हैं। मूल बुद्ध-दर्शन में यदि लोकोत्तर साधना है तो बाद के बौद्ध दार्शनिक विकास में है अद्वितीय प्रतिभा और विद्वत्ता। मानवीय विचारों के इतिहास में भगवान् बुद्ध निश्चयतः एक प्रकाश-स्तम्भ की भांति हैं। ज्ञानरूपी पर्वत के शिखर पर बैठे हुए महापुरुष (महापुरिस) बुद्ध युग-युग के मानव की ओर करुणा से अवलोकन करते हैं। जगत् या जीवन में कहीं कुछ ऐसा नहीं है, जिसपर उन्होंने विचार नहीं किया है, जिस पर उन्होंने सोचा नहीं है, और जिसका समाधान उन्होंने नहीं किया है। देवताओं के युग का अन्त कर उन्होंने सर्व प्रथम मानव-युग का प्रवर्तन किया। देव-यजन के स्थान पर उन्होंने सर्वप्रथम मानव-संस्कृति की प्रतिष्ठा की। मनुष्य को देवताओं की दासता से मुक्त किया और उसे अपने प्रयत्न से मुक्ति का मार्ग सिखाया। बुद्ध केवल विचारक न थे, वे सत्य के साक्षात्कर्ता ऋषि थे। उनके विचार तो मौलिक थे ही, उनका व्यक्तित्व भी मौलिकतम था। उनका साधनापूत लोकोत्तर जीवन युग-युगों तक सत्य-शोधकों को आश्वासन और प्रेरणा देता रहेगा। मानव की सार्वभौमिक आधारभूत एकता का आधार उस सत्यदर्शी महात्मा ने दुःख रूपी प्रथम आर्य सत्य के रूप में देखा था, जो सर्वाश्लेषी करुणा को जन्म देता है। जिस धर्म का भगवान् तथागत ने उपदेश दिया वह विश्व में फैला-फला। वह प्रथम भारतीय धर्म था जिसे विश्व-धर्म का रूप प्राप्त हुआ। विशेषतः एशिया में कोई ऐसी प्राचीन भाषा न थी जिसमें बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद न हुआ हो। आर्य जाति के समान मंगोल जाति ने भी उसे अपनाया और सुदूर पूर्व और दक्षिण पूर्वी एशिया की अन्य अनेक जातियों ने भी। तथागत-निर्मित धर्म-ह्रद में चारों दिशाओं के नर-नारियों ने आकर, फिर चाहे वे किसी प्रवृत्ति, स्वभाव, धातु और संस्कृति के हों, अपनी प्यास को बुझाया है। सच्चे अर्थों

में हम बौद्ध धर्म के इतिहास को मानवीय विज्ञान का इतिहास कह सकते हैं। हम यहां देखते हैं कि किस प्रकार अपनी-अपनी प्रकृतियों के अनुसार भिन्न-भिन्न जातियों ने भगवान् बुद्ध के शासन को अपनाया। पालि, संस्कृत, चीनी, तिब्बती और जापानी भाषाओं में बौद्ध धर्म सम्बन्धी जो विशाल साहित्य भरा पड़ा है, उसका अध्ययन किसी एक जीवन का काम नहीं है। बौद्ध धर्म की किसी एक शाखा का अध्ययन भी एक जीवन में सम्भव नहीं हो सकता। गम्भीर दार्शनिक ज्ञान की आधार-भूमि लिये हुए इस विश्व-धर्म को अपने सामग्र्य में समझना बड़े-बड़े विचारकों के लिये भी अत्यन्त कठिन है। उनकी भी बुद्धि इसकी विशालता और गहनता के सामने ठिठकती सी है। परन्तु दूसरी ओर सूर्य और चन्द्र के समान बुद्ध-शासन सबको सहज लभ्य भी है, वह सबको प्रकाश देता है। अपने विमल मौलिक स्वरूप में वह सरलतम है और दार्शनिक जटिलताओं के बिना उसे समझा जा सकता है। वहां न पौरोहित्य है और न कोई जटिल कर्मकाण्ड, उसका प्रवर्तन ही 'बहुजन' अर्थात् सर्व साधारण जन के कल्याणार्थ हुआ था। तथागत की प्रज्ञा के समान उनकी करुणा भी सद्धर्म में प्रस्फुटित हुई है, यह बुद्ध-धर्म की एक बड़ी विशेषता और आश्वासन है। मुक्ति का आश्वासन वहां एक ऐतिहासिक घटना के रूप में प्रकट हुआ है, यह एक ऐसी बात है जो बुद्ध-धर्म के अलावा अन्य किसी धर्म साधना में नहीं मिलती। आश्वस्ततम धर्म-साधना का नाम ही बुद्ध-धर्म है।

बौद्ध धर्म की देनों के सम्बन्ध में विचार करते समय जो बातें विशेष रूप से हमारे सामने आती हैं, उनमें सबसे बड़ी तो यह है कि भगवान् बुद्ध ने हमें एक ऐसा धर्म दिया जो पूरे अर्थों में जनवादी था, जिसकी अभिव्यक्ति जनभाषा (पालि) में हुई थी और जिसका शास्ता एक ऐसा लोकोत्तर व्यक्तित्व का महापुरुष था जिसके सामने न केवल वैदिक युग के देवता उपास्य के रूप में फीके लगते थे बल्कि उपनिषदों के निर्गुण-निर्विकार ब्रह्म का भी जिसके सामने आकर्षण कम हो जाता था। भिक्षु-संघ की स्थापना भगवान् बुद्ध की व्यवस्था-बुद्धि का परिणाम थी। उनके पहले धर्म प्रचारक संन्यासियों के संगठन न थे। समान नियमों और उद्देश्यों का पालन करने वाले भिक्षुओं का भ्रातृत्त्व संगठन सबसे पहले शाक्यमुनि ने स्थापित किया और उसने विश्व के इतिहास में विद्या-प्रसार और ज्ञान के विकास में जो कार्य किया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारत के अतिरिक्त पुरुषपुर (पेशावर), तुङ्ग-हु-आन

(चीन), कल्याणी (बर्मा) श्री विजय (जावा), सुखोदय (स्याम), और अन्य अनेक सुदूर स्थानों में बौद्ध धर्मने विद्या-केन्द्र स्थापित किये थे। मूर्तिकला और वास्तुकला को बौद्ध विचार से जो प्रेरणा मिली है वह भी भुलाई जाने वाली वस्तु नहीं है। एशिया की कुछ सर्वोत्तम कला-कृतियां बौद्ध धर्म से संबंधित हैं। भारतीय धर्म-साधनाओं में सबसे पहले बौद्ध धर्म ने ही विदेशों में प्रचार का कार्य प्रारंभ किया और इस सम्बन्ध में जो महती परम्परा उसने स्थापित की है उससे सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति गौरवान्वित हुई है। बौद्धधर्म के रूप में भारत ने अपना सर्वोत्तम दान विश्व को दिया है। बौद्ध धर्म वस्तुतः एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन था जो आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था और जिसके सन्देश को सुनाने के लिये भारतीय भिक्षुओं ने तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व से ही गहन समुद्रों, विशाल कान्तारों और दुर्गम पर्वत-मालाओं को पार कर विदेशों में जाना आरम्भ कर दिया था और ऐसा ही पुरुषार्थ कर विदेशी सत्य-गवेषक भी तथागत की पुण्य भूमि को देखने आये थे। विस्तार से विचार करने पर बौद्धधर्म की देनों का अन्त दिखाई नहीं पड़ता। हम यहां विराम लेते हैं।

हमारे अध्ययन की दिशा

इस प्रकार अब तक जो कुछ हमने कहा है, वह बुद्ध और बौद्ध दर्शन के स्वतंत्र गौरव के विचार से ही। भारतीय दर्शन को पृष्ठभूमि में रखकर अब तक हमने कुछ नहीं कहा। यह तो तभी सम्भव हो सकेगा जब हम बौद्ध दर्शन को अन्य भारतीय दर्शनों के साथ मिलाकर देखेंगे। यह काम अब हम आगे के प्रकरण में करेंगे।
